सत्साहित्य-प्रकाशन

# विश्व-इतिहास
# की
# झलक

पहला खंड


लेखक

जवाहरलाल नेहरू

अनुवादक

चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय




●


१९६२

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

तीसरी बार : १९६२

मूल्य

सजिल्द दो खण्डों का : बीस रुपये
अजिल्द : पंद्रह रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
१० दरियागंज, दिल्ली

# प्रकाशकीय

'विश्व-इतिहास की झलक' का यह तीसरा संस्करण पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। इस पुस्तक में नेहरूजी के विभिन्न जेलों से अपनी पुत्री इंदिरा प्रियदर्शिनी के नाम लिखे पत्रों का संग्रह है। इन पत्रों में विद्वान लेखक ने दुनिया के इतिहास और साम्राज्यों के उत्थान एवं पतन की कहानी बड़ी खूबी के साथ लिखी है। उन्होंने बहुत दिन पहले कुछ पत्र इंदिरा के नाम लिखे थे, जो 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' से सन् १९२९ में प्रकाशित हुए थे। उन पत्रों में सृष्टि के आरंभ से प्राणी की उत्पत्ति और इतिहास-काल के आरंभ तक का हाल था। 'झलक' की कहानी उसके बाद से शुरू होती है। दोनों पुस्तकें एक-दूसरे की पूरक हैं, फिर भी अपने-आपमें स्वतंत्र हैं।

अंग्रेजी पुस्तक के नये संस्करण के अंत में लेखक ने जो उपोद्‌घात तथा नई टिप्पणियां जोड़ी थीं, वे दूसरे संस्करण में बढ़ा दी गई थीं। अंत में निर्देशिका भी दे दी गई है।

इस तीसरे संस्करण में सारे ग्रंथ की भाषा में फिर से संशोधन करके उसे अधिक प्रवाहपूर्ण बना दिया गया है। साथ ही लगभग पचास नकशे इस पुस्तक में बढ़ा दिये गए हैं, जिससे विषय के समझने में सुगमता होगी।

पिछले संस्करण में ग्रंथ का आकार बहुत बड़ा हो गया था। अतः इस बार उसका आकार सामान्य पुस्तकों के जैसा कर दिया है और सामग्री को दो जिल्दों में बांट दिया है। दोनों जिल्दें पक्की कपड़े की रक्खी गई हैं, और छपाई, काग़ज़ आदि के दाम बढ़ जाने पर भी मूल्य में वृद्धि नहीं की गई, बल्कि एक रुपया और कम कर दिया गया है। पहले ग्रंथ का दाम इक्कीस रुपया था। अब दोनों जिल्दें बीस रुपये में मिलेंगी।

नेहरूजी की यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इसमें उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति तथा इतिहास के गहरे ज्ञान का मानों सागर भर दिया है।

हम आशा करते हैं कि इस संस्करण का सर्वत्र स्वागत होगा और पिछले संस्करणों से भी अधिक तीव्रता से यह संस्करण खप जायगा।

—मंत्री

# भूमिका

चार बरस हुए मैंने इस किताब का लिखना देहरादून-जेल में खत्म किया था। उसके कुछ दिन बाद यह अंग्रेज़ी में छपी थी। मेरी इच्छा थी कि यह हिन्दी और उर्दू में भी निकले। उसका कुछ प्रबन्ध किया भी, लेकिन दुर्भाग्य से उसमें उस समय कामयाबी नहीं हुई। मैं फिर जेल चला गया।

अब मुझे खुशी है कि ये मेरे पत्र इन्दिरा के नाम देश की पोशाक में निकल रहे हैं। कसूर तो मेरा है कि मैंने इनको शुरू में विदेशी लिबास पहनाया। मुझे कुछ आसानी हुई अंग्रेज़ी में लिखने में, क्योंकि उसमें लिखने का अभ्यास अधिक था और विषय भी ऐसा था, जिसमें ज़्यादातर किताबें यूरोप की भाषाओं में हैं और उन्हींको मैंने पढ़ा था।

दुनिया के इतिहास पर किसीका भी कुछ लिखना हिम्मत का काम है। मेरे लिए यह जुर्रत करना तो एक अजीब बात थी, क्योंकि मैं न लेखक हूं और न इतिहास के जाननेवालों में गिना जाता हूं। कोई बड़ी पुस्तक लिखने का तो मेरा ख्याल भी नहीं था। लेकिन जेल के लम्बे और अकेले दिनों में मैं कुछ करना चाहता था और मेरा ध्यान आजकल की दुनिया और उसके कठिन सवालों से भटककर पुराने ज़माने में दौड़ता और फिरता था। क्या-क्या सबक़ यह पुराना इतिहास हमें सिखाता है? क्या रोशनी आजकल के अंधेरे में डालता है? क्या यह सब कोई सिलसिला है, कोई माने रखता है, या एक यह बेमाने खेल है, जिसमें कोई क़ायदा-क़ानून नहीं, कोई मतलब नहीं, और सब बातें यों ही इत्तफ़ाक़ से होती हैं? ये ख़याल मेरे दिमाग़ को परेशान करते थे, और इस परेशानी को दूर करने के लिए इतिहास को मैंने पढ़ा और आजकल की हालत को समझने की कोशिश की। दिमाग़ में बहते हुए विचारों को पकड़कर काग़ज़ पर लिखने से सोचने में भी आसानी होती है और उनके नये-नये पहलू निकलते हैं। इसलिए मैंने लिखना शुरू किया। फिर इन्दिरा की याद ने मुझे उसकी तरफ़ खींचा और इस लिखने ने उसके नाम पत्रों का रूप धारण किया।

महीने गुज़रे। कुछ दिनों के लिए जेल से निकला, फिर वापस गया। सर्दी का मौसम खत्म हुआ, बसन्त आया, फिर गर्मी और बरसात। एक साल पूरा हुआ, दूसरा शुरू हुआ और फिर वही सर्दी, बसन्त, गर्मी और चौमासा। लिखने का सिलसिला जारी रहा और हलके-हलके मेरे लिखे हुए पत्रों का एक पहाड़-सा हो गया। उसको देखकर मैं भी हैरान हो गया। इस तरह से, क़रीब-क़रीब इत्तफ़ाक़

से, यह मोटी पुस्तक बनी। इसमें हज़ार ऐब हैं, हज़ार कमियां, लेकिन फिर भी मैं समझता हूं कि इससे कुछ फ़ायदा भी हो सकता है। जो अंग्रेज़ों ने या यूरोप के लोगों ने ऐसी पुस्तकें लिखी हैं, उनमें यूरोपीय दुनिया का अधिकतर हाल है, एशिया और पुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने कोशिश की है कि एशिया का हाल ज़्यादा दूं। दोनों को सामने रखकर ही पूरी तस्वीर सामने आती है। वह तस्वीर चाहे कितनी ही अधूरी हो और उसमें ऐब और ख़राबियां हों, फिर भी वह पूरी तस्वीर है। मुझे इस बात का विश्वास है कि हम किसी एक देश का हाल नहीं समझ सकते, जबतक कि और देशों का हाल नहीं जानते। कोई एक देश औरों से अलग होकर न रहा है और न रह सकता है। आजकल की दुनिया में तो यह बात बिलकुल ज़ाहिर है और हम सब एक-दूसरे के सहारे खड़े रहते हैं या गिरते हैं।

यूरोप की भाषाओं में बहुत सारी पुस्तकें दुनिया के इतिहास पर हैं, लेकिन हमारे देश की भाषाओं में इनकी बहुत कमी है। इसलिए मैं ख़ासतौर से यह चाहता था कि यह मेरी पुस्तक हिन्दी और उर्दू में निकले। गोकि इसमें ऐब और ख़राबियां हैं, और वे बहुत हैं, फिर भी यह इस कमी को कुछ पूरा करती है। हिन्दी में अब यह निकल रही है और मैं आशा करता हूं कि जल्दी ही उर्दू में भी निकलेगी।

इसको लिखे कोई चार बरस हुए। दुनिया के इतिहास के लिए चार बरस क्या चीज़ है? लेकिन हम एक ऐसे अजीब ज़माने में पैदा हुए, जबकि दुनिया की रफ़्तार तेज़ है और हम सब उसकी धारा में बहते जाते हैं। कोई कह नहीं सकता कि यह कहां पहुंचायगी। इन बरसों में क्रान्ति और इन्क़िलाब कितने देशों में हो गये! अबिसिनिया की हत्या हुई। स्पेन में बढ़ती हुई आज़ादी को एक भयानक मुक़ाबला करना पड़ा और अभीतक ज़िन्दगी और मौत की कुश्ती जारी है। फ़िलस्तीन में हमारे अरब भाइयों का गला घोंटा जा रहा है। चीन के मशहूर शहर, जहां लाखों लोग रहते थे, मिट्टी के ढेर होगये, और उस मिट्टी में बेशुमार पुरुष और स्त्री, लड़के और लड़कियां और बच्चे दबे पड़े हैं। साम्राज्यवाद और फ़ासिस्ट-वाद हर जगह हमला कर रहे हैं और दुनिया की नई उमंगों को कुचलने की कोशिश कर रहे हैं। उसीके साथ समाजवाद और राष्ट्रीयता के विचार फैलते जाते हैं और वे इस मुक़ाबिले से हटते नहीं।

इस पुस्तक के आखिर में मैंने लड़ाई के साये का ज़िक्र किया है। इन चार बरसों में यह साया सारे देश में फैल गया है और एक भयानक घटा हमें घेरे हुए है। दिन और रात इस लड़ाई की तैयारी सब देश कर रहे हैं और एक सवाल हरेक की ज़बान पर और चेहरे पर है। यह तूफ़ान कब दुनिया पर छायगा और क्या-क्या मुसीबतें लायगा? क्या इसका नतीजा होगा—हमें लाभ या हानि?

मैं चाहता था कि इन चार बरसों का कुछ हाल लिखकर इस किताब के अन्त में जोड़ दूं। लेकिन और कामों में इतना फंसा हूं कि समय नहीं मिलता।

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना कठिन काम है। कभी पूरा मतलब इस तरह से अदा नहीं हो सकता। फिर भी यह काम तो करना ही होता है। इस अनुवाद में एक और कठिनाई हुई। हम सबकी इच्छा थी कि यह बीच की हिन्दुस्तानी भाषा में हो, जो न कठिन हिन्दी हो, न कठिन उर्दू। हमें अपने देश में ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा को चालू करना है। शुरू-शुरू में इसमें काफ़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है और दोनों तरफ़ के साहित्यकार नाराज़ हो जाते हैं। ऐतराज़ होता है कि यह क्या दोगली चीज़ है—न हिन्दी, न उर्दू। साहित्य के प्रेमियों से मैं माफ़ी मांगता हूं, लेकिन मैं समझता हूं कि बीच के रास्ते पर चलकर हम एक मज़बूत और जानदार साहित्य बना सकेंगे। इस कोशिश में ग़लतियां होंगी और कभी-कभी आंखों को और कानों को चोट लगेगी। लेकिन जल्दी ही समय आयगा जब हम इस नई चीज़ की, जो आम जनता से पैदा हो और उसीकी तरफ़ देखें, शक्ति पहचानेंगे और उसके बढ़ाने में लगेंगे।

रेल में।
२१-११-३७

जवाहरलाल नेहरू

# विषय-सूची

## पहला खण्ड

# मानचित्र-सूची

# विश्व-इतिहास
# की
# झलक

# सालगिरह की चिट्ठी

सेण्ट्रल जेल, नैनी
२६ अक्तूबर, १९३०[1]

इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम
उसके तेरहवें जन्मदिन पर—

अपनी सालगिरह के दिन तुम बराबर उपहार और शुभ-कामनाएं पाती रही हो। शुभ-कामनाएं तो तुम्हें अब भी बहुत-सी मिलेंगी। लेकिन नैनी-जेल से मैं तुम्हारे लिए कौन-सा उपहार भेज सकता हूँ? फिर मेरे उपहार वास्तविक या बहुत ठोस शकल के नहीं हो सकते। वे तो हवा के समान सूक्ष्म ही होंगे, जिनका मन और आत्मा से सम्बन्ध हो—ऐसे उपहार शायद तुम्हें नेक परियाँ ही दे सकें और इन्हें जेल की ऊँची दीवारें भी नहीं रोक सकतीं।

प्यारी बेटी, तुम जानती हो कि उपदेश देना और नेक सलाह बाँटना मुझे कितना नापसन्द है। जब कभी ऐसा करने को मेरा जी चाहता भी है तो मुझे हमेशा एक 'बहुत अक़्लमन्द आदमी' की कहानी याद आ जाती है, जो मैंने एक बार पढ़ी थी। कभी शायद तुम ख़ुद उस पुस्तक को पढ़ोगी, जिसमें यह कहानी लिखी है। तेरह सौ बरस हुए एक मशहूर यात्री अनुभव और ज्ञान की खोज में चीन से भारत आया था। उसका नाम ह्यूएनत्सांग[2] था। उसकी ज्ञान की प्यास इतनी तेज़ थी कि वह अनेक ख़तरों का सामना करता, अनेक मुसीबतों और बाधाओं को झेलता और जीतता हुआ, उत्तर के रेगिस्तानों और पहाड़ों को पार करके

---

[1] इन्दिरा का जन्मदिन अंग्रेजी तारीख़ के हिसाब से १९ नवम्बर को पड़ता है, लेकिन विक्रमी संवत के अनुसार २६ अक्तूबर को मनाया गया था।

[2] ह्यूएनत्सांग एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुक और चीनी यात्री था। इसका समय सन् ६०५ से ६६४ ई० के लगभग माना जाता है। ६२९ में यह हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ। उन दिनों चीन में शाही हुक्म के अनुसार विदेश-यात्रा करना मना था, इसलिए इसकी रवानगी का पता लगने पर इसकी गिरफ्तारी की बड़ी कोशिश की गई; लेकिन बड़ी कठिनाइयों से यह वहाँ से निकल भागा और रास्ते में भी बहुत मुसीबतें झेलीं, मगर घबराया नहीं और हिन्दुस्तान आ पहुँचा। इसने यहाँ से लौटने के बाद चीन, मध्य-एशिया और भारत की तत्कालीन स्थिति का बड़ा ही दिलचस्प वर्णन लिखा है।

इस देश में आया था। यहां नालन्दा[1] के महान् विश्व-विद्यालय में, जो उस समय के पाटलिपुत्र[2] और आज के पटना के नज़दीक था, इसने ख़ुद पढ़ने और दूसरों को पढ़ाने में कई वर्ष बिताये। ह्यू एनत्सांग बहुत बड़ा विद्वान हो गया और उसे त्रिपिटकाचार्य यानी बौद्ध-धर्म के आचार्य की उपाधि दी गई। फिर वह सारे भारत में घूमा और इस महान् देश के उस ज़माने के लोगों का और उनके रस्म-रिवाजों का अध्ययन करता रहा। बाद को इसने अपनी यात्रा के बारे में एक पुस्तक लिखी। और जो कहानी मुझे याद आई वह इसी पुस्तक में है। कहानी यों है कि दक्षिण-भारत का रहनेवाला एक आदमी कर्णसुवर्ण नाम के नगर में गया। यह शहर उस ज़माने में बिहार के आजकल के भागलपुर शहर के आसपास कहीं बसा हुआ था। इस पुस्तक में लिखा है कि वह आदमी अपने पेट और कमर के चारों ओर ताँबे के पत्तर लपेटे रहता था और अपने सिर पर जलती हुई मशाल बांधकर चलता था। इस विचित्र भेष में, हाथ में डंडा लिये और अंकड़ के साथ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ यह शख़्स इधर-उधर घूमा करता था। जब कोई उससे पूछता कि तुमने यह अजीब स्वांग क्यों बना रक्खा है, तो वह जवाब देता, "मुझमें इतनी ज्यादा अक़्ल है कि अगर मैं अपने पेट के चारों तरफ़ ताँबे की चादरें न बाँधे रहूँ तो डर है कि कहीं मेरा पेट फट न जाय। और क्योंकि मुझे सब तरफ़ दिखाई देनेवाले अज्ञानी आदमियों पर, जो अंधेरे में भटक रहे हैं, दया आती है, इसलिए मैं अपने सिर पर मशाल लेकर चलता हूँ।"

मुझे पूरा भरोसा है कि अक़्ल की ज्यादती के कारण मेरे पेट के फट जाने का कोई अन्देशा नहीं है; इसलिए मुझे ताँबे की चादरें या जिरह-बख़्तर पहनने की ज़रूरत नहीं है। बहरहाल, मुझे उम्मीद है कि मुझमें जो-कुछ भी अक़्ल है, वह मेरे पेट में नहीं रहती। मेरी अक़्ल चाहे जहाँ रहती हो, वहाँ और ज्यादा के लिए अब भी काफ़ी जगह बाक़ी है, और इस बात का कोई अन्देशा नहीं कि अधिक के लिए वहां जगह ही न बचे। फिर जब मेरी अक़्ल इतनी सीमित है तो मैं दूसरों के सामने अक़्लमन्द होने की शान कैसे गाँठ सकता हूँ और सबको नेक सलाहें कैसे बाँट सकता हूँ? इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि यह जानने

[1]नालन्दा—यह मगध, आजकल के बिहार, के अन्तर्गत एक पुराना बौद्ध मठ और मशहूर विद्यापीठ था। ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिए यहाँ १०० विद्वान् बौद्ध पण्डित रहते थे। उनके अलावा लगभग दस हज़ार से ज्यादा याजक और शिष्य यहाँपर रहा करते थे। इसके जोड़ का विश्व-विद्यालय उस वक़्त दुनिया में दूसरा न था।

[2]पाटलिपुत्र—पटना का पुराना नाम। यह मगध और गुप्त साम्राज्यों की राजधानी था।

के लिए कि क्या सही है और क्या नहीं, क्या करना चाहिए, और क्या न करना चाहिए, सबसे अच्छा तरीक़ा यह नहीं है कि उपदेश दिया जाय; बल्कि यह है कि बातचीत और चर्चा की जाय, क्योंकि अक्सर ऐसी चर्चाओं में से कुछ-न-कुछ सचाई निकल आती है। मुझे तो तुमसे बातचीत करना ही पसन्द रहा है और हमने आपस में बहुत-सी बातों पर चर्चाएं की भी हैं। लेकिन दुनिया बहुत लम्बी-चौड़ी है और हमारी इस दुनिया के परे भी बहुत-सी आश्चर्यजनक और रहस्य-भरी दुनिया है। इसलिए हममें से किसीको भी ह्यूएनत्सांग की कहानी में बताये हुए बेवक़ूफ़ और घमण्डी आदमी की तरह कभी उकताना नहीं चाहिए और न यह खयाल ही करना चाहिए कि जितना सीखने लायक था वह सब हमने सीख लिया और अब हम बहुत अक़्लमन्द हो गये। और शायद इसी बात में अपनी भलाई है कि हम बहुत अक़्लमन्द नहीं बन जाते, क्योंकि 'बहुत ही अक़्लमन्द लोग', अगर इस क़िस्म के लोग कहीं पाये भी जाते हों, ज़रूर इस बात को सोचकर उदास हो जाते होंगे कि अब सीखने को कुछ भी बाक़ी नहीं रहा। नई बातों के सीखने और नई चीज़ों के खोज निकालने के आनन्द से—उस महान् साहसपूर्ण कार्य के आनन्द से, जिसे हममें से जो चाहे प्राप्त कर सकता है—वे ज़रूर वंचित रह जाते होंगे।

इसलिए उपदेश देना तो मेरा काम नहीं। तब फिर मैं करूँ क्या ? चिट्ठी से बातचीत का काम तो निकल नहीं सकता। ज़्यादा-से-ज़्यादा उससे एक तरफ़ की बात ही प्रकट की जा सकती है। इसलिए अगर मेरी कोई बात तुम्हें उपदेश-सी जान पड़े, तो उसे कड़वा घूंट न समझना। तुम यही समझना कि मानों हम दोनों सचमुच बातचीत ही कर रहे हैं, और इस बातचीत में मैंने तुम्हारे सामने विचार करने को कोई तजवीज़ रक्खी है।

इतिहास की किताबों में हम राष्ट्रों के जीवन में बीतनेवाले बड़े-बड़े ज़मानों का और उनके महान् पुरुषों और महिलाओं का हाल और उनके शानदार कार-नामों की कहानियाँ पढ़ते ही रहते हैं। कभी-कभी हम सोचते-सोचते और सपने देखते-देखते यह खयाल करने लगते हैं कि मानों हम भी उसी पुराने ज़माने में चले गये हैं और पुराने ज़माने के उन वीरों और वीरांगनाओं के समान हम भी बहादुरी के काम कर रहे हैं। क्या तुम्हें याद है कि जब तुमने पहले-पहल 'जीन द आर्क'[1] की कहानी पढ़ी थी, तो तुम कितनी मुग्ध हो गईं थीं और तुम्हारे दिल में कितना

[1]जीन द आर्क—इसका जन्म सन् १४१२ ई० में फ्रांस देश के एक किसान-ज़मींदार के घर में हुआ था। कहते हैं कि बचपन से ही इसके हृदय में 'दैवी-सन्देश' आया करते थे और इसे विश्वास हो गया था कि फ्रांस का उद्धार इसीके हाथों होगा। उस वक्त फ्रांस अंग्रेज़ों के अधीन था। एक बार जीन फ्रांस के बादशाह चार्ल्स के पास जा पहुंची और उसे प्रभावित करके चार-पांच हज़ार सेना के साथ अर्लीन्स

हौसला पैदा हुआ था कि तुम भी उसीकी तरह कुछ काम करो ? साधारण मर्दों और औरतों में आमतौर पर साहस की भावना नहीं होती। वे तो अपनी रोजाना की दाल-रोटी की, अपने बाल-बच्चों की, घर-गिरस्ती की झंझटों की और इसी तरह की दूसरी बातों की चिन्ता में फँसे रहते हैं। लेकिन एक समय आता है जब किसी बड़े उद्देश्य के लिए सारी जनता में उत्साह भर जाता है और उस वक्त सीधे-सादे मामूली स्त्री और पुरुष वीर बन जाते हैं, और इतिहास दिल को थर्रा देनेवाला और नया युग पैदा करनेवाला बन जाता है। महान् नेताओं में कुछ ऐसी बातें होती हैं जो सारी जाति के लोगों में जान पैदा कर देती हैं और उनसे बड़े-बड़े काम करवा देती हैं।

वह वर्ष, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ, अर्थात् सन् १९१७, इतिहास का एक बहुत प्रसिद्ध वर्ष है। इसी वर्ष एक महान् नेता ने, जिसके हृदय में ग़रीबों और दुखियों के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी क़ौम से इतिहास के एक शानदार और अमर अध्याय की रचना करवा दी। उसी महीने में, जिसमें तुम पैदा हुईं, लेनिन ने उस महान् क्रान्ति को शुरू किया था, जिससे रूस और साइबेरिया की काया पलट गई। और आज भारत में एक दूसरे महान् नेता ने, जिसके हृदय में मुसीबत के मारे और दुखी लोगों के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है, हमारे राष्ट्र में महान् प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है कि जिससे हमारा राष्ट्र फिर आजाद हो जाय, और भूखे, ग़रीब और पीड़ित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जायं। बापूजी[1] जेल में पड़े हैं, लेकिन हिन्दुस्तान की करोड़ों जनता के दिलों में उनके संदेश का जादू पैठ गया है और मर्द और औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक अपने-अपने छोटे-छोटे और तंग दायरों से निकलकर भारत की आज़ादी के सिपाही बन रहे हैं। भारत में आज हम इतिहास निर्माण कर रहे हैं। हम और तुम आज बड़े ख़ुशक़िस्मत हैं कि ये सब बातें हमारी आँखों के सामने हो रही हैं, और इस महान् नाटक में हम भी कुछ हिस्सा ले रहे हैं।

---

लिबास में अंग्रेजों से लड़ने चल पड़ी। आर्लियंस की लड़ाई में इसने अंग्रेजों को मार भगाया और चार्ल्स को फ्रांस की गद्दी पर बिठाया। पर चार्ल्स ने इसका साथ न दिया और बर्गण्डी के ड्यूक ने इसे युद्ध में पकड़कर अंग्रेजों के हाथ बेच दिया। अंग्रेजों ने इसे इन्क्वीजिशन (देखो फुटनोट पृष्ठ १४५) के हवाले कर दिया और इन्क्वीजिशन ने इसे काफ़िर और जादूगरनी क़रार देकर रूअन नगर में जिन्दा जलवा डाला। उस वक्त इसकी उम्र ३० साल की थी। इसके २५ वर्ष बाद पोप ने इसे बेक़सूर बतलाया और बाद को यह जादूगरनी के बजाय साध्वी क़रार दी गई।

[1] महात्मा गांधी।

इस महान् आन्दोलन में हमारा व्यवहार कैसा रहेगा ? इसमें हम क्या भाग लेंगे ? मैं नहीं कह सकता कि हम लोगों के जिम्मे कौन-सा काम आयेगा। लेकिन हमारे जिम्मे चाहे जो काम आ पड़े, हमें यह याद रखना चाहिए कि हम कोई ऐसी बात नहीं करेंगे, जिससे हमारे उद्देश्यों पर धब्बा लगे और हमारे राष्ट्र की बदनामी हो। अगर हमें भारत के सिपाही होना है, तो हमको उसके गौरव का रक्षक बनना होगा और यह गौरव हमारे लिए एक पवित्र धरोहर होगी।

कभी-कभी हमें यह दुविधा हो सकती है कि इस समय हमें क्या करना चाहिए ? सही क्या है और ग़लत क्या है, यह तय करना आसान काम नहीं होता। इसलिए जब कभी तुम्हें शक हो तो ऐसे समय के लिए मैं एक छोटी-सी कसौटी तुम्हें बताता हूँ। शायद इससे तुम्हें मदद मिलेगी। वह यह है कि कोई काम खुफ़िया तौर पर न करो, कोई काम ऐसा न करो जिसे तुम्हें दूसरों से छिपाने की इच्छा हो। क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलब यह होता है कि तुम डरती हो; और डरना बुरी बात है और तुम्हारी शान के खिलाफ़ है। तुम बहादुर बनो और बाक़ी चीजें तुम्हारे पास आप-ही-आप आती जायँगी। अगर तुम बहादुर हो तो तुम डरोगी नहीं, और कभी ऐसा काम न करोगी जिसके लिए दूसरों के सामने तुम्हें शर्म मालूम हो। तुम्हें मालूम है कि हमारी आजादी के आन्दोलन में, जो बापूजी की रहनुमाई में चल रहा है, गुप्त तरीक़ों या लुक-छिपकर काम करने के लिए कोई स्थान नहीं है। हमें तो कोई चीज़ छिपानी ही नहीं है। जो कुछ हम कहते या करते हैं, उससे हम डरते नहीं। हम तो उजाले में और दिन-दहाड़े काम करते हैं। इसी तरह अपनी निजी ज़िन्दगी में भी हमें सूरज को अपना दोस्त बनाना चाहिए और रोशनी में काम करना चाहिए। कोई बात छिपाकर या आँख बचाकर नहीं करनी चाहिए। एकान्त तो अलबत्ता हमें चाहिए और वह स्वाभाविक भी है, लेकिन एकान्त और चीज़ है और पोशीदगी दूसरी चीज़ है। इसलिए, प्यारी बेटी, अगर तुम इस कसौटी को सामने रखकर काम करती रहोगी तो प्रकाश की सन्तान होकर बढ़ोगी और चाहे जो घटनाएँ तुम्हारे सामने आयें तुम निर्भय और शान्त रहोगी और तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक न आयगी।

मैंने तुम्हें एक बड़ी लम्बी चिट्ठी लिख डाली। फिर भी बहुत-सी बातें रह गईं, जो मैं तुमसे कहना चाहता हूँ। एक पत्र में इतनी सब बातें कहाँ समा सकती हैं ?

मैंने तुम्हें बताया है कि तुम बड़ी खुशक़िस्मत हो कि आज़ादी की बड़ी लड़ाई, जो हमारे देश में इस वक्त चल रही है, तुम्हारी आँखों के सामने हो रही है। तुम्हारी एक बड़ी खुशक़िस्मती यह भी है कि तुम्हें एक बहुत बहादुर और

दिलेर स्त्री 'मम्मी'[1] के रूप में मिली है। जब कभी तुम्हें कोई शक-शुबह हो, या कोई परेशानी सामने आये, तो उनसे बढ़कर मित्र तुम्हें दूसरा नहीं मिल सकता।

प्यारी नन्हीं, अब मैं तुमसे बिदा लेता हूँ, और मेरी यह कामना है कि तुम बड़ी होकर भारत की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो। मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हें पहुंचे।

: १ :

## नये साल की भेंट

१ जनवरी, १९३१

क्या तुम्हें उन पत्रों[2] की याद है, जो दो साल से ज्यादा हुए मैंने तुम्हें लिखे थे, जबकि तुम मसूरी में थीं और मैं इलाहाबाद में था? उस समय तुमने मुझे बताया था कि मेरे वे पत्र तुम्हें पसन्द आये थे। इसलिए, मैं अक्सर यह सोचता रहता हूँ कि पत्रों के इस सिलसिले को मैं क्यों न जारी रक्खूं और अपनी इस दुनिया के बारे में तुम्हें कुछ और बातें क्यों न बताऊँ? लेकिन मैं हिचकता रहा। संसार के बीते हुए जमाने की कहानी और उसके महान् पुरुषों और स्त्रियों और उनके महान् कार्यों का चिन्तन करना बहुत दिलचस्प चीज़ है। इतिहास का पढ़ना अच्छा है, लेकिन उससे ज्यादा दिलचस्प और दिल लुभानेवाली बात इतिहास के निर्माण में मदद देना है। और तुम जानती ही हो कि हमारे देश में आज इतिहास का निर्माण हो रहा है। भारत का पिछला इतिहास बहुत ही पुराना है और प्राचीनता के कुहरे में खो गया है। इसमें अनेक दुःखद और अप्रिय युग भी हैं, जिनकी याद करके हमें शर्म आती है और ग्लानि होती है। लेकिन सभी बातों का लिहाज़ करते हुए हमारा पिछला ज़माना बहुत शानदार है, जिसपर हम सही तौर पर गर्व कर सकते हैं और जिसका खयाल करके हम खुशी हासिल कर सकते हैं। लेकिन आज हमें इतनी फ़ुरसत नहीं कि हम अतीत की याद करने बैठें। हमारे दिमाग़ में तो वह भविष्य, जिसका हम निर्माण कर रहे हैं, भरा पड़ा है, और वह वर्तमान है, जिसमें हमारा पूरा समय और हमारी पूरी शक्ति लग रही है।

यहाँ नैनी-जेल में मुझे इस बात का काफ़ी समय मिल गया है कि मैं जो कुछ चाहूँ लिख-पढ़ सकूं। लेकिन मेरा मन भटकता रहता है और मैं उस महान् संघर्ष के बारे में सोचता रहता हूँ, जो बाहर चल रहा है। मैं यह सोचता रहता हूँ कि दूसरे लोग क्या कर रहे हैं, और अगर मैं उनके बीच में होता तो क्या करता? वर्त्तमान

---

[1]इन्दिरा की मा श्रीमती कमला नेहरू। [2]ये पत्र 'पिता के पत्र पुत्री के नाम', नाम से पुस्तक रूप में छप चुके हैं।

और भविष्य के विचारों में मैं इतना डूबा रहता हूँ कि बीते हुए जमाने पर ध्यान देने की फ़ुरसत ही नहीं होती। लेकिन, साथ-ही-साथ मैं यह भी महसूस करता रहा हूं कि ऐसा सोचना मेरे लिए मुनासिब नहीं है। जब मैं बाहर के कामों में कोई हिस्सा ले नहीं सकता, तो उसकी फ़िक्र क्यों करूँ ?

लेकिन असल वजह, जिससे मैं तुम्हें पत्र लिखना टालता रहा हूँ, दूसरी ही है। क्या चुपके-से तुम्हारे कान में कह दूं ? मुझे यह शक होने लगा है कि मैं इतना जानता भी हूँ या नहीं कि जो तुम्हें पढ़ा सकूं। तुम इतनी तेज़ी से बढ़ रही हो और इतनी अक्लमन्द लड़की साबित हो रही हो कि जो कुछ मैंने स्कूल या कालेज में और उसके बाद पढ़ा-लिखा है, सम्भव है, वह तुम्हारे लिए काफ़ी न हो और इसमें तो कोई शक नहीं कि वह कुछ बासी है। यह भी हो सकता है कि कुछ दिन बाद तुम शिक्षक का स्थान ले लो और मुझे कई नई-नई बातें सिखाओ। जैसा मैंने तुम्हारे जन्मदिनवाले पिछले पत्र में तुम्हें लिखा था, मैं उस 'बहुत अक़्लमन्द आदमी' की तरह बिलकुल नहीं हूँ जो अपने शरीर के चारों तरफ़ तांबे की चादरें बाँधे फिरता था, ताकि कहीं अक़्ल की ज्यादती से उसका पेट न फट जाय !

जब तुम मसूरी में थीं तब दुनिया की शुरुआत के दिनों के बारे में कुछ लिखना मेरे लिए आसान था। उस ज़माने के सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी पाई जाती है वह अनिश्चित और धुंधली-सी है। लेकिन जब हम उस बहुत पुराने ज़माने से इस पार निकल आते हैं, तो इतिहास धीरे-धीरे शुरू होने लगने लगता है और मनुष्य-जाति दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में अपना विचित्र जीवन शुरू करती दिखाई देने लगती है। पर मनुष्य-जाति के इस जीवन को, जो कभी-कभी अक़्लमन्दी लिये हुए लेकिन ज्यादातर पागलपन और बेवकूफ़ी से भरा है, सिलसिलेवार पकड़ना आसान काम नहीं है। किताबों की मदद से कोशिश-भर की जा सकती है। लेकिन नैनी-जेल में कोई पुस्तकालय नहीं है। इसलिए, मेरे बहुत चाहने पर भी, मुझे अन्देशा है कि मैं तुम्हें शायद दुनिया के इतिहास का सिलसिलेवार हाल न बता सकूँगा।

मुझे यह बहुत नापसन्द है कि लड़के और लड़कियाँ सिर्फ़ एक देश का इतिहास जानें और वह भी सिर्फ़ कुछ तारीखें और चन्द घटनाएँ रटकर। इतिहास तो एक सिलसिलेवार मुकम्मिल चीज है, और जबतक तुम्हें यह मालूम न हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हुआ, तुम किसी एक देश का इतिहास समझ ही नहीं सकतीं। मुझे उम्मीद है कि इस भद्दे तरीक़े से, तुम इतिहास को एक या दो देशों तक ही सीमित रहकर न पढ़ोगी, बल्कि सारी दुनिया पर नज़र दौड़ाओगी। हमेशा याद रक्खो कि अलग-अलग देशों के लोगों में इतना ज्यादा अन्तर नहीं होता जितना लोग समझते हैं। नक़शों और नक़शों की किताबों में मुल्क अलग-अलग

रंगों में दिखाये जाते हैं। इसमें शक नहीं कि अलग-अलग देशों के रहनेवालों में कुछ भेद ज़रूर होता है, लेकिन उनमें समानता भी बहुत ज्यादा पाई जाती है। इसलिए हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए और नक़शों के रंग या राष्ट्रों की सीमा-रेखाएं देखकर भुलावे में नहीं पड़ना चाहिए।

मैं तुम्हारे लिए अपनी पसन्द का इतिहास नहीं लिख सकता। इसके लिए तुम्हें दूसरी पुस्तकें पढ़नी होंगी। लेकिन मैं तुम्हें बीते हुए जमाने के बारे में, और उस जमाने के लोगों के बारे में कि जिन्होंने दुनिया के रंगमंच पर बड़े-बड़े काम किये हैं, समय-समय पर थोड़ा-बहुत लिखता रहूँगा।

मैं नहीं कह सकता कि मेरी चिट्ठियाँ तुम्हारे लिए रोचक होंगी और तुम्हारे दिल में कुतूहल पैदा करेंगी या नहीं। सच तो यह है कि मैं यह भी नहीं जानता कि ये चिट्ठियाँ तुम्हें कब मिलेंगी या कभी मिलेंगी भी या नहीं। कितनी विचित्र बात है कि हम एक-दूसरे से इतने नज़दीक होते हुए भी इतनी दूर हैं! मसूरी में तुम मुझसे कई सौ मील के फासले पर थीं; लेकिन तब मैं जितनी दफ़ा चाहता तुम्हें पत्र लिख सकता था, और जब कभी तुम्हें देखने को बहुत तबीयत चाहती तब जाकर मिल सकता था। लेकिन आजकल तुम जमना नदी के उस पार हो, और मैं इस पार हूँ; एक-दूसरे से बहुत दूर नहीं। फिर भी नैनी-जेल की ऊँची दीवारों ने हमें एक-दूसरे से एकदम अलग कर रक्खा है। पन्द्रह दिन में मैं एक पत्र लिख सकता हूँ और एक पा सकता हूँ; और पन्द्रह दिन में बीस मिनट की मुलाकात भी मुझे मिल सकती है। फिर भी मैं इन बन्दिशों को अच्छा समझता हूँ। क्योंकि जो चीज़ हमें सस्ती मिल जाती है, हम अक्सर उसकी क़द्र नहीं करते, और मैं यह विश्वास करने लग गया हूँ कि कुछ दिन जेल में बिताना आदमी की शिक्षा का बहुत वांछनीय हिस्सा है। खुशकिस्मती की बात है कि हमारे देश के बीसों हज़ार आदमी आज इस तरह की शिक्षा पा रहे हैं!

मैं नहीं जानता कि जब तुम्हें मेरे ये पत्र मिलेंगे तुम इन्हें पसन्द करोगी या नहीं। लेकिन मैंने अपनी ही खुशी के लिए इनका लिखना तय कर लिया है। इन पत्रों से तुम मेरे बहुत नजदीक आ जाती हो और मैं तो यहाँतक महसूस करने लगता हू कि मानो मैंने तुमसे बातें कर लीं। वैसे तो मैं तुम्हें अक्सर याद करता रहता हूँ, लेकिन आज तो सारे दिन तुम शायद ही मेरे चित्त से हटी होगी। आज नये साल का पहला दिन है। आज बड़े सवेरे जब मैं बिस्तर पर लेटे-लेटे तारों को देख रहा था, तो मेरे दिल में पिछले महत्वपूर्ण वर्ष का ख़याल हो आया। और साथ ही ख़याल में आईं उस साल की वे सब उम्मीदें, टीसें और खुशियां और वे सारे महान् और वीरता के काम जो इस साल में किये गए। मुझे बापूजी का भी ख़याल आया, जिन्होंने यरवदा-जेल की कोठरी में बैठे-बैठे अपने जादूभरे स्पर्श से

हमारे बूढ़े देश को जवान और ताक़तवर बना दिया। और मुझे दादू[1] की भी याद आई, और दूसरों की भी। मुझे खास तौर से तुम्हारी मम्मी का और तुम्हारा खयाल आया। इसके बाद सुबह होने पर खबर आई कि तुम्हारी मम्मी गिरफ़्तार करली गईं और जेल पहुँचा दी गईं। मेरे लिए यह नये साल की एक सुन्दर भेंट है। इसकी उम्मीद तो बहुत दिन से की जा रही थी और मुझे इसमें कोई शक नहीं कि मम्मी बिलकुल प्रसन्न और सन्तुष्ट होंगी।

लेकिन तुम अपने-आपको अकेली अनुभव कर रही होगी। पन्द्रह दिन में तुम एक दफ़ा मुझसे और एक दफ़ा अपनी मम्मी से मिल सकोगी और हम दोनों के संदेसे एक-दूसरे को पहुँचा दिया करोगी। लेकिन मैं तो क़लम और काग़ज़ लेकर बैठ जाया करूँगा और तुम्हारा ध्यान किया करूँगा। तब तुम चुपके-से मेरे पास आ बैठोगी और हम एक-दूसरे से बहुत-सी चीज़ों के बारे में बातचीत करेंगे। हम गुज़रे हुए जमाने का स्वप्न देखेंगे और भविष्य को बीते हुए ज़माने से ज्यादा शानदार बनाने की तरकीबें सोचेंगे। इसलिए आओ, आज नये साल के दिन हम लोग इस बात का पक्का इरादा करें कि, इससे पहले कि यह वर्ष भी बूढ़ा होकर चल बसे, हम अपने उज्ज्वल भविष्य के सपनों को वर्तमान के नज़दीक ले आयेंगे, और भारत के प्राचीन इतिहास में एक शानदार पृष्ठ और बढ़ा लेंगे।

: २ :

# इतिहास से शिक्षा

५ जनवरी, १९३१

प्यारी बेटी, मैं तुम्हें क्या लिखूँ और किस जगह से शुरू करूँ? जब मैं पुराने ज़माने का खयाल करता हूँ तो मेरी आँखों के सामने बहुत-सी तसवीरें तेज़ी के साथ घूम जाती हैं। कुछ तसवीरें ज्यादा देर तक ठहरती हैं, तो कुछ थोड़ी ही देर तक। वे मेरी पसन्द की चीज़ें हैं, और उनके बारे में विचार करते-करते मैं उन्हींमें डूब जाता हूँ। बिलकुल अनजान में ही मैं पिछली घटनाओं से आजकल की घटनाओं का मुक़ाबला करने लगता हूँ, और उनसे आगे के लिए नसीहत लेने की कोशिश करता हूँ। लेकिन आदमी का मन भी क्या अजीब खिचड़ी है, जिसमें ऐसे विचार भरे रहते हैं कि जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता और ऐसी तसवीरें मौजूद रहती हैं, जिनमें कोई तरतीब नहीं पाई जाती—जैसे कोई ऐसी चित्रशाला हो, जहाँ तसवीरों की सजावट में कोई व्यवस्था न रक्खी गई हो। लेकिन शायद इसमें हमीं लोगों का सारा दोष नहीं है। हममें बहुत-से आदमी अपने

[1] इन्दिरा के दादा पंडित मोतीलाल नेहरू।

दिमाग़ में घटनाओं के क्रम को ज़रूर बेहतर तरीक़े से जमा सकते हैं। लेकिन कभी-कभी खुद घटनाएँ इतनी अजीब होती हैं कि उन्हें किसी भी योजना के ढाँचे में ठीक तरह बिठा सकना मुश्किल हो जाता है।

मुझे ख़याल पड़ता है कि मैंने तुम्हें एक बार लिखा था कि इतिहास पढ़कर हमें यह सीखना चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्क़ी की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवों की जगह पर अधिक उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आ गये और कैसे सबसे अख़ीर में जीवों का सिरताज आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के ज़ोर पर उसने कैसे दूसरों पर विजय पाई। बर्बरता से निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल इतिहास का विषय माना गया है। मैंने अपने कुछ पत्रों में तुम्हें यह बताने की कोशिश की है कि सहयोग यानी मिल-जुलकर काम करने की भावना कैसे बढ़ी और सबकी भलाई के लिए मिल-जुलकर काम करना हमारा आदर्श क्यों होना चाहिए ? लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास के लम्बे ज़मानों पर नजर डालते हैं, तो यह विश्वास करना मुश्किल होता है कि इस आदर्श ने बहुत ज्यादा तरक़्क़ी की है या हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत हो गये हैं। सहयोग का अभाव आज भी बहुत काफ़ी पाया जाता है। एक मुल्क या एक राष्ट्र दूसरे मुल्क और दूसरे राष्ट्र पर खुदग़रजी से आक्रमण कर रहा है या उसे सता रहा है; एक आदमी दूसरे आदमी से बेजा फ़ायदा उठा रहा है। अगर करोड़ों वर्षों की प्रगति के बाद भी हम इतने पिछड़े और अपूर्ण हैं, तो न जाने समझदार और वाजिब बात करनेवाले आदमियों की तरह व्यवहार करना सीखने में हमें और कितने दिन लग जायँगे ! कभी-कभी हम इतिहास के उन बीते हुए ज़मानों के बारे में पढ़ते हैं, जो हमारे ज़माने से बेहतर मालूम होते हैं और अधिक संस्कृत और सभ्य भी जान पड़ते हैं। इससे हमें यह शक होने लगता है कि हमारी दुनिया आगे बढ़ रही है या पीछे हट रही है। गुजरे हुए ज़माने में खुद हमारे देश में ही ऐसे उज्ज्वल युग ज़रूर बीते हैं जो हर बात में वर्तमान से बहुत अच्छे थे।

यह सच है कि भारत, मिस्र, चीन, यूनान, वग़ैरा बहुत-से देशों के पुराने इतिहास में उज्ज्वल युग हुए हैं और इन देशों में से बहुत-से बाद में पिछड़ गये और गिर गये हैं। लेकिन फिर भी हमें हिम्मत न हारनी चाहिए। दुनिया एक बहुत बड़ी जगह है, और थोड़ी देर के लिए किसी मुल्क के चढ़ाव और उतार का सारी दुनिया पर कोई ज्यादा असर नहीं पड़ता।

आजकल बहुत-से लोग हमारी महान् सभ्यता की और विज्ञान के चमत्कारों की डींग मारते रहते हैं। इसमें शक नहीं कि विज्ञान ने बहुत चमत्कार कर दिया है, और बड़े-बड़े वैज्ञानिक पूरी इज़्ज़त के योग्य हैं। लेकिन जो डींग मारते हैं वे

अक्सर बड़े नहीं हुआ करते। दूसरे, यह बात भी याद रखनी चाहिए कि बहुत-सी बातों में आदमी ने दूसरे जीवों की बनिस्बत कुछ बहुत ज्यादा प्रगति नहीं की है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ बातों में कुछ जीव आदमी से अब भी श्रेष्ठ हैं। यह बात बेवक़ूफ़ी की-सी मालूम पड़ सकती है और जो लोग ज्यादा नहीं जानते, वे इसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं। लेकिन तुमने अभी मैटरलिंक की लिखी हुई 'शहद की मक्खी, दीमक और चींटी की ज़िन्दगी'[1] नामक किताब पढ़ी ही है और इन जन्तुओं के सामाजिक संगठन का हाल पढ़कर तुम्हें जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हम लोग इन जन्तुओं को सबसे नीचे दर्जे के जीव समझकर हिक़ारत की नज़र से देखते हैं। लेकिन इन छोटे-छोटे जन्तुओं ने सहयोग और सार्वजनिक हित के लिए त्याग की कला आदमी की अपेक्षा कहीं ज्यादा सीख रक्खी है। जबसे मैंने दीमक का और अपने साथियों के लिए उसके त्याग का हाल पढ़ा तो मेरे दिल में इस जन्तु के लिए आदर का भाव पैदा हो गया है। अगर आपसी सहयोग को और समाज की भलाई के लिए त्याग को सभ्यता की कसौटी मानें, तो हम कह सकते हैं कि इस लिहाज़ से दीमक और चींटियाँ मनुष्य जाति से ऊँची हैं।

संस्कृत की हमारी एक पुरानी पुस्तक में एक श्लोक[2] है, जिसका अर्थ है, "कुल के लिए व्यक्ति को, समाज के लिए कुल को, देश के लिए समाज को और आत्मा के लिए सारी दुनिया को त्याग देना चाहिए।" आत्मा क्या चीज़ है, इसे हममें से न कोई समझता है और न बता सकता है और हरेक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने ख़याल के अनुसार अलग-अलग किया करता है। लेकिन संस्कृत का यह श्लोक हमें सहयोग की और सार्वजनिक हित के लिए त्याग करने की वही शिक्षा देता है। हम भारत के लोग असली महानता के इस राजमार्ग को बहुत दिनों तक भूले रहे, इसीलिए हमारा पतन हुआ। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब फिर हमें उसकी झलक दिखाई देने लगी है और सारे देश में जागृति की लहर दौड़ रही है। यह देखकर कितना आश्चर्य होता है कि मर्द और औरतें, लड़के और लड़कियाँ, हँसते-हँसते भारत के हित के लिए आगे बढ़ रहे हैं और कष्ट या यातना की ज़रा भी परवा नहीं करते! उनका हँसना और ख़ुश होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक महान् उद्देश्य के लिए यत्न करने का आनन्द उनको मिला है, और जो ख़ुशकिस्मत हैं, उन्हें बलिदान होने का भी आनन्द प्राप्त होता है। आज हम भारत को आज़ाद करने की कोशिश कर रहे हैं। यह एक बड़ी बात है। लेकिन मनुष्य-मात्र का हित इससे भी बड़ी चीज़ है। और क्योंकि हम यह महसूस करते

---

[1] 'Life of the Bee, the White Ant and the Ant'

[2] त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥—पञ्चतंत्र

हैं कि हमारा संग्राम मनुष्य-मात्र की तकलीफ़ों और मुसीबतों को मिटाने के महान् संग्राम का एक हिस्सा है, हम भी स बात पर खुशी मना सकते हैं कि हम दुनिया की प्रगति में मदद करके अपना कुछ फ़र्ज अदा कर रहे हैं।

इस बीच तुम आनन्द-भवन में बैठी हो, मम्मी मलाका-जेल में बैठी हैं, और मैं नैनी-जेल में हूँ। हमें कभी-कभी एक-दूसरे की याद बुरी तरह सताती है। क्यों, सताती है या नहीं? लेकिन उस दिन की याद करो, जब हम तीनों फिर मिलेंगे। मैं उस दिन का इन्तजार करूँगा और उसका ख़याल मेरे दिल को हलका करेगा और उसे उम्मीद से भर देगा।

: ३ :

## 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'

७ जनवरी, १९३१

प्रियदर्शिनी, आँखों को प्यारी, लेकिन जब आँखों से ओझल हो तो और भी प्यारी! आज, जब मैं यहाँ तुम्हें पत्र लिखने बैठा तो दूर के बादल की गरज जैसा कुछ हलका-सा शोर मुझे सुनाई दिया। पहले तो मुझे पता न चला कि यह आवाज़ कैसी है, लेकिन यह कुछ परिचित-सी जान पड़ी और ऐसा मालूम हुआ कि उसके जवाब में मेरे हृदय से गूँज उठ रही है। धीरे-धीरे यह आवाज़ नज़दीक आती हुई और बढ़ती हुई मालूम देने लगी और थोड़ी ही देर में वह क्या है उसके बारे में कोई शक नहीं रहा। 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'! 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'! इस जोशभरी ललकार से जेलखाना गूँज उठा; और इसे सुनकर हम सबके दिल हरे हो गये। मैं नहीं जानता कि ये कौन लोग थे—जो हमारे इस जंगी नारे को हमसे इतना नजदीक जेल के बाहर बुलन्द कर रहे थे—शहर के मर्द और औरतें थीं या गाँवों के किसान लोग? और न मैं यह जानता हूँ कि आज इसका कौन-सा मौक़ा था? लेकिन ये लोग चाहे जो हों, इन्होंने हमारे दिलों के हौसले बढ़ा दिये और इनके अभिवादन का हम लोगों ने खामोश जवाब भेज दिया, जिसके साथ-साथ हमारी सारी शुभकामनाएं भी थीं।

सवाल यह होता है कि हम 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद' क्यों पुकारते हैं? हम क्रांति और परिवर्तन किसलिए चाहते हैं? इसमें शक नहीं कि भारत में आज बहुत परिवर्तन की ज़रूरत है। लेकिन वे सारे बड़े परिवर्तन, जो हम चाहते हैं, हो भी जायँ, और भारत को आज़ादी भी मिल जाय, तो भी हम निश्चल नहीं बैठ सकते। दुनिया की कोई भी चीज़, जिसमें जान है, बिना परिवर्तन के नहीं रहती। सारी कुदरत रोज़-ब-रोज़ और मिनट-मिनट पर बदलती रहती है। केवल

मुर्दों की ही बढ़ोतरी रुक जाती है, और वे निश्चल हो जाते हैं। ताज़ा पानी बहता रहता है और अगर कोई उसे रोक दे तो वह बंधकर गन्दा हो जाता है। मनुष्य-जाति की और राष्ट्र की ज़िन्दगी का भी यही हाल होता है। हम चाहें या न चाहें, बूढ़े होते जाते हैं। बच्चियाँ छोटी लड़कियाँ हो जाती हैं; छोटी लड़कियाँ बड़ी लड़कियाँ हो जाती हैं; वे ही बाद में युवतियाँ और फिर बूढ़ियाँ हो जाती हैं। हमें इन सब परिवर्तनों को बर्दाश्त करना पड़ता है। लेकिन बहुत-से लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं कि दुनिया बदलती रहती है। वे अपने दिमाग़ को बन्द रखते हैं और उसपर ताला डाल देते हैं और उसमें किसी नये ख़याल को घुसने नहीं देते। सोच-विचार करने की भावना से उन्हें जितना डर लगता है, उतना किसी दूसरी चीज़ से नहीं। नतीजा क्या होता है? दुनिया तो फिर भी आगे-आगे बढ़ती ही जाती है, और चूँकि वे और उन्हींके ख़यालों के दूसरे लोग बदलती हुई परिस्थितियों के मुताबिक़ अपनेको नहीं ढालते, इसलिए समय-समय पर बड़े-बड़े विस्फोट होते हैं; बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हो जाती हैं—जैसी कि १४० वर्ष पहले फ्रांस में और आज से १३ वर्ष पहले रूस में हुई थी। इसी तरह अपने देश में हम भी आज एक क्रान्ति के बीच से गुज़र रहे हैं। बेशक हम आज़ादी चाहते हैं; लेकिन हम इससे भी कुछ और ज़्यादा चाहते हैं। हम तमाम बदबूदार गड्ढों को साफ़ कर डालना चाहते हैं और हरेक जगह ताज़ा और साफ़ पानी की धार पहुँचा देना चाहते हैं। हमारा फ़र्ज़ है कि हम अपने देश की गन्दगी, ग़रीबी और मुसीबतों को निकाल फेंकें और जहांतक हो सके बहुत-से आदमियों के दिमाग़ों में भरे हुए जालों को भी साफ़ कर दें जिनकी वजह से कि वे लोग विचार नहीं कर पाते और उस महान् काम में, जो हमारे सामने है, सहयोग नहीं देते। यह एक बड़ा काम है और सम्भव है इसके पूरा होने में देर लगे। आओ, कम-से-कम एक धक्का लगाकर इसे आगे तो बढ़ा दें! इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!

हम अपनी क्रान्ति के दरवाज़े पर खड़े हैं और यह नहीं जानते कि भविष्य में क्या होनेवाला है। लेकिन हमारी मेहनतों का फल बहुत काफ़ी मात्रा में वर्तमान ने ही हमारे सामने ला रक्खा है। भारत की स्त्रियों को देखो कि वे कितने अभिमान के साथ लड़ाई में सबसे आगे बढ़ती जा रही हैं! नम्र, लेकिन बहादुर और किसीसे न दबनेवाली स्त्रियाँ, देखो किस तरह दूसरों को आगे बढ़ने का रास्ता बता रही हैं? और कहाँ गया आज वह परदा, जिसने हमारी बहादुर और सुन्दर स्त्रियों को छिपा रक्खा था, और जो उनके और उनके देश के लिए एक अभिशाप था? क्या वह तेज़ी के साथ हट नहीं रहा कि अजायबघरों की आलमारियों में, जहां कि बीते ज़माने की निशानियाँ रक्खी जाती रहती है, जाकर अपनी जगह ले।

बच्चों को—लड़के और लड़कियों को—वानर-सेना और बाल-बालिका-

सभाओं को भी देखो। इनमें से बहुत-से बच्चों के माता-पिता ऐसे होंगे, जो शायद पहले कायरों और ग़ुलामों की तरह आचरण करते रहे हों। लेकिन क्या अब कोई यह शक करने की हिम्मत कर सकता है कि हमारी पीढ़ी के बच्चे ग़ुलामी या कायरता को कभी भी बरदाश्त करेंगे ?

और इस तरह परिवर्तन का चक्र चल रहा है और जो नीचे थे वे ऊपर आ रहे हैं और जो ऊपर थे वे नीचे जा रहे हैं। हमारे देश में भी इस चक्र के चलने का समय आगया है। लेकिन इस बार हम लोगों ने इसे ऐसा धक्का दिया है कि अब कोई भी इसे रोक नहीं सकता।

**इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद !**

## : ४ :
# एशिया और यूरोप

८ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में बताया था कि हरेक चीज़ बराबर बदलती रहती है। इन परिवर्तनों के अभिलेखों के सिवा वास्तव में इतिहास और है भी क्या ? अगर पुराने ज़माने में बहुत कम परिवर्तन हुए होते, तो इतिहास लिखने के लिए कुछ मसाला ही न मिलता।

स्कूलों और कॉलेजों में जो इतिहास पढ़ाया जाता है, उसमें आमतौर पर कुछ ठीक बातें नहीं होतीं। दूसरों की बाबत तो मैं जानता नहीं, अपने बारे में यह ज़रूर कह सकता हूँ कि स्कूल में मुझे बहुत कम ज्ञान हासिल हुआ। मैंने भारत के इतिहास के बारे में बहुत ही कम और इंग्लैण्ड के इतिहास के बारे में कुछ थोड़ी-सी बातें स्कूल में पढ़ीं। भारत का इतिहास भी जो-कुछ मैंने पढ़ा, वह ज्यादातर ग़लत या तोड़ा-मरोड़ा हुआ और ऐसे लोगों का लिखा हुआ था जो हमारे देश को नफ़रत की नज़र से देखते थे। दूसरे देशों के इतिहास के बारे में तो मेरा ज्ञान बहुत ही धुंधला था। कॉलेज छोड़ने के बाद ही मैंने कुछ असली इतिहास पढ़ा। ख़ुशक़िस्मती से जेल की यात्राओं ने मुझे अपना ज्ञान बढ़ाने का ख़ासा मौक़ा दिया।

अपनी पिछली चिट्ठियों में मैं तुम्हें भारत की प्राचीन सभ्यता, द्रविड़ों, और आर्यों के आगमन के बारे में लिख चुका हूँ। मैंने आर्यों के आने के पहले के ज़माने का कोई हाल इन पत्रों में नहीं लिखा था, क्योंकि मुझे उसके बारे में ज़्यादा मालूम नहीं है। लेकिन तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि भारत में इन पिछले वर्षों में एक बहुत प्राचीन सभ्यता के चिह्न खोज निकाले गये हैं। ये चिह्न उत्तर-

पश्चिम भारत में मोहेन-जो-दड़ो[1] नाम की जगह के आस-पास पाये गए हैं। क़रीब पाँच हज़ार वर्ष पुराने इन खण्डहरों को लोगों ने खोदा और वहाँ प्राचीन मिस्र की-सी मोमियाई[2] भी मिली हैं। ये सब बातें हज़ारों वर्ष पुरानी, आर्यों के आने से बहुत पहले की हैं। यूरोप उस समय वीरान रहा होगा।

आज यूरोप मज़बूत और ताक़तवर है और वहाँ के रहनेवाले अपनेको दुनियाभर में सबसे ज़्यादा सभ्य और सुसंस्कृत समझते हैं। वे एशिया और उसके निवासियों को नफ़रत की नज़र से देखते हैं, और एशिया के देशों में आकर जो कुछ यहाँ मिलता है, उसे झपट ले जाते हैं। ज़माना कितना बदल गया है! आओ, हम एशिया और यूरोप पर ज़रा ग़ौर से नज़र डालें। नकशों की किताब खोलो और देखो कि छोटा-सा यूरोप एशिया के विशाल महाद्वीप में किस तरह चिपका हुआ है। यह एशिया की ही एक छोटी-सी टाँग मालूम देती है। जब तुम इतिहास पढ़ोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि लम्बे युगों और वर्षों तक उसपर एशिया का प्रभुत्व रह चुका है। एशिया के लोग बार-बार बाढ़ की तरह यूरोप में गये और विजयी हुए। इन लोगों ने यूरोप को उजाड़ा भी और सभ्य भी बनाया। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क, ये सब एशिया के किसी-न-किसी हिस्से से आये, और एशिया और यूरोप के सब हिस्सों में फैल गये। मालूम होता था कि एशिया इन्हें टिड्डी-दल की तरह बेशुमार संख्या में पैदा कर रहा है। सच तो यह है कि यूरोप बहुत दिनों तक एशिया का उपनिवेश रहा और आज के यूरोप की बहुत-सी जातियाँ एशिया से गये हुए इन हमला करनेवालों की वंशज हैं।

एशिया एक बड़े और भारी-भरकम देव की तरह नकशे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला पड़ा है। यूरोप छोटा-सा है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि एशिया अपने विस्तार के कारण बड़ा है, या यह कि यूरोप ज़्यादा ध्यान दिये जाने के योग्य नहीं है। किसी आदमी या देश का आकार उसकी महानता की सबसे तुच्छ कसौटी है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि यूरोप सब महाद्वीपों से छोटा होने पर भी आज महान् बना हुआ है। हम यह भी जानते हैं कि यूरोप के अनेक देशों के इतिहास में शानदार युग हुए हैं। इन देशों ने विज्ञान के बड़े-बड़े पंडित पैदा किये, जिन्होंने अपनी खोजों और आविष्कारों से मानवी सभ्यता को बहुत आगे बढ़ाया और करोड़ों आदमियों और औरतों के लिए ज़िन्दगी आसान बना दी। इन देशों में बड़े-बड़े लेखक, विचारक, कलाकार, संगीतज्ञ और कर्मवीर पैदा हुए हैं। यूरोप की महानता को स्वीकार न करना बेवकूफ़ी होगी।

---

[1] मोहेन-जो-दड़ो—यह स्थान सिंध नदी की घाटी में है और अब पाकिस्तान में है।

[2] मोमियाई या ममी—मसाला लगाकर रक्खा गया मुर्दा।

लेकिन एशिया की महानता को भुला देना भी उसी तरह की बेवक़ूफ़ी होगी। कभी-कभी हम यूरोप की तड़क-भड़क से प्रभावित होने लगते हैं और पुरानी बातों को भूल जाते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि एशिया ने ही बड़े-बड़े मौलिक विचारक पैदा किये हैं जिन्होंने दुनिया पर इतना प्रभाव डाला कि शायद ही किसी दूसरी जगह के किसी आदमी या किसी चीज़ ने डाला हो। ये हैं संसार के मुख्य धर्मों के महान् प्रवर्त्तक। हिन्दूधर्म, जो आजकल के बड़े मज़हबों में सबसे पुराना है, भारत की ही देन है। ऐसा ही उसका महान् भाई बौद्ध धर्म भी है जो आज तमाम चीन, जापान, बरमा, तिब्बत और लंका में फैला हुआ है। यहूदियों और ईसाइयों के मज़हब भी एशियाई ही हैं, क्योंकि उनका जन्म एशिया के पश्चिम किनारे पर फ़िलस्तीन[1] में हुआ था। जोरास्ट्रियन मज़हब जो पारसियों का मज़हब है, ईरान[2] में शुरू हुआ। और तुम यह तो जानती ही हो कि इस्लाम के पैग़म्बर मुहम्मद अरब के मक्का में पैदा हुए थे। कृष्ण, बुद्ध, जरथुस्त,[3] ईसा, मुहम्मद,

---

[1]फ़िलस्तीन—इसे पैलस्टाइन भी कहते हैं। यह एशिया का एक प्राचीन देश है और यहूदियों, ईसाइयों व मुसलमानों, तीनों की पवित्र भूमि है। पश्चिम देश के अधीन रहने के बाद ईसा से ११०० वर्ष पूर्व यह फ़िलस्तीन जाति के अधिकार में आया। ईसा से पहले की नवीं सदी से छठी सदी तक अशर और बाबुल के साम्राज्य इसे जीतते और फिर इससे हारते रहे। एक जमाने में यहूदियों ने यहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य क़ायम किया था। कभी यह मुसलमानों के भी अधीन रहा। १९१७-१८ से १९४८ ई० तक यह अंग्रेज़ों के अधिकार में रहा। अब इसके दो भाग कर दिये गए हैं। एक भाग इज़राईल है, जिसे यहूदियों ने अपना राष्ट्रीय वतन बना लिया है। दूसरा जार्डन है जहाँ अरब लोगों का प्रभुत्व है।

[2]ईरान—एशिया का एक स्वतन्त्र देश है। ईसा से पूर्व ५५९ से ३३१ तक ईरानी सभ्यता बहुत उन्नत दशा में थी और सम्राट् डेरियस या दारा के ज़माने से इसका साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली हो गया था कि यूनानियों को इसके डर के मारे नींद नहीं आती थी और यूरोप, अफ्रीक़ा और एशिया ईरानी सम्राट के नाम से कांपते थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इसका पतन होने लगा, और यूनानी विजेता सिकन्दर ने इस साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

[3]जरथुस्त—यह प्राचीन ईरानी मज़हब के प्रवर्त्तक या पैग़म्बर थे। यह किस ज़माने में हुए, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नहीं लगता। लेकिन कुछ लोगों के ख़याल में इनका समय ईसा से १००० वर्ष पहले का है। ईरानी शाहंशाह सीरियस के ज़माने में इनका धर्म ईरान का ख़ास धर्म हो गया था। यह भी एक आर्य-धर्म ही था। भारत के पारसी अब भी इसी धर्म को मानते हैं। इनके सिवा इस धर्म का माननेवाला दुनिया में अब कोई नहीं है। इनकी मुख्य धर्म-पुस्तक ज़ेन्दावस्ता है।

और चीन के महान् दार्शनिक कनफ़्यूशस[1] और लाओ-त्से[2], वग़ैरा एशिया के बड़े-बड़े विचारकों के नामों से पृष्ठ-के-पृष्ठ भरे जा सकते हैं। इसी तरह एशिया के कर्मवीरों के नामों से भी पन्ने-के-पन्ने रंगे जा सकते हैं। कई और तरीक़ों से भी मैं तुम्हें बता सकता हूँ कि हमारा यह बूढ़ा महाद्वीप प्राचीन काल में कितना महान् और महत्वपूर्ण रहा है !

देखो, ज़माना कितना बदल गया है ! लेकिन अब भी वह हमारी आँखों के सामने ही फिर बदलता जा रहा है। इतिहास आमतौर पर धीरे-धीरे सदियों में अपना प्रभाव दिखाता है, हालाँकि उसमें कभी-कभी भगदड़ और विस्फोटों के काल भी होते हैं। आज तो एशिया में ज़माना बहुत तेज़ी से आगे बढ़ रहा है और यह बूढ़ा महाद्वीप अपनी लम्बी नींद के बाद जाग उठा है। दुनिया की आँखें इस पर लगी हैं, क्योंकि सभी जानते हैं कि भविष्य के निर्माण में एशिया बहुत बड़ा हिस्सा लेनेवाला है।

: ५ :

# पुरानी सभ्यताएं और हमारी विरासत

९ जनवरी, १९३१

हिन्दी अख़बार 'भारत' में, जो हमें हफ़्ते में दो बार बाहरी दुनिया की कुछ ख़बरें पहुचाता रहता ह, कल मैंने पढ़ा कि तुम्हारी मम्मी के साथ मलाका-जेल में ठीक व्यवहार नहीं किया जा रहा है और वह लखनऊ-जेल भेजी जानेवाली हैं। इससे मुझे कुछ धक्का-सा लगा और मैं परेशान होने लगा। फिर सोचा कि शायद 'भारत' में छपी अफ़वाह सही न हो। लेकिन इस सम्बन्ध में शक भी दुःख देनेवाला है। अपनी तकलीफ़ों और मुसीबतों को सहना काफ़ी आसान है। इससे हरेक को फ़ायदा होता है, वरना हम लोग बहुत नाज़ुक बन जायँ। लेकिन दूसरे लोगों की, जो हमें प्रिय हैं, मुसीबतों के बारे में सोचना कोई बहुत आसान या तसल्ली देनेवाली बात नहीं है। इसलिए उस सन्देह के कारण, जो 'भारत' ने

---

[1]कनफ्यूशस—यह मशहूर चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्त्तक या पैग़म्बर था। ईसा से ५५१ वर्ष पहले इसका जन्म हुआ था और इसने अपना सारा जीवन अपने देश की प्राचीन पुस्तकों के इकट्ठा करने, सम्पादन करने और छपाने में बिताया। ईसा से ४५८ वर्ष पहले इसकी मृत्यु हुई। चीन में अब भी इसका मज़हब माननेवाले बहुत पाये जाते हैं। इसका चीनी नाम कुंग-फू-त्से है।

[2]लाओ-त्से—मशहूर चीनी वेदान्ती और पैग़म्बर था। यह कनफ्यूशस के ज़माने में ही हुआ और उसका विरोधी था। इसके माननेवाले भी चीन में बहुत हैं।

मेरे मन में पैदा कर दिया था, मैं मम्मी के बारे में चिन्ता करने लगा। वह बहादुर है और शेरनी का-सा उसका दिल है; लेकिन वह शरीर से कमज़ोर है, और मैं नहीं चाहता कि उसका शरीर और कमज़ोर हो जाय। हम दिल के चाहे कितने ही मज़बूत क्यों न हों, अगर हमारे शरीर हमें जवाब दे बैठें तो हम क्या कर सकते हैं ? अगर हम कोई काम अच्छी तरह करना चाहते हैं तो हमारे लिए तन्दुरुस्ती, ताक़त और शरीर का तगड़ापन ज़रूरी हैं।

शायद यह अच्छा ही है कि मम्मी लखनऊ भेजी जा रही है। सम्भव है, वह वहाँ ज़्यादा आराम से और खुश रहे। लखनऊ-जेल में उसे कुछ साथिनें भी मिल जायंगी। मलाका-जेल में वह शायद अकेली ही हो। फिर भी यहां इतना संतोष ज़रूर था कि वह दूर नहीं है; हमारी जेल से सिर्फ़ चार-पाँच मील पर ही है। लेकिन यह बेवक़ूफ़ों का-सा खयाल है। जब दो जेलों की ऊँची-ऊँची दीवारें बीच में खड़ी हैं तो क्या पाँच मील और क्या एक सौ पचास मील, दोनों बराबर हैं।

आज यह जानकर बेहद खुशी हुई कि दादू इलाहाबाद वापस आ गये हैं, और पहले से अच्छे हैं। यह जानकर और भी खुशी हुई कि वह, मम्मी से मिलने मलाका-जेल गये थे। मुमकिन है, तक़दीर से कल तुम सब लोगों से मेरी मुलाक़ात हो जाय, क्योंकि कल मेरा 'मुलाक़ात का दिन' है और जेल में यह दिन एक बड़ा दिन माना जाता है। क़रीब दो महीने से मैंने दादू को नहीं देखा है। उम्मीद है, कल उनसे मुलाक़ात होगी और मैं तसल्ली कर सकूँगा कि वास्तव में वह अब पहले से अच्छे हैं। तुमसे तो मैं एक बड़े लम्बे पखवाड़े के बाद मिलूँगा, और तुम मुझे अपना और अपनी मम्मी का हाल सुनाओगी।

क्या खूब ! लिखने तो बैठा था पुराने इतिहास पर, लेकिन लिख रहा हूँ बेवक़ूफ़ी की बातें। अच्छा, अब थोड़ी देर के लिए हम वर्तमान को भूल जायें और दो-तीन हज़ार वर्ष पीछे लौट चलें।

मिस्र में और क्रीट[1] के प्राचीन नगर नोसास[2] के बारे में मैंने तुम्हें अपनी पहली चिट्ठियों में कुछ लिखा था, और तुम्हें बताया था कि प्राचीन सभ्यता ने

[1]क्रीट—यह भूमध्यसागर के सबसे बड़े टापुओं में से एक है। प्राचीन सभ्यता में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। कला-कौशल में कुशलता पानेवाला यह सबसे पहला यूरोपीय देश है। यहाँ का राजा माइनास बड़ा मशहूर शासक था और इतिहास का सबसे पहला राजा था, जिसके पास अपनी जल-सेना थी।

[2]नोसास—राजा माइनास के वक़्त में भूमध्यसागर के क्रीट नामक टापू की राजधानी था। यह बड़ा सम्पन्न और खुशहाल शहर था। मिट्टी का काम तो यहाँ खास तौर पर सुन्दर होता ही था, सोने-चांदी का काम भी बहुत अच्छा होता था। यहाँ के हथियार भी बहुत मशहूर होते थे।

इन दोनों देशों में और उस मुल्क में जो आज इराक़[1] या मैसोपोटामिया कहलाता है, तथा चीन, भारत और यूनान में पहले-पहल जन्म लिया। यूनान शायद औरों से कुछ देर में सामने आया। इसलिए प्राचीनता के लिहाज़ से भारत की सभ्यता मिस्र, चीन और इराक़ की सभ्यताओं की बराबरी की है। प्राचीन यूनान की सभ्यता भी इनके मुक़ाबले में कम उम्र की है। इन पुरानी सभ्यताओं का क्या हाल हुआ? नोसास खतम हो गया। सच तो यह है कि क़रीब तीन हज़ार वर्षों से उसका कोई नाम-निशान भी नहीं है। यूनान की बाद की सभ्यता के लोग यहाँ पहुँचे और उन्होंने इसे नष्ट कर दिया। मिस्र की पुरानी सभ्यता कई हज़ार वर्षों के शानदार इतिहास के बाद समाप्त हो गई, और अल-अहराम[2], स्फिन्क्स[3], बड़े-बड़े मन्दिरों के खंडहरों, मोमियाइयों और इसी तरह की दूसरी चीज़ों के अलावा वह अपना कोई निशान नहीं छोड़ गई। मिस्र का देश तो अब भी है और नील नदी पहले की तरह अब भी उसमें होकर बहती है, और दूसरे देशों की तरह वहाँ भी स्त्री और पुरुष रहते हैं, लेकिन इन नये आदमियों को इनके देश की पुरानी सभ्यता से जोड़नेवाली कोई कड़ी नज़र नहीं आती।

इराक़ और ईरान—इन देशों में कितने साम्राज्य फूले-फले और एक-दूसरे के बाद विस्मृति के गर्भ में समाते गये। इनमें सबसे पुराने साम्राज्यों के ही कुछ नाम लिये जायँ तो वे हैं बाबुल[4],

---

[1]इराक़—फ़रात और दजला नदियों के बीच के पूरे प्रान्त का नाम इराक़ है। यह देश प्राचीन सभ्यताओं में से कईयों का क्रीड़ा-क्षेत्र रहा है।

[2]अल-अहराम या पिरेमिड—मिस्र देश के पत्थर के विशाल स्तूप या मीनार जिनके नीचे मिस्र के प्राचीन सम्राटों की क़ब्रें हैं। सबसे बड़ा पिरेमिड गिज़ेह नामक स्थान पर है। इसमें पत्थर की तेईस लाख चट्टानें लगी हैं, और एक-एक चट्टान का वज़न ढाई-ढाई टन है। जिस ज़माने में मशीनों का नाम तक न था, उस ज़माने में लोगों ने कैसे ढाई-ढाई टन के तेईस लाख पत्थर एक-दूसरे पर चुनकर रख दिये, इस बात के समझने में बुद्धि चकरा जाती है।

[3]स्फिन्क्स—यूनान की कहानियों के अनुसार यह एक दानवी है, जिसका सिर स्त्री का-सा और धड़ पर-वार शेर का-सा है। गिज़ेह नामक जगह पर पिरेमिडों के पास इसकी एक बड़ी भारी मूर्ति है, जिसकी लम्बाई १८७ फुट और ऊँचाई ६६ फुट है। उसका केवल सिर ही ३० फुट लम्बा है, और मुंह की चौड़ाई १४ फुट है।

[4]बाबुल—इराक के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। प्रथम बैबोलियन राजवंश की स्थापना ईसा से क़रीब २३०० साल पहले हुई थी। कई बार इसका उत्थान और पतन हुआ। ईसा से क़रीब ६२५ साल पहले, नाबोपोलासार के

अशर[१] और ख़ाल्दिया[२]। बाबुल और निनीवे[३] इनके विशाल नगर थे। इंजील या बाइबिल का पुराना हिस्सा तौरात[४] यहां के लोगों के वर्णनों से भरा पड़ा है। इसके बाद भी प्राचीन इतिहास की इस भूमि में दूसरे साम्राज्य फूले-फले और मुरझा गये। अलिफ़लैला की मायानगरी बग़दाद यहीं है। लेकिन साम्राज्य बनते और बिगड़ते रहते हैं और बड़े-से-बड़े और अभिमानी-से-अभिमानी राजा और सम्राट दुनिया के रंग-मंच पर सिर्फ़ थोड़े ही अरसे के लिए अंकड़ के साथ चल पाते हैं। पर सभ्यताएं क़ायम रह जाती हैं। लेकिन इराक़ और ईरान की पुरानी सभ्यताएं मिस्र की पुरानी सभ्यता की तरह बिलकुल ही खतम हो गईं।

अपने प्राचीन दिनों में यूनान सचमुच महान् था और आज भी लोग उसकी

---

ख़ाल्दिया के सम्राट होने पर यह फिर आगे बढ़ने लगा, और उसके उत्तराधिकारी दूसरे नेबूख़ुदनज़र ने ईसा से पूर्व क़रीब ६०४ और ५६५ साल के बीच इस साम्राज्य को गौरव की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचा दिया था। लेकिन उसके बाद फिर उसका ऐसा पतन हुआ कि आगे कभी न उठा। इसकी राजधानी बाबुल एशिया का बहुत पुराना शहर था। आजकल के बग़दाद से करीब ६० मील दक्षिण की तरफ़, फ़ुरात नदी के दोनों किनारों पर यह आबाद था। यहीं पर अशर और ईरानी साम्राज्यों की राजधानियाँ भी थीं। यहाँ के 'लटकते हुए उद्यान' संसार का एक आश्चर्य माने जाते थे।

[१]अशर—एशिया के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। इसका विशाल साम्राज्य उन सबसे पहले साम्राज्यों में से एक है, जिनके ऐतिहासिक लेख मिलते हैं। अपने गौरव-काल में यह मिस्र में ईरान तक फैला हुआ था।

[२]ख़ाल्दिया—एक अर्थ में यह बैबीलोनिया का एक प्रान्त था। ईरान की खाड़ी के ऊपर की तरफ़ अरब के रेगिस्तान से मिला हुआ फ़ुरात नदी के निचले हिस्से के किनारों पर आबाद था। यहाँ का निवासी नाबोपोलासार मीड जाति की मदद से बैबीलोनिया का सम्राट् हुआ और उसीके उत्तराधिकारियों के ज़माने में बैबीलोनियन साम्राज्य अपने गौरव की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचा। इसलिए वह ज़माना ख़ाल्दियन बैबीलोनियन ज़माना कहलाता है।

[३] निनीवे—इसका दूसरा नाम नाइनस भी है। यह पुराने ज़माने का एक मशहूर शहर है और असीरियन साम्राज्य की राजधानी था। सम्राट् सेनकेरिब के ज़माने में इस शहर ने बड़ी तरक़्क़ी की थी और क़रीब दो सौ साल तक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र बना रहा। यहाँ का पुस्तकालय अपने ज़माने में दुनियाभर में मशहूर था। ईसा से पहले ६१२ में मीड़ों और बैबीलोनियनों ने मिलकर हमला किया और इस फलते-फूलते शहर को तहस-नहस कर डाला।

[४]Old Testament of the Bible.

शान-शौकत का हाल अचरज के साथ पढ़ते हैं। आज भी हम उसकी संगमरमर की खबसूरत मूर्त्तिकला देखकर स्तम्भित और चकित हो जाते हैं, और उसके पुराने साहित्य के उस अंश को, जो बच गया है, श्रद्धा और आश्चर्य के साथ पढ़ते हैं। कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि मौजूदा यूरोप कई दृष्टि से यूनान का बच्चा है क्योंकि यूरोप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीक़ों का गहरा असर पड़ा है। लेकिन वह शान जो यूनान की थी, अब कहाँ है? इस पुरानी सभ्यता को ग़ायब हुए अनेक युग बीत गये। उसकी जगह दूसरी तरह के तौर-तरीक़ों ने ले ली और यूनान आज यूरोप के दक्षिण-पूरब में एक छोटा-सा मुल्कभर रह गया है।

मिस्र, नोसास, इराक़ और यूनान—ये सब खतम हो गये। इनकी सभ्यता की हस्ती भी बाबुल और निनीवे की तरह मिट गई। तो फिर इन पुरानी सभ्यताओं के साथी बाक़ी दो, चीन और भारत, का क्या हुआ? और देशों या मुल्क़ों की तरह इन दोनों देशों में भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य क़ायम होते रहे। यहाँ भी भारी तादाद में हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहों के वंश सैकड़ों वर्षों तक राज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आ गये। भारत और चीन में ये सब बातें वैसे ही हुईं जैसे दूसरे देशों में। लेकिन सिवाय चीन और भारत के, किसी भी दूसरे देश में सभ्यता का असली सिलसिला कायम नहीं रहा। सारे परिवर्तनों, लड़ाइयों और हमलों के बावजूद इन देशों में पुरानी सभ्यता की धारा अटूट बहती आई है। यह सच है कि ये दोनों अपने पुराने गौरव से बहुत नीचे गिर गये हैं और इनकी प्राचीन संस्कृतियों के ऊपर ढेर की ढेर गर्द और कहीं-कहीं गन्दगी, लम्बे अर्से से जमा होती गई है। लेकिन ये संस्कृतियाँ अभी तक क़ायम हैं और आज भी वही भारतीय सभ्यता और भारतीय जीवन का आधार है। अब दुनिया में नई हालतें पैदा हो गई हैं; भाप से चलनेवाले जहाजों, रेलों और बड़े-बड़े कारखानों ने दुनिया की सूरत ही बदल दी है। हो सकता है, बल्कि वास्तव में सम्भव है, कि वे भारत की भी काया-पलट कर दें, जैसा कि वे कर भी रही हैं। लेकिन भारतीय संस्कृति और सभ्यता, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लम्बे-लम्बे युगों को पार करती हुई वर्तमान काल तक चली आई हैं, के इस लम्बे विस्तार और सिलसिले का खयाल दिलचस्प और बहुत-कुछ आश्चर्यजनक है। एक अर्थ में भारत के हम लोग इन हजारों वर्षों के उत्तराधिकारी हैं। यह हो सकता है कि हम लोग उन प्राचीन लोगों के ठेठ वंशज हों जो उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों से होकर उस लहलहाते हुए मैदान में आये, जो ब्रह्मावर्त्त, आर्यावर्त्त, भारतवर्ष और बाद में हिन्दुस्तान कहलाया। क्या तुम अपनी कल्पना में इन लोगों को पहाड़ी दर्रों से होकर नीचे के अनजान मुल्क में उतरते हुए नहीं देख सकतीं? बहादुरी और साहस की भावना से भरे हुए ये लोग, परिणामों की परवा न करते हुए, हिम्मत के साथ आगे बढ़ते चले गये। अगर मौत आई तो उन्होंने उसकी परवा नहीं की। हँसते-हँसते

उसे गले लगाया। लेकिन उन्हें जीवन से प्रेम था और वे जानते थे कि जीवन का सुख भोगने का एकमात्र तरीक़ा यह है कि आदमी निडर हो जाय, और हार और आफ़तों से परेशान न हो। क्योंकि हार और आफ़त में एक बात यह होती है कि वे निडर लोगों के पास नहीं फ़टकतीं। अपने उन प्राचीन पूर्वजों का ख़याल तो करो जो आगे बढ़ते-बढ़ते एकदम समुद्र की ओर शान के साथ बहती हुई पवित्र गंगा के किनारे आ पहुँचे। यह दृश्य देखकर उनका हृदय कितना आनन्दित हुआ होगा! और इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है कि इन लोगों ने गंगा के सामने आदर से अपना सिर झुका दिया हो और अपनी समृद्ध और मधुर भाषा में उसकी स्तुति की हो?

यह सोचकर सचमुच कुतूहल होता है कि हम इन सब युगों के उत्तराधिकारी हैं। लेकिन हमें घमंड से फूल न जाना चाहिए क्योंकि अगर हम युग-युगान्तरों के उत्तराधिकारी हैं तो उसकी अच्छाई और बुराई दोनों के हैं। और भारत में हमें मौजूदा विरासत में जो कुछ मिला है, उसमें बहुत-सी बुराइयाँ हैं; बहुत-कुछ ऐसा है, जिसने हमें दुनिया में नीचा गिराये रक्खा और हमारे महान् देश को सख्त ग़रीबी में डाल दिया और उसे दूसरों के हाथ का खिलौना बना दिया। लेकिन क्या हमने यह निश्चय नहीं कर लिया है कि यह हालत अब न रहने देंगे?

## : ६ :
## यूनानी

१० जनवरी, १९३१

तुममें से कोई भी आज हमसे मिलने नहीं आया और 'मुलाक़ात का दिन' बिल्कुल कोरा ही रहा। इससे निराशा हुई। मुलाक़ात टलने की जो वजह बताई गई, वह और भी निराशाजनक थी। हमें बताया गया कि दादू की तबीयत अच्छी नहीं है। इससे ज्यादा हमें कुछ और पता न चला। ख़ैर, जब मुझे यह मालूम हुआ कि आज मुलाक़ात न होगी, तो मैंने अपना चरखा उठाया और कुछ सूत काता। मेरा अनुभव है कि चरखा कातने और निवाड़ बुनने में दिल को मजेदार राहत मिलती है। इसलिए जब कभी असमंजस में हो, तो कातने लगो!

अपने पिछले पत्र में हमने यह देखा था कि यूरोप और एशिया, इन दोनों म कितनी बातें एक-दूसरे से भिन्न हैं और कितनी एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। आओ, अब हम प्राचीन यूरोप पर, जैसा कि वह बतलाया जाता है, थोड़ी-सी नजर डालें। बहुत दिनों तक भूमध्यसागर के चारों तरफ़ के देश ही यूरोप समझे जाते थे। हमें उस जमाने के यूरोप के उत्तरी देशों का कोई हाल नहीं मिलता। भूमध्यसागर के देशों के रहनेवाले लोगों का ख़याल था कि जर्मनी, इंग्लैण्ड और

पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी योरप की प्राचीन सभ्यताएं
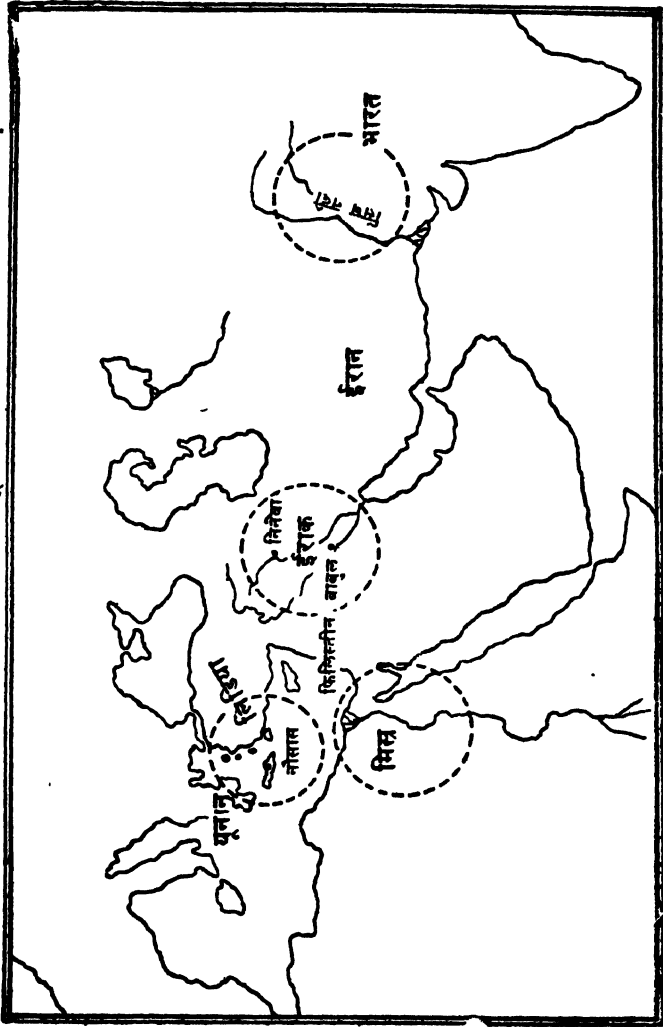
फ्रांस में जंगली और बर्बर कबीले रहा करते हैं। यहाँतक कि लोगों का ख़याल है कि शुरू जमाने में सभ्यता भूमध्यसागर के पूर्वी हिस्से तक ही सीमित थी। तुम जानती हो कि मिस्र (जो अफ्रीका में है, यूरोप में नहीं) और नोसास ही पहले देश थे, जो आगे बढ़े। धीरे-धीरे आर्य लोग एशिया से पश्चिम की ओर बढ़ने लगे और यूनान तथा आस-पास के मुल्कों में फैल गये। ये आर्य वही यूनानी हैं, जिन्हें हम प्राचीन यूनानी कहते हैं और जिनकी तारीफ़ करते हैं। शुरू में मेरा ख़याल है कि ये लोग उन आर्यों से बहुत भिन्न नहीं थे, जो शायद इसके पहले भारत में उतर चुके थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इनमें परिवर्तन हुए होंगे और धीरे-धीरे आर्य जाति की इन दोनों शाखाओं में दिन-पर-दिन ज्यादा फ़र्क होता गया। भारतीय आर्यों के ऊपर उससे भी पुरानी भारत की सभ्यता, यानी द्रविड़ सभ्यता का और शायद उस सभ्यता के बचे-खुचे हिस्से का बहुत असर पड़ा, जिसके खंडहर आज हमें मोहेन-जो-दड़ो में मिलते हैं। आर्यों और द्रविड़ों ने एक-दूसरे से बहुत-कुछ लिया और एक-दूसरे को बहुत कुछ दिया भी, और इस तरह इन्होंने मिल-जुलकर भारत की एक मिलीजुली संस्कृति बनाई।

इसी प्रकार यूनानी आर्यों पर भी नोसास की उस पुरानी सभ्यता का बहुत ज्यादा असर पड़ा होगा जो कि यूनान की भूमि पर इनके आने के समय खूब जोरों से लहरा रही थी। इनके ऊपर इसका असर जरूर पड़ा, लेकिन इन्होंने नोसास को और उसकी सभ्यता के बाहरी रूप को नष्ट कर दिया और उसकी राख पर अपनी सभ्यता रची। हमें यह कभी भी न भूलना चाहिए कि यूनानी आर्य और भारतीय आर्य, दोनों उस पुराने जमाने में बड़े सख़्त और जाँ-बाज़ लड़ाके थे। ये बड़ी जीवट-वाले थे और जिन नाजुक या अधिक सभ्य लोगों से इनका सामना हुआ, उन्हें या तो इन्होंने हजम कर लिया या नष्ट कर डाला।

इसी तरह नोसास ईसा के पैदा होने के क़रीब एक हजार वर्ष पहले नष्ट हो चुका था, और नये यूनानियों ने यूनान में और आस पास के टापुओं में अपना अधिकार जमा लिया था। ये लोग समुद्र के रास्ते एशिया कोचक[1] के पश्चिमी किनारे तथा दक्षिण-इटली और सिसली तक और दक्षिण-फ्रान्स तक भी जा पहुँचे। फ्रान्स में मारसाई नाम के शहर को इन्होंने ही बसाया था। लेकिन शायद इनके जाने के पहले वहाँ फिनिश लोगों की बस्ती थी। तुम्हें याद होगा कि फिनिश जाति एशिया कोचक की मशहूर समुद्र-यात्री क़ौम थी, जो व्यापार की तलाश में दूर-दूर तक धावे मारा करती थी। उस पुराने जमाने में ये लोग इंग्लैण्ड तक

---

[1]एशिया कोचक या एशिया माइनर—एशिया महाद्वीप के पश्चिम में एक प्रायद्वीप। यहाँ तुर्कों का राज्य है।

पहुँच गये थे, जिन दिनों वह बिलकुल जंगली देश था, और जब जिब्राल्टर के जल-डमरूमध्य का जहाजी सफ़र जरूर खतरनाक रहा होगा।

यूनान की मुख्य भूमि में एथेन्स, स्पार्ता, थीब्स और कोरिन्थ जैसे मशहूर शहर आबाद हो गये। यूनानियों के, जो उस वक्त हेलेन्स कहलाते थे, पुराने जमाने का हाल 'ईलियद' और 'औदेसी' नाम के दो महाकाव्यों में बयान किया गया है। तुम्हें इन दोनों प्रसिद्ध महाकाव्यों का कुछ हाल मालूम ही है। ये दोनों महाकाव्य हमारे देश की रामायण और महाभारत की तरह के ग्रन्थ हैं। कहते हैं कि होमर ने, जो अन्धा था, ये काव्य लिखे हैं। 'ईलियद' में यह क़िस्सा बयान किया गया है कि किस तरह सुन्दरी हेलन को पेरिस अपने शहर ट्राय में भगा ले गया और किस तरह यूनान के राजाओं और सरदारों ने उसे छुड़ाने के लिए ट्राय के चारों तरफ़ घेरा डाला। और 'औदेसी' ट्राय के घेरे से लौटते वक्त औदेसियस या यूलीसस के भ्रमण की कहानी है। एशिया कोचक में, समुद्र-तट से बहुत नजदीक, ट्राय का यह छोटा शहर बसा था। आज इसका कोई निशान नहीं है और उसकी हस्ती मिटे बहुत जमाना हो गया; लेकिन कवि की प्रतिभा ने इसे अमर बना दिया है।

इधर तो हेलेन्स या यूनानी क़ौम तेजी के साथ, थोड़े दिन की लेकिन शानदार जवानी पर पहुँच रही थी। उधर एक दूसरी शक्ति का, जो आगे जाकर यूनान को जीतनेवाली और उसकी जगह लेनेवाली थी, चुपचाप उदय होना, दिलचस्पी की बात है। कहा जाता है कि इसी जमाने में रोम की बुनियाद पड़ी। कई सौ वर्षों तक इसने दुनिया के रंगमंच पर कोई महत्व का काम करके नहीं दिखाया। लेकिन ऐसे महान् शहर की स्थापना अवश्य ही उल्लेखनीय है, जो सदियों तक यूरोपीय संसार पर हावी रहा और जो 'संसार की स्वामिनी' और 'अमरपुरी' के नाम से मशहूर हुआ। रोम की स्थापना के बारे में अजीब-अजीब क़िस्से कहे जाते हैं। कहते हैं कि 'रेमस' और 'रोमुलस'[1] को, जिन्होंने इस शहर की बुनियाद

[1]रोमुलस—रोम का संस्थापक और पहला सम्राट् था। रोमुलस और रेमस दो जुड़वाँ भाई थे। इन दोनों को उनके नाना एम्यूलियस ने एक डोंगी में रखकर टाइबर नदी में बहा दिया। डोंगी उस दलदल में जाकर रुक गई, जहाँ कि बाद को रोम आबाद हुआ। कहा जाता है कि यहाँ से एक मादा भेड़िया इनको उठाकर ले गई और इन्हें अपना दूध पिलाया और बाद को फोस्च्यूलस नामक गड़रिये की स्त्री ने इनका पालन-पोषण किया। बड़े होकर ये फिलिस्तीन के युद्ध-प्रिय गड़रियों के एक गिरोह के सरदार बन गये। कुछ समय बीतने पर इनके बाबा ने इन्हें पहचान लिया, जिसने अन्यायी एम्यूलियस को क़त्ल कर अल्बस की राजगद्दी पर इनको वापस बैठा दिया था। इन्होंने अब इस भूमि पर, जहाँकि इनका

डाली थी, एक मादा भेड़िया उठा ले गई थी और उसीने उन्हें पाला था। शायद तुम्हें यह किस्सा मालूम है।

जिस जमाने में रोम की बुनियाद पड़ी, उसी जमाने में या कुछ समय पहले, प्राचीन दुनिया का एक दूसरा बड़ा शहर भी बसाया गया। इसका नाम कारथेज था और इसे अफ्रीका के उत्तरी समुद्र-तट पर फ़िनिश लोगों ने बसाया था। यह शहर बढ़ते-बढ़ते एक बड़ी समुद्री शक्ति बन गया। रोम के साथ इसकी भयंकर प्रतिस्पर्धा चली और बहुत-सी लड़ाइयां हुईं। अन्त में रोम ने विजय पाई और कारथेज बिलकुल नष्ट कर दिया गया।

आज की कहानी समाप्त करने से पहले फ़िलस्तीन के ऊपर अगर सरसरी नजर डाल लें तो अच्छा होगा। फ़िलस्तीन यूरोप में नहीं है और न इसका कोई ज्यादा ऐतिहासिक महत्व ही है। लेकिन बहुत-से लोग इसके प्राचीन इतिहास में दिलचस्पी रखते हैं, क्योंकि इसका जिक्र तौरात में पाया जाता है। इस कहानी का सम्बन्ध यहूदियों के कुछ कबीलों से है, जो इस छोटे-से देश में रहते थे, और इसमें बताया गया है कि यहूदियों को अपने दोनों तरफ़ बसे हुए शक्तिशाली पड़ौसियों, बाबुल, अशर और मिस्र से कितने झगड़े करने पड़े। अगर यह कहानी यहूदी और ईसाई मजहबों का हिस्सा न बन गई होती तो शायद ही किसीको इसका पता चलता।

जिस समय नोसास नष्ट किया जा रहा था, फ़िलस्तीन के इज़राईल भाग का बादशाह सालूस[1] था। इसके बाद दाऊद[2] और फिर

---

पालन-पोषण हुआ था, एक शहर बनाने का इरादा किया, लेकिन कौन पहले शुरू करे इसपर झगड़ा हो गया, जिसमें रेमस मारा गया। रोमुलस ने रोम आबाद किया और अपनी शक्ति बढ़ाकर और अपने शत्रुओं को हराकर एक-छत्र राज्य करने लगा। बाद में वह एकाएक एक तूफ़ान में ग़ायब हो गया और अन्त में एक देवता की तरह से पूजा जाने लगा।

[1]सालूस—यहूदियों के देश इज़राइल का पहला बादशाह था। इसका समय ईसा से क़रीब १०१० साल पहले है। इसने फ़िलस्तीन जाति को हराया और अमालेकाइट जाति का दमन किया। लेकिन अन्त में फिर फिलिस्तीनों से हार गया और इसलिए आत्मग्लानि से अपनी ही तलवार पर गिरकर आत्म-हत्या कर ली।

[2]दाऊद—इसे डेविड भी कहते हैं। यह इज़राइल का दूसरा बादशाह था। इसका समय ईसा से १०३० से लगाकर ९९० साल पहले तक है। जब बादशाह सालूस ने ख़ुदकुशी कर ली और फ़िलस्तीनों ने राजकुमार को मार डाला, तब यह राजा बनाया गया। कहा जाता है कि बाइबिल के पुराने अहदनामे का बहुत-सा हिस्सा इसीका लिखा है।

सुलेमान[1] हुआ जो अपनी अक़्लमन्दी के लिए बहुत मशहूर है। मैं इन तीन नामों का इसलिए जिक्र कर रहा हूँ कि तुमने इनके बारे में जरूर पढ़ा या सुना होगा।

## : ७ :

# यूनान के नगर-राज्य

११ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र में यूनानियों या हेलेन्स का कुछ हाल लिखा था। आओ, हम फिर इनपर एक नज़र डालें और इस बात को समझने की कोशिश करें कि ये लोग किस तरह के थे। जिन लोगों को या जिन चीज़ों को हमने कभी नहीं देखा उनके बारे में सही और सच्चा ख़याल बनाना बहुत मुश्किल होता है। हम लोग अपनी आजकल की हालत और रहन-सहन के इतने आदी हो गये हैं कि एक बिलकुल दूसरी तरह की दुनिया की कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन प्राचीन दुनिया, चाहे वह भारत की हो, चीन की हो, या मिस्र की, आजकल की दुनिया से बिलकुल निराली थी। ज्यादा-से-ज्यादा हम यही कर सकते हैं कि उनकी पुस्तकों, इमारतों और बचे हुए दूसरे निशानों की मदद से अन्दाज़ा लगायें कि उस ज़माने के लोग किस तरह के थे।

यूनान के बारे में एक बात बड़ी दिलचस्प है। ऐसा लगता है कि यूनानी लोग बड़ी-बड़ी बादशाहतें या साम्राज्य पसन्द नहीं करते थे। उन्हें छोटे-छोटे नगर-राज्य पसन्द थे, यानी उनका हरेक शहर एक स्वतंत्र राज्य हुआ करता था। ये राज्य छोटे-छोटे गणराज्य होते थे। बीच में शहर होता था और चारों तरफ़ कुछ खेत होते थे, जिनसे लोगों के लिए खाने की सामग्री मिला करती थी। तुम जानती ही हो कि गणराज्य में कोई राजा नहीं होता। यूनान के ये नगर-राज्य बिना राजा के थे, लेकिन धनी नागरिक इनका शासन चलाते थे। साधारण आदमी को राज्य के मामलों में बोलने का कोई हक़ नहीं था। बहुत-से ग़ुलाम थे, जिन्हें शासन में कोई अधिकार नहीं होता था, और औरतों को भी इस प्रकार का कोई हक़ नहीं था। इस तरह आबादी के सिर्फ़ एक हिस्से को इन नगर-राज्यों में नागरिकता का अधिकार मिला हुआ था, और यही हिस्सा सार्वजनिक मामलों पर राय दे सकता

[1] सुलेमान—इसे सालोमन भी कहते हैं। इज़राइल का यह तीसरा बादशाह था। इसके पास बहुत धन था, इसलिए पुराने इतिहास में इसका राज्य शान-शौकत के लिए मशहूर है। इसके गीत और कविताएँ भी प्रसिद्ध हैं और कहा जाता है कि यह बड़ा बुद्धिमान और इन्साफ़-पसन्द बादशाह था। इसकी अक़्लमन्दी की बहुत-सी कहानियाँ मशहूर हैं।

था। इन नागरिकों के लिए वोट देना कोई मुश्किल काम नहीं था, क्योंकि सब-के-सब एक ही जगह पर इकट्ठे किये जा सकते थे। यह इसलिए होना सम्भव था कि ये छोटे-छोटे नगर-राज्य थे, किसी एक सरकार की मातहती में कोई बड़ा देश नहीं था। भारतभर के, या बंगाल या उत्तर प्रदेश जैसे सिर्फ़ एक प्रदेश के ही वोटरों के एक जगह जमा होने की ज़रा कल्पना तो करो! ऐसा करना बिलकुल असम्भव है। बाद को दूसरे देशों को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ा। तब इसके लिए 'प्रतिनिधि सरकार' का हल ढूंढ़ निकाला गया। इसका मतलब यह हुआ कि किसी मामले का फ़ैसला करने के लिए देशभर के सारे वोटरों को इकट्ठा करने के बजाय लोग अपने 'प्रतिनिधि' चुन देते हैं, जो इकट्ठे होकर देश से सम्बन्ध रखनेवाले सार्वजनिक मामलों पर विचार करते हैं और देश के लिए क़ानून बनाते हैं। यह समझा जाता है कि साधारण वोटर इस तरह अपने देश के शासन में परोक्ष रूप से सहायता देता है।

लेकिन इस चीज़ का यूनान से कोई ताल्लुक़ नहीं। यूनान ने कभी नगर-राज्य से बड़ी कोई राजनैतिक इकाई बनाई ही नहीं। और इस तरह वह इस मुश्किल सवाल को टाल गया। हालाँकि यूनानी लोग, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, यूनान भर में, और दक्षिण-इटली, सिसली और भूमध्यसागर के दूसरे किनारों पर फैल गये थे, लेकिन इन लोगों ने अपने अधीन इन सब देशों में कोई साम्राज्य या एक सरकार बनाने की कोशिश नहीं की। जहाँ कहीं ये गये, वहीं इन्होंने अपना अलग नगर-राज्य क़ायम कर लिया।

तुम देखोगी कि शुरू के ज़माने में भारत में भी, यूनान के नगर-राज्यों की तरह के ही, छोटे-छोटे गणराज्य या छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे। लेकिन मालूम होता है कि वे बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रहे और बड़े राज्यों में समा गये। इस पर भी, बहुत समय तक, हमारी गाँवों की पंचायतों के हाथों में बहुत बड़ी ताक़त रही। शायद पुराने आर्यों की पहली प्रेरणा यही होती थी, कि जहाँ-जहाँ जायँ वहीं छोटे-छोटे नगर-राज्य बनायें। लेकिन भौगोलिक परिस्थितियों और अपने से पुरानी सभ्यता के सम्पर्क ने इन्हें अपने इन विचारों को, उन देशों में, जहाँ जाकर ये बसे, धीरे-धीरे छोड़ने पर मजबूर कर दिया। ईरान में ख़ासतौर से हम देखते हैं कि बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य क़ायम हुए। भारत में भी बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित करने की ओर झुकाव रहा। लेकिन यूनान में नगर-राज्य बहुत दिनों तक क़ायम रहे, और उस समय तक बने रहे, जबतक कि एक इतिहास-प्रसिद्ध यूनानी ने दुनिया को जीतने की सबसे पहली बार कोशिश की। इसका नाम था अलक्सान्दर या सिकन्दर महान। इसके बारे में बाद को कुछ कहूँगा।

इस तरह यूनानी लोगों ने अपने छोटे-छोटे नगर-राज्यों को मिलाकर कोई

बड़ा राज्य, सल्तनत या गणराज्य बनाना पसन्द नहीं किया। यही नहीं कि ये लोग एक-दूसरे से अलग और स्वतंत्र रहे हों, बल्कि ये लोग क़रीब-क़रीब हमेशा आपस में लड़ते भी रहे। इनमें आपस में बड़ी प्रतिस्पर्धा रहा करती थी, जिसका नतीजा अक्सर लड़ाई होता था।

फिर भी इन नगर-राज्यों को आपस में जोड़नेवाली बहुत-सी समान कड़ियां थीं। इनकी भाषा एक थी, संस्कृति एक थी और मज़हब एक था। इनके धर्म में अनेक देवी और देवता माने जाते थे और इनकी पौराणिक गाथाएँ हिन्दुओं की पुरानी पौराणिक गाथाओं की तरह बड़ी सुन्दर और प्रचुर थीं। ये लोग सौन्दर्य के पुजारी थे। आज भी इनकी बनाई हुई संगमरमर और पत्थर की कुछ पुरानी मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं, जिनकी सुन्दरता आश्चर्यजनक है। स्वस्थ और सुन्दर शरीर में इनकी बहुत रुचि थी और इसके लिए ये लोग खेल-कूद और दौड़ों की व्यवस्था करते रहते थे। यूनान के ओलिम्पिया नामक स्थान पर समय-समय पर इस तरह के खेल बड़े पैमाने पर हुआ करते थे और यूनान भर के लोग वहाँ जमा होते थे। तुमने सुना होगा कि ओलिम्पिक खेल आजकल भी होते हैं। यह नाम ओलिम्पिया में होनेवाले पुराने यूनानी खेलों से लिया हुआ है, और अब उन खेलों के लिए इस्तेमाल किया जाता है, जो भिन्न-भिन्न देशों के बीच होते हैं और जिनमें सर्वोत्तम खिलाड़ी चुने जाते हैं।

इस तरह यूनान के नगर-राज्य अलग-अलग रहते थे, जो खेलों में आपस में मिला करते थे लेकिन अक्सर आपस में लड़ा भी करते थे। मगर जब बाहर से कोई बड़ा खतरा आता दिखाई देता तो उसका मुक़ाबला करने के लिए वे सब एक हो जाते। ऐसा एक खतरा ईरानियों का हमला था, जिसके बारे में आगे लिखूंगा।

: ८ :

# पश्चिमी एशिया के साम्राज्य

१३ जनवरी, १९३१

कल तुम सब लोगों से मुलाक़ात हो गई, यह अच्छा हुआ। लेकिन दादू को देखकर मुझे सदमा पहुँचा। वह बहुत कमज़ोर और बीमार मालूम पड़ते थे। उनकी देखभाल अच्छी तरह करना और उन्हें फिर तन्दुरुस्त और तगड़ा बना देना। कल मैं तुमसे बात ही न कर सका। थोड़ी देर की मुलाकात में कोई क्या कर सकता है ? बहुत अर्से से जो मुलाक़ातें और बातचीतें नहीं हुईं उनकी कमी मैं इन पत्रों को लिख कर पूरी करने की कोशिश करता हूँ। लेकिन ये पत्र उनकी जगह नहीं ले सकते और यह दिल-बहलावा ज्यादा देर नहीं टिकता ! फिर भी, कभी-कभी दिल को फुसलाने का खेल भी फ़ायदेमन्द होता है।

अच्छा, तो अब प्राचीन काल के लोगों की चर्चा फिर शुरू की जाय। हाल में हम पुराने यूनानियों का ज़िक्र कर रहे थे। उस समय दूसरे देशों की क्या हालत थी ? हमें यूरोप के दूसरे देशों के लिए परेशान होने की ज़रूरत नहीं। हमें, कम-से-कम मुझको, इन देशों के बारे में कोई दिलचस्प बात नहीं मालूम। उस समय उत्तरी यूरोप की जलवायु शायद बदल रही थी, जिसकी वजह से नई परिस्थिति ज़रूर पैदा हो गई होगी। शायद तुम्हें याद हो, लाखों-करोड़ों वर्ष पहले उत्तरी यूरोप और उत्तरी एशिया में बहुत कड़ी सरदी पड़ती थी। इस ज़माने को 'हिम-युग'[1] कहते हैं, जब बर्फ़ की विशाल नदियाँ मध्य-यूरोप तक फैली हुई थीं। उस वक़्त आदमी तो शायद पैदा ही नहीं हुआ था और अगर उसका अस्तित्व हो भी तो वह मानव की बनिस्बत जानवर जैसा ज़्यादा रहा होगा। तुम्हें आश्चर्य होगा कि आज हम यह कैसे कह सकते हैं कि उस ज़माने में वहाँ हिम-नदियाँ हुआ करती थीं। पुस्तकों में तो उनका कोई ज़िक्र हो ही नहीं सकता, क्योंकि उस ज़माने में न तो पुस्तकें थीं और न उनके लिखनेवाले। लेकिन मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम यह न भूली होगी कि प्रकृति की भी एक पुस्तक होती है। वह अपना इतिहास अपने तरीक़े से चट्टानों और पत्थरों में लिखा करती है और इसे वहाँ जिसकी इच्छा हो वह पढ़ सकता है। इसे एक तरह की आत्म-कथा यानी खुद अपनी कहानी कहना चाहिए। बर्फ़ की नदियों में एक बात यह होती है कि वे अपनी हस्ती के खास निशान छोड़ जाती हैं। एक बार तुम इन निशानों को पहचानने लगो, तो फिर बहुत जल्दी इन्हें समझ सकती हो। अगर तुम इन निशानों का अध्ययन करना चाहती हो, तो सिर्फ़ यह करना पड़ेगा कि आजकल की किसी हिम-नदी को, हिमालय में, आल्प्स पर या दूसरी जगह जाकर, देख आओ। आल्प्स पर तुमने माउन्ट ब्लांक[2] के आसपास बहुत-सी हिम-नदियाँ देखी होंगी। लेकिन उस समय तुम्हें शायद किसीने इनके खास निशान नहीं बतलाये। कश्मीर में और हिमालय के दूसरे हिस्सों में भी बहुत सी सुन्दर हिम-नदियाँ हैं। हम लोगों के लिए सबसे नज़दीक पिंडारी हिम-नदी है, जो अल्मोड़े से हफ़्ते भर की मंज़िल पर है। जब मैं छोटा था—जितनी बड़ी तुम आज हो, उससे भी छोटा—तो मैं एक बार इस हिम-नदी को देखने गया था और आज भी मुझे उसकी स्पष्ट याद बनी है।

---

[1]हिम-युग—हिम का मतलब बर्फ़ है, इसलिए इसे बर्फ़-युग भी कह सकते हैं। सृष्टि का यह सबसे पुराना युग है, और बर्फ़-युग इसलिए कहलाता है कि उस समय दुनिया के बहुत-से हिस्से बर्फ़ से ढंके हुए थे। इस युग के चार काल हुए हैं, और चौथा काल ईसा से पचास हज़ार साल पहले का है।

[2]माउन्ट ब्लांक—यह स्विट्ज़रलैण्ड में आल्प्स पहाड़ों की सबसे ऊँची चोटी है।

इतिहास और गुज़रे ज़माने को छोड़कर मैं हिम-नदियों और पिंडारी की चर्चा में बह गया। मन को फुसलाने के खेल का यही नतीजा होता है। मैं यह चाहता हूँ कि सम्भव हो तो तुमसे इस ढंग से बात करूँ, मानो तुम यहीं हो। और ऐसा करने के लिए हमें कभी-कभी हिम-नदियों और इसी तरह की दूसरी जगहों की कुछ ख़याली सैर ज़रूर करनी चाहिए।

मैंने हिम-नदियों की चर्चा इसलिए शुरू कर दी कि बीच में हिम-युग का ज़िक्र आ गया था। हम कह सकते हैं कि हिम-नदियाँ मध्य यूरोप और इंग्लैण्ड तक उतर आई थीं, क्योंकि इन देशों में अभी तक इनके ख़ास निशान पाये जाते हैं। पुरानी चट्टानों पर ये निशान आज भी मिलते हैं और इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि उस समय मध्य और उत्तर यूरोप में बहुत ज़्यादा सर्दी रही होगी। बाद को जलवायु कुछ गर्म हुई और हिम-नदियां धीरे-धीरे पीछे खिसकती गईं। भूगर्भ-शास्त्री, अर्थात् पृथ्वी की रचना के इतिहास का अध्ययन करनेवाले हमें बताते हैं कि सर्दी की इस लहर के बाद गर्मी की लहर आई और तब यूरोप आज से भी ज़्यादा गर्म हो गया था। इस गर्मी की वजह से यूरोप में घने जंगल पैदा हो गये।

आर्य लोग घूमते-घामते मध्य यूरोप तक जा पहुँचे। मालूम होता है, उस समय उन्होंने वहां कोई ख़ास उल्लेखनीय काम नहीं किया। इसलिए हम फ़िलहाल उन्हें छोड़ सकते हैं। यूनान और भूमध्यसागर के सभ्य लोग शायद उत्तर और मध्य यूरोप के इन लोगों को बर्बर ही समझते रहे। लेकिन ये बर्बर लोग अपने जंगलों और गांवों में स्वस्थ और योद्धाओं की ज़िन्दगी गुज़ारते थे, और अनजान में अपने को उस दिन के लिए तैयार कर रहे थे, जब इन्हें दक्षिण की अधिक सभ्य जातियों पर टूट पड़ना था और उनकी सरकारों को ढहा देना था। लेकिन यह बात बहुत समय बाद हुई और हमें आगे की बात का ज़िक्र अभी नहीं करना चाहिए।

अगर हमें उत्तरी यूरोप के बारे में कुछ नहीं मालूम है, तो विशाल महा-द्वीपों और ज़मीन के लम्बे-चौड़े खंडों के बारे में तो हम बिलकुल ही नहीं जानते। कहते हैं कि कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की, लेकिन इसका यह मतलब नहीं, जैसा कि अब हमें पता लगता जा रहा है, कि कोलम्बस के वहां पहुँचने से पहले इस देश में सभ्य लोग थे ही नहीं। कुछ भी हो, जिस ज़माने की हम बात कर रहे हैं, उस समय के अमेरिका के बारे में हम कुछ नहीं जानते। अफ़्रीका के महाद्वीप के बारे में भी हम कुछ नहीं जानते, लेकिन मिस्र का और भूमध्यसागर के किनारों का इसमें अपवाद करना होगा। इस ज़माने में शायद मिस्र की महान् और प्राचीन सभ्यता पतन की तरफ़ जा रही थी। लेकिन, फिर भी यह उस ज़माने में बहुत उन्नत देश था।

अब हमें यह देखना है कि एशिया में क्या हो रहा था। इस महाद्वीप में, जैसा कि तुम जानती होगी, प्राचीन सभ्यता के तीन केन्द्र थे, इराक़, भारत और चीन।

उस प्राचीन काल में भी इराक़, ईरान और एशिया कोचक में कितने ही साम्राज्य एक के बाद एक बनते और बिगड़ते रहे। यहां अशर, मीदिया[1], बाबुल और बाद में ईरानी साम्राज्य बने। हमें इस विवरण में जाने की ज़रूरत नहीं कि ये साम्राज्य आपस में कैसे लड़ते थे या कुछ दिन शान्तिपूर्वक साथ-साथ कैसे रहते थे, या इन्होंने एक-दूसरे को कैसे नष्ट किया। पश्चिमी एशिया के साम्राज्यों और यूनान के नगर-राज्यों के अन्तर पर तुमने ग़ौर किया होगा। एशिया में बहुत शुरू के जमाने से ही बड़े राज्य या साम्राज्य के लिए जबर्दस्त लगन पाई जाती थी। शायद इसका कारण इनकी पुरानी सभ्यता थी, या शायद कोई दूसरी वजह भी हो सकती है।

एक नाम सुनकर तुम्हें जरूर दिलचस्पी होगी। यह नाम क़ारूँ का है जो तुमने सुना होगा। 'क़ारूँ का ख़ज़ाना' एक मशहूर कहावत है। तुमने इस क़ारूँ के क़िस्से भी पढ़े होंगे कि यह कितना धनवान और घमंडी था और उसे किस तरह नीचा देखना पड़ा। क़ारूँ लिदिया का राजा था। यह देश एशिया के पश्चिमी तट पर था, जहां आज एशिया कोचक है। समुद्र के किनारे होने की वजह से यहां का व्यापार शायद खूब बढ़ा हुआ था। उसके जमाने में क़ुरुष[2] की मातहती में ईरानी साम्राज्य तरक़्क़ी कर रहा था और ताक़तवर होता जाता था। क़ुरुष और क़ारूँ में मुठभेड़ हो गई और क़ुरुष ने क़ारूँ को हरा दिया। यूनानी इतिहास-लेखक हिरोदोत[3] ने इस पराजय की कहानी लिखी है और बताया है कि किस तरह मुसीबत पड़ने पर घमंडी क़ारूँ को अक़्ल और समझ आई।

क़ुरुष के पास बहुत बड़ा साम्राज्य था, जो शायद पूर्व में भारत तक फैला हुआ था। लेकिन उसके एक उत्तराधिकारी दारा के पास इससे भी बड़ा साम्राज्य था, जिसमें मिस्र, मध्य-एशिया का कुछ भाग और सिन्ध नदी के पास का भारत का भी छोटा-सा हिस्सा शामिल था। कहा जाता है कि उसके इस भारतीय प्रान्त

---

[1]मीदिया—ईसा के ७०० बरस पहले का एशिया का एक पुराना साम्राज्य, जो कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर था। ई० पू० ३३१ में सिकन्दर ने इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। बाद में यूनानियों के पतन के बाद ईरानी साम्राज्य में मिला लिया गया और उसके बाद छिन्न-भिन्न हो गया।

[2]क़ुरुष या साइरस—यह ईरानी साम्राज्य का प्रवर्त्तक सम्राट था। इसका समय ईसा से ६०० से लगाकर क़रीब ५२९ साल पहले तक है। यह बड़ा प्रतापी सम्राट् था, इसीलिए इसे 'महान्' की उपाधि मिली थी।

[3]हिरोदोत या हेरोडोटस—मशहूर यूनानी इतिहास-लेखक। इसका समय ईसा से क़रीब ४८४ से ४२४ साल पहले था। इसके इतिहास का मुख्य विषय

से सैकड़ों मन सुनहली रेत[1] उसे ख़िराज के तौर पर भेजी जाती थी। उस ज़माने में सिन्ध नदी के किनारे सुनहली रेत पाई जाती होगी। आजकल वहां इसका निशान भी नहीं मिलता। सच तो यह है कि इस प्रान्त का ज्यादातर हिस्सा आजकल ऊसर है। इससे जाहिर होता है कि यहां की जलवायु कितनी बदल गई है।

जब तुम इतिहास पढ़ोगी और पुराने जमाने की हालत की आजकल की हालत से तुलना करोगी, तो एक बात जो तुम्हें सबसे ज्यादा दिलचस्प मालूम होगी वह है मध्य-एशिया में होनेवाला परिवर्त्तन। यह वही प्रदेश है जहां से अनगिनती क़बीले—स्त्री और पुरुषों के दल-के दल—बाहर निकले और फैलते-फैलते दूर-दूर तक के महाद्वीपों में पहुँच गये। यही जगह है जहां पुराने जमाने में बड़े-बड़े और शक्तिशाली शहर थे—खूब घने बसे हुए और मालामाल—जिनकी तुलना आजकल की यूरोपीय राजधानियों से की जा सकती है और जो आजकल के कलकत्ते और बम्बई से कहीं बड़े थे। हर जगह बग़ीचे और हरियाली थी—और जलवायु सुखद और सम थी, यानी न बहुत गर्म और न बहुत सर्द। यह प्रदेश ऐसा ही था। लेकिन अब हजारों वर्षों से यह बंजर और क़रीब-क़रीब रेगिस्तान हो गया है, जहां आदमियों को रहने में बड़ी तकलीफ़ होती है। उस जमाने के विशाल नगरों में से कुछ नगर—जैसे समरक़न्द[2] और बुख़ारा—जिनके नाम से ही अनेक स्मृतियां जग उठती हैं, अब भी अपने दिन गिन रहे हैं। लेकिन अब तो ये अपने पुराने रूप की छाया-मात्र रह गये हैं।

पर मैं फिर आगे की बात कहने लगा। उस पुराने जमाने में, जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं, न समरक़न्द था न बुख़ारा। ये सब बाद में होनेवाली बातें थीं। उस वक़्त तो ये भविष्य के गर्भ में छिपे थे और मध्य-एशिया की महानता और उसका पतन भी तबतक भविष्य की बात थी।

: ९ :

## पुरानी परम्परा का बोझ

१४ जनवरी, १९३१

जेल में मैंने अजीब आदतें पैदा कर ली हैं। उनमें से एक है बहुत सुबह, पौ

ईरान और यूनान की लड़ाई थी, और उसमें उस जमाने का अच्छा वर्णन है। इसे इतिहास का जन्मदाता अथवा पिता कहा जाता है।

[1]सुनहली रेत—कई नदियों के किनारे पाई जानेवाली रेत, जिसमें से सोना निकाला जाता है।

[2]समरक़न्द—मध्य-एशिया का एक मशहूर शहर है। इसका पुराना नाम माराकण्डा है। चौदहवीं सदी में यह मुस्लिम एशिया का सांस्कृतिक केन्द्र था।

फटने से भी पहले, उठना। यह आदत मैंने पिछली गर्मियों से शुरू की, क्योंकि मुझे यह देखना भला मालूम होता था कि उषा कैसे आती है और किस तरह धीरे-धीरे तारों की रोशनी को बुझा देती है। क्या तुमने कभी पौ फटने से पहले की चाँदनी देखी है और यह देखा है कि धीरे-धीरे यह तड़का दिन के रूप में कैसे बदल जाता है? मैंने चांदनी और उषा की इस प्रतियोगिता को अक्सर देखा है, जिसमें उषा की हमेशा जीत रहती है। इस विचित्र और मन्द रोशनी में कभी-कभी यह बताना मुश्किल हो जाता है कि यह चांदनी है या आनेवाले दिन की रोशनी है। थोड़ी ही देर के बाद कोई सन्देह बाक़ी नहीं रह जाता; दिन हो जाता है और फीका चन्द्रमा प्रतियोगिता में हारकर पीछे हट जाता है।

अपनी आदत के अनुसार मैं आज जब उठा तो तारे चमक रहे थे और तड़के से पहले हवा में जो अजीब ताज़गी होती है उससे कोई भी अन्दाज़ा लगा सकता था कि सुबह होनेवाली है। और ज्योंही मैं पढ़ने बैठा कि दूर से आनेवाली आवाज़ों और मरमराहटों ने, जो बढ़ती ही जाती थीं, सवेरे की शान्ति को भंग कर दिया। मुझे याद आ गया कि आज संक्रान्ति यानी माघ मेले का पहला पर्व है, और यात्री लोग हज़ारों की तादाद में संगम में—जहां गंगा, यमुना और गुप्त सरस्वती मिलती हैं—स्नान करने जा रहे हैं। ये चलते-चलते गाते जाते थे, और कभी-कभी गंगा माता की जय पुकारते थे। 'गंगा माई की जय!' इनकी यह आवाज़ नैनी-जेल की दीवारों को लाँघकर मेरे कानों में पहुँच रही थी। इन्हें सुनकर मुझे यह ख़याल आ गया कि देखो श्रद्धा में कितनी शक्ति है कि वह इन असंख्य लोगों को नदी के किनारे खींच लाई है और ये लोग थोड़ी देर के लिए अपनी ग़रीबी और मुसीबतों को भूल गये हैं! और मैं यह सोचने लगा कि देखो सैकड़ों और हजारों वर्षों से हर साल यात्री लोग किस तरह त्रिवेणी की यात्रा को आते हैं। आदमी पैदा हों और मर जायँ, सरकारें और साम्राज्य कुछ दिनों के लिए शान जमा लें और फिर अतीत में ग़ायब हो जायँ, लेकिन पुरानी परम्परा बराबर जारी रहती है और पीढ़ी के बाद पीढ़ी, उसके सामने सिर झुकाती रहती है। परम्परा में बहुत-कुछ अच्छाई होती है; लेकिन कभी-कभी वह एक भयंकर बोझ बन जाती है, जिसकी वजह से हमारी प्रगति मुश्किल हो जाती है। जो अटूट ज़ंजीर धुंधले और प्राचीन अतीत से हमारा सम्बन्ध जोड़ती है, उसकी कल्पना करने से और तेरहसौ वर्ष पहले के लिखे हुए इन मेलों के, जो उस समय भी पुरानी परम्परा से चले आ रहे थे, हाल-चाल पढ़ने से चित्त मोहित हो जाता है। लेकिन इस जंजीर में एक आदत यह है कि जब हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो यह हमारे पैरों में लिपट जाती है और हमें इस परम्परा के शिकंजे में कसकर क़ैदी जैसा बना देती है। यह सच है कि अपने अतीत से जोड़नेवाली बहुत-सी लड़ियों को हमें क़ायम रखना

पड़ेगा। लेकिन अगर यह परम्परा हमें आगे बढ़ने से रोकने लगे तो हमें उसके क़ैदखाने को तोड़कर बाहर भी निकलना होगा।

पिछले तीन पत्रों में हमने यह कोशिश की है कि तीन हज़ार से लगाकर ढाई हज़ार वर्ष पहले के बीच के जमाने की दुनिया किस तरह की थी, इसकी एक तसवीर हमारे सामने खिंच जाय। मैंने तारीख़ों का कोई जिक्र नहीं किया है। मुझे तारीखें पसन्द नहीं है और न मैं यह चाहता हूँ कि इनके पचड़े में तुम ज्यादा पड़ो। अलावा इसके, इस पुराने जमाने की घटनाओं की सही तारीखें जानना आसान भी नहीं है। बाद को कभी-कभी यह जरूरी हो सकता है कि कुछ तारीखें भी दे दी जायँ और उन्हें याद रक्खा जाय, ताकि हमें घटनाओं को ठीक सिलसिलेवार याद रखने में मदद मिल सके। अभी तो हम प्राचीन संसार की रूपरेखा ही खींचने की कोशिश कर रहे हैं।

यूनान, भूमध्यसागर, मिस्र, एशिया कोचक और ईरान की एक झलक हम देख चुके हैं। अब हम अपने देश की तरफ़ आते हैं। भारत के प्रारम्भिक इतिहास का अध्ययन करने में हमारे सामने एक बड़ी कठिनाई आ जाती है। आदि-आर्यों ने, जिन्हें अंग्रेज़ी में इण्डो-एरियन कहते हैं, इतिहास लिखने की तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया। हम अपने पिछले पत्रों में देख चुके हैं कि ये लोग बहुत-सी बातों में कितने बढ़े-चढ़े थे। इन लोगों के रचे हुए ग्रन्थ—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, वग़ैरा—ऐसे हैं जिन्हें महान् पुरुष ही लिख सकते थे। इन ग्रन्थों से और दूसरी सामग्री की मदद से हमें पुराने इतिहास का अध्ययन करने में सहायता मिलती है। इनसे हमें अपने पूर्वजों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन और विचार करने के ढंग का पता लग जाता है। लेकिन ये वास्तव में इतिहास नहीं हैं। संस्कृत में वास्तविक इतिहास की अकेली पुस्तक कश्मीर के इतिहास पर है, लेकिन वह बहुत बाद के जमाने की है। उसका नाम है 'राजतरंगिणी'। उसमें कश्मीर के राजाओं का सिलसिलेवार हाल है और यह कल्हण की लिखी हुई है। तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि जिस तरह मैं तुम्हारे लिए ये पत्र लिख रहा हूँ, उसी तरह तुम्हारे रणजीत फूफा[1] कश्मीर के इस महान इतिहास का संस्कृत से अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहे हैं। वह क़रीब आधा खतम कर चुके हैं। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है। जब इसका पूरा अनुवाद प्रकाशित होगा तब हम सब बड़े चाव के साथ इसे पढ़ेंगे, क्योंकि दुर्भाग्य से हममें से बहुत से लोग इतनी संस्कृत नहीं जानते कि मूल ग्रन्थ को पढ़ सकें। हम इस पुस्तक को सिर्फ़ इसलिए नहीं पढ़ेंगे कि यह बहुत सुन्दर है, बल्कि

[1] स्वर्गीय श्री रणजीत एस. पण्डित, श्रीमती विजयलक्ष्मी के पति तथा लेखक के बहनोई। ये भी उस समय जेल में थे। 'राजतरंगिणी' का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

इसलिए भी कि इससे हमें पुराने जमाने का बहुत-कुछ हाल मालूम होगा—खासकर कश्मीर का, जो कि तुम जानती हो, अपना पुराना वतन है।

जब आर्यों ने भारत में क़दम रक्खा, यह देश पहले ही सभ्य हो चुका था। वास्तव में उत्तर-पश्चिम में मोहेन-जो-दड़ो के खंडहरों से अब तो यह सही तौर पर मालूम पड़ता है कि आर्यों के आने के बहुत दिन पहले से इस देश में एक महान् सभ्यता मौजूद थी। लेकिन इसके बारे में अभी तक हम कुछ ज़्यादा नहीं जानते। सम्भव है, कुछ वर्षों के अन्दर ही जब हमारे पुरातत्त्ववेत्ता[1] वहाँ जो कुछ मिल सकता है, उसे खोद निकालेंगे, तब हम उसके बारे में कुछ ज्यादा जान सकेंगे।

बहरहाल इसके अलावा भी यह प्रकट होता है कि उस समय दक्षिण भारत में, और शायद उत्तर भारत में भी, द्रविड़ों की एक समृद्ध सभ्यता थी। इनकी भाषाएं, जो आर्यों की संस्कृत से निकली हुई नहीं हैं, बहुत पुरानी हैं और इनमें बड़ा सुन्दर साहित्य पाया जाता है। इन भाषाओं के नाम हैं तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम। ये भाषाएं दक्षिण भारत में आजकल भी फूल-फल रही हैं। शायद तुम्हें मालूम होगा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) ने भारत के प्रान्त भाषाओं के आधार पर बनाये हैं, हालाँकि अंग्रेज सरकार ने ऐसा नहीं किया है। यह तरीका बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे एक तरह के लोग, जो एक ही भाषा बोलते हैं, और जिनके रस्म-रिवाज आम तौर से एक ही तरह के हैं, एक प्रान्तीय क्षेत्र में आ जाते हैं। दक्षिण में काँग्रेस के माने हुए प्रान्त ये हैं—उत्तरी मद्रास में आन्ध्र देश, जहाँ तेलगू बोली जाती है; दक्षिणी मद्रास में तमिलनाड़ जहां तमिल भाषा बोली जाती है; बम्बई प्रान्त के दक्षिण में कर्नाटक, जहाँ कन्नड़ भाषा बोली जाती है; और केरल, जो क़रीब-क़रीब मलाबार ही है, जहाँ मलयालम भाषा बोली जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि भारत आगे चलकर जब प्रान्तों में बांटा जायगा, तो क्षेत्रीय भाषा पर बहुत ध्यान दिया जायगा।

यहांपर मैं भारत की भाषाओं के बारे में ज़रा कुछ और कह दूं। यूरोप और दूसरे मुल्कों के कुछ लोग समझते हैं कि भारत में सैकड़ों भाषाएं बोली जाती हैं। यह बिलकुल बेहूदा बात है और ऐसा कहनेवाला ख़ुद अपना ही अज्ञान जाहिर करता है। यह सच है कि भारत जैसे बड़े देश में बहुत-सी बोलियाँ हैं, जो स्थान-भेद के अनुसार किसी एक भाषा के अलग-अलग रूप हैं। यहां के पहाड़ी और दूसरे हिस्सों में भी कितनी ही छोटी-मोटी जातियाँ हैं, जिनकी अपनी-अपनी ख़ास बोलियाँ हैं। लेकिन अगर सारे भारत को एक साथ लिया जाय तो इन सबका कोई महत्व नहीं रह जाता। उनका महत्व सिर्फ़ मर्दुमशुमारी के ख़याल से ही है। जैसा कि

---

[1]पुरातत्त्ववेत्ता—पुराने ज़माने के खंडहरों और बाक़ी बचे निशानों का ख़ास अध्ययन करनेवाले विद्वान।

मेरा खयाल है, मैंने अपने एक पिछले पत्र में लिखा है कि भारत की असली भाषाएँ दो परिवारों में बाँटी जा सकती हैं—पहला परिवार द्रविड़ भाषा का है, जिसका ऊपर जिक्र आ चुका है, और दूसरा भारतीय आर्य-जाति की भाषा का है। भारतीय आर्यों की मुख्य भाषा संस्कृत थी और भारत की सारी आर्य-भाषाएं—हिन्दी, बंगला, गुजराती और मराठी—संस्कृत से निकली हैं। इनके अलावा कुछ और भेद भी हैं। असम में असमी है, उड़ीसा या उत्कल में उड़िया बोली जाती है। उर्दू भी हिन्दी का ही एक भेद है। हिन्दुस्तानी शब्द का मतलब हिन्दी और उर्दू दोनों से है। इस तरह भारत की मुख्य भाषाएं सिर्फ़ दस हैं—हिन्दुस्तानी, बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, और असमी। इनमें से हिन्दुस्तानी, जो अपनी मातृभाषा है, सारे उत्तर भारत में—पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और मध्यभारत में—बोली जाती है। यह बहुत बड़ा हिस्सा है, जिसमें करीब पन्द्रह करोड़ आदमी बसते हैं। इस प्रकार तुम देखोगी कि अभी भी पन्द्रह करोड़ आदमी कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ हिन्दुस्तानी बोलते हैं और तुम यह अच्छी तरह जानती ही हो कि भारत के ज्यादातर हिस्सों के लोग हिन्दुस्तानी समझते हैं। भारत के सब लोगों की भाषा शायद यही बनेगी। लेकिन इसका यह मतलब कभी भी नहीं है कि दूसरी मुख्य भाषाएं, जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है, खतम हो जायँ। बेशक ये प्रान्तीय भाषाओं की हैसियत से बनी रहेंगी, क्योंकि इनमें सुन्दर साहित्य पाया जाता है और किसी जाति की समुन्नत भाषा को छीन लेने की कोशिश किसी भी हालत में नहीं की जानी चाहिए। किसी क़ौम के विकास और उसके बच्चों की शिक्षा का एकमात्र साधन उसकी अपनी भाषा ही है। भारत में आज हरेक चीज उलट-पुलट हो रही है और हम आपस में भी अंग्रेजी बहुत ज्यादा इस्तेमाल करते हैं। तुम्हें अंग्रेजी में पत्र लिखना मेरे लिए एक भद्दी बात है—फिर भी मैं ऐसा कर रहा हूं। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हम लोग जल्दी ही इस आदत से छुटकारा पा जायँगे।

: १० :

## प्राचीन भारत के ग्राम-गणराज्य

१५ जनवरी, १९३१

प्राचीन इतिहास का अपना निरीक्षण हम कैसे आगे बढ़ावें ? मैं हमेशा सीधा रास्ता छोड़ देता हूँ और इधर-उधर की पगडंडियों पर भटक जाता हूं। पिछले पत्र में मैं इस विषय पर पहुँच ही रहा था कि मैंने भारत की भाषाओं की बात छेड़ दी।

अच्छा, अब फिर प्राचीन भारत की चर्चा करें। तुम जानती हो कि जो देश

आज अफ़गानिस्तान कहलाता है वह उस समय, और बाद में भी बहुत वर्षों तक, भारत का एक हिस्सा था। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा गान्धार कहलाता था। सारे उत्तर में, सिन्ध और गंगा के मैदान में, आर्यों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। बाहर से आये हुए ये आर्य लोग शायद इमारतें बनाने की कला अच्छी तरह जानते थे, क्योंकि इनमें से बहुत-से ईरान और इराक़ की आर्यों की बस्तियों से आये हुए होंगे, जहाँ उस समय भी बड़े-बड़े शहर बस गये थे। इन आर्य-बस्तियों के बीच बहुत-से जंगल थे, ख़ासकर उत्तर और दक्षिण भारत के बीच में तो एक बहुत बड़ा जंगल था। यह सम्भव नहीं मालूम होता कि आर्य लोगों की कोई बड़ी संख्या इन जंगलों को पार करके दक्षिण में बसने गई हो। हाँ, बहुत-से व्यक्ति खोज और व्यापार करने तथा आर्य-सभ्यता और संस्कृति को फैलाने के लिए दक्षिण जरूर गये होंगे। पौराणिक कथा यह है कि अगस्त्य ऋषि पहले आर्य थे, जो दक्षिण गये और आर्य-धर्म तथा आर्य-संस्कृति का सन्देश दक्षिण तक ले गये।

उस समय भारत और विदेशों के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। विदेशी व्यापारी दक्षिण की काली मिर्च, मोती और सोने के लालच से समुद्र पार करके यहाँ आते थे। यहाँ से शायद चावल भी बाहर जाता था। बाबुल के पुराने राज-महलों में मलाबार का सागवान मिला है।

आर्यों ने भारत में धीरे-धीरे अपनी ग्रामीण प्रणाली का विकास किया। इस प्रणाली में कुछ पुरानी द्रविड़-ग्राम-प्रथा का और कुछ आर्य-विचारों का मेल-जोल था। ये गाँव क़रीब-क़रीब स्वतन्त्र होते थे और चुनी हुई पंचायतें इनपर शासन करती थीं। कई गाँवों या छोटे क़स्बों को मिलाकर उनपर एक राजा या सरदार राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक्सर गाँवों के अनेक समुदाय एक-दूसरे से सहयोग करके सड़कें, धर्मशालाएं, सिंचाई के लिए नहरें, या इस प्रकार की सामुदायिक चीज़ें, जो सब लोगों के फायदे की होती थीं, बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्रमुख होता था, लेकिन वह मनमानी नहीं कर सकता था। उसे आर्यों के कानूनों और प्रथाओं के अनुसार चलना पड़ता था। उसकी प्रजा उसपर जुर्माना कर सकती थी और उसे गद्दी तक से उतार सकती थी। 'राजा ही राष्ट्र है' यह सिद्धान्त, जिसका मैंने अपने पहले पत्रों में ज़िक्र किया था, यहाँ नहीं माना जाता था। इस तरह आर्य-बस्तियों में एक प्रकार का लोकतंत्र पाया जाता था, यानी आर्य-प्रजा शासन पर कुछ हद तक नियन्त्रण रख सकती थी।

इन भारतीय आर्यों का यूनानी आर्यों से मुक़ाबिला करो। इन दोनों में बहुत-से अंतर थे, लेकिन कितनी ही बातों में समानता भी थी। दोनों देशों में किसी-न-किसी रूप में लोकतंत्र था। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि यह लोकतंत्र

सिर्फ़ आर्य-वंश के लोगों के ही लिए था। इनके ग़ुलामों या उन लोगों के लिए, जिन्हें इन्होंने नीच जाति का ठहरा दिया था, न लोकतन्त्र था, न आजादी। जात-पांत की प्रणाली और उसके आजकल जैसे अनगिनती भेद उस ज़माने में नहीं थे। उस समय तो भारतीय आर्यों में समाज के चार भेद या वर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण, यानी विद्वान, पुरोहित और ऋषि-मुनि; क्षत्रिय यानी राज करनेवाले वैश्य; यानी वाणिज्य और व्यापार करनेवाले; और शूद्र, यानी मेहनत-मज़दूरी करनेवाले और कामगर। इस तरह यह जातिभेद पेशे के आधार पर था। सम्भव है, जात-पाँत की प्रणाली एक हद तक इसलिए रक्खी गई हो कि आर्य लोग विजित जाति से अपनेको अलग रखना चाहते थे। आर्य लोग इतने अभिमानी और घमण्डी थे कि दूसरी जातियों को नीची निगाह से देखते थे और यह नहीं चाहते थे कि उनकी जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से घुल मिल जायँ। जाति के लिए संस्कृत में वर्ण शब्द आता है, जिसका अर्थ रंग है। इससे यह भी प्रकट होता है कि बाहर से आनेवाले आर्य भारत के मूल निवासियों से गोरे थे।

इस प्रकार हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि एक तरफ़ तो आर्य लोगों ने श्रमिक वर्ग को दबा रक्खा था और उसे अपने लोकतंत्र में कोई हिस्सा नहीं देते थे; दूसरी तरफ़ उन्होंने अपने लिए बहुत ज्यादा आज़ादी रक्खी थी। ये लोग इस बात को बिलकुल पसन्द नहीं करते थे कि उनके राजा या शासक अनुचित व्यवहार करें। अगर कोई शासक अनुचित व्यवहार करता था तो हटा दिया जाता था। आम तौर पर राजा क्षत्रिय होते थे, लेकिन कभी-कभी लड़ाइयों या अन्य संकटों के समय शूद्र या नीच-से-नीच जाति का आदमी भी, अगर इतना योग्य होता, तो राजगद्दी पा सकता था। इसके बाद आर्य लोगों का पतन हो गया और उनकी जाति-प्रणाली जड़ हो गई। बहुत-से विभाग हो जाने की वजह से देश कमज़ोर पड़ गया और नीचे गिर गया। ये लोग आज़ादी की पुरानी भावना को भी भूल गये, क्योंकि पुराने ज़माने में यह कहा जाता था कि आर्य कभी भी दास नहीं बनाया जा सकता। आर्य नाम को कलंकित करने के बजाय उसके लिए मर जाना कहीं ज़्यादा अच्छा समझा जाता था।

आर्यों की बस्तियाँ, क़स्बे और गाँव ऊटपटांग तरीके से नहीं बस गये थे। वे नक़शों के अनुसार बसाये जाते थे, और तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इन नक़शों के तैयार करने में रेखागणित से बहुत मदद ली जाती थी। सच तो यह है कि वैदिक पूजाओं में भी रेखागणित की शकलें काम में आती थीं। आज भी अनेक हिन्दू घरों में बहुत सी पूजाओं में ये शकलें काम आती हैं। बात यह है कि मकानों और शहरों की रचना से रेखागणित का बहुत निकट का सम्बन्ध है।

सम्भव है, शुरू में पुराने आर्यों के गाँव क़िलेबन्द छावनी के समान हुआ

करते थे, क्योंकि उस ज़माने में हमलों का हमेशा डर रहा करता था। जब दुश्मनों के हमलों का डर नहीं रहा तब भी वही नक़शा जारी रहा। यह नकशा चतुर्भुज आकार का होता था, जिसमें चारों तरफ़ परकोटा होता था और इसमें चार बड़े फाटक और चार छोटे दरवाज़े रक्खे जाते थे। परकोटे के अन्दर एक ख़ास तरतीब में सड़कें और मकान बनाये जाते थे। गाँव के बीच में पंचायत-घर होता था, जहाँ गाँव के बड़े-बूढ़े इकट्ठे होते थे। छोटे गाँवों में पंचायत घर के बजाय कोई एक बड़ा पेड़ ही हुआ करता था। हर साल गाँव के सब नागरिक इकट्ठे होकर अपनी पंचायत चुनते थे।

बहुत से विद्वान् लोग सादा जीवन बिताने और शान्ति के साथ अध्ययन या कार्य करने के लिए क़स्बों या गाँवों के आस-पास के जंगलों में चले जाते थे। इनके पास शिष्य इकट्ठे हो जाते थे और धीरे-धीरे इन गुरुओं और विद्यार्थियों की नई बस्तियाँ बनती गईं। हम इन बस्तियों को आजकल के विश्वविद्यालय कह सकते हैं। इन जगहों पर कोई शानदार इमारतें नहीं हुआ करती थीं, लेकिन जिनको ज्ञान की तलाश होती थी वे बड़ी-बड़ी दूर से विद्याध्ययन के इन केन्द्रों में आया करते थे।

आनन्द-भवन[1] के सामने भारद्वाज आश्रम है। तुम इसे अच्छी तरह जानती हो। शायद तुम्हें यह भी मालूम है कि भरद्वाज रामायण के पुराने ज़माने के बहुत विद्वान् ऋषि माने गये हैं। कहा जाता है कि रामचन्द्र अपने वनवास के समय में इनके यहाँ आये थे। यह भी कहा जाता है कि भरद्वाज के आश्रम में हज़ारों शिष्य और विद्यार्थी रहा करते थे। यहाँ एक अच्छा-ख़ासा विश्वविद्यालय रहा होगा और भरद्वाज उसके आचार्य रहे होंगे। उस ज़माने में यह आश्रम गंगा के किनारे था। यह बहुत सम्भव है, हालाँकि अब गंगा यहाँ से क़रीब एक मील दूर चली गई हैं। हमारे बग़ीचे की मिट्टी कहीं-कहीं बहुत रेतीली है और सम्भव है कि यह हिस्सा उस जमाने में गंगा की तलहटी में रहा हो।

ये प्रारम्भकाल के दिन भारत में आर्यों का एक महान् काल था। दुर्भाग्य से इस काल का हमें कोई इतिहास नहीं मिलता और उस समय की जो बातें हमें मालूम हैं, उनके लिए हमें अनैतिहासिक ग्रंथों पर ही भरोसा करना पड़ता है। उस ज़माने के राज्य और गणराज्य ये थे—दक्षिण बिहार में मगध; उत्तर बिहार में विदेह, काशी, कोशल—जिसकी राजधानी अयोध्या थी; और पांचाल, जो गंगा और यमुना के बीच में था। पांचालों के देश में मथुरा और कान्यकुब्ज दो मुख्य शहर थे। ये शहर बाद के इतिहास में भी मशहूर रहे हैं और आज भी मौजूद हैं। कान्यकुब्ज अब कन्नौज कहलाता है और कानपुर के निकट है। उज्जैन भी प्राचीन

---

[1]प्रयाग में लेखक का मकान।

शहर है, लेकिन आजकल यह ग्वालियर रियासत का एक छोटा-सा नगर है। पाटलिपुत्र या पटना के निकट वैशाली का नगर था। यह लिच्छवी वंश के लोगों की राजधानी थी, जो भारत के शुरू-शुरू के इतिहास का एक मशहूर वंश है। यह राज्य गणराज्य था। इसमें प्रमुख व्यक्तियों की एक सभा शासन करती थी। इसका एक चुना हुआ सभापति होता था, जिसे नायक कहते थे।

ज्यों-ज्यों ज़माना गुजरा, बड़े-बड़े कस्बे और शहर बनते गये। व्यापार बढ़ा और कारीगरों की कला और दस्तकारी ने भी उन्नति की। शहर बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र हो गये। जंगल के आश्रम, जहाँ विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यों के साथ रहा करते थे, बढ़कर बड़े-बड़े विश्वविद्यालय बन गये। विद्या के इन केन्द्रों में वे सब विषय पढ़ाये जाते थे, जिनका उस समय तक मनुष्य को ज्ञान था। ब्राह्मण युद्धकला भी सिखाते थे। तुम्हें याद होगा कि महाभारत में पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, जो उन्हें अन्य विषयों के साथ-साथ युद्धकला की भी शिक्षा देते थे।

: ११ :

# चीन के हज़ार वर्ष

१६ जनवरी, १९३१

बाहरी दुनिया से एक ऐसी खबर मिली है जिससे परेशानी और दुःख होता है, लेकिन फिर भी ऐसी है कि उससे हृदय गर्व और आनन्द से फूल उठता है। हम लोगों ने शोलापुरवालों की क़िस्मत का फ़ैसला सुन लिया। इस खेदजनक समाचार के फैलने पर देशभर में जो-कुछ हुआ उसका भी थोड़ा-बहुत हाल हमें मालूम हो गया। जबकि हमारे नौजवान अपनी जानों पर खेल रहे हैं और हजारों पुरुष और स्त्रियाँ निर्दय लाठी का मुक़ाबला कर रहे हैं, मेरे लिए यहाँ चुपचाप बैठे रहना मुश्किल हो गया है। लेकिन इससे हमें अच्छी ट्रेनिंग मिल रही है। मेरा खयाल है कि हममें से हरेक स्त्री और पुरुष को अपने-आपको कठिन-से-कठिन परीक्षा में डालने के बहुत मौक़े मिलेंगे। इस समय तो यह जानकर दिल को खुशी होती है कि हमारे लोग तकलीफ़ों और मुसीबतों का सामना करने के लिए कैसी हिम्मत से आगे बढ़ रहे हैं और कैसे दुश्मन का हरेक नया हथियार और प्रहार इन लोगों को ज्यादा मजबूत और प्रतिरोध के लिए ज्यादा दृढ़-संकल्प बना रहा है।

जब किसीका दिमाग़ इस तरह के ताज़ा समाचारों से भरा हो, तो दूसरी बातों का खयाल करना मुश्किल हो जाता है। लेकिन कोरी उधेड़बुन से भी कोई खास फ़ायदा नहीं होता, इसलिए अगर कोई ठोस काम करना हो तो हमें अपने

चीनी सभ्यता की शुरूआत
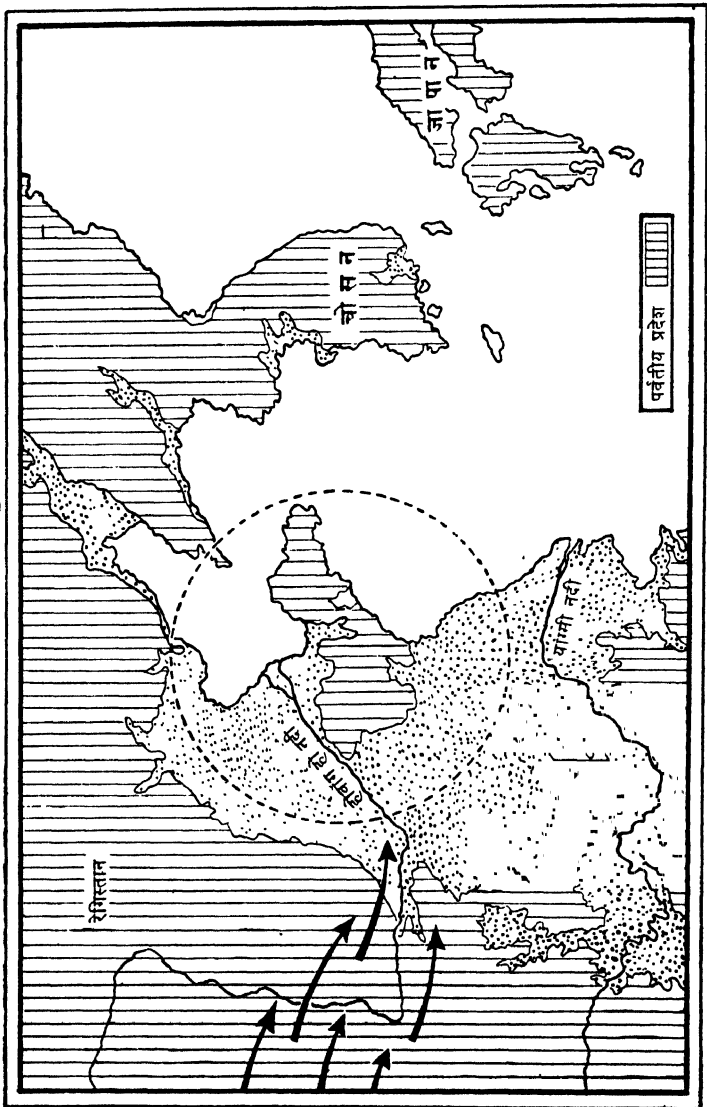
मन को क़ाबू में रखना चाहिए। इसलिए आओ, हम पुराने जमाने को लौट चलें और थोड़ी देर के लिए अपनी मौजूदा परेशानियों से बहुत दूर चलकर रहें।

आओ, अब हम प्राचीन इतिहास में भारत के भाई चीन की चर्चा करें। चीन में और पूर्वी एशिया के जापान, कोरिया, हिन्द-चीन, स्याम, बरमा, वग़ैरा देशों में आर्य-जाति से हमें काम नहीं पड़ेगा। यहाँ तो उसके बजाय मंगोली नस्लों से परिचय करना है।

पाँच हजार या कुछ ज्यादा वर्ष गुजरे होंगे जब पश्चिम से चीन पर एक हमला हुआ था। हमला करनेवाली ये जातियाँ भी मध्य-एशिया से आई थीं और अपनी सभ्यता में ये अच्छी-खासी आगे बढ़ी हुई थीं। ये लोग खेती करना जानते थे और भेड़-बकरियों के बड़े-बड़े रेवड़ और मवेशियों के बड़े-बड़े झुंड पाला करते थे। ये लोग अच्छे-अच्छे मकान बनाना जानते थे और इनका समाज खूब विकसित था। ये लोग ह्वांगहू नदी के पास, जिसे पीली नदी भी कहते हैं, बस गये और यहाँ इन्होंने अपने राज्य का संगठन किया। सैकड़ों वर्षों तक ये सारे चीन में फैलते रहे और अपने कला-कौशल और कारीगरी की उन्नति करते रहे। चीनी लोग ज्यादातर किसान थे और उनके सरदार असल में उसी तरह के कुलपति थे, जिनका मैं अपने पुराने पत्रों में जिक्र कर चुका हूँ। छः या सात सौ वर्ष बाद, यानी अब से चार हज़ार से भी अधिक वर्ष पहले, याओ नामक एक व्यक्ति हुआ, जिसने अपने को सम्राट् कहना शुरू किया। लेकिन इस उपाधि के बावजूद उसकी स्थिति अधिकतर कुलपति की-सी ही थी, मिस्र या इराक़ के सम्राटों की-सी नहीं। चीनी लोग किसानों की तरह ही रहते रहे, और वहाँ कोई खास केन्द्रीय सरकार नहीं बन पाई।

मैंने तुम्हें बताया है कि पहले किस तरह लोग अपने कुलपति चुना करते थे और आगे चलकर किस तरह यह पद मौरूसी अधिकार बन गया। चीन में हम इसकी शुरुआत होती हुई देखते हैं। याओ का उत्तराधिकारी उसका पुत्र नहीं हुआ, बल्कि उसने एक दूसरे व्यक्ति को नामजद कर दिया, जो उस समय देश में सबसे ज्यादा योग्य समझा जाता था।

लेकिन जल्दी ही यह पद मौरूसी हो गया, और कहा जाता है कि चार सौ वर्ष से ज्यादा तक हिस्या नामक राजवंश ने चीन पर हुकूमत की। हिस्या वंश का आखिरी राजा बहुत जालिम था। नतीजा यह हुआ कि एक क्रांति हुई, जिसने उसे उखाड़ फेंका। इसके बाद शैंग या चिन नामक दूसरे राजवंश के हाथों में सत्ता आई और यह क़रीब ६५० वर्षों तक चली।

एक छोटे-से पैरे में, दो या तीन छोटे-छोटे वाक्यों में, मैंने चीन का एक हज़ार वर्षों से ज्यादा का इतिहास खतम कर दिया। क्या यह ताज्जुब की बात

नहीं है कि इतिहास के इतने विस्तारों को कोई इस तरह निबटा दे ? लेकिन तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि मेरे छोटे-से पैरे की वजह से इन हजार या ग्यारह-सौ वर्षों की लम्बाई कम नहीं होती। हम दिनों, महीनों और सालों के ख़याल के आदी हो गये हैं। तुम्हारे लिए तो सौ साल की भी स्पष्ट कल्पना कर सकना मुश्किल है। तुम्हें तो अपने तेरह वर्ष ही बहुत मालूम होते होंगे ! है न यह बात सच ? और हर साल तुम और भी बड़ी होती जाती हो। तब फिर तुम अपने दिमाग़ में इतिहास के एक हजार वर्षों की कल्पना किस तरह कर सकती हो ? यह एक बहुत लम्बा जमाना है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी आती है और चली जाती है। क़स्बे बढ़कर बड़े-बड़े शहर हो जाते हैं और फिर उजड़कर मिट्टी में मिल जाते हैं और उनकी जगह दूसरे शहर बस जाते हैं। इतिहास के पिछले एक हजार वर्षों का ख़याल करो, तब शायद तुम्हें इस समय का कुछ बोध हो सके। पिछले एक हजार वर्षों में इस दुनिया में कितने आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गये हैं !

चीन का इतिहास, उसकी प्राचीन संस्कृति की लम्बी परम्परा और उसके एक-एक राजवंश, जो पांचसौ से लेकर आठ-आठसौ वर्ष तक राज्य करते रहे, कितनी अद्‌भुत चीजें हैं !

इन ग्यारहसौ वर्षों में चीन की धीमी उन्नति और विकास पर, जिन्हें मैंने एक पैरे में ही निबटा दिया है, ज़रा ग़ौर तो करो ! धीरे-धीरे कुलपति की प्रथा टूटती गई और उसकी जगह केन्द्रीय सरकार स्थापित होती गई और एक सुसंगठित राज्य सामने आगया। उस पुराने जमाने में भी चीन के लोग लिखने की कला जानते थे। लेकिन, जैसा कि तुम जानती ही हो, चीनी लिपि हमारी नागरी या अंग्रेजी या फ्रांसीसी लिपि से बिलकुल भिन्न है। इस लिपि में अक्षर नहीं हैं। यह संकेतों या चित्रों द्वारा लिखी जाती है।

शैंग राजवंश को, ६४० वर्ष शासन करने के बाद, एक क्रांति ने उखाड़ फेंका और चाऊ नामक एक नये राजवंश का अधिकार हुआ। इसने शैंगों से ज्यादा दिनों तक सत्ता भोगी। यह ८३७ वर्ष तक बना रहा। चाऊ-वंश के जमाने में ही चीन का राज्य अच्छी तरह से संगठित हुआ, और इसी जमाने में चीन में दो महान् दार्शनिक कनफ़्यूशस और लाओ-त्से पैदा हुए। इनकी कुछ चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

जब शैंग राजवंश निकाल फेंका गया, तब इसके कि-त्से नामक एक उच्च अधिकारी ने चाऊ लोगों की नौकरी करने की बनिस्बत देश छोड़कर चले जाना अच्छा समझा। इसलिए वह अपने पांच हजार अनुयायियों को साथ लेकर चीन से बाहर कोरिया को कूच कर गया। उसने इस देश का नाम 'चोसन' यानी

'सुबह की शान्ति का देश' रक्खा। कोरिया या चोसन चीन के पूर्व में है, इसलिए कि-त्से पूर्व दिशा में उगते हुए सूर्य की ओर गया। शायद उसने यह समझा हो कि वह पूर्व दिशा के अन्तिम छोरवाले देश में पहुंच गया है और इसीलिए उसने इसे यह नाम दिया। ईसा से ग्यारहसौ वर्ष पहले से इसी कि-त्से के साथ कोरिया का इतिहास शुरू होता है। कि-त्से के साथ ही इस नये देश में चीनी कला-कौशल, मकान बनाने की कला, कृषि और रेशम की कारीगरी आईं। कि-त्से के पीछे-पीछे और भी बहुत-से चीनी प्रवासी यहां आ गये। कि-त्से के वंशजों ने चोसन पर नौसौ से ज़्यादा वर्षों तक राज किया।

लेकिन चोसन पूर्व दिशा का सबसे आखिरी देश नहीं था। उसके पूर्व में, जैसाकि हम जानते हैं, जापान है। लेकिन हमें इस बात का कोई पता नहीं कि जब कि-त्से चोसन गया तो जापान में क्या हो रहा था। जापान का इतिहास इतना पुराना नहीं है जितना चीन का या कोरिया यानी चोसन का। जापानी लोगों का कहना है कि उनके पहले सम्राट् का नाम जिम्मूटिन्नू था और उसने ईसा से छः-सातसौ वर्ष पहले राज किया। इन लोगों का यह विश्वास है कि वह सूर्यदेवी से उत्पन्न हुआ था, क्योंकि सूर्य जापान में देवी माना जाता था। जापान के मौजदा सम्राट् जिम्मूटिन्नू के असली वंशज माने जाते हैं। इसीलिए बहुत-से जापानी इन्हें भी सूर्यवंशी मानते हैं।

तुम जानती हो कि हमारे देश में भी राजपूत लोग इसी तरह से सूर्य और चन्द्र से अपना नाता जोड़ते हैं। उनके सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी दो मुख्य राजघराने प्रसिद्ध हैं। उदयपुर के महाराणा सूर्यवंशियों के प्रमुख हैं और वह अपनी वंशावली बहुत पुराने जमाने से शुरू करते हैं। हमारे राजपूत लोग भी बहुत तारीफ़ के योग्य हैं! इनकी वीरता की और वीरोचित सुजनता की कहानियों का कोई अन्त नहीं है।

## : १२ :
# पुरातन की पुकार

१७ जनवरी, १९३१

करीब ढाई हजार वर्ष पहले तक प्राचीन दुनिया की शायद जो हालत थी उसपर हम एक सरसरी नजर डाल चुके। हमारा निरीक्षण बहुत संक्षिप्त और परिमित रहा। हमने सिर्फ़ ऐसे ही देशों की चर्चा की, जो अच्छी उन्नति कर चुके थे या जिनका थोड़ा-बहुत निश्चित इतिहास पाया जाता है। मिस्र की उस महान् सभ्यता का हम अभी जिक्र कर चुके हैं, जिसने अल-अहराम और स्फिन्क्स बनाये और बहुत-सी दूसरी ऐसी चीजें बनाईं, जिनकी चर्चा का यहां

अवसर नहीं है। जिस शुरू जमाने की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें भी यह महान् सभ्यता अपने गौरव के दिन देख चुकी थी और पतन की ओर जा रही थी। नोसास भी अपनी आखिरी घड़ियां गिन रहा था। चीन के उन लम्बे युगों की खोज भी हम कर चुके हैं, जिनमें कि वह बढ़ते-बढ़ते एक विशाल केन्द्रीय साम्राज्य बन गया और वहां लिखने, रेशम बनाने और बहुत-सी दूसरी सुन्दर-सुन्दर कलाओं का विकास हुआ। कोरिया और जापान की भी हमने एक झलक देख ली। भारत की उस पुरानी सभ्यता की ओर अभी हमने संकेत किया ही है, जिसे दर्शाने वाले चिह्न सिन्ध-नदी की घाटी के मोहेन-जो-दड़ो के खण्डहरों में मिलते हैं। साथ ही विदेशों से व्यापार करनेवाली द्रविड़ सभ्यता और अन्त में आर्यों की ओर भी हम संकेत कर चुके हैं। उस जमाने के आर्यों के रचे हुए वेद और उपनिषद् और रामायण और महाभारत की वीर-गाथाओं का उल्लेख भी हम कर चुके हैं। यह भी हम बता चुके कि आर्य लोग उत्तर भारत में कैसे फैल गये, दक्षिण में उनका प्रवेश कैसे हुआ और पुराने द्रविड़ों के सम्पर्क में आकर किस तरह उन्होंने एक नई सभ्यता और संस्कृति बनाई, जिसमें कुछ तो द्रविड़ बातें मिल गईं लेकिन जिसका अधिकतर हिस्सा उनका अपना था। खास तौर से हमने इनके ग्राम-संघों को लोकतंत्री आधार पर विकास करते और क़स्बों और शहरों के रूप में बढ़ते देखा और जंगल के आश्रमों को विश्वविद्यालय बनते भी देखा। इराक़ और ईरान में हमने संक्षेप में सिर्फ यह देखा कि किस तरह एक के बाद एक साम्राज्य उन्नति करता गया। इनमें सबसे पिछला, दारा का साम्राज्य भारत में सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। फ़िलस्तीन में हमने यहूदियों की एक झलक देखी। ये लोग, हालांकि संख्या में बहुत कम थे और दुनिया के एक छोटे-से कोने में आबाद थे, फिर भी इन्होंने बहुत काफ़ी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। दूसरे देशों के बड़े-बड़े राजाओं के नाम मिट गये, लेकिन इनके राजा दाऊद और सुले-मान के नाम आज तक लिये जाते हैं, क्योंकि उनका जिक्र बाइबिल में आया है। फिर हमने यूनान में नोसास की पुरानी सभ्यता की राख पर आर्यों की नई सभ्यता को फूलते-फलते देखा। नगर-राज्य पैदा हुए और भूमध्यसागर के किनारों पर यूनानी उपनिवेश बन गये। रोम, जो आगे चलकर महान् होनेवाला था, और कारथेज, जो उसका कट्टर विरोधी था, इस समय इतिहास के क्षितिज पर उदय हो रहे थे।

इन सबकी हमने मामूली-सी झलक देखी है। उत्तरी यूरोप और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों का भी थोड़ा-बहुत हाल मैं तुम्हें बतला सकता था, लेकिन मैं उन्हें छोड़ गया हूं। उस शुरू के जमाने में भी दक्षिण भारत के मल्लाह बंगाल की खाड़ी के उस पार मलय प्रायःद्वीप और उसके दक्षिण के टापुओं तक बेधड़क

आया-जाया करते थे। लेकिन हमें अपने विषय की कोई सीमा तय कर लेनी चाहिए वरना, हम कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

जिन देशों की हमने चर्चा की है, वे प्राचीन दुनिया के माने जाते हैं। लेकिन याद रहे कि उन दिनों दूर-दूर के देशों में आपस में ज्यादा आवागमन नहीं था। व्यापार या दूसरे मतलब से साहसी मल्लाह समुद्र के जरिये और दूसरे लोग जमीन के रास्ते लम्बे-लम्बे सफ़र किया करते थे। लेकिन ऐसा बहुत कम होता था, क्योंकि उस समय की यात्राओं में खतरा बहुत रहता था। लोगों को भूगोल की जानकारी बहुत कम थी। जमीन गोल नहीं बल्कि चपटी मानी जाती थी। मतलब यह कि निकट के देशों के सिवा दूसरे देशों के बारे में लोग बहुत कम जानते थे। यूनान के रहनेवाले चीन और भारत से लगभग अपरिचित थे और चीन और भारतवालों को भूमध्यसागर के देशों का बहुत कम पता था।

अगर तुम्हें प्राचीन दुनिया का नक़शा मिल सके तो उसे एक नजर देखो। पुराने जमाने के लेखकों ने दुनिया के जो वर्णन लिखे और नक़शे बनाये उनमें कुछ तो बड़े मजेदार हैं। उन नकशों में कई देशों की अजीब शकलें दी गई हैं। प्राचीन काल के जो नक़शे आजकल बनाये गए हैं वे कहीं ज्यादा काम के हैं। इसलिए उस जमाने के बारे में पढ़ते समय इन्हें अक्सर देख लिया करना। नक़शे से बहुत मदद मिलती है। बिना इसके इतिहास का असली चित्र हमारी कल्पना में नहीं आ सकता। सच तो यह है कि अगर किसीको इतिहास पढ़ना है, तो जितने भी ज्यादा-से-ज्यादा नक़शे, या पुरानी इमारतों, खण्डहरों और उस जमाने की दूसरी निशानियों के जितने भी चित्र मिल सकें, अपने पास रखने चाहिए। इन चित्रों से इतिहास की सूखी ठठरी पर मांस और चमड़ा चढ़ जाता है, और वह हमारे लिए एक जिन्दा चीज बन जाता है। इतिहास से अगर हम कुछ सीखना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि घटनाओं का एक स्पष्ट और सिलसिलेवार कल्पना-चित्र हमारे दिमाग़ में हो जिससे कि उसे पढ़ते समय ऐसा लगे मानो वे घटनाएं हमारी आंखों के सामने ही हो रही हैं। इतिहास को तो एक चित्ताकर्षक नाटक समझना चाहिए जो हमारे दिल को मोह लेता है—ऐसा नाटक, जो कभी-कभी सुखान्त, लेकिन ज्यादातर दुःखान्त रहा है और दुनिया जिसका रंगमंच और गुजरे जमाने के महान् पुरुष और स्त्रियां जिसके पात्र हैं।

तसवीरों और नक़शों की सहायता से इतिहास के इस तमाशे की एक झलक हमारी आँखों के सामने आ जाती है, इसलिए ऐसा इन्तजाम होना चाहिए कि हरेक लड़के और लड़की को ये आसानी से मिल सकें। लेकिन तसवीरों और नक़शों से भी ज्यादा अच्छी चीज़ यह है कि पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले खण्ड-हरों और चिह्नों को खुद जाकर देखा जाय। इन सबको जाकर देख सकना सम्भव

नहीं क्योंकि ये सारी दुनिया में फैले हुए हैं। लेकिन अगर हम अपनी आँखें खुली रखें तो प्राचीन समय के कोई-न-कोई चिह्न ऐसे जरूर होंगे जिन्हें हम आसानी से देख सकें। बड़े-बड़े अजायबघरों में पुराने जमाने की ये छोटी-छोटी निशानियां और यादगारें संग्रह करके रक्खी जाती हैं। भारत में पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत काफ़ी निशानियां पाई जाती हैं, लेकिन बहुत प्राचीन काल की निशानियां बहुत ही कम हैं। मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा[1] ही शायद ऐसे दो उदाहरण हैं, जो अभी तक मिले हैं। सम्भव है कि पुराने जमाने की बहुत सी इमारतें गर्म जलवायु की वजह से धीरे-धीरे ढह गई हों। लेकिन यह और भी ज्यादा सम्भव है कि उनमें से बहुत-सी अब भी जमीन के नीचे दबी पड़ी हों, और उन्हें खोद निकालने की जरूरत हो। जैसे-जैसे हम इन्हें खोदते जायंगे, और पुराने चिह्न और शिलालेख हमें मिलते जायंगे, वैसे-वैसे हमारे देश के पुराने इतिहास के पृष्ठ धीरे-धीरे हमारे सामने खुलते जायंगे और पत्थर, ईंट और चूने के इन पृष्ठों में हम अत्यन्त प्राचीन काल के पूर्वजों के कारनामों का हाल पढ़ सकेंगे।

तुम दिल्ली गई हो और मौजूदा शहर के आस-पास कुछ पुरानी इमारतें और खण्डहर तुमने देखे हैं। जब कभी फिर तुम्हें इन इमारतों और खण्डहरों को देखने का मौक़ा मिले, तुम पुराने जमाने की कल्पना करना तो ये तुम्हें पुराने जमाने में पहुंचा देंगी और तुम्हें इतना ज्यादा इतिहास बता देंगी कि जितना कोई पुस्तक नहीं बता सकती। महाभारत के जमाने से लेकर आजतक लोग दिल्ली शहर में या इसके आस-पास रहते आये हैं। उन्होंने इसके बहुत-से नाम रक्खे, जैसे इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, तुग़लकाबाद और शाहजहाँनाबाद। मुझे तो सब नाम मालूम भी नहीं। पुराने जमाने से यह कहावत चली आ रही है कि दिल्ली का शहर सात बार, सात अलग-अलग जगहों पर आबाद हुआ और जमना नदी के मनमौजी बहाव की वजह से हमेशा अपनी जगह बदलता रहा। और अब हम इस देश के मौजूदा शासकों के हुक्म से रायसीना या नई दिल्ली नामक आठवाँ शहर तैयार होते देख रहे हैं। दिल्ली में एक के बाद एक साम्राज्य फूलते-फलते और खतम होते रहे हैं।

या फिर तुम एक सबसे प्राचीन शहर बनारस या काशी चली जाओ और कान लगाकर उसकी गुनगुनाहट सुनो। वह तुम्हें अपने कल्पनातीत युग की कथा

---

[1]हड़प्पा—मांटगोमरी जिले (प० पाकिस्तान) का एक बहुत प्राचीन गांव है, जो रावी नदी के दक्षिण किनारे पर कोट-कमालिया से १६ मील दक्षिण-पूर्व में है। यहां से बहुत पुराने जमाने के खण्डहर खोदकर निकाले गये हैं, जिनसे पता चलता है कि उस पुराने जमाने में भी भारत की सभ्यता कितनी बढ़ी-चढ़ी थी।

सुनायेगा और बतायेगा कि किस तरह साम्राज्यों का पतन होता रहा पर वह बना रहा; किस तरह गौतम बुद्ध अपना नया दैवी सन्देश लेकर वहां आये और किस तरह युगों से करोड़ों नर-नारी शान्ति और संतोष पाने के लिए इसकी शरण में आते रहे ! प्राचीन और बूढ़ा, जर्जर, गन्दा, बदबूदार और फिर भी बहुत सजीव और युगों की शक्ति से भरपूर यह बनारस है । काशी की यह नगरी अद्भुत और दिल को लुभानेवाली है, क्योंकि इसकी आंखों में तुम भारत के अतीत को देख सकती हो और इसकी जलधारा की कलकल में सुदूर बीते युगों की आवाजें सुन सकती हो ।

या इससे भी निकट अपने ही शहर इलाहाबाद या प्रयाग के पुराने अशोक-स्तम्भ को देखने जाओ । अशोक की आज्ञा से उसपर खुदे हुए लेख को देखो तो तुम्हें मानो दो हजार वर्षों की दूरी को पार करके आती हुई आवाज सुनाई देने लगेगी ।

## : १३ :
# धन कहां जाता है ?

१८ जनवरी, १९३१

मैंने जो पत्र तुम्हें मसूरी भेजे थे, उनमें यह बताने की कोशिश की थी कि किस तरह मनुष्य समाज की उन्नति के साथ-साथ उसमें जुदा-जुदा वर्ग बनते गये । शुरू में मनुष्यों को भोजन-सामग्री तक तलाश करने में बड़ी मुसीबत होती थी । वे हररोज़ शिकार करते, गिरीदार और दूसरे फल जमा करते और खाने-पीने की चीज़ों की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह भटकते फिरते थे । धीरे-धीरे इनके कबीले बनने लगे । असल में ये बड़े-बड़े कुटुम्ब थे, जो साथ रहते और साथ-साथ शिकार करने जाते थे, क्योंकि अकेले रहने से एक साथ रहने में खतरा कम रहता था । इसके बाद एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ—खेती का आविष्कार । इसके कारण मनुष्य के जीवन में बड़ा ज़बर्दस्त अन्तर हो गया । लोगों को हमेशा शिकार करते रहने की बनिस्बत ज़मीन पर खेती करके खाने का सामान पैदा कर लेना कहीं ज़्यादा आसान मालूम हुआ । जोतने, बोने और फ़सल काटने के लिए एक जगह बने रहना ज़रूरी था, इसलिए पहले की तरह वे इधर-उधर भटकते हुए नहीं रह सकते थे; उन्हें अपने खेतों के पास बसने को मजबूर होना पड़ता था । इस तरह गाँवों और क़स्बों की बुनियाद पड़ी ।

खेती की वजह से और भी परिवर्तन हुए । खेती से जो अनाज पैदा होता था, वह तुरन्त की ज़रूरत से कहीं ज़्यादा होता था । इसलिए बचा हुआ या फालतू अनाज जमा किया जाने लगा । पुराने ज़माने की शिकारी ज़िन्दगी की तुलना में लोगों की जिन्दगी ज़्यादा पेचीदा हो गई । एक वर्ग तो खेतों पर तथा दूसरी जगह

खेती-बाड़ी और मेहनत-मजदूरी करने लगा, और दूसरे ने प्रबन्ध और संगठन का काम अपने जिम्मे ले लिया। प्रबन्ध करनेवाले और संगठनकर्त्ता लोग धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली हो गये और कुलपति, शासक, राजा और सरदार बन बैठे। और क्योंकि उनके हाथ में शक्ति आ गई, इसलिए वे बाक़ी बचे हुए या फ़ालतू अनाज में से अधिकतर हिस्सा अपने लिए रख लेने लगे। इस तरह ये लोग धनवान् होते गये और खेतों में काम करनेवाले सिर्फ़ गुज़ारे भर के लिए पाने लगे। बाद में ऐसा भी समय आया जब प्रबन्धक और संगठनकर्ता इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि संगठन का भी काम नहीं कर सके। ये लोग कुछ भी काम नहीं करते थे, लेकिन इस बात की पूरी सावधानी रखते थे कि काम करनेवालों ने जो कुछ अनाज पैदा किया है, उसका बहुत काफ़ी हिस्सा अपने लिए ले लें। इन्होंने यह अपनी धारणा बना ली कि बिना खुद कुछ काम-काज किये इस तरीक़े से दूसरों की मेहनत पर रहने का इन्हें पूरा-पूरा अधिकार है।

इस प्रकार तुम देखोगी कि खेती के आने से मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा फ़र्क आ गया। भोजन-प्राप्ति के साधनों में तरक़्क़ी करके, और उसका पाना आसान बनाकर, खेती ने समाज की सारी बुनियाद ही बदल दी। लोगों को इसकी वजह से फ़ुरसत मिलने लगी। अनेक वर्ग पैदा हो गये। पर चूंकि सभी अन्न उपजाने में नहीं लगे रहते थे, इसलिए कुछ लोग दूसरे काम भी कर सकते थे। इससे कई प्रकार की दस्तकारियां पैदा हो गईं और नये-नये पेशे बन गये। लेकिन शक्ति फिर भी संगठन करनेवाले वर्ग के हाथों में ही रही।

बाद के जमानों के इतिहास में भी तुम्हें यही बात मिलेगी कि खाद्य पदार्थ और दूसरी ज़रूरी चीज़ें पैदा करने के नये तरीक़ों ने कितने बड़े-बड़े परिवर्तन कर दिये हैं। आदमियों को दूसरी बहुत-सी चीजों की भी उतनी ही ज़रूरत पड़ने लगी जितनी खाने की चीज़ों की। इसलिए जब-जब पैदावार के तरीक़ों में कोई बड़ा परिवर्तन हुआ, समाज में भी उसके फलस्वरूप बड़ा परिवर्तन हुआ। सिर्फ़ एक उदाहरण देता हूं। जब कारखानों, रेलों और जहाज़ों को चलाने में भाप का इस्तेमाल होने लगा तो पैदावार और वितरण के तरीक़ों में भी बहुत बड़ा फ़र्क पड़ गया। भाप के कारखानों में चीजें इतनी तेज़ी से बन सकती हैं कि कारीगर या दस्तकार अपने हाथों से या सादा औज़ारों से उसकी बराबरी कर ही नहीं सकते। बड़ी मशीन को असल में बड़ा-सा औज़ार समझना चाहिए। रेलों और भाप के जहाज़ों से अनाज और कारख़ानों में बनी हुई चीज़ों को दूर देशों तक जल्दी पहुंचाने में मदद मिलती है। तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी वजह से सारी दुनिया में कितना परिवर्तन हो गया होगा!

खाने की और दूसरी चीजें पैदा करने के नये और तेज तरीक़े इतिहास में

समय-समय पर ईजाद होते रहे हैं। इससे तुम जरूर यह खयाल करोगी कि अगर पैदावार के लिए अच्छे-अच्छे तरीक़े काम में लाये जाते हैं तो माल भी उतना ही ज्यादा पैदा होता होगा। दुनिया में धन बढ़ता होगा और हरेक आदमी का हिस्सा भी बढ़ जाता होगा। तुम्हारा ऐसा खयाल करना कुछ हद तक ठीक होगा और कुछ हद तक ग़लत। पैदावार के बढ़िया तरीक़ों ने संसार की दौलत जरूर बढ़ा दी है, लेकिन सवाल यह है कि दौलत बढ़ी तो संसार के कौन से हिस्से की बढ़ी? यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे देश में अभी तक भी काफ़ी ग़रीबी और मुसीबत ही है, लेकिन इंग्लैण्ड जैसे धनवान देश में भी यही हाल है। इसकी क्या वजह है? दौलत आखिर जाती कहाँ है? यह अजीब-सी बात है कि दौलत तो दिन-पर-दिन ज्यादा पैदा की जा रही है, लेकिन ग़रीब लोग ग़रीब ही बने हुए हैं। कुछ देशों में इन ग़रीब लोगों ने थोड़ी-सी उन्नति की है, लेकिन जो नई दौलत पैदा हो रही है उसके मुक़ाबले में यह न-कुछ के बराबर है। बहरहाल हम आसानी से पता लगा सकते हैं कि यह दौलत ज्यादातर किसके पास जाती है। यह उन लोगों के पास जाती है जो आम तौर पर प्रबन्धकर्त्ता या संगठनकर्त्ता होने के नाते इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि हरेक अच्छी चीज का बड़ा भाग इनके पल्ले पड़ता रहे। और इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज में ऐसे वर्ग पैदा हो गये हैं जो दिखावे तक के लिए कोई काम नहीं करते, लेकिन फिर भी दूसरों की मेहनत के फल का बड़ा भाग हड़प कर जाते हैं! और क्या तुम इसपर विश्वास करोगी कि इज़्जत इन्हीं वर्गों की होती है; और कुछ बेवकूफ़ लोग समझते हैं कि अपनी रोजी के लिए मेहनत करना अपमानजनक है! ऐसी उलटी-पलटी दशा है हमारी दुनिया की! फिर क्या ताज्जुब है कि खेत में मेहनत करनेवाला किसान और कारखाने में मजदूरी करनेवाला मजदूर ग़रीब है, हालांकि दुनिया भर के खाद्य पदार्थ और सम्पत्ति ये ही लोग पैदा करते हैं! हम अपने देश की आजादी की बातें करते हैं, लेकिन जब तक इस उलटे-पलटेपन का अन्त नहीं होता और मेहनत करनेवाले को उसकी मेहनत का फल नहीं मिलता, इस आजादी की क्या क़ीमत हो सकती है? राजनीति और शासनकला पर, अर्थशास्त्र और राष्ट्रीय सम्पत्ति के बंटवारे पर बड़ी मोटी-मोटी पुस्तकें लिखी गई हैं। विद्वान प्रोफ़ेसर इन विषयों पर व्याख्यान देते रहते हैं। लेकिन इधर तो लोग बातचीत और चर्चाओं में उलझ रहे हैं और उधर मेहनत करनेवाले तकलीफ़ें पा रहे हैं! दो सौ वर्ष हुए वाल्तेयर नाम के एक प्रसिद्ध फ्रान्सीसी ने राजनीतिकों और इसी तरह के दूसरे लोगों के बारे में कहा था—"इन लोगों ने अपनी सुन्दर राजनीति में यह कला खोज निकाली है कि जो लोग ज़मीन जोतकर दूसरों को जिन्दा रखने के साधन पैदा करते हैं, उन्हें भूखों मार दिया जाय।"

फिर भी प्राचीनकाल का मनुष्य उन्नति करता गया और धीरे-धीरे जंगली

प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने लगा। उसने जंगल काट, मकान बनाये और ज़मीन जोती। कहा जाता है कि मनुष्य ने किसी हद तक प्रकृति पर विजय पाई है। लोग प्रकृति को वश में करने की बातें करते हैं। यह तो बे-सर-पैर की बात है और सही नहीं है। यह कहना ज़्यादा सही है कि आदमी ने प्रकृति को समझना शुरू किया और जितना वह उसे समझता जाता है, उतना ही वह उससे सहयोग करने के योग्य बन गया है और उसे अपने हित के लिए उपयोग में ला सका है। पुराने जमाने में आदमी प्रकृति से और उसकी विचित्र घटनाओं से डरता था। इनको समझने के बजाय वह उनकी पूजा करता था और शांति के लिए उनपर चढ़ावा चढ़ाता था; मानो प्रकृति कोई जंगली जानवर है, जिसे संतुष्ट करने और बहलाने की जरूरत हो। इसलिए बादल की गरज, बिजली की कड़कड़ाहट और महामारियाँ उन्हें भयभीत कर देती थीं और वे समझते थे कि ये उत्पात सिर्फ़ पूजा से ही रुक सकते हैं। बहुत-से सीधे-सादे लोग समझते हैं कि चन्द्रमा या सूर्य का ग्रहण कोई भयंकर आफ़त है। यह समझने की कोशिश करने के बजाय कि यह एक सीधी-साधी प्राकृतिक घटना है, लोग इसके बारे में फ़िज़ूल परेशान होते हैं, और सूरज या चाँद की रक्षा के लिए उपवास व स्नान करते हैं। लेकिन सूरज और चाँद अपनी रक्षा के लिए काफ़ी समर्थ हैं। हमें उनके बारे में परेशान होने की कोई जरूरत नहीं।

हमने सभ्यता और संस्कृति की उन्नति की भी कुछ चर्चा की है, और देखा है कि इसकी शुरूआत उस समय से हुई, जब लोग गांवों और क़स्बों में रहने के लिए बस गये। खाने का काफ़ी सामान पा जाने की वजह से लोगों को कुछ फ़ुरसत मिल गई और इस तरह खाने और शिकार करने के अलावा उन्हें दूसरी बातों पर भी ध्यान देने का मौक़ा मिल गया। विचार की उन्नति के साथ आमतौर पर कला-कौशल और संस्कृति का भी विकास हुआ। जब आबादी बढ़ने लगी तो लोग पास-पास भी रहने लगे। ये एक दूसरे से बराबर मिलते-जुलते थे और इनका आपस में व्यापार-व्यवहार चलने लगा। जब लोग पास-पास रहते हैं तो उन्हें एक-दूसरे का लिहाज़ भी रखना पड़ता है। उनके लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि कोई बात ऐसी न करें जो साथियों या पड़ोसियों को बुरी लगे; वरना सामाजिक जीवन ही असम्भव हो जाय। किसी कुटुम्ब का उदाहरण ले लो। कुटुम्ब समाज का छोटा-सा टुकड़ा है। इसके व्यक्ति आनन्द से तभी रह सकते हैं, जब कुटुम्ब के सदस्य आपस में एक-दूसरे का लिहाज रक्खें। आम तौर पर यह कोई मुश्किल बात नहीं होती, क्योंकि कुटुम्ब के लोगों में प्रेम का बन्धन होता है। फिर भी कभी-कभी हम एक-दूसरे का लिहाज करना भूल जाते हैं और यह प्रकट कर देते हैं कि कुछ भी हो हम अभी तक बहुत सुसंस्कृत या सभ्य नहीं हो पाये हैं। कुटुम्ब से आगे बढ़कर बड़े समुदाय में भी ठीक यही हाल होता है; चाहे हम अपने पड़ोसियों

को लें, या अपने शहर के रहनेवालों को, या देशवासियों को या दूसरे देशों के लोगों को। इस तरह आबादी बढ़ जाने से सामाजिक जीवन बढ़ा, और दूसरों का लिहाज़ करने और अपने पर संयम रखने की भावना भी बढ़ी। संस्कृति और सभ्यता की परिभाषा मुश्किल है और मैं इसकी परिभाषा करने की कोशिश भी नहीं करूंगा। लेकिन संस्कृति की परिभाषा के भीतर आनेवाली अनेक बातों में अपने ऊपर संयम, और दूसरों की सुविधा का ख़याल भी निस्संदेह एक बात है। अगर किसी आदमी में संयम नहीं पाया जाता और वह दूसरों की सुविधा का कोई ख़याल नहीं करता, तो हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह आदमी असंस्कृत है।

: १४ :

## ईसा के पूर्व छठी सदी और मज़हब

२० जनवरी, १९३१

आओ, अब हम इतिहास की लम्बी सड़क पर आगे बढ़ें। आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले, यानी दूसरे शब्दों में, ईसा से क़रीब छ: सौ वर्ष पहले तक की एक बड़ी मंज़िल हम तय कर चुके हैं। लेकिन यह न समझना कि यह कोई निश्चित तारीख़ है। मैं तो तुम्हें समय का एक मोटा अन्दाज़ दे रहा हूं। हम देखते हैं कि भारत और चीन से लेकर ईरान और यूनान तक भिन्न-भिन्न देशों में अनेक महापुरुष, बड़े-बड़े विचारक और धर्म-प्रवर्तक इसी युग में मिलते हैं। वे सब बिलकुल एक ही समय में नहीं हुए, लेकिन उनका समय एक-दूसरे से इतना निकट था कि ईसा से पहले की छठी सदी का यह ज़माना एक बड़ा रोचक युग बन गया है। ऐसा मालूम होता है कि उस समय सारी दुनिया में विचारों की एक लहर उठ रही थी—लोगों के दिलों में ज़माने की परिस्थिति से असन्तोष और कोई बेहतर चीज़ प्राप्त करने की आशा व लालसा उमड़ रही थीं। याद रक्खो कि धर्मों के संस्थापक हमेशा किसी बेहतर चीज़ की खोज में रहते थे और अपने देश की जनता को सुधारने और ऊंचा उठाने और उसकी मुसीबतों को कम करने की कोशिश करते रहते थे। ऐसे लोग हमेशा क्रान्तिकारी रहे हैं और उस समय की बुराइयों पर हमला करने में ज़रा भी नहीं डरे हैं। जहां कहीं पुरानी परम्परा ग़लत रास्ते पर जाती हुई दिखाई दी, या उसके कारण आगे की उन्नति रुकती हुई मालूम पड़ी, कि उन्होंने निडर होकर उसपर हमला किया और उसे मिटा दिया। और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने उच्च जीवन का एक नमूना पेश किया, जो असंख्य लोगों के लिए पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक आदर्श और प्रेरणा बन गया।

भारत में, ईसा से पहले की उस छठी सदी में, बुद्ध और महावीर पैदा

हुए; चीन में कनफ़्यूशस और लाओ-त्से; ईरान में जरथुस्त या ज़ोरास्टर; और सामोस के यूनानी टापू में पाइथागोर। तुमने पहले भी ये नाम सुने होंगे, पर शायद किसी दूसरे सिलसिले में। स्कूल के साधारण लड़के-लड़की पाइथागोर को एक झंझटी समझते हैं, जिसने रेखागणित का एक प्रमेय सिद्ध किया, जो अब इन बेचारों को सीखना पड़ता है! इस प्रमेय का सम्बन्ध एक समकोण त्रिभुज की भुजाओं पर के वर्ग-चतुर्भुजों से है। रेखागणित की किसी भी पुस्तक में यह प्रमेय मिल सकता है। लेकिन रेखागणित की खोजें करने के अलावा पाइथागोर एक महान् विचारक भी माना जाता है। हमें उसके बारे में बहुत कम मालूम है। कुछ लोगों को तो शक है कि इस नाम का कोई व्यक्ति हुआ भी था या नहीं!

ईरान का जरथुस्त ज़ोरास्टर धर्म का संस्थापक कहा जाता है। लेकिन मुझे यह निश्चय नहीं है कि उसे इस धर्म का संस्थापक कहना कहाँतक ठीक है। शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसने ईरान के पुराने विचारों और मज़हब को नई दिशा की ओर मोड़ा और उन्हें नया रूप दिया। एक लंबे अर्से से यह मज़हब ईरान से बिलकुल उठ-सा गया है। जो पारसी लोग बहुत वर्ष पहले ईरान से भारत चले आये, वे अपने साथ इस मज़हब को भी लेते आये और तब से बराबर उसीको मानते आ रहे हैं।

चीन में इसी ज़माने में दो महापुरुष हुए—कनफ्यूशस और लाओ-त्से। कनफ्यूशस का नाम ज्यादा सही तरीक़े से कुंग-फ़ू-त्से लिखा जाता है। साधारण अर्थों में इन दोनों में से किसीको भी धर्म-संस्थापक नहीं कह सकते। इन्होंने नीति और सामाजिक व्यवहार के नियम बनाये और यह बताया कि आदमी को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। लेकिन इनकी मृत्यु के बाद चीन में इनकी यादगार में बहुत-से मन्दिर बनाये गए और इनके ग्रन्थों का चीनी लोग वैसा ही आदर करते हैं, जैसा हिन्दू वेदों का और ईसाई बाइबिल का। कनफ्यूशस की शिक्षा का एक परिणाम यह हुआ कि उसने चीनियों को संसार में सबसे ज्यादा विनयशील, पूरे शिष्टाचारी और सुसंस्कृत बना दिया।

भारत में महावीर और बुद्ध हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैन धर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो उन्हें दी गई महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज्यादातर पश्चिमी भारत और काठियावाड़ में रहते हैं और आजकल इनकी गिनती हिन्दुओं में की जाती है। काठियावाड़ में और राजस्थान में आबू पहाड़ पर इनके बड़े सुन्दर मन्दिर पाये जाते हैं। अहिंसा में इनकी बड़ी श्रद्धा है और ये ऐसे कामों के बिलकुल विरुद्ध हैं जिनसे किसी भी जीव को तकलीफ़ पहुंचे। हां, इसी सिलसिले में तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी

कि पाइथागोर कट्टर शाकाहारी था। उसने अपने शिष्यों और चेलों के लिए भी यह नियम बना दिया था कि कोई मांस न खाय।

अब गौतम बुद्ध का हाल सुनो। जैसा कि तुम जानती हो, गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे और एक राजवंश के राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता का नाम महारानी माया था। प्राचीन जातक कथा में लिखा है कि महारानी माया "दूज के चन्द्रमा की तरह उल्लास के साथ पूजनीय, पृथ्वी के समान दृढ़ और स्थिर-निश्चयवाली और कमल के समान पवित्र हृदयवाली थी।"

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के सुखों में रक्खा, और यह कोशिश की कि दुःख-दर्द और रोग-शोक के दृश्यों से वह बिलकुल दूर रहें। लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका, और कहा जाता है कि उन्होंने एक कंगाल, एक रोगी, एक मुर्दा देखा, जिनका उनके हृदय पर बहुत असर हुआ। इसके बाद राजमहल में उन्हें ज़रा भी शान्ति नहीं रही और भोग-विलास के सारे साधन, जिनसे वह घिरे रहते थे, यहांतक कि उनकी सुन्दर युवा पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, संतप्त मानवता की ओर से उनका चित्त न हटा सके। उनके हृदय की यह चिन्ता और इन दुःखों को दूर करने के उपाय खोजने की इच्छा दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई। यहांतक कि वह इस हालत को सहन न कर सके और अन्त में एक रात वह चुपचाप अपने राजमहल और प्रियजनों को छोड़कर, जिन प्रश्नों ने उन्हें परेशान कर रक्खा था उनके समाधान की खोज में, इस लम्बी-चौड़ी दुनिया में, अकेले निकल पड़े। इस समाधान की खोज उनके लिए बहुत लम्बी और थकानेवाली सिद्ध हुई। आखिर बहुत वर्षों बाद, गया में एक बट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हें 'बोध' प्राप्त हुआ और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड़ के नीचे वह बैठे थे वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से मशहूर हो गया। प्राचीन काशी की छाया में बसे हुए सारनाथ के, जो उस जमाने में इसिपत्तन या ऋषिपत्तन कहलाता था, 'मृगदाव' में बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार शुरू किया। उन्होंने 'अष्टांग मार्ग' का उपदेश दिया। देवताओं के नाम पर सब तरह की बलि की उन्होंने निन्दा की और इस बात पर ज़ोर दिया कि इन बलिदानों के बजाय मनुष्य को अपने क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या और बुरे विचारों की बलि देनी चाहिए।

बुद्ध के जन्म के समय, भारत में पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था। लेकिन वह बहुत बदल गया था और अपने ऊँचे आदर्शों से नीचे गिर चुका था। ब्राह्मण पुरोहितों ने तरह-तरह के कर्म-काण्ड, पूजा-पाठ और अन्ध-विश्वास जारी कर दिये थे, क्योंकि पूजाएं जितनी ज़्यादा बढ़ें पुरोहितों को उतना ही अधिक फ़ायदा पहुंचता है। जाति का बन्धन बहुत कड़ा होता जा रहा था और आम लोग शकुन, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने और धूर्तों से डरते थे। इन तरीक़ों से पुरोहितों ने जनता को

अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था और क्षत्रिय राजाओं की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रियों और ब्राह्मणों में संघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक बहुत बड़े लोकप्रिय सुधारक के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने पुरोहितों के इन अत्याचारों पर, और पुराने वैदिक धर्म में जो बुराइयां घुस आई थीं उन सबपर, हमला बोल दिया। उन्होंने सदाचारी जीवन बिताने और भले काम करने पर ज़ोर दिया और पूजा-पाठ वग़ैरा का निषेध किया। उन्होंने अपने अनुयायी भिक्षु और भिक्षुणियों की संस्था 'बौद्ध-संघ' का भी संगठन किया।

कुछ दिनों तक सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत में बहुत नहीं हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि यह कैसे फैला और फिर भारत में एक अलग सम्प्रदाय के रूप में यह क़रीब-क़रीब मिट-सा गया। जहां लंका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्कों में यह धर्म सर्वोपरि हो गया, वहां अपनी जन्मभूमि भारत में यह फिर ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म में समा गया। लेकिन ब्राह्मण-धर्म पर इसका बहुत बड़ा असर पड़ा और इसने हिन्दू-धर्म में से बहुत-से अन्ध-विश्वास और पाखण्ड हटा दिये।

आजकल दुनिया में बौद्ध-धर्म के माननेवालों की संख्या सबसे ज़्यादा है। ईसाई, इस्लाम और हिंदू-धर्म भी ऐसे मजहब हैं जिनके माननेवाले दुनिया में दूसरों से ज़्यादा हैं। इनके अलावा यहूदी, सिख, पारसी, वग़ैरा दूसरे मज़हब भी हैं। तमाम मज़हबों और उनके संस्थापकों ने दुनिया के इतिहास में बहुत बड़ा हिस्सा लिया है, इसलिए इतिहास पर ग़ौर करते समय इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन मज़हबों के बारे में लिखने में मुझे कुछ दिक़्क़त होती है। इसमें शक नहीं कि बड़े-बड़े मज़हबों के संस्थापक दुनिया के महान्-से-महान् और ऊँचे-से-ऊँचे व्यक्ति हुए हैं। लेकिन उनके शिष्य और बाद के अनुयायी न तो महान् ही निकले और न नेक ही। इतिहास में हम अक्सर देखते हैं जिस धर्म का उद्देश्य हमें ऊंचा उठाना और बेहतर और नेक बनाना है, उसीने लोगों से जानवरों जैसा व्यवहार कराया है। लोगों में ज्ञान की रोशनी फैलाने के बजाय धर्म ने उन्हें अक्सर अंधेरे में रखने की कोशिश की, उदार-हृदय बनाने के बजाय अक्सर लोगों को तंग दिल और दूसरों के प्रति असहिष्णु बना दिया। धर्म की ख़ातिर बड़े-बड़े महान् और शानदार काम किये गए हैं, लेकिन धर्म के ही नाम पर लाखों हत्याएं हुई हैं और हर तरह के सम्भव कुकर्म भी किये गए हैं।

ऐसी हालत में यह सवाल उठता है कि धर्म के मामले में कोई क्या रुख अपनाये ? कुछ लोगों के लिए धर्म का मतलब है परलोक; फिर उसे स्वर्ग, वैकुण्ठ या बहिश्त चाहे जो कुछ कहा जाय। स्वर्ग में जाने की लालसा से लोग धर्म का पालन करते हैं या कुछ दूसरी बातें करते हैं। यह देखकर मुझे ऐसे बालक का ख़याल

आता है जो इनाम में जलेबी पाने के लालच से ऊधम नहीं मचाता। अगर कोई बच्चा हमेशा जलेबी की ही बात सोचा करे, तो तुम यह कभी न मानोगी कि उसकी शिक्षा ठीक ढंग से हुई है। और उन लड़कों या लड़कियों को तो तुम और भी कम पसन्द करोगी जो जलेबी की ख़ातिर सब कुछ करें। तब फिर हम ऐसे बड़े-बूढ़ों के बारे में क्या कहें, जो इस तरह सोचते और काम करते हैं? क्योंकि आख़िर जलेबी और स्वर्ग के ख़याल में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं है। हम सब थोड़े-बहुत स्वार्थी होते हैं; लेकिन फिर भी हम अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देने की कोशिश करते हैं कि वे जहांतक हो सके निस्वार्थ बनें। कुछ भी हो हमारे आदर्श बिलकुल स्वार्थ-हीन होने चाहिएँ ताकि हम अपने जीवन में उनतक पहुँचने की कोशिश करते रहें।

हम सब सफलता चाहते हैं और अपने कर्मों का फल देखना चाहते हैं। यह स्वाभाविक ही है। लेकिन हमारा लक्ष्य क्या है? क्या हमें सिर्फ़ अपनी ही फ़िक्र करनी चाहिए, या सार्वजनिक हित की—यानी देश, समाज और मनुष्य-जाति की भलाई की? आख़िर इस सार्वजनिक हित में ही हमारी अपनी भलाई भी शामिल है। मेरा ख़याल है कि कुछ दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में संस्कृत के एक श्लोक का ज़िक्र किया था। इसका मतलब यह था कि व्यक्ति को कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब को जाति के लिए और जाति को देश के लिए कुर्बान कर देना चाहिए। यहां मैं संस्कृत के एक और श्लोक का भी अर्थ तुमको बताना चाहता हूँ, जो भागवत में आया है। उसका अर्थ यह है—

> "मुझे न तो अष्टसिद्धियों[1] के साथ स्वर्ग की इच्छा है और न जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने की ही कामना है। मेरी इच्छा तो यह है कि दुःखी जनों के दिलों में पैठ जाऊँ और उनका दुःख-दर्द अपने ऊपर ले लूं, जिससे वे पीड़ा से मुक्त हो जायँ।"[2]

---

[1] सिद्धियां—आठ प्रकार की होती हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

[2] इस सम्बन्ध में भागवत के ये श्लोक ध्यान में रखने योग्य हैं—

कोनु सस्यावुपायोऽत्र येनाहम् दुःखितात्मनाम्
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा।
अपहृत्यार्त्तिमार्तानाम् सुखं यदुपजायते
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नाऽर्हति षोडशीम्। —च्यवन ऋषि

× × ×

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्
कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम्। —रंतिदेव

एक मज़हबवाला एक बात कहता है, दूसरे मज़हबवाला दूसरी। और बहुत करके हरेक दूसरे को मूर्ख या धूर्त समझता है। इनमें सच्चा कौन है ? चूंकि ये लोग ऐसी चीजों की बात करते हैं, जो न आँख से देखी जा सकती हैं और न सिद्ध की जा सकती हैं, इसलिए दलीलों से ऐसे मामलों को तय करना मुश्किल हो जाता है। दोनों के लिए यह हिमाकत मालूम होती है कि ऐसे मामलों पर पक्की बातें करें और उनपर एक-दूसरे का सिर फोड़ें। हममें से ज्यादातर तंग विचारों के होते हैं और ज्यादा बुद्धिमान नहीं होते। तब हम यह सोचने का साहस कैसे कर सकते हैं कि हमें सारे सत्य का ज्ञान है और उसे हम अपने पड़ौसी के गले में जबर-दस्ती उतार सकते हैं ? सम्भव है कि हम सचाई पर हों, और यह भी सम्भव है कि हमारा पड़ौसी भी सचाई पर हो। अगर तुम किसी पेड़ पर एक फूल देखो, तो उस फूल को तो पेड़ नहीं कहोगी। उसी तरह दूसरे आदमी ने उस दूसरे पेड़ की पत्तियाँ ही देखीं और तीसरे ने सिर्फ उसका तना ही देखा; तो हरेक ने उस पेड़ का सिर्फ एक-एक हिस्सा ही देखा है। लेकिन उनमेंसे हरेक के लिए यह कितनी बेवकूफी की बात होगी, कि वह यह दावा करने लगे कि सिर्फ़ फूल, पत्ती या तना ही पेड़ है, और इसी बात पर लड़ने लगें !

मुझे तो परलोक में कोई दिलचस्पी नहीं है। मेरा दिमाग़ तो इन बातों से भरा हुआ है कि मैं इस दुनिया में क्या करूँ। और अगर इसमें मुझे अपना रास्ता साफ़ दिखाई दे जाय तो मेरे लिए काफ़ी है। अगर इस लोक में मुझे अपना कर्त्तव्य साफ़-साफ़ दीख जाता है, तो मुझे किसी दूसरे लोक की बिलकुल चिन्ता नहीं है।

ज्यों-ज्यों तुम बड़ी होती जाओगी, तुम्हें हर तरह के लोग मिलेंगे; धार्मिक लोग, धर्म का विरोध करनेवाले लोग और ऐसे लोग जिन्हें न धर्म की परवाह है और न अधर्म की। बड़े-बड़े गिरजे और धार्मिक संस्थाएं पड़ी हैं, जिनके पास बहुत धन और शक्ति है। वे उनका कभी अच्छा उपयोग करते हैं और कभी बुरा। तुम्हें बहुत नेक और उदार व्यक्ति मिलेंगे जो धार्मिक हैं और ऐसे धूर्त और बद-माश मिलेंगे जो धर्म की आड़ में लोगों को लूटते हैं और धोखा देते हैं। तुम्हें इन सब बातों पर खुद सोचना होगा और अपने लिए खुद ही निर्णय करना होगा। आदमी दूसरों से बहुत-कुछ सीख सकता है, लेकिन हर जरूरी बात उसे अपनी ही खोज और अपने ही अनुभव से प्राप्त करनी पड़ती है। कुछ सवाल ऐसे हैं जिनके उत्तर हर स्त्री-पुरुष को खुद अपने ही आप तलाश करने पड़ते हैं।

लेकिन निर्णय करने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। किसी भी बड़े या महत्वपूर्ण निश्चय पर पहुँचने से पहले तुम्हें अपने-आपको अभ्यास और शिक्षा के जरिये इस योग्य बनाना होगा। यह ठीक है कि आदमी को खुद ही सोचना चाहिए और निश्चय करना चाहिए; लेकिन इसके लिए उसमें उतनी ही योग्यता भी

होनी चाहिए। तुम किसी दुधमुंहे बच्चे से किसी बात का निर्णय करने के लिए कभी नहीं कहोगी! इसी तरह बहुत-से आदमी ऐसे हैं जो उम्र में तो बड़े हो गये हैं, लेकिन जहांतक उनके मानसिक विकास का सवाल है वे क़रीब-क़रीब दुधमुंहे बच्चों के समान हैं।

मेरा पत्र आज साधारण से कुछ ज्यादा लम्बा हो गया। सम्भव है, तुम्हें यह नीरस लगे। लेकिन इस विषय में मैं कुछ कहना ही चाहता था। अगर आज कोई बात तुम्हारी समझ में न आये तो कोई बात नहीं, जल्दी ही तुम सब बातें समझने लगोगी।

: १५ :

## ईरान और यूनान

२१ जनवरी, १९३१

आज तुम्हारा पत्र आया और यह जानकर खुशी हुई कि मम्मी और तुम अच्छी तरह हो। मैं मनाता हूँ कि दादू का बुखार उतर जाय और उनकी परेशानियां दूर हो जायँ। उन्होंने सारी जिन्दगी बहुत कड़ी मेहनत की है और आज भी उन्हें आराम और शान्ति नहीं मिल पाती है।

मालूम होता है, तुमने पुस्तकालय से लेकर कई पुस्तकें पढ़ डाली हैं और चाहती हो कि मैं दो-चार नाम और सुझा दूं। लेकिन तुमने यह नहीं बताया कि तुमने कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ी हैं। पढ़ने की आदत बहुत अच्छी है, लेकिन जो लोग बहुत-सी पुस्तकें जल्द-जल्द पढ़ डालते हैं उन्हें मैं ज़रा सन्देह की नजर से देखता हूँ। मुझे शक होने लगता है कि ये लोग पुस्तकें ठीक तौर से नहीं पढ़ते। सिर्फ़ उनपर सरसरी नजर डाल जाते हैं और फिर दूसरे दिन सबकुछ भूल जाते हैं। अगर कोई पुस्तक पढ़ने के योग्य है तो उसे सावधानी से और अच्छी तरह पूरी-पूरी पढ़नी चाहिए। लेकिन बहुत-सी पुस्तकें ऐसी हैं जो पढ़ने के लायक़ ही नहीं हैं। अच्छी पुस्तकों का चुनना कोई आसान काम नहीं है। तुम कह सकती हो कि तुमने जब हमारी अपनी लाइब्रेरी से पुस्तकें चुनी हैं तो वे जरूर अच्छी होंगी, वरना हम उन्हें मंगाते ही क्यों? खैर, अभी तो पढ़ती रहो। नैनी-जेल से जो कुछ मदद मैं कर सकता हूँ, करता रहूँगा। कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि तुम्हारा शारीरिक और मानसिक विकास कितनी तेजी के साथ हो रहा है। मेरी कितनी इच्छा है कि मैं तुम्हारे पास होता! शायद जबतक ये चिट्ठियां तुम्हारे पास तक पहुँचेंगी, तुम इतनी आगे बढ़ जाओगी कि तुम्हें इनकी जरूरत ही न रहे। मैं समझता हूँ कि उस वक्त तक चांद[1] इनको पढ़ने के योग्य हो जायगी और इस

[1] इन्दिरा की छोटी फुफेरी बहन चन्द्रलेखा पण्डित।

ईरानी और यूनानी राज्य
भारत
सिंधु
पार्थिया
ईरान
मीडिया
सूसा
टाइग्रिस
युफ्रेटीस
अरब
सीरिया
लीडिया
सार्डिस
मिस्र
डेन्यूब
मेरेथन
ऐथेन्स
(दारा के साम्राज्य की सीमा)
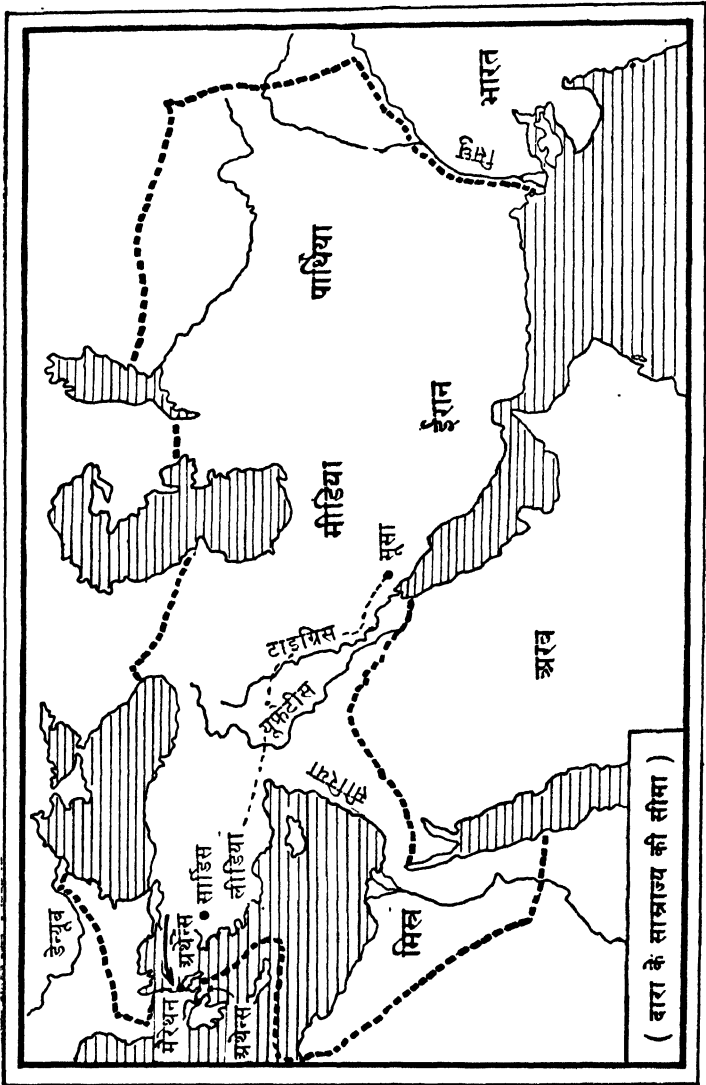
तरह कोई-न-कोई तो ऐसा रहेगा ही जो इनकी क़द्र करे।

आओ, अब हम प्राचीन ईरान और यूनान को लौट चलें और थोड़ी देर के लिए उनकी आपस की लड़ाइयों पर विचार करें। अपने पिछले एक पत्र में हमने यूनान के नगर-राज्यों और ईरान के उस बड़े साम्राज्य का जिक्र किया था, जिसके सम्राट दारा को यूनानी लोग दारयवहु (डेरियस) कहते हैं। दारा का यह साम्राज्य बहुत बड़ा था—खाली विस्तार में ही नहीं बल्कि संगठन में भी। ठेठ एशिया-कोचक से लगाकर सिन्ध नदी तक यह फैला हुआ था। मिस्र और एशिया-कोचक के कुछ यूनानी शहर भी इसमें शामिल थे। इस लम्बे-चौड़े साम्राज्य में एक छोर से दूसरे छोर तक अच्छी-अच्छी सड़कें बनी हुई थीं, जिनपर शाही डाक बराबर चलती रहती थी। दारा ने किसी-न-किसी वजह से यूनान के नगर-राज्यों को जीतने का निश्चय किया और इस महायुद्ध की कई लड़ाइयां इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हैं। इन लड़ाइयों का जो कुछ वर्णन हमें मिलता है, वह यूनान के इतिहास-लेखक हिरोदोत का लिखा हुआ है। वह इन घटनाओं के थोड़े ही दिन बाद पैदा हुआ था। उसने यूनानियों के साथ पक्षपात जरूर किया है, लेकिन उसका विवरण बहुत दिलचस्प है और इन पत्रों में मैं तुम्हारे लिए उसके लिखे इतिहास के कुछ हिस्से जरूर देना चाहूँगा।

यूनान पर ईरानियों का पहला हमला असफल रहा, क्योंकि ईरानियों की फ़ौज को, कूच के रास्ते में बीमारी और रसद की कमी की वजह से बहुत-सी मुसीबतें उठानी पड़ीं। वह यूनान तक पहुँच भी न सकी और उसे वापस लौट आना पड़ा। इसके बाद ईसा से ४९० वर्ष पहले ईरानियों का दूसरा हमला हुआ। इस बार ईरानी सेना खुश्की का रास्ता छोड़कर समुद्री रास्ते से आई और एथेन्स के नजदीक मैरैथन पर उसने अपना लंगर डाला। एथेन्स के निवासी इससे बहुत घबड़ा गये, क्योंकि ईरानी साम्राज्य की ताक़त उन दिनों बहुत ज्यादा बढ़ी-चढ़ी थी। उन्होंने डरकर अपने पुराने दुश्मन स्पार्तावालों से सुलह करनी चाही और दोनों के दुश्मन के विरुद्ध उनसे मदद मांगी। लेकिन स्पार्तावालों के पहुँचने के पहले ही एथेन्सवालों ने ईरानी सेना को मार भगाया। यही मैरैथन की प्रसिद्ध लड़ाई है जो कि ईसा से ४९० वर्ष पहले हुई थी।

यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है कि एक छोटा-सा यूनानी नगर-राज्य एक बड़े साम्राज्य की सेना को हरा दे। लेकिन यह जितनी आश्चर्यजनक मालूम पड़ती है उतनी है नहीं। यूनानी लोग जहां अपने घर के निकट अपने वतन के लिए लड़ रहे थे, वहां ईरानी सेना अपने वतन से बहुत दूर थी और फिर वह साम्राज्य-भर के दूर-दूर के हिस्सों के सैनिकों से बनी हुई थी। वे लोग लड़ते जरूर थे, लेकिन इसलिए कि उन्हें तनख्वाहें मिलती थीं। यूनान को जीतने में उनको

कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। दूसरी तरफ़ एथेन्सवाले अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहे थे। उन्हें अपनी आज़ादी खो देने से मर जाना कहीं ज्यादा पसन्द था। और जो लोग किसी उद्देश्य के लिए मरने को तैयार रहते हैं, वे शायद ही कभी हराये जा सकते हैं।

इस तरह दारा मैरैथन में हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया और उसकी जगह अहस्युर तख़्त पर बैठा। उसे भी यूनान फ़तह करने की धुन सवार थी और उसने वहां भेजने के लिए एक सेना तैयार की। यहां मैं तुम्हें हिरोदोत का बयान किया हुआ दिलचस्प हाल सुनाऊँगा।

अर्तवानुस अहस्युर का चाचा था। उसका ख़याल था कि ईरानी सेना को यूनान ले जाने में ख़तरा है, इसलिए उसने अपने भतीजे अहस्युर को यह समझाने की कोशिश की कि वह यूनान से लड़ाई न छेड़े। हिरोदोत का कहना है कि अहस्यर ने उसे नीचे लिखा जवाब दिया—

"जो कुछ आप कहते हैं उसमें कुछ सचाई तो है, लेकिन आपको हर जगह ख़तरे का डर न करना चाहिए और न हरेक जोखिम का ख़याल ही करना चाहिए। अगर हर हालत में आप हरेक बात को एक ही तराज़ू से तौलेंगे तो कुछ भी न कर पावेंगे। भावी आशंकाओं में डूबे रहने और कभी कोई तकलीफ न उठाने के बजाय आशावादी होकर आधी आपदाओं को सह लेना कहीं अच्छा है। आप पेश की गई हर तजवीज़ पर एतराज़ तो करेंगे, लेकिन यह न बतलायेंगे कि कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए, तो आपको उतना ही ज्यादा नुकसान उठाना होगा, जितना कि उन लोगों को, जिनका आप विरोध कर रहे हैं। तराज़ू के दोनों पलड़े बराबर हैं। कोई मानव निश्चयपूर्वक यह कैसे जान सकता है कि कौन-सा पलड़ा झुकेगा? वह नहीं जान सकता। लेकिन सफलता आमतौर पर उन्हीं लोगों के साथ रहती है जो कुछ कर दिखाना चाहते हैं; उनके साथ नहीं जो डरपोक होते हैं और हर बात को तौलते हैं। ईरान की सल्तनत कितनी बड़ी और ताक़तवर हो गई है यह आप देखते हैं। अगर राजगद्दी पर मेरे पूर्वाधिकारी आप ही की राय के होते या उस राय को न मानते हुए भी आप जैसे उनके सलाहकार होते, तो आज हमारी सल्तनत को आप इतनी बड़ी-चढ़ी कभी न देख पाते। जोखिमें उठाकर ही उन लोगों ने हम लोगों की आज यह शान बना दी है। बड़ी चीज बड़े ख़तरे उठाकर ही हासिल की जा सकती है।"

मैंने यह लम्बा उद्धहरण इसलिए दिया है कि उससे इस ईरानी बादशाह का चरित्र जितना स्पष्ट हमारे सामने आ जाता है, उतना किसी दूसरे वर्णन से नहीं। लेकिन बाद की घटनाओं ने अर्तवानुस की सलाह ठीक सिद्ध कर दी और ईरानी सेना यूनान में हार गई। अहस्युर हार जरूर गया, लेकिन उसके शब्दों में जो

सचाई थी उसकी गूंज अभी तक सुनाई देती है और उससे हम सबको शिक्षा मिलती है। आज जब हम बड़ी-बड़ी चीजें प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं तो हमें यह याद रखना चाहिए कि अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए हमको भी बड़े-बड़े खतरों के बीच से गुज़रना पड़ेगा।

शहंशाह अहस्युर अपनी बड़ी सेना लेकर एशिया-कोचक पार कर गया और दर्रे-दानियाल से, जो उस वक्त हैलैस्पोण्ट कहलाता था, उतरकर यूरोप पहुंचा। कहते हैं, रास्ते में अहस्युर ट्राय नगर के उन खंडहरों को देखने गया था, जहां यूनान के शूरवीरों ने पुराने ज़माने में हेलन के लिए लड़ाई लड़ी थी। फ़ौज को उस पार भेजने के लिए दर्रे-दानियाल के ऊपर एक बड़ा पुल बनाया गया, और जब ईरान की सेना पार उतर रही थी तो पास की एक पहाड़ी की चोटी पर संगमरमर के तख़्त पर बैठकर अहस्युर ने उसपर नज़र डाली।

"और", हिरोदोत ने लिखा है, "सारे दर्रे को जहाज़ों से भरा हुआ देखकर और एबीदोस के समुद्री किनारों और मैदानों को आदमियों से खचाखच भरा पाकर पहले तो अहस्युर ने अपनेको धन्य माना और फिर वह रोने लगा। उसके चाचा अर्तवानुस ने, जिसने कि पहले यूनानियों पर चढ़ाई करने का खुला विरोध किया था, जब अहस्युर को रोता हुआ देखा तो उसने पूछा, 'बादशाह, तू जो कुछ अभी कर रहा है और जो कुछ कर चुका, इन दोनों में कितना फ़र्क़ है! अभी तो तूने अपनेको धन्य माना था और अब तू आंसू गिरा रहा है।' अहस्युर ने जवाब दिया, 'तुम्हारा कहना ठीक है, लेकिन जब मैं हिसाब लगा चुका तो, यह देखकर कि इस भारी भीड़ में से सौ साल के बाद एक भी जिन्दा न रहेगा, मेरा हृदय इस विचार पर करुणा से भर गया कि इन्सान की जिन्दगी कितनी थोड़े दिनों की होती है।"

इस तरह यह बड़ी सेना खुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाज़ी बेड़ा समुद्र के रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियों का साथ दिया और एक बड़े तूफ़ान ने ईरानियों के बहुत-से जहाज़ नष्ट कर दिये। यूनानी लोग ईरान की बड़ी भारी फ़ौज देखकर डर गये थे; इसलिए उन्होंने फ़ौरन अपने आपसी झगड़ों को भुला दिया और हमला करनेवालों के विरुद्ध एक हो गये। यूनानी लोग पीछे हटते गये और थर्मापोली नामक जगह पर उन्होंने ईरानियों को रोकने की कोशिश की। थर्मापोली एक बहुत तंग रास्ता था, उसके एक तरफ़ पहाड़ था और दूसरी तरफ़ समुद्र, जिससे यहां थोड़े-से आदमी भी दुश्मन की बड़ी फ़ौज से मोरचा ले सकते थे। तीन सौ स्पार्ता-निवासियों के साथ लियोनीदस को मरते दम तक इस दर्रे की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया। मैरेथैन की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद, भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरों ने अपने देश की बड़ी खूबी से

सेना की। उन्होंने ईरानियों की फौज को रोक दिया और यूनान की बाक़ी सेना पीछे हटती गई। इस तंग घाटी में एक के बाद दूसरा योद्धा काम आता था, लेकिन जैसे ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नहीं बढ़ सकी। लियोनीदस और उसके तीन सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापोली में काम आ चुके तब कहीं ईरानी सेना आगे बढ़ पाई। यह बात ईसा के ४८० वर्ष पूर्व की है, यानी आज से २४१० वर्ष पहले की। मगर आज भी इन लोगों के अदम्य साहस की याद से हृदय में बिजली की-सी लहर दौड़ जाती है। आज भी थर्मापोली की यात्रा करनेवाले डबडबाती हुई आँखों से लियोनीदस और उसके साथियों के सन्देश को पत्थर पर खुदा हुआ पढ़ सकते हैं। सन्देश यह है :

"ओ राहगीर! स्पार्टा को जाकर बताना कि उसकी आज्ञा का पालन करनेवाले हम लोगों ने यहाँ अपने प्राण दे दिये।"[1]

मौत पर विजय पानेवाली हिम्मत अद्भुत होती है! लियोनीदस और थर्मापोली अमर हो गये, और उससे दूर भारत में भी जब हम लोग इनकी याद करते हैं तो रोमांच हो आता है। तब फिर यह कहना कठिन है कि हमारी भावनाएं अपने उन देशवासियों, अपने पूर्वजों यानी भारत के उन नर-नारियों के प्रति क्या हैं जिनसे हमारा लम्बा इतिहास भरा पड़ा है कि जिन्होंने मुस्कराते हुए मौत का सामना किया और उसकी खिल्ली उड़ाई; मौत को अपमान और गुलामी से ज्यादा अच्छा समझा और ज़ुल्म के सामने सिर झुकाने के बजाय उसको मिटाने के प्रयत्न में मर जाना ज्यादा अच्छा माना। चित्तौड़ और उसकी अनुपम कहानी का, राजपूत वीरों और वीरांगनाओं की आश्चर्यजनक बहादुरी का ज़रा विचार तो करो! फिर आजकल के जमाने पर भी नजर डालो और हमारे उन साथियों का विचार करो जिनका खून हमारे खून की ही तरह गर्म है और जिन्होंने भारत की आजादी के लिए मौत का सामना करने से भी मुँह नहीं मोड़ा है।

थर्मापोली ने ईरानी सेना को थोड़ी देर के लिए रोक जरूर लिया, लेकिन बहुत दिन तक नहीं। यूनानी लोग ईरानी सेना के मुकाबले में पीछे हटते गये और कुछ यूनानी शहरों ने उनके आगे हथियार भी डाल दिये। लेकिन गर्वीले एथेन्सवासियों ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायं। इसलिए सारी जनता शहर को खाली करके चली गई और ज्यादातर लोग जहाजों में बैठकर गये। ईरानी लोगों ने इस उजड़े हुए नगर में घुसकर उसे आग लगा दी। मगर यूनानी जल-सेना

[1] Go tell to Sparta thou that passest by,
That here obedient to their words we lie.

अभी तक हारी नहीं थी। इसलिए 'सैलेमिस'[1] टापू के पास बहुत बड़ी लड़ाई हुई। ईरानी जहाज नष्ट कर दिये गए और इस तबाही से बिलकुल हिम्मत हारकर अहस्युर ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ दिनों तक एक बड़ा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथन और सैलेमिस की लड़ाई के बाद उसके पतन की शुरूआत हो गई थी। यह कैसे नष्ट हुआ, इसपर हम फिर विचार करेंगे। उस जमाने में जो लोग रहे होंगे, उन्हें इस बड़े साम्राज्य को लड़खड़ाकर गिरते देखकर जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हिरोदोत ने इसपर विचार किया और उससे एक नसीहत निकाली। उसका कहना है कि किसी भी राष्ट्र के इतिहास की तीन मंजिलें होती हैं : पहले सफलता; फिर उस सफलता के फलस्वरूप अन्याय और उद्दण्डता; और अन्त में इन बुराइयों के फलस्वरूप, पतन।

## : १६ :

# यूनान का वैभव

२३ जनवरी, १९३१

ईरानियों पर या यूनानियों की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और कमजोर होता गया। दूसरी तरफ़ यूनानी लोगों ने अपने इतिहास के शानदार युग में क़दम रक्खा। राष्ट्र के जीवन में यह शान बहुत थोड़े दिन तक ही रही। कुल मिलाकर २०० वर्ष से ज्यादा नहीं ठहरी। उसका यह वैभव ईरान के या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यों के जैसा नहीं था। बाद में महान् सिकन्दर पैदा हुआ और उसने कुछ दिनों के लिए अपनी देश-विजयों से दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया। लेकिन इस समय हम उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम तो ईरान की लड़ाइयों और सिकन्दर के आगमन के बीच के जमाने का जिक्र कर रहे हैं—उस जमाने का, जो थर्मापोली और सैलेमिस के बाद १५० वर्ष तक रहा।

ईरान के ख़तरे ने सारे यूनानियों को एक कर दिया था। लेकिन जब यह ख़तरा हट गया तो उनमें फिर फूट पैदा हो गई और वे कुछ ही दिनों बाद आपस में झगड़ने लगे। ख़ासकर एथेन्स और स्पार्ता के नगर-राज्य एक-दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। लेकिन हम उनके झगड़ों की चर्चा की झंझट में नहीं पड़ेंगे। उनका

[1] सैलेमिस—यूनान का प्रसिद्ध टापू। ५८० ई० पूर्व में इसके पास यूनानी और ईरानी जल-सेना की प्रसिद्ध लड़ाई हुई, जीत [illegible]

कोई महत्व नहीं है। हम सिर्फ़ इसलिए उनकी याद करते हैं कि उन दिनों दूसरी बातों में यूनान की महानता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी।

यूनान के उस जमाने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ़ थोड़ी-सी पुस्तकें, कुछ मूर्तियां और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते हैं। लेकिन ये थोड़ी-सी चीजें भी ऐसी हैं कि उन्हें देखकर हमारा दिल प्रशंसा से भर जाता है और यूनानी लोगों की अनेकांगी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्तियों और इमारतों को बनानेवाले इनके दिमाग़ कितने धनी और हाथ कितने कुशल रहे होंगे। फीदियास उस जमाने का मशहूर मूर्त्तिकार था, लेकिन मशहूर और भी बहुत-से थे। इनके दुःखान्त और सुखान्त नाटक, अभी तक इस ढंग के सबसे उत्तम नाटकों में गिने जाते हैं। इस वक़्त तो तुम्हारे लिए सोफोक्ले,[१] एस्किल,[२] यूरिपिदे,[३] एरिस्तोफेन,[४] मैनेन्दर,[५] पिन्दार,[६]

---

[१]सोफ़ोक्ले—यूनान का प्रसिद्ध दुःखान्त नाटककार और कवि। इसका समय ४९५ से ४०५ ई० पू० है। ४६८ ई० पू० में इसने अपने प्रतिद्वन्द्वी एस्किल को हराकर इनाम पाया। तबसे ४९१ ई० पू० तक वह यूनान का कवि-सम्राट् रहा।

[२]एस्किल—एक प्रसिद्ध यूनानी नाटककार। इसका जन्म ईसा से ५२५ साल पहले हुआ था। मैरेथन, सैलेमिस और लिटिपो की लड़ाइयों में इसने हिस्सा लिया और दो बार इसे अपने दो नाटकों पर, दुःखान्त नाटक पर दिया जानेवाला सर्वोत्तम पुरस्कार मिला। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दुःखान्त नाटक लिखे, जिनमें ७ अब भी मौजूद हैं। करीब ७० बरस की उम्र में उसकी मृत्यु हुई।

[३]यूरीपिदे—यूनान का प्रसिद्ध दुःखान्त नाटककार और कवि। इसका जन्म ईसा से ४८० वर्ष पूर्व हुआ था। यह नाटकों में आदर्श के बजाय वास्तविकता के वर्णन पर ज़ोर देता था। इसे अपने नाटकों पर इनाम मिला था। इसकी कविता बड़ी अच्छी है। यह उस समय के धर्म का मज़ाक उड़ाया करता था।

[४]एरिस्तोफ़ेन—यह एथेन्स का प्रसिद्ध हँसोड़ कवि और नाटककार था। इसका समय क़रीब ४४५ से ३८० ईसा से पहले तक का है। इसके सुखान्त नाटकों से उस जमाने की बहुत-सी बातों का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यंग चित्रों से उस समय के प्रधान व्यक्तियों का व्यक्तित्व आंखों के सामने खिंच जाता है।

[५]मैनेन्दर—यूनान के एथेन्स नगर-राज्य का सुखान्त नाटकों का प्रसिद्ध नाटककार और कवि। ई० पू० ३४२ में इसका जन्म हुआ और २९१ ई० पू० में पाइरियस के बन्दरगाह के पास के समुद्र में तैरता हुआ डूब गया।

[६]पिन्दार—यूनान के गीत-काव्य का सर्वोत्तम कवि। क़रीब ई० पू० ५५२

सैफ़ो,[1] और कुछ दूसरों के सिर्फ़ नाम ही दिये जा सकते हैं। लेकिन बड़ी होने पर तुम उनकी रचनाएं पढ़ोगी और मुझे आशा है कि तब तुम उस वैभव का, जो उस समय यूनान का था, कुछ अन्दाज लगा सकोगी।

यूनानी इतिहास का यह काल हमें यह चेतावनी देता है कि किसी देश के इतिहास को हमें किस तरह पढ़ना चाहिए। अगर हम यूनानी राज्यों में होनेवाली टुच्ची लड़ाइयों और ओछेपन की दूसरी बातों पर ही ध्यान देते रहें तो हमें यूनानियों के बारे में क्या मालूम हो सकता है ? अगर हम उनको समझना चाहते हैं, तो हमें उनके विचारों की तह तक पहुंचना पड़ेगा और समझना होगा कि वे क्या महसूस करते थे और उन्होंने क्या-क्या किया है ? असली महत्व की चीज तो किसी देश का आन्तरिक इतिहास होता है और यही वह चीज है, जिसने मौजूदा यूरोप को बहुत-सी बातों में पुरानी यूनानी संस्कृति की सन्तान बना दिया है।

यह बात भी अजीब और दिल को लुभानेवाली बात है कि किस तरह राष्ट्रों की जिन्दगी में ऐसे शानदार युग आते हैं और चले जाते हैं। थोड़ी देर के लिए वे हरेक चीज को चमका देते हैं और उस जमाने और उस देश के पुरुषों और स्त्रियों में कलापूर्ण वस्तुएं रचने की योग्यता पैदा कर देते हैं। लोगों में नई प्रेरणा-सी दिखाई देने लगती है। हमारे देश में भी ऐसे युग हुए हैं। हमारे यहां इस तरह का सबसे पुराना युग, हमारी जानकारी में वह था, जब वेदों, उपनिषदों और दूसरे ग्रन्थों की रचना हुई। दुर्भाग्य से हमारे पास उस प्राचीन काल का कोई लिखित इतिहास नहीं है। सम्भव है, बहुत-सी सुन्दर और महान् रचनाएं नष्ट हो गई हों या खोजकर निकाले जाने की राह देख रही हों। लेकिन फिर भी हमारे पास यह बतलाने-योग्य काफ़ी सामग्री है, कि उस पुराने जमाने के भारतवासी बुद्धि और विचार के कितने धनी थे। बाद के भारतीय इतिहास में भी ऐसे ही शानदार युग पाये जाते हैं और संभव है युग-युगान्तर में घूमते-घामते शायद हमारी इनसे भी भेंट हो जाय।

एथेन्स उस जमाने में खास तौर से मशहूर हो गया था। उसका नेता एक महान् राजनीतिज्ञ था। इसका नाम पैरिक्ले था और यह ३० वर्ष तक एथेन्स में हुकूमत करता रहा। उस जमाने में एथेन्स बहुत शानदार शहर बन गया था। सुन्दर-सुन्दर इमारतों से वह भरपूर था और बड़े-बड़े कलाकार और विचारक

---

में इसका जन्म हुआ था। यूनानी राष्ट्रों और राजाओं में इसकी कविता की बड़ी मांग रहती थी। इसकी इपिस्सिया नामक कविता ही अब बाक़ी बची है, जो चार जिल्दों में है।

[1] सैफो—यूनान की प्रसिद्ध कवियित्री। यह ई० पू० ५८० में हुई। कविता, फ़ैशन और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी।

वहां रहते थे। आज भी वह पैरिक्ले का एथेन्स कहा जाता है और हम 'पैरिक्ले युग' की बात किया करते हैं।

हमारे इतिहासकार मित्र हिरोदोत ने, जो इन्हीं दिनों एथेन्स में रहता था, एथेन्स की इस उन्नति पर गौर किया था और चूंकि उसे नसीहत देने का शौक़ था, इसलिए उसने इसमें से एक नसीहत निकाली। अपने इतिहास में वह लिखता है :

"एथेन्स की शक्ति बढ़ी और यह इस बात का प्रमाण है—और ऐसे प्रमाण सब जगह मिल सकते हैं—कि स्वतन्त्रता एक अच्छी चीज है। जबतक एथेन्स-वासियों पर निरंकुश शासन होता था, वे युद्ध में अपने किसी भी पड़ोसी को मात नहीं दे सके। लेकिन जब उन्होंने अपने यहां के निरंकुश शासक को ख़तम कर डाला, तब उन्होंने अपने पड़ोसियों को मात दे दी। इससे जाहिर होता है कि अधीनता में वे मन लगाकर कोशिश नहीं करते थे, बल्कि मालिक का काम करते थे। लेकिन जब वे आजाद हो गये तो हरेक व्यक्ति अपने-आप बड़ी लगन के साथ भरसक काम करने लगा।"

मैंने उस समय के कुछ महान् व्यक्तियों के नाम गिनाये हैं। लेकिन मैंने अभी तक वह नाम नहीं बताया, जो उस युग के ही नहीं, बल्कि किसी भी युग के सबसे महान व्यक्तियों की गिनती में आता है। उसका नाम है सुकरात[1]। यह तत्वज्ञानी था और हमेशा सत्य की खोज में लगा रहता था। उसके लिए सच्चा ज्ञान ही ऐसी चीज थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था। वह अपने मित्रों और जान-पहचान के लोगों से अक्सर कठिन समस्याओं पर चर्चाएं किया करता था, ताकि वाद-विवाद में शायद कोई सचाई निकल आये। उसके कई शिष्य थे, जिनमें सबसे बड़ा अफ़लातून[2] था। अफ़लातून ने कई ग्रन्थ लिखे हैं, जो आज

---

[1]सुकरात—इसे सॉक्रेटीज भी कहते हैं। यह यूनान देश के एथेन्स नगर-राज्य का मशहूर वेदान्ती था। इसका जन्म ई० पू० ४७९ में हुआ था। ई० पू० ३९९ में उसपर नौजवानों को बिगाड़ने और दूसरे देवताओं में विश्वास करने का जुर्म लगाया गया। लेकिन यह तो बहाना था, असली कारण तो राजनैतिक था। उसे मौत की सजा दी गई, और जहर का प्याला उसके पास भेजा गया, जिसे वह खुशी से पी गया। आख़िरी दम तक वह अफलातून और अपने दूसरे शिष्यों से आत्मा की अमरता की चर्चा करता रहा। वह बड़ा विद्वान् था।

[2]अफ़लातून या प्लेटो—सुकरात का भक्त और शिष्य था। वह ई० पू० ४२७ में पैदा हुआ था और ई० पू० ३४७ में मर गया। उसने एथेन्स में एक विद्यालय स्थापित किया था जहां दर्शन और अध्यात्म की शिक्षा दी जाती थी। उसने राजनीति पर कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'रिपब्लिक' बहुत प्रसिद्ध है।

भी मिलते हैं। इन्हीं ग्रन्थों से हमें उसके गुरु सुकरात का कुछ-कुछ हाल मालूम होता है। यह तो साफ़ है कि सरकारें ऐसे आदमियों को पसन्द नहीं किया करतीं, जो हमेशा नई-नई खोजों में लगे रहते हों—वे सत्य की तलाश पसन्द नहीं करतीं। एथेन्स की सरकार को—यह पेरिक्ले के जमाने में थोड़े दिन बाद की बात है—सुक़रात का रंग-ढंग पसन्द नहीं आया। उसने सुकरात पर मुकदमा चलाया और उसे मौत की सजा दे दी गई। सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगों से वाद-विवाद करना छोड़ दे और अपना तरीका बदल दे तो उसे छोड़ दिया जायगा। लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और जिस बात को अपना कर्त्तव्य समझता था, उसे छोड़ने के बजाय उसने जहर के प्याले को अच्छा समझा, जिसे पीकर वह मर गया। मरते समय उसने अपने ऊपर अभियोग लगानेवालों, न्यायाधीशों और एथेन्सवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा :

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हों कि मैं सत्य की अपनी खोज को छोड़ दूं, तो मैं कहूंगा कि ऐ एथेन्सवासियो ! मैं आप लोगों को धन्यवाद देता हूं, पर मैं आपकी बात मानने के बजाय ईश्वर का हुक्म मानूंगा, जिसने, जैसा कि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौंपा है, और जबतक मेरे दम-में-दम हैं, मैं अपनी दार्शनिक लगन को नहीं छोड़ूंगा। मैं अपना यह व्यवहार बराबर जारी रक्खूंगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उसे रोककर मैं यही पूछूंगा—'क्या तुम्हें इस बात में शर्म नहीं लगती कि तुमने अपना मन धन और प्रतिष्ठा के पीछे लगा रक्खा है और ज्ञान या सत्य की या अपनी आत्मा को सुधारने की तुम्हें कोई चिन्ता नहीं है ?' मैं नहीं जानता कि मौत क्या चीज़ है। वह अच्छी चीज़ हो सकती है, पर मैं उससे नहीं डरता। लेकिन मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि अपनी जिम्मेदारी की जगह छोड़कर भाग जाना बुरा काम है। और इसलिए मैं जिस चीज़ को बुरी मानता हूं, उससे उस चीज़ को ज्यादा पसंद करता हूं, जो अच्छी हो।"

अपने जीवन में सुकरात ने सत्य और ज्ञान के पक्ष का समर्थन किया। लेकिन अपनी मौत के द्वारा उसने और भी अच्छी तरह यह काम कर दिखाया।

आजकल तुम अक्सर समाजवाद और पूंजीवाद और अनेक दूसरी समस्याओं के बारे में होनेवाली चर्चाओं और विवादों को पढ़ा या सुना करती होगी। दुनिया में बहुत मुसीबतें और अन्याय पाये जाते हैं। बहुत-से लोग इस दशा से पूरी तरह असन्तुष्ट हैं और इसे बदलना चाहते हैं। अफ़लातून ने भी शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया था और इस विषय पर उसने लिखा भी है। इस प्रकार उस जमाने में भी लोग विचार किया करते थे कि किसी देश के समाज को या सरकार को कैसे ढाला जाय जिससे चारों ओर ज्यादा सुख-शान्ति हो।

जब अफ़लातून बूढ़ा होने लगा, तो एक दूसरा यूनानी, जो बाद को बहुत

मशहूर हो गया, आगे आया। उसका नाम था अरस्तू[1]। वह महान् सिकन्दर का निजी शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम में बहुत मदद की थी। सुकरात और अफ़लातून की तरह अरस्तू तत्वज्ञान की समस्याओं में नहीं उलझता था। वह ज़्यादातर प्रकृति की चीजों के निरीक्षण और उसके तौर-तरीक़ों को समझने में लगा रहता था। इसको प्रकृति-दर्शन या आजकल ज्यादातर विज्ञान कहते हैं। इस तरह अरस्तू को शुरू का एक वैज्ञानिक मान सकते हैं।

अब हमें अरस्तू के शिष्य महान् सिकन्दर पर आजाना चाहिए और उसके तेजी से दौड़नेवाले जीवन पर नजर डालनी चाहिए। लेकिन यह कल होगा। आज मैंने बहुत काफ़ी लिख डाला है।

आज बसन्त पंचमी है—बसन्त की शुरूआत है। सर्दी का बहुत थोड़े दिन वाला मौसम बीत चुका है और हवा का तीखापन जाता रहा है। चिड़ियाँ अब ज़्यादा संख्या में आने लगी हैं और अपने गीतों से सारे दिन को गुंजान रखती हैं। और आज से ठीक पन्द्रह वर्ष पहले, आज ही के दिन, दिल्ली शहर में, तुम्हारी मम्मी के साथ मेरी शादी हुई थी।

: १७ :

# मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक

२४ जनवरी, १९३१

अपने पिछले पत्र में, और उसके पहले भी मैंने तुम्हें अलक्सान्दर या सिकन्दर महान् के बारे में कुछ लिखा था। मेरा ख़याल है कि मैंने उसे यूनानी बताया है। लेकिन ऐसा कहना एकदम सही न होगा। असल में वह मक़दूनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर में है। मक़दूनियावाले कई बातों में यूनानियों जैसे थे। उन्हें तुम यूनानियों के चचेरे भाई कह सकती हो। सिकन्दर का पिता फिलिप मक़दूनिया का बादशाह था। वह बहुत क़ाबिल था। उसने अपने छोटे-से राज्य को बहुत मजबूत बना लिया था और एक बहुत होशियार सेना संगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान' कहलाता है और इतिहास में बहुत

---

**[1]अरस्तू—यह अरिस्टाटल भी कहलाता है। यह एक प्रसिद्ध यूनानी तत्त्व-वेत्ता था। इसका जन्म ईसा से ३८४ साल पहले हुआ था। यह प्रसिद्ध दार्शनिक अफ़लातून का शिष्य और सिकन्दर महान् का गुरु था। इसमें असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता थी और पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थी को उसके ग्रन्थ अब भी लाज़मी तौर पर पढ़ने पड़ते हैं। उसका 'पालिटिक्स' नामक ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है।**

सिकन्दर का साम्राज्य
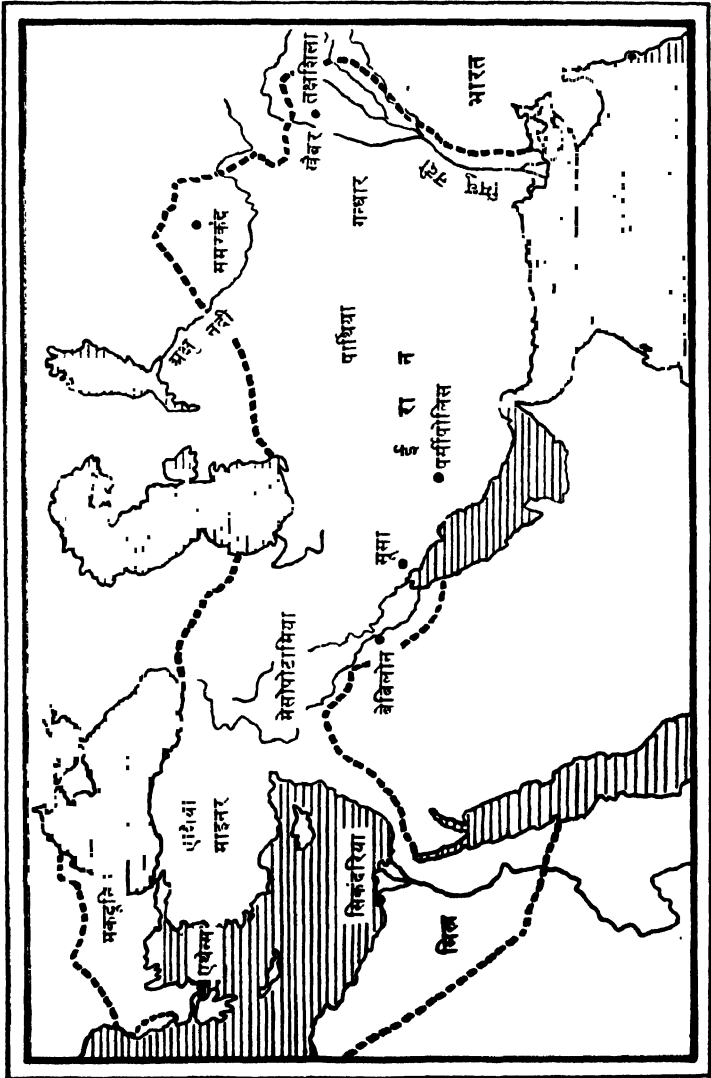
मशहूर है। लेकिन उसने जो किया वह बहुत-कुछ इसलिए संभव हुआ कि उसके पिता ने पहले ही से उसके लिए जमीन तैयार कर दी थी। सिकन्दर वास्तव में महान् व्यक्ति था या नहीं, यह कहना मुश्किल है। कम-से-कम मेरे लिए वह अनुकरण करने लायक़ वीर नहीं है। लेकिन थोड़ी-सी जिन्दगी में उसने दो महाद्वीपों पर अपने नाम की छाप डाल दी और इतिहास में वह पहला विश्व-विजयी माना जाता है। दूर मध्य-एशिया के भीतर के देशों में सिकन्दर के नाम से वह अभी तक मशहूर है। असल में वह चाहे जो कुछ रहा हो, पर इतिहास उसके नाम को चमकदार बनाने में सफल रहा है। बीसियों शहर उसके नाम पर बसाये गए, जिनमें से बहुत-से आज तक भी मौजूद हैं। इनमें सबसे बड़ा शहर मिस्र का सिकन्दरिया है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ तब उसकी उम्र सिर्फ़ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने के हौसले से उसका दिल इतना भरा हुआ था कि वह अपने पिता की तैयार की हुई सुसंगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए बेताब था। यूनानी लोग न तो फिलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को, लेकिन उनके बल को देखकर वे लोग कुछ दब-से गये थे। इसलिए सब यूनानियों ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति पहले फिलिप को, और बाद में सिकन्दर को, मान लिया था। इस तरह उन्होंने उदय होनेवाली इस नई शक्ति के सामने सिर झुका दिया था। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर के खिलाफ़ विद्रोह किया और सिकन्दर ने बड़ी क्रूरता और निर्दयता के साथ आक्रमण करके उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारतें ढहा दीं, बहुत-से नगर-निवासियों की हत्या कर डाली और हजारों को गुलाम बनाकर बेंच दिया। इस क्रूर बर्ताव से उसने यूनान को आतंकित कर दिया। सिकन्दर के जीवन में बर्बरता की यह और इसी तरह की दूसरी घटनाओं की वजह से वह हमारी नजरों में प्रशंसा के योग्य नहीं रह जाता। इन घटनाओं से हमको विरक्ति और घृणा होती है।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो अहस्युर का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। बाद में उसने ईरान पर फिर हमला किया और दारा को दूसरी बार हराया। शहंशाह दारा के विशाल महल को उसने यह कहकर तहस-नहस कर दिया कि अहस्युर ने एथेन्स को जलाया था, उसीका यह बदला है।

फ़ारसी भाषा की एक पुरानी किताब है जो फ़िरदौसी नामक कवि ने लगभग एक हजार वर्ष हुए लिखी थी। इसे 'शाहनामा' कहते हैं और यह ईरान के बादशाहों का एक सिलसिलेवार इतिहास है। इसमें दारा और सिकन्दर की लड़ाइयों का

बहुत काल्पनिक ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि सिकन्दर से हार जाने पर दारा ने भारत से मदद माँगी। 'हवा जैसी तेज गति से चलनेवाला एक ऊँट-सवार' उसने फ़ूर या पुरु के पास भेजा, जो उस समय भारत के उत्तर-पश्चिम में एक राजा था। लेकिन पुरु उसकी ज़रा भी मदद न कर सका। थोड़े दिनों बाद पुरु को ही सिकन्दर के हमले का सामना करना पड़ा। फ़िरदौसी के इस शाहनामे में दिलचस्प बात यह है कि उसमें भारत की तलवारों और कटारों का ईरान के बादशाह और सरदारों द्वारा इस्तेमाल किये जाने के बहुत प्रसंग पाये जाते हैं। इससे पता चलता है कि सिकन्दर के जमाने में भी भारत में बढ़िया फ़ौलाद की तलवारें बनती थीं, जिनकी विदेशों में बड़ी मांग थी।

सिकन्दर ईरान से आगे चलता गया। उस इलाके को, जहां आज हिरात, काबुल और समरक़न्द हैं, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी के उत्तरी कांठे तक पहुंच गया। वहींपर उसकी उस भारतीय राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले उसका मुक़ाबला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम यूनानी ढंग से पोरस बताते हैं। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम नहीं जानते कि वह क्या था।[1] कहते हैं कि पुरु ने बड़ी बहादुरी से मुकाबला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए आसान नहीं हुआ। कहते हैं कि वह बहुत लम्बा और बड़ा शूरवीर था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पड़ा कि उसे हराने के बाद भी उसने पुरु को अपनी रियासत का अधिकारी बना रहने दिया। लेकिन अब वह राजा पुरु के बजाय यूनानियों के अधीन एक क्षत्रप यानी गवर्नर रह गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम में खैबर दर्रे को पार करके रावलपिंडी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला[2] होकर भारत में घुसा। आज भी तुम्हें इस प्राचीन शहर के खंडहर देखने को मिल सकते हैं। पुरु को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गंगा की तरफ़ बढ़नेका इरादा किया था। लेकिन बाद में उसने ऐसा नहीं

---

[1] इतिहासवेत्ताओं का मत है कि इस राजा का नाम पुरु था। पोरस उसका यूनानी रूपान्तर है।

[2] तक्षशिला—जिला रावलपिण्डी का एक अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर। रामायण के जमाने में यह गन्धर्वों की राजधानी थी और महाभारत के अनुसार यहीं जनमेजय ने अपना सर्पयज्ञ किया था। पहली सदी में यह नगर अमन्त्र नाम से भी मशहूर था। इस शहर के खण्डहर छः वर्गमील में फैले हुए हैं और उनमें बहुत-से बौद्ध मन्दिर और स्तूप देखने में आते हैं। वहां का विश्वविद्यालय प्राचीन इतिहास में बड़ा मशहूर रहा है। उसमें शिक्षा पाने के लिए मध्य-एशिया और चीन तक से विद्यार्थी आया करते थे। अब यह पश्चिमी पाकिस्तान में है।

किया, और सिन्ध नदी के कांठे में होकर वह वापस चला गया। वह एक दिलचस्प विचार है कि अगर सिकन्दर भारत के भीतरी भाग की तरफ़ बढ़ा होता तो क्या हुआ होता। क्या वह जीतता चला जाता ? या भारतीय सेनाओं ने उसे हरा दिया होता ? पुरु जैसे एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो यह बहुत सम्भव था कि मध्य भारत के बड़े-बड़े राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफ़ी बलवान साबित होते। लेकिन सिकन्दर की इच्छा कुछ भी क्यों न रही हो, उसकी सेना ने उसे एक निश्चय पर पहुंचने को मजबूर कर दिया। वर्षों से घूमते-घूमते उसके सिपाही बहुत थक गये थे और उकता गये थे। शायद भारतीय सिपाहियों के रणकौशल का भी उनपर असर पड़ा और वे हार की जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की हठ की और सिकन्दर को राजी होना पड़ा। लेकिन वापसी का सफ़र बहुत विनाशकारी साबित हुआ। भोजन और पानी की कमी से फ़ौज को बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ी। इसके बाद ही, ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व सिकन्दर बाबुल पहुंचकर मर गया। ईरान पर धावे के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृभूमि मक़दूनिया को फिर नहीं देख पाया।

इस तरह सिकन्दर तेंतीस साल की उम्र में मर गया। इस 'महान्' व्यक्ति ने अपनी थोड़ी-सी जिन्दगी में क्या किया ? इसने कुछ शानदार लड़ाइयां जीतीं। निस्सन्देह वह बहुत बड़ा सेनापति था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमण्डी भी था, और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उग्र हो जाता था। अपनेको वह देवता के समान समझता था। क्रोध के आवेश में या क्षणिक उन्माद में उसने अपने कई सच्चे दोस्तों को मरवा डाला और बड़े-बड़े शहरों को, उनके निवासियों समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य में वह अपने पीछे कोई भी ठोस चीज—यहांतक कि अच्छी सड़कें भी—नहीं छोड़ गया। आकाश के टूटनेवाले उल्का की तरह वह एकदम चमका और गायब हो गया और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नहीं छोड़ गया। उसकी मौत के बाद, उसके कुटुम्ब के लोगों ने एक-दूसरे को मार डाला और उसका महान् साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। सिकन्दर को संसार-विजयी कहा जाता है और कहते हैं कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया में कुछ बाकी नहीं बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोड़कर वह भारत को ही नहीं जीत सका था। चीन उस समय भी बहुत बड़ा राज्य था और सिकन्दर उसके पास तक भी नहीं पहुंच पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद, उसके सेनापतियों ने उसकी सल्तनत को आपस में बांट लिया। मिस्र तालमी[1] के हिस्से में पड़ा। उसने वहां एक मजबूत राज्य की

---

[1] तालमी—सिकन्दर का एक सेनापति था, जो उसकी मृत्यु के पश्चात्

नींव डाली और एक राज-वंश चलाया। इसकी हुकूमत में मिस्र, जिसकी राजधानी सिकन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। सिकन्दरिया बहुत बड़ा शहर था और अपने विज्ञान, दर्शन और विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, इराक़ और एशिया-कोचक का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेल्युक (सेल्युकस) के हिस्से में आया। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह भारत के हिस्से पर अपना अधिकार कायम नहीं रख सका और सिकन्दर की मौत के बाद यूनानी सेना यहां से भगा दी गई।

सिकन्दर भारत में ईसा से पहले ३२६वें साल में आया था। इसका आना क्या था, एक तरह का धावा था जिसका भारत पर कोई असर नहीं पड़ा। कुछ लोगों का विचार है कि इस धावे ने भारतीयों और यूनानियों में रब्त-ज़ब्त शुरू करने में मदद दी। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशों में आपसी आवागमन था और भारत का ईरान और यूनान तक से बराबर सम्पर्क जारी था। सिकन्दर के आने से यह सम्पर्क कुछ और बढ़ा जरूर होगा और भारतीय और यूनानी दोनों सभ्यताएं कुछ ज्यादा हद तक एक-दूसरे से मिल-जुल गई होंगी। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डास' से बना है, और 'इण्डास' की उत्पत्ति 'इण्डस' अर्थात् 'सिन्ध नदी' से हुई है।

सिकन्दर के धावे और उसकी मत्यु से भारत में एक बहुत बड़े साम्राज्य—मौर्य्य साम्राज्य—की नींव पड़ी। भारत के इतिहास का यह एक बहुत शानदार युग है और इसके लिए हमें कुछ समय देना चाहिए।

: १८ :

## चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिल्य का अर्थशास्त्र

२५ जनवरी, १९३१

अपने एक पत्र में मैंने मगध का जिक्र किया था। यह एक बहुत पुराना राज्य था और उस जगह बसा हुआ था, जहां आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना है। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं, उस समय मगध-देश पर नन्दवंश राज करता था। जब सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर धावा किया था उस समय पाटलिपुत्र में नन्दवंश का एक

---

ई० पू० ३०५ में मिस्र का सम्राट् बन बैठा। इसीने तालमी राजवंश चलाया, जो ई० पू० ३० तक राज्य करता रहा। इस सम्राट् का काल ई० पू० ३८३ से ई० पू० ३६७ तक है। इसने उत्तरी मिस्र में टालेमाय नामक एक प्रसिद्ध और शानदार शहर बसाया और एक पुस्तकालय और अजायबघर की योजना की।

राजा राज करता था। उसी समय वहां चन्द्रगुप्त नामक एक नवयुवक भी था जो शायद इस राजा का रिश्तेदार था। मालूम होता है, वह बड़ा चतुर, उत्साही और महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। नन्द राजा ने उसे बहुत ज़्यादा चालाक समझकर, या उसके किसी काम से नाराज होकर, उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और यूनानियों की कहानियों से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण था, जिसे चाणक्य भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही नर्म और दब्बू न थे, जो भाग्य और होनहार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमाग़ों में बड़ी-बड़ी और हौसले-भरी योजनाएं थीं, और वे आगे बढ़ना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। चन्द्रगुप्त शायद सिकन्दर के वैभव से चकित और आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण के पीछे चलना चाहता था। अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए चाणक्य के रूप में उसे एक आदर्श मित्र और सलाहकार मिल गया था। ये दोनों ही सजग रहते थे और ग़ौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला में क्या हो रहा है। वे अपने अवसर की तलाश में थे।

जल्दी ही उनको अवसर मिल गया। ज्योंही सिकन्दर के मरने की खबर तक्षशिला पहुँची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आ गया। उसने आसपास के लोगों को उभाड़ा और उनकी मदद से यूनानियों की फ़ौज पर, जिसे सिकन्दर छोड़ गया था, आक्रमण कर दिया और उसे भगा दिया। तक्षशिला पर कब्जा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायकों ने पाटलिपुत्र पर हमला किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पूर्व यानी सिकन्दर की मौत के सिर्फ़ पांच वर्ष बाद की बात है। इसी समय से मौर्य्यवंश का शासन शुरू होता है। यह साफ़-साफ़ पता नहीं चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य्य' क्यों कहलाया। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी मां का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया। और कुछ का यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरों का रखवाला था और मोर को संस्कृत में मयूर कहते हैं। इस शब्द का मूल चाहे जो हो, यह चन्द्रगुप्त मौर्य्य के नाम से ही प्रसिद्ध है, ताकि एक दूसरे मशहूर चन्द्रगुप्त से, जो कई सौ वर्ष बाद भारत का बहुत बड़ा राजा हुआ, इसे अलग समझा जा सके।

महाभारत और दूसरी पुरानी पुस्तकों और कथाओं में चक्रवर्ती राजाओं का वर्णन मिलता है, जिन्होंने सारे भारत पर राज किया। लेकिन हमें उस जमाने का ठीक हाल मालूम नहीं और न हम यही जानते हैं कि भारत या भारतवर्ष का विस्तार उस समय कितना था। यह सम्भव है कि उस समय की जो कहानियां चली आती हैं, उनमें पुराने राजाओं के बल को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया हो। जो कुछ भी हो, चन्द्रगुप्त मौर्य्य का साम्राज्य इतिहास में भारत के मजबूत और

लम्बे-चौड़े साम्राज्य की पहली मिसाल है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह एक बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था। यह भी साफ़ है कि ऐसा शासन और राज्य एकदम से पैदा नहीं हो गया होगा। बहुत दिनों से कई तरह की प्रक्रियाएं होती चली आई होंगी, छोट-छोटे राज्य मिलते रहे होंगे और शासन-कला में प्रगति जारी रही होगी।

चन्द्रगुप्त के शासन-काल में, सिकन्दर के सेनापति सेलेउक ने, जिसे उत्तराधिकार में एशिया-कोचक से लेकर भारत तक के देशों का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पार कर भारत पर हमला किया। पर अपनी इस जल्दबाजी के लिए उसे बहुत जल्दी पछताना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था उसी रास्ते उसे अपना-सा मुंह लेकर लौट जाना पड़ा। यहां से कुछ हासिल करने के बजाय उलटा उसे काबुल और हिरात तक गांधार या अफ़ग़ानिस्तान का एक बहुत बड़ा हिस्सा चन्द्रगुप्त को दे देना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने सेलेउक की पुत्री से शादी भी कर ली। उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत में, अफ़ग़ानिस्तान के एक हिस्से में, काबुल से बंगाल तक और अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक फैल गया। सिर्फ़ दक्षिण भारत उसके अधीन नहीं था। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

सेलेउक ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थेने को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। मेगस्थेने हमारे लिए उस जमाने का एक बड़ा दिलचस्प वर्णन छोड़ गया है। लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन भी हमें मिलता है, जिसमें चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा तफ़सीलवार हाल मिलता है। इस ग्रन्थ का नाम है 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' यानी कौटिल्य का अर्थशास्त्र। यह कौटिल्य और कोई नहीं, हमारा वही पुराना दोस्त चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है 'सम्पत्ति का शास्त्र'।

इस अर्थशास्त्र में इतने विषय हैं, और इतनी विभिन्न बातों पर इसमें चर्चा की गई है कि तुमको उसके बारे में ज्यादा बता सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। उसमें राजा के धर्म का, उसके मन्त्रियों और सलाहकारों के कर्त्तव्यों का, राज-परिषद् का, शासन-विभागों का, वाणिज्य और व्यापार का, गांवों और क़स्बों के शासन का, क़ानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाजों का, स्त्रियों के अधिकार का, बूढ़े और असहाय लोगों के पोषण का, विवाह और तलाक़ का, टैक्सों का, थलसेना और जलसेना का, युद्ध और सन्धि का, कूटनीति का, खेती-बाड़ी का, कातने और बुनने का, कारीगरों का, पासपोर्टों का, और जलों तक का जिक्र है! मैं इस सूची को और भी बढ़ा सकता हूं, लेकिन इस पत्र को कौटिल्य के अध्यायों के शीर्षकों से नहीं भरना चाहता।

जब राजा राजतिलक के समय जनता के हाथों से राज्यसत्ता पाता था तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पड़ती थी। उसे प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी, "अगर मैं तुम्हें सताऊँ तो स्वर्ग से, जीवन से और सन्तान से वंचित रहूँ।" इस ग्रन्थ में राजा की दिनचर्या दी हुई है। उसके अनुसार राजा को जरूरी काम के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए, क्योंकि जनता का काम न तो रुक सकता है, न राजा की सुविधा का इन्तजार कर सकता है। "अगर राजा मुस्तैद होगा तो उसकी प्रजा भी उतनी ही मुस्तैद होगी।" "अपनी प्रजा की खुशी में उसकी खुशी है, प्रजा के कल्याण में ही उसका कल्याण है; जो बात उसे अच्छी लगे उसीको वह अच्छी न समझे, बल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे उसीको वह भी अच्छी समझे।"

हमारी इस दुनिया से अब राजा-महाराजा उठते जा रहे हैं। जो इने-गिने बच गये हैं वे भी बहुत जल्द ग़ायब हो जायंगे। लेकिन यह ध्यान देने लायक़ बात है कि प्राचीन भारत में राजपद का मतलब जनता की सेवा था। उस समय राजाओं का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके हाथों में कोई निरंकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अनुचित व्यवहार करता था तो प्रजा को अधिकार था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा नियुक्त कर दे। उन दिनों यही विचार और सिद्धान्त था। फिर भी उस समय बहुत-से राजा ऐसे हुए जो इस आदर्श से नीचे गिरे और जिन्होंने अपनी बेवकूफ़ी से अपने देश और प्रजा को मुसीबतों में फँसाया।

अर्थशास्त्र म इस पुराने मत पर भी जोर दिया गया है कि 'आर्य कभी भी दास नहीं बनाया जा सकेगा।'[1] इससे प्रकट होता है कि उस जमाने में किसी-न-किसी तरह के ग़ुलाम होते थे जो या तो देश के बाहर से लाये जाते होंगे, या देश के रहनवाले होंगे।[2] लेकिन जहांतक आर्यों का सम्बन्ध था, इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि वे किसी भी हालत में ग़ुलाम न बनाये जायँ।

मौर्य्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बड़ा शानदार शहर था और गंगा के किनारे-किनारे नौ मील तक फैला हुआ था। इसकी चारदीवारी में चौंसठ मुख्य फाटक थे और सैकड़ों छोटे दरवाजे थे। मकान ज्यादातर लकड़ी के बने हुए थे, और चूंकि आग लगने का डर रहता था, इसलिए आग बुझाने के लिए पूरी सावधानी से इन्तजाम किया जाता था। खास-खास सड़कों पर पानी से भरे हजारों घड़े हमेशा रक्खे रहते थे। हरेक गृहस्थ को भी अपने घर में पानी से भरे घड़े, सीढ़ी, कांटा और दूसरी जरूरी चीजें तैयार रखनी पड़ती थीं ताकि आग लगने पर उनका उपयोग किया जा सके।

---

[1] 'न त्वेवाऽऽर्यस्य दास भावः।'—कौटिल्य

[2] 'म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुंवा'—कौटिल्य

कौटिल्य ने शहरों के बारे में एक नियम का जिक्र किया है जो तुम्हें बहुत दिलचस्प मालूम होगा। अगर कोई आदमी सड़क पर कूड़ा फेंकता था तो उसपर जुर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई रास्ते में कीचड़ या पानी इकट्ठा होने देता था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन नियमों पर अमल होता रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर और साफ़-सुथरे रहे होंगे। मैं चाहता हूँ कि हमारी म्युनिसिपैलिटियों में भी इसी तरह के कुछ नियम जारी कर दिये जायँ!

पाटलिपुत्र में व्यवस्था के लिए एक नगर-परिषद थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमें तीस सदस्य होते थे और पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियाँ बनाई जाती थीं। शहरी उद्योगों और दस्तकारियों का, यात्रियों और तीर्थ-यात्रियों का, टैक्स के लिए मौतों और पैदायशों का, माल तैयार करने का और दूसरी बातों का प्रबन्ध इन्हीं समितियों के हाथ में रहता था। पूरी परिषद सफ़ाई, आय-व्यय, पानी की व्यवस्था, बाग़-बग़ीचों और सार्वजनिक इमारतों का प्रबन्ध देखती थी।

न्याय के लिए पंचायतें और अपीलों के लिए अदालतें थीं। अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए ख़ास उपाय किये जाते थे। राज्य के सारे भण्डारों का आधा अनाज अकाल के समय के लिए हमेशा जमा रक्खा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य्य-साम्राज्य, जिसे बाईस सौ वर्ष पहले चाणक्य और चन्द्र-गुप्त ने संगठित किया था। मैंने अभी कौटिल्य और मेगस्थेने की बयान की हुई कुछ बातों का जिक्र यहाँ किया है। इनसे ही तुम्हें मोटे तौर पर यह पता लग जायगा कि उत्तरी भारत की उस समय क्या हालत थी। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत-से बड़े-बड़े शहरों और हजारों क़स्बों और गाँवों तक सारे देश में जिन्दगी की चहल-पहल थी। साम्राज्य के एक भाग से दूसरे भाग तक बड़ी-बड़ी सड़कें थीं। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिम की सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरें थीं और उनकी देखभाल के लिए एक खास विभाग भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहों, घाटों, पुलों और एक जगह से दूसरी जगह तक आने-जानेवाले बहुत से जहाजों और नौकाओं की देख-रेख किया करता था। जहाज समुद्र-पार चीन और बर्मा तक जाते थे।

इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज किया। ईसा पूर्व २९६वें वर्ष में उसकी मृत्यु हुई। अपने अगले पत्र में हम मौर्य्य-साम्राज्य की कहानी जारी रक्खेंगे।

: १९ :

# तीन महीने !

क्रेकोविया जहाज से—
२१ अप्रैल, १९३१

तुम्हें पत्र लिखे बहुत दिन हो गये । क़रीब तीन महीने—दुःख, परेशानी और मुसीबत के तीन महीने—गुजर गये । भारत के, और सबसे बढ़कर हमारे कुटुम्ब के परिवर्तन के ये तीन महीने ! भारत ने फ़िलहाल सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा आन्दोलन रोक दिया है, लेकिन जो सवाल हमारे सामने हैं उनके हल करने में कोई आसानी पैदा नहीं हुई । और हमारे कुटुम्ब नें अपना प्यारा बुजुर्ग खो दिया, जिसने हमें बल और प्रेरणा दी थी, और जिसकी आश्रय देनेवाली देख-रेख में हम सब बड़े हुए और अपनी सबकी माता भारत के लिए अपना कर्त्तव्य अदा करना सीखा ।

नैनी-जेल का वह दिन मुझे कितनी अच्छी तरह याद है ! वह २६ जनवरी का दिन था और मैं हमेशा की तरह पुरानी बातों के बारे में तुम्हें पत्र लिखने बैठा था । उसके एक दिन पहले मैं तुम्हें चन्द्रगुप्त और उसके स्थापित किये हुए मौर्य्य-साम्राज्य के बारे में लिख चुका था । मैंने वादा किया था कि इस वर्णन को मैं जारी रक्खूंगा और उन लोगों का जो चन्द्रगुप्त के बाद हुए, और 'देवानां प्रिय' अशोक महान् का, जो भारतीय आकाश में एक चमकदार सितारे की तरह चमका और अपना नाम अमर करके गुज़र गया, हाल बताऊँगा । और जब मैं अशोक की याद कर रहा था, मेरा मन घूम-फिरकर वर्तमान की ओर—२६ जनवरी पर आ पहुँचा, जिस दिन मैं कलम-दवात लेकर तुम्हें लिखने बैठा था । हम लोगों के लिए यह एक बहुत बड़ा दिन था, क्योंकि एक साल पहले इसी दिन हमने सारे भारत में, शहरों और गाँवों में, आजादी का दिन—पूर्ण स्वराज्य का दिन—मनाया था और हमारे देश के करोड़ों लोगों ने स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा ली थी । तबसे एक साल बीत गया—संघर्ष का, तकलीफ़ों का और विजय का एक साल—और एक बार फिर भारत उसी महान् दिन को मनाने जा रहा था । जब मैं नैनी-जेल की ६ नम्बर की बैरक में बैठा हुआ था, मुझे उस दिन सारे देश में होनेवाली सभाओं, जलूसों, लाठी-प्रहारों और गिरफ़्तारियों का ख़याल हो आया था । गर्व, खुशी और दर्द के साथ मैं इन सब बातों का विचार कर ही रहा था कि मेरी कल्पना की धारा एकदम रुक गई । बाहर से ख़बर मिली कि दादू बहुत बीमार हैं और उनके पास जाने के लिए मैं फ़ौरन ही छोड़ दिया जाऊँगा । चिन्ता से मेरी विचार-

धारा टूट गई और तुम्हें जो पत्र लिखना शुरू किया था उसे एक ओर रखकर नैनी-जेल से आनन्द-भवन के लिए रवाना हो गया।

दादू की मृत्यु से पहले दस दिन मैं उनके साथ रहा। दस दिन तक हम उनके कष्ट और यातना को और मौत के दूत से उनकी बहादुराना लड़ाई को देखा कि ये अपने जीवन में उन्होंने बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं और बहुत-सी विजय हासिल कीं। हार मानना तो वह जानते ही न थे, और मौत को अपने सामने खड़ा हुआ देखकर भी वह उसके सामने डटे रहे। जब मैं उनकी इस आखिरी लड़ाई को देख रहा था, और जिन्हें मैं इतना प्यार करता था उन्हें मदद पहुँचाने में अपनी बेबसी पर व्याकुल हो रहा था, तो मुझे कुछ पंक्तियाँ, जो मैंने बहुत दिन हुए एडगर एलन पो की किसी कहानी में पढ़ी थीं, याद आ गईं, जिनका अर्थ यह है—

> "मनुष्य खुद देवदूतों के सामने हार नहीं मानता और न वह मौत के सामने ही पूरी तरह सिर झुकाता है; अगर वह हार मानता है तो, अपनी इच्छा-शक्ति की कमजोरी की वजह से ही मानता है।"

६ फ़रवरी को सुबह वह हमें छोड़कर चले गए। जिस झण्डे को वह इतना प्यार करते थे उसीमें उनका शरीर लपेटकर हम उन्हें लखनऊ से आनन्द-भवन ले आये। थोड़ी ही देर में वह जलकर मुट्ठी भर राख हो गया और गंगा इस अनमोल विभूति को समुद्र की ओर बहा ले गई।

लाखों आदमियों ने उनके लिए शोक मनाया, लेकिन हम सबपर, जो उनके बच्चे हैं और जो उनके मांस और उनकी हड्डियों से बने हैं, कैसी बीती ! और उस नये आनन्द-भवन का, जो हम लोगों के समान ही उनका बच्चा है, और जिसे उन्होंने इतने प्यार से और इतनी सावधानी से तैयार करवाया था, क्या हुआ ? वह अब सुनसान और वीरान हो गया, मानो उसकी जान ही निकल गई। और हम उसके बरामदों में, उन्हींका बराबर ख़याल करते हुए, जिन्होंने इसे बनाया था, दबे पाँव चलते हैं कि कहीं उनकी शान्ति भंग न हो जाय।

हम उनके लिए शोक करते हैं और क़दम-क़दम पर उनकी कमी को महसूस करते हैं। दिन गुजरते जाते हैं, लेकिन न तो दुःख कम होता दीखता है और न उनका विछोह सहना आसान होता दीखता है। लेकिन फिर मैं सोचता हूं कि यह चीज उन्हें कभी पसन्द न आयेगी। उन्हें यह कभी पसन्द न होगा कि हम रंज से हार मान लें। वह तो यही चाहेंगे कि जैसे उन्होंने अपनी तकलीफ़ों का मुक़ाबला किया वैसे ही हम अपने रंज का मुक़ाबला करें और उसपर विजय पायें। वह चाहेंगे कि जो काम उन्होंने अधूरा छोड़ा है, उसे हम जारी रक्खें। फिर, जब काम हमें बुला रहा है और भारत की आजादी का उद्देश्य हमारी सेवाओं की मांग कर

रहा है, तब हम चुप कैसे बैठ सकते हैं, और व्यर्थ के शोक के सामने कैसे सिर झुका सकते हैं ? इसी उद्देश्य के लिए उन्होंने जान दी। इसीके लिए हम जिन्दा रहेंगे, कोशिश करेंगे और अगर जरूरत हुई तो जान भी देंगे। आखिर हम उनकी सन्तान हैं और हममें उनकी आग, ताक़त और पक्के इरादों का कुछ-न-कुछ अंश मौजूद है।

इस समय, जब मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं, नीले रंग का गहरा अरब सागर मेरे सामने दूर तक फैला हुआ है और दूसरी तरफ़ बहुत दूर के फ़ासले पर, भारत का किनारा है, जो हमसे छूटता जा रहा है। मैं इस लम्बे-चौड़े और लगभग अपरिमित विस्तार का ख़याल करता हूं और उसकी तुलना नैनी-जेल की ऊंची दीवारवाली छोटी-सी बैरक से करता हूं, जहां से मैंने तुम्हें पिछले पत्र लिखे थे। जहां समुद्र आकाश से मिलता-सा मालूम होता है, वहां क्षितिज की रेखा साफ़-साफ़ मेरे सामने नजर आ रही है। लेकिन जेल में क़ैदी का क्षितिज तो उस दीवार की चोटी है जिससे वह घिरा रहता है। हममें से बहुत-से, जो कल जेलों में थे, आज बाहर हैं और बाहर की आजाद हवा में सांस ले सकते हैं। लेकिन हमारे बहुत-से साथी अभी तक अपनी तंग कोठरियों में बन्द हैं और समुद्र, जमीन या क्षितिज के दर्शन से वंचित हैं। खुद भारत अभी तक जेल में है और उसे अभी आजादी मिलनी बाक़ी है। और अगर भारत आजाद नहीं है तो हमारी आजादी की क्या क़ीमत है ?

## : २० :
## अरब सागर

क्रेकोविया जहाज,
२२ अप्रैल, १९३१

यह कैसे संयोग की बात है कि हम इस क्रेकोविया जहाज पर बम्बई से लंका जा रहे हैं ! मुझे अच्छी तरह याद है कि क़रीब चार वर्ष पहले मैं किस तरह वेनिस में इसके आने का इन्तजार कर रहा था। दादू इसी जहाज से आ रहे थे और मैं स्वीजरलैण्ड के बेक्स स्कूल में तुम्हें छोड़कर उनसे मिलने के लिए वेनिस गया था। फिर कुछ महीने बाद इसी क्रेकोविया जहाज से दादू यूरोप से भारत वापस लौटे थे और मैं उनसे बम्बई में मिला था। उस यात्रा के उनके कुछ साथी आज भी हमारे साथ हैं और ये सब दादू के बारे में अपने बहुत-से अनुभव सुनाते रहते हैं।

मैंने तुम्हें कल के पत्र में पिछले तीन महीनों की बदलती हुई घटनाओं का हाल लिखा था। पिछले कुछ हफ़्तों में एक बात ऐसी हुई है, जिसे मैं चाहता हूं कि तुम याद रक्खो; क्योंकि भारत उसे बहुत वर्षों तक याद रक्खेगा। एक महीने से कम हुआ कानपुर शहर में भारत के एक बहादुर सिपाही, गणेशशंकर

विद्यार्थी, चल बसे। वह उस समय मारे गये, जब वह दूसरों को बचाने की कोशिश कर रहे थे।

गणेशजी मेरे प्रिय दोस्त थे। एक बहुत नेक और निःस्वार्थ साथी थे, जिनके साथ काम करना सौभाग्य की बात थी। पिछले महीने जब कानपुर में लोगों के सिर पर पागलपन सवार हुआ, और एक भारतीय दूसरे भारतीय को क़त्ल करने लगा, तो गणेशजी आग में कूद पड़े—अपने किसी देश-भाई से लड़ने के लिए नहीं—बल्कि उन्हें बचाने के लिए। उन्होंने सैकड़ों को बचाया; सिर्फ अपनेको वह नहीं बचा सके। अपने बचाव की उन्होंने परवाह भी नहीं की और उनकी मौत उन लोगों के हाथों हुई, जिन्हें वह बचाना चाहते थे। कानपुर का और हमारे प्रान्त का एक हीरा लुट गया और हममें से बहुतेरे अपने एक प्रिय और बुद्धिमान मित्र से हाथ धो बैठे। लेकिन कितनी शानदार थी उनकी मौत! उन्होंने शान्त मुद्रा और निर्भीकता के साथ गुण्डों के पागलपन का मुक़ाबला किया और खतरे और मौत के बीच भी उन्हें ध्यान था तो सिर्फ़ दूसरों का और उन्हें बचाने का!

परिवर्तनों के ये तीन महीने! समय के सागर में एक बूंद के समान और राष्ट्र की जिन्दगी में एक पल के समान! सिर्फ़ तीन हफ़्ते पहले मैं मोहेन-जो-दड़ो के खण्डहर देखने गया था, जो सिन्ध में, सिन्ध नदी के कांठे में हैं। उस समय तुम मेरे साथ नहीं थी। मैंने वहां एक बहुत बड़ा शहर जमीन के अन्दर से निकला हुआ देखा—ऐसा शहर जिसमें मजबूत इंटों के मकान और लम्बी-चौड़ी सड़कें थीं और कहा जाता है कि जिसे बने पांच हजार वर्ष हो गये। मैंने इस प्राचीन शहर में मिले हुए सुन्दर-सुन्दर जेवर और मिट्टी के बरतन देखे। इन सबको देखते-देखते मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो चटकीले-भड़कीले कपड़े पहने हुए पुरुष और स्त्रियां इसकी सड़कों और गली-कूचों में आ-जा रहे हैं, बच्चे बच्चों के-से खेल खेल रहे हैं, माल से भरे बाजार गुलजार हो रहे हैं, लोग सौदा ले-दे रहे हैं और मन्दिरों की घंटियां बज रही हैं।

इन पांच हजार वर्षों से भारत अपना जीवन क़ायम रखता आ रहा है और उसने बहुत-से परिवर्तन देखे हैं। मैं कभी-कभी सोचने लगता हूं कि क्या हमारी यह बूढ़ी भारतमाता, जो इतनी प्राचीन और फिर भी इतनी नौजवान और सुन्दर है, अपने बच्चों के उतावलेपन पर, उनकी छोटी-मोटी परेशानियों पर, उनके हर्ष और शोक पर, जो दिन भर रहते हैं और फिर खतम हो जाते हैं, मुस्कराती न होगी?

: २१ :

## छुट्टी के दिन और स्वप्न-यात्रा

२६ मार्च, १९३२

चौदह महीने हो चुके, जब मैंने तुम्हें नैनी-जेल से प्राचीन इतिहास के बारे में पत्र लिखे थे। इसके तीन महीने बाद पत्रों के उसी सिलसिले में मैंने अरब सागर से तुम्हें दो छोटे-छोटे पत्र और लिखे थे। उस समय मैं क्रेकोविया जहाज पर लंका की यात्रा पर जा रहा था। जैसा कि मैंने लिखा था, विशाल समुद्र मेरे सामने दूर तक पसरा हुआ था। मेरी भूखी आंखें उसे निहार रही थीं और अघाती नहीं थीं। इसके बाद हम लंका पहुंचे और महीने भर तक बड़े आनन्द से छुट्टियां मनाईं और अपनी मुसीबतें और परेशानियां भूल जाने की कोशिश की। उस अत्यन्त सुन्दर द्वीप में हम खूब घूमे और उसका अतुलित सौन्दर्य और वहां की प्रकृति की प्रचुरता पर चकित हो गये। कैंडी, नुवारा-ईलिया, और प्राचीन वैभव के चिन्हों और खंडहरों से भरपूर अनुरुद्धपुर—इन सारी जगहों की, जहां हम गये, याद करके कितना आनन्द आता है! लेकिन मुझे सबसे ज्यादा आनन्द तो आता है भूमध्य प्रदेश के उन ठण्डे जंगलों की याद करके जिनमें जीवन बिखरा पड़ता है, जिनकी हजारों आंखें हमें देखती हैं; या पतले और बिलकुल सीधे सुपारी के सुन्दर वृक्षों, नारियल के अनगिनती पेड़ों और ताल-वृक्षों के किनारोंवाले उस तट की याद करके जहां इस टापू की पन्ने जैसी हरियाली समुद्र और आकाश की नीलिमाओं से मिलती है और सागर-जल किनारे पर छलकता और हिलोरों से अठखेलियां करता है और हवा ताल-वृक्षों के पत्तों में होकर मर्मर आवाज करती हुई निकल जाती है।

बहुत दिन हुए तब इस भूमध्य-प्रदेशों में तुमने और मैंने पहली बार यात्रा की थी, जिसकी याद क़रीब-क़रीब जाती रही है, लेकिन वह एक नया अनुभव था। मुझे वहां जाने का आकर्षण नहीं था क्योंकि मैं वहां की गर्मी से घबराता था। मुझे तो समुद्र, पहाड़ और सबसे ज्यादा बर्फ़ से ढकी हुई ऊंची चोटियां और हिम नदियां मोहती हैं। लेकिन लंका के इस कुछ दिनों के निवास से मुझे भूमध्य-प्रदेश की मनोहरता और जादू जैसी मोहकता का भी कुछ अनुभव हुआ। और मैं यह लालसा लिये हुए वापस आया कि मौका मिला तो इनसे फिर मिलूंगा।

लंका में छुट्टी का हमारा एक महीना देखते-देखते बीत गया और हम समुद्र का संकड़ा भाग पार करके भारत के दक्षिणी नाके पर पहुंचे। क्या तुम्हें हमारी कन्याकुमारी की यात्रा की याद है? कहते हैं कि यहां कुमारिका देवी निवास रहती हैं और अपने देश की रक्षा करती है, और जिसे, हमारे नामों को तोड़-मरोड़कर भ्रष्ट करने में कुशल पश्चिम-निवासी 'केप कोमोरिन' कहते हैं। उस समय वहां

हम सचमुच भारतमाता के चरणों में ही बैठे थे, और वहीं हमने अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के समुद्रजलों का संगम देखा था और हमारे मन में यह कल्पना पैदा हुई थी मानो कि ये दोनों भारत की पूजा कर रहे हैं ! उस जगह पर अद्भुत शान्ति थी और मेरा मन भारत के दूसरे छोर पर कई हजार मील दूर दौड़ गया था जहां हिमालय की चोटियां कभी न गलनेवाली बर्फ़ का ताज पहने रहती हैं और जहां ऐसी ही शांति रहती है। लेकिन इन दोनों के बीच में तो काफी रगड़े-झगड़े हैं, ग़रीबी है, और मुसीबतें हैं !

हम कन्याकुमारी से बिदा हुए और उत्तर की तरफ़ चले और तिरुवांकुर और कोचीन होते हुए और मलाबार की समुद्री झीलों को पार करते हुए आगे बढ़े। ये सब स्थान कितने सुन्दर थे और हमारी नाव चांदनी रात में पेड़ों से छाये हुए किनारों के बीच में होकर कैसी फिसलती चली जाती थी, मानो हम स्वप्न-लोक में विचर रहे हों। इसके बाद हम मैसूर, हैदराबाद और बम्बई होते हुए आखीर में इलाहाबाद आ पहुंचे। यह नौ महीने पहले की यानी जून के महीने की बात है

लेकिन आजकल तो भारत में जितने रास्ते हैं, वे सब हमें, देर-सवेर एक ही जगह पहुंचा देते हैं। सारी यात्राएं, चाहे वह स्वप्न की हों या असली, जेलखाने में ही जाकर खत्म होती हैं ! और इसलिए मैं फिर अपनी पुरानी परिचित दीवारों के अन्दर पहुंच गया, जहां सोचने के लिए और तुम्हें पत्र लिखने के लिए—चाहे वे तुम्हारे पास पहुंचें न या न पहुंचें—बहुत समय मिलता है। लड़ाई फिर शुरू हो गई है और हमारे देशवासी, स्त्री और पुरुष, लड़के और लड़कियां, स्वतन्त्रता की लड़ाई के लिए और इस देश को ग़रीबी की लानत से छुड़ाने के लिए, निकल पड़े हैं। लेकिन स्वतन्त्रता की देवी मुश्किल से खुश होती है; पुराने जमाने की तरह आज भी यह अपने भक्तों से, नर-बलि चाहती है।

आज मुझे जेल में आये पूरे तीन महीने हो गये। तीन महीने पहले, आज ही के दिन, यानी २६ दिसम्बर को, मैं छठी बार गिरफ़तार किया गया था। पत्रों के इस सिलसिले को फिर से शुरू करने में मैंने बहुत देर कर दी। लेकिन तुम जानती हो कि जब दिमाग़ वर्तमान से भरा हुआ हो तो सुदूर अतीत के बारे में सोचना कितना मुश्किल हो जाता है। जेल में पहुंचने के बाद जमने-जमाने और बाहर की घटनाओं की चिन्ता से पीछा छुड़ाने में कुछ समय लग जाता है। अब मैं तुम्हें बराबर पत्र लिखने की कोशिश करूंगा। लेकिन अब मैं एक दूसरी जेल में हूं और यह बदली मेरे पसन्द की नहीं है। इससे मेरे काम में कुछ रुकावट पड़ती है। इस जेल में मेरा क्षितिज इतना ऊंचा हो गया है जितना पहले कभी नहीं रहा यहां मेरे सामने जो दीवार है उसकी तुलना, कम-से-कम ऊंचाई में तो, चीन की दीवार से होनी चाहिए ! यह क़रीब २५ फुट ऊंची लगती है और हर रोज सुबह

सूरज की किरणों को इसे पार करके हमारे पास तक पहुंचने में डेढ़ घंटा ज़्यादा लग जाता है।

हमारा क्षितिज थोड़ी देर के लिए सीमित भले ही हो; लेकिन विशाल नीले समुद्र और पहाड़ों और रेगिस्तानों, और दस महीने पहले तुमने, तुम्हारी मम्मी ने और मैंने जो स्वप्नयात्रा की, इन सबकी याद, जो आज कल्पना की-सी बात हो गई है, बहुत भली मालूम होती है।

: २२ :

## जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष

२८ मार्च, १९३२

आओ, अब हम दुनिया के इतिहास के सिलसिले को, जहां से हमने उसे छोड़ा था, फिर शुरू करें और अतीत की कुछ झांकियां देखने की कोशिश करें। यह एक उलझा हुआ जाल है जिसका सुलझाना मुश्किल है और इसके सारे हिस्सों पर एक साथ नजर डाल सकना और भी ज़्यादा मुश्किल है। कभी-कभी हम उसके किसी खास टुकड़े में उलझने लगते हैं और उसे जरूरत से ज्यादा महत्व देने लगते हैं। क़रीब-क़रीब सभीकी यह भावना होती है कि अपने देश का, चाहे वह कोई-सा देश हो, इतिहास दूसरे देशों के इतिहास से ज्यादा शानदार है और अध्ययन के ज्यादा योग्य है। इस चीज के खिलाफ़ में एक बार पहले भी तुम्हें चेतावनी दे चुका हूं, और आज फिर वह देना चाहता हूं। इस जाल में फंस जाना बहुत ही आसान है। सच तो यह है कि इसीसे बचाने के लिए मैंने तुम्हें इन पत्रों का लिखना शुरू किया था। लेकिन इसके बावजूद कभी-कभी में महसूस करता हूं कि मैं खुद वही ग़लती कर बैठता हूं। लेकिन अगर खुद मेरी ही शिक्षा में कसर है और जो इतिहास मुझे पढ़ाया गया, वही ऊट-पटांग है तो इसमें मेरा क्या क़सूर? इस कमी को पूरा करने के लिए मैंने जेल के एकान्त में आगे अध्ययन करने की कोशिश की और उसमें मुझे शायद कुछ हद तक कामयाबी भी मिली है। लेकिन अपने मन की चित्रशाला में घटनाओं और व्यक्तियों की जिन तसवीरों को मैंने अपने बचपन और जवानी के दिनों में लटकाया था, उन्हें वहां से हटा नहीं सकता। इतिहास के बारे में मेरे दृष्टिकोण पर, जो अधूरे ज्ञान की वजह से वैसे ही काफ़ी सीमित है, इन तसवीरों का भी असर पड़ता है। इसलिए जो कुछ मैं लिखूंगा उसमें मुझसे ग़लतियां होंगी; बहुत-सी बेमतलब बातें लिख जाऊंगा और कई बार बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों का जिक्र तक करना भूल जाऊंगा। लेकिन ये पत्र इसलिए लिखे भी नहीं गये हैं कि वे इतिहास की पुस्तकों की जगह ले लें। ये तो उस आपसी छोटी-छोटी बातचीत की तरह हैं—कम-से-कम मैं तो

इन्हें ऐसा ही समझकर खुश होता हूं—जो हम दोनों में होतीं, अगर एक हजार मील का फ़ासला और कई ठोस दीवारें हम दोनों को जुदा न किये होतीं।

मैं उन मशहूर आदमियों के बारे में तुम्हें लिखे बिना नहीं रह सकता जिनके शानदार कारनामों से इतिहास के पृष्ठ भरे हुए हैं। अपने ढंग पर उनके खुद के हाल भी दिलचस्प हैं और उनसे हमें उस जमाने को समझने में मदद मिलती है जिसमें वे हुए थे। लेकिन इतिहास सिर्फ़ बड़े-बड़े आदमियों, बादशाहों, सम्राटों या इसी तरह के दूसरे व्यक्तियों के कारनामों का लेखा ही तो नहीं है। अगर ऐसा होता तो इतिहास का काम अभी तक खतम हो जाना चाहिए था, क्योंकि बादशाह और शहंशाह दुनिया के रंगमंच पर अब अकड़कर चलते हुए दिखाई नहीं देते। लेकिन वास्तव में महान् स्त्रियों और पुरुषों को अपने प्रदर्शन के लिए किसी ताज या तख्त या हीरे जवाहरात या खिताबों की जरूरत नहीं है। सिर्फ़ राजाओं और नवाबों को, जिनके अन्दर सिवाय राजापन या नवाबी के और कुछ भी नहीं होता, अपना नंगापन छिपाने के लिए तरह-तरह की वर्दियां और राजसी पोशाकें पहननी पड़ती हैं। बदक़िस्मती से इस ऊपरी दिखावे से हममें से बहुत-से इस असर में आ जाते हैं और लोग धोखे में फंस जाते हैं और सिर पर ताज रखनेवाले नाम-मात्र के राजा को राजा कहने की ग़लती कर लेते हैं।

असली इतिहास में इधर-उधर के कुछ इने-गिने व्यक्तियों का वर्णन नहीं होना चाहिए, बल्कि जनता के लोगों का होना चाहिए, जिनसे राष्ट्र बनता है, जो मेहनत करते हैं और अपने श्रम से जीवन की जरूरतों और सुख-सुविधा की चीजें पैदा करते हैं, और जो हजारों ढंग से एक दूसरे पर असर डालते हैं। मनुष्य-जाति का ऐसा इतिहास सचमुच एक चित्ताकर्षक कहानी होगी। यह कहानी होगी युगों से चले आते हुए मनुष्य के प्रकृति और उसके तत्वों वगैरा से, जंगली जानवरों और जंगलों से, संघर्ष की; और अन्त में उस कठिन संघर्ष की जो उसे अपनी ही जाति के कुछ ऐसे लोगों के खिलाफ़ करना पड़ा, जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए उसे दबाये रखने की और उसका शोषण करने की कोशिश की। इतिहास तो जीविका के लिए मनुष्य के संघर्ष की कहानी है, और चूंकि जिन्दा रहने के लिए कुछ चीजें, जैसे भोजन, रहने की जगह, और ठंडे मुल्कों में कपड़े, जरूरी हैं, इसलिए जिन लोगों का जरूरत के इन सामानों पर नियन्त्रण रहा, उन्होंने अपनी हुकूमत जमा ली। राजाओं और हाकिमों के हाथ में सत्ता इसी वजह से रही है, कि जीविका के कुछ आवश्यक साधनों पर उनका अधिकार या नियन्त्रण था और इस नियन्त्रण ने उन्हें जनता को भूखों मारकर अपने वश में कर लेने की ताक़त दे दी। इसी वजह से हमें यह अजीब दृश्य देखने को मिलता है कि मुट्ठी भर आदमी बहुत बड़े जन-समुदाय को चूस रहे हैं; बहुत-से आदमी बिना कुछ मेहनत

किये ही रुपया कमा रहे हैं और बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं, जो मेहनत करते हैं, लेकिन कमाते बहुत कम हैं।

शुरू में अकेले शिकार करनेवाला जंगली आदमी धीरे-धीरे अपना कुटुम्ब बना लेता है और फिर सारा कुनबा मिलकर और एक दूसरे के फ़ायदे के लिए मेहनत करता है। बहुत-से कुनबे आपस में मिलकर गाँव बना लेते हैं; और बाद में कई गाँवों के मजदूर, व्यापारी और दस्तकार मिलकर कारीगरों के संघ बना लेते हैं। इस तरह धीरे-धीरे सामाजिक इकाई बढ़ती दीखती है। शुरू में व्यक्ति था जो जंगली था। उस समय किसी तरह का कोई समाज नहीं था। उसके बाद कुटुम्ब उससे बड़ी इकाई बनी, और उसके बाद गांव और फिर गांवों का समूह बना। इस सामाजिक इकाई का विकास क्यों हुआ? इसलिए कि जीविका के लिए संघर्ष ने मनुष्य को उन्नति और सहयोग करने पर मजबूर कर दिया, क्योंकि सहयोग के साथ समान शत्रु से बचाव करना या उस पर हमला करना ज़्यादा कारगर होता है, बनिस्बत इसके कि सब अलग-अलग अपना बचाव करें या हमला करें। काम करने में सहयोग इससे भी ज़्यादा मददगार साबित हुआ। अकेले काम करने की बनिस्बत मिल-जुलकर काम करने से वे भोजन और दूसरी आवश्यक चीजें कहीं ज़्यादा पैदा कर सकते थे। काम में इस सहयोग के फलस्वरूप आर्थिक इकाई का भी विकास होने लगा—जहाँ पहले अकेला जंगली आदमी अपने लिए ही शिकार करता था, वहाँ अब बड़े-बड़े समुदाय बन गये। बहुत मुमकिन है कि मनुष्य की आजीविका के इस संघर्ष की वजह से आर्थिक इकाई का जो विकास हुआ उसीसे समाज और सामाजिक इकाई का विकास हुआ हो। इतिहास के लम्बे विस्तार में हम लगातार संघर्ष और मुसीबतों के बीच भी यह विकास बराबर देखते आये हैं, और कभी-कभी उलटी धारा भी बही है। लेकिन तुम यह न समझ बैठना कि इस विकास का यह मतलब है कि दुनिया बहुत आगे बढ़ गई है, या पहले से ज्यादा सुखी हो गई है। सम्भव है, पहले से आज उसकी हालत बेहतर हो, लेकिन पूर्णता से अभी वह बहुत दूर है और हर जगह काफ़ी दुःख और दरिद्रता है।

जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक इकाइयाँ विकास करती गईं, जिन्दगी भी और ज़्यादा पेचीदा होती गई। वाणिज्य और व्यापार ने तरक़्क़ी की। उपहार की जगह चीजों की अदला-बदली शुरू हुई। और फिर सिक्के का चलन हुआ, जिसने लेन-देन के सब व्यवहारों में जबरदस्त अन्तर पैदा कर दिया। इससे व्यापार में एकदम तरक़्क़ी हुई, क्योंकि सोने और चांदी के सिक्कों में दाम दिये जाने की वजह से ख़रीद-बिक्री आसान हो गई। इसके बाद सिक्कों का इस्तेमाल भी हमेशा जरूरी नहीं रहा और लोगों ने उनकी जगह प्रतीक इस्तेमाल करने शुरू कर दिये। क़ाग़ज का टुकड़ा, जिसपर अदायगी का वादा लिखा हुआ हो, काफ़ी समझा

जाने लगा। इस प्रकार बैंक-नोटों और चैकों का चलन शुरू हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि व्यापार उधार या साख पर चलने लगा। साख या उधार के तरीके से व्यापार और वाणिज्य में और भी ज्यादा मदद मिलती है। तुम जानती ही हो कि आजकल चैक और बैंक-नोटों का काफ़ी इस्तेमाल होता है और समझदार आदमी अब अपने साथ सोने और चाँदी की थैलियाँ लिये नहीं फिरते।

इस तरह हम यह देखते हैं कि ज्यों-ज्यों धुंधले अतीत में से इतिहास आगे बढ़ता है, लोग माल की उपज बढ़ाते जाते हैं और ख़ास-ख़ास धन्धे अपनाते जाते हैं; आपस में माल की अदला-बदली करते हैं और इस तरह व्यापार की उन्नति करते हैं। हम यह भी देखते हैं कि आवागमन के नये और बेहतर साधनों का विकास हुआ; खासकर पिछले सौ वर्षों में, भाप के इंजन की ईजाद के बाद। ज्यों-ज्यों पैदावार बढ़ी, दुनिया की सम्पत्ति बढ़ी और कम-से-कम कुछ आदमियों को ज्यादा फ़ुरसत मिल गई। और इस तरह जिसे हम सभ्यता कहते हैं, उसका विकास होता है।

यह सब होता है और लोग आजकल के प्रबुद्ध और प्रगतिशील युग की, अपनी आधुनिक सभ्यता, महान् संस्कृति और विज्ञान के चमत्कारों की डींगें मारते हैं। लेकिन गरीब लोग अभी भी ग़रीब और दुखी बने हुए हैं; बड़े-बड़े राष्ट्र एक दूसरे से लड़ते हैं और लाखों आदमियों की हत्या करते हैं; और हमारे देश-जैसे बड़े-बड़े देशों पर विदेशी लोग हुकूमत करते हैं। ऐसी सभ्यता से क्या लाभ अगर हमें अपने ही घर में आजादी नसीब नहीं है? लेकिन अब हम जाग चुके हैं, और आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं।

कितने सौभाग्य की बात है कि हम आज के इस हलचल के जमाने में रह रहे हैं, जबकि हरेक आदमी महान् साहसिक कार्यों में हिस्सा ले सकता है और सिर्फ़ भारत को ही नहीं बल्कि सारी दुनिया को बदलती हुई देख सकता है! तुम बड़ी खुशकिस्मत लड़की हो, कि तुम उसी साल और महीने में पैदा हुईं जिसमें एक महान् क्रान्ति ने रूस में नया युग शुरू किया। और आज तुम अपने ही देश में एक क्रान्ति देख रही हो और बहुत सम्भव है कि जल्दी ही तुम इसमें हिस्सा भी लो सारी दुनिया में मुसीबत फैली हुई है और परिवर्तन हो रहा है। सुदूर-पूर्व में जापान चीन का गला घोंट रहा है। पश्चिम में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में पुरानी प्रणाली लड़खड़ा रही है और धड़ाम से गिरने ही वाली है। संसार के राष्ट्र बातें तो निरस्त्रीकरण की करते हैं, लेकिन एक-दूसरे को सन्देह की नज़र से देखते हैं और अपनेको पूरी तरह हथियार-बन्द करते रहते हैं। पूंजीवाद की, जो इतने ज्यादा अर्से से दुनिया के ऊपर हावी रहा है, अब शाम होने आई है। जिस दिन यह ख़तम होगा, और ख़तम तो उसे जरूर ही होना पड़ेगा, वह अपने साथ बहुत-सी बुराइयों को भी लेता जायगा।

: २३ :

# सिंहावलोकन

२९ मार्च, १९३२

युगों की अपनी यात्रा में हम कहांतक आ पहुंचे हैं ? हम मिस्र, भारत, चीन और नोसास के गुज़रे दिनों की कुछ चर्चा पहले ही कर चुके हैं। हमने यह देखा कि मिस्र की प्राचीन और अद्भुत सभ्यता, जिसने पिरेमिड बनाये, धीरे-धीरे जर्जर हो गई और एक छायामात्र रह गई, जिसमें सिवाय ऊपरी बातों और प्रतीकों के जीवन-तत्व कुछ भी न बचा। हमने यह भी देखा कि नोसास को यूनान की मुख्य भूमि के निवासी उसीके जाति-भाइयों ने नष्ट कर दिया। भारत और चीन के धुंधले और प्राचीन प्रारम्भिक काल पर भी हमने एक नज़र डाली, हालांकि जानकारी की काफ़ी सामग्री न मिलने की वजह से हम ज्यादा नहीं जान सके, लेकिन इतना हमने ज़रूर पहचाना कि उस जमाने में भी इनकी सभ्यता कितनी सम्पन्न थी। हमने ताज्जुब के साथ यह भी देखा कि ये दोनों देश सांस्कृतिक लिहाज से अपने हजारों वर्ष पुराने अतीत के साथ अटूट कड़ियों से जुड़े हुए हैं। इराक़ में हमें उन साम्राज्यों की ज़रा-सी झलक मिली, जो एक के बाद एक थोड़े दिनों के लिए फूले-फले और बाद में उनका वही हाल हुआ जो साम्राज्यों का हुआ करता है।

हमने जुदा-जुदा देशों के कई महान् विचारकों का भी कुछ जिक्र किया है, जो ईसा से पांच-छै सौ वर्ष पहले हुए थे—भारत में बुद्ध और महावीर, चीन में कनफ्यूशस और लाओ-त्से, ईरान में जरथुस्त और यूनान में पाइथागोर। हमने देखा कि बुद्ध ने भारत के प्राचीन वैदिक धर्म के प्रचलित रूपों पर और पुरोहिताई पर वार किया था, क्योंकि उन्होंने देखा कि तरह-तरह के अन्धविश्वास और पूजा-पाठ से साधारण जनता को ठगा और मूंडा जा रहा था। उन्होंने जाति-प्रथा के ख़िलाफ़ आवाज उठाई और समानता का उपदेश दिया।

इसके बाद फिर हम पश्चिम की ओर चले गए, जहां एशिया और यूरोप एक-दूसरे से मिलते हैं। ईरान और यूनान के उतार-चढ़ावों पर नजर डालते हुए हमने देखा कि ईरान में कैसे एक बड़ा साम्राज्य क़ायम हुआ और किस तरह 'शाहंशाह' दारा ने, उसे ठेठ भारत में सिन्ध तक बढ़ा दिया; किस तरह इस साम्राज्य ने छोटे-से यूनान को निगल जाने की कोशिश की, लेकिन बड़ी हैरानी से देखा कि इस छोटे-से देश ने उलटकर टक्कर मारी और डटकर अपनी रक्षा की। इसके बाद यूनान के इतिहास का वह थोड़े दिन का लेकिन शानदार जमाना आया, जिसके बारे में मैं तुम्हें कुछ बता चुका हूं और जब वहां ढेरों प्रतिभाशाली

और महान् पुरुष हुए, जिन्होंने साहित्य और कला की उच्चतम सौन्दर्यमयी रचनाएं रचीं।

यूनान का यह स्वर्ण युग बहुत दिनों तक टिका नहीं रहा। मक़दूनिया के सिकन्दर ने अपनी देश-विजयों से यूनान का नाम दूर-दूर मशहूर कर दिया; लेकिन उसके साथ ही यूनान की ऊंची संस्कृति धीरे-धीरे मुरझाने लगी। सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य को नष्ट कर दिया और विजेता बनकर भारत की सीमा को भी पार किया। इसमें शक़ नहीं कि वह बहुत बड़ा सेनापति था, लेकिन पुरानी परम्परा ने उसके नाम के साथ बेशुमार दन्तकथाएं गूंथ दी हैं और उससे उसे इतनी शोहरत मिल गई है जितनी का कि वह किसी तरह पात्र नहीं था। सिर्फ़ अच्छे पढ़े-लिखे लोग ही सुकरात या अफ़लातून या फ़ीदियस[1] या सोफ़ोक्ले या यूनान के दूसरे महापुरुषों के बारे में कुछ जानते हैं। लेकिन सिकन्दर का नाम किसने नहीं सुना ?

सिकन्दर ने दूसरों के मुक़ाबले में ज्यादा कुछ नहीं किया। ईरानी साम्राज्य पुराना हो गया था और डगमगा रहा था और उसके बहुत दिनों तक टिके रहने की कोई सम्भावना नहीं थी। भारत में सिकन्दर का कदम रखना एक मामूली छापा था, जिसका कोई महत्व नहीं था। अगर सिकन्दर ज्यादा दिन जिन्दा रहता तो सम्भव है, कुछ अधिक ठोस काम कर जाता। लेकिन वह जवानी में ही मर गया और तुरन्त ही उसका साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। लेकिन उसका साम्राज्य भले ही क़ायम न रहा, उसका नाम अभी तक चला आता है।

सिकन्दर के पूर्वी धावे का एक बड़ा असर यह हुआ कि पूर्व और पश्चिम के बीच नये सम्पर्क क़ायम हो गये। बहुत-से यूनानी पूर्व की तरफ़ आये और पुराने शहरों में या अपने बसाये हुए नये उपनिवेशों में बस गये। सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के बीच आपसी सम्पर्क और व्यापार चलता था। लेकिन उसके बाद यह और भी ज्यादा बढ़ गया।

सिकन्दर के हमलों का शायद दूसरा असर, अगर यह ख़याल सही हो तो यूनानियों के लिए बड़ी कम्बख़्ती का हुआ। कुछ लोगों का मत है कि उसके सैनिक अपने साथ इराक़ के दलदलों से मलेरियां के मच्छर यूनान के निचले प्रान्तों में ले गये। इससे मलेरिया फैला और उसने यूनानी क़ौम को क़मजोर और क्षीण

---

[1]फ़ीदियस—यूनान देश का एक मशहूर शिल्पकार। इसका समय ईसा से ५ सौ वर्ष पहले बताया जाता है। ओलिम्पस पहाड़ पर इसने यूनानी देवता जुपिटर की एक मूर्ति बनाई थी। यह मूर्ति सोने और हाथी दांत की थी और उसकी गिनती दुनिया की सात अद्भुत चीजों में की जाती थी।

बना दिया। यूनानियों के पतन के कारणों में एक कारण यह भी बताया जाता है। लेकिन यह सिर्फ़ कल्पना है और कोई नहीं जानता कि इसमें सचाई कितनी है।

सिकन्दर का थोड़े दिन की जिन्दगीवाला साम्राज्य ख़तम हो गया। लेकिन उसकी जगह कई छोटे-छोटे साम्राज्य पैदा हो गये। उनमें से एक मिस्र का साम्राज्य था, जो तालमी के अधीन था और दूसरा पश्चिमी एशिया का सेलेउक के मातहत था। तालमी और सेलेउक दोनों सिकन्दर के सेनापति थे। सेलेउक ने भारत पर क़ब्जा करना चाहा लेकिन वह यह देखकर पछताया कि भारत भी जोरदार जवाबी टक्कर दे सकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने सारे उत्तरी और मध्य भारत पर अपना शक्तिशाली राज्य क़ायम कर लिया था। चन्द्रगुप्त, उसके प्रसिद्ध ब्राह्मण मन्त्री चाणक्य, और उसकी लिखी हुई पुस्तक अर्थशास्त्र के बारे में मैं अपने पिछले पत्रों में कुछ हाल लिख चुका हूं। सौभाग्य की बात है कि यह ग्रंथ आज से ढाई हजार वर्ष पहले के भारत की अच्छी तसवीर हमारे सामने रख देता है।

हमारा सिंहावलोकन पूरा हो गया और अब अगले पत्र में मौर्य्य-साम्राज्य और अशोक के बारे में आगे लिखा जायगा। चौदह महीने से ऊपर हुए २५ जनवरी सन १९३१ ई० को, नैनी-जेल से मैंने यह वादा किया था। उस वादे को मुझे अभी पूरा करना बाक़ी है।

: २४ :

## 'देवानां प्रिय' अशोक

३० मार्च, १९३२

मुझे लगता है कि शायद मैं राजा-महाराजाओं की बुराई करने का जरूरत से ज्यादा शौकीन हो गया हूँ। मुझे इस वर्ग में कोई ऐसा कुछ नहीं दिखाई देता जिसकी तारीफ़ या इज्जत करूँ। लेकिन अब हम एक ऐसे व्यक्ति का जिक्र करनेवाले हैं जो बादशाह और सम्राट् होते हुए भी महान् था और मानव-प्रशंसा के लायक था। वह था चन्द्रगुप्त मौर्य्य का पोता अशोक। एच० जी० वेल्स ने (जिनकी कुछ रोमानी रचनाएं तुमने पढ़ी होंगी) अपनी 'इतिहास की रूप-रेखा'[1] में उसके बारे में लिखा है—"इतिहास के पृष्ठों में संसार के जिन तरह-तरह की उपाधियोंवाले लाखों राजाओं के नाम भरे पड़े हैं, उनमें अकेले अशोक का नाम ही सितारे की तरह चमकता है। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत ने भी—हालांकि उसने उसके धर्म-

[1] Outline of History—H.G. Wells

सिद्धांतों को छोड़ दिया है—उसकी महानता की परम्परा को क़ायम रक्खा है। आज अशोक का नाम श्रद्धा के साथ याद करनेवालों की संख्या उनसे कहीं ज्यादा है जिन्होंने कुस्तुन्तीन[1] या शार्लमेन[2] के नाम कभी सुने हों।"

यह वास्तव में बहुत ऊंचे दर्जे की प्रशंसा है। लेकिन अशोक इसका पात्र था, और एक भारतवासी का हृदय तो भारत के इतिहास के इस काल का विचार करने में आनन्द से भर जाता है।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु ईसाई सन् के शुरू होने के क़रीब ३०० वर्ष पहले हुई। उसके बाद उसका पुत्र बिन्दुसार गद्दी पर बैठा जिसने पच्चीस वर्ष तक शान्ति के साथ शासन किया। यूनानी जगत् से उसने अपना सम्पर्क बनाये रक्खा। उसके दरबार में पश्चिम एशिया के सेलेउक के पुत्र अन्तीओक और मिस्र के तालमी की ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपड़े भारत के नील से रंगा करते थे। कहते हैं कि ये लोग अपनी मोमियाईयां भारत की मलमल में लपेटते थे। बिहार में कुछ पुराने अवशेष मिले हैं, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य्य-युग के पहले भी वहां एक तरह का कांच बनाया जाता था।

तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि मैगस्थेने ने, जो चन्द्रगुप्त के दरबार में राजदूत होकर आया था, लिखा है कि भारतीय लोग सिंगार और सौन्दर्य के बड़े प्रेमी थे। उसने इस बात का ख़ास तौर से जिक्र किया है कि लोग अपना क़द ऊँचा करने के लिए जूते पहनते थे! इससे मालूम होता है कि ऊंची एड़ी का जूता कोई हाल की ईजाद नहीं है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा से २६८ वर्ष पूर्व अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जिसमें सारा उत्तर और मध्य भारत शामिल था और जो ठेठ मध्य एशिया तक फैला हुआ था। शायद भारत के बाक़ी दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य में मिलाने की इच्छा से उसने अपने राज्य के नवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई की। कलिंग भारत के पूर्वी समुद्रतट पर महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का देश था। कलिंगवाले बड़ी

---

[1]कुस्तुन्तीन या कान्स्टेन्टाइन—बिजैन्तीन साम्राज्य का पहला बादशाह को जो 'महान' कहलाता है। इसका समय २७३-२३७ ई० है। तुर्की का कुस्तुन्तुनिया नगर इसीका बसाया हुआ है।

[2]शार्लमेन—पवित्र रोमन-सम्राट् और फ्रांसीसी जाति का राजा था। इसका जन्म सन् ७४२ में हुआ था। इसके साम्राज्य में क़रीब सारा पश्चिमी यूरोप था। ८१४ ई० में इसकी मृत्यु हुई।

बहादुरी से लड़े, लेकिन आख़िर में बहुत भयंकर मार-काट के बाद वे कुचल दिये गए। इस युद्ध और मार-काट का अशोक के दिल पर इतना गहरा असर हुआ कि उसे युद्ध और युद्ध की सब कार्रवाइयों से घृणा हो गई। उसने यह तय कर लिया कि आगे वह कोई युद्ध नहीं करेगा। दक्षिण के एक छोटे-से सिरे को छोड़कर क़रीब-क़रीब सारा भारत उसके क़ब्जे में था। इस छोटे-से सिरे को जीतकर अपनी विजय पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। एच० जी० वेल्स के अनुसार इतिहास भर में अशोक ही एक ऐसा सैनिक राजा हुआ है, जिसने विजय के बाद युद्ध करना त्याग दिया हो।

सौभाग्य से हमारे पास खुद अशोक के ही शब्द हैं, जिनसे पता लगता है कि उसके क्या विचार थे और उसने क्या-क्या काम किये। पत्थरों या धातु-पत्रों पर खुदवाये हुए अनेक धर्मलेखों में अपनी प्रजा और भावी सन्तति के नाम उसके सन्देश आज भी मिलते हैं। तुम जानती ही हो कि इलाहाबाद के क़िले में अशोक का एक ऐसा ही स्तम्भ है। हमारे प्रान्त में इस तरह के और भी कई स्तम्भ हैं।

इन धर्मलेखों में अशोक ने बताया है कि युद्ध और देश-विजय से होनेवाली हत्याओं से उसके दिल में कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजय हासिल करना ही एकमात्र सच्ची विजय है। मैं तुम्हारे लिए इन धर्मलेखों में से दो-एक यहां देता हूं। उन्हें पढ़-कर मन मोहित हो जाता है। उनसे तुम्हें अशोक को समझने में मदद मिलेगी।

एक धर्मलेख में कहा गया है :

> "देवानां प्रिय प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद कलिंग को जीता। डेढ़ लाख आदमी वहां से क़ैद करके लाये गए, एक लाख वहां मारे गए और इससे कई गुना अधिक मर गये।
>
> "कलिंग-विजय के ठीक बाद ही देवानां प्रिय बड़े उत्साह से धर्म की रक्षा, धर्म के पालन और धर्म के प्रचार में जुट गये। उनके हृदय में कलिंग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरू हुआ, क्योंकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने में लोगों की हत्या, मृत्यु और देश-निष्कासन जरूरी हो जाता है। देवानां प्रिय को इस बात पर बहुत गहरा दुःख और खेद होता है।"

आगे चलकर इसी धर्मलेख में लिखा है कि कलिंग में जितने आदमी मारे गए, या क़ैद हुए उसके सौवें या हजारवें हिस्से का भी मारा जाना या क़ैद किया जाना अब अशोक को सहन नहीं होगा।

> "इसके सिवा अगर कोई देवानां प्रिय का अपकार भी करेगा तो वह उसे, यदि वह क्षमा के योग्य है तो क्षमा कर देंगे। अपने साम्राज्य

# अशोक का साम्राज्य

तक्षशिला
श्रीनगर
कालसी
इन्द्रप्रस्थ
कपिलवस्तु
पाटलिपुत्र
प्रयाग
गया
उज्जयनी
सांची
गिरनार
भोज
अजन्ता
कलिंग
नेलोर
चोल
तञ्जोर
मदुरा
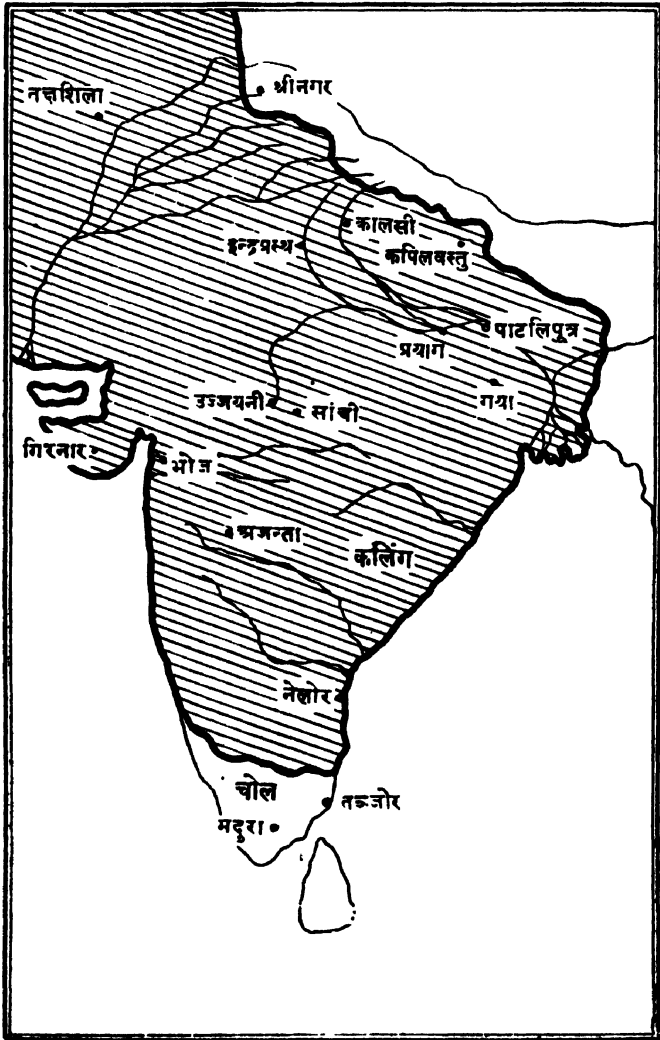
के वनवासियों को भी देवानां प्रिय संतुष्ट रखते हैं और उन्हें धर्म में लाने का यत्न करते हैं, क्योंकि अगर वह ऐसा न करें तो उन्हें पश्चात्ताप होता है। देवानां प्रिय की इच्छा है कि समस्त प्राणियों के साथ अहिंसा, संयम, समानता और मृदुता का व्यवहार किया जाय।"

इसके आगे अशोक बताता है कि 'उपासना' और 'शील' से मनुष्यों का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमें बताया है कि उसे ऐसी सच्ची विजय केवल अपने ही साम्राज्य में नहीं, बल्कि दूर-दूर के राज्यों में भी प्राप्त हुई।

जिस धर्म का इन धर्मलेखों में बार-बार जिक्र आया है वह बौद्ध धर्म है। अशोक बड़ा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार की भरसक कोशिश की। लेकिन उसमें किसी तरह की जबरदस्ती या दबाव का नाम-निशान भी नहीं था। वह लोगों के दिलों को जीतकर ही उन्हें बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाना चाहता था। धर्म-प्रचारकों में ऐसे बहुत कम क्या बिल्कुल ही कम हुए हैं जो अशोक की तरह दूसरे धर्मों के प्रति इतने उदार रहे हों। लोगों को अपने धर्म में लाने के लिए धर्म-प्रचारकों ने बल, आतंक और धोखेबाजी काम में लाने में आनाकानी नहीं की है। सारा इतिहास मजहबी अत्याचारों और मजहबी युद्धों से भरा पड़ा है और मजहब व ईश्वर के नाम पर जितना खून बहा है उतना शायद ही किसी दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद करके खुशी होती है कि भारत के एक महान् सपूत ने, जो बहुत ही गहरा धार्मिक था और एक शक्तिशाली साम्राज्य का अध्यक्ष भी था, लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए कैसा मार्ग अपनाया। ताज्जुब है कि कोई इतना बेवक़ूफ़ हो कि यह ख़याल करे कि धर्म और विश्वास तलवार या संगीन की नोक पर लोगों के गले उतारे जा सकते हैं!

इस प्रकार देवताओं के प्रिय, या धर्मलेखों के शब्दों में 'देवानां प्रिय', अशोक ने पश्चिम में एशिया अफ्रीका और यूरोप के राज्यों में अपने सन्देश-वाहक और राजदूत भेजे। तुम्हें याद होगा कि उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन संघमित्रा को लंका भेजा था और कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे। तुम्हें याद है न कि अनुरुद्धपुर के मन्दिर में हम लोगों ने एक पीपल का पेड़ देखा था? कहते हैं कि यह वही पेड़ है, जो उस प्राचीन टहनी से उगकर बड़ा हुआ है।

भारत में बौद्धधर्म बहुत तेजी से फैल गया। और चूंकि अशोक के लिए कोरी प्रार्थनाओं और पूजा-पाठ और कर्मकांड का नाम धर्म न था, बल्कि उसका अर्थ था नेक काम करना और समाज को ऊंचा उठाना, इसलिए सारे देश में सार्वजनिक बाग़-बग़ीचे, अस्पताल, कुएं और सड़कें बनाये जाने लगे। स्त्रियों की शिक्षा के लिए ख़ास इन्तजाम किया गया था। चार बड़े विश्वविद्यालयवाले नगर थे: ठेठ

उत्तर में पेशावर के पास तक्षशिला, मथुरा, मध्यभारत में उज्जैन, और पटना के पास नालन्दा। यहां सिर्फ़ भारत के ही नहीं बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर के देशों से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे और लौटकर अपने देशों को बुद्ध के उपदेशों का सन्देश अपने साथ ले जाते थे। सारे देश में बड़े-बड़े मठ बन गये थे, जो विहार कहलाते थे। मालूम होता है, पाटलिपुत्र या पटना के आसपास इतने ज़्यादा विहार थे कि सारा प्रान्त ही विहार, या जैसा कि आजकल पुकारा जाता है, बिहार कहलाने लगा। लेकिन जैसा कि अक्सर होता है, ये विहार अध्ययन और विचार की साधना थोड़े ही दिनों में खो बैठे, और सिर्फ़ ऐसे स्थान बन गये जहां लोग एक ढर्रे पर चलते थे और पूजा-पाठ करते रहते थे।

जीव-रक्षा के लिए अशोक की लगन जानवरों तक के लिए बढ़ गई थी। जानवरों के लिए खास तौर से अस्पताल खोले गये थे, और पशु-बलि बन्द कर दी गई थी। इन दोनों बातों में अशोक हमारे जमाने से भी कुछ आगे था। अफ़सोस की बात है कि पशुओं का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है और धर्म का एक जरूरी अंग माना जाता है; और जानवरों के इलाज का कोई इन्तजाम नहीं है।

अशोक के उदाहरण से और बौद्ध धर्म के प्रचार से मांस न खाना बहुत अच्छा समझा जाने लगा। उस समय तक भारत के ब्राह्मण और क्षत्रिय आम तौर पर मांस खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के जमाने में मांस खाना और मदिरा पीना दोनों ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष राज किया और उसने शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने की भरसक कोशिश की। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था :

> "हर समय और हर जगह पर—चाहे मैं खाता होऊं या रनिवास में होऊं, अपने सोने के कमरे में होऊं या टहलता होऊं, या सवारी पर होऊं या कूच कर रहा होऊं, प्रतिवेदकों को चाहिए कि वे प्रजा के हाल-चाल की मुझे बराबर सूचना देते रहें।" अगर कोई कठिनाई उठ खड़ी होती तो "चाहे जो समय या चाहे जो जगह हो" उसकी सूचना तुरंत उसे दी जानी जरूरी थी, क्योंकि उसका कहना था कि "मैं प्रजा का काम सब जगह करता हूं" और "सब लोगों का हित करना मैं अपना प्रधान कर्त्तव्य समझता हूं।"

ईसा से २२६ वर्ष पूर्व अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राज-पाट छोड़कर बौद्ध-भिक्षु हो गया था।

मौर्य-युग के बहुत कम अवशेष पाये जाते हैं। लेकिन जो मिलते हैं, वे ही,

अभी तक की खोज के अनुसार, भारत में आर्य-सभ्यता के लगभग सबसे पहले अवशेष हैं। अभी हम मोहेन-जो-दड़ो के खंडहरों का जिक्र नहीं कर रहे हैं। बनारस के पास सारनाथ में तुम अशोक का सुन्दर स्तम्भ देख सकती हो, जिसकी चोटी पर शेर बने हुए हैं।

अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र के विशाल नगर का अब कोई निशान बाक़ी नहीं है। पन्द्रह सौ वर्ष पहले, यानी अशोक के छै सौ वर्ष बाद, फाहियान[1] नामक एक चीनी यात्री ने पाटलिपुत्र वास्तव में देखा था। उस समय यह नगर गुलज़ार था और मालदार और खुशहाल था, लेकिन तबतक अशोक का पत्थर का राजमहल खंडहर हो चुका था। इन खंडहरों ने ही फ़ाहियान को बहुत प्रभावित किया और उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि राजमहल मनुष्यों का बनाया हुआ नहीं मालूम होता था।

बड़े भारी-भारी पत्थरों से बना हुआ राजमहल नष्ट हो गया और अपनी कोई निशानी नहीं छोड़ गया, लेकिन अशोक की कीर्ति एशिया के सारे महाद्वीप में आज भी जीवित है और उसके धर्मलेख आज भी ऐसी भाषा बोलते हैं, जिसे हम समझ सकते हैं और जिसकी कीमत हम पहचान सकते हैं। आज भी हम उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। यह पत्र बहुत लम्बा हो गया है और मुमकिन है तुम इससे उकता जाओ। अशोक के एक धर्मलेख से एक उद्धरण देकर मैं इसे खतम करता हूं :

> "हर अवस्था में दूसरे सम्प्रदायों का आदर करना लोगों का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से मनुष्य अपने सम्प्रदाय की अधिक उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार करता है।"

## : २५ :
## अशोक के जमाने की दुनिया

३१ मार्च, १९३२

हम देख चुके हैं कि अशोक ने दूर-दूर के देशों में धर्म-प्रचारक और राजदूत भेजे थे और इन देशों से भारत का सम्पर्क और व्यापार बराबर जारी था। हां, जब मैं उस जमाने के सम्पर्क या व्यापार का जिक्र करता हूं तो तुम्हें यह बात जरूर ध्यान में रखनी चाहिए कि वह आजकल जैसा बिल्कुल नहीं था। अब तो रेल और

[1]फाहियान—एक चीनी बौद्ध यात्री था। मगध-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में भारत में आया था और ६ बरस तक यहां घूमता रहा। इसने उस जमाने के भारतवर्ष का बहुत अच्छा वर्णन लिखा है। इसका समय ३७५ ई० है।

जहाज और हवाई-जहाज से माल और मुसाफ़िरों का एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना बहुत आसान हो गया है। लेकिन दूर अतीत के उस जमाने में हर सफ़र में खतरा रहता था और दिन भी बहुत लग जाते थे। इसलिए सिर्फ़ साहसी और तगड़े लोग ही सफ़र किया करते थे। इसलिए उस वक़्त के और आज के व्यापार की किसी भी तरह तुलना नहीं हो सकती।

वे कौन-से 'दूर के देश' थे जिनका जिक्र अशोक ने किया ? उसके समय की दुनिया कैसी थी ? मिस्र और भूमध्य सागर के किनारे के देशों के सिवा हम उस वक़्त के अफ्रीका के बारे में कुछ नहीं जानते। हमें उत्तरी, मध्य और पूर्वी यूरोप, या उत्तरी और मध्य एशिया के बारे में भी बहुत कम मालूम है। अमेरिका के बारे में भी हम कुछ नहीं जानते; लेकिन बहुत-से लोग ऐसा समझते हैं कि अमेरिका के महाद्वीपों में बहुत प्राचीन काल से काफी ऊंची सभ्यता पाई जाती थी। बहुत दिनों बाद, ईसा की १५वीं सदी में, कहते हैं कोलम्बस ने अमेरिका को 'खोज निकाला'। लेकिन हमें पता चलता है कि उस समय भी दक्षिण अमेरिका के पेरू में और आस-पास के देशों में बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता मौजूद थी। इसलिए यह बहुत सम्भव है कि ईसा के तीन सौ वर्ष पहले, जब भारत में अशोक हुआ, अमेरिका में सुसंस्कृत लोग रहते हों और उन्होंने अपने सुसंगठित समाज बनाये हों। लेकिन इस बारे में कोई तथ्य की बात नहीं मिलती, और अन्दाज लगाने से कोई खास फ़ायदा नहीं। मैं तो उनका जिक्र इसलिए कर रहा हूं कि हम लोग अक्सर यही समझते हैं कि सभ्य लोग दुनिया के सिर्फ उन्हीं हिस्सों में रहते थे जिनके बारे में हम सुन चुके हैं या पढ़ चुके हैं। बहुत दिनों तक यूरोपवालों का यह खयाल बना रहा कि प्राचीन इतिहास का मलतब है सिर्फ़ यूनान, रोम और यहूदियों का इतिहास। इनके पुराने ढंग के खयालों के अनुसार बाकी की सारी दुनिया उस वक़्त वीरान रही होगी। बाद में जब उन्हींके विद्वानों और पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उन्हें चीन, भारत और दूसरे देशों का हाल बताया, तब उन्हें पता चला कि उनका ज्ञान कितना सीमित था। इसलिए हमें सावधान रहना चाहिए और यह न समझ बैठना चाहिए कि जो कुछ हमारी इस दुनिया में हुआ है, वह सबकुछ हमारे सीमित ज्ञान के दायरे में आ जाता है।

इस समय तो हम इतना ही कह सकते हैं कि अशोक के जमाने के, यानी ईसा पूर्व तीसरी सदी के प्राचीन सभ्य संसार में मुख्यतया यूरोप और अफ्रीका के भूमध्यसागर के तटवर्ती देश, पश्चिमी एशिया, चीन और भारत ही माने जाते थे। शायद पश्चिमी देशों और पश्चिमी एशिया तक से उस समय चीन का कोई सीधा सम्पर्क नहीं था और पश्चिम में चीन या कैथे के बारे में बे-सिरपैर की धारणाएं फैली हुई थीं। मालूम होता है चीन और पश्चिम को मिलानेवाली कड़ी का काम भारत करता था।

हम देख चुके हैं कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य को उसके सेनापतियों ने आपस में बांट लिया था। उसके तीन बड़े-बड़े हिस्से हुए (१) सेलेउक के अधीन पश्चिमी एशिया, ईरान और इराक; (२) तालमी के अधीन मिस्र; और (३) अन्तीगोने के अधीन मकदूनिया। पहले दो राज्य बहुत दिनों तक क़ायम रहे। तुम्हें याद होगा कि सेलेउक भारत का पड़ौसी था और उसने लालच में पड़कर भारत का कुछ हिस्सा अपने साम्राज्य में शामिल करना चाहा था। लेकिन उसका पाला चन्द्रगुप्त जैसे सवा-सेर से पड़ा, जिसने उसे पीछे खदेड़कर उससे वह हिस्सा भी छीन लिया जो आजकल अफ़गानिस्तान कहलाता है।

मक़दूनिया का भाग्य इनसे कुछ बुरा रहा। गॉल और दूसरी क़ौमों ने उस पर उत्तर से बार-बार हमला किया। उसका सिर्फ एक ही हिस्सा ऐसा था जो इन गॉल लोगों का मुक़ाबला कर सका और आजाद रह सका। यह हिस्सा एशिया-कोचक में परगेमम था, जहां आज तुर्की है। यह छोटा-सा यूनानी राज्य था; लेकिन सौ वर्ष से ज़्यादा तक वह यूनानी संस्कृति और कलाओं का केन्द्र बना रहा जहां सुन्दर-सुन्दर इमारतें, पुस्तकालय और अजायबघर बने। कुछ हद तक वह समुद्र के उस पार सिकन्दरिया से होड़ करने लगा था।

सिकन्दरिया मिस्र में तालमी-वंश की राजधानी था। यह एक बड़ा शहर हो गया था और प्राचीन दुनिया में मशहूर था। एथेन्स का गौरव बहुत घट चुका था और सिकन्दरिया ने धीरे-धीरे यूनानियों के संस्कृति-केन्द्र की जगह ले ली। इसके विशाल पुस्तकालय और अजायबघर से आकर्षित होकर दूर देशों से बहुत-से विद्यार्थी यहां आते थे और दर्शन, गणित, धर्म और दूसरी समस्याओं पर, जिनमें प्राचीन दुनिया के विद्वानों की बहुत रुचि थी, चर्चाएं करते थे। उकलेदस[1], जिसका नाम तुमको और स्कूल में पढ़नेवाले हरेक लड़के-लड़की को मालूम है, सिकन्दरिया का रहनेवाला था और अशोक का समकालीन था।

तालमी-वंश के लोग, जैसा कि तुम जानती हो, यूनानी थे। लेकिन उन्होंने मिस्र के बहुत-से रस्म-रिवाजों को अपना लिया था, यहांतक कि मिस्र के कुछ पुराने देवताओं तक को वे पूजने लगे थे। पुराने यूनानियों के ज्यूपीटर, अपोलो और दूसरे देवी-देवता, जिनका होमर की वीरगाथाओं में बार-बार वैसा ही उल्लेख है जैसा महाभारत में वैदिक देवी-देवताओं का, या तो छोड़ दिये गए या उनके नाम बदलकर उन्हें दूसरे जामे पहना दिये गए। आइसिस, ओसिरिस, होरस वगैरा पुराने मिस्र के देवी-देवताओं और पुराने यूनान के देवी-देवताओं को मिला दिया

---

[1] **उकलेदस या यूक्लिड—इसने रेखागणित के बहुत-से नियम और सिद्धान्त निकाले और उनपर एक ग्रन्थ लिखा। इसका समय ईसा से ३०० वर्ष पूर्व है।**

गया और एक कर दिया गया और जनता के सामने पूजा के लिए नये-नये देवी-देवता रख दिये गए। जबतक लोगों को कोई-न-कोई देवता पूजने के लिए मिल जाता था, तबतक इस बात से उन्हें क्या मतलब था कि वे किसके सामने सिर झुकाते हैं, किसकी पूजा करते हैं और जिसकी पूजा करते हैं उसका नाम क्या है! इन नये देवताओं में सबसे मशहूर सिरेपिस कहलाता था।

सिकन्दरिया तिजारत का भी बहुत बड़ा केन्द्र था और सभ्य संसार के दूसरे देशों के व्यापारी वहां आते रहते थे। कहते हैं कि सिकन्दरिया में भारतीय व्यापारियों की भी एक बस्ती थी। हमें यह भी मालूम है कि सिकन्दरिया के व्यापारियों की एक बस्ती दक्षिण भारत में मलाबार के समुद्री किनारे पर थी।

भूमध्यसागर के उस पार, मिस्र से कुछ ही दूर रोम था जो बहुत महानता को पहुंच चुका था और जो आगे जाकर इससे भी ज्यादा महान् और शक्तिशाली होनेवाला था। उसके बिलकुल सामने अफ्रीका के किनारे पर कार्थेज था जो रोम का प्रतिद्वन्द्वी और दुश्मन था। अगर हम प्राचीन दुनिया के बारे में कुछ जानना चाहते हैं तो हमें इनके इतिहास पर कुछ ज्यादा गौर करना पड़ेगा।

पूर्व में चीन महानता के उसी दर्जे को पहुंच रहा था, जैसा पश्चिम में रोम, और अशोक के जमाने की दुनिया की सही तसवीर खींचने के लिए हमें इस देश पर भी नज़र डालनी होगी।

## : २६ :
# चिन् और हन्

३ अप्रैल, १९३२

पिछले साल मैंने नैनी-जेल से जो पत्र तुम्हें लिखे थे, उनमें मैंने तुमको चीन के प्रारम्भ काल का, ह्वांग-हो नदी के किनारेवाली बस्तियों का, और हिस्या, शैंग या इन और चाऊ नामक शुरू के राजवंशों का कुछ हाल लिखा था कि उस लम्बे समय में चीन राज्य धीरे-धीरे कैसे बढ़ा और कैसे वहां एक केन्द्रीय शासन का विकास हुआ। उसके बाद एक ऐसा लम्बा जमाना आया, जिसमें नाम के लिए तो चाऊ राजवंश का ही राज रहा, पर केन्द्रीकरण की यह प्रक्रिया रुक गई और बिखराहट शुरू हो गई। देश के मुकामी क्षेत्रों के छोटे-छोटे हाकिम एक तरह से स्वतंत्र बन बैठे और आपस में लड़ने लगे। यह बद-किस्मती की हालत कई सौ वर्ष तक जारी रही। मालूम होता है कि चीन की हरेक बात सैकड़ों या हजारों वर्षों ही चला करती है। आखिर में एक स्थानीय हाकिम चिन् के सरदार ने प्राचीन और निकम्मे चाऊ-राजवंश को निकाल बाहर किया। चिन् की सन्तान चिन्-

राजवंश कहलाती है और यह एक दिलचस्प बात है कि चीन का नाम इस चिन् शब्द से ही निकला है।

इस तरह चीन में चिन् लोगों का इतिहास, ईसा से २५५ वर्ष पूर्व शुरू हुआ। इससे १३ वर्ष पहले भारत में अशोक का राज शुरू हो चुका था। यानी हम अब चीन में अशोक के समकालीन लोगों का जिक्र कर रहे हैं। चिन्-राजवंश के पहले तीन सम्राटों ने बहुत थोड़े-थोड़े दिन राज किया। इसके बाद ईसा से २४६ वर्ष पूर्व चौथा सम्राट हुआ, जो अपने ढंग का एक निराला आदमी था। उसका नाम वांग-चैंग था, लेकिन बाद में इसने अपना नाम शीह ह्वांग टी रख लिया और आमतौर पर वह इसी दूसरे नाम से मशहूर है। इसका अर्थ है 'पहला सम्राट'। जाहिर है कि उसे अपने ऊपर और अपने जमाने पर बड़ा घमंड था और उसके दिल में पुराने जमाने की ज़रा भी इज्जत न थी। असल में वह तो यह चाहता था कि लोग पुराने जमाने को भूल जायँ और यह समझने लगें कि इतिहास उसीसे शुरू होता है और वही महान् 'पहला सम्राट' है! उसे इस बात से कुछ मतलब न था कि उससे पहले दो हजार वर्ष से ज्यादा समय में चीन में एक के बाद एक सम्राट होते चले आये थे। वह तो देश से इन लोगों की याद तक मिटा देना चाहता था। सिर्फ पुराने सम्राटों के ही नहीं बल्कि पुराने जमाने के दूसरे सभी प्रसिद्ध पुरुषों तक के नाम वह भुलवा देना चाहता था। इसलिए यह हुक्म निकाला गया कि तमाम ऐसी पुस्तकें, जिनमें पुराने जमाने का हाल हो, खासकर इतिहास की पुस्तकें और कनफ़्यूशस की महान् रचनाएं, जलाकर बिलकुल नष्ट कर दी जायँ। सिर्फ वैद्यक की और विज्ञान की कुछ पुस्तकों पर यह हुक्म लागू नहीं था। उसने अपने फ़रमान में यह कहा—

> "जो लोग प्राचीनता का उपयोग करके वर्तमान काल को नीचे दरजे का बतायेंगे वे अपने रिश्तेदारों समेत कत्ल कर दिये जायंगे।"

उसने अपने इस इरादे पर अमल भी किया। सैकड़ों विद्वान्, जिन्होंने अपने प्रिय ग्रन्थों को छिपाने की कोशिश की, जिन्दा गाड़ दिये गए। यह 'प्रथम सम्राट' कितना नेक, दयालु और खुश-मिजाज आदमी रहा होगा! जब मैं भारत के अतीत की जरूरत से ज्यादा तारीफ सुनता हूँ तो मुझे हमेशा उस सम्राट की याद आ जाती है और वह भी कुछ हमदर्दी के साथ। हमारे देश के कुछ लोग हमेशा पीछे मुड़कर अतीत को ही देखा करते हैं, उसीकी महिमा गाते रहते हैं और उसीसे प्रेरणा पाने की उम्मीद करते रहते हैं। अगर अतीत हमें बड़े-बड़े कारनामों के लिए प्रेरणा देता है, तो हम जरूर उससे प्रेरणा लें। लेकिन मैं समझता हूँ कि अगर कोई आदमी या कोई राष्ट्र हमेशा पीछे की तरफ़ ही देखा करे तो मुझे यह बात उसके लिए लाभकारी नहीं मालूम देती। किसीने सच कहा है कि अगर आदमी पीछे

चलने या हमेशा पीछे देखने के लिए बनाया गया होता तो उसकी आंखें उसके सिर के पीछे होतीं। हम अपने अतीत पर जरूर ग़ौर करें और उसमें जो कुछ तारीफ़ के लायक हो उसकी तारीफ़ भी करें, लेकिन हमारी निगाह हमेशा सामने रहनी चाहिए और हमारे क़दम हमेशा आगे बढ़ने चाहिए।

इसमें कोई शक नहीं कि शीह ह्वांग टी ने पुराने ग्रन्थों को और उनके पढ़नेवालों को जलवाकर या गड़वाकर बर्बरता का काम किया। इसका यह नतीजा हुआ कि उसने जो कुछ किया था, वह सब उसीके साथ खतम हो गया। उसका इरादा था कि वह सबसे 'पहला सम्राट' माना जाय और उसके बाद उसका दूसरा उत्तराधिकारी हो, फिर तीसरा और इस तरह हमेशा तक उसके वंश का सिलसिला बना रहे। लेकिन हुआ यह कि चीन के सब राजवंशों में चिन् का वंश ही सबसे कम दिन क़ायम रहा। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इन राजवंशों में से बहुतों ने सैकड़ों वर्षों तक राज किया और इनमें से एक, जो चिन् के पहले हुआ, ८६७ साल तक कायम रहा। लेकिन चिन् का महान राजवंश बढ़कर, सफलता हासिल करके और शक्तिशाली साम्राज्य पर शासन करके गिरा और नष्ट हो गया और ये सारी बातें पचास वर्ष के थोड़े-से समय में हो गईं। शीह ह्वांग टी शक्तिशाली सम्राटों की परम्परा में सबसे 'पहला सम्राट' होना चाहता था। लेकिन ईसा से २०९ वर्ष पूर्व, उसकी मृत्यु के तीन वर्ष बाद ही, उसके वंश का अन्त हो गया और इसके बाद तुरन्त ही कनफ़्यूशस के ग्रन्थ जो छिपाकर रक्खे गये थे, खोद-कर निकाल लिये गए और उनका फिर पहले की तरह आदर होने लगा।

शासक की हैसियत से शीह ह्वांग टी चीन के सबसे शक्तिशाली शासकों में हुआ। उसने तमाम स्थानीय राजाओं की हेकड़ी को खतम कर दिया, सामन्त-शाही का अन्त कर डाला और एक मज़बूत केन्द्रीय शासन का निर्माण किया। इसने सारे चीन और अनाम को जीत लिया। इसीने चीन की मशहूर दीवार का निर्माण शुरू किया। यह एक बड़ा खर्चीला काम था। लेकिन मालूम होता है कि चीनियों ने अपनी हिफ़ाजत के लिए एक बड़ी सेना बराबर क़ायम रखने के बजाय इस बड़ी दीवार पर, जो बाहर के दुश्मनों से उनकी सुरक्षा के लिए बनाई जा रही थी, रुपया लगाना ज्यादा पसन्द किया। यह दीवार किसी बड़े हमले को मुश्किल से रोक सकती थी; इसने सिर्फ़ इतना ही काम किया कि छोटे-छोटे छापों को रोक दिया। लेकिन इससे यह जाहिर होता है कि चीनी लोग शान्ति चाहते थे, और बलशाली होते हुए भी सैनिक कीर्ति के लोलुप नहीं थे।

'पहला सम्राट' शीह ह्वांग टी मर गया और उस राजवंश में कोई दूसरा ऐसा नहीं निकला जो उसकी जगह लेता। लेकिन उसके जमाने से चीन में हमेशा के लिए एकता की परम्परा बन गई।

इसके बाद एक दूसरा राजवंश, हन्-वंश, सामने आया। यह वंश चार सौ वर्ष से ज़्यादा बना रहा और इस वंश के शुरू के शासकों में एक सम्राज्ञी भी हुई। इसी वंश का छठा सम्राट वू-ती था, जोकि चीन के बड़े शक्तिशाली और मशहूर शासकों में गिना जाता है। इसने पचास वर्ष से ज़्यादा राज किया। इसने तातारियों को हराया, जो उत्तर में बराबर छापे मारा करते थे। पूर्व में कोरिया से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट का बोलबाला था और मध्य एशिया की सब जातियां उसे अपना अधिपति मानती थीं। अगर तुम एशिया का नक्शा देखो तो उसके प्रभाव के जबर्दस्त विस्तार का और ईसा पूर्व पहली और दूसरी सदी में चीन की शक्ति का कुछ अन्दाज लगा सकोगी। हम उस जमाने के रोम की महानता के बारे में बहुत-कुछ पढ़ते-सुनते हैं और यह समझ बैठे हैं कि उस जमाने के रोम ने सारी दुनिया को मात कर दिया था। रोम को 'संसार की स्वामिनी' कहा गया है। लेकिन, हालांकि तब रोम महान था और ज्यादा महान होता जा रहा था, फिर भी चीन का साम्राज्य उससे कहीं ज्यादा फैला हुआ और शक्तिशाली था।

शायद वू-ती के जमाने में ही चीन और रोम का आपसी सम्पर्क क़ायम हुआ। पार्थव लोगों के जरिये इन दोनों देशों में व्यापार हुआ करता था। ये लोग जिस प्रदेश में रहा करते थे वह आज ईरान और इराक़ कहलाता है। लेकिन जब रोम और पार्थव में लड़ाई छिड़ी तो यह व्यापार अटक गया। रोम ने तब समुद्र के रास्ते चीन से सीधे व्यापार करने की कोशिश की और एक रोमन जहाज चीन पहुँच भी गया। लेकिन यह ईसा के बाद दूसरी सदी की बात है और अभी तो हम ईसा से पहले के ही जमाने की बातें कर रहे हैं।

हन्-वंश के शासनकाल में ही चीन में बौद्ध-धर्म आया। ईसाई सन् शुरू होने से पहले भी चीन में उसकी कुछ चर्चा होने लगी थी, लेकिन यह फैला कुछ दिन बाद, जब उस समय के चीनी सम्राट ने, कहते हैं, एक अद्भुत स्वप्न में एक सोलह फुट लम्बा आदमी देखा, जिसके सिर के चारों ओर चमकदार प्रभा-मंडल था। चूंकि उसे स्वप्न में यह दृश्य पश्चिम की ओर दिखाई पड़ा था, इसलिए उसने उसी तरफ दूत भेजे। ये दूत बुद्ध की मूर्ति और बौद्ध-ग्रन्थ लेकर वापस आये। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ भारतीय कला का प्रभाव भी चीन में पहुँचा; वहां से वह कोरिया में और कोरिया से जापान में फैल गया।

हन्-काल में दो महत्वपूर्ण बातें ऐसी हुईं जिनका जिक्र जरूरी है। इस समय लकड़ी के ठप्पों से छपाई की कला का आविष्कार हुआ। लेकिन क़रीब एक हजार वर्ष तक उसका ज़्यादा उपयोग नहीं हुआ। फिर भी इस बात में चीन यूरोप से पांच सौ बरस आगे था।

दूसरी महत्व की बात यह हुई कि इसी जमाने में चीन में सरकारी नौकरियों के लिए इम्तिहानों की प्रणाली शुरू हुई। लड़के और लड़कियां इम्तिहानों से घबराते हैं और मैं उनकी इस बात से हमदर्दी भी रखता हूँ। लेकिन उस जमाने में सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति का यह तरीक़ा एक मार्के की बात थी। दूसरे देशों में अभी तक यह तरीक़ा रहा है कि सरकारी अफ़सर या तो ज्यादातर सिफ़ारिश से नियुक्त किये जाते थे या किसी ख़ास वर्ग या जाति के लोगों में से। चीन में जो कोई इम्तिहान पास करता वही नियुक्त किया जा सकता था। यह प्रणाली आदर्श नहीं कही जा सकती; क्योंकि हो सकता है कि कोई कनफ़्यूशयन शास्त्रों के इम्तिहान में पास हो जाय, मगर फिर भी उसमें सरकारी अफ़सर बनने की योग्यता न हो। लेकिन रिआयती और सिफ़ारिशी नियुक्ति से यह तरीक़ा कहीं बेहतर था, और यह चीन में दो हजार वर्ष तक जारी रहा। अभी हाल ही में इसका अन्त हुआ है।

: २७ :

## रोम बनाम कार्थेज

५ अप्रैल, १९३२

अब हम सुदूर पूर्व से पश्चिम की ओर चलें और रोम की तरक़्क़ी के सिलसिले पर नजर डालें। कहा जाता है कि रोम की बुनियाद ईसा पूर्व आठवीं सदी में पड़ी थी। शुरू जमाने के रोमन लोग, जो शायद आर्यों के वंशज थे, तबरेज़ नदी के पास की सात पहाड़ियों पर कुछ बस्तियां बसाये हुए थे। ये बस्तियां धीरे-धीरे बढ़कर शहर बन गईं और यह नगर-राज्य बढ़ते-बढ़ते इटली भर में फैल गया। यहांतक कि यह सिसली के सामनेवाले दक्षिणी सिरे पर मेसीना तक पहुँच गया।

तुम शायद यूनान के नगर-राज्यों को न भूली होगी। जहाँ-जहाँ यूनानी गये, वहाँ-वहाँ वे नगर-राज्य का अपना यह खयाल भी साथ लेते गये और भूमध्यसागर के किनारों पर जगह-जगह यूनानी उपनिवेश और नगर-राज्य बस गये। लेकिन इस समय हम रोम की इससे बिल्कुल जुदी चीज का जिक्र कर रहे हैं। शुरू में शायद रोम भी यूनान के नगर-राज्य की तरह का ही रहा हो; लेकिन बहुत जल्द वह अपने पड़ोसी कबीलों को हराकर फैल गया। इस तरह रोमन राज्य का क्षेत्र बढ़ने लगा और इटली का ज्यादातर हिस्सा उसमें आ गया। इतना बड़ा क्षेत्र एक नगर-राज्य नहीं रह सकता था। इसका शासन रोम से होता था और खुद रोम में एक अजीब क़िस्म की सरकार थी। वहाँ न तो कोई बड़ा सम्राट या राजा था और न आजकल की तरह का गणराज्य था। फिर भी वहाँ की सरकार एक तरह

का गणराज्य थी, जिसपर जमींदार-वर्ग के कुछ अमीर कुटुम्बों का प्रभुत्व था। शासन का अधिकार सिनेट का माना जाता था—और इस सिनेट को दो चुने हुए आदमी नामजद करते थे, जो 'कौन्सल' कहलाते थे। बहुत दिनों तक तो सिर्फ़ अमीर लोग ही सिनेटर हो सकते थे। रोम की जनता दो वर्गों में बँटी हुई थी; एक तो 'कुलपति' यानी मालदार अमीर, जो आमतौर पर जमींदार हुआ करते थे, दूसरे 'जन-वर्ग' जो मामूली नागरिक थे। रोमन राष्ट्र या गणराज्य के कई-सौ वर्षों का इतिहास इन दो वर्गों के आपसी संघर्ष का इतिहास है। कुल-पतियों के हाथ में सारी हुकूमत थी और जहां हुकूमत रहती है वहीं रुपया भी जाता है। जन-वर्ग नीचे दबा हुआ वर्ग था, जिसके पास न ताक़त थी, न पैसा। जन-वर्ग के लोग हुकूमत हासिल करने के लिए लड़ते और संघर्ष करते रहे, और धीरे-धीरे कुछ टुकड़े उन्हें मिले भी। एक दिलचस्प बात यह है कि इस लम्बे संघर्ष में जन-वर्ग के लोगों ने एक क़िस्म के असहयोग का कामयाबी के साथ प्रयोग किया। वे लोग दल बनाकर रोम शहर को छोड़कर निकल गये और एक नया शहर बसाकर वहाँ रहने लगे। इससे कुलपति लोग डर गये, क्योंकि जन-वर्ग के बिना उनका काम ही नहीं चल सकता था। इसलिए उन्होंने उनके साथ समझौता कर लिया और उन्हें कुछ मामूली रियायतें दे दीं। धीरे-धीरे वे लोग ऊँचे ओहदों के भी हक़दार समझे जाने लगे और सिनेट के मेम्बर तक होने लगे।

हम कुलपति-वर्ग और जन-वर्ग के संघर्ष की चर्चा करते हैं और यह समझ लेते हैं कि इनके सिवा रोम में किसी दूसरे वर्ग की कोई गिनती ही नहीं थी। लेकिन इन दोनों वर्गों के अलावा वहाँ ग़ुलामों की भी बहुत बड़ी संख्या थी, जिनको किसी तरह के अधिकार नहीं थे। ये लोग नागरिक नहीं माने जाते थे और इन्हें वोट देने का हक़ नहीं था। ये लोग तो गायों और कुत्तों की तरह अपने मालिकों की व्यक्ति-गत और निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। मालिक अपनी मरजी से इनको बेच सकता था और सजा दे सकता था। कुछ हालतों में इन्हें मुक्त भी कर दिया जा सकता था। मुक्त हुए ग़ुलामों ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया, जो मुक्त लोगों का वर्ग कहलाता था। प्राचीन काल में, पश्चिम में, ग़ुलामों की हमेशा बड़ी भारी मांग रहती थी और इस मांग को पूरा करने के लिए ग़ुलामों की बड़ी-बड़ी मंडियां बन गईं थीं। मर्दों, औरतों और बच्चों तक को पकड़ने और उन्हें ग़ुलाम बनाकर बेचने के लिए लोग दूर-दूर के देशों में धावे मारा करते थे। प्राचीन मिस्र की तरह पुराने यूनान और रोम के वैभव और बादशाही शान की बुनियाद चारों ओर फैली हुई इस ग़ुलामी की प्रथा पर क़ायम थी।

क्या ग़ुलामी की यह प्रथा उस समय भारत में भी इसी तरह प्रचलित थी? बहुत करके नहीं थी। चीन में भी यह प्रथा नहीं थी। इसका यह मतलब

नहीं कि प्राचीन भारत या चीन में ग़ुलामी थी ही नहीं। यहाँ जो कुछ ग़ुलामी थी वह बहुत-कुछ घरेलू क़िस्म की थी। कुछ घरेलू नौकर ग़ुलाम समझे जाते थे। मालूम होता है, भारत और चीन में ग़ुलाम मजदूर नहीं हुआ करते थे, यानी ऐसे ग़ुलाम नहीं होते थे जिनके झुंड-के-झुंड खेतों में या दूसरी जगहों में काम पर लगाये जाते हों। इस तरह ये दोनों मुल्क ग़ुलामी के, आदमी को सबसे ज्यादा नीचा गिरानेवाले पहलू से बचे रहे।

इस तरह रोम बढ़ा। कुलपतियों ने उससे फायदा उठाया और वे अधिकाधिक धनवान और सम्पन्न होते गये। साथ ही जन-वर्ग के लोग ग़रीब बने रहे और कुलपति इनकी छाती पर सवार रहे; और ये दोनों कुलपति-वर्ग और जन-वर्ग मिलकर ग़रीब ग़ुलामों की छाती पर सवार रहे।

जब रोम की तरक़्क़ी हुई तब उसके शासन का ढंग कैसा था ? मैं बता चुका हूँ कि हुकूमत सिनेट के हाथ में थी, और दो चुने हुए कौन्सल सिनेट को नामज़द किया करते थे। कौन्सलों को कौन चुनता था ? उन्हें नागरिक वोटर चुनते थे। शुरू में रोम जब छोटा-सा नगर-राज्य था, सब नागरिक रोम में या उसके आसपास रहते थे। तब लोगों का एक जगह इकट्ठा होना और वोट देना कोई मुश्किल बात नहीं थी। लेकिन रोम के बढ़ने पर बहुत-से नागरिक ऐसे भी थे जो रोम से दूर रहने लगे और उनके लिए वोट देने आना आसान काम नहीं था। उस वक्त आज-कल जैसे 'प्रतिनिधि शासन' का विकास या उसपर अमल नहीं हुआ था। तुम जानती हो कि आजकल हरेक हल्का या निर्वाचन-क्षेत्र राष्ट्रीय असेम्बली या पार्लमेण्ट या कांग्रेस के लिए अपना प्रतिनिधि चुनता है और इस तरह से एक छोटी-सी जमात के जरिये सारे राष्ट्र की नुमाइन्दगी हो जाती है। यह बात पुराने रोमन लोगों को नहीं सूझी थी, इसलिए वे लोग रोम में ही वोटें डलवाते रहे; हालांकि दूर के वोटरों के लिए वहाँ आकर वोट देना क़रीब-क़रीब असम्भव था। सच तो यह है कि दूर के वोटरों को पता ही नहीं रहता था कि कहां क्या हो रहा है। उस जमाने में न अख़बार थे, न और छपी हुई पुस्तकें थीं, और बहुत कम लोग पढ़-लिख सकते थे। इसलिए जो लोग रोम से दूर रहते थे, उनके लिए वोट देने का अधिकार व्यवहार में किसी काम का न था। उनको वोट देने का अधिकार जरूर था, लेकिन दूरी ने इस अधिकार को बेकार बना दिया था।

इसलिए तुम देखोगी कि चुनाव का और खास-खास बातों का फैसला करने का असली अधिकार वास्तव में रोम के ही वोटरों के हिस्से में था। वे लोग बिना-छाये बाड़ों में जाकर वोट देते थे। इन वोटरों में बहुत-से ग़रीब जन-वर्ग के लोग होते थे। धनवान कुलपति जो ऊँचा ओहदा और हुकूमत चाहता था, इन ग़रीब लोगों को रिश्वत देकर उनके वोट खरीद लेता था। इस तरह रोम के चुनावों

में उतनी ही रिश्वत और तिकड़म चला करती थीं, जितनी कि कभी-कभी आजकल के चुनावों में चलती है।

जब इधर रोम इटली में बढ़ रहा था, तब उधर उत्तरी अफ्रीका में कार्थेज की ताक़त बढ़ रही थी। काथज निवासी फिनीशियन लोगों के वंशज थे, और उनमें जहाज चलाने और व्यापार करने की पुश्तैनी परम्परा थी। उनके यहाँ भी गणराज्य था, लेकिन वह रोम से भी ज़्यादा हद तक अमीरों का गणराज्य था। यह नगर-गणराज्य था, जिसमें ग़ुलामों की आबादी बहुत अधिक थी।

शुरू के दिनों में, रोम और कार्थेज के बीच, दक्षिण इटली और मेसिना में यूनानी उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कार्थेज यूनानियों को निकालने के लिए एक हो गये, और इस काम में सफल होने पर कार्थेज ने सिसली ले लिया और रोम बूट की शकलवाले इटली की दक्षिणी नोक तक पहुंच गया। रोम और कार्थेज की दोस्ती और मेल बहुत दिनों तक क़ायम न रह सके। जल्दी ही इन दोनों में टक्करें होने लगीं और कट्टर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी। तंग समुद्र के दोनों ओर आमने-सामने डटी हुई दो मजबूत शक्तियों के लिए भूमध्यसागर काफ़ी बड़ा न था। दोनों ही के हौसले बढ़े हुए थे। इधर रोम बढ़ रहा था, और उसमें नौजवानी का हौसला और भरोसा था; उधर कार्थेज शुरू में शायद कल के छोकरे रोम को कुछ हिक़ारत की नजर से देखता था और अपनी समुद्री ताक़त पर पूरा भरोसा रखता था। सौ वर्ष से ज़्यादा तक ये दोनों आपस में लड़ते रहे, हालांकि बीच-बीच में कुछ दिनों के लिए शान्ति भी हो जाती थी। लेकिन दोनों ही जंगली जानवरों की तरह लड़े, जिससे दोनों के बेशुमार निवासी तबाह हो गये। इनमें तीन युद्ध हुए जो 'प्यूनिक युद्ध' कहलाते हैं। पहला प्यूनिक युद्ध तेईस वर्ष तक यानी २६४ ई० पूर्व से २४१ ई० पू० तक चला और इस युद्ध में रोम की जीत हुई। बाईस वर्ष बाद दूसरा प्यूनिक युद्ध हुआ और कार्थेज ने हैनिबाल नामक एक सेनापति भेजा, जो इतिहास में बहुत मशहूर है। पन्द्रह वर्ष तक हैनिबाल ने रोम को सताया और रोमन लोगों को आतंकित किया। उसने भयंकर मारकाट करके रोमन सेनाओं को हराया—खासकर कैनी की लड़ाई में जो २१६ ई० पूर्व में हुई। यह सब उसने कार्थेज की मदद मिले बिना ही कर दिखाया, क्योंकि समुद्र पर रोमन लोगों का क़ब्जा होने की वजह से कार्थेज से उसका सम्बन्ध टूट-सा गया था। लेकिन हार और बर्बादी को सहते हुए और हैनिबाल का खतरा हमेशा सिर पर रहते हुए भी, रोमन क़ौम ने हिम्मत नहीं हारी और अपने अदावती दुश्मन से बराबर लोहा लेते रहे। वे हैनिबाल से खुले मैदान में लड़ने से डरते थे, इसलिए वे खुली लड़ाइयों से बचते थे और सिर्फ़ उसे तंग करने और कार्थेज से आने-जाने का मार्ग काटने की कोशिश में ही रहते थे। फ़ेबी (फ़ेबियस) नामक रोमन सेनापति ख़ास तौर से खुली लड़ाइयों से बचना

पसन्द करता था। दस वर्ष तक वह इसी तरह खुली लड़ाइयों को टालता रहा। मैंने उसका जिक्र इसलिए नहीं किया है कि वह कोई बड़ा आदमी था और उसका नाम याद रखने के लायक़ है, बल्कि इसलिए कि अंग्रेजी भाषा में उसके नाम पर एक शब्द 'फ़ेबियन' बन गया है। 'फ़ेबियन' चालें वे होती हैं, जिनमें किसी मामले का दो-टूक फ़ैसला टाला जाता है। इस नीति पर चलनेवाले लड़ाई या संकट को टालते रहते हैं और धीरे-धीरे घुला-घुलाकर अपना उद्देश्य हासिल करने की उम्मीद लगाये रहते है। इंग्लैण्ड में एक फ़ैबियन सोसाइटी है, जो समाजवाद में तो विश्वास करती है, लेकिन जल्दबाजी और एकदम परिवर्तन में विश्वास नहीं रखती।

हैनिबाल ने इटली के बहुत बड़े हिस्से को वीरान कर दिया, लेकिन रोम की अटल कोशिश और अडिग हठ ने अन्त में विजय पाई। ई० पू० २०२ में जामा की लड़ाई में हैनिबाल हार गया। वह जगह-जगह भागता फिरा, लेकिन जहां वह गया वहीं रोम की न बुझनेवाली नफ़रत उसका पीछा करती रही और अंत में वह जहर खाकर मर गया।

रोम और कार्थेज में पचास वर्ष तक सुलह रही। कार्थेज को काफ़ी नीचा दिखा दिया गया था और रोम को चुनौती देने की अब उसमें बिलकुल हिम्मत नहीं रही थी। फिर भी रोम को सन्तोष नहीं हुआ और उसने कार्थेज को तीसरे प्यूनिक युद्ध के लिए मजबूर कर दिया। इस लड़ाई में बहुत भारी मारकाट हुई और कार्थेज बिल्कुल नष्ट हो गया। सचमुच, जिस जमीन पर किसी समय कार्थेज की अभिमानिनी नगरी—भूमध्यसागर की रानी—खड़ी थी, उसपर हल चलवा दिये गए।

: २८ :

# रोमन गणराज्य साम्राज्य बन गया

९ अप्रैल, १९३२

कार्थेज की आख़िरी हार और बर्बादी के बाद रोम पश्चिमी दुनिया में सर्वोपरि हो गया और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। इससे पहले वह यूनानी राज्यों को जीत ही चुका था; अब उसने कार्थेज के प्रदेशों पर भी क़ब्जा कर लिया। इस तरह दूसरे प्यूनिक युद्ध के बाद स्पेन रोम की अधीनता में आगया। फिर भी रोमन राज्य में अभी तक सिर्फ़ भूमध्यसागर के तटवर्ती देश ही शामिल थे। सारा उत्तरी और मध्य-यूरोप रोम के अधीन नहीं था।

दूसरे देशों पर जीत का और लड़ाइयों में विजय का नतीजा यह हुआ कि रोम में धन और विलासिता बढ़ गई। जीते हुए प्रदेशों से सोने और गुलामों के ढेर-के-

रोम एक साम्राज्य बन जाता है
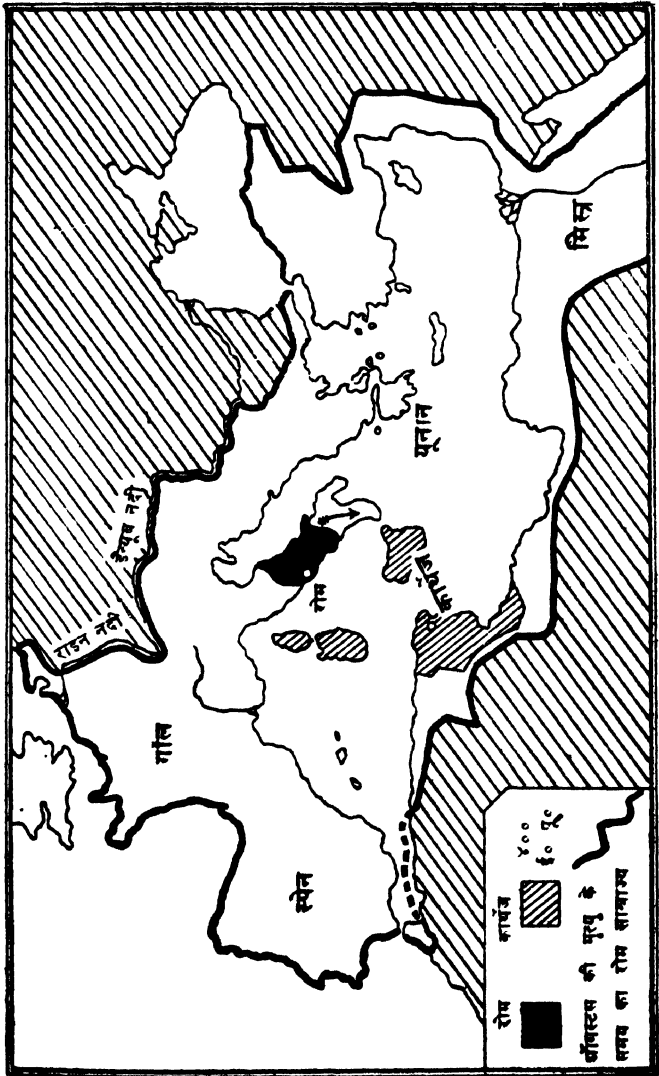
ढेर आने लगे। लेकिन ये चीजें जाती कहां थीं ? मैं तुम्हें बतला चुका हूं कि रोम का शासन सिनेट के हाथ में था और उसमें धनी अमीर कुटुम्बों के लोग हुआ करते थे। धनवान लोगों की इस जमात के हाथ में रोमन गणराज्य और उसके जीवन की बागडोर थी और रोम की शक्ति और विस्तार में बढ़ोतरी के साथ-साथ इन लोगों की दौलत भी बढ़ती गई। इसलिए जो धनवान थे, वे और भी ज्यादा धनवान होते गये और ग़रीब लोग ग़रीब ही बने रहे, बल्कि वास्तव में और भी ज्यादा ग़रीब हो गये। गुलामों की आबादी बढ़ गई और विलासिता और मुसीबत साथ-साथ बढ़ने लगीं। जब ऐसा होता है, तभी अक्सर गड़बड़ हो जाया करती है। हैरानी की बात है कि इन्सान कहांतक बर्दाश्त कर लेता है, लेकिन इन्सानी बर्दाश्त की भी हद होती है, और जब हद हो जाती है, तब भड़ाके हो जाते हैं।

धनवान लोगों ने ग़रीबों को खेल-तमाशों और सरकसों के दंगलों से बहलाने की कोशिश की। इनमें ग्लेडियेटर[1] लोग, सिर्फ़ दर्शकों के मनोरंजन के लिए एक-दूसरे से लड़ने और मरने-मारने के लिए मजबूर किये जाते थे। गुलामों और युद्ध-बन्दियों की बहुत बड़ी संख्या इस तरह मौत के घाट उतारी जाती थी और, मेरे खयाल से, इसे खेल कहा जाता था !

धीरे-धीरे रोम के राज्य में उपद्रव बढ़ने लगे। बलवे और हत्याकांड होने लगे और चुनावों में रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार होने लगे। ग़रीब और पददलित गुलामों तक ने स्पार्तक नामक एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। लेकिन ये लोग बेरहमी के साथ कुचल दिये गए। कहा जाता है कि रोम में ऐपियन सड़क पर छै हजार गुलाम सूली पर चढ़ा दिये गए।

धीरे-धीरे अवसरवादी और सेनापति लोग अधिक प्रभावशाली होते गये और सिनेट पर हावी होने लगे। घरेलू युद्ध छिड़ गया, तबाही होने लगी और प्रतिद्वन्द्वी सेनापति आपस में लड़ने लगे। पूर्व में, पार्थव (इराक़) में ई० पू० ५३ में कैरे की लड़ाई में, रोम के सेना-दलों ने बहुत बुरी हार खाई। पार्थवों से लड़ने के लिए भेजी गई रोमन सेना को उन्होंने नष्ट कर दिया।

रोमन-सेनापतियों की इस भीड़ में दो नाम पाम्पी और जूलियस सीज़र, बहुत मशहूर हैं। तुम जानती हो कि सीजर ने फ़ास को, जो उस समय गॉल कहलाता था, और ब्रिटेन को, जीत लिया था। पाम्पी पूर्व की तरफ़ गया और वहां उसे

---

[1] ग्लेडियेटर—प्राचीन रोम के उन पहलवानों का नाम, जो दूसरे योद्धाओं या जंगली जानवरों से अखाड़ों में लड़ते थे और सारा रोम तमाशा देखता था। दूसरों का खून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम-निवासियों को ये खेल बड़े प्रिय थे।

थोड़ी-बहुत कामयाबी भी मिली। लेकिन इन दोनों की आपस में बड़ी गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी। दोनों ही महत्त्वाकांक्षी थे और किसी दूसरे प्रतिद्वन्द्वी को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। बेचारे सिनेट की कोई पूछ नहीं रही, हालांकि दोनों जबानी तौर पर उसकी अधीनता स्वीकारते थे। सीज़र ने पाम्पी को हरा दिया और इस तरह वह रोमन संसार का प्रमुख नेता बन गया। लेकिन रोम गणराज्य था, इसलिए सरकारी तौर पर सीज़र हर मामले में अपनी मनमानी नहीं कर सकता था। इसलिए यह कोशिश की गई कि उसको ताज पहनाकर बादशाह या सम्राट बना दिया जाय। सीज़र इसके लिए बहुत-कुछ राजी था। लेकिन रोम की पुरानी गणराज्य-परम्परा के कारण उसे कुछ झिझक हुई। सचमुच, यह परम्परा उसके लिए इतनी जोरदार साबित हुई कि ब्रूत (ब्रूटस) और दूसरे लोगों ने उसे फ़ोरम[1] की सीढ़ियों पर ही छुरे भोंककर मार डाला। तुमने शेक्सपियर का 'जूलियस सीज़र' नाटक पढ़ा होगा, जिसमें यह दृश्य दिया हुआ है।

जूलियस सीज़र ई० पू० ४४ में मारा गया, लेकिन उसकी मौत रोम के गणराज्य को न बचा सकी। सीज़र के दत्तक-पुत्र और भाई के पोते आक्तेवियन ने, और मित्र मार्क एन्थनी ने, सीजर की हत्या का बदला चुका लिया। इसके बाद बादशाहत वापस आई और आक्तेवियन प्रिन्सेप्स यानी राज्य का प्रमुख बना और गणराज्य ख़तम हो गया। सिनेट क़ायम रहा, लेकिन उसके हाथ में कोई असली ताक़त नहीं रह गई।

आक्तेवियन जब प्रिन्सेप्स या प्रमुख बना, तो उसने अपना नाम और पद आगस्त सीज़र रक्खा। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीज़र कहलाते रहे। सीज़र शब्द का अर्थ ही वास्तव में सम्राट हो गया है। क़ैसर और ज़ार शब्द इसी 'सीज़र' शब्द से निकले हैं। बहुत दिनों से हिन्दुस्तानी भाषा में भी क़ैसर शब्द इसी अर्थ में चालू हो गया है, जैसे 'क़ैसरे-रूम', 'क़ैसरे-हिन्द'। इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज को 'क़ैसरे-हिन्द' की उपाधि पर नाज है।[2] जर्मन-क़ैसर ख़तम हो गया, इसी तरह आस्ट्रियन-क़ैसर, तुर्की-क़ैसर और रूसी-जार भी। और यह दिलचस्प और अजीब बात है कि आज अकेला इंग्लैण्ड का बादशाह ही रह गया है जो उस जूलियस सीज़र की उपाधि धारण कर रहा है, जिसने रोम के लिए ब्रिटेन को जीता था।

इस तरह जूलियस सीज़र का नाम बादशाही शान-शौकत का सूचक शब्द बन गया। अगर पाम्पी ने यूनान में फ़ारसैल की लड़ाई में सीज़र को हरा दिया

---

[1] फ़ोरम—वह इमारत जिसमें सिनेट की बैठकें हुआ करती थीं।

[2] अब इंग्लैण्ड के बादशाह की भी 'क़ैसरे-हिन्द' की उपाधि हटा दी गई है।

होता तो क्या हुआ होता ? शायद पाम्पी प्रिन्सेप्स या सम्राट बना होता और पाम्पी का मतलब सम्राट हो गया होता। तब विलियम द्वितीय अपनेको जर्मन पाम्पी कहते और किंग जार्ज भी शायद पाम्पी-ए-हिन्द कहलाते।

रोमन राज्य के इस परिवर्तन-काल में, जब गणराज्य साम्राज्य बन रहा था, मिस्र में एक ऐसी स्त्री हुई जो अपने सौन्दर्य के लिए इतिहास में मशहूर होनेवाली थी। उसका नाम क्लियोपेत्रा था। उसका चरित्र कुछ ज्यादा पसंद करने लायक नहीं है, लेकिन वह उन इनी-गिनी स्त्रियों में से है, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपनी खूबसूरती से इतिहास का रुख बदल दिया। जब जूलियस सीज़र मिस्र गया था, तब यह निरी लड़की ही थी। बाद में मार्क एन्थनी से इसकी गहरी दोस्ती हो गई, जिसका नतीजा अच्छा नहीं निकला। वास्तव में क्लियोपेत्रा ने उसके साथ दग़ा किया और एक बड़ी समुद्री लड़ाई के दौरान में वह उसे छोड़कर अपने जहाजों को लेकर भाग गई। एक मशहूर फ्रांसीसी लेखक पैस्कल ने बहुत दिन हुए लिखा था :

> "अगर क्लियोपेत्रा की नाक ज़रा छोटी होती तो दुनिया की सूरत बिलकुल बदल गई होती।"

इस बात में कुछ अतिशयोक्ति है। क्लियोपेत्रा की नाक दूसरी तरह की होती तो भी उससे दुनिया की हालत में बहुत ज़्यादा फ़र्क न पड़ा होता। लेकिन यह सम्भव है कि मिस्र पहुँचने के बाद सीज़र अपनेको बादशाह या सम्राट या एक देवता जैसा समझने लगा हो। मिस्र में गणराज्य नहीं था, बल्कि एकतंत्री शासन था और राजा को सिर्फ़ सर्वोपरि ही नहीं बल्कि देवता की तरह माना जाता था। पुराने मिस्रियों की यही धारणा थी और यूनान के तालमी लोगों ने, जो सिकन्दर की मौत के बाद मिस्र के शासक हुए, मिस्र के बहुत-से आचार-विचारों को अपना लिया था। क्लियोपेत्रा इसी तालमी-वंश की थी और इसलिए यूनानी, या यों कहिये कि मक़दूनिया की, राजकुमारी थी।

क्लियोपेत्रा का इस प्रक्रिया में कोई हाथ हो या न हो, लेकिन मिस्रियों की यह धारणा कि राजा देवता है, रोम तक पहुँच गई, और वहाँ घर कर गई। जूलियस सीज़र की जिन्दगी में ही, जबकि गणराज्य अपनी तरक़्क़ी पर था, उसकी मूर्तियाँ बनने और पुजने लगी थीं। आगे चलकर हम देखेंगे कि रोम सम्राटों ने अपनी पूजा बाकायदा कैसे चालू करवा दी।

अब हम रोम के इतिहास में एक महत्व के मोड़ पर, गणराज्य के अन्त तक, पहुँच गये हैं। सन् २७ ई० में आक्तेवियन, आगस्त सीज़र की पदवी धारण कर प्रिन्सेप्स बना। रोम और उसके सम्राटों की इस कहानी की चर्चा हम आगे फिर

करेंगे। तबतक हम गणराज्य के आखिरी दिनों में रोम के अधीन राज्यों पर एक नजर दौड़ालें।

रोम इटली पर तो राज करता ही था; पश्चिम में स्पेन और गॉल (फ्रांस) पर भी उसका क़ब्जा था। पूर्व में यूनान और एशिया-कोचक, जहां तुम्हें याद होगा कि परगैमम का यूनानी राज्य था, उसके क़ब्जे में थे। उत्तरी अफ्रीका में मिस्र रोम का मेलवाला और रक्षित राज्य समझा जाता था। कार्थेज और भूमध्य-सागर के तटवर्ती देशों के कुछ दूसरे हिस्से भी रोम के अधीन थे। इस तरह उत्तर में राइन नदी के सहारे-सहारे रोमन साम्राज्य की सीमा थी। जर्मनी और रूस की और उत्तरी और मध्य-यूरोप की सारी क़ौमें, रोमन साम्राज्य से बाहर थीं। इराक़ के पूर्व की भी सारी क़ौमें उसके अधीन नहीं थीं।

उस जमाने में रोम बहुत महान् था। लेकिन यूरोप के बहुत-से लोग, जो दूसरे देशों का इतिहास नहीं जानते, यह समझते हैं कि रोम ही सारी दुनिया का सिर-ताज था। यह बात असलियत से बहुत दूर थी। तुम्हें याद होगा कि इसी जमाने में चीन में महान् हन् वंश राज करता था और वह एशिया के तट से लेकर ठेठ कैस्पियन सागर तक फैले हुए क्षेत्र का सर्वाधिपति था। इराक़ में कारे की लड़ाई में, जिसमें रोमन लोग बुरी तरह हारे थे, मुमकिन है पार्थवों को चीन के मंगोलियों ने मदद दी हो।

लेकिन रोमन इतिहास, खासकर रोमन गणराज्य का इतिहास, यूरोप-निवासी को बहुत प्यारा है, क्योंकि वह रोम के पुराने राज्य को यूरोप के आज के राष्ट्रों का पूर्वज जैसा मानता है और यह बात किसी हद तक सही भी है। इसलिए इंग्लैण्ड में स्कूलों के विद्यार्थियों को, चाहे वे आधुनिक इतिहास जानें या न जानें, यूनान और रोम का इतिहास जरूर पढ़ाया जाता था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जूलियस सीज़र का लिखा हुआ, उसकी गॉल की चढ़ाई का हाल, मूल लातानी भाषा में मुझे पढ़ाया गया था। सीज़र सिर्फ़ योद्धा ही नहीं था, बल्कि एक सुन्दर और प्रभावशाली लेखक भी था और उसका लिखा हुआ गॉल के युद्ध का वर्णन[1] आज भी यूरोप के हजारों स्कूलों में पढ़ाया जाता है।

कुछ दिन हुए हमने अशोक के समय की दुनिया पर नज़र डालनी शुरू की थी। हम इस सिंहावलोकन को खतम करके उससे बाहर चीन और यूरोप भी पहुँच गये। अब हम क़रीब-क़रीब ईसाई सन् की शुरूआत तक पहुँच गये हैं। इसलिए अब हमें फिर भारत लौटना पड़ेगा ताकि यहां के निवासियों के बारे में अबतक की जानकारी पूरी हो जाय। क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद वहाँ बड़ी-बड़ी तब्दीलियां हुईं और उत्तर और दक्षिण में नये-नये साम्राज्य पैदा हो गये।

---

[1] De Bello Gallico

मैंने कोशिश की है कि तुम सारी दुनिया के इतिहास को एक पूरी सिल-सिलेवार चीज समझो। लेकिन मुझे उम्मीद है, तुम्हें यह भी याद होगा कि शुरू के जमाने में दूर-दूर के देशों का आपसी सम्पर्क बहुत ही सीमित ढंग का था। रोम, जो कि कई बातों में बहुत आगे बढ़ा हुआ था, भूगोल और नक्शों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था, और न इन विषयों को जानने की उसने कोई खास कोशिश ही की। आजकल के स्कूलों के लड़कों और लड़कियों को भूगोल का जितना ज्ञान है, उतना रोम के बड़े-बड़े सेनापतियों और सिनेट के बुद्धिमान् आदमियों को भी नहीं था, हालांकि वे लोग अपनेको दुनिया का स्वामी समझते थे। और जिस तरह ये लोग अपनेको दुनिया का स्वामी समझते थे, उसी तरह उनसे कई हजार मील दूर, एशिया के विशाल महाद्वीप के दूसरे सिरे पर, चीन के शासक भी अपनेको संसार का स्वामी समझते थे।

## : २९ :

## दक्षिण भारत का उत्तर भारत पर छा जाना

१० अप्रैल, १९३२

सुदूर पूर्व में चीन और पश्चिम में रोम की लम्बी यात्रा के बाद हम फिर भारत वापस आते हैं।

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य-साम्राज्य बहुत दिनों तक नहीं टिका। थोड़े ही वर्षों में वह मुरझा गया। उत्तर के प्रान्त उससे अलग हो गये और दक्षिण में आन्ध्र की एक नई शक्ति पैदा हुई। अशोक के वंशज क़रीब पचास वर्ष तक अपने अस्त होते हुए साम्राज्य पर शासन करते रहे। आखिर में पुष्यमित्र नामक उनके एक ब्राह्मण सेनापति ने बल से उनकी गद्दी छीन ली। यह व्यक्ति खुद सम्राट बन बैठा और कहते हैं, उसके जमाने में ब्राह्मण-धर्म[1] में फिर जान पड़ गई। किसी हद तक बौद्ध भिक्षुओं पर अत्याचार भी हुए। लेकिन भारत का इतिहास पढ़ने पर तुम देखोगी कि ब्राह्मण-धर्म ने बौद्ध-धर्म पर जिस ढंग से आक्रमण किया वह बड़ा चतुराई भरा था। उसने बौद्ध-धर्म पर ज्यादा अत्याचार करने की कोई भोंडी कार्रवाई नहीं की। बौद्धों पर कुछ अत्याचार जरूर हुआ, लेकिन वह बहुत करके राजनैतिक था, धार्मिक नहीं। बड़े-बड़े बौद्ध-संघ शक्तिशाली संगठन थे और बहुत-से शासक उनकी राजनैतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होंने उनको कम-जोर करने की कोशिश की। बौद्ध-धर्म को उसकी जन्मभूमि से निकाल बाहर करने में ब्राह्मण-धर्म आखिर में कामयाब रहा, क्योंकि उसने कुछ हद तक बौद्ध-धर्म

[1] ब्राह्मण-धर्म से मतलब हिन्दू-धर्म से है।

को पचा लिया, अपने में मिला लिया, और उसे अपने घर में जगह देने की कोशिश भी की।

इस तरह नये ब्राह्मण-धर्म ने, न तो सिर्फ़ पुरानी हालतों को ही फिर से लाने की कोशिश की और न जो कुछ बौद्ध-धर्म ने किया था उसको बिल्कुल मटिया-मेट ही किया। ब्राह्मण-धर्म के पुराने नेता बहुत चतुर थे। बहुत पुराने जमाने से उनका यह तरीक़ा चला आया था कि वे दूसरे धर्मों को अपने में मिला लेते और उसे पचा लेते थे। आर्य लोग जब पहले-पहल भारत में आये तब उन्होंने द्रविड़ों की संस्कृति और रस्म-रिवाजों को बहुत-कुछ पचा लिया और अपने सारे इतिहास में वे जान-बूझकर या बेजाने लगातार इसी नीति का पालन करते आये हैं। बौद्ध-धर्म के साथ भी उन्होंने यही किया और बुद्ध को अवतार[1] और देवता बना दिया; बहुत-से हिन्दू देवताओं में उन्हें भी एक स्थान दे दिया। इस तरह बुद्ध तो क़ायम रहे, लोग उनकी पूजा और उपासना करते रहे; लेकिन उनके विशेष सन्देश को चुपचाप हटा दिया गया और ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म कुछ छोटी-मोटी तबदीलियों के बाद अपने मामूली ढर्रे पर फिर चलने लगा। लेकिन बुद्ध को हिन्दू-धर्म का जामा पहनाने की क्रिया बहुत काल तक चलती रही। मगर अभी हम आगे की बातें करने लगे हैं, क्योंकि अशोक की मृत्यु के बाद कई सौ वर्ष तक बौद्ध-धर्म भारत में क़ायम रहा।

हमें इस बात पर ध्यान देने की जरूरत नहीं कि मगध में एक के बाद दूसरे कौन-कौन से राजा और राजवंश आये और गये। अशोक के मरने के दो सौ वर्ष बाद तो मगध भारत का सर्वोपरि राज्य भी नहीं रहा। लेकिन तब भी वह बौद्ध-संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र बना रहा।

इस बीच उत्तर और दक्षिण दोनों में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं। उत्तर में मध्य-एशिया की कई क़ौमें, जैसे बाख़्त्री, शक, तुर्क और कुषाण, बराबर हमले कर रही थीं। मेरा ख़याल है मैंने तुम्हें एक बार लिखा था कि कैसे मध्य-एशिया कई घुमक्कड़ क़ौमों के पैदा होने और पनपने की भूमि रहा है और इतिहास में ये लोग बार-बार बाहर निकलकर सारे एशिया में और यूरोप तक में कैसे फैल गये। ईसा के वर्ष पूर्व २०० के समय में भारत पर भी इस तरह के कई हमले हुए। लेकिन तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि ये हमले कोरी देश-विजय या लूटमार के लिए नहीं हुआ करते थे, बल्कि बसने के लिए भूमि की तलाश में हुआ

[1] निन्दसि यज्ञ विधे रह रह श्रुतिजातम
सदय हृदय दर्शित पशुघातम्
केशव धृत बुद्ध शरीर
जय जयदेव हरे —गीतगोविन्द

करते थे। मध्य-एशिया के इन क़बीलों में बहुत-से घुमक्कड़ थे और जब उनकी संख्या बढ़ जाती थी, तो जिस भूमि पर वे बसे होते थे, वह उनके गुजारे के लिए नाकाफ़ी हो जाती थी। इसलिए उन्हें नई भूमि की तलाश में बाहर निकलना पड़ता था। इनके वहाँ से निकलने का इससे भी ज़्यादा जबर्दस्त एक कारण यह था कि उन्हें पीछे से ढकेला जाता था। एक बड़ा कबीला या फिरक़ा दूसरों पर हमला करके उन्हें वहाँ से निकाल बाहर करता था और इन निकाले हुओं को दूसरे देशों पर हमला करने के लिए मजबूर होना पड़ता था। इस तरह भारत में जो लोग हमलावर बनकर आये, वे ख़ुद अक्सर अपनी चरागाहों से भगाये हुए शरणार्थी थे। जब कभी चीनी साम्राज्य में काफ़ी ताक़त हो जाती थी, जैसा कि हन्-वंश के दिनों में हुआ, तब वह भी इन घुमक्कड़ों को निकाल बाहर करता था और उन्हें नये घर तलाश करने के लिए मजबूर कर देता था।

तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए कि मध्य-एशिया के घुमक्कड़ कबीले भारत को बिल्कुल ही शत्रु-देश नहीं समझते थे। उन्हें 'म्लेच्छ' जरूर कहा गया है, और सचमुच उस समय के भारत के मुक़ाबले में वे उतने सभ्य थे भी नहीं। लेकिन उनमें ज़्यादातर कट्टर बौद्ध थे, जो भारत को, जहाँ उनके 'धर्म' का जन्म हुआ था, इज़्जत की नज़र से देखते थे।

पुष्यमित्र के जमाने में भी उत्तर-पश्चिम भारत पर बाख्त्रिया के मेनेन्द्र ने हमला किया था। मेनेन्द्र बौद्ध-धर्म का भक्त था। भारत की सीमा के ठीक उस पार बाख्त्रिया का देश था। यह सेलेउक के साम्राज्य का एक हिस्सा था, लेकिन बाद में स्वाधीन हो गया था। मेनेन्द्र का हमला असफल कर दिया गया, लेकिन काबुल और सिन्ध पर उसने कब्जा कर ही लिया।

इसके बाद शकों का हमला हुआ, जो इस देश में बहुत बड़ी संख्या में आये और सारे उत्तर व पश्चिम भारत में फैल गये। यह तुर्की घुमक्कड़ों का एक बड़ा कबीला था। एक दूसरे बड़े कबीले कुषाण ने उन्हें अपनी चरागाहों से मार भगाया था। वहाँ से वे लोग बाख्त्रिया और पार्थव को रौंदते हुए धीरे-धीरे उत्तरी भारत में, ख़ासकर पंजाब, राजपूताना और काठियावाड़ में जम गये। भारत ने उन्हें सभ्य बनाया और उन लोगों ने अपनी घुमक्कड़पन की आदतें छोड़ दीं।

यह एक दिलचस्प बात है कि भारत के कुछ भागों के इन बाख्त्री और तुर्की शासकों का भारतीय आर्य समाज पर कुछ ख़ास असर नहीं पड़ा। ख़ुद बौद्ध होने के कारण इन शासकों ने बौद्ध-संघ के संगठन का अनुकरण किया, जिसका आधार लोकतंत्री ग्राम-समुदायों का पुराना भारतीय आर्य नक़्शा था। इस तरह इन शासकों के अधीन होते हुए भी भारत केन्द्रीय शक्ति के अधीन ग्रामीण गणराज्यों का एक-

समूह-सा बना रहा। इस जमाने में भी तक्षशिला और मथुरा बौद्ध-शिक्षा के केन्द्र रहे, जहाँ चीन और पश्चिम-एशिया से विद्यार्थी आते रहते थे।

लेकिन उत्तर-पश्चिम से लगातार हमलों का, और मौर्य-राज्य संगठन के धीरे-धीरे टूट जाने का एक असर जरूर हुआ। दक्षिण-भारत के राज्य पुरानी भारतीय आर्य-प्रणाली के ज्यादा सही प्रतिनिधि बन गये। इस तरह भारतीय आर्य-शक्ति का केन्द्र उत्तर से हटकर दक्षिण पहुँच गया। इन हमलों के कारण शायद उत्तर के बहुत-से क़ाबिल आदमी दक्षिण में जा बसे। आगे चलकर तुम देखोगी कि एक हजार वर्ष बाद जब मुसलमानों ने भारत पर हमला किया उस समय फिर यही प्रक्रिया हुई। आज भी दक्षिण भारत पर विदेशी हमलों और सम्पर्कों का उत्तर भारत के मुक़ाबले बहुत कम असर पड़ा है। उत्तर भारत के ज़्यादातर निवासी एक ऐसी मिली-जुली संस्कृति में पले हैं जो हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का मेल है और जिसमें पश्चिम का भी कुछ पुट है। हमारी भाषा भी, जिसे तुम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी, चाहे जो कहो, एक मिली-जुली भाषा है। लेकिन जैसा कि तुमने खुद देखा है, दक्षिण के ज़्यादातर निवासी आज भी कट्टर हिन्दू हैं।

दक्षिण भारत सैकड़ों वर्षों से पुरानी आर्य-परम्परा को बचाने और क़ायम रखने की कोशिश करता रहा है और इस कोशिश में उसने अपना इतना कट्टर-पन्थी समाज बना लिया है कि आज भी उसकी असहिष्णुता पर हैरत होती है। दीवारों का साथ खतरनाक हुआ करता है। कभी-कभी वे बाहरी मुसीबत से भले ही बचा लें और उत्पाती लोगों को अन्दर आने से रोक दें; लेकिन वे आदमी को क़ैदी और ग़ुलाम बना देती हैं और उसे नामधारी निर्मलता और हिफाजत की क़ीमत आजादी को बेचकर चुकानी पड़ती है। और सबसे भयंकर दीवारें वे हैं, जो आदमी के दिमाग़ में पैदा हो जाती हैं, और जो हमें किसी बुरी परम्परा को सिर्फ़ इसलिए नहीं छोड़ने देतीं कि वह पुरानी है, और किसी नये विचार को इसलिए नहीं स्वीकारने देतीं कि वह नवीन है।

लेकिन दक्षिण भारत ने यह सेवा सचमुच की कि एक हजार वर्ष से भी ज़्यादा समय तक भारतीय आर्यों की सिर्फ़ धार्मिक परम्परा को ही नहीं बल्कि कला और राजनीति की परम्पराओं को भी क़ायम रखा। अगर तुम्हें पुरानी भारतीय कला के नमूने देखने हों तो दक्षिण भारत जाना होगा। राजनीति के बारे में यूनानी मेगस्थेने ने लिखा है कि दक्षिण में राजाओं के अधिकारों पर लोक-सभाओं का अंकुश रहता था।

जब मगध-देश का पतन हुआ तो सिर्फ़ विद्वान् लोग ही नहीं बल्कि कलाकार, शिल्पकार, कारीगर और दस्तकार लोग भी दक्षिण चले गए। यूरोप और दक्षिण भारत के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। मोती, हाथीदांत, सोना, चावल, काली-

मिर्च, मोर और बन्दर तक भी बाबुल, मिस्र और यूनान को, और बाद में रोम को भेजे जाया करते थे। इसके भी बहुत पहले सागवान की लकड़ी मलाबार के किनारे से ख़ाल्दिया और बाबुल जाती थी। और यह सब व्यापार, या उसका ज्यादातर हिस्सा, भारतीय जहाजों के जरिये, जिन्हें द्रविड़ लोग खेते थे, हुआ करता था। इससे तुम्हें पता चल सकता है कि प्राचीन दुनिया में दक्षिण भारत कितनी उन्नत स्थिति पर पहुँचा हुआ था। दक्षिण में रोमन सिक्के काफ़ी संख्या में मिले हैं, और जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, मलाबार के समुद्र-तट पर सिकन्दरिया निवासियों की बस्तियां थीं, और सिकन्दरिया में भारतीयों की।

अशोक की मृत्यु के बाद ही दक्षिण का आन्ध्र-राज्य स्वाधीन हो गया। जैसा कि शायद तुम जानती हो, आन्ध्र आजकल कांग्रेस का एक प्रान्त है, जो भारत के पूर्वी समुद्र तट पर मद्रास के उत्तर में है। आन्ध्र-देश की भाषा तेलगू है। आन्ध्र की शक्ति अशोक के बाद तेजी से बढ़ती गई और दक्षिण में समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैल गई।

दक्षिण के लोगों ने नई बस्तियां बसाने के बड़े-बड़े प्रयत्न किये। लेकिन इनकी चर्चा बाद में करेंगे।

मैं ऊपर शकों और दूसरी जातियों का जिक्र कर आया हूँ, जिन्होंने भारत पर हमले किये और जो उत्तर में बस गईं। ये लोग भारत के अंग बन गये, और उत्तरी भारत में रहनेवाले हम लोग उनके भी उतने ही वंशज हैं, जितने कि आर्यों के। खासकर बहादुर और सुडौल राजपूत और काठियावाड़ के तगड़े लोग तो उन्हींके वंशज हैं।

: ३० :

## कुषाणों का सीमावर्ती साम्राज्य

११ अप्रैल, १९३२

मैंने पिछले पत्र में भारत पर शकों और तुर्कों के बार-बार के हमलों का जिक्र किया है। मैंने तुम्हें दक्षिण में शक्तिशाली आन्ध्र-राज्य की बढ़ोतरी का भी हाल बताया है, जो बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक फैला हुआ था। शकों को कुषाणों ने आगे खदेड़ दिया था और कुछ दिन बाद कुषाण खुद ही सामने आ गये। ईसा के एक सदी पहले इन लोगों ने भारत की सीमा पर एक राज्य कायम किया और यही राज्य बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा साम्राज्य हो गया। यह कुषाण साम्राज्य दक्षिण में बनारस और विन्ध्याचल तक, उत्तर में काशगर, यारक़ंद और खुतन तक, और पश्चिम में पार्थव और ईरान की सरहद तक फैला हुआ था। इस तरह उत्तर प्रदेश, पंजाब और कश्मीर समेत सारा उत्तर भारत, मध्य-एशिया का काफ़ी

# कुषाण-साम्राज्य के समय का भारत
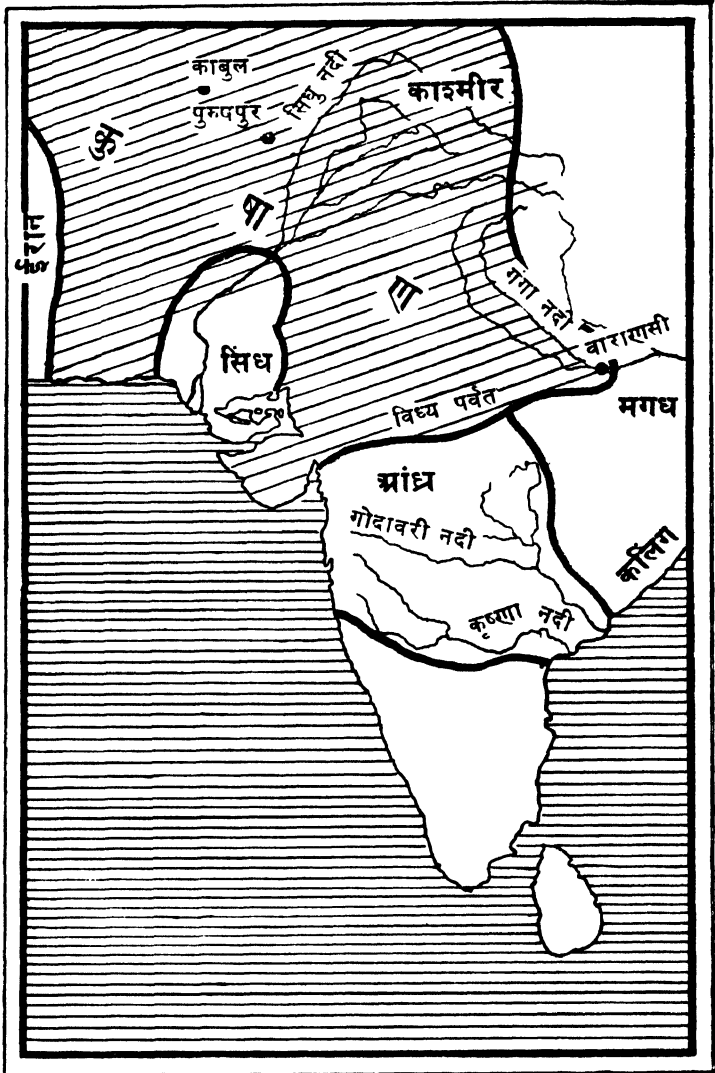
बड़ा हिस्सा कुषाण राजाओं के अधीन था। करीब तीन सौ वर्ष तक, ठीक उन्हीं दिनों जब कि आन्ध्र-राज्य दक्षिण भारत में फूल-फल रहा था, यह साम्राज्य क़ायम रहा। मालूम होता है कि पहले तो कुषाणों की राजधानी काबुल थी, लेकिन बाद में पेशावर ले जायी गई थी, जो उस वक़्त पुरुषपुर कहाता था, और फिर वहीं बनी रही।

इस कुषाण साम्राज्य की कई बातें बड़ी दिलचस्प हैं। यह बौद्ध-साम्राज्य था और उसके मशहूर शासकों में से एक शासक—सम्राट् कनिष्क बौद्ध-धर्म का कट्टर भक्त था। राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला थी, जो बहुत समय पहले से बौद्ध-संस्कृति का केन्द्र थी। मैं शायद तुम्हें बता चुका हूं कि कुषाण लोग मंगोली थे या मंगोलियों से मिलते-जुलते थे। कुषाण राजधानी से अपने वतन मंगोलिया को लोगों का आना-जाना बराबर होता रहा होगा और बौद्ध-शिक्षा और बौद्ध-संस्कृति चीन और मंगोलिया पहुँची होगी। इसी तरह पश्चिमी एशिया का भी बौद्ध विचारों से गहरा सम्पर्क हुआ होगा। सिकन्दर के जमाने से ही पश्चिमी एशिया यूनानियों की हुक़ूमत में था और बहुत-से यूनानी अपने साथ अपनी संस्कृति यहां लाये थे। यह यूनानी-एशियाई संस्कृति अब भारतीय बौद्ध-संस्कृति से मिल-जुल गई।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया पर भारत का असर पड़ा। लेकिन उसी तरह भारत पर भी इन देशों का असर पड़ा। पश्चिम में यूनानी-रोमन दुनिया, पूर्व में चीनी दुनिया और दक्षिण में भारतीय दुनिया से घिरा हुआ कुषाण-साम्राज्य एशिया की पीठ पर एक देव की तरह सवारी गांठे बैठा था। भारत और रोम, तथा भारत और चीन, दोनों के बीच यह अधबर की मंजिल बना हुआ था।

जैसी कि सम्भावना थी, इस बीच की स्थिति ने भारत और रोम के बीच गहरा आपसी सम्बन्ध पैदा करने में बहुत मदद पहुँचाई। कुषाण-काल रोमन गण-राज्य के आख़िरी दिनों के साथ-साथ, जब जूलियस सीज़र जिन्दा था, और रोमन साम्राज्य के शुरू के दो सौ साल के साथ-साथ चलता है। कहा जाता है कि कुषाण सम्राट् ने आगस्त सीज़र के यहां बड़ा राजदूत-मंडल भेजा था। इन दोनों देशों में ख़ुश्की और समुद्री रास्ते ख़ूब व्यापार होता था। भारत से रोम को इत्र, मसाले, रेशम, कमख़्वाब, मलमल, ज़री के कपड़े और जवाहरात भेजे जाते थे। प्लीनी नामक रोमन लेखक ने सचमुच कड़ी शिकायत की थी कि रोम से भारत को सोना खिंचा चला जाता था। उसने कहा था कि विलास की इन चीजों पर हर साल रोमन साम्राज्य के दस करोड़ सीस्तरसी[1] ख़र्च हो जाते हैं। यह रक़म करीब डेढ़ करोड़ रुपयों के बराबर होगी।

---

[1]सीस्तरसी—एक रोमन सिक्का।

इस काल में बौद्ध विहारों में और बौद्ध संघों की संगीतियों में बड़े-बड़े वाद-विवाद और शास्त्रार्थ हुआ करते थे। दक्षिण और पश्चिम से नये विचार या नये जामे में पुराने विचार आते रहते थे। और बौद्ध विचारों की सादगी के ऊपर इनका धीरे-धीरे असर पड़ रहा था। परिवर्तन का यह सिलसिला यहांतक पहुँचा कि इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों—महायान और हीनयान में बँट गया। नई-नई व्याख्याओं और विचारों के साथ जब जीवन और धर्म से सम्बन्ध रखने-वाले नजरिये में परिवर्तन हुआ, तब कला और शिल्प में इन विचारों का प्रदर्शन भी बदल गया। यह कहना आसान नहीं है कि ये परिवर्तन कैसे आये। बौद्ध विचार-धारा को एक ही दिशा में मोड़नेवाले प्रभावों में शायद दो मुख्य थे, एक ब्राह्मण-धर्म का और दूसरा यूनानी।

जैसाकि मैंने कई बार तुम्हें बताया है, बौद्ध धर्म जात-पांत, पुरोहिताई और कर्मकाण्ड के ख़िलाफ़ एक विद्रोह था। गौतम बुद्ध मूर्तिपूजा को अच्छा नहीं मानते थे। वह यह दावा नहीं करते थे कि वह ईश्वर हैं और उनकी पूजा की जाय। वह तो केवल बुद्ध[1] थे। इस विचारधारा के मुताबिक उस जमाने में बुद्ध की मूर्तियां नहीं होती थीं, और उस समय की इमारतों में किसी तरह की मूर्तियां नहीं बनाई जाती थीं। लेकिन ब्राह्मण लोग हिन्दू-धर्म और बौद्ध धर्म के बीच का अन्तर मिटाना चाहते थे, और बौद्ध विचारों में हिन्दू विचार और प्रतीकवाद दाखिल करने की बराबर कोशिश करते रहते थे। उधर यूनानी-रोमी दुनिया के कारीगर भी देवताओं की मूर्तियां बनाने के आदी थे। इसलिए धीरे-धीरे बौद्ध मन्दिरों में मूर्तियों का दख़ल हो गया। शुरू की मूर्तियां बुद्ध की नहीं बल्कि बोधि-सत्वों की थीं, जो बौद्ध जातक-कथाओं के अनुसार बुद्ध के पूर्व-जन्म माने जाते हैं। यह सिल-सिला जारी रहा, यहांतक कि अन्त में बुद्ध की मूर्तियां भी बना ली गईं और उनकी पूजा होने लगी।

बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय ने इन परिवर्तनों का स्वागत किया। ब्राह्मण विचार-धारा के वह बहुत-कुछ निकट था। कुषाण सम्राटों ने महायान मत स्वीकार कर लिया और उसके प्रचार में मदद की। लेकिन उन्हें हीनयान मत या दूसरे धर्मों से भी कोई द्वेष न था। कहते हैं कि कनिष्क ने जरथ्रुस्त मजहब को भी बढ़ावा दिया था।

महायान और हीनयान में कौन-सा अच्छा है, इस विषय पर बड़े-बड़े विद्वानों में जो शास्त्रार्थ हुआ करते थे, उनके बारे में पढ़ने से बड़ा मनोरंजन होता है। इसके लिए संघ की बड़ी-बड़ी संगीतियां हुआ करती थीं। कनिष्क ने कश्मीर में संघ की एक बहुत बड़ी संगीति बुलाई थी। कई सौ वर्ष तक इस सवाल पर शास्त्रार्थ और

---

[1] बुद्ध का अर्थ है जागा हुआ, यानी जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया हो।

मतभेद चलते रहे। महायान उत्तर भारत में जीता और हीनयान दक्षिण में, और आखिर में इन दोनों ही को हिन्दू-धर्म ने हजम कर लिया। आजकल चीन, जापान और तिब्बत में बौद्ध धर्म का महायान मत पाया जाता है, और लंका और बर्मा में हीनयान।

किसी कौम की कला उसके भावों का सच्चा दर्पण हुआ करती है। इसलिए जब शुरू के बौद्ध विचारों की सरलता की जगह जटिल प्रतीकों ने ले ली, तब भारतीय कला भी ज्यादा जटिल और अलंकारपूर्ण होती गई। खासतौर से उत्तर-पश्चिम में गंधार की महायान मूर्तिकला में मूर्तियों और अलंकारों की भरमार हो गई। हीनयान शिल्प भी इस नई हवा से बिल्कुल अछूता न रहा। वह भी धीरे-धीरे अपनी पुरानी शैली की सादगी और संयम खो बैठा और उसने अलंकारपूर्ण खुदाई और प्रतीकवाद अपना लिया।

उस काल की कुछ यादगारें आज भी हमारे पास हैं। अजन्ता की गुफाओं की दीवारों पर बने हुए सुन्दर चित्र इनमें सबसे ज्यादा दिलचस्प हैं।

अब हम कुषाणों से विदा लेते हैं। लेकिन एक बात याद रखना। शकों और दूसरी तुर्की क़ौमों की तरह कुषाणों का भारत में आना या उसपर शासन करना ऐसा नहीं था जैसे कोई विदेशी एक हारे हुए देश पर हुकूमत कर रहे हों। ये लोग भारत से और भारत के निवासियों से धर्म के बन्धन में बंधे हुए थे। इसके अलावा उन्होंने भारत के आर्यों की शासन-प्रणाली को भी अपना लिया था। और चूंकि उन लोगों ने अपनेको बहुत हद तक आर्य-प्रणाली के अनुकूल बना लिया था, इसलिए वे तीन सौ वर्षों तक उत्तर भारत पर राज करने में सफल हुए।

## : ३१ :

# ईसा और ईसाइयत

१२ अप्रैल, १९३२

उत्तर-पश्चिम भारत के कुषाण-साम्राज्य और चीन के हन्-वंश की चर्चा करते-करते हम इतिहास की एक महत्वपूर्ण मंजिल से आगे बढ़ आये। इसलिए उसपर वापस लौट चलना चाहिए। अभी तक हम जो तारीखें देते थे, वे ईसा के पूर्व की थीं। अब हम ईसवी सन् में पहुंच गये हैं। यह सन्, जैसा कि इसके नाम से जाहिर है, ईसा के जन्म से या ईसा के माने हुए जन्मदिन से, शुरू होता है। वास्तव में ईसा का जन्म शायद इससे चार वर्ष पहले हुआ था, लेकिन उससे कोई ज्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता। ईसा के बाद होनेवाली घटनाओं की तारीखों के आगे ईसवी सन् लिखने का रिवाज हो गया है।[1] मैं भी ऐसा ही करूंगा।

[1] अंग्रेजी में ईसवी सन् के लिए A. D. या A. C. लिखा जाता है। A. D. का

ईसा, या जैसा कि उनका नाम था यीशु की कथा बाइबिल के नये अहदनामे[1] में दी हुई है और तुम्हें उसके बारे में कुछ मालूम भी है। ईसा की जीवन-कथाओं[2] के विवरणों में उनकी जवानी के दिनों का कोई हाल नहीं दिया गया है। वह नासरत में पैदा हुए; गैलिली में उन्होंने प्रचार किया और तीस वर्ष से ऊपर की उम्र में वह यरूशलम आये। इसके थोड़े ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉन्तियस पाइलेत की अदालत में उनपर मुक़दमा चला और उसने इनको सजा दी। यह साफ़ नहीं मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने से पहले ईसा क्या करते थे या कहां गये थे। मध्य एशिया भर में, कश्मीर में, लद्दाख में और तिब्बत में और इससे और भी उत्तर के देशों में अभी तक लोगों का यह पक्का विश्वास है कि यीशु या ईसा इन देशों में घूमे थे। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि वह भारत भी आये थे। पक्के तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता, लेकिन जिन विद्वानों ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे यह नहीं मानते कि ईसा भारत या मध्य एशिया में आये थे। लेकिन अगर आये हों तो यह कोई असम्भव बात भी नहीं कही जा सकती। उस जमाने में भारत के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय, ख़ासकर उत्तर-पश्चिम का तक्षशिला का विश्वविद्यालय, दूर-दूर देशों के लगनवाले विद्यार्थियों को आकर्षित करते थे और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश में यहां आये हों। बहुत-सी बातों में ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तों से इतने ज्यादा मिलते-जुलते हैं कि यह बहुत सम्भव मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारों की पूरी-पूरी जानकारी थी। लेकिन बौद्ध धर्म दूसरे देशों में काफी प्रचलित था, और इसलिए ईसा भारत आये बिना भी उसके बारे में अच्छी तरह से जान सकते थे।

स्कूल का हरेक बच्चा जानता है कि मजहबों के नाम पर लड़ाई-झगड़े और कड़वे संघर्ष हुए हैं। लेकिन संसार के मजहबों की शुरूआत पर ग़ौर करना और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प है। सब मजहबों के नज़रियों और उपदेशों में इतनी समानता है कि यह देखकर हैरत होती है कि लोग छोटी-छोटी और ग़ैर-जरूरी बातों के बारे में झगड़ा करने की बेवकूफी क्यों करते हैं। लेकिन पुराने उपदेशों में नई-नई बातें जोड़ दी जाती हैं, और उनको इस तरह तोड़-मरोड़ दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। सच्चे धर्म-प्रचारक की जगह तंगदिल और कट्टर हठ-धर्मी लोग आ बैठते हैं। बहुत बार मजहब ने

---

**अर्थ है** Anno Domini **यानी ईश्वर का वर्ष, और** A. C. **का अर्थ है** After Christ **यानी ईसा के बाद। पुस्तक के लेखक** A. C. **लिखना पसन्द करते हैं। हिन्दी में सिर्फ़ ई० लिखा जाता है।**

[1] New Testament

[2] Gospels

राजनीति और साम्राज्यवाद की दासी-जैसा काम किया है। पुराने रोमन लोगों की तो यह नीति थी कि जनता की भलाई के लिए, या यों कहो कि उसे लूटने के लिए, उसमें अन्ध-विश्वास पैदा किया जाय; क्योंकि अन्ध-विश्वासी लोगों को दबाये रखना ज्यादा आसान होता है। अमीर-वर्ग के रोमन लोग वैसे तो बड़ी ऊँची-ऊँची फ़िलासफ़ी बघारते थे, लेकिन व्यवहार में जिस चीज को वे अपने लिए अच्छी समझते थे, उसे जनता के लिए ठीक और हितकर नहीं मानते थे। बाद के जमाने के एक मशहूर इटालवी लेखक मेकियावेली ने राजनीति पर एक पुस्तक लिखी है। उसका कहना है कि शासन के लिए मजहब जरूरी चीज है, और कभी-कभी शासक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे मजहब की हिमायत करे जिसे वह खुद झूठा समझता हो। इस जमाने में भी हमारे सामने ऐसी बहुत-सी मिसालें हैं कि साम्राज्यवाद ने मजहब की आड़ में शिकार खेला है। इसलिए कार्ल मार्क्स का यह लिखना ताज्जुब की बात नहीं है कि "मजहब जनता की अफ़ीम है"।

ईसा यहूदी थे। यहूदी एक निराली और अजीब-तौर पर उद्यमी कौम थी, और अब भी है। दाऊद और सुलेमान के जमाने में कुछ समय के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आये। यह वैभव भी था तो बहुत थोड़ा, लेकिन अपनी कल्पना में उन्होंने उसे यहाँतक बढ़ा-चढ़ा दिया कि उनके लिए वह अतीत का एक स्वर्णयुग बन गया, और वे विश्वास करने लगे कि वह युग एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा और उस समय यहूदी कौम फिर महान् और शक्तिशाली हो जायगी। वे लोग सारे रोमन साम्राज्य में और दूसरे देशों में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण वे आपस में मजबूती से बंधे रहे कि उनके वैभव का दिन आनेवाला है और एक मसीहा वह दिन दिखायेगा। बेघर और आश्रयहीन बेहद परेशानियों और अत्याचारों के शिकार और अक्सर मौत के घाट उतारे जानेवाले यहूदियों ने दो हजार वर्ष से ज्यादा तक अपनी हस्ती किस तरह बचाये रक्खी और किस तरह आपस में बंधे रहे, यह इतिहास की एक अद्भुत घटना है।

यहूदी एक मसीहा का इन्तजार कर रहे थे, और शायद यीशु से उन्हें इसी तरह की उम्मीदें थीं। लेकिन बहुत जल्द इनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया, क्योंकि ईसा चालू तरीक़ों और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की बिलकुल नई बातें करते थे। खास तौर से वह अमीरों और उन पाखंडियों के खिलाफ थे, जिन्होंने धर्म को कुछ व्रत-उपवासों और कर्म-कांडों का मामला बना दिया था। धन-दौलत और कीर्ति की आशा दिलाने के बजाय, वह एक अस्पष्ट और काल्पनिक स्वर्गीय राज्य की खातिर लोगों से अपना सबकुछ त्याग देने को कहते

थे। उनकी बातें रूपकों और कहानियों के रूप में होती थीं, लेकिन यह बिलकुल स्पष्ट है कि वह जन्म से ही विद्रोही थे, और जमाने की हालत को सह नहीं सकते थे, और उसे बदलने पर तुले हुए थे। यह वह बात न थी जो यहूदी चाहते थे। इसलिए बहुत-से यहूदी उनके खिलाफ़ हो गये और उन्होंने ईसा को पकड़कर रोमन अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया।

मजहबी मामलों में रोमन लोग असहिष्णु नहीं थे, क्योंकि साम्राज्य में सब मजहबों को बर्दाश्त किया जाता था; यहांतक कि अगर कोई किसी देवी-देवता को बुरा कहता या गाली देता तो उसे सजा नहीं दी जाती थी। तब्रेसी नामक एक रोमन सम्राट ने कहा था, "अगर देवताओं का अपमान किया जाता है तो उन्हें खुद ही निबट लेने दो"। इसलिए जब रोमन गवर्नर पान्तियस पाइलेत के सामने यीशु पेश किये गए तो इस मामले के मजहबी पहलू की उसे ज़रा भी चिन्ता न हुई होगी। यीशु को लोग एक राजनीतिक विद्रोही, और यहूदी लोग सामाजिक विद्रोही समझते थे, और यही जुर्म लगाकर उनपर मुक़दमा चलाया गया, सजा दी गई, और गोलगोथा में उन्हें सूली पर लटका दिया गया। यातना की इस घड़ी में उनके चुने हुए शिष्यों तक ने उनका साथ छोड़ दिया और उन्हें मानने से भी इन्कार कर दिया। इस विश्वासघात से उन्होंने ईसा की पीड़ा को इतना असह्य बना दिया कि मरने से पहले उनके मुंह से दिल को हिला देने-वाले ये शब्द निकल पड़े—"मेरे ईश्वर ! मेरे ईश्वर ! तूने मुझे क्यों त्याग दिया है ?"

मृत्यु के समय यीशु जवान ही थे; उनकी उम्र तीस वर्ष से कुछ ही ज्यादा थी। जब हम बाइबिल की सुन्दर भाषा में उनकी मौत की करुण कहानी पढ़ते हैं तो हमारा दिल पसीज जाता है। बाद के युगों में ईसाई धर्म की जो तरक्क़ी हुई, उसने करोड़ों के मन में यीशु के नाम के लिए श्रद्धा पैदा कर दी; हालांकि उन लोगों ने उनके उपदेशों पर अमल बहुत कम किया है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढ़ाये गए थे तब उनका नाम फिलस्तीन से बाहर के लोग ज्यादा नहीं जानते थे। रोम के लोग तो उनके बारे में कुछ भी नहीं जानते थे, और पान्तियस पाइलेत ने इस घटना को बिलकुल ही महत्व नहीं दिया होगा।

यीशु के नज़दीकी अनुयायियों और शिष्यों ने डर के मारे उन्हें अपना कहने से भी इन्कार कर दिया था। लेकिन यीशु की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद पॉल नामक एक नये अनुयायी ने, जिसने यीशु को खुद नहीं देखा था, अपनी समझ के अनुसार ईसाई मत का प्रचार शुरू कर दिया। बहुत-से लोगों का खयाल है कि जिस ईसाइयत का पॉल ने प्रचार किया, वह यीशु के उपदेशों से बहुत भिन्न है। पॉल एक योग्य और विद्वान आदमी था, लेकिन वह यीशु की तरह सामाजिक विद्रोही नहीं था।

ईसाई लोग यीशु के देवत्व और ईसाई त्रिपुटी[1] के रूप के बारे में तर्क-वितर्क और झगड़े करने लगे। वे एक-दूसरे को काफ़िर कहने लगे, एक-दूसरे पर अत्याचार करने लगे और एक-दूसरे का गला काटने लगे। एक बार ईसाइयों के अलग-अलग सम्प्रदायों में एक संयुक्त शब्द के ऊपर बहुत ज़ोरदार और भयंकर मतभेद हुआ। एक दल कहता था कि प्रार्थना में होमो-आउजन[2] शब्द इस्तेमाल किया जाना चाहिए ; दूसरा होमोइ-आउजन[3] इस्तेमाल करना चाहता था। इस मतभेद का यीशु के देवत्व से सम्बन्ध था। इस संयुक्त शब्द के पीछे भयंकर युद्ध हुआ और बहुत-से आदमी मारे गये।

ज्यों-ज्यों ईसाई-संघ की ताक़त बढ़ती गई, त्यों-त्यों ये घरेलू झगड़े बढ़ते गये। ईसाई मजहब के विभिन्न सम्प्रदायों में इसी तरह के झगड़े पश्चिमी देशों में कुछ अर्से पहले तक होते रहे हैं।

तुम्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि इंग्लैण्ड में या पश्चिमी यूरोप में पहुँचने के बहुत पहले, और उस समय जबकि रोम तक में उसे नफ़रत से देखा जाता था और उसपर पाबन्दी लगी हुई थी, ईसाई मजहब भारत में आ पहुँचा था। यीशु के मरने के बाद क़रीब सौ साल के अंदर ही ईसाई धर्म-प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत आये थे। उनके साथ शिष्ट बर्त्ताव किया गया, और उन्हें अपने नये मजहब के प्रचार करने की छूट दे दी गई। उन्होंने बहुत-से लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाया और ये लोग तबसे आज तक दक्षिण भारत में उतार-चढ़ाव के दिन देखते हुए रहते आये हैं। उनमें से बहुत लोग ईसाई मजहब के पुराने सम्प्रदायों के अनुयायी हैं, जिनकी अब यूरोप में हस्ती तक नहीं है। आजकल इनमें से कुछके मुख्य स्थान एशिया-कोचक में है।

राजनीतिक दृष्टि से, आजकल ईसाइयत का बोलबाला है, क्योंकि वह यूरोप की प्रमुख कौमों का मजहब है। लेकिन जब हम अहिंसा और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ़ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही यीशु की तुलना उनके आजकल के बकवादी अनुयायियों से करते हैं, जो साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रों, युद्धों और धन की पूजा में विश्वास करते हैं, तो यह खयाल हमें हैरत में डाल देता है। यीशु का 'पर्वत का उपदेश'[4] और आजकल की यूरोप व अमेरिका की ईसाइयत, इन दोनों में कितनी हैरतभरी असमानता है! इसलिए कोई ताज्जुब की बात

---

[1] **ईसाई त्रिपुटी** (Christian Trinity)—**पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा** (Father, Son and Holy Ghost)

[2] Homo-ousian

[3] Homoi-ousian

[4] Sermon on the Mount

नहीं अगर बहुत-से लोग यह सोचने लगें कि आजकल पश्चिम में अपनेको ईसा के अनुयायी कहनेवाले ज्यादातर लोगों के मुक़ाबले में बापू ईसा के उपदेशों के बहुत ज्यादा निकट हैं।

: ३२ :

# रोमन साम्राज्य

२३ अप्रैल, १९३२

प्यारी बेटी, मैंने बहुत दिनों से तुम्हें पत्र नहीं लिखा। इलाहाबाद से आनेवाली खबरों ने मुझे बेचैन और रोमांचित कर दिया है। खासतौर से तुम्हारी बूढ़ी दादी-अम्मा की खबर ने। जब दुबली और कमजोर मां को पुलिस की लाठियों का सामना करना पड़ रहा है और उनकी चोट सहनी पड़ रही है तो जेल की अपनी इस कम तकलीफ़ की जिन्दग़ी पर झुंझलाहट होती है। लेकिन मैं नहीं चाहता कि मेरे विचार भावना के साथ बह जायँ और मेरी कहानी के सिलसिले में बाधा डालें।

अब हमें फिर रोम लौट चलना चाहिए, जिसे पुराने संस्कृत ग्रन्थों में रोमक कहा गया है। तुम्हें याद होगा कि हम रोमन गणराज्य के अन्त की और रोमन साम्राज्य के बनने की चर्चा कर रहे थे। जूलियस सीज़र का गोद लिया हुआ पुत्र आक्तेवियन, आगस्त सीज़र के नाम से पहला राजा बन चुका था। वह अपने को बादशाह नहीं कहता था। इसकी वजह कुछ तो यह थी कि वह बादशाह की उपाधि को अपने रुतबे की शान के क़ाबिल नहीं समझता था, और दूसरे वह गणराज्य के ऊपरी रूपों को जारी रखना चाहता था। इसलिए उसने अपनी उपाधि 'इम्परेटर', यानी हुक्म देनेवाला रक्खी थी। इस तरह 'इम्परेटर' की उपाधि सबसे ऊँची समझी जाने लगी, और तुम शायद जानती हो कि अंग्रेजी का 'एम्परर' शब्द इसीसे निकला है। इस तरह रोम के पुराने साम्राज्य ने दो शब्द ऐसे दिये जिनकी लालसा और जिनका उपयोग क़रीब-क़रीब सारी दुनिया के बादशाह बहुत दिनों तक करते रहे। ये दो शब्द हैं—'एम्परर' और 'सीज़र' या 'क़ैसर' या 'ज़ार'। पहले यह समझा जाता था कि एक वक्त में एक ही सम्राट् हो सकता है, जो कि एक तरह से सारी दुनिया का मालिक हो। रोम 'संसार की स्वामिनी' कहलाता था और पश्चिम के लोग समझते थे कि सारी दुनिया रोम की छाया में बसती है। यह बात वास्तव में ग़लत थी और भूगोल और इतिहास के बारे में अज्ञान ही जाहिर करती थी। रोमन साम्राज्य ज्यादातर भूमध्यसागर के किनारों के देशों का साम्राज्य था, और इसकी सीमा पूर्व में इराक़ से आगे कभी नहीं बढ़ी। समय-समय पर चीन और भारत में इससे कहीं ज्यादा शक्तिशाली, बड़े और सुसंस्कृत

राज्य हुए हैं। फिर भी जहाँतक पश्चिमी दुनिया से ताल्लुक़ था, उनके लिए रोम ही अकेला साम्राज्य था, और इसी ख़याल से प्राचीन काल के लोगों की नज़रों में वह सार्वभौम साम्राज्य था। उस समय उसका ज़बरदस्त दबदबा था।

रोम के बारे में सबसे ज्यादा दिलचस्प बात यह है कि उसके पीछे दुनिया के ऊपर राज्य करने और दुनिया का सिरताज बनने का भाव था। जब रोम का पतन हुआ तब भी इसी ख़याल ने उसकी रक्षा की और उसे बल दिया। और यह भाव तब भी क़ायम रहा जब रोम से उसका सम्बन्ध बिलकुल टूट गया। यहाँतक कि ख़ुद साम्राज्य भी विलीन हो गया और उसकी छाया भर रह गई; मगर यह भाव तब भी बना ही रहा।

मुझे रोम के बारे में या उसके उत्तराधिकारियों के बारे में लिखते हुए कुछ दिक्क़त मालूम होती है। क्या-क्या बातें तुम्हें बतलाई जायं, उनका छांटना और पसन्द करना आसान नहीं है। मुझे डर है कि इस बारे में जो पुरानी किताबें मैंने ज्यादातर जेल में पढ़ी हैं, उनसे मेरे दिमाग़ में इधर-उधर की तसवीरों का बेतरतीब ढेर बन गया है। सच तो यह है कि अगर मैं जेल न आया होता तो रोम के इतिहास की एक मशहूर पुस्तक शायद कभी न पढ़ पाता। यह पुस्तक इतनी बड़ी है कि दूसरे कामों के होते हुए इसे पूरी पढ़ जाने के लिए वक़्त निकाल सकना मुश्किल है। इस पुस्तक का नाम 'डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑफ दि रोमन ऐम्पायर', यानी रोमन साम्राज्य का पतन और अन्त है, और इसका लेखक गिबन नामक एक अंग्रेज़ है। यह पुस्तक क़रीब डेढ़ सौ वर्ष हुए स्वीज़रलैण्ड में लेमन झील के किनारे बैठकर लिखी गई थी। लेकिन आज भी इसके पढ़ने में रस आता है और मुझे तो इसका वर्णन, जो बड़ी लच्छेदार पर सुरीली भाषा में लिखा हुआ है, उपन्यास से भी ज्यादा मनोरंजक लगा। क़रीब दस वर्ष हुए मैंने इसे लखनऊ जिला-जेल में पढ़ा था और क़रीब एक महीने तक गिबन मेरा बड़ा नज़दीकी साथी रहा, और उसकी भाषा ने पुराने ज़माने की जो तसवीरें मेरे सामने खींची, उनमें मैं लीन हो गया। लेकिन पुस्तक ख़तम होने के कुछ ही दिन पहले मुझे अचानक रिहा कर दिया गया। जादू टूट गया और फिर बचे हुए सौ पृष्ठों को पढ़ने और प्राचीन रोम और कुस्तुन्तुनिया को लौटने का समय निकालने और दुबारा चित्त लगाने में मुझे कुछ दिक़्क़त हुई।

लेकिन यह बात दस वर्ष पुरानी है और वास्तव में मैंने जो कुछ पढ़ा था उसका बहुत कुछ हिस्सा मैं भूल गया हूँ। फिर भी दिमाग़ को भरने और उलझाने के लिए बहुत-कुछ मौजूद है और इस उलझन को तुम्हारे ऊपर नहीं डालना चाहता।

पहले हम युग-युगों के रोमन साम्राज्य या साम्राज्यों पर एक नज़र डाल ल। बाद में शायद इन तसवीरों में कुछ रंग भरने की कोशिश की जायगी।

ईसाई सन् की शुरूआत में आगस्त सीज़र के साथ साम्राज्य शुरू होता है। कुछ दिनों तक सम्राट लोग सिनेट की इज्ज़त करते रहे; लेकिन बहुत जल्द ही गणराज्य के लगभग आख़िरी निशान भी मिट गये। सम्राट् ने सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली और वह पूरी तरह एक निरंकुश राजा बन गया, बल्कि देवता जैसा बन गया। ज़िन्दगी में तो वह आधे-देवता की तरह पूजा जाता था और मरने के बाद वह पूरा देवता बना दिया जाता था। उस ज़माने के सभी लेखकों ने शुरू के अधिकतर सम्राटों में, ख़ासकर आगस्त में, सारे गुणों का आरोप कर दिया है। ये लोग आगस्त के युग को स्वर्ण-युग कहते हैं, जबकि सारी नेकियाँ फूल-फल रही थीं और भलों को इनाम व बुरों को सज़ा मिलती थी। ज़ुल्मी शासकों के मुल्कों में लेखकों का यही रवैय्या रहता है, क्योंकि ज़ाहिर है कि शासक की तारीफ़ करने में फ़ायदा रहता है। वर्जिल, ओविद, होरेस जैसे कुछ मशहूर लातीनी लेखक, जिनकी रचनाएँ हमें स्कूल में पढ़नी पड़ी थीं, इसी ज़माने में हुए थे। सम्भव है कि गृह-युद्धों और उन फ़िसादों के बाद, जो कि गणराज्य के आख़िरी दिनों में बराबर होते रहे, शान्ति और राहत का ऐसा ज़माना आने से लोगों को तसल्ली मिली हो, जिसमें व्यापार को और कुछ हद तक सभ्यता को फूलने-फलने का मौक़ा मिल सकता था।

लेकिन यह सभ्यता कैसी थी ? यह धनवानों की सभ्यता थी। लेकिन ये धनवान लोग प्राचीन यूनान के धनवानों की तरह कला-प्रिय और कुशाग्र-बुद्धि भी नहीं थे; बल्कि बहुत मामूली और मन्द-बुद्धि लोगों का एक जमघट थे, जिनका ख़ास काम मौज की ज़िन्दगी बिताना था। सारी दुनिया से भोग-विलास और खाने-पीने की चीज़ें इनके लिए आती थीं, और बड़ी शान-शौक़त और तड़क-भड़क दिखाई देती थी। ऐसे लोगों की बिरादरी अभी ख़तम नहीं हुई है। एक तरफ़ तो शान-शौक़त और आडम्बर थे और तड़क-भड़कवाले जुलूसों, सरकस के खेलों और ग्लेडियेटरों के मारे जाने का सिलसिला था तो दूसरी तरफ़ इस शान-शौकत के पीछे जनता की तबाही छिपी थी। टैक्स बहुत बढ़े हुए थे, जिनका बोझ ख़ास करके मामूली आदमियों पर पड़ता था और काम का बोझ अनगिनती ग़ुलामों की पीठ पर था। रोम के इन बड़े लोगों ने चिकित्सा, दार्शनिक-चर्चा और चिन्तन तक के काम भी ज़्यादातर यूनानी गुलामों के हवाले कर रक्खे थे ! ये लोग अपनेको जिस दुनिया का मालिक मानते थे उसके बारे में ठीक बातें जानने की या शिक्षा का प्रचार करने की वे ज़रा भी कोशिश नहीं करते थे।

एक के बाद दूसरा सम्राट गद्दी पर बैठता गया। इनमें कोई बुरा था तो कोई बहुत ही बुरा। धीरे-धीरे सारी ताक़त फ़ौज के हाथ में आ गई और वह अपने सम्राटों को बना-बिगाड़ सकती थी। हालत यहाँतक बिगड़ी कि फ़ौज की कृपा

प्राप्त करने के लिए होड़ होने लगी और उसे रिश्वत देने के लिए जनता से या हराये हुए देशों से ज़बरदस्ती रुपया वसूल किया जाने लगा। आमदनी का एक बहुत बड़ा साधन ग़ुलामों का व्यापार था और रोम की फ़ौजें पूर्व में बाक़ायदा ग़ुलामों को पकड़ने जाया करती थीं। फ़ौज के साथ ग़ुलामों के व्यापारी भी जाते थे, ताकि मौक़े पर ग़ुलामों को ख़रीद सकें। देलोस का टापू, जिसे प्राचीन यूनानी पवित्र मानते थे, ग़ुलामों की एक बड़ी मंडी बन गई थी, जहाँ कभी-कभी दस-दस हज़ार ग़ुलाम एक दिन में बिक जाते थे! रोम के विशाल कोलोज़ियम[1] में एक लोकप्रिय सम्राट बारह-बारह सौ ग्लेडियेटरों का एक साथ प्रदर्शन किया करता था। इन अभागे ग़ुलामों का काम था सम्राट और उसकी प्रजा के मनोरंजन के लिए मरना।

साम्राज्य के दिनों में रोमन सभ्यता इस तरह की थी। फिर भी हमारे मित्र गिबन ने लिखा है—"अगर किसीसे कहा जाय कि तुम दुनिया के इतिहास का वह काल बताओ जब मनुष्य-समाज सबसे ज़्यादा सुखी और ख़ुशहाल रहा हो, तो बिना संकोच के वह उस काल का नाम लेगा जो दोमिशियन की मृत्यु से कोमोद के गद्दी पर बैठने तक गुज़रा था"—यानी सन् ९६ ई० से १८० ई० तक का चौरासी वर्ष का ज़माना। गिबन कितना ही बड़ा विद्वान रहा हो, पर मेरा ख़याल है कि जो कुछ उसने कहा है, उससे सहमत होने में बहुत लोग ज़रूर संकोच करेंगे। गिबन जब मनुष्य-जाति की बात करता है, तब उसका मतलब भूमध्यसागर के आसपास बसी दुनिया से ही है, क्योंकि भारत या चीन या प्राचीन मिस्र के बारे में उसकी जानकारी नहीं के बराबर थी।

लेकिन शायद मैं रोम के साथ कुछ ज़्यादती कर रहा हूँ। रोम राज्यों में थोड़ा-बहुत अन्दरूनी अमन-चैन होने की वजह से ज़रूर एक सुखदायी परिवर्तन हुआ होगा। सरहदों पर अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। लेकिन कम-से-कम शुरू के दिनों में साम्राज्य के भीतर 'रोमन शान्ति'[2] विराजती थी। जानमाल एक हद तक सुरक्षित थे, इसलिए व्यापार में तरक़्क़ी हुई। रोमन नागरिकता के अधिकार सारी रोमन दुनिया को दे दिये गए थे, लेकिन यह याद रक्खो कि बेचारे ग़ुलामों को इस अधिकार से कोई सरोकार नहीं था। यह भी याद रखने की बात है कि सारी शक्ति सम्राट् के हाथों में थी और नागरिकों को कोई अधिकार नहीं थे। राजनीति पर किसी तरह की चर्चा सम्राट् के ख़िलाफ़ ग़द्दारी समझी जाती थी। ऊँचे वर्ग के लोगों के लिए किसी हद तक एक-सी सरकार थी और एक क़ानून था। यह बात

---

[1] **कोलोज़ियम—रोम का बहुत बड़ा अखाड़ा, जो उस समय दुनिया में सबसे बड़ा माना जाता था। इसके खंडहर अब तक मौजूद हैं।**

[2] Pax Romana

उन लोगों के लिए बहुत बड़े फ़ायदे की रही होगी, जो पहले इससे भी ज्यादा ज़ुल्मी हुकूमतों के मातहत मुसीबतें झेल चुके थे।

धीरे-धीरे रोमन लोग इतने आलसी या दूसरी तरह से इतने अयोग्य हो गये कि खुद अपनी फ़ौजों में लड़ने लायक़ भी न रहे। गाँव के किसान अपने ऊपर लदे हुए बोझों की वजह से ज्यादा ग़रीब होते गये और यही हाल शहर के लोगों का भी हुआ। लेकिन सम्राट् शहर के लोगों को राज़ी रखना चाहते थे, जिससे कि वे कोई झगड़ा-बखेड़ा खड़ा न करें। इसके लिए रोम के लोगों को मुफ़्त रोटियाँ दी जाती थीं, और उनके मनोरंजन के लिए सरकसों में खेल-तमाशे भी मुफ़्त में दिखाये जाते थे। इस तरह उनका मिज़ाज खुश रक्खा जाता था। लेकिन ये मुफ़्त की रोटियां सिर्फ़ कुछ ही जगहों में बांटी जा सकती थीं, और इसके लिए भी मिस्र वग़ैरा दूसरे मुल्कों में ग़ुलामों को तबाही और मुसीबत उठानी पड़ती थी; क्योंकि उनसे मुफ़्त का आटा वसूल किया जाता था।

चूंकि रोमन लोग आसानी से फ़ौज में भरती नहीं होते थे, इसलिए साम्राज्य के बाहर के लोग, जिन्हें 'बर्बर' कहा जाता था, सेना में भरती किये जाते थे। इस तरह रोम की सेनाओं में ज्यादातर वे लोग भर गये जो रोम के 'बर्बर' दुश्मनों के साथी या रिश्तेदार थे। सरहदों पर ये 'बर्बर' जातियां बराबर रोमनों को दबाती और घेरती जाती थीं। ज्यों-ज्यों रोम कमज़ोर होता गया, 'बर्बर' लोग ज्यादा ताक़तवर और साहसी होते नज़र आने लगे। पूर्व की तरफ़ से ख़ास ख़तरा था। और चूंकि यह सरहद रोम से दूर थी, इसलिए इसकी रक्षा करना आसान नहीं था। आगस्त सीज़र के तीन सौ वर्ष बाद, कुस्तुन्तीन नामक सम्राट् ने ऐसा महत्वपूर्ण क़दम उठाया, जिसका आगे चलकर बहुत ही दूरवर्ती नतीजा निकलनेवाला था। वह साम्राज्य की राजधानी रोम से हटाकर पूर्व को ले गया। काला सागर और भूमध्यसागर के बीच, दर्रे-दानियाल के किनारे पर बसे हुए बिज़ैन्तिया नामक पुराने शहर के पास, उसने एक नया शहर बसाया, जिसका नाम उसने अपने नाम पर कुस्तुन्तुनिया[1] रक्खा। क़ुस्तुन्तुनिया, जिसे नया रोम भी कहते थे, रोमन साम्राज्य की राजधानी बन गया। आज भी एशिया के कई हिस्सों में क़ुस्तुन्तुनिया को रूम कहते हैं।

: ३३ :

## रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छायामात्र रह जाता है

२४ अप्रैल, १९३२

आज भी हम रोमन साम्राज्य का सिंहावलोकन जारी रक्खेंगे। ईसवी

---

[1] अंग्रेजी में यह कान्स्टेन्टिनोप्ल कहलाता है।

सन् की चौथी सदी के शुरू में, यानी ३२६ ई० में, क़ुस्तुन्तीन ने पुराने बिज़ैन्तिया के नज़दीक क़ुस्तुन्तुनिया शहर बसाया। और वह अपने साम्राज्य की राजधानी को पुराने रोम से बहुत दूर दर्रे दानियाल के किनारे पर बसे हुए इस नये रोम में ले आया। नक्शे पर एक नज़र डालो। तुम देखोगी कि क़ुस्तुन्तुनिया का यह नया शहर यूरोप के किनारे खड़ा महान् शक्तिशाली एशिया की ओर झांक रहा है। यह दो महाद्वीपों को जोड़नेवाली एक कड़ी के समान है। खुश्की के और समुद्र के बहुत-से बड़े-बड़े तिजारती रास्ते इसीसे होकर गुजरते थे। राजधानी या नगर के लिए यह बहुत अच्छे मौक़े की जगह है। क़ुस्तुन्तीन ने चुनाव तो अच्छा किया लेकिन इस राजधानी के परिवर्तन की उसे या उसके वारिसों को काफ़ी क़ीमत चुकानी पड़ी। जिस तरह पुराना रोम एशिया-कोचक और पूर्वी हिस्सों से काफ़ी दूर पड़ता था, उसी तरह यह नई पूर्वी राजधानी भी ब्रिटेन और गॉल जैसे पश्चिमी देशों से बहुत दूर पड़ती थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक तो दो संयुक्त सम्राट् हुआ करते थे; एक रोम में रहता था और दूसरा क़ुस्तुन्तुनिया में। इसका नतीजा यह हुआ कि साम्राज्य के दो हिस्से हो गये—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। लेकिन पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, बहुत दिनों तक इस धक्के को बर्दाश्त न कर सका। जिन लोगों को वह 'बर्बर' कहता था, उनसे वह अपनी रक्षा न कर सका। गोथ नाम का एक जर्मन क़बीला आया और उसने रोम को लूट लिया। इसके बाद वाण्डाल और हूण आये और पश्चिमी साम्राज्य ढह गया। तुमने हूण शब्द का प्रयोग सुना होगा। यह बतलाने के लिए कि जर्मन लोग बहुत ज़ालिम और जंगली हैं, पिछले महायुद्ध में अंग्रेज़ लोग जर्मनों के लिए इस शब्द का आमतौर पर इस्तेमाल करते थे। पर सच्ची बात तो यह है कि लड़ाई के ज़माने में हर आदमी का, या कुछके सिवा हर आदमी का, दिमाग़ फिर जाता है। सभ्यता और शराफ़त के बारे में उसने जो कुछ सीखा होता है, वह सब भूल जाता है और निर्दयता व जंगलीपन का व्यवहार करने लगता है। जर्मनों ने इसी तरह का व्यवहार किया और अंग्रेज़ों व फ्रांसीसियों ने भी। इस मामले में दोनों में कोई फ़र्क नहीं था।

हूण शब्द लानत का एक भयंकर शब्द बन गया है। यही हाल वाण्डाल शब्द का भी है। शायद ये हूण और वाण्डाल बहुत असभ्य और निर्दयी थे और इन्होंने बहुत नुक़सान पहुँचाया। लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इनके बारे में जो-कुछ हाल हमें मालूम होते हैं, वह इनके दुश्मन रोमन लोगों के लिखे हुए हैं और उनसे निष्पक्षता की उम्मीद नहीं की जा सकती। कुछ भी हो, गोथ, वाण्डाल और हूण लोगों ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को बालू की दीवार की तरह ढहा दिया। इन लोगों के इतनी आसानी से कामयाब हो जाने की एक वजह शायद यह थी कि

रोमन साम्राज्य का किसान-वर्ग उसकी मातहती में इतना ज़्यादा तबाह था और उस पर टैक्सों का व क़र्ज़ों का इतना भारी बोझ था, कि वह किसी भी परिवर्तन का स्वागत करने को तैयार था। जैसे आज का ग़रीब भारतीय किसान अपनी भयंकर ग़रीबी और तबाही में होनेवाला कोई भी परिवर्तन खुशी से क़बूल कर लेगा।

इस तरह रोम का पश्चिमी साम्राज्य ढह गया पर कुछ सदियों के बाद यह फिर दूसरी शक्ल में उठा। पूर्वी साम्राज्य किसी तरह क़ायम रहा; हालांकि हूण और दूसरी क़ौमों के हमलों का मुक़ाबला करने में इसे बहुत मुश्किलें उठानी पड़ीं। इन हमलों से अपनी रक्षा करने के अलावा, अरबों और बाद को तुर्कों से बराबर लड़ाइयां लड़ते हुए भी यह साम्राज्य सदियों तक चलता रहा। ग्यारह सौ वर्षों के आश्चर्यजनक काल तक यह बचा रहा। आख़िरकार १४५३ ई० में इसका पतन हो गया और क़ुस्तुन्तुनिया पर उस्मानिया तुर्कों ने क़ब्ज़ा कर लिया। उस वक़्त से आज तक क़रीब पाँच सौ वर्षों से क़ुस्तुन्तुनिया या इस्ताम्बूल तुर्कों के क़ब्ज़े में है। यहां से तुर्कों ने यूरोप पर बार-बार धावे किये और वे ठेठ वियेना की दीवारों तक जा पहुँचे। बाद की सदियों में ये लोग धीरे-धीरे पीछे हटा दिये गए, और बारह वर्ष हुए, महायुद्ध में हारने के बाद, क़ुस्तुन्तुनिया का शहर भी क़रीब-क़रीब तुर्कों के हाथ से निकल गया था। इस शहर पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा था और तुर्की सुलतान उनके हाथ की कठपुतली बन गया था। लेकिन एक महान नेता, मुस्तफ़ा कमालपाशा अपनी क़ौम को बचाने के लिए आगे आया और एक बहादुराना संघर्ष के बाद वह सफल हुआ। आज तुर्की एक गणराज्य है और सुल्तान का पद हमेशा के लिए ख़तम हो गया है। कमाल पाशा इस गणराज्य का राष्ट्रपति है।[1] क़ुस्तुन्तुनिया, जो पन्द्रह-सौ वर्षों तक पूर्वी रोमन साम्राज्य की और बाद में तुर्की साम्राज्य की राजधानी रहा है, अब भी तुर्की राज्य का एक हिस्सा है, लेकिन उसकी राजधानी नहीं है। तुर्कों ने इस शहर की साम्राज्य-सम्बन्धी यादगारों से दूर रहना और यहां से बहुत दूर एशिया-कोचक में अंगोरा या अंकारा को अपनी राजधानी बनाना ज़्यादा मुनासिब समझा।

हमने क़रीब दो हज़ार वर्षों का ज़माना तेज़ी के साथ पार कर लिया है और क़ुस्तुन्तुनिया की स्थापना, इस नये शहर में रोमन साम्राज्य की राजधानी का जाना, वग़ैरा, एक के बाद एक होनेवाले परिवर्तनों पर सरसरी नज़र डाली है। लेकिन क़ुस्तुन्तीन ने एक नई बात और भी की। वह ईसाई हो गया, और चूंकि वह सम्राट् था, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई मज़हब साम्राज्य का राज-धर्म बन गया। ईसाइयत की हैसियत में यह अचानक परिवर्तन होना और

[1] कमालपाशा की मृत्यु १९३९ ई० में हो गई।

एक त्रस्त सम्प्रदाय का साम्राज्य का धर्म बन जाना, अजीब बात हुई होगी। लेकिन इस परिवर्तन से ईसाइयत को उस समय ज़्यादा फ़ायदा नहीं हुआ। ईसाइयों के जुदा-जुदा सम्प्रदायों में आपसी झगड़े शुरू हो गये। आखिर में लातीनी और यूनानी दो सम्प्रदाय टूट कर अलग हो गये। लातीनी सम्प्रदाय का केन्द्र रोम था और रोम का बिशप इसका प्रमुख समझा जाता था। बाद में यही रोम का पोप हो गया। यूनानी सम्प्रदाय का केन्द्र क़ुस्तुन्तुनिया था। लातीनी चर्च उत्तर और पश्चिम यूरोप में फैल गया और रोमन कैथोलिक चर्च के नाम से मशहूर हुआ। यूनानी चर्च का नाम कट्टर चर्च[1] पड़ गया। पूर्वी रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद रूस ही ऐसा मुल्क था, जिसमें कट्टर चर्च खास तौर पर फूला-फला। अब रूस में बोलशेविज़्म के कारण इस चर्च की, या किसी भी चर्च की, कोई सरकारी हैसियत नहीं है।

मैंने पूर्वी रोमन साम्राज्य का ज़िक्र किया है, लेकिन इसका रोम से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस साम्राज्य की भाषा भी लातीनी नहीं बल्कि यूनानी थी। एक अर्थ में इसे बहुत-कुछ सिकन्दर के यूनानी साम्राज्य का सिलसिला समझ सकते हैं। इस साम्राज्य का पश्चिमी यूरोप से भी कोई सम्पर्क नहीं था; हालांकि बहुत दिनों तक इसने पश्चिमी देशों के इस हक़ को मंजूर नहीं किया कि वे इससे स्वाधीन रहे। फिर भी पूर्वी साम्राज्य ने रोमन शब्द को नहीं छोड़ा, और यहां के लोग रोमन कहलाते रहे, मानों इस शब्द में कोई जादू हो। इससे ज़्यादा ताज्जुब की बात यह हुई कि रोम नगर ने, साम्राज्य की राजधानी के पद से गिर जाने पर भी, अपना रौब नहीं खोया; यहां तक कि जो बर्बर लोग इसे जीतने के लिए आये, उन्हें भी इस पर हाथ उठाने में झिझक-सी हुई और उन्होंने इसके साथ सम्मान का व्यवहार किया। वास्तव में बड़े नाम में और भावनाओं में ऐसी ही शक्ति होती है!

साम्राज्य खोकर रोम ने एक नया साम्राज्य बनाना शुरू किया; लेकिन यह बिलकुल दूसरी ही क़िस्म का था। कहा जाता था कि यीशु के शिष्य पीटर रोम आये थे और वह यहां के पहले बिशप हुए। इससे बहुत-से ईसाइयों की नज़रों में यह शहर पवित्र बन गया और रोम के बिशप का पद खास महत्त्व का हो गया। शुरू में रोम का बिशप दूसरे बिशपों की तरह ही होता था, लेकिन सम्राट् के क़ुस्तुन्तुनिया चले जाने के बाद इस पद का महत्त्व बढ़ता गया। अब रोम में बिशप के ऊपर कोई न रहा और पीटर की गद्दी पर बैठनेवाले की हैसियत से रोम के बिशप का ओहदा सबसे ऊँचा माना जाने लगा। बाद को ये पोप कहलाने लगे, और तुम जानती हो कि पोप आज भी बने हुए हैं और रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख होते हैं।

यह अजीब बात है कि रोमन चर्च और यूनानी कट्टर चर्च के अलग होने

[1] Orthodox Church

की एक वजह मूर्ति-पूजा थी। रोमन चर्च ईसाई सन्तों की और खासकर ईसा की माता मेरी की मूर्तियों की पूजा को बढ़ावा देता था, लेकिन कट्टर चर्च इसका घोर विरोधी था।

रोम पर उत्तरी कबीलों के सरदारों का कई पीढ़ियों तक क़ब्ज़ा और शासन रहा, लेकिन वे भी अक्सर कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् को अपना स्वामी मानते रहे। इस बीच रोम के बिशप की ताक़त धर्माध्यक्ष के रूप में बढ़ती गई। यहांतक कि वह अपनेको इतना ताक़तवर महसूस करने लगा कि क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् को चुनौती देने लगा। जब मूर्ति-पूजा के सवाल पर झगड़ा हुआ तब पोप ने रोम को पूर्व से बिलकुल अलग कर लिया। इस अर्से में बहुत-सी ऐसी बातें हो गई थीं, जिनका हम आगे ज़िक्र करेंगे। अरब में एक नया मज़हब इस्लाम पैदा हो गया था और अरब लोग सारे उत्तरी अफ्रीका और स्पेन को रौंदकर यूरोप के बीच के भाग पर हमला कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी यूरोप में नये राज्य क़ायम हो रहे थे और पूर्वी रोमन साम्राज्य पर अरबों के भयंकर आक्रमण हो रहे थे।

पोप ने फ्रैंक लोगों के एक बड़े नेता से मदद माँगी। फ्रैंक उत्तर का एक जर्मन कबीला था। बाद को फ्रैंकों के सरदार कार्ल या चार्ल्स को रोम में सम्राट की गद्दी पर बिठाया गया। यह एक बिलकुल ही नया साम्राज्य या राज्य था, लेकिन उन लोगों ने इसे रोमन साम्राज्य और बाद में 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के नाम से पुकारा। वे रोमन के सिवाय किसी साम्राज्य की कल्पना ही नहीं कर सकते थे, और हालांकि शार्लमेन या महान चार्ल्स का रोम से कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी वह इम्परेटर, सीज़र और आगस्त बन गया। इस नये साम्राज्य को पुराने साम्राज्य का एक सिलसिला समझा गया, लेकिन उसके नाम में एक शब्द और जुड़ गया। अब वह 'पवित्र' हो गया। यह पवित्र इसलिए माना गया कि यह खास तौर से एक ईसाई साम्राज्य था और पोप इसका धर्म-पिता था।

इस जगह भावनाओं की अद्भुत शक्ति का एक और सबूत मिलता है। मध्य-यूरोप का रहनेवाला एक फ्रैंक या जर्मन, रोमन सम्राट् बन जाता है! इस 'पवित्र' साम्राज्य का अगला इतिहास और भी आश्चर्यजनक है। साम्राज्य की हैसियत से यह बिलकुल छाया जैसा रह गया था। पूर्व का रोमन साम्राज्य, जिसकी राजधानी क़ुस्तुन्तुनिया थी, राज्य की तरह चलता रहा; पर पश्चिमी साम्राज्य समय-समय पर बदलता रहा, ग़ायब होता रहा और फिर प्रकट होता रहा। दरअसल यह साम्राज्य छाया और भूत की तरह था, जो सिर्फ़ ईसाई-चर्च और रोमन नाम की प्रतिष्ठा के बल पर खयाली दुनिया में चल रहा था। अब यह कल्पना का साम्राज्य रह गया था जिसमें असलियत कुछ नहीं थी। किसीने—मेरा खयाल है शायद वाल्तेयर ने—इस 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की परिभाषा करते हुए कहा था कि

यह ऐसी चीज़ थी, जो न तो पवित्र थी, न रोमन थी और न साम्राज्य थी। जैसे किसी ने एक बार इण्डियन सिविल सर्विस के बारे में, जिससे हम लोग इस देश में दुर्भाग्य से अभी तक परेशान हैं, कहा था कि न तो यह इण्डियन (भारतीय) है, न सिविल (शिष्ट) है और न सर्विस (सेवा) है !

जो कुछ भी हो, पवित्र रोमन साम्राज्य का यह ढकोसला क़रीब एक हज़ार वर्ष तक नाम को चलता रहा और आज से क़रीब सौ वर्ष से कुछ ही ज़्यादा हुए, नेपोलियन के ज़माने में, इसका हमेशा के लिए अन्त हो गया। यह अन्त भी कुछ मार्के का या नाटकीय नहीं हुआ। इसके अन्त पर किसीका ध्यान ही नहीं गया; क्योंकि वास्तव में बहुत दिनों से इसकी हस्ती ही नहीं थी। अन्त में इस भूत को दफ़न कर दिया गया। लेकिन हमेशा के लिए नहीं, क्योंकि क़ैसर और ज़ार वग़ैरा के रूपों में यह बार-बार प्रकट होता रहा। ये सब भी चौदह वर्ष हुए पिछले महायुद्ध में दफ़ना दिये गए।

: ३४ :

## विश्व-राज्य की भावना

२५ अप्रैल, १९३२

मुझे लगता है कि मेरी इन चिट्ठियों से तुम बहुत बार उकता जाती होगी और उलझन में पड़ जाती होगी। ख़ासकर रोमन-साम्राज्य सम्बन्धी पिछले दो पत्रों ने तो तुम्हारा इम्तिहान ले डाला होगा। हज़ारों वर्षों और हजारों मीलों को पार करते हुए कभी मैं पीछे चला गया हूं और कभी आगे बढ़ गया हूँ। और इससे अगर तुम्हारे दिमाग़ में कुछ उलझन पैदा हो गई हो तो क़सूर मेरा ही है। पर हिम्मत मत हारो और आगे बढ़ती चलो। अगर कहीं मेरी कोई बात तुम्हारी समझ में न आये तो तुम परेशान न होना बल्कि आगे बढ़ती चलना। इन पत्रों का उद्देश्य तुम्हें इतिहास पढ़ाना नहीं है बल्कि सिर्फ़ यह है कि तुम्हें उसकी झांकियां मिलती रहें और कुतूहल पैदा हो।

रोमन साम्राज्यों की चर्चा से तुम ज़रूर ऊब गई होगी। मैं मंजूर करता हूँ कि मैं भी थक तो गया हूँ, लेकिन आज थोड़ी देर के लिए हम उन्हें और बर्दाश्त कर लें, और फिर कुछ दिन के लिए इनसे छुट्टी ले लेंगे।

तुम जानती हो कि आजकल राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की बहुत चर्चा होती रहती है। भारत में आजकल हममें से क़रीब-क़रीब सभी गहरे राष्ट्रवादी हैं। इतिहास में यह राष्ट्रीयता एक बिलकुल नई चीज़ है और इन पत्रों में हम इस राष्ट्रीयता के जन्म और विकास का शायद कुछ अध्ययन कर सकें। रोमन साम्राज्यों

के ज़माने में इस क़िस्म की कोई भावना नहीं पाई जाती थी। रोमन साम्राज्य सारी दुनिया पर हुकूमत करनेवाला एक महान राज्य माना जाता था। आज तक कोई साम्राज्य या राज्य ऐसा नहीं हुआ, जिसने सारी दुनिया पर हुकूमत की हो, लेकिन भूगोल के अज्ञान और दूर देशों के लिए सवारी के साधनों में और यात्रा में भारी कठिनाइयां होने की वजह से लोग पुराने ज़माने में अक्सर यह समझ लेते थे कि ऐसा राज्य है। इसलिए रोमन राज्य के साम्राज्य बनने के पहले से ही यूरोप में और भूमध्यसागर के आसपास के देशों में, वह इसके सारे राज्यों पर हुकूमत करनेवाला एक सर्वोपरि राज्य माना जाता था। इसका रौब इतना ज़्यादा था कि एशिया-कोचक, यूनानी राज्य के परगैमम और मिस्र इन दोनों देशों के शासकों ने खुद ही रोमन क़ौम को भेंट कर दिये। ये समझते थे कि रोम सबसे ज़्यादा शक्तिशाली है और कोई उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। लेकिन जैसा कि मैं लिख चुका हूं, चाहे गणराज्य की तरह या साम्राज्य की तरह, रोम का राज भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों के अलावा और कहीं नहीं था। उत्तरी यूरोप के 'बर्बर' लोगों ने इसके आगे सिर नहीं झुकाया, और रोम भी इनकी ज्यादा परवाह नहीं करता था। लेकिन रोम की सत्ता की हद जो भी रही हो, इसके पीछे एक विश्व-राज्य की भावना थी, और इस भावना को पश्चिम में उस ज़माने के अधिकांश लोगों ने स्वीकार कर लिया था। रोमन साम्राज्यों का इतने दिन ज़िन्दा रहने का यही कारण है। यहांतक कि उसकी असलियत निकल जाने पर भी उसका नाम और प्रताप बहुत बढ़ा हुआ था।

एक बड़े राज्य का सारी दुनिया पर हुकूमत करने का विचार रोम की ही ख़ासियत नहीं थी। यह विचार पुराने ज़माने में चीन और भारत में भी पाया जाता था। जैसा कि तुम्हें मालूम है, कैस्पियन समुद्र तक फैला हुआ चीनी राज्य बहुत बार रोमन साम्राज्य से ज़्यादा लम्बा-चौड़ा रहा है। चीन का सम्राट 'स्वर्ग-पुत्र' कहलाता था और चीनी लोग उसे 'विश्व-सम्राट्' समझते थे। यह सही है कि कुछ जंगली कौमें और कबीले ऐसे थे, जो उत्पात करते रहते थे और सम्राट् का हुक्म नहीं मानते थे। लेकिन वे 'बर्बर' समझे जाते थे, जिस तरह कि रोमन लोग उत्तर यूरोप के रहनेवालों को 'बर्बर' कहते थे।

इसी तरह भारत में भी शुरू के ज़माने से ही 'चक्रवर्ती' कहलानेवाले विश्व-सम्राटों का ज़िक्र मिलता है। दुनिया के बारे में उनकी कल्पना वास्तव में बहुत सीमित थी। खुद भारत ही इतना बड़ा था कि वे सारी दुनिया इसीको समझते थे और यह ख़याल करते थे कि भारत पर हुकूमत करनेवाला सारी दुनिया का स्वामी है। बाहर के दूसरे लोगों को वे म्लेच्छ कहते थे। पुराने ज़माने से चली आनेवाली कथाओं के अनुसार पौराणिक राजा भरत, जिसके नाम पर हमारा देश

भारतवर्ष कहलाता है, ऐसा ही एक चक्रवर्ती राजा माना गया है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर और उसके भाइयों में इसी चक्रवर्ती-पद के लिए युद्ध हुआ था। अश्वमेध-यज्ञ संसार के प्रभुत्व के लिए एक चुनौती थी और उसका एक प्रतीक था। अशोक भी शायद शुरू में चक्रवर्ती राजा बनना चाहता था। लेकिन उसका दिल पश्चात्ताप से इतना भर गया कि उसने युद्ध करना ही छोड़ दिया। इसके बाद भी तुम्हें भारत में गुप्तवंश के राजाओं की तरह कई ऐसे साम्राज्यवादी राजा मिलेंगे जिनकी इच्छा चक्रवर्ती बनने की थी।

तुम देखोगी कि पुराने जमाने में लोग विश्व-सम्राट् और विश्व-राज्य की बात अक्सर सोचा करते थे। इसके बहुत दिनों बाद राष्ट्रीयता आई और एक नये क़िस्म का साम्राज्यवाद पैदा हुआ और इन दोनों ने दुनिया में काफी तबाही मचा दी है। आजकल भी विश्व-राज्य की चर्चा होने लगी है। यह चर्चा किसी महान साम्राज्य या चक्रवर्ती सम्राट् के बारे में नहीं है, बल्कि एक तरह के ऐसे विश्व गण-राज्य की है जिसमें कोई राष्ट्र या क़ौम या वर्ग किसी दूसरे राष्ट्र या क़ौम या वर्ग का शोषण न कर सके। यह कहना मुश्किल है कि निकट भविष्य में इस क़िस्म की कोई चीज़ बनेगी या नहीं, लेकिन दुनिया की हालत बुरी है और इसकी बुराइयों को मिटाने का कोई दूसरा तरीक़ा दिखाई नहीं देता।

मैंने उत्तर यूरोप के 'बर्बरों' का बार-बार ज़िक्र किया है। यह शब्द मैंने इसलिए इस्तेमाल किया है कि रोमन लोगों ने इनका ज़िक्र इसी नाम से किया है। मध्य-एशिया के घुमक्कड़ों और दूसरे क़बीलों की तरह ये लोग रोम या भारत में रहनेवाले अपने पड़ोसियों से अवश्य ही कम सभ्य थे। लेकिन ताक़त का जोश इन लोगों में ज़्यादा था, क्योंकि ये खुली हवा में रहनेवाले थे। बाद में ये ईसाई हो गये और जब इन्होंने रोम को जीत लिया तब भी ये वहां औरों की तरह खूंखार दुश्मन बनकर नहीं आये। उत्तरी यूरोप के आजकल के राष्ट्र—गोथ, फ़्रैंक, वग़ैरा, इन्हीं 'बर्बर' जातियों की सन्तानें हैं।

मैंने तुम्हें रोमन सम्राटों के नाम नहीं बताये। वहां ढेरों सम्राट हुए; पर कुछको छोड़कर बाक़ी सब बहुत बुरे थे। कुछ तो निरे राक्षस ही थे। तुमने नीरो का नाम तो सुना ही होगा। लेकिन बहुत-से तो नीरो से भी बहुत ज्यादा बुरे हुए हैं। आइरीन नाम की एक स्त्री ने सम्राज्ञी बनने के लिए खुद अपने पुत्र को, जो कि सम्राट् था, क़तल कर दिया था। यह क़ुस्तुन्तुनिया की बात है।

रोम का एक सम्राट् दूसरों के मुक़ाबले बहुत ऊंचा था। उसका नाम मार्क ऑरेली एन्तोनिन था। कहा जाता है कि यह दार्शनिक था और उसकी एक पुस्तक[1],

---

[1]श्री च० राजगोपालाचार्य द्वारा किया गया इसका रूपांतर 'आत्म-चिंतन' के नाम से सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्राप्य है।

जिसमें उसके विचार और मनन दिये हुए हैं, पढ़ने लायक है। पर मार्क ऑरेली के पुत्र ने, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, अपने पिता का हिसाब बराबर कर दिया। यह रोम के सबसे बदमाश गुंडों में गिना जाता है।

रोमन साम्राज्य के शुरू के तीन सौ वर्षों तक रोम पश्चिमी दुनिया का केन्द्र रहा। जरूर ही यह आलीशान इमारतोंवाला बहुत बड़ा शहर रहा होगा, जहां साम्राज्य के कोने-कोने से, और बाहर से भी, लोग आते रहे होंगे। बहुत-से जहाज़ दूर-दूर के देशों से बढ़िया चीज़ें—खाने की दुर्लभ वस्तुएं और क़ीमती माल यहां लाते थे। कहते हैं, हर साल एक सौ बीस जहाज़ों का बेड़ा लाल समुद्र के एक मिस्री बन्दरगाह से भारत जाता था। ये लोग ठीक उसी वक़्त चलते थे जब बरसात की पुरवैया हवाएं चलती थीं, क्योंकि इनसे इनको बहुत सहारा मिलता था। ये ज्यादातर दक्षिण भारत जाते थे और क़ीमती माल लादकर फिर मौसमी हवाओं के सहारे मिस्र वापस आ जाते थे। मिस्र से यह माल खुश्की और समुद्र के रास्ते रोम भेज दिया जाता था।

लेकिन यह सारा व्यापार ज्यादातर अमीरों के फ़ायदे के लिए ही था। थोड़े-से आदमियों के ऐश-आराम के पीछे बहुतों की तबाही थी। तीन सौ से ज्यादा वर्षों तक रोम पश्चिम में सब शहरों का सरताज बना रहा, और बाद में जब क़ुस्तुन्तुनिया बसा, तो वह भी इसका साझीदार बन गया। अजीब बात यह है कि इस लम्बे काल में भी, रोम ने विचार-जगत् में कोई ऐसी महान् बात पैदा न की जैसी यूनान ने बहुत कम समय में ही कर दिखाई थी। वास्तव में बहुत-सी बातों में रोमन सभ्यता यूनानी सभ्यता की एक हलकी छाया मालूम होती है। कहा जाता है कि एक बात में रोमन लोगों ने बहुत बड़ी पहल की और वह है क़ानून। आज भी पश्चिम देशों में वकीलों को रोमन कानून पढ़ना पड़ता है, क्योंकि यह यूरोप में क़ानून के बहुत बड़े हिस्से की बुनियाद माना जाता है।

ब्रिटिश साम्राज्य की रोमन साम्राज्य से अक्सर तुलना की जाती है। आमतौर पर अंग्रेज़ लोग ऐसा करते हैं, और अपने मन में खुश होते हैं। सारे साम्राज्य, थोड़े या बहुत, एक ही तरह के होते हैं। ये जनता को चूसकर पनपते हैं। लेकिन रोमनों और अंग्रेज़ों में एक बात में बहुत ज्यादा समानता पाई जाती है, और वह यह कि दोनों में सूझ-बूझ की बिलकुल कमी है! बन-ठनकर और अपने-आपमें मस्त होकर, और यह पक्का विश्वास करते हुए कि सारी दुनिया खासतौर से इन्हींके फ़ायदे के लिए बनाई गई है, ये लोग शंकाओं और कठिनाइयों से परेशान न होते हुए भी ज़िन्दगी गुज़ारते हैं।

: ३५ :

# पार्थव और सासानी

२६ अप्रैल, १९३२

अब हमें रोमन साम्राज्य और यूरोप को छोड़कर दुनिया के दूसरे हिस्सों को चलकर देखना चाहिए। हमें यह देखना है कि इस बीच एशिया में क्या हुआ और फिर भारत और चीन की कहानी का सिलसिला जारी रखना है। अब दूसरे देश भी जाने हुए इतिहास के क्षितिज पर नज़र आने लगे हैं। उनके बारे में भी हमें कुछ कहना होगा। सच तो यह है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे इतनी ज़्यादा जगहों के बारे में इतना ज़्यादा कहना ज़रूरी होगा कि मैं कहीं घबराकर यह काम ही न छोड़ बैठूं।

मैंने अपने एक पत्र में रोमन गणराज्य की सेनाओं की पार्थव में कैरे की लड़ाई में करारी हार का ज़िक्र किया था। उस वक़्त मैं यह बताने के लिए नहीं रुका था कि पार्थव लोग कौन थे और उन्होंने वहां, जहां आज ईरान और इराक़ बसे हुए हैं, कैसे एक राज्य क़ायम कर लिया था। तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सेलेउक और उसके वंशज एक साम्राज्य पर हुकूमत करते थे, जो भारत से पश्चिम में एशिया-कोचक तक फैला हुआ था। क़रीब तीन सौ वर्षों तक इनका बोलबाला रहा, जिसके बाद मध्य-एशिया के पार्थव नाम के एक कबीले ने इन्हें मार भगाया। फ़ारस या पार्थव कहलानेवाले देश के इन्हीं पार्थवों ने गणराज्य के आखरी दिनों में रोमनों को हराया था और गणराज्य के बाद क़ायम होनेवाला रोमन साम्राज्य इन पार्थवों को पूरी तरह कभी नहीं हरा सका। ये लोग ढाई सौ वर्षों तक पार्थव पर हुकूमत करते रहे, और फिर एक अन्दरूनी क्रान्ति ने इन्हें वहां से भगा दिया। ईरानी लोग खुद इन विदेशी शासकों के ख़िलाफ़ बग़ावत कर बैठे और उनकी जगह पर अपनी क़ौम और मज़हब के एक बादशाह को बैठा दिया। इस बादशाह का नाम आर्दशेर प्रथम था और इसके वंश को सासानी वंश कहते हैं। आर्दशेर ज़रथुस्त धर्म का कट्टर अनुयायी था और दूसरे मज़हबों को ज़्यादा बर्दाश्त नहीं करता था। तुम्हें याद होगा कि जरथुस्त मत पारसियों का मज़हब है। रोमन साम्राज्य और सासानियों में हमेशा युद्ध चलता रहता था। सासानियों ने एक रोमन सम्राट् को गिरफ्तार भी कर लिया था। कई बार ईरानी फ़ौजें क़ुस्तुन्तुनिया के पास तक पहुँच गई थीं, और एक दफ़ा उन्होंने मिस्र को भी जीत लिया था। सासानी साम्राज्य पारसी धर्म के पक्ष में धार्मिक जोश के लिए ख़ास तौर पर मशहूर है। जब सातवीं सदी में इस्लाम आया, तब उसने सासानी साम्राज्य और उसके राज-धर्म दोनों को ख़तम कर दिया। ज़रथुस्त मत को मानने-

वाले बहुत-से लोग इस परिवर्तन की वजह से और सताये जाने के डर से, अपना देश छोड़कर भारत आ गये । भारत ने इनका स्वागत किया, क्योंकि वह आश्रय की तलाश में आनेवाले सब लोगों का इसी तरह स्वागत करता रहा है। भारत के पारसी इन्हीं ज़रथुस्तियों के वंशज हैं।

जुदे-जुदे धर्मों के साथ बर्ताव करने के मामले में अगर हम भारत की दूसरे देशों से तुलना करते हैं तो एक निराली और अद्भुत बात नज़र आती है। तुम देखोगी कि पुराने ज़माने में बहुत-सी जगहों पर, और ख़ासकर यूरोप में, जो लोग राजधर्म को नहीं मानते थे, उन्हें बर्दाश्त नहीं किया जाता था और सताया जाता था। क़रीब-क़रीब हर जगह ज़ोर-ज़बरदस्ती हुआ करती थी। तुम यूरोप की भयंकर 'इनक्विज़िशन'[1] का और डाकनें समझी जानेवाली स्त्रियों के जलाये जाने का हाल पढ़ोगी। लेकिन भारत में पुराने ज़माने में पूरी सहिष्णुता थी। हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म का मामूली झगड़ा पश्चिमी देशों के धार्मिक मत-मतान्तरों के ख़ूनी झगड़ों के मुकाबले में कुछ भी नहीं है। यह बात याद रखने लायक है, क्योंकि बदक़िस्मती से हाल ही में हमारे यहां मज़हबी और साम्प्रदायिक दंगे हो चुके हैं, और कुछ लोग, जिन्हें इतिहास का ठीक ज्ञान नहीं है, समझते हैं कि भारत में यह दशा युगों से चली आ रही है। यह बात बिल्कुल ग़लत है। ये दंगे तो हाल के ज़माने की उपज हैं। तुम्हें पता लगेगा कि इस्लाम शुरू होने के बाद सैकड़ों वर्षों तक मुसलमान लोग भारत के सभी हिस्सों में अपने पड़ोसियों के साथ बिल्कुल शान्ति के साथ मिल-जुलकर रहते थे। जब वे व्यापार के लिए आये तो इनका स्वागत किया गया और इनको यहां बसने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन यह तो मैं आगे की बात कहने लगा।

इस तरह भारत ने पारसियों का स्वागत किया, जैसे कि कई सौ वर्ष पहले बहुत से यहूदियों का भी स्वागत किया था जो सताये जाने की वजह से ईसाई सन् की पहली सदी में. रोम से भाग कर यहां आये थे।

ईरान में सासानी राज के ज़माने में शाम[2] के पामीर में एक छोटा-सा

---

[1] इनक्विजिशन—ईसाई धर्म के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के संरक्षण में स्थापित धार्मिक अदालत। इसका काम धार्मिक अविश्वास को रोकना और धर्म के सम्बन्ध में नये विचार फैलानेवालों को दण्ड देना था। पहले यह फ्रांस में स्थापित हुई और बाद को इटली, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी इत्यादि में भी फैल गई। मामूली-से-मामूली स्वतंत्र विचारों के लिए यह लोगों को जिन्दा जलवा देती थी। इसकी रोमांचकारी कथा 'सस्ता-साहित्य मंडल' द्वारा प्रकाशित 'नर-मेध' नामक पुस्तक में पढ़िए। उन्नीसवीं सदी में इस प्रथा का अन्त हुआ।

[2] शाम—सीरिया का पुराना नाम।

रेगिस्तानी राज्य भी फूला-फला और कुछ दिन के लिए इसकी शान भी रही। शाम के रेगिस्तान के बीच में पामीर व्यापार की एक मंडी था। इसके विशाल खंडहर, जो आज भी दिखाई देते हैं, इसकी आलीशान इमारतों की याद दिलाते हैं। एक बार जेनब नाम की एक स्त्री भी इस राज्य की रानी हुई। लेकिन रोमन लोगों ने इसे हरा दिया और उसके साथ ऐसा सलूक किया जो वीरोचित नहीं था। वे उसे जंज़ीरों में बांधकर रोम ले गये।

ईसाई सन् के शुरू में शाम एक हरा-भरा देश था। बाइबिल के नये अहदनामे से हमें इसके बारे में कुछ बातें मालूम होती हैं। बुरा शासन और ज़ुल्म होते हुए भी यहां बड़े-बड़े शहर थे और बहुत घनी आबादी थी; बड़ी-बड़ी नहरें थीं और व्यापार भी खूब फैला हुआ था। लेकिन लगातार लड़ाइयों ने और बुरे शासन ने छै-सौ वर्षों के अन्दर ही इसे क़रीब-क़रीब वीरान कर दिया; बड़े शहर उजड़ गये और पुरानी इमारतें खंडहर हो गई।

अगर तुम हवाई जहाज़ में बैठकर भारत से यूरोप जाओ तो पामीर और बालबक के खंडहर तुम्हें रास्ते में पड़ेंगे। तुम्हें वह जगह भी दिखाई देगी जहां बाबुल बसा हुआ था, और बहुत-सी दूसरी वे जगहें भी देखोगी, जो इतिहास में मशहूर हैं लेकिन जिनका नामोनिशान भी अब नहीं पाया जाता।

: ३६ :

# दक्षिण भारत के उपनिवेश

२८ अप्रैल, १९३२

हम लोग दूर भटक गये। हमें अब फिर भारत की तरफ़ लौट चलना चाहिए और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उस समय इस मुल्क में हमारे पूर्वज क्या कर रहे थे। कुषाणों के सरहदी साम्राज्य की तुम्हें याद होगी। यह एक बहुत बड़ा बौद्ध साम्राज्य था, जिसमें पूरा उत्तरी भारत और मध्य एशिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा भी शामिल था। इसकी राजधानी पुरुषपुर या पेशावर थी। तुम्हें शायद यह भी याद होगा कि उस समय भारत के दक्षिण में एक बहुत बड़ा राज्य और था जो समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैला हुआ था। यह आन्ध्र-राज्य था। क़रीब तीन सौ साल तक कुषाण और आन्ध्र-राज्य खूब फूले-फले। लेकिन ईसा की तीसरी सदी के बीच में ये दोनों साम्राज्य खतम हो गये और कुछ समय के लिए भारत छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। लेकिन सौ साल के अन्दर ही पाटलिपुत्र में एक दूसरा चन्द्रगुप्त पैदा हुआ, जिसने उग्र हिन्दू साम्राज्यवाद के काल की बुनियाद डाली। पर इन गुप्तों की चर्चा करने के पहले यह उचित मालूम होता है कि हम दक्षिण भारत के उन महान साहसपूर्ण कारनामों के आरम्भ पर नज़र डालें,

जिनकी बदौलत पूर्वी दुनिया के सुदूर टापुओं में भारत की कला और सभ्यता जा पहुंची।

हिमालय और दो समुद्रों के बीच में फैले हुए भारत की शक्ल तुम अच्छी तरह जानती हो। इसका उत्तरी हिस्सा समुद्र से बहुत दूर है। पुराने ज़माने में भारत के लोगों को सबसे ज़्यादा चिन्ता अपनी उत्तरी सरहद की रही है, क्योंकि इधर होकर दुश्मन और हमला करनेवाले यहां आया करते थे। लेकिन भारत के पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र का बहुत लम्बा किनारा है। दक्षिण की ओर भारत संकड़ा होता गया है, यहांतक कि कन्याकुमारी पर जाकर पूर्व और पश्चिम के दोनों किनारे मिल जाते हैं। समुद्र के पास रहनेवाले ये लोग क़ुदरती तौर पर समुद्र से लगाव रखते थे और यह उम्मीद की जा सकती है कि उनमें से बहुत-से समुद्र यात्रा के अभ्यासी रहे होंगे। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूं कि बहुत ही प्राचीन ज़माने से दक्षिण भारत का पश्चिमी दुनिया से बड़ा भारी व्यापार होता चला आया था। इसलिए यह जानकर कोई ताज्जुब नहीं होना चाहिए कि भारत में शुरू से ही जहाज़ तैयार होते थे और यहां के रहनेवाले व्यापार के लिए, या शायद साहसिक खोजों के लिए, समुद्र पार जाया करते थे। ख़याल किया जाता है कि गौतम बुद्ध के ज़माने में विजय ने भारत से लंका जाकर उसे जीत लिया। मेरा ख़याल है कि अजन्ता की गुफाओं में एक तसवीर है जिसमें विजय समुद्र पार करके लंका जा रहा है और घोड़े और हाथी जहाज़ों में उस पार पहुँचाये जा रहे हैं। विजय ने लंका को सिंहल-द्वीप का नाम दिया था। सिंहल शब्द सिंह से निकला है और लंका में सिंह की एक पुरानी कहानी भी प्रचलित है, लेकिन मैं उसे भूल गया हूँ। मेरा ख़याल है कि सीलोन नाम सिंहल से बिगड़कर बना है।

दक्षिण भारत से लंका जाने में समुद्र का जो छोटा-सा टुकड़ा पड़ता है, उसे पार करना कोई बहुत जीवट का काम नहीं था। लेकिन हमें इस बात के बहुत काफ़ी सबूत मिलते हैं कि भारत में जहाज़ बनते थे, और बहुत लोग बंगाल से गुजरात तक के समुद्रतट पर छिटके हुए भारतीय बंदरगाहों से समुद्र पार जाया करते थे। नैनी-जेल से मैंने चन्द्रगुप्त मौर्य के मशहूर मन्त्री चाणक्य के अर्थशास्त्र के बारे में तुम्हें लिखा था। इस अर्थशास्त्र में समुद्री सेना का कुछ वर्णन है। चन्द्रगुप्त के दरबार में यूनानी राजदूत मेगस्थेनें ने भी इसका ज़िक्र किया है। इससे पता चलता है कि मौर्य-काल के शुरू में भारत में जहाज़ बनाने का उद्योग बहुत बढ़ा-चढ़ा था, और ज़ाहिर है कि जहाज़ इस्तैमाल किये जाने के लिए ही बनाये जाते हैं। इसलिए बहुत लोग उनपर बैठकर समुद्रों को पार किया करते होंगे। इन बातों को सोचकर और फिर यह सोचकर कि हमारे मुल्क में आज भी कुछ लोग ऐसे हैं जो समुद्र-यात्रा से डरते हैं और उसे धर्म के विरुद्ध समझते हैं, तो आश्चर्य होता है।

ऐसे लोगों को हम प्राचीन के प्रतीक भी नहीं कह सकते, क्योंकि तुम देखोगी कि पुराने ज़माने के लोग कहीं ज़्यादा समझदार थे। ख़ुशक़िस्मती से अब ऐसी अजीब भावनाएं बहुत-कुछ दूर हो गई हैं और इने-गिने लोगों पर ही अब उनका असर है।

दक्षिण भारत क़ुदरती तौर पर उत्तर भारत की बनिस्बत समुद्र पर ज़्यादा निर्भर था। विदेशी व्यापार ज़्यादातर दक्षिण के साथ ही होता था और तमिल भाषा की कविताओं में यवन देश के सुरा, कलशों और दीपकों के प्रसंग भरे पड़े हैं। 'यवन' शब्द ख़ास तौर पर यूनान के रहनेवालों के लिए इस्तेमाल होता था, लेकिन मोटे तौर पर शायद यह सब विदेशियों पर लागू था। दूसरी और तीसरी सदियों के आन्ध्र देश के सिक्कों पर दो मस्तूलवाले बड़े जहाज़ की शक्ल है। इससे यह पता चलता है कि पुराने ज़माने के आन्ध्र लोग जहाज़ बनाने और समुद्री व्यापार में कितनी दिलचस्पी रखते थे।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत ही ने उन साहसिक कारनामों में सबसे आगे क़दम बढ़ाया, जिनके फलस्वरूप पूर्व के तमाम टापुओं में भारतीय नई बस्तियां या उपनिवेश कायम हुए। इन उपनिवेशी यात्राओं की शुरूआत ईसवी सन् की पहली सदी में हुई और कई सौ वर्षों तक उनका सिलसिला जारी रहा। मलय, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, बोर्नियो, वग़ैरा सब जगह दक्षिण के लोग जाकर बस गये और अपने साथ भारतीय कला और संस्कृति ले गये। बर्मा, स्याम और हिंद-चीन में भी भारतीयों की बड़ी-बड़ी बस्तियां थीं। इन नई बस्तियों और नगरों के बहुत-से नाम भी भारत से लिये गए थे, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला और गान्धार। अजीब बात है कि इतिहास अपनेको किस तरह दोहराता है! अमेरिका में जाकर बसनेवाले एँग्लो-सैक्सन लोगों ने भी ऐसा ही किया था और संयुक्त राज्य अमेरिका में आज भी इंग्लैण्ड के पुराने शहरों के नामवाले शहर हैं।

इसमें शक नहीं कि ये भारतीय उपनिवेशी जहां-जहां गये, वहां के पुराने निवासियों के साथ इन्होंने बुरा बर्ताव किया, जैसा कि सभी उपनिवेशी किया करते हैं। उन्होंने इन टापुओं के निवासियों को ज़रूर चूसा होगा और उनपर प्रभुत्व जमाया होगा। लेकिन कुछ दिनों बाद उपनिवेशी और पुराने निवासी आपस में मिल-जुल गये होंगे, क्योंकि भारत के साथ बराबर सम्पर्क रखना मुश्किल था। पूर्व के इन टापुओं में हिन्दू राज्य और साम्राज्य क़ायम हुए। बाद में वहां बौद्ध राजा पहुंचे और हिन्दुओं और बौद्धों में प्रभुता के लिए रस्साकशी हुई। विशाल या बृहत्तर भारत के इतिहास की यह एक लम्बी और आकर्षक कहानी है। बड़े-बड़े खंडहर हमें अभी तक उन आलीशान इमारतों और मन्दिरों की याद दिलाते हैं, जो इन भार-

तीय उपनिवेशों के भूषण थे। काम्बोज, श्रीविजय, अंगकोर और मज्जापहित जैसे बड़े-बड़े नगर भारतीय शिल्पियों और कारीगरों ने वहां बनाये।

ये हिन्दू और बौद्ध राज्य इन टापुओं में क़रीब चौदह सौ वर्षों तक क़ायम रहे और प्रभुता के लिए आपस में लड़ते रहे। कभी एक का अधिकार हो जाता तो कभी दूसरे का, और कभी-कभी वे एक दूसरे को नष्ट भी कर देते थे। पन्द्रहवीं सदी में मुसलमानों ने इन टापुओं पर कब्ज़ा जमा लिया और उनके थोड़े दिन बाद ही पुर्तगालवासी, स्पेनवासी, हालैण्डवासी और अंग्रेज़ आये। सबके आख़िर में अमेरिकावासी पहुंचे। चीनवासी तो इन टापुओं के हमेशा से ही नज़दीकी पड़ोसी थे। ये कभी-कभी इनके मामलों में दख़ल देकर इन्हें जीत लेते; अक्सर उनके साथ दोस्तों की तरह रहते और भेंटों की अदला-बदली करते; साथ ही अपनी महान संस्कृति और सभ्यता का असर भी उनपर बराबर डालते रहते।

पूर्व के इन हिन्दू उपनिवेशों में हमारी दिलचस्पी की कितनी ही बातें हैं। सबसे ज्यादा मार्के की बात यह है कि ज़ाहिरा तौर पर इन उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश उस ज़माने की दक्षिण भारत की एक प्रमुख सरकार ने की थी। शुरू में बहुत-से खोज करनेवाले अलग-अलग वहां गये होंगे; फिर जब व्यापार बढ़ा होगा, तब कुटुम्ब-के-कुटुम्ब और लोगों के जत्थे अपने-अपने कामों से वहां गये होंगे। कहा जाता है कि शुरू-शुरू में जो लोग जाकर बसे वे कलिंग (उड़ीसा) और पूर्वी समुद्र-तट से गये थे। शायद कुछ लोग बंगाल से भी गये होंगे। एक कहावत यह चली आती है कि कुछ गुजराती अपने घर-बार से निकाले जानेपर इन टापुओं में जाकर बस गये। मगर यह सब अन्दाज़ है। उपनिवेशियों की मुख्य धारा तमिल भूमि के दक्षिणी हिस्से पल्लव-प्रदेश से, जहां एक बड़े पल्लव वंश का शासन था, इन टापुओं में पहुंची। मालूम होता है, इसी पल्लव सरकार ने मलय में उपनिवेश बसाने की संगठित कोशिश की। शायद उत्तर भारत से लोगों के दक्षिण में घुस आने से यहां की आबादी पर दबाव पड़ा होगा। वजह कुछ भी हुई हो, भारत से बहुत दूर अलग-अलग बिखरे हुए टापुओं में बस्तियां बसाने की योजना समझ-बूझकर बनाई गई थी, और इन सब जगहों में एक साथ उपनिवेश बसने शुरू हुए थे। ये उपनिवेश हिंद-चीन, मलय प्रायद्वीप, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा, वग़ैरा में थे। ये सब भारतीय नामवाले पल्लव उपनिवेश थे। हिंद-चीनवाली बस्ती का नाम काम्बोज (जो आजकल कम्बोडिया कहलाता है) था। यह नाम काबुल-कांठे में गन्धार के काम्बोज से चलकर, इतनी दूर पहुंचा था।

चार या पांच सौ साल तक ये बस्तियां हिन्दू धर्म को मानती रहीं, पर बाद में धीरे-धीरे सब जगह बौद्ध-धर्म फैल गया। बहुत दिन बाद इस्लाम पहुंचा और मलय के एक हिस्से में फैल गया; बाक़ी हिस्सा बौद्ध ही बना रहा।

मलय में साम्राज्य और राज्य बनते-बिगड़ते रहे । लेकिन दक्षिण भारत के उपनिवेश बसाने के इन हौसलों का असली नतीजा यह हुआ कि दुनिया के इस हिस्से में भारतीय आर्य-सभ्यता की नींव पड़ गई और कुछ हद तक मलय के निवासी आज भी हम लोगों की तरह इसी सभ्यता में पले हुए हैं। उनपर दूसरे असर भी पड़े, जिनमें से चीन का असर उल्लेखनीय है । मलेशिया[1] के जुदा-जुदा देशों पर भारत और चीन के दो शक्तिशाली प्रभावों की मिलावट पर ग़ौर करना बड़ा दिलचस्प है । कुछ पर तो भारतीय सभ्यता का ज़्यादा असर है और कुछमें चीनी असर ज़्यादा दिखाई देता है । मुख्य भूमि पर, जिसमें बर्मा, स्याम, हिंद-चीन वग़ैरा हैं, चीनी असर बहुत ज़्यादा है, लेकिन मलय में नहीं है । जावा, सुमात्रा और दूसरे टापुओं में भारतीय असर ज़्यादा दिखाई देता है, जिसपर इस्लाम की नई क़लई चढ़ी हुई है ।

लेकिन चीनी और भारतीय प्रभावों में कोई टक्कर नहीं थी । इन दोनों में बहुत फ़र्क़ था, फिर भी दोनों ही बिना किसी दिक़्क़त के बराबर-बराबर अपना काम करते रहे । हां, धर्म के मामले में तो भारत हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनों का ही स्रोत था । धर्म के लिए चीन भी भारत का क़र्ज़दार था । मलेशिया की कला में भी भारत का असर सबसे ज़्यादा था । हिंद-चीन में भी, जहां चीनी असर ज़्यादा था, इमारतें बनाने की कला बिल्कुल भारतीय ही थी । चीन ने बर्मा वग़ैरा बड़े देशों की शासन-प्रणाली पर और लोगों के साधारण जीवन-दर्शन पर ज़्यादा असर डाला। इसीलिए इण्डो-चीन, बर्मा, और स्याम के निवासी आज भारतीयों की बनिस्बत चीनियों के ज़्यादा नज़दीकी रिश्तेदार मालूम देते है । इसमें शक नहीं कि नस्ल के लिहाज़ से इनमें मंगोली ख़ून ज़्यादा है और इसी वजह से, कुछ हद तक, वे चीनियों से अधिक मिलते हैं ।

जावा के बोरोबुदर में भारतीय कारीगरों के बनाये हुए बड़े-बड़े बौद्ध-मन्दिरों के खंडहर अब भी पाये जाते हैं। इन मन्दिरों की दीवारों पर बुद्ध के जीवन की पूरी कहानी खुदी हुई है और ये सिर्फ़ बुद्ध की ही नहीं, बल्कि उस ज़माने की भारतीय कला की अनोखी यादगारें हैं ।

भारतीय प्रभाव इससे भी और आगे फैला । वह फ़िलीपाइन और फ़ारमूसा तक जा पहुँचा । ये दोनों कुछ समय तक श्रीविजय के हिन्दू राज्य सुमात्रा के अंग थे। बहुत समय बाद फ़िलीपाइन पर स्पेन-वासियों की हुकूमत रही, और अब वह अमेरिका के क़ब्ज़े में हैं ।[2] फ़िलीपाइन की राजधानी मनीला है । कुछ दिन हुए

---

[1] **मलेशिया—एशिया के दक्षिण-पूर्व भाग से आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ द्वीप-समूह जिसे ईस्ट इंडीज या मलय-द्वीप-समूह कहते हैं ।**

[2] **१९४६ ई० में अमेरिका ने फिलीपाइन द्वीपों को आज़ाद कर दिया।**

वहां विधान मंडल की एक नई इमारत बनी थी। इसके मुखड़े पर चार शक्लें खुदी हैं, जो फ़िलीपाइन की संस्कृति के चार स्रोतों को दरसाती हैं। दो मूर्त्तियां प्राचीन भारत के महान नीतिकार मनु और चीन के फ़िलासफ़र लाओ-त्से की ह, और दो मर्त्तियां एंग्लो-सैक्सन क़ानून व न्याय को और स्पेन को अंकित करती हैं।

: ३७ :

## गुप्त सम्राटों का हिन्दू साम्राज्यवाद

२९ अप्रैल, १९३१

इधर जब दक्षिण भारत के लोग विशाल समुद्रों को पार करके दूर-दूर जगहों पर बस्तियां और शहर बसा रहे थे, तब उधर उत्तर भारत में अजीब हल-चल हो रही थी। कुषाण साम्राज्य अपनी शक्ति और महानता खो चुका था और दिन-दिन छोटा होते-होते मिटता जा रहा था। सारे उत्तर में छोटे-छोटे राज्य बन गये थे, जिनमें अक्सर शक या तुर्की वंश के लोग राज करते थे। ये लोग भारत की उत्तर-पश्चिमी सरहद पार करके यहां आये थे। मैंने तुम्हें बताया है कि ये लोग बौद्ध थे और भारत में शत्रु के रूप में हमला करने नहीं बल्कि बसने आये थे। मध्य-एशिया के दूसरे कबीले, जिन्हें चीनी राज्य आगे धकेल रहा था, पीछे से इनको ज़बरदस्ती खदेड़ रहे थे। भारत आकर इन लोगों ने भारतीय आर्यों के आचार-विचार और रंग-ढंग को बहुत-कुछ अपना लिया। ये लोग भारत को अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। कुषाणों ने भी बहुत हद तक भारतीय-आर्य-परम्परा का अनुसरण किया था। यही वजह थी कि वे बहुत दिनों तक भारत में ठहर सके और उसके बड़े-बड़े हिस्सों पर शासन कर सके। वे भारतीय आर्यों की तरह व्यवहार करने की कोशिश करते थे और चाहते थे कि इस देश के निवासी यह भूल जायं कि वे विदेशी हैं। कुछ हद तक उनको इसमें कामयाबी भी हुई, लेकिन पूरे तौर पर नहीं; क्योंकि क्षत्रियों के दिल में यह बात खास तौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनके ऊपर हुकूमत कर रहे हैं। वे इस विदेशी राज्य की मातहती में तिलमिलाते थे, जिससे असन्तोष बढ़ता गया और लोगों के मन में क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त में इन असन्तुष्ट लोगों को एक सुयोग्य नेता मिल गया और उसके झंडे के नीचे इन्होंने आर्यावर्त को आज़ाद करने के लिए एक 'धर्मयुद्ध' शुरू कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त को वह पहला चन्द्रगुप्त न समझना, जो अशोक का दादा था। इस व्यक्ति का मौर्य्य वंश से कोई ताल्लुक़ नहीं था। यह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था, लेकिन उस समय तक अशोक के

वंश का नाम मिट चुका था। याद रक्खो कि इस समय हम ईसा के बाद चौथी सदी की शुरुआत में, यानी ३०८ ई० में, पहुंच गये हैं। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ वर्ष बाद की बात है।

चन्द्रगुप्त एक महत्वाकांक्षी और सुयोग्य व्यक्ति था। वह उत्तर के दूसरे आर्य राजाओं को अपनी तरफ़ मिलाने में और उन सबका एक संघ क़ायम करने में लग गया। उसने मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी वंश की कुमारदेवी से विवाह किया, और इस प्रकार इस जाति की सहायता हासिल कर ली। इस तरह होशियारी के साथ ज़मीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने भारत के सारे विदेशी शासकों के खिलाफ़ 'धर्मयुद्ध' की घोषणा कर दी। क्षत्रिय और आर्य-जाति के ऊँचे वर्ग के लोग, जिनके अधिकार और पद विदेशियों ने छीन लिये थे, इस लड़ाई के समर्थक थे। बारह वर्ष की लड़ाई के बाद चन्द्रगुप्त उत्तर भारत के कुछ हिस्से पर क़ब्ज़ा करने में कामयाब हुआ, जिसमें वह हिस्सा भी शामिल था, जो आजकल उत्तरप्रदेश कहलाता है। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी धारण करके सिंहासन पर बैठ गया।

इस तरह गुप्त-राजवंश की शुरुआत हुई। यह वंश क़रीब दो सौ वर्षों तक चलता रहा, जबकि हूणों ने आकर इसे परेशान करना शुरू किया। कुछ हद तक यह ज़माना ज़बरदस्त हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद का था। तुर्की, पार्थव वग़ैरा अनार्य विदेशी शासक जड़ से उखाड़ फेंके गये और ज़बरदस्ती निकाल बाहर किये गए। इस प्रकार यहां हम जातीय विद्वेष को काम करता हुआ देखते हैं। उच्चवर्ग के भारतीय आर्य लोग अपनी क़ौम पर अभिमान करते थे और इन बर्बरों और म्लेच्छों को नफ़रत की निगाह से देखते थे। गुप्तों ने जिन भारतीय आर्य-राज्यों और राजाओं को जीता, उनके साथ नरमी का बर्ताव किया; लेकिन अनार्यो के साथ कोई रिआयत नहीं की गई।

चन्द्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त अपने पिता से भी ज्यादा ज़बरदस्त लड़ाका था। वह बहुत बड़ा सेनापति था, और जब वह सम्राट् हुआ तो उसने सारे देश में, यहांतक कि दक्षिण में भी, सबको जीतकर अपनी विजय-पताका फहराई। इसने गुप्त साम्राज्य को इतना बढ़ाया कि वह भारत के बहुत बड़े हिस्से में फैल गया। लेकिन दक्षिण में इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर में उसनें कुषाणों को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड़ दिया था।

समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक योद्धा राजा था। उसने काठिया-वाड़ और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनों से एक शक या तुर्की राजवंश के शासन में चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और इसी नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीज़र की तरह, बहुत-से राजाओं की उपाधि बन गया, इसलिए बहुत भ्रम पैदा करता है।

दिल्ली में क़ुतुबमीनार के पास एक बहुत भारी लोहे की लाट तुमने देखी थी। क्या उसकी तुम्हें याद है ? कहते हैं कि विक्रमादित्य ने यह लाट विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाई थी। यह लाट कारीगरी का एक बढ़िया नमूना है। इसकी चोटी पर कमल का फूल है, जो गुप्त साम्राज्य का चिन्ह था।

गुप्त-काल भारत में हिन्दू साम्राज्यवाद का ज़माना था। इस काल में पुरानी आर्य-संस्कृति और संस्कृत विद्या का खूब पुनरुत्थान हुआ। यूनानी और मंगोलियन संस्कारों को, जो भारतीय जीवन और संस्कृति में यूनानियों, कुषाणों, वग़ैरा के ज़रिये आ गये थे, प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। बल्कि, असलियत तो यह है कि भारतीय आर्य-परम्पराओं पर ज़ोर देकर इन्हें हर तरह नीचे गिराया जाता था। संस्कृत राज-भाषा थी; लेकिन उन दिनों भी वह जनता की आम भाषा नहीं थी। बोलने की भाषा प्राकृत का एक रूप थी, जो संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। मगर हालांकि संस्कृत उस ज़माने की लोकभाषा नहीं थी, फिर भी काफ़ी प्रचलित थी। इस काल में संस्कृत कविता, नाटक और भारतीय आर्य-कलाएं खब खिलीं। जिस महान युग में वेद और महाकाव्य लिखे गये, उसके बाद, संस्कृत-साहित्य के इतिहास में, शायद इसी ज़माने में सबसे ज़्यादा और सबसे सुन्दर साहित्य लिखा गया। संस्कृत का अद्भुत कवि कालिदास इसी ज़माने में हुआ। कहते हैं, विक्रमादित्य का दरबार बड़ी चमक-दमकवाला था, जिसमें उसने उस समय के सबसे श्रेष्ठ लेखकों और कलाकारों को जमा किया था। क्या तुमने उसके दरबार के नवरत्नों के बारे में नहीं सुना है ? कालिदास उस नवरत्नों में से एक था।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। शायद उसका यह ख़याल था कि उसके कट्टर भारतीय आर्य-दृष्टिकोण के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में रामचन्द्र की कथा के साथ अमर बना दिया है, ज़्यादा उपयुक्त जगह बन सकती है।

गुप्त सम्राटों ने आर्य-सभ्यता और हिन्दू-धर्म का जो पुनरुत्थान किया उसका रुख़ कुदरती तौर पर बौद्ध-धर्म के लिए बहुत अच्छा नहीं था। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि यह आन्दोलन अमीर वर्ग का था और उसकी पीठ पर क्षत्रिय सरदार थे, और बौद्ध-धर्म में लोकतन्त्र की भावना ज़्यादा थी। कुछ वजह यह थी कि बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय का कुषाणों और उत्तर भारत के दूसरे विदेशी राजाओं से गहरा सम्बन्ध था। लेकिन फिर भी बौद्ध-धर्म पर कोई ज़ुल्म किया गया हो ऐसा नहीं मालूम होता। बौद्ध विहार कायम थे और तब भी बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाएं थीं। गुप्त सम्राटों का लंका के राजाओं के साथ मित्रता का सम्बन्ध था और लंका में बौद्ध-धर्म खूब फैला हुआ था। लंका के राजा मेघवर्ण ने समुद्र-

गुप्त के पास क़ीमती उपहार भेजे थे और उसने सिंहली विद्यार्थियों के लिए गया में एक विहार भी बनवाया था।

लेकिन भारत में बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे गिरने लगा। जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, यह हालत इसलिए नहीं पैदा हुई कि ब्राह्मणों ने या उस ज़माने की सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हिन्दू-धर्म में उसे धीरे-धीरे हज़म कर लेने की ताक़त थी।

इसी जमाने में चीन का एक मशहूर यात्री भारत में आया। यह ह्यूएनत्सांग नहीं था, जिसके बारे में मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, बल्कि फ़ा-ह्यान था। बौद्ध होने के नाते यह बौद्ध-धर्म के पवित्र ग्रन्थों की तलाश में यहां आया था। उसने लिखा है कि मगध के लोग ख़ुशहाल और सुखी थे; न्याय का पालन उदारता से किया जाता था और मौत की सज़ा नहीं थी। गया वीरान और उजड़ा हुआ था; कपिलवस्तु जंगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग "धनवान, ख़ुशहाल और सदाचारी" थे। सम्पन्न और शानदार बौद्ध विहार बहुत थे। मुख्य सड़कों पर धर्मशालाएं थीं, जहां मुसाफ़िर ठहर सकते थे और जहां सरकारी ख़र्च से खाना दिया जाता था। बड़े-बड़े नगरों में ख़ैराती अस्पताल थे।

भारत में घूमने के बाद फ़ा-ह्यान लंका गया और वहां उसने दो वर्ष बिताये। लेकिन उसके एक साथी ताओ-चिंग को भारत इतना पसन्द आया और बौद्ध भिक्खुओं की धर्म-परायणता का उसपर इतना असर पड़ा कि उसने यहीं रहने का निश्चय कर लिया। फ़ा-ह्यान समुद्री रास्ते लंका से चीन चला गया और रास्ते में बहुत-से ख़तरे उठाकर वर्षों बाद अपने घर पहुँचा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस वर्ष राज किया। उसके बाद उसके पुत्र कुमारगुप्त ने चालीस वर्ष तक राज किया। फिर ४५३ ई० में स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। इसे एक नये ख़तरे का सामना करना पड़ा, जिसने अन्त में महान् गुप्त साम्राज्य की कमर ही तोड़ दी। लेकिन इसके बारे में मैं अपने अगले पत्र में लिखूंगा।

अजन्ता की गुफाओं की दीवारों पर बने हुए कई सबसे बढ़िया चित्र और उनके बड़े-बड़े कमरे व उपासना-गृह गुप्त-काल की कला के नमूने हैं। जब तुम उन्हें देखोगी तो तुम्हें पता चलेगा कि ये कितने अद्भुत हैं। बदक़िस्मती से वहां के चित्र धीरे-धीरे मिटते जा रहे हैं, क्योंकि मौसमों के असर से वे बहुत वर्षों तक नहीं टिक सकते।

अब हमें यह देखना है कि जिस समय भारत में गुप्त सम्राटों का राज था उस वक़्त दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हो रहा था। चन्द्रगुप्त प्रथम क़ुस्तुन्तुनिया को बसानेवाले रोमन सम्राट् क़ुस्तुन्तीन महान् का समकालीन था। बाद के गुप्त

सम्राटों के समय में रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी दो हिस्सों में बंट चुका था और पश्चिमी साम्राज्य को अन्त में उत्तर के 'बर्बरों' ने उखाड़ फेंका था। यानी जिस वक़्त रोमन साम्राज्य कमज़ोर पड़ रहा था, तभी भारत में एक बहुत शक्तिशाली राज्य था, जिसमें बड़े-बड़े सेनापति और ज़बर्दस्त सेनाएं थीं। समुद्रगुप्त को कुछ लोग भारत का 'नेपोलियन' कहते हैं। लेकिन महत्त्वाकांक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमाओं के बाहर के देशों को जीतने का विचार नहीं किया था।

गुप्त-काल हमला करनेवाले साम्राज्यवाद और देश-विजयों का ज़माना था। लेकिन हरेक मुल्क के इतिहास में इस तरह के साम्राज्यी काल बहुत बार आते हैं, और अन्त में जाकर इनका कुछ महत्त्व नहीं रहता। फिर भी गुप्त-काल की विशेषता, जिसकी वजह से वह भारत में कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस बात में है कि उसमें कला और साहित्य का चमत्कारी पुनर्जागरण हुआ।

: ३८ :

# हूणों का भारत में आना

४ मई, १९३२

उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों के उस पार से भारत पर आनेवाला नया आतंक हूणों का था। मैंने अपने पिछले पत्र में रोमन साम्राज्य का ज़िक्र करते हुए हूणों के बारे में लिखा था। यूरोप में उनका सबसे बड़ा नेता अतिला था, जो बहुत वर्षों तक रोम और क़ुस्तुन्तुनिया को आतंकित करता रहा। इन्हीं क़बीलों के सजातीय हूण, जो सफ़ेद हूण के नाम से मशहूर थे, क़रीब-क़रीब उसी समय भारत में आये थे। ये लोग भी मध्य-एशिया के घुमक्कड़ थे। बहुत दिनों से वे भारत की सरहदों पर मंडरा रहे थे और वहां के लोगों को बुरी तरह परेशान कर रहे थे। जैसे-जैसे उनकी संख्या बढ़ती गई, और शायद इसलिए भी कि पीछे से दूसरे क़बीले उन्हें खदेड़ रहे थे, उन्होंने बाक़ायदा धावा शुरू कर दिया।

स्कन्दगुप्त को, जो गुप्त-वंश का पांचवां राजा था, हूणों के इस धावे का सामना करना पड़ा। उसने उन्हें हराकर पीछे धकेल दिया। लेकिन बारह वर्ष बाद वे फिर आ धमके। धीरे-धीरे वे गन्धार और उत्तर भारत में फैल गये। उन्होंने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये और हर तरह का आतंक फैलाया।

उनके ख़िलाफ़ लगातार लड़ाइयां होती रही होंगी, लेकिन गुप्त-राजा उन्हें देश से निकाल न सके। हूणों के दल-के-दल भारत में आते रहे और वे मध्य भारत तक फैल गये। उनका मुखिया तोरमाण राजा बन बैठा। यह तो काफ़ी बुरा था ही, लेकिन उसका उत्तराधिकारी, उसका पुत्र मिहिरगुल, तो बिलकुल ही जंगली

और शैतान की तरह बेरहम था। कल्हण ने अपने कश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि मिहिरगुल का एक दिल-बहलाव यह था कि वह ऊंचे कगारों से हाथियों को खड्ड में ढकेलवाया करता था। अन्त में उसके अत्याचारों से आर्यावर्त्त भड़क उठा। गुप्त-वंश के बालादित्य और मध्य भारत के राजा यशोधर्मन के नेतृत्व में आर्यों ने हूणों को हरा दिया और मिहिरगुल को गिरफ़्तार कर लिया। लेकिन बालादित्य हूणों की तरह निर्दयी नहीं था, बल्कि वीर था। उसने दया करके मिहिरगुल की जान बख़्श दी और उसे देश से निकल जाने का आदेश दिया। मिहिरगुल जाकर कश्मीर में छिपा रहा और कुछ दिन बाद उसने दग़ाबाज़ी करके बालादित्य पर, जिसने उसके साथ इतनी उदारता दिखाई थी, हमला कर दिया।

लेकिन भारत में हूणों की शक्ति बहुत जल्द कमज़ोर हो गई। फिर भी हूणों की बहुत-सी सन्तति भारत में रह गई और धीरे-धीरे आर्यों की आबादी में घुल-मिल गई। यह मुमकिन है कि मध्य भारत और राजस्थान की कुछ राजपूत जातियों में इन सफ़ेद हूणों के खून का कुछ अंश हो।

हूणों ने उत्तर भारत में बहुत थोड़े समय, यानी पचास साल से भी कम, राज किया। इसके बाद वे शान्ति के साथ बस गये। लेकिन हूण-युद्धों और उनकी भयंकरता का भारत के आर्यों पर बहुत असर पड़ा। हूणों की ज़िन्दगी और शासन के तरीक़े आर्यों से बिल्कुल जुदे थे। आर्य-जाति उस समय तक भी बहुत कुछ स्वतंत्रता-प्रेमी थी। उनके राजाओं तक को लोकमत के सामने झुकना पड़ता था और उनकी ग्राम-पंचायतों के हाथों में बड़ी शक्ति थी। लेकिन हूणों के आने से, और यहां बसकर भारतीयों के साथ घुल-मिल जाने से, आर्य-आदर्शों में कुछ फ़र्क आ गया और वे नीचे गिर गये।

महान् गुप्तवंश के अंतिम सम्राट् बालादित्य की ५३० ई० में मृत्यु हुई। यह एक दिलचस्प बात है कि शुद्ध हिन्दू-वंश का यह सम्राट् खुद बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुआ और उसने एक बौद्ध भिक्खु को अपना गुरु बनाया। गुप्त-काल कृष्ण-भक्ति के फिर से प्रचलित होने के लिए ख़ास तौर पर मशहूर है। लेकिन इतने पर भी बौद्ध-धर्म के साथ हिन्दुओं का कोई ख़ास झगड़ा नहीं था।

हम फिर देखते हैं कि गुप्त-राज्य के २०० वर्षों बाद उत्तर भारत में कई राज्य बन गये, जो किसी एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन न थे। हां, दक्षिण भारत में एक बहुत बड़े राज्य का विकास होने लगा। पुलिकेशी नामक एक राजा ने, जो रामचन्द्र का वंशज होने का दावा करता था, दक्षिण में एक साम्राज्य क़ायम किया जो चालुक्य साम्राज्य के नाम से मशहूर है। दक्षिण के इन लोगों का पूर्वी द्वीप-समूहों के भारतीय उपनिवेशों के साथ ज़रूर ही गहरा सम्बन्ध रहा होगा और भारत और इन टापुओं के बीच बराबर आवागमन होता रहा होगा। हमें यह भी पता

चलता है कि भारतीय जहाज़ अक्सर माल भरकर ईरान ले जाया करते थे। चालुक्य राज्य ईरान के सासानी राज्य को राजदूत भेजा करते थे और वहां के राजदूत यहां आते थे। राजदूतों का इस तरह आना-जाना ईरान के मशहूर बादशाह खुसरो द्वितीय के ज़माने में ख़ास तौर पर हुआ।

: ३९ :

## विदेशी मंडियों पर भारत का क़ब्ज़ा

५ मई, १९३२

हम देखते हैं कि इतिहास के जिस पुराने काल की हम चर्चा कर रहे हैं उसमें एक हज़ार से भी ज़्यादा वर्षों तक, पश्चिम में यूरोप और पश्चिमी एशिया तक, और पूर्व में ठेठ चीन तक, भारत का व्यापार बराबर ज़ोरों के साथ चलता रहा। इसके क्या कारण थे ? सिर्फ़ यह नहीं कि उस ज़माने के भारतीय बड़े अच्छे जहाज़ी और व्यापारी थे, जिसमें कि कोई शक नहीं; न यह कि वे बड़े कुशल कारीगर थे और उनकी कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इन सब कारणों ने मदद ज़रूर दी, लेकिन मालूम होता है कि भारत ने दूर-दूर की मंडियों पर जो क़ब्ज़ा जमाया था, उसकी ख़ास वजह यह थी कि उसने रसायन में, ख़ासकर रंगसाज़ी में, बड़ी तरक्क़ी कर ली थी। मालूम होता है, उस ज़माने के भारतवासियों ने कपड़ा रंगने के पक्के रंग तैयार करने के विशेष तरीक़े खोज निकाले थे। वे नील के पौधे से नीला रंग बनाने का विशेष तरीक़ा भी जानते थे। तुम देखोगी कि नील का 'इंडिगो' नाम ही 'इंडिया' से निकला है। यह भी मुमकिन है कि फ़ौलाद पर अच्छा पानी चढ़ाने और फ़ौलाद के बढ़िया औज़ार बनाने का तरीक़ा भी पुराने भारतवासियों को मालूम था। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें बताया था कि सिकन्दर के हमलों की पुरानी ईरानी कहानियों में जहां-कहीं अच्छी तलवार या कटार का ज़िक्र आया है, वहां यह भी कहा गया है कि वह भारत से आई थी।

चूंकि भारत दूसरे देशों के मुक़ाबले में इन रंगों और दूसरी चीज़ों को ज़्यादा अच्छी तरह बना सकता था, इसलिए यह कुदरती बात थी कि वह दुनिया की मंडियों पर क़ब्ज़ा कर ले। जिस आदमी या मुल्क को दूसरे आदमी या मुल्क की बनिस्बत बढ़िया औज़ार या किसी चीज़ को बनाने का अच्छा और सस्ता तरीक़ा मालूम है, वह आख़िर में दूसरे आदमी या मुल्क का धन्धा छीन लेगा, जिसके पास न उतने अच्छे औज़ार हैं, और न उतना अच्छा तरीक़ा। और यही वजह है कि पिछले दो सौ वर्षों में यूरोप एशिया के मुकाबिले में इतना आगे बढ़ गया है। नई खोज़ों और आविष्कारों ने यूरोप को नये-नये और बलशाली औज़ार दिये और चीज़ों के बनाने के नये-नये तरीक़े बतलाये। इनकी मदद से उसने दुनिया की मंडियों पर क़ब्ज़ा

कर लिया और मालदार व बलशाली हो गया। और भी दूसरे कारण थे जिन्होंने उसे मदद पहुंचाई। लेकिन फ़िलहाल तो मैं इतना ही चाहता हूँ कि तुम यह विचार करो कि औज़ार कितने महत्व की चीज़ है। एक बार एक बड़े आदमी ने कहा था कि मनुष्य औज़ार बनानेवाला प्राणी है। और शुरू के ज़माने से आज तक का मनुष्य-जाति का इतिहास ज़्यादा-से-ज़्यादा कारगर औज़ार बनाने का इतिहास है। प्रस्तर-युग के प्राचीन पत्थर के तीरों और हथौड़ों से लेकर आज की रेलें, भाप के इंजन और भारी मशीनें यही बतलाती हैं। सच तो यह है कि हमारे लगभग सभी कामों में औज़ारों की ज़रूरत पड़ती है। औज़ारों के बिना हमारी हालत क्या हो ?

औज़ार एक अच्छी चीज़ है। इससे काम हलका हो जाता है। लेकिन औज़ार का बुरा इस्तेमाल भी किया जा सकता है। आरी एक काम की चीज़ है, लेकिन एक बच्चा उससे अपनेको चोट पहुंचा सकता है। हमारे उपयोग की चीज़ों में चाकू एक सबसे ज्यादा काम की चीज़ है। हर स्काउट को चाक़ू रखना चाहिए। लेकिन एक नादान आदमी इसी चाक़ू से दूसरे की जान ले सकता है। इसमें बेचारे चाक़ू का कोई दोष नहीं है। क़सूर तो उस आदमी का है, जो इस औज़ार का दुरुप-योग करता है।

इसी तरह, खुद अच्छी होते हुए भी, आधुनिकतम मशीनों का तरह-तरह से दुरुपयोग किया गया है, और आज भी किया जा रहा है। लोगों के काम के बोझ को हलका करने के बजाय मशीनों ने बहुत करके उनकी ज़िन्दगी पहले से भी ज़्यादा बुरी बना दी है। करोड़ों आदमियों को सुख और आराम पहुंचाने के बजाय, जैसाकि उसे असल में करना चाहिए, उसने बहुतों को मुसीबत में डाल दिया है। उसने सरकारों के हाथ में इतनी ज्यादा ताक़त दे दी है कि वे अपने युद्धों में लाखों की हत्या कर सकती हैं।

लेकिन इसमें मशीन का क़सूर नहीं, बल्कि उसके दुरुपयोग का है। अगर बड़ी-बड़ी मशीनों का नियन्त्रण ऐसे ग़ैर-ज़िम्मेदार लोगों के हाथों में न रहे, जो उससे सिर्फ़ अपने लिए रुपया पैदा करना चाहते हैं, बल्कि उनका नियन्त्रण जनता की ओर से और उसकी भलाई के लिए किया जाय, तो बहुत फ़र्क़ पड़ जाय।

इसलिए उन दिनों, आजकल की दशा के विपरीत, भारत माल तैयार करने के तरीक़ों में सारी दुनिया से आगे था। इसीलिए भारतीय कपड़े, भारतीय रंग और दूसरी चीज़ें दूर-दूर के मुल्क़ों में जाती थीं और वहां उनकी बड़ी चाह के साथ मांग थी। इस व्यापार से भारत में बाहर का धन आता था। इस व्यापार के अलावा दक्षिण भारत काली मिर्च और दूसरे मसाले बाहर भेजता था। ये मसाले पूर्व के टापुओं से भी आते थे और भारत के रास्ते पश्चिम के देशों को जाते थे। रोम और पश्चिम के देशों में काली मिर्च की बड़ी क़ीमत थी। कहा जाता है कि

गोथों का एक सरदार एलैरिक, जिसने ४१० ई० में रोम पर अधिकार किया था, ३०० पौंड काली मिर्च वहां से ले गया था। यह सब काली मिर्च या तो भारत से या भारत के रास्ते गई होगी।

: ४० :

## देशों और सभ्यताओं के चढ़ाव-उतार

६ मई, १९३२

चीन का ज़िक्र किये हुए अब हमें बहुत दिन हो गये। आओ, अब फिर उधर लौट चलें, और चीन का हाल फिर शुरू करें और यह देखें कि जिस समय पश्चिम में रोम का पतन हो रहा था और भारत में, गुप्त सम्राटों के शासन में, राष्ट्रीय पुनरुत्थान हो रहा था, उस वक़्त चीन में क्या घटनाएं घट रही थी। रोम के उत्थान या पतन का असर चीन पर बहुत कम पड़ा। वे एक-दूसरे से बहुत ही दूर थे। लेकिन मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूं कि चीनी राज्य द्वारा मध्य एशिया के कबीलों को पीछे ढकेलने का नतीजा कभी-कभी यूरोप और भारत के लिए बहुत बुरा होता था। ये क़बीले और इनके खदेड़े हुए दूसरे क़बीले पश्चिम और दक्षिण की ओर बढ़ते जाते थे, सल्तनतों और राज्यों को उलट-पलट देते थे और वहां गड़बड़ी फैला देते थे। इनमें से बहुत से क़बीले पूर्वी यूरोप और भारत में बस भी गये।

लेकिन रोम और चीन में सीधा सम्बन्ध भी था। दोनों एक-दूसरे के यहां अपने राजदूत भेजते थे। चीनी किताबों से पता चलता है कि पहले-पहल १६६ ई० में रोम के सम्राट आन-तून ने चीन को अपना राजदूत-मंडल भेजा था। यह आन-तून वही मार्क आरेली अन्तोनी है, जिसका ज़िक्र मैं अपने एक पत्र में कर चुका हूं।

यूरोप में रोम का पतन एक ज़बरदस्त घटना थी। यह सिर्फ़ एक शहर या एक साम्राज्य का पतन नहीं था। एक तरह से रोमन साम्राज्य तो क़ुस्तुन्तुनिया में बाद में भी बहुत दिनों तक चलता रहा और इस साम्राज्य का भूत यूरोप के सिर पर क़रीब-क़रीब चौदह सौ वर्ष तक मंडराता रहा। लेकिन रोम का पतन एक महान् युग का अन्त था। इससे यूनान और रोम की पुरानी दुनिया का खातमा हो गया। पश्चिम में रोम के खण्डहरों पर एक नई दुनिया, एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति जन्म ले रही थी। शब्द और वाक्य हमें भुलावे में डाल देते हैं और जब हम उन्हीं शब्दों का इस्तेमाल दूसरी जगह देखते हैं तो हम समझने लगते हैं कि उनके अर्थ भी वही होंगे। रोम के पतन के बाद भी यूरोप रोम की ही भाषा में बोलता था; लेकिन उसके पीछे जो भाव थे और जो अर्थ थे वे बदल गये थे। लोग कहते

हैं कि आज के यूरोप के मुल्क यूनान और रोम के बच्चे हैं और यह किसी हद तक ठीक भी है। लेकिन फिर भी यह एक भ्रम में डाल देनेवाली बात है। क्योंकि यूरोप के देश एक ऐसे आदर्श के नमूने हैं जो यूनान और रोम के आदर्शों से बिलकुल जुदे ह। रोम और यूनान की पुरानी दुनिया बिलकुल ही मिट गई। जो सभ्यता हज़ार वर्ष से भी ज़्यादा समय में बन पाई थी, वह पककर मुरझा गई। इसके बाद ही पश्चिमी यूरोप के आधे सभ्य, आधे-बर्बर देश इतिहास में क़दम रखते हैं और धीरे-धीरे एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति का निर्माण करते हैं। उन्होंने रोम से बहुत-कुछ सीखा; बहुत-सी बातें उन्होंने पुरानी दुनिया से लीं, लेकिन सीखने का यह सिलसिला मुश्किल और मेहनत का था। सैकड़ों वर्षों तक मालूम होता था कि यूरोप में सभ्यता और संस्कृति नींद ले रही है। अज्ञान और कट्टर-पंथ का अंधेरा छा गया था। इसलिए इन सदियों को 'अन्धकार का युग' कहते हैं।

इसकी वजह क्या थी ? दुनिया पीछे की तरफ़ क्यों लौटे, और सदियों की मेहनत से इकट्ठा किया हुआ ज्ञान क्यों ग़ायब हो जाय या भुला दिया जाय ? ये बड़े सवाल हमारे बड़-बड़े बुद्धिमानों को भी चक्कर में डाल देते हैं। मैं उनका जवाब देने की कोशिश नहीं करूंगा। क्या यह ताज्जुब की बात नहीं है कि भारत, जो कभी विचार और कर्म में इतना महान् था, इतनी बुरी तरह नीचे गिर जाय, और लम्बे युगों तक गुलाम देश बना रहे ? या चीन, जिसका पुराना इतिहास इतना गौरवपूर्ण है, कभी खतम न होनेवाले लड़ाई-झगड़ों का शिकार हो जाय ? शायद युगों का ज्ञान और युगों की बुद्धि जिन्हें आदमी बूंद-बूंद करके इकट्ठा कर पाता है, मिट नहीं जाते। लेकिन किसी वजह से हमारी आंखें बन्द हो जाती हैं, और कभी-कभी हम कुछ भी नहीं देख पाते। खिड़की बन्द हो जाती है और अंधेरा छा जाता है। लेकिन बाहर और चारों तरफ़ रोशनी तब भी रहती है और अगर हम अपनी आंखों को या खिड़कियों को बन्द रक्खें तो इसका मतलब यह नहीं कि रोशनी ही ग़ायब हो गई।

कुछ लोगों का कहना है कि यूरोप के अन्धकार-युग का कारण ईसाई मज़हब था—वह धर्म नहीं जिसका ईसा ने प्रचार किया, बल्कि वह राजकीय ईसाइयत, जो रोमन सम्राट क़ुस्तुन्तीन के ईसाई हो जाने पर पश्चिम में फैली। इन लोगों का कहना है कि चौथी सदी में क़ुस्तुन्तीन के ईसाइयत इख्तियार कर लेने से हज़ार वर्ष का एक नया युग शुरू हुआ, "जिसमें विवेक जंज़ीरों में जकड़ दिया गया, विचार को ग़ुलाम बना दिया गया और ज्ञान ने कोई तरक्की नहीं की।" इनकी वजह से न सिर्फ़ ज़ुल्म, कट्टरपन और असहिष्णुता ने ही ज़ोर पकड़ा, बल्कि इससे लोगों के लिए विज्ञान या और बहुत-सी बातों में आगे बढ़ना मुश्किल

हो गया। धर्म-पुस्तकें अक्सर आगे बढ़ने में रुकावट बन जाती हैं। वे हमें बताती हैं कि जिस ज़माने में वे लिखी गई थीं, तब दुनिया कैसी थी। वे हमें उस ज़माने के विचारों और रस्म-रिवाजों के बारे में बताती हैं। उन विचारों और रस्म-रिवाज़ों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने की किसीकी हिम्मत नहीं होती, क्योंकि वे बातें "पवित्र" पुस्तक में लिखी होती हैं। इसलिए, हालांकि दुनिया बिलकुल बदल जाती है, लेकिन हमें उन विचारों और रस्म-रिवाजों को बदली हुई हालतों के मुताबिक़ बनाने की छूट नहीं होती। नतीजा यह होता है कि हम ज़माने के साथ बेमेल हो जाते हैं, और फिर गड़बड़ पैदा हो जाती है।

इसलिए कुछ लोग यूरोप में अन्धकार-युग लाने के लिए ईसाइयत को दोषी ठहराते हैं। दूसरे लोग यह कहते हैं कि उस अन्धकार-युग में ज्ञान के दीपक को जलाये रखनेवाले ईसाइयत और ईसाई पादरी और पुजारी ही थे। उन्होंने कला और चित्रकारी को जीवित रखा, बेशक़ीमती पुस्तकों की सावधानी से हिफ़ाज़त की और उनकी नकलें उतारीं।

लोग इस तरह का तर्क करते हैं। शायद दोनों ही ठीक हैं। लेकिन यह कहना कि रोम के पतन के बाद आनेवाली सारी मुसीबतों की ज़िम्मेदारी ईसाइयत पर है, एक बेहूदा-सी बात है। सच तो यह है कि रोम ख़ुद उन बुराइयों की वजह से गिरा।

लेकिन मैं बहुत दूर चला गया। मैं तो तुम्हें यह बताना चाहता था कि जहां यूरोप में समाजी संगठन एकदम टूट गया और एकदम परिवर्तन हो गया, वहां चीन में या भारत तक में इस तरह का कोई अचानक परिवर्तन नहीं हुआ। यूरोप में हम एक सभ्यता का अन्त और उस दूसरी सभ्यता की शुरुआत देखते हैं, जो धीरे-धीरे विकास करके आज की सभ्यता बन गई है। चीन में हम ऐसी ही ऊंचे दर्जे की सभ्यता और संस्कृति को इस तरह सिलसिला टूटे बिना जारी रहता पाते हैं। उतार-चढ़ाव तो आया ही करते हैं। अच्छे काल और बुरे राजे-महाराजे आते और जाते रहते हैं और राजवंश बदलते रहते हैं। लेकिन जो संस्कृति-परम्परा से चली आती है, वह नहीं टूटती। जब चीन कई राज्यों में छिन्न-भिन्न हो गया और आपसी झगड़ों में फंस गया, उस समय भी वहां कला और साहित्य फूलते-फलते रहे, मनोरम चित्रकारी होती रही, सुन्दर चीनी के बर्तन और बढ़िया इमारतें बनती रहीं। छपाई का उपयोग होने लगा। चाय पीने का फैशन शुरू हुआ और कविता में उसका गुणगान किया जाने लगा। इस प्रकार चीन में हमें सौन्दर्य और कला-प्रेम की एक अटूट धारा दिखाई देती है, जो किसी ऊंची सभ्यता से ही पैदा हो सकती है।

यही हालत भारत में थी। यहां भी रोम की तरह कोई अचानक परिवर्तन

नहीं हुआ। यह ठीक है कि यहां भी अच्छे और बुरे दिन आये। सुन्दर साहित्यिक और कलामय रचनाओं के ज़माने आये और विनाश और पतन के भी। लेकिन सभ्यता का सिलसिला एक तरह से जारी रहा। भारत की यह सभ्यता पूर्व के दूसरे देशों में भी फैल गई। उसने उन बर्बरों को भी हज़म कर लिया और ज्ञान सिखाया, जो इसे लूटने आये थे।

यह न समझना कि मैं पश्चिम को नीचा गिराकर भारत या चीन की बड़ाई कर रहा हूं। आज भारत या चीन की हालत में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसको लेकर कोई शान बघारता फिरे। अन्धे भी यह देख सकते हैं कि अपने प्राचीन गौरव के होते हुए भी आज ये दोनों देश दुनिया के राष्ट्रों के मुक़ाबले में बहुत नीचे दर्जे को पहुंच गये हैं। अगर उनकी पुरानी संस्कृति की धारा यकायक टूटी नहीं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें कोई बुरे परिवर्तन भी नहीं हुए। अगर हम पहले ऊपर थे और आज नीचे गिरे हुए हैं, तो यह साफ़ है कि हम दुनिया में नीची हालत पर आ गये हैं। हम अपनी सभ्यता की अटूट धारा पर ख़ुश हो लें, लेकिन जब वह सभ्यता ही पककर ख़तम हो गई, तो इसमें सन्तोष की कोई बात नहीं रहती। इससे तो शायद यही अच्छा होता कि प्राचीनता से हमारे सम्बन्ध यकायक टूटते रहते। ऐसे अचानक परिवर्तन हमें झकझोर डालते और हमारे में नया जीवन और नई जीवनशक्ति फूक देते। सम्भव है कि आज भारत में और दुनिया में जो घटनाएं घट रही हैं, वे हमारे पुराने देश को आगे की ओर धक्का दे रही हों और उसे फिर जवानी और नई ज़िन्दगी से भर रही हों।

मालूम होता है कि पुराने ज़माने में भारत में जो मज़बूती और काम की धुन थी, उसकी बुनियाद ग्राम-गणराज्यों या स्वशासित पंचायतों के व्यापक संगठन में थी। आजकल की तरह उन दिनों बड़े-बड़े भू-स्वामी और बड़े-बड़े ज़मींदार नहीं थे। ज़मीन या तो देहाती समुदाय या पंचायतों की या उसपर काम करनेवाले किसानों की हुआ करती थी, और इन पंचायतों के हाथ में बहुत ताकत और अधिकार होते थे। इन पंचायतों को गांव के लोग चुनते थे और इस तरह यह व्यवस्था लोकतन्त्री आधार पर बनी हुई थी। राजा बदलते रहते थे और आपस में लड़ते भी रहते थे; लेकिन उन्होंने इन ग्राम-संस्थाओं पर न तो कभी हाथ डाला, न उनके काम में कभी दखल दिया और न इन पंचायतों की आज़ादी छीनने की हिम्मत की। और इस तरह जब साम्राज्यों का उलट-फेर होता रहा, तब भी इस ग्राम-संस्था पर खड़ी हुई समाज-व्यवस्था बिना ज़्यादा परिवर्तन के जारी रही। सम्भव है, हमलों, लड़ाइयों और राजाओं के बदलने की कहानियां हमें भ्रम में डाल दें, और हम यह सोचने लगें कि इन घटनाओं का असर तमाम जनता पर पड़ता रहा होगा। इसमें कोई शक नहीं कि जनता पर, ख़ासकर उत्तर भारत में, कभी-

कभी इनका असर पड़ा; लेकिन आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि वे लोग इन बातों की परवा नहीं करते थे और राजाओं में हेर-फेर होते हुए भी, वे अपने कामों में लगे रहते थे।

भारत के समाज-संगठन को बहुत दिन तक मज़बूत बनाये रखनेवाला दूसरा कारण वह वर्ण-व्यवस्था थी जो अपने मूलरूप में चली आ रही थी। उन दिनों जात-पांत के नियम इतने सख़्त नहीं थे, जितने कि वे बाद में हो गये, और न जाति सिर्फ़ जन्म पर निर्भर करती थी। इसने हज़ारों साल तक भारत की सामाजिक ज़िन्दगी को संगठित रक्खा, और इसका सिर्फ़ यही कारण था कि उसने परिवर्तन और विकास की गति को रोका नहीं बल्कि उसे आगे बढ़ाया। धर्म और जीवन के मामले में पुराना भारतीय दृष्टिकोण हमेशा उदारता, प्रयोग और परिवर्तन का स्वागत करता था। इसीसे उसे बल मिलता था। लेकिन बार-बार के हमलों और दूसरी मुसीबतों ने जाति-प्रथा को धीरे-धीरे कड़ा बना दिया, और इसके साथ-साथ भारत का सारा दृष्टिकोण भी कड़ा और बेलोच हो गया। यह सिलसिला जारी रहा, यहांतक कि भारत के लोग आज की दुःखदायी हालत को पहुंच गये और जाति-प्रथा हर तरह की तरक़्क़ी की दुश्मन बन बैठी। समाज के ढांचे को बंधे रखने के बजाय जाति-प्रथा ने उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये हैं और हमें कमज़ोर बना दिया है, और भाई को भाई के ख़िलाफ़ कर दिया है।

इस तरह वर्ण-व्यवस्था ने, पुराने ज़माने में, भारत के समाज-संगठन को मज़बूत बनाने में मदद दी। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसमें गिरावट के बीज मौजूद थे। उसका आधार था असमानता और अन्याय को हमेशा क़ायम रखना, और ऐसी किसी भी कोशिश का अन्त में विफल हो जाना लाज़िमी था। असमानता और अन्याय के आधार पर या एक वर्ग या जमात द्वारा दूसरे वर्ग या जमात से बेजा फ़ायदा उठाने की नीति पर कोई अच्छा या मज़बूत समाज नहीं बन सकता। चूंकि आज भी यह अनुचित शोषण मौजूद है, इसलिए हमें तमाम दुनिया में इतने ज्यादा झगड़े और दुःख दिखाई देते हैं। लेकिन अब सब जगह के लोग इसे महसूस करने लगे हैं और इससे छुटकारा पाने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं।

भारत की तरह चीन में भी समाज-व्यवस्था की मज़बूती गांवों पर और उन लाखों किसानों पर निर्भर थी, जो ज़मीन के मालिक थे और उसे जोतते थे। वहां भी बड़े-बड़े ज़मींदार नहीं थे। धर्म में कभी रूढ़िवाद या असहिष्णुता नहीं आने दी गई। दुनिया की तमाम क़ौमों में चीनी लोग धर्म के मामले में शायद सबसे कम कट्टर-पन्थी रहे हैं और अब भी वैसे ही हैं।

फिर तुम्हें यह भी याद होगा कि भारत और चीन दोनों ही में मज़दूरों की ग़ुलामी की कोई प्रथा नहीं थी, जैसी यूनान में या रोम में या उससे भी पहले

भारत का उपनिवेशीकरण तथा चीन का तांग साम्राज्य
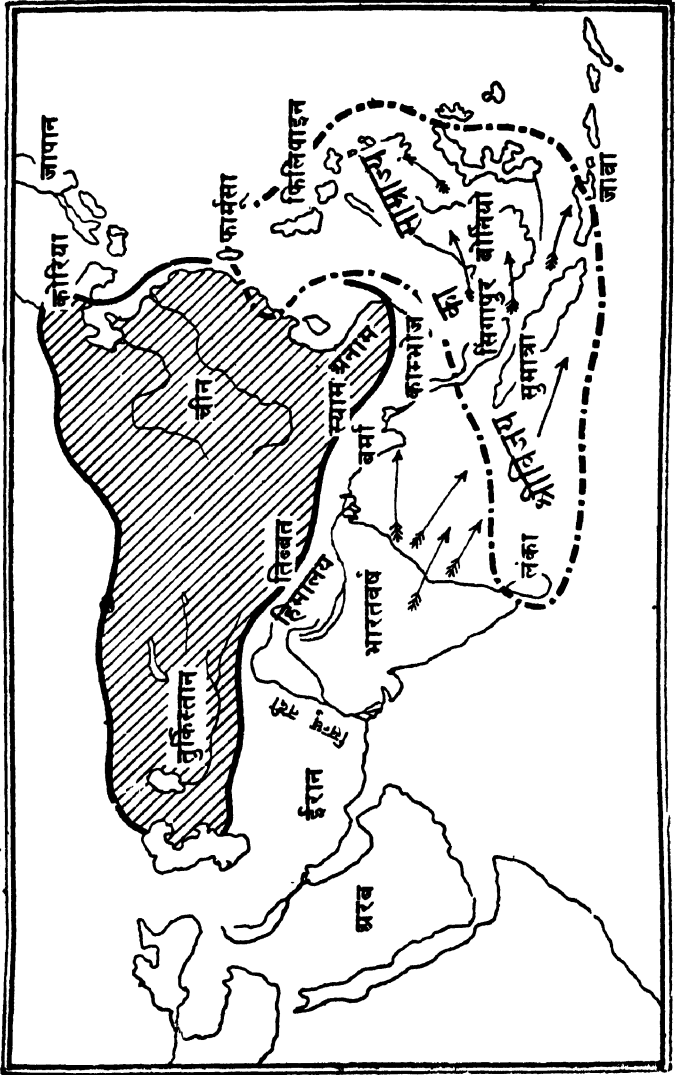
मिस्र में थी। कुछ घरेलू नौकर होते थे, जिनकी हालत ग़ुलामों जैसी होती थी, लेकिन समाज-व्यवस्था में इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था। यह व्यवस्था बग़ैर उनके भी वैसी ही चलती रहती थी। लेकिन पुराने यूनान और रोम में एसा नहीं था। वहां तो ग़ुलामों की बड़ी संख्या समाजी व्यवस्था का एक ज़रूरी अंग थी और सारे काम का असली बोझ इन्हींके कन्धों पर था। और मिस्र में बिना इन ग़ुलामों के ये बड़े-बड़े पिरेमिड कैसे बन पाते ?

मैंने इस पत्र को चीन से शुरू किया था और इरादा किया था कि उसकी कहानी को जारी रक्खूं। लेकिन मैं दूसरे विषयों की ओर बहक गया, जो कि मेरे लिए कोई ग़ैर-मामूली बात नहीं है। शायद अबकी बार हम चीन को इस तरह नहीं छोड़ें।

## : ४१ :
# तांग-वंश के शासन में चीन की उन्नति

७ मई, १९३२

मैं चीन के हन्-वंश के बारे में तुम्हें बता चुका हूं और यह भी बता चुका हूं कि चीन में बौद्ध-धर्म कैसे आया, छपाई की कला कब ईजाद हुई, और सरकारी अफ़सरों को चुनने के लिए इम्तिहान लेने का तरीक़ा कैसे शुरू हुआ। ईसा के बाद तीसरी सदी में हन्-राजवंश ख़तम हो गया, और साम्राज्य तीन राज्यों में बंट गया, जिन्हें तीन महान सल्तनतें कहा जाता है। विभाजन का यह युग कई सौ वर्षों तक क़ायम रहा। अन्त में एक नये राजवंश ने, जिसे तांग-वंश कहते हैं, चीन को फिर एक कर दिया और उसे शक्तिशाली और एक राज्य बना दिया। यह सातवीं सदी के शुरू की बात है।

लेकिन बंटवारे के इस काल में भी चीनी संस्कृति और कला उत्तर के तातारियों के हमलों के बावजूद क़ायम रही। बड़े-बड़े पुस्तकालयों और सुन्दर चित्रों का बयान हमें मिलता है। भारत सिर्फ़ अपने सुन्दर कपड़े और दूसरे माल ही नहीं, बल्कि अपने विचार, अपना धर्म और अपनी कला भी चीन को भेजता रहा। भारत से बौद्ध प्रचारक चीन गये और वे अपने साथ भारतीय कला की परम्परा भी लेते गये। यह भी हो सकता है कि भारतीय कलाकार और कुशल कारीगर भी वहां गये हों। भारत से पहुंचनेवाले बौद्ध-धर्म और नये विचारों का चीन पर बहुत असर पड़ा। बेशक चीन उस समय, और उसके पहले भी, एक बहुत ही सभ्य देश था। यह बात नहीं थी कि भारत के धर्म, विचार और कला किसी पिछड़े देश में पहुंचे हों, और उसपर क़ाबिज़ हो गये हों। चीन में पहुंचकर इनको चीन की अपनी प्राचीन कला और विचार-धारा का सामना करना पड़ा था। दोनों की

टक्कर का यह नतीजा हुआ कि एक नई चीज़ पैदा हुई, जो इन दोनों से जुदा थी। इसमें बहुत-कुछ भारत का हाथ था, लेकिन फिर भी उसका आधार चीनी था और वह चीनी सांचे में ढली हुई थी। इस तरह भारत से पहुंचनेवाली विचार-धाराओं ने चीन के मानसिक और कला-सम्बन्धी जीवन को एक नई प्रेरणा और ठोकर दी।

इसी तरह बौद्ध-धर्म और भारतीय कला का सन्देश पूर्व में बहुत दूर तक यानी कोरिया और जापान तक, कैसे पहुंचा, और इन देशों पर इसका क्या असर हुआ, यह भी दिलचस्प कहानी है। हरेक देश ने इसको अपने स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल बना लिया। इस तरह, हालांकि बौद्ध-धर्म चीन और जापान में फूला-फला, लेकिन हर मुल्क में इसका पहलू जुदा है और इन दोनों देशों का बौद्ध-धर्म शायद उस बौद्ध-धर्म से बहुत कुछ अलग तरह का है, जो भारत से गया था। कला भी देश की हवा और क़ौम के मुताबिक़ अलग होती है और बदलती रहती है। भारत में हम लोग क़ौमी हैसियत से कला और सौन्दर्य दोनों को भूल गये हैं। यही नहीं कि बहुत दिनों से हमने सौन्दर्य की कोई बढिया चीज पैदा नहीं की, बल्कि हममें से बहुत-से लोग सुन्दर वस्तुओं की क़द्र करना भी भूल गये हैं। किसी गुलाम देश में कला और सौन्दर्य पनप ही कैसे सकते है ? गुलामी और बन्धन के अंधेरे में ये मुरझा जाते है। लेकिन अब, जबकि आज़ादी की झलक हमारी आंख के सामने है, हमारी सौन्दर्य की भावना धीरे-धीरे जगने लगी है। जब आज़ादी आ जायगी तब तुम इस देश में कला और सौन्दर्य का ज़बरदस्त पुनर्जीवन देखोगी और मुझे उम्मीद है कि तब हमारे घरों, हमारे नगरों और हमारे जीवन की बद-सूरती एकदम हट जायगी। चीन और जापान भारत से ज़्यादा भाग्यशाली रहे हैं और इन्होंने अबतक कला और सौन्दर्य की अपनी भावना को बहुत-कुछ क़ायम रक्खा है।

ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध-धर्म फैला, भारतीय बौद्ध और भिक्षु वहां अधिक संख्या में जाने लगे, और चीनी भिक्षु भारत और दूसरे देशों की यात्राएं करने लगे। मैंने तुमसे फ़ाह्यान का ज़िक्र किया है, और तुम ह्यूएनत्सांग को जानती ही हो। ये दोनों भारत आये थे। एक दूसरे चीनी भिक्षु ने, जिसका नाम हुई-शेंग था, अपनी पूर्वी समद्रों की यात्रा का बहुत दिलचस्प हाल लिखा है। यह ४९९ ई० में चीन की राजधानी में पहुंचा और इसने बताया कि वह फू-संग नामक एक ऐसे मुल्क में गया था, जो चीन के पूर्व में कई हज़ार मील की दूरी पर है। चीन और जापान के पूर्व में प्रशान्त महासागर है, और सम्भव है कि हुई-शेंग ने इस महासागर को पार किया हो। शायद वह मैक्सिको पहुंचा हो, क्योंकि मैक्सिको में उस वक़्त भी एक पुरानी सभ्यता पाई जाती थी।

व्यक्ति होते हैं। इस हिसाब के मुताबिक १५६ ई० में चीन की आबादी करीब पांच करोड़ थी। मैं मानता हूं कि यह कोई बहुत ठीक तरीका नहीं है, लेकिन ख़याल करने की बात यह है कि पश्चिम के लिए यह मर्दुमशुमारी एक नई चीज़ है। मेरा ख़याल है कि करीब १५० वर्ष हुए जब संयुक्त राज्य अमेरिका में पहली मर्दुम-शुमारी हुई थी।

तांग-वंश के शुरू ज़माने में चीन में दो और धर्म आये—एक ईसाइयत और दूसरा इस्लाम। ईसाइयत को वह सम्प्रदाय इस देश में लाया जिसे क़ाफ़िर क़रार देकर पश्चिम से निकाल दिया गया था। ये लोग नेस्तोरियन कहलाते थे। मैंने तुम्हें कुछ दिन हुए ईसाई सम्प्रदायों के आपसी झगड़ों और लड़ाइयों का कुछ हाल लिखा था। इसी तरह के एक झगड़े का नतीजा यह हुआ कि रोम ने नेस्तोरियनों को निकाल बाहर किया। लेकिन ये लोग चीन, ईरान और एशिया के कई दूसरे हिस्सों में फैल गये। ये लोग भारत भी आये थे और इन्हें कुछ कामयाबी भी मिली, लेकिन बाद में ईसाई मज़हब की दूसरी शाखाओं ने और मुसलमानों ने इन्हें हज़म कर लिया, और अब उनका नाम-निशान भी बाकी नहीं है। लेकिन पार-साल जब हम दक्षिण भारत गये थे तो वहां एक जगह इन लोगों की छोटी-सी बस्ती देखकर मुझे बहुत ताज्जुब हुआ था। तुम्हें याद है न ? इनके बिशप ने हम लोगों को चाय पिलाई थी। वह बूढ़ा आदमी बहुत खुश-मिज़ाज था।

ईसाइयत को चीन पहुंचने मे कुछ दिन लगे। लेकिन इस्लाम ज़्यादा तेज़ी से आया। वास्तव में इस्लाम नेस्तोरियनों के आने के कुछ साल पहले और अपने पैग़म्बर की ज़िन्दगी में ही वहां पहुंच गया था। चीन के सम्राट ने मुसलमानों और नेस्तोरियनों दोनों के राजदूत-मंडलों का बड़ी विनय के साथ स्वागत किया था, और उनकी बातों को ध्यान से सुना था। उसने उनके विचारों की क़द्र की और दोनों के साथ एक-सी उदारता का व्यवहार किया। अरबों को कैन्टन में मस्जिद बनाने की इजाज़त दी गई। यह मस्जिद अभी तक मौजूद है, हालांकि इसे बने तेरह-सौ वर्ष हो गये। यह दुनिया की सबसे पुरानी मस्जिदों में है।

इसी तरह तांग-सम्राट ने गिरजाघर और ईसाई मठ बनाने की इजाज़त दी। चीन के इस उदार बर्ताव में और उस ज़माने के यूरोप की असहिष्णुता में कितना बड़ा फ़र्क़ नज़र आता है !

कहते हैं कि अरबों ने काग़ज़ बनाने का हुनर चीनियों से सीखा और फिर यूरोप को सिखाया। ७५१ ई० में मध्य एशिया के तुर्किस्तान में चीनियों और मुसलमान अरबों के बीच एक लड़ाई हुई। अरबों ने कुछ चीनियों को क़ैद कर लिया और इन क़ैदियों ने अरबों को काग़ज़ बनाना सिखाया।

तांग-वंश तीन सौ वर्ष यानी ९०७ ई० तक रहा। कुछ लोगों का ख़्याल है

कि ये तीन सौ वर्ष चीन का सबसे महान् युग है, जब केवल संस्कृति ही ऊंचे दर्जे पर नहीं थी, बल्कि जनता भी सब तरह से बहुत सुखी थी। बहुत-सी बातें जो पश्चिम को बहुत दिनों बाद मालूम हुई, चीनियों को उस समय मालूम थी। काग़ज़ का ज़िक्र तो मैं कर ही चुका हूं। दूसरी ऐसी ही चीज़ बारूद थी। चीनी बड़े अच्छे इंजीनियर भी हुआ करते थे। आम तौर से, और क़रीब-क़रीब हरेक बात में, ये लोग यूरोप से बहुत आगे बढ़े हुए थे। अगर ये लोग इतने आगे बढ़े हुए थे तो बाद में ये अगुआ क्यों नहीं बने रह सके, और विज्ञान व नये-नये आविष्कारों में उन्होंने यूरोप को राह क्यों नहीं दिखाई ? यूरोप ने धीरे-धीरे इन्हें पकड़ लिया—जैसे कोई जवान किसी बुड्ढे को जा पकड़ता है—और कम-से-कम कुछ बातों में तो उनसे आगे बढ़ ही गया। राष्ट्रों के इतिहास में इस तरह की बातें क्यों हो जाती हैं, यह दार्शनिकों के विचार के लिए एक कठिन सवाल है। चूंकि अभी तक तुम इस सवाल से परेशान होनेवाले दार्शनिकों की तरह नहीं हो, इसलिए मुझे भी परेशान होने की कोई ज़रूरत नहीं है।

इस काल में चीन की महानता का क़ुदरती तौर पर एशिया के बाक़ी हिस्सों पर बहुत असर पड़ा, जो कला और सभ्यता के मामले में रास्ता दिखाने के लिए चीन की तरफ़ देखते रहते थे। गुप्त साम्राज्य के बाद भारत का सितारा बहुत तेज़ी से नहीं चमक रहा था। जैसा हमेशा होता है, चीन में उन्नति और सभ्यता ने लोगों को बहुत ज़्यादा विलासी और आराम-पसन्द बना दिया। राज्य में भ्रष्टाचार घुस गया और इसकी वजह से भारी टैक्स लगाना ज़रूरी हो गया। नतीजा यह हुआ कि लोगों ने तांग-वंश से तंग आकर उसे ख़तम कर दिया।

: ४२ :

# चोसेन और दाई निप्पन

८ मई, १९३२

ज्यों-ज्यों हमारी दुनिया की कहानी आगे बढ़ती जायगी, नये-नये देश हमारी निगाह में आते जायंगे। इसलिए हमें कोरिया और जापान पर एक नज़र डाल लेनी चाहिए, जो चीन के नज़दीकी पड़ौसी हैं और बहुत-सी बातों में चीनी सभ्यता की सन्तानें हैं। ये देश एशिया के बिलकुल सिरे पर, सुदूरपूर्व में हैं, और इनके पार प्रशान्त महासागर फैला हुआ है। कुछ दिनों पहले तक अमेरिका महाद्वीप से इनका कोई सम्पर्क नहीं था; इनका सम्पर्क सिर्फ़ एशिया के महान् राष्ट्र चीन से ही था। उन्होंने चीन से या चीन के मार्फ़त ही धर्म, कला और सभ्यता हासिल की।

के भी देनदार हैं। लेकिन भारत से इन्होंने जो कुछ पाया वह चीन के माफ़ंत और चीनी भावनाओं में रंगा हुआ ही पाया।

कोरिया और जापान दोनों की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि एशिया में या और जगह होनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। घटनाओं के केन्द्र से ये दूर थे—कुछ हद तक दोनों, ख़ासकर जापान, खुशक़िस्मत थे। इसलिए मौजूदा ज़माने से पहले तक के इनके इतिहास की हम बग़ैर किसी कठिनाई के उपेक्षा कर सकते हैं। ऐसा करने से एशिया के बाक़ी हिस्सों की घटनाओं को समझने में कोई ज़्यादा फ़र्क़ नही आयगा। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि हम इन्हें बिलकुल ही छोड़ दें जिस तरह कि हमने मलेशिया और पूर्वी टापुओं के पुराने इतिहास को नहीं छोड़ा। बेचारा छोटा-सा देश कोरिया आज बिलकुल भुला दिया गया है। जापान ने इसे हड़प लिया है और अपने साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया है। लेकिन कोरिया अब आज़ादी के सपने देखता है और स्वाधीनता के लिए छटपटाता है। आजकल जापान की बहुत चर्चा है और चीन पर उसके हमलों के समाचारों से अख़बार भरे रहते हैं। इस वक़्त भी, जब तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूं, मंचूरिया में एक तरह का युद्ध छिड़ा हुआ है। इसलिए अगर हम कोरिया और जापान का कुछ पिछला इतिहास जान लें तो अच्छा ही है। इससे हाल की बातें समझने में मदद मिलेगी।

पहली बात, जो हमें याद रखनी चाहिए, वह यह है, कि ये दोनों देश लम्बे ज़मानों तक दुनिया से अलग-थलग रहे हैं। वास्तव में जापान का सबसे अलग-थलग रहना और हमलों से बरी रहना उसके इतिहास की एक ख़ास बात है। इसके सारे इतिहास में इसपर हमला करने की बहुत ही कम कोशिशें हुई और उनमें से एक भी कामयाब नहीं हुई। अभी तक इसकी सारी परेशानियां अन्दरूनी झगड़ों के कारण ही रही हैं। कुछ दिनों के लिए तो जापान ने अपने आपको सारी दुनिया से बिलकुल ही अलग कर लिया था। किसी जापानी का देश से बाहर जाना या किसी विदेशी का, यहांतक कि चीनी का भी, जापान में पैर रखना बहुत मुश्किल बात थी। यह रोक इसलिए लगाई गई थी कि जापानी लोग अपनेको यूरोप के विदेशियों से और ईसाई प्रचारकों से बचाना चाहते थे। यह एक ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी का काम था, क्योंकि इसका अर्थ था सारी क़ौम को क़ैदख़ाने में बन्द कर देना और बाहर के अच्छे या बुरे प्रभावों से उसे दूर रखना। लेकिन फिर जापान ने एकदम दरवाज़े और खिड़कियां खोल दीं, और यूरोप जो-कुछ सिखा सकता था, उस सबको सीखने के लिए बाहर दौड़ पड़ा। और उसने यह सब इतनी अच्छी तरह सीखा कि एक या दो पीढ़ियों में ही वह ऊपर से एक यूरोपीय देश के समान बन गया, और उसने उनकी बुरी आदतों की भी नक़ल कर ली! ये सब बातें पिछले सत्तर-अस्सी वर्षों में हुई हैं।

कोरिया का इतिहास चीन के इतिहास के बहुत पीछे शुरू होता है और जापान का इतिहास कोरिया के भी बहुत दिन बाद। मैंने तुम्हें पार-साल अपने एक पत्र में लिखा था कि की-त्से नामक एक निर्वासित चीनी ने, जिसे चीन में राज-वंश का बदल जाना नापसन्द था, अपने पांच हज़ार साथियों के साथ पूर्व की तरफ़ कूच कर दिया था। वह कोरिया में जा बसा और इस देश का नाम उसने 'चोसेन' यानी 'सुबह की शान्ति का देश' रख दिया। यह ई० पू० ११२२ की बात है। की-त्से अपने साथ चीनी कला और कारीगरी, खेती के तरीक़े और रेशम बनाने का हुनर वहां ले गया, नौ सौ से भी अधिक वर्षों तक की-त्से के वंशज चोसेन में राज करते रहे। चीन से निकले हुए लोग समय-समय पर चोसेन में बसने के लिए आते रहे और चीन के साथ इसका अच्छा-खासा सम्पर्क बना रहा।

जब शी-ह्वांग-ती चीन का सम्राट था, तब चीनियों का एक बड़ा जत्था कोरिया आया था। तुम्हें शायद इस चीनी सम्राट का नाम याद होगा, जो अशोक का समकालीन था। यह वही व्यक्ति है, जिसने 'प्रथम सम्राट' की उपाधि धारण की थी और सब पुराने ग्रन्थ जलवा दिये थे। शी-ह्वांग-ती के अत्याचारी तरीक़ों से तंग आकर बहुत से चीनियों ने कोरिया में आश्रय लिया और की-त्से के कमज़ोर वंशजों को मार भगाया। इसके बाद चोसेन कई छोटे राज्यों में बंट गया, और आठ सौ वर्षों से ज्यादा तक यही हालत बनी रही। ये राज्य अक्सर आपस में लड़ा करते थे। एक दफ़ा इन राज्यों में से एक ने चीन की मदद मांगी। इस तरह की मदद मांगना खतरनाक ही हुआ करता है। मदद आई ज़रूर, लेकिन उसने वापस जाने से इन्कार कर दिया! ताक़तवर मुल्कों का यही ढंग होता है। चीन वहां डट गया और उसने चोसेन के कुछ हिस्से को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चोसेन का बाक़ी हिस्सा भी कई सौ वर्षों तक चीन के तांग-सम्राटों की प्रभुता क़बूल करता रहा।

९३५ ई० में चोसेन एक स्वाधीन संयुक्त राज्य बन गया। इस संयुक्त राज्य की स्थापना में सफल होनेवाला व्यक्ति वांग कीयन था और इसके उत्तराधिकारियों ने ४५० वर्ष तक इस राज्य पर शासन किया।

मैंने दो तीन पैरों में तुम्हें कोरिया के इतिहास के दो हज़ार वर्षों का हाल बता दिया! याद रखने की बात यह है कि कोरिया को चीन की बहुत बड़ी देन है। लिखने की कला यहां चीन से आई। एक हज़ार वर्ष तक कोरियावालों ने चीनी लिपि काम में ली। तुम जानती हो कि चीन की लिपि में अक्षर नहीं, बल्कि विचारों, शब्दों और पदों के चिह्न होते हैं। इसके बाद कोरियावालों ने इस लिपि से एक खास लिपि निकाली, जो उनकी भाषा के लिए ज्यादा उपयुक्त थी।

बौद्ध-धर्म चीन होकर यहां आया और कनफ़्यूशियस की दार्शनिक विचार-

धारा भी चीन से ही आई। भारतीय कला का प्रभाव चीन होकर कोरिया और जापान पहुंचा। कोरिया में कला की, खासकर मूर्ति-कला की, बहुत सुन्दर कृतियां बनीं। इनकी इमारतें बनाने की कला चीनियों से मिलती-जुलती थी। जहाज़ बनाने के काम में भी बड़ी तरक़्क़ी हुई। यहांतक कि एक बार कोरियावालों के पास एक शक्तिशाली जलसेना हो गई, जिससे उन्होंने जापान पर हमला कर दिया।

शायद मौजूदा जापानियों के पुरखे कोरिया या चोसेन से ही आये थे। सम्भव है, इनमें से कुछ लोग दक्षिण से यानी मलेशिया से आये हों। तुम जानती हो कि जापानी लोग मंगोली नस्ल के हैं। जापान में अब भी कुछ लोग हैं, जिन्हें आइनस कहते हैं और जो जापान के आदिम निवासी समझे जाते हैं। ये लोग गोरे हैं, और इनके शरीर पर बाल भी ज्यादा होते हैं। साधारण जापानियों से ये बिलकुल जुदे हैं। ये आइनस लोग टापू के उत्तरी हिस्से में धकेल दिये गए हैं।

हम देखते हैं कि २०० ई० के क़रीब जिंगो नाम की एक सम्राज्ञी यामातो राज्य की शासक थी। यामातो जापान का या उसके उस हिस्से का असली नाम है, जहां ये प्रवासी आकर बसे थे। इस रानी का जिंगो नाम याद रखने की चीज़ है। जापान के एक सबसे पहले शासक का यह नाम होना एक अनोखा संयोग है। अंग्रेजी भाषा में जिंगो शब्द का एक खास अर्थ हो गया है। इसका अर्थ है डींग मारने और शेखी बघारनेवाला साम्राज्यवादी। इसे सिर्फ़ साम्राज्यवादी भी कह सकते हैं, क्योंकि हरेक साम्राज्यवादी थोड़ा-बहुत डींगी और शेखीबाज़ होता ही है। जापान भी आज साम्राज्यवाद या जिंगोवाद के इस रोग में फंसा हुआ है और हाल ही में इसने चीन और कोरिया के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया है। इसलिए जापान के पहले ऐतिहासिक राजा का नाम जिंगो होना एक अनोखी बात है।

यामातो ने कोरिया के साथ अपना गहरा सम्बन्ध बनाये रक्खा और कोरिया के मार्फ़त ही यामातो में चीनी सभ्यता पहुंची। चीन की भाषा और लिपि भी ४०० ई० के क़रीब कोरिया होकर वहां पहुंची थी, और इसी तरह बौद्ध-धर्म भी कोरिया से ही यहां आया था। ५५२ ई० में पाकचे (कोरिया के तीन राज्यों में से एक राज्य) के राजा ने यामातो के राजा के पास बुद्ध की एक सोने की मूर्ति और कुछ धर्म-ग्रन्थों के साथ बौद्ध धर्म-प्रचारक भेजे थे।

जापान का पुराना मज़हब शिन्टो था। शिन्टो चीनी शब्द है। इसका अर्थ है, 'देवताओं का मार्ग'। यह मज़हब प्रकृति-पूजा और पुरखों की पूजा का मेल था। यह परलोक का या रहस्यों और समस्याओं की बातों से दूर है। यह योद्धाओं की जाति का मज़हब था। जापानी लोग चीनियों के इतने नज़दीक, और अपनी सभ्यता के लिए चीन के इतने देनदार होते हुए भी चीनियों से बिलकुल भिन्न हैं। चीनी लोग स्वभाव से ही शान्तिप्रिय रहे हैं, और आज भी हैं। उनकी सारी सभ्यता

और जीवन-दर्शन शान्तिमय हैं। इसके ख़िलाफ़ जापानी एक लड़ाकू क़ौम रहे हैं, और आज भी हैं। वहां सिपाही का असली गुण यह माना जाता है कि वह अपने नेता और अपने साथियों के प्रति वफ़ादार हो। जापानी लोगों में यह गुण बराबर रहा है, और उनके बल का बहुत कुछ यही कारण है। शिन्टो इसी गुण पर ज़ोर देता था—"देवताओं का सम्मान करो, और उनके वंशजों के प्रति वफ़ादार रहो"—और इसीलिए शिन्टो आज तक जापान में जीवित है, और बौद्ध-धर्म के साथ-साथ मौजूद है।

लेकिन क्या यह गुण है ? साथी या किसी उद्देश्य के प्रति वफ़ादार होना ज़रूर एक गुण है। लेकिन शिन्टो या दूसरे मज़हबों ने अक्सर लोगों की वफ़ादारी से बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश की है, जिससे उनपर शासन करनेवाले एक ख़ास गिरोह के लोगों को फ़ायदा पहुंचे। जापान में और रोम वग़ैरा में यही सिखाया गया कि सत्ता की पूजा करो। और तुम आगे चलकर देखोगी कि इससे सबको कितना नुक़सान पहुंचा है।

नया बौद्ध-धर्म जब जापान में पहुंचा, तो पुराने शिन्टो से उसकी कुछ टक्कर हुई। लेकिन जल्दी ही दोनों साथ-साथ रहने लग गये और आज तक रह रहे हैं। शिन्टो अब भी बौद्ध-धर्म से ज्यादा लोकप्रिय है, और शासक-वर्ग इसे प्रोत्साहन भी देते हैं, क्योंकि यह वफ़ादारी और फ़रमाबरदारी सिखाता है। बौद्ध-धर्म ससे कुछ ख़तरनाक है, क्योंकि उसका संस्थापक ख़ुद विद्रोही था।

जापान की कला का इतिहास बौद्ध-धर्म के साथ शुरू होता है। तभी जापान या यामातो ने चीन के साथ सीधे सम्पर्क बढ़ाना शुरू किया था। जापान से चीन को बराबर राजदूत-मंडल जाते रहते थे, ख़ासकर तांग-काल में, जबकि चीन की राजधानी सीआन-फू सारे पूर्वी एशिया में मशहूर थी। जापानियों यानी यामातो-वालों ने ख़ुद एक नई राजधानी नारा के नाम से क़ायम की और इसे सी-आन-फू की हू-ब-हू नक़ल बनाने का प्रयत्न किया। मालूम होता है जापानियों में दूसरों की नक़ल उतारने और अनुकरण करने की अजीब क्षमता हमेशा से रही है।

सारे जापानी इतिहास में हम बड़े-बड़े परिवारों को एक-दूसरे का विरोध करते और अधिकार के लिए झगड़ते देखते हैं। दूसरी जगहों पर भी पुराने ज़माने में तुम्हें ऐसी ही बातें मिलेंगी। इन परिवारों में पुरानी कुल-भावना जमी हुई थी, इसलिए जापान का इतिहास ख़ास तौर परं परिवारों की आपसी होड़ की कहानी है। इनका सम्राट मिकाडो सर्वशक्तिमान, निरंकुश, आधा दैवी और सूर्य का वंशज माना जाता है। शिन्टो ने और पुरखों की पूजा ने जनता से सम्राट की निरंकुशता क़बूल कराने में बहुत मदद दी और उसे देश के शक्तिशाली लोगों को आज्ञाकारी बना दिया। लेकिन जापान में सम्राट ख़ुद बहुत करके कठपुतली की

तरह रहा है और उसके हाथ में कोई असली ताक़त नहीं रही है। सारी शक्ति और सत्ता किसी बड़े परिवार या कुल के हाथ में रही है, जो राजाओं के विधाता थे और अपनी मरज़ी के राजा और सम्राट बनाया करते थे।

जापान के इतिहास में जो बड़ा परिवार सबसे पहले राज्य की बागडोर संभालता दिखाई देता है, वह सोगा-परिवार है। जब इन लोगों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया, तभी वह दरबारी और सरकारी धर्म बन गया। इस परिवार का एक नेता शोतूकू ताइशी जापानी इतिहास का एक महान् व्यक्ति हुआ है। यह एक सच्चा बौद्ध और प्रतिभाशाली कलाकार था। चीन के कन्फ़्यूशियन ग्रन्थों से इसने अपने विचार लिये थे और ऐसी सरकार बनाने की कोशिश की जिसकी बुनियाद सिर्फ़ बल पर नहीं, बल्कि नैतिकता पर रक्खी गई हो। जापान में उन दिनों ऐसे कुलों की भरमार थी, जिनके सरदार बिल्कुल स्वाधीन थे। ये लोग आपस में लड़ते थे और किसीकी हुकूमत नहीं मानते थे। सम्राट अपनी लच्छेदार उपाधि के होते हुए भी सिर्फ़ किसी बड़े कुल का सरदार होता था। शोतूकू ताइशी ने इस हालत को बदलने और केन्द्रीय सरकार को मज़बूत बनाने की कोशिश शुरू कर दी। इसने बहुत-से कुलीन सरदारों और अमीरों को 'ताबेदार' या सम्राट के मातहती बना दिया। यह ६०० ई० के लगभग की बात है।

लेकिन शोतूकू ताइशी की मृत्यु के बाद सोगा-परिवार हटा दिया गया। थोड़े दिन बाद एक दूसरा व्यक्ति, जो जापानी इतिहास में बहुत मशहूर है, सामने आता है। इसका नाम काकातोमी-नो-कामातोरी था। इसने शासन-व्यवस्था में हर तरह के परिवर्तन किये और बहुत-से चीनी तौर-तरीके वैसे के वैसे अपना-लिये। लेकिन उससे चीन की निराली बात की, यानी सरकारी कर्मचारियों को नियुक्त करने की परीक्षा-प्रणाली की नक़ल नहीं की। सम्राट की हैसियत अब एक कुल के सरदार से बहुत ऊंची हो गई और केन्द्रीय सरकार बहुत मज़बूत हो गई।

इसी काल में नारा राजधानी बनी। लेकिन यह राजधानी थोड़े ही दिन रही। ७९४ ई० में क्योटो राजधानी बनी और क़रीब ग्यारह सौ वर्षों तक रही। अब कुछ ही वर्ष हुए टोकियो ने उसकी जगह ले ली है। टोकियो एक बहुत बड़ा आधुनिक शहर है, लेकिन वह क्योटो ही है, जो हमें जापान की आत्मा का कुछ परिचय कराती है, क्योंकि उसके साथ एक हज़ार वर्षों की यादगारें जुड़ी हुई हैं।

काकातोमी-नो-कामातोरी फ़ूजीवारा वंश का संस्थापक हुआ। इस वंश ने आगे चलकर जापानी इतिहास में बहुत बड़ा भाग लिया। इस वंश के लोगों ने दो सौ वर्ष राज किया, और सम्राटों को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रक्खा और बहुत बार अपने कुल की लड़कियों से शादी करने के लिए उन्हें मजबूर किया।

इन्हें दूसरे परिवारों के योग्य आदमियों का इतना डर रहता था कि उन्हें ज़बर-दस्ती मठों में दाखिल करा दिया जाता था।

जब राजधानी नारा में थी तब चीन के सम्राट ने जापानी शासक के पास एक संदेश भेजा, जिसमें उसे 'ताई-नीह-पुंग कोक' यानी 'महान् सूर्योदय राज्य' का सम्राट कहकर सम्बोधित किया गया था। जापानियों को यह नाम बहुत पसन्द आया। यामातो के मुक़ाबले में यह कहीं ज्यादा शानदार था, इसलिए य लोग अपने देश को 'दाई निप्पन', यानी 'सूर्योदय का देश', कहने लगे और अभी तक अपने देश के लिए उनका यही नाम है। जापान शब्द 'निप्पन' से अजीब तरीक़े पर बिगड़कर बना है। छै सौ वर्ष बाद एक महान् इटालवी यात्री, मार्को पोलो, चीन गया। यह जापान तो नहीं गया, लेकिन इसने अपनी यात्रा-पुस्तक में जापान का हाल लिखा है। इसने चीन में नीह-पुंग-कोक नाम सुना था। इसने अपनी पुस्तक में इसे 'चिपनगो' लिखा और इसीसे जापान शब्द निकला।

क्या मैंने तुम्हें बताया है, या तुम्हें मालूम है, कि हमारा देश इंडिया और हिन्दुस्तान क्यों कहलाने लगा? ये दोनों नाम इन्दु या सिन्धु नदी के नाम से निकले हैं, जो इस तरह 'हिन्दुस्तान की नदी' बन गई। सिन्धु से यूनानी लोगों ने हमारे देश को 'इन्दो' कहा और इसीसे 'इण्डिया' बना। सिन्धु से ही ईरानियों न हिन्दू शब्द बनाया और उसीसे हिन्दुस्तान बना।

## : ४३ :

## हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांग

११ मई, १९३२

अब हम फिर भारत वापस चलेंगे। हूणों की हार हो चुकी थी और वे पीछे हटा दिये गए थे। लेकिन बहुत-से हूण इधर-उधर कोनों में बचे रह गये थे। बाला-दित्य के बाद महान् गुप्त राज-वंश खतम हो गया और उत्तर भारत में बहुत-से रजवाड़े और राज्य बन गये। दक्षिण में पुलिकेशी ने चालुक्य-साम्राज्य क़ायम कर लिया था।

कानपुर से थोड़ी दूर कन्नौज का छोटा-सा क़स्बा है। कानपुर आजकल एक बड़ा शहर है। लेकिन अपने कारखानों और चिमनियों की वजह से बदसूरत हो गया है। कन्नौज एक मामूली जगह है, जो गांव से कुछ ही बड़ा होगा। लेकिन जिस ज़माने का ज़िक्र मैं कर रहा हूं, उस ज़माने में कन्नौज एक बड़ी राजधानी था, और अपने कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों के लिए मशहूर था। कानपुर तब पैदा ही नहीं हुआ था और न कई सौ वर्षों बाद तक पैदा होनेवाला था!

कन्नौज आजकल का नाम है। पर इसका असली नाम कान्यकुब्ज यानी 'कुबड़ी कन्या' है। कथा है कि किसी प्राचीन ऋषि ने अपना अपमान हुआ जानकर गुस्से में एक राजा की सौ कन्याओं को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबड़ी हो गई थीं। उस समय से यह शहर, जहां ये कन्याएं रहती थीं, 'कुबड़ी कन्याओं का नगर' यानी कान्यकुब्ज कहलाने लगा।

लेकिन संक्षेप में हम इसे कन्नौज ही कहेंगे। हूणों ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को क़ैद कर लिया। राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुड़ाने के लिए हूणों से लड़ने आया। उसने हूणों को तो हरा दिया, लेकिन ख़ुद धोखे से मारा गया। इस पर उसका छोटा भाई हर्षवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश में निकला। यह बेचारी किसी तरह से निकल कर पहाड़ों में जा छिपी थी, और अपनी मुसीबतों से परेशान होकर उसने आत्महत्या का निश्चय कर लिया था। कहते हैं कि वह जलने जा ही रही थी कि हर्ष ने उसे ढूंढ़ लिया और बचा लिया।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सज़ा दी। उसने सिर्फ़ इस नीच राजा को ही सज़ा नहीं दी, बल्कि सारे उत्तर भारत को, बंगाल की खाड़ी से अरब समुद्र तक, और दक्षिण में विन्ध्याचल तक, जीत लिया। विन्ध्याचल के बाद चालुक्य साम्राज्य था और हर्ष को यहां रुकना पड़ा।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह ख़ुद कवि और नाटककार था, इसलिए उसके दरबार में कवि और कलाकार जमा हो गये और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध-धर्म, एक अलग धर्म की हैसियत से, भारत में बहुत कमज़ोर पड़ चुका था। ब्राह्मण इसे हज़म करते जा रहे थे। हर्ष भारत का आख़िरी महान् बौद्ध-सम्राट् हुआ है।

हर्ष के राज-काल में हमारा पुराना मित्र ह्यूएनत्सांग[1] भारत आया था और उसकी यात्रा-पुस्तक में, जो उसने भारत से लौटकर लिखी थी, भारत का और मध्य-एशिया के उन देशों का, जिनमें होकर वह भारत आया था, बहुत-कुछ हाल मिलता है। ह्यूएनत्सांग एक धर्मपरायण बौद्ध था और वह बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लिए भारत आया था। यह गोबी के रेगिस्तान को पार करके आया था, और रास्ते में उसने ताशक़न्द, समरक़न्द, बलख़, ख़ुतन, यारक़न्द, वग़ैरा कई मशहूर शहरों को देखा था। वह सारे भारत में घूमा और शायद लंका भी गया था। इसकी पुस्तक एक अजीब

[1] **ह्यूएनत्सांग—इसे लोग युयेन-चैंग, युआन-च्वांग या ह्वान-त्सांग के नाम से भी पुकारते हैं।**

और चित्ताकर्षक कबाड़खाना है, जिसमें उन देशों का सही-सही चित्रण है, जहां-जहां वह गया था; भारत के अलग-अलग भागों के निवासियों के विस्मय-जनक चरित्र-चित्र हैं, जो आज भी सही मालूम होते हैं; अद्भुत कहानियां हैं, जो उसने यहां सुनी थीं; और बुद्ध तथा बोधिसत्वों के चमत्कारों की अनेक कथाएं हैं। ह्यूएनत्सांग की लिखी, उस बड़े अक़्लमन्द आदमी की मज़ेदार कहानी, जो अपने पेट के चारों तरफ़ तांबे के पत्तर बांधे फिरता था, मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ।

ह्यूएनत्सांग ने बहुत वर्ष भारत में बिताये; खासकर नालन्दा के विश्व-विद्यालय में, जो पाटलिपुत्र के पास था। कहते हैं कि नालन्दा में, जो मठ और विश्वविद्यालय दोनों था, दस हज़ार विद्यार्थी और भिक्खु रहा करते थे। यह बौद्ध शिक्षा का बड़ा केन्द्र था और ब्राह्मण-शिक्षा के गढ़ बनारस का प्रतिस्पर्धी था।

मैंने एक बार तुमसे कहा था कि पुराना भारत 'इन्दु-देश' यानी चन्द्रमा का देश कहलाता था। ह्यूएनत्सांग भी इस बात का ज़िक्र करता है और बतलाता है कि यह नाम कितना उपयुक्त है। चीनी भाषा में भी चन्द्रमा को 'इन-तू' कहते हैं। इसलिए अगर तुम चाहो तो अपना चीनी नाम[1] भी रख सकती हो!

ह्यूएनत्सांग ६२९ ई० में भारत आया। चीन से जब इसने अपनी यात्रा शुरू की तो इसकी उम्र २६ साल की थी। एक पुरानी चीनी पुस्तक में लिखा है कि ह्यूएनत्सांग रूपवान और लम्बे क़द का था। "उसका रंग मनोहर और आंखें चमकदार थीं; चाल-ढाल गम्भीर और राजसी थी और उसके चेहरे से आकर्षण और तेज बरसते थे। . . . उसमें पृथ्वी को घेरनेवाले विशाल समुद्र जैसी शान थी, और जल में पैदा होनेवाले कमल-जैसी गंभीरता और चमक थी।"

बौद्ध-भिक्खु का केसरिया बाना पहनकर यह अकेला अपनी ज़बर्दस्त यात्रा पर चल पड़ा, हालांकि चीनी सम्राट् ने इसे इजाज़त नहीं दी थी। इसने गोबी का रेगिस्तान पार किया और जब यह सब कठिनाइयां झेलकर तुरफ़ान के राज्य में पहुँचा, जो इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ़ इसकी जान ही बाक़ी थी। तुरफ़ान का रेगिस्तानी राज्य संस्कृति का छोटा-सा अजीब नख़लिस्तान[2] था। आज यह एक वीरान जगह है, जहां पुरातत्त्ववेत्ता और प्राचीन इतिहास-वेत्ता पुराने खंडहरों की तलाश में ज़मीन खोदते फिरते हैं। लेकिन सातवीं सदी में जब ह्यूएनत्सांग यहां से गुज़रा था, तब तुरफ़ान जीवन और ऊंचे दर्जे की संस्कृति से भरपूर था। इसकी संस्कृति में भारत, चीन, ईरान और कुछ अंशों में यूरोप की संस्कृतियों का निराला मेल पाया जाता था। यहां बौद्ध-धर्म का प्रचार था

[1] इन्दिरा का प्यार का नाम 'इन्दु' है।
[2] नख़लिस्तान—रेगिस्तान में हरी-भरी जगह।

और संस्कृत के मार्फ़त भारतीय प्रभाव भी साफ़ दिखाई देता था। फिर भी लोगों का रहन-सहन ज़्यादातर चीन और ईरान से लिया हुआ था। ख़याल हो सकता है कि यहां के निवासियों की भाषा मंगोली होगी, लेकिन यह मंगोली न होकर भारोपीय[1] थी, और यूरोप की केल्टिक[2] भाषाओं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। इससे भी ज्यादा अचंभे की बात यह है कि यहां पत्थर की दीवारों पर जो चित्र खुदे हैं, उनकी आकृतियां यूरोपीय लोगों जैसी हैं। दीवारों पर खुदे हुए बुद्ध और बोधिसत्वों, देवियों और देवताओं के ये चित्र बड़े ही सुन्दर हैं। देवियों की मूर्तियां या तो भारतीय पोशाक में हैं, या उनके मुकुट और पोशाक यूनानी हैं। फ्रांस के कला-मर्मज्ञ एम० ग्राउज़े का कहना है कि "इन चित्रों में हिन्दू सुकुमारता, यूनानी अभिव्यंजना और चीनी कमनीयता का बहुत ही सुन्दर मेल पाया जाता है।"

तुरफ़ान अब भी है और तुम इसे नक़शे में देख सकती हो। लेकिन अब यह कोई महत्त्व की जगह नही है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने दिन पहले, सातवीं सदी में, संस्कृति की भरपूर धाराएं दूर-दूर के देशों से आकर इस जगह मिलीं, और मिलकर एकरस हो गई!

तुरफ़ान से ह्यूएनत्सांग कूचा गया। यह उस ज़माने में मध्य-एशिया का एक दूसरा मशहूर केन्द्र था, जिसकी सभ्यता शानदार व चमक-दमकवाली थी। और जो अपने प्रसिद्ध गायकों और स्त्रियों की सुन्दरता के लिए ख़ास तौर पर मशहूर था। इस देश के धर्म और कला भारत की देन थी। ईरान इसे संस्कृति और व्यापारी माल देता था और इसकी भाषा संस्कृत, पुरानी फ़ारसी, लातीनी और केल्टिक से मिलती-जुलती थी। यह भी एक दिल लुभानेवाली मिलावट थी!

इसके बाद ह्यूएनत्सांग तुर्कों के मुल्क से होकर गुज़रा, जहां का 'महान् ख़ान' जो बौद्ध था, मध्य-एशिया के ज़्यादातर हिस्से पर शासन करता था। इसके बाद वह समरक़न्द पहुंचा, जो उस समय भी एक प्राचीन शहर माना जाता था और जिसके साथ सिकन्दर की यादगार जुड़ी हुई थी; क्योंकि क़रीब एक हज़ार वर्ष पहले सिकन्दर यहां से होकर गुज़रा था। फिर वह बलख़ गया और वहां से काबुल नदी का कांठा पार कर कश्मीर होता हुआ भारत आया।

---

[1] **भारोपीय**—Indo-European **अर्थात् भारतीय-यूरोपीय का संयुक्त-पद।**

[2] **केल्टिक (Celtic)—कई भाषाओं का एक समूह, जो इण्डो-यूरोपियन समूह से सम्बन्ध रखती है और अब प्रधानतः ब्रिटनी वेल्स, पश्चिमी आयर्लैण्ड तथा स्काटलैण्ड के ऊँचे इलाक़ों में बोली जाती हैं। सिमरिक और गेथेलिक नामक इसकी दो शाखाएं हैं। यह मध्यकाल में गद्य-पद्य के प्रचुर साहित्य से समृद्ध थी। रूप और भावों में आरंभिक केल्टिक बहुत-कुछ लेटिन और ग्रीक से मिलती-जुलती थी।**

यह चीन में तांग-राजवंश के शुरू का ज़माना था जब चीन की राजधानी सि-अन-फ़ू कला और विद्या का केन्द्र थी और सभ्यता में चीन दुनिया के सब देशों से आगे था। इसलिए तुम्हें याद रखना चाहिए कि ह्यूएनत्सांग बहुत ऊंची सभ्यता के इस देश से आया था, और तुलना करने के लिए उसके पैमाने काफ़ी ऊंचे रहे होंगे। इसीलिए भारत की हालतों के बारे में उसका बयान बहुत महत्वपूर्ण और क़ीमती है। उसने भारतवासियों की और भारत के शासन की बहुत तारीफ़ की है। वह कहता है—

> "हालांकि भारत के साधारण लोग स्वभाव से खुश-मिज़ाज होते हैं, फिर भी वे ईमानदार और इज्ज़तदार हैं। रुपये-पैसे के मामलों में वे मक्कार नहीं हैं और न्याय करने में दयाशील हैं। उनके आचरण में न धोखेबाज़ी है, न विश्वासघात; और ये लोग अपनी क़समों और वादों के पक्के हैं। शासन के नियमों में सिद्धान्तों पर आग्रह विशेषता रखता है, जबकि इनके व्यवहार में सज्जनता और मिठास ज्यादा रहती है। अपराधियों और विद्रोहियों की संख्या यहां बहुत ही कम है और कभी-कभी ही परेशान करती है।"

> वह आगे लिखता है—"चूंकि सरकारी शासन का आधार उदार सिद्धान्तों पर है, इसलिए शासन का ढांचा पेचीदा नहीं है। . . . लोगों से बेगार नहीं ली जा सकती।" "इस तरह लोगों पर करों का बोझ हलका है और हरेक व्यक्ति से मामूली काम लिया जाता है। हरेक आदमी अपनी सांसारिक सम्पत्ति का शान्ति से उपभोग करता है, और सभी लोग अपनी रोज़ी के लिए ज़मीन जोतते हैं। जो लोग राजा की ज़मीनों पर खेती करते हैं, उन्हें उपज का छठा हिस्सा लगान में देना पड़ता है। वाणिज्य करनेवाले व्यापारी अपने काम-धन्धों के लिए इधर-उधर आते-जाते हैं, और इस तरह सब काम चलते रहते हैं।"

ह्यूएनत्सांग ने देखा कि जनता के लिए शिक्षा की अच्छी व्यवस्था थी और बच्चों की शिक्षा जल्दी शुरू कर दी जाती थी। पहली पोथी खतम करने के बाद लड़के या लड़की को सात वर्ष की उम्र से ही पांच शास्त्रों की पढ़ाई शुरू कर दी जाती थी। आजकल शास्त्र का मतलब सिर्फ़ धर्म-पुस्तक समझा जाता है। लेकिन उस समय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। वे पांच शास्त्र ये थे—(१) व्याकरण, (२) कला-कौशल का शास्त्र (३) आयुर्वेद (४) न्याय (तर्कशास्त्र) और (५) दर्शन। इन विषयों की पढ़ाई विश्वविद्यालयों में होती थी और साधारण तौर पर तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा खयाल है कि बहुत-से लोग

इस उम्र तक न पढ़ सकते होंगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्राइमरी शिक्षा काफ़ी फैली हुई थी, क्योंकि सारे भिक्खु और पुजारी शिक्षक हुआ करते थे और इनकी कोई कमी नही थी। ह्यूएनत्सांग पर भारतवासियों के विद्या-प्रेम का बहुत असर पड़ा था और अपनी सारी पुस्तक में वह इस बात का ज़िक्र करता है।

उसने प्रयाग के बड़े कुम्भ-मेले का भी वर्णन किया है। जब तुम इस मेले को कभी फिर देखो तो तेरह सौ वर्ष पहले की ह्यूएनत्सांग की इस यात्रा का ख़याल करना और यह याद करना कि उस समय भी यह मेला बहुत प्राचीन था और ठेठ वैदिक काल से चला आ रहा था। अतीत परम्परा के इस प्राचीन मेले के मुक़ाबिले में हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर है। इस शहर को ४०० वर्ष से कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे बहुत ज़्यादा पुराना है। लेकिन प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है, जो हज़ारों वर्षों से लाखों यात्रियों को हर वर्ष गंगा और जमुना के संगम पर खींच लाता है।

ह्यूएनत्सांग लिखता है कि बौद्ध होते हुए भी हर्ष इस ख़ास हिन्दू मेले में जाया करता था। उसकी तरफ़ से एक शाही आज्ञा-पत्र जारी किया जाता था, जिसमें 'पंच हिन्द' के सब ग़रीबों और मुहताजों को मेले में आकर उसका मेहमान होने की दावत दी जाती थी। किसी सम्राट् के लिए भी इस तरह का निमंत्रण देना बड़े हौसले का काम था। कहने की ज़रूरत नहीं कि बहुत-से आदमी आते थे और रोज़ क़रीब एक लाख आदमी हर्ष के मेहमान बनकर भोजन करते थे! इस मेले में हर पांचवें वर्ष हर्ष अपने ख़जाने की सारी बचत,—सोना, ज़ेवर, रेशम, वग़ैरा जो कुछ उसके पास होता था, सब बांट देता था। एक बार उसने अपना राज-मुकुट और क़ीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी बहन राज्यश्री से, एक पुराना मामूली कपड़ा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

श्रद्धालु बौद्ध होने के नाते हर्ष ने खाने के लिए जानवरों की हत्या बन्द करवा दी थी। ब्राह्मणों ने इसपर शायद ज़्यादा एतराज़ नहीं किया, क्योंकि बुद्ध के बाद से ये लोग दिन-पर-दिन ज्यादा शाकाहारी होने लगे थे।

ह्यूएनत्सांग की पुस्तक में एक बड़ी मज़ेदार बात है, जो शायद तुम्हें दिलचस्प मालूम हो। वह लिखता है कि भारत में जब कोई आदमी बीमार पड़ता था, तो वह फौरन सात दिन का उपवास कर डालता था। बहुत लोग तो उपवास के दौरान में ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर बीमारी फिर भी रहती तो दवा लेते थे। उस ज़माने में बीमार पड़ना अच्छी बात नहीं समझी जाती होगी, और न डाक्टरों की ही ज़्यादा मांग रही होगी।

उस ज़माने में भारत में मार्के का एक पहलू यह था कि राजा और सेनाधिकारी विद्वानों और संस्कारवान् लोगों की बहुत इज्ज़त करते थे। भारत में और चीन

में सोच-विचारकर इस बात की कोशिश की गई, और इसमें ख़ूब सफलता भी हुई, कि विद्या और संस्कृति को इज्ज़त की जगह मिले, पाशविक बल या धन-दौलत को नहीं।

भारत में बहुत वर्ष बीतने के बाद ह्यू एनत्सांग फिर उत्तरी पहाड़ों को पार करता हुआ अपने देश लौट गया। सिन्ध नदी में यह डूबते-डूबते बचा और इसके साथ की बहुत-सी क़ीमती पुस्तकें बह गईं। फिर भी यह हाथ से लिखी बहुत-सी पुस्तकें अपने साथ ले गया था और बहुत वर्षों तक इन पुस्तकों के चीनी भाषा में अनुवाद करने में लगा रहा। तांग-सम्राट ने सि-अन-फू में उसका हृदय से स्वागत किया और इसी सम्राट् के कहने पर इसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

इसने तुर्कों का भी हाल लिखा है, जिन्हें इसने मध्य-एशिया में देखा था। यह वह नया कबीला था, जो आगे चलकर पश्चिम की तरफ़ बढ़कर बहुत-सी सल्तनतों को उलटनेवाला था। इसने यह भी लिखा है कि सारे मध्य-एशिया में बौद्ध विहार पाये जाते थे। सच तो यह है कि बौद्ध विहार ईरान, इराक़, ख़ुरासान, मोसल और ठेठ सीरिया की सरहद तक फैले हुए थे। ईरानियों के बारे में ह्यू एनत्सांग लिखता है—"ईरानी लोग विद्या पढ़ने की परवाह नहीं करते, बल्कि अपना सारा वक़्त कला की चीज़ें बनाने में लगाते हैं। जो चीज़ें ये बनाते हैं, आस-पास के देश उनकी बड़ी क़द्र करते हैं।"

उस ज़माने के यात्री कितने अद्भुत होते थे! आजकल की अफ्रीका के भीतरी भागों की या उत्तरी ध्रुव या दक्षिणी ध्रुव की यात्राएं तक भी पुराने ज़माने की इन लंबी-चौड़ी यात्राओं के मुक़ाबले में तुच्छ नज़र आती हैं। पहाड़ों और रेगिस्तानों को पार करते हुए और वर्षों अपने मित्रों और परिवार से बिछुड़े हुए ये लोग मंज़िल-दर-मंज़िल आगे बढते जाते थे। शायद कभी-कभी इन्हें अपने घर की याद भी आती थी। लेकिन उनमें इतना आत्म-गौरव था कि इस बात को ज़बान पर भी नहीं लाते थे। फिर भी एक यात्री ने अपने मन की हल्की-सी झलक हमें दी है। उसने लिखा है कि जब वह एक दूर देश में खड़ा था, उसे अपने घर की याद आई, और वह व्याकुल हो गया। इस यात्री का नाम सुंगयुन था और यह भारत में ह्यू एनत्सांग से सौ वर्ष पहले आया था। वह गान्धार के पहाड़ी देश में था, जो भारत के उत्तर-पश्चिम में है। वह लिखता है—'शीतल मन्द समीर, चिड़ियों के गीत, वसन्त ऋतु के सौन्दर्य में सजे हुए पेड़, बहुत-से फूलों पर फुदकती हुई तितलियां—एक दूर देश में इस मनोहर दृश्य को देखकर सुंगयुन के मन में घर की याद लौट आई और इन विचारों ने उसे इतना उदास कर दिया कि वह बुरी तरह बीमार पड़ गया!"

: ४४ :

# दक्षिण भारत के अनेक राजा और योद्धा और एक महापुरुष

१३ मई, १९३२

सम्राट् हर्ष की ६४८ ई० में मृत्यु हुई। लेकिन उसकी मौत से पहले ही भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर बिलोचिस्तान में एक छोटा-सा बादल दिखाई देने लगा था। यह छोटा-सा बादल उस भारी तूफ़ान का हरकारा था, जो पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी यूरोप पर चढ़ा आ रहा था। अरब में एक नया पैग़म्बर हो गया था। उसका नाम मुहम्मद था। उसने एक नये मजहब का प्रचार किया, जिसे इस्लाम कहते हैं। अपने इस नये मज़हबी जोश से भरे हुए और अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा रखते हुए, ये अरब-निवासी मुल्कों को जीतते हुए तेज़ी के साथ महाद्वीपों को पार करते चले जा रहे थे। यह एक अद्‌भुत साहस का काम था और हमें इस नये बल पर गौर करना चाहिए, जिसने आकर इस दुनिया पर इतना असर डाला। लेकिन इसपर विचार करने से पहले हमें दक्षिण भारत का दौरा करना चाहिए, और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उन दिनों वहां की क्या हालत थी। हर्ष के समय में अरबी मुसलमान बिलोचिस्तान पहुंचे, और उन्होंने थोड़े ही दिन बाद सिन्ध पर क़ब्जा कर लिया। लेकिन वे वहीं रुक गये और अगले तीन सौ वर्षों तक भारत पर मुसलमानों का कोई नया हमला नहीं हुआ। और फिर जो हमला हुआ भी वह अरबों का काम नहीं था, बल्कि मध्य-एशिया के कुछ कबीलों का काम था, जो मुसलमान हो गये थे।

इसलिए हम दक्षिण की ओर चलते हैं। भारत के पश्चिम में और मध्य में चालुक्य-साम्राज्य था। इसमें ज़्यादातर महाराष्ट्र के प्रदेश थे और इसकी राजधानी बदामी थी। ह्यूएनत्सांग महाराष्ट्रियों की और उनकी दिलेरी की बहुत तारीफ़ करता है। वह लिखता है कि ये लोग "युद्ध-प्रिय और अभिमानी प्रकृति-वाले, उपकार के लिए एहसानमन्द और अपकार का बदला लेनेवाले होते हैं।" चालुक्यों को उत्तर में हर्ष की, दक्षिण में पल्लवों की, और पूर्व में कलिंग की रोक-थाम करनी पड़ती थी। पर इनकी शक्ति बढ़ती गई और ये समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गये। लेकिन बाद में राष्ट्रकूटों ने उन्हें पीछे ढकेल दिया।

इस तरह दक्षिण भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य और राज्य फूलते-फलते रहे। कभी इनके पलड़े बराबर हो जाते, और कभी उनमें से कोई एक बढ़कर दूसरे को दबा देता। पांड्य राजाओं के समय में मदुरा संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र था। यहां तमिल भाषा के कितने ही कवि और लेखक जमा हो गये थे। तमिल भाषा

की कई प्राचीन पुस्तकें ईसवी सन् के शुरू की लिखी हुई हैं। पल्लवों के भी कभी शान के दिन थे। इनकी राजधानी कांचीपुर थी, जिसे आजकल कांजीवरम् कहते हैं। मलेशिया में नया उपनिवेश बसाने में बहुत-कुछ इन्हींका हाथ था।

इसके बाद चोल-साम्राज्य शक्तिशाली हो गया और नवीं सदी के बीच के लगभग इसने दक्षिण भारत पर प्रभुत्व जमा लिया। यह एक समुद्री शक्ति था, और इसके पास बहुत बड़ी जल-सेना थी, जिससे इसने बंगाल की खाड़ी और अरब सागर पर प्रभुत्व क़ायम कर लिया था। इसका मुख्य बन्दरगाह कावेरी-पड्डिनम् कावेरी नदी के मुहाने पर बसा था। विजयालय चोल-साम्राज्य का पहला महान् राजा था। चोल उत्तर की ओर फैलते गये, पर अन्त में राष्ट्रकूटों ने उन्हें अचानक हरा दिया। लेकिन राजराजा ने चोल राज-वंश को फिर से ताक़तवर बनाकर उसकी खोई हुई शान फिर क़ायम कर दी। यह दसवीं सदी के अन्त की बात है, जब उत्तर भारत में मुसलमानों के हमले हो रहे थे। सुदूर उत्तर में जो घटनाएं हो रही थीं, उनका प्रभाव राजराजा पर कुछ नहीं पड़ा, और वह अपने साम्राज्य को बढ़ाने की कोशिश में बराबर लगा रहा। उसने लंका को जीता, और चोलों ने वहां सत्तर वर्ष राज्य किया। राजराजा का पुत्र राजेन्द्र भी उसी की तरह ज़बर्दस्त और लड़ाकू था। उसने दक्षिण बर्मा को जीता। इसके लिए वह अपने साथ लड़ाई के हाथियों को जहाज़ों में लादकर ले गया था। उसने उत्तर भारत पर भी धावा मारा और बंगाल के राजा को हरा दिया। इस प्रकार चोल-साम्राज्य का विस्तार बहुत फैल गया। गुप्त-साम्राज्य के बाद सबसे बड़ा साम्राज्य यही था। लेकिन यह बहुत दिन तक टिक नहीं सका। राजेन्द्र एक महान योद्धा था, लेकिन मालूम होता है कि वह बड़ा ज़ालिम भी था, और जिन राज्यों को उसने जीता, उनके दिलों को जीतने की उसने कोशिश नहीं की। राजेन्द्र ने १०१३ ई० से १०४४ ई० तक राज किया। उसकी मृत्यु के बाद बहुत-से अधीन राजाओं के विद्रोह ने चोल-साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

अपनी इन सैनिक सफलताओं के अलावा चोल लोग बहुत दिनों तक अपने समुद्री व्यापार के लिए मशहूर थे। उनके बनाये हुए सुन्दर सूती कपड़ों की बड़ी मांग थी। उनका बन्दरगाह कावेरीपड्डिनम् बड़े चहल-पहल की जगह था। यहां दूर-दूर देशों से माल लेकर जहाज़ आते थे और यहां से माल ले जाते थे। वहांपर यवनों यानी यूनानियों की भी एक बस्ती थी। महाभारत में भी चोलों का ज़िक्र पाया जाता है।

मैंने दक्षिण भारत के कई सौ वर्षों का हाल, जहांतक हो सका संक्षेप में, तुम्हें बताने की कोशिश की है। थोड़े शब्दों में कहने की इस कोशिश से शायद तुम घपले में पड़ जाओगी। लेकिन हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम अलग-अलग

राज्यों और राजवंशों की भूल-भुलैयां में खो जायं। हमें तो संसार पर विचार करना है और अगर उसके एक छोटे-से हिस्से में ही ज़्यादा वक़्त गंवा दें, फिर चाहे वह हिस्सा वही क्यों न हो जहां हम रहते हैं, तो हम बाक़ी हिस्सों का वर्णन कभी पूरा ही न कर सकेंगे।

लेकिन राजाओं और उनकी विजयों से भी ज्यादा महत्वपूर्ण उस समय की संस्कृति और कला का लेखा है। उत्तर भारत की बनिस्बत दक्षिण में कला से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ज़्यादा अवशेष पाये जाते हैं। उत्तर की बहुत-सी याद-गारें, इमारतें और पत्थर की मूर्तियां युद्धों और मुसलमानी हमलों में नष्ट हो गई। दक्षिण भारत में ये चीजें मुसलमानों के पहुंचने के बाद भी बच गई। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उत्तर भारत की बहुत-सी सुन्दर यादगारें नष्ट कर दी गई। जो मुसलमान उत्तर भारत में आये—और याद रक्खो कि वे मध्य एशिया के निवासी थे न कि अरब के—उनमें अपने मज़हब के लिए जोश भरा था और वे मूर्तियों को नष्ट कर देना चाहते थे। लेकिन इन मूर्तियों के नष्ट हो जाने की शायद यह भी एक वजह थी कि पुराने मन्दिरों से क़िलों और गढ़ों का काम लिया जाता था। दक्षिण के बहुत-से मन्दिर अब भी क़िलों की तरह मालूम होते हैं, जहां लोग हमला होने पर अपना बचाव कर सकते हैं। इस तरह, ये मन्दिर पूजा के अलावा और भी बहुत-से कामों में आते थे। मन्दिरों में ही गांव के स्कूल होते थे, गांव की चौपाल होती थी, पंचायतघर होता था, और अन्त में अगर ज़रूरत होती तो दुश्मनों से रक्षा के लिए वे ही क़िले हो जाते थे। इस तरह गांव की सारी ज़िन्दगी मन्दिर के चारों ओर घूमा करती थी और ऐसी हालत में इन मन्दिरों के पुजारी और ब्राह्मण ही कुदरती तौर पर सबके ऊपर रौब जमाते थे। लेकिन इस बात से कि इन मन्दिरों से कभी-कभी क़िलों का काम भी लिया जाता था, तो हम समझ सकते हैं कि मुसलमान हमलावर मन्दिरों को क्यों नष्ट कर देते थे।

इसी ज़माने का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर तंजौर में है, जिसे चोल-सम्राट राजराजा ने बनवाया था। बदामी में भी बहुत सुन्दर मंदिर हैं, और कांजीवरम् में भी। लेकिन उस ज़माने की सबसे अद्‌भुत इमारत एलोरा का कैलाश मंदिर है, जो चट्टान काटकर बनाने की कारीगरी का चमत्कार है। इस मन्दिर को बनाने का काम आठवीं सदी के आखिरी हिस्से में शुरू हुआ था। कांसे की मूर्तियों के भी बहुत-से सुन्दर नमूने मिलते हैं। इनमें नटराज यानी शिव के तांडव-नृत्य की मूर्ति बहुत मशहूर है।

चोल-सम्राट् राजेन्द्र प्रथम ने चोलापुर में सिंचाई के लिए एक ज़बरदस्त बांध बनवाया जो ठोस चूने का था और सोलह मील लम्बा था। बांध और नहरों के बनने के सौ वर्ष बाद एक अरब यात्री अलबेरूनी वहां गया और इन्हें देखकर

चकित हो गया। वह लिखता है—"हमारे देशवासी इन्हें देखकर ताज्जुब करते हैं और उनका बयान नहीं कर पाते, इनके समान कोई चीज बनाना तो दूर रहा।

मैंने इस पत्र में कई राजाओं और राजवंशों का ज़िक्र किया है, जिन्होंने कुछ दिन तक शान का जीवन बिताया और फिर ग़ायब और विस्मृत हो गये। लेकिन इसी समय दक्षिण भारत में इससे भी ज्यादा निराले व्यक्ति ने जन्म लिया, जिसने भारत की जिन्दगी में सारे राजाओं व सम्राटों से भी ज्यादा महत्व का हिस्सा लिया है। यह नवयुवक शंकराचार्य के नाम से मशहूर है। शायद वह आठवीं सदी के अन्त में पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति था। वह हिन्दू धर्म के, या हिन्दू धर्म के एक विशेष बुद्धिवादी रूप के, जिसे शैव मत कहते हैं, पुनरुद्धार में लग गया। वह अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्ध धर्म के खिलाफ़ लड़ा। बौद्ध संघ की तरह इसने भी संन्यासियों का संघ बनाया, जिसमें सब जातियों के लोग शामिल हो सकते थे। उसने संन्यासियों के संघ के चार केन्द्र भारत के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व के चारों कोनों में स्थापित किये। उसने सारे भारत की यात्रा की, और जहां-कही भी वह गया, सफल हुआ। वह एक विजेता के रूप में बनारस आया। पर वह बुद्धि को जीतनेवाला और तर्क में जीतनेवाला विजेता था। अन्त में वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहां सदा जमी रहनेवाली बर्फ़ की शुरूआत होती है, और वहीं उसकी मृत्यु हुई। जब वह मरा उसकी उम्र केवल बत्तीस वर्ष या शायद इससे कुछ ही ज्यादा थी।

शंकराचार्य के कामों का लेखा अद्भुत है। बौद्ध धर्म, जो उत्तर भारत से दक्षिण भगा दिया गया था, अब भारत से क़रीब-क़रीब ग़ायब हो गया। हिन्दू-धर्म और शैव-मत का कहलानेवाला उसका एक रूप सारे देश में फैल गया। शंकर के ग्रन्थों, भाष्यों और तर्कों से सारे देश में बौद्धिक हलचल मच गई। शंकर सिर्फ़ ब्राह्मणों ही का महान नेता नहीं बन गया, बल्कि मालूम होता है, उसने जन-साधारण के चित्त को भी मोह लिया। यह एक असाधारण बात मालूम होती है, कि कोई आदमी सिर्फ़ अपनी बुद्धि के बल पर एक महान नेता बन जाय, और फिर करोड़ों आदमियों पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बड़े योद्धा और विजेता इतिहास में नाम कर जाते हैं। वे या तो लोकप्रिय हो जाते हैं या नफरत के पात्र, और कभी-कभी वे इतिहास को भी ढालते हैं। महान धार्मिक नेताओं ने करोड़ों के दिलों को हिला दिया है और उनमें जोश की आग भर दी है। लेकिन यह सब कुछ हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। उन्होंने भावनाओं को अपील की है और उनपर असर डाला है।

मन और बुद्धि को जो अपील की जाती है, उसका असर बहुत ज्यादा नहीं होता। बदक़िस्मती से ज्यादातर लोग विचार नहीं करते; वे तो सिर्फ़ महसूस

करते हैं और अपनी भावनाओं के मुताबिक बर्ताव करते हैं। लेकिन शंकर की अपील मन और बुद्धि को और विवेक को ही होती थी। यह किसी पुरानी पुस्तक में लिखे रूढ़ मत का दोहराना नहीं था। उसका तर्क ठीक था या ग़लत, इसका विचार इस समय फ़िज़ूल है। दिलचस्पी की बात तो यह है कि उसने धार्मिक समस्याओं पर बुद्धिवादी तरीके से विचार किया। और इससे भी ज्यादा दिलचस्प यह बात है कि इस तरीके के बावजूद भी उसने सफलता पाई। इससे हमें उस समय के शासक-वर्गों की मनोदशा की एक झलक मिलती है।

शायद तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम हो कि हिन्दू दार्शनिकों में एक व्यक्ति चार्वाक नाम का भी हुआ है, जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार किया है; यानी जो कहा करता था कि ईश्वर नहीं है। आज बहुत-से ऐसे आदमी हैं, ख़ासकर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। लेकिन यहां हमें इस सवाल की गहराई में जाने की ज़रूरत नहीं है। मतलब की बात यह है कि पुराने ज़माने में भारत में विचार और प्रचार की कितनी आज़ादी थी। उस वक्त वह आज़ादी थी जिसे ईमान की आज़ादी कहा जाता है। यह बात यूरोप में अभी तक नहीं थी, और आज भी इस मामले में कुछ पाबन्दियां हैं।

शंकर की थोड़ी लेकिन सरगर्म जिन्दगी से दूसरी सचाई यह ज़ाहिर होती है कि सारे भारत में सांस्कृतिक एकता थी। यह एकता प्राचीन इतिहास में लगातार मानी गई है। भूगोल के लिहाज़ से, तुम जानती हो, भारत क़रीब-क़रीब एक इकाई है। राजनैतिक लिहाज से भारत अक्सर टुकड़ों में बंटा रहा है, हालांकि कभी-कभी सारा देश एक ही केन्द्रीय सत्ता के अधीन भी रहा। लेकिन संस्कृति के लिहाज़ से यह देश हमेशा से एक रहा, क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि , इसकी परम्पराएं, इसके मजहब, इसके वीर और वीरांगनाएं, इसकी पौराणिक गाथाएं, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (संस्कृत), देशभर में बिखरे हुए इसके तीर्थस्थान, इसकी ग्राम-पंचायतें, इसकी विचारधारा, और इसकी शासन-प्रणाली, शुरू से एक-से चले आ रहे हैं। औसत भारतवासी की नज़र में सारा भारत 'पुण्यभूमि' था और बाकी की दुनिया में ज्यादातर म्लेच्छ और बर्बर लोग रहते थे। इस तरह भारतीयता की एक आम भावना पैदा हुई है, जिसने देश के राजनैतिक विभाजनों की ज्यादा परवाह नहीं की; बल्कि उनपर विजय हासिल की। यह बात ख़ास तौर से इसलिए हो सकी कि गांवों में पंचायती राज की प्रथा क़ायम रही, ऊपर चाहे जो भी परिवर्तन क्यों न होते रहे हों।

शंकर का अपने मठों यानी संन्यासियों के संघ के आश्रमों के लिए भारत के चारों कोनों को चुनना, इस बात का सबूत है कि वह भारत को सांस्कृतिक इकाई समझता था। और उसके आन्दोलन की थोड़े ही समय में सारे देश में महान

सफलता यह भी ज़ाहिर करती है कि बुद्धिवादी और संस्कृति की धाराएं कितनी तेज़ी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंच जाती थीं।

शंकर ने शैवमत का प्रचार किया। यह मत दक्षिण में खास तौर से फैला, जहां ज्यादातर पुराने मन्दिर शिव के हैं। उत्तर में गुप्तों के ज़माने में वैष्णवधर्म का और कृष्ण-भक्ति का फिर से भारी प्रचार हुआ। हिन्दू-धर्म के इन दोनों सम्प्रदायों के मन्दिर एक दूसरे से बिल्कुल जुदे हैं।

यह पत्र बहुत बड़ा हो गया। लेकिन मुझे अब भी मध्यकालीन भारत के बारे में बहुत-कुछ कहना बाक़ी है। इसलिए यह काम दूसरे पत्र के लिए मुल्तवी कर देना ठीक होगा।

: ४५ :

# मध्य युगों का भारत

१४ मई, १९३२

तुम्हें याद होगा मैंने तुमसे अशोक के दादा चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री चाणक्य या कौटिल्य के लिखे हुए अर्थशास्त्र का ज़िक्र किया था। इस ग्रन्थ में उस ज़माने की शासन-प्रणाली और उस ज़माने के लोगों के बारे में सब तरह की बातें लिखी हैं, मानो एक खिड़की खुल गई हो, जिसमें से हम ईसा पूर्व की चौथी सदी के भारत की एक झांकी देख सकते हैं। ऐसी पुस्तकें, जिनमें प्रशासन की अन्दरूनी बातों का ब्यौरेवार हाल हो, बादशाहों और उनकी देश-विजयों के बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किये गए बयानों से कहीं ज्यादा उपयोगी होती हैं।

एक दूसरी भी पुस्तक है, जिससे मध्य युगों के भारत के बारे में हम कुछ अन्दाज़ लगा सकते हैं। यह शुक्राचार्य का नीतिसार है। वैसे यह पुस्तक इतनी अच्छी और सहायक नहीं, जितना कि अर्थशास्त्र है; लेकिन कुछ इसकी मदद से और कुछ शिलालेखों और दूसरे विवरणों की मदद से, हम ईसा के बाद की नवीं और दसवीं सदी की एक झांकी देखने की कोशिश करेंगे।

नीतिसार में लिखा है कि "न तो वर्ण से, और न कुलीनता से ब्राह्मणोचित गुण उत्पन्न होते हैं।" इसलिए इस ग्रन्थ के अनुसार जाति-भेद जन्म से नहीं, बल्कि गुण से होना चाहिए। एक दूसरी जगह इसमें लिखा है—"राजकीय नियुक्तियां करते समय जाति या कुल का नहीं बल्कि कर्म, चरित्र और योग्यता का विचार करना चाहिए।" राजा को चाहिए कि वह खुद अपने मत के अनुसार नहीं बल्कि जनता के बहुमत के अनुसार काम करे। "लोकमत राजा से भी ज्यादा शक्तिशाली

है, जैसे बहुत-से रेशों की बनी हुई रस्सी शेर को भी घसीटने की सामर्थ्य रखती है।"

ये सब बड़े बढ़िया सूत्र हैं और कोरे सिद्धान्तों की तरह आज भी अच्छे हैं। लेकिन सचाई यह है कि व्यवहार में ये हमारे बहुत ज़्यादा काम नहीं आ सकते। माना कि गुण और योग्यता से आदमी ऊंचा उठ सकता है, लेकिन वह गुण और योग्यता हासिल कैसे करे ? कोई लड़का या लड़की भले ही काफी तेज़ हो और उचित शिक्षा व प्रशिक्षण से चतुर और कुशल भी शायद बन जाय; लेकिन अगर पढ़ने-लिखने या सिखाने का कोई इन्तज़ाम ही न किया जाय तो बेचारा लड़का या लड़की क्या करे ?

इसी तरह लोकमत क्या है ? किसका मत लोकमत समझा जाय ? शायद 'नीतिसार' का लेखक शूद्रों की बड़ी संख्या को मत देने का हक़दार नहीं समझता था। इन लोगों की कोई गिनती नहीं थी। शायद सिर्फ़ ऊँचे और शासक वर्गों का मत ही लोकमत समझा जाता था।

फिर भी यह बात ध्यान देने लायक़ है कि पहले की तरह ही मध्य युगों की भारतीय शासन-प्रणाली में राजाओं की निरंकुशता या उनके दैवी अधिकार के लिए कोई जगह नहीं थी।

इस पुस्तक में राजा की राज्य-परिषद् का, सार्वजनिक निर्माण और पार्कों व जंगलों के अधिकारियों का, कस्बों व गांवों के संगठित जीवन का, पुलों, घाटों, धर्मशालाओं, सड़कों और शहर या गांव के लिए सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण नालियों का भी ज़िक्र है।

गांव के मामलों में गांव की पंचायत को पूरा अख़्तियार था और राजा के कर्मचारी पंचों की बड़ी इज़्ज़त करते थे। पंचायत ही खेती के लिए ज़मीनें देती थी, लगान वसूल करती थी और गांव की तरफ़ से सरकार को मालगुजारी अदा करती थी। इन सबके ऊपर शायद एक बड़ी पंचायत या महासभा होती थी जो इन छोटी पंचायतों की निगरानी करती थी और ज़रूरत पड़ने पर उनके मामलों में दख़ल भी देती थी। इन पंचायतों को अदालती अख़्तियार भी हासिल थे। ये अदालतों की हैसियत से काम कर सकती थीं और लोगों के मुक़दमों का फ़ैसला कर सकती थीं।

दक्षिण भारत के पुराने शिलालेखों से पता लगता है कि पंचों का चुनाव कैसे होता था, कौन-कौन लोग पंच बन सकते थे और कौन-कौन नहीं। अगर कोई पंच सार्वजनिक धन का हिसाब नहीं देता था, तो वह पंच होने का हक़ खो बैठता था। दूसरा एक बहुत दिलचस्प क़ायदा शायद यह था कि पंचों के नज़दीकी रिश्तेदार नौकरियां नहीं पा सकते थे। अगर यही क़ायदा आज हमारी कौंसिलों,

असेम्बिलियों और म्युनसिपैलिटियों में लागू कर दिया जाय तो कितना अच्छा हो ! एक समिति के सदस्यों में एक स्त्री का नाम भी आया है। इससे ज़ाहिर होता है कि स्त्रियां भी पंचायतों और उनकी समितियों की सदस्य बन सकती थीं।

पंचायतों के चुने हुए सदस्यों में से समितियां बनाई जाती थीं और हरेक समिति साल भर के लिए होती थी। अगर कोई सदस्य बेजा हरकत करता था तो वह फ़ौरन हटा दिया जाता था।

ग्रामीण स्वराज्य की यह प्रणाली आर्य-शासन-व्यवस्था की बुनियाद थी। इसीकी वजह से उसमें इतनी मज़बूती थी। गांव की ये पंचायतें अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए इतनी जागरूक थीं कि यह कायदा बना दिया गया था कि बिना राजाज्ञा के कोई भी सिपाही किसी गांव में घुस नहीं सकता था। नीतिसार में लिखा है कि अगर प्रजा राजा से किसी कर्मचारी की शिकायत करे, तो राजा को "चाहिए कि वह अपनी प्रजा का पक्ष ले, न कि अपने कर्मचारी का।" और अगर बहुत-से लोग किसी कर्मचारी की शिकायत करें तो उसे बरखास्त कर देना चाहिए, क्योंकि नीतिसार में लिखा है, "अधिकार का मद पीकर किसको नशा नहीं होता ?" बुद्धिमानी की ये बातें ख़ासकर आज हमारे देश के उन ढेरों अफसरों पर लागू होती दिखाई देती हैं, जो ईमानदारी से काम नहीं करते और हमारे ऊपर बुरी हुकूमत करते हैं !

बड़े शहरों में, जहां बहुत-से दस्तकार और व्यापारी रहते थे, व्यापारियों और दस्तकारों के संघ या निकाय होते थे। यानी दस्तकारों और साहूकारों की श्रेणियां होती थीं और व्यापारियों के निगम होते थे। धार्मिक संस्थाएं तो थीं ही। इन सब संस्थाओं का अपने अन्दरूनी मामलों पर बहुत काफ़ी नियन्त्रण रहता था।

राजा के लिए यह हिदायत थी कि जनता पर हलके कर लगावे, जिससे उसे नुकसान न पहुंचे और उसपर भारी बोझ न पड़ जाय। राजा को टैक्स उस तरह वसूल करने चाहिए जैसे माला बनानेवाला जंगल के पेड़ों से फूल और पत्तियां चुनता है, जलाकर कोयला बनानेवाले की तरह नहीं।

ऐसा बिखरा हुआ हाल हमें भारत के मध्य युगों के बारे में मिलता है। यह पता लगाना ज़रा मुश्किल है कि पुस्तकों में नीति की जो बातें लिखी हुई हैं, उनपर किस हद तक अमल होता था। पुस्तकों में ऊंचे-ऊंचे सिद्धान्तों और आदर्शों की बातें लिखना बहुत आसान होता है, लेकिन ज़िन्दगी में उनपर अमल करना मुश्किल होता है। पर इन पुस्तकों में हमें उस ज़माने के लोगों के आदर्शों और विचारों को समझने में मदद मिलती है, चाहे वे इनपर पूरी तरह अमल न

कर पा सके हों। हम यह पता चलता है कि राजा और शासक निरंकुश नहीं होते थे; चुनी हुई पंचायतें उनके अधिकारों पर नियंत्रण रखती थीं। हमें यह भी पता चलता है कि गांवों और शहरों में स्वशासन की प्रणाली काफ़ी उन्नत थी और केन्द्रीय सरकार उसमें कोई दखल नहीं देती थी।

लेकिन जब मैं जनता की विचारधारा की या स्वशासन की बात करता हूं, तब इसका मतलब क्या है? भारत का सारा समाजी ढांचा जाति-प्रथा पर बना हुआ था। सिद्धान्त में, सम्भव है, जाति-व्यवस्था कठोर न रही हो और, जैसा कि नीतिसार में लिखा है, गुण और कर्म के अनुसार मानी जाती रही हो; लेकिन अमल में इस सिद्धान्त के कुछ अर्थ नहीं रह गये थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही शासक-वर्ग या [illegible] थीं। कभी-कभी इनमें आपस में प्रभुता के लिए झगड़े होते थे। लेकिन ज़्यादातर ये लोग मिल-जुलकर शासन करते थे और एक-दूसरे का लिहाज़ रखते थे। पर दूसरी जातियों को ये दबाये रहते थे। धीरे-धीरे जब व्यापार-वाणिज्य बढ़े, व्यापारी वर्ग धनवान और महत्वपूर्ण हो गया, और जब इसका महत्व बढ़ा तो इसे कुछ रियायतें मिल गईं और अपनी श्रेणियों के अन्दरूनी मामलों को निबटाने के अधिकार मिल गये। लेकिन फिर भी इस वर्ग को राज्य-सत्ता का कोई असली हिस्सा नहीं मिला। और बेचारे शूद्र तो बराबर सबसे नीच बने रहे। कुछ लोग इनमें से भी ज़्यादा नीच समझे जाते थे।

कभी-कभी नीची जातियों के लोग भी ऊंचाई पर पहुंच जाते थे। शूद्र राजा तक भी हुए हैं। लेकिन ऐसा बहुत ही कम होता था। समाजी जीने पर ऊंचा उठने का तरीका अक्सर यह था कि कोई उपजाति सारी-की-सारी एक सीढ़ी ऊपर उठ जाती थी। नये क़बीले पहले नीची जातियों में शामिल होकर हिन्दू धर्म में घुल-मिल जाते थे और फिर धीरे-धीरे ऊंचे उठते जाते थे।

इस तरह तुम देखोगी कि भारत में हालांकि पश्चिम की तरह मज़दूरों की गुलामी न थी, फिर भी हमारा सारा समाजी ढांचा दर्जों में बंटा हुआ था, यानी एक के ऊपर एक वर्ग बने हुए थे। ऊपर के सब लोग नीचे दर्जे के लोगों का शोषण करते थे और उसका सारा बोझ इन्हें सहना पड़ता था। और ऊपर के लोग इन बेचारे नीचे के लोगों को शिक्षा का या कोई काम सीखने का मौक़ा ही नहीं आने देते थे ताकि यह व्यवस्था हमेशा बनी रहे और सारे अधिकार उन्हींके हाथ में क़ायम रहें। गांव की पंचायतों में शायद किसानों की कुछ चलती थी और इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी; लेकिन यह बहुत सम्भव है कि कुछ होशियार ब्राह्मण इन पंचायतों पर भी हावी रहे हों।

आर्यों की यह पुरानी शासन-प्रणाली तबसे चली आती थी, जबसे उन्होंने भारत में क़दम रक्खा और द्रविड़ों के सम्पर्क में आये और यह उन मध्य युगों तक

क़ायम रही, जिनका हम जिक्र कर रहे हैं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि गिरावट और कमज़ोरी का सिलसिला बराबर जारी था। शायद यह व्यवस्था जर्जर हो रही थी, और बाहर से होनेवाले विदेशी हमलों ने इसे धीरे-धीरे घिस डाला।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि पुराने जमाने में भारत ने गणित में बड़ी उन्नति की थी और उस समय के बड़े गणितज्ञों में एक स्त्री—लीलावती का भी नाम लिया जाता है। कहते हैं कि लीलावती और उसके पिता भास्कराचार्य ने, और शायद एक दूसरे व्यक्ति ब्रह्मगुप्त ने, सबसे पहले दाशमिक प्रणाली निकाली थी। बीजगणित भी भारत में ही निकला बताया जाता है। भारत से यह अरब गया, और अरब से यूरोप पहुंचा। बीजगणित का अंग्रेजी नाम 'एलजब्रा' अरबी शब्द है।

: ४६ :

# शानदार अंगकोर और श्रीविजय

**१७ मई, १९३२**

अब थोड़ी देर के लिए सुदूर भारत की सैर करे। सुदूर भारत उन उपनिवेशों और बस्तियों को कहते हैं जो दक्षिण भारत के लोगों ने मलेशिया और हिन्द-चीन में जाकर क़ायम की थीं। मैं पहले बता चुका हूं कि ये बस्तियां किस तरह इरादा करके व्यवस्थित ढंग से बसाई गई थीं। ये कोई आप-ही-आप नहीं बन गई थीं। इरादा करके कई जगह एक साथ उपनिवेशों का बसाया जाना ज़ाहिर करता है कि उस ज़माने में समुद्र यात्राएं खूब होती होंगी और समुद्री रास्तों पर काफ़ी अधिकार रहा होगा। मैंने तुम्हें बताया है कि ये उपनिवेश ईसवी सन् की पहली और दूसरी सदी में शुरू हुए थे। ये सब हिन्दू उपनिवेश थे और इनके नाम दक्षिण भारतीय थे। कई सदियों के बाद यहां बौद्ध धर्म धीरे-धीरे फैला और सारा मलेशिया हिन्दू से बौद्ध हो गया।

पहले हम हिंद-चीन को चलें। सबसे पुराने उपनिवेश का नाम चम्पा था, और यह अनाम में था। हमें पता चलता है कि ईसा की तीसरी सदी में अनाम में पाण्डुरंगम शहर बढ़ रहा था और यहीं दो सौ वर्ष बाद काम्बोज का भी एक बड़ा शहर बसाया गया। इसमें पत्थर की आलीशान इमारतें और मन्दिर थे। इन भारतीय उपनिवेशों में सब जगहों पर आलीशान इमारतें बन रही थीं। इमारतें बनानेवाले शिल्पकार और राजगीर भारत से समुद्र पार ले जाये गए होंगे और इन लोगों ने वहां इमारतें बनाने में भारत की परम्पराओं को जारी रक्खा। जुदा-जुदा राज्यों और टापुओं में इमारतें बनाने के मामले में खूब होड़ चली और इस होड़ के नतीजे से ऊंचे दर्जे की कला का विकास हुआ।

इन उपनिवेशों में रहनेवाले लोग स्वभाव से ही समुद्र-यात्री थे। इन लोगों ने या इनके पुरखों ने, यहां पहुंचने के लिए समुद्र तो पार किया ही था और अब इनके चारों ओर समुद्र-ही-समुद्र था। समुद्र-यात्री लोग बहुत आसानी से व्यापार करने लगते हैं, इसलिए ये लोग भी व्यापारी और सौदागर हो गये और अपना सौदा बहुत-से टापुओं को, पश्चिम में भारत को और पूर्व में चीन को, ले जाते थे। इसलिए मलेशिया के बहुत-से राज्यों पर ज्यादातर व्यापारी-वर्गों का क़ब्ज़ा था। इन राज्यों में आपस में अक्सर संघर्ष होते रहते थे। बड़े-बड़े युद्ध और हत्याकांड भी होते थे। कभी कोई हिन्दू-राज्य, किसी बौद्ध राज्य के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ देता था। लेकिन मालूम होता है कि उस ज़माने के इन बहुत-से युद्धों की असली वजह व्यापारिक होड़ रही होगी। जैसे आजकल बड़ी-बड़ी शक्तियों में अपने-अपने देश के बने माल को खपाने के लिए मंडियों के लिए युद्ध होते हैं।

लगभग तीन सौ वर्षों तक, यानी आठवीं सदी तक, हिंद-चीन में तीन अलग-अलग हिन्दू राज्य थे। नवीं सदी में एक बहुत बड़ा राजा हुआ, जिसका नाम जयवर्मन था। इसने इन राज्यों को एक कर दिया और एक बहुत बड़ा साम्राज्य क़ायम किया। यह शायद बौद्ध था। इसने अपनी राजधानी अंगकोर को बनाना शुरू किया और इसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन ने उसे पूरा किया। यह काम्बोजी साम्राज्य क़रीब ४०० वर्ष तक कायम रहा। जैसा सब साम्राज्यों के बारे में कहा जाता है, यह भी बड़ा ताकतवर और शानदार साम्राज्य समझा जाता था। 'अंगकोर थोम' का राजनगर सारे पूर्व में 'शानदार अंगकोर' के नाम से मशहूर था। इसकी आबादी दस लाख से ऊपर थी, जो सीज़रों के रोम से ज़्यादा थी। इसके पास ही 'अंगकोर वाट' का अद्‌भुत मन्दिर था। तेरहवीं सदी में काम्बोज़ पर कई दिशाओं से हमला हुआ। अनामी लोगों ने पूर्व की ओर से हमला किया और पश्चिम की ओर से यहीं के कबीलों ने। उत्तर में शान लोगों को मंगोलों ने दक्षिण की ओर खदेड़ दिया था और भागने का कोई दूसरा रास्ता न देखकर इन्होंने काम्बोज़ पर हमला कर दिया। यह राज्य इस तरह, बराबर लड़ाई करते-करते और अपनी हिफाज़त करते-करते, बिलकुल पस्त हो गया। फिर भी अंगकोर पूर्व का एक सबसे ज्यादा शानदार शहर बना रहा। १२९७ ई० में, एक चीनी दूत ने, जो काम्बोज के राजा के दरबार में भेजा गया था, अंगकोर की अद्‌भुत इमारतों की बड़ी तारीफ़ की है।

लेकिन अचानक अंगकोर पर भयंकर आफ़त आ गई। १३०० ई० के क़रीब दलदल जमा हो जाने से मीकांग नदी का मुहाना बन्द हो गया। नदी के पानी को बहने का रास्ता न मिलने से वह पीछे लौटकर इस विशाल शहर के चारों तरफ़ की ज़मीन में भर गया, जिससे सारे उपजाऊ खेत दलदल बनकर बेकार हो गये।

शहर की बड़ी आबादी भूखों मरने लगी और शहर छोड़कर दूसरी जगहों पर जान के लिए मजबूर हो गई। इस तरह शानदार अंगकोर उजड़ गया और उसपर जंगल छा गया। उसकी अद्‌भुत इमारतों में कुछ दिनों तक तो जंगली जानवरों का वास रहा, लेकिन अंत में जंगलों ने महलों को मिट्टी में मिलाकर निष्कण्टक राज्य क़ायम कर लिया।

काम्बोज राज्य इस आफ़त के बाद बहुत दिनों तक ज़िन्दा नहीं रह सका। वह धीरे-धीरे नष्ट होते-होते एक प्रान्त रह गया जिस पर कभी अनाम हुकूमत करता था और कभी स्याम। लेकिन आज भी अंगकोरवाट के विशाल मंदिर के खण्डहर हमें बताते हैं कि कभी इस मन्दिर के पास एक बांका और आलीशान शहर बसा हुआ था, जहां दूर देशों के सौदागर अपना माल लेकर आते थे और जहां के निवासियों और कारीगरों की बनाई हुई बढ़िया चीज़ें दूसरे देशों को जाया करती थीं।

हिंद-चीन से थोड़ी ही दूर समुद्र के उस पार सुमात्रा का टापू था। यहां भी दक्षिण भारत के पल्लवों ने ईसा की पहली और दूसरी सदी में अपने नये उपनिवेश बसाये थे। ये उपनिवेश धीरे-धीरे बढ़ गये। मलाया का प्रायद्वीप बहुत पहले ही सुमात्रा राज्य का हिस्सा बन गया था और उसके बाद बहुत दिनों तक सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप के इतिहास आपस में मिले-जुले रहे। श्रीविजय नामक बड़ा शहर, जो सुमात्रा के भीतर पहाड़ों में बसा हुआ है, इस राज्य की राजधानी था। पालेमबांग नदी के मुहाने पर इसका एक बन्दरगाह था। पांचवीं या छठी सदी में बौद्धधर्म सुमात्रा का प्रमुख धर्म बन गया। वास्तव में सुमात्रा ने बौद्धधर्म के प्रचार में बड़े उत्साह से अगुवाई की और आखिर में यह हिन्दू मलेशिया के ज्यादातर हिस्से को बौद्ध बनाने में सफल भी हुआ। इसीलिए सुमात्रा का यह साम्राज्य 'श्री-विजय का बौद्ध साम्राज्य' कहलाता है।

श्रीविजय दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया, यहांतक कि उसके दायरे में सुमात्रा और मलाया ही नहीं, बल्कि फ़िलीपा न, बोर्नियो, सेलेबीज, जावा का आधा हिस्सा, फ़ारमोसा टापू का आधा हिस्सा (जो अब जापान के क़ब्ज़े में हैं),[1] लंका और कैन्टन के पास दक्षिण चीन का एक बन्दरगाह भी आ गया। शायद इस साम्राज्य में भारत के दक्षिणी सिरे पर लंका के सामने का एक बन्दरगाह भी शामिल था। तुम देखोगी कि श्रीविजय का साम्राज्य एक लंबा-चौड़ा साम्राज्य था, जिसमें सारा मलेशिया शामिल था। इन भारतीय उपनिवेशों के मुख्य धन्धे थे वाणिज्य, व्यापार और जहाज़ बनाना। उस ज़माने के चीनी और अरबी लेखकों

[1] फ़ारमोसा—इसे ताइवान भी कहते हैं। आजकल यहां एक कठपुतली शासन है, जो अपने-आपको चीनी गणराज्य मानता है।

ने उन बन्दरगाहों और उपनिवेशों की लम्बी सूचियां दी हैं जो सुमात्रा राज्य की मातहती में थे। ये सूचियां बढ़ती चली गईं।

ब्रिटिश साम्राज्य आज सारी दुनिया में फैला हुआ है। हर जगह उसके बन्दरगाह हैं और जहाज़ों के लिए कोयला भरने के अच्छे स्टेशन हैं, जैसे जिब्राल्टर, स्वेज़ नहर, जिसपर ज़्यादातर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा है,[1] अदन, कोलम्बो,[2] सिंगापुर[3] हांगकांग, वग़ैरा। अंग्रेज़ लोग पिछले तीन सौ वर्षों में एक व्यापारी क़ौम रहे हैं और इनका व्यापार और मज़बूती समुद्री शक्ति पर निर्भर रही है। इसलिए इन लोगों को दुनिया भर में सुविधा के फ़ासलों पर बन्दरगाहों और कोयला भरने के स्टेशनों की ज़रूरत रही है। श्रीविजय साम्राज्य भी व्यापार की बुनियाद पर एक समुद्री शक्ति था। इसलिए जहां उसे क़दम रखने के लिए छोटी-सी भी जगह मिल गई वहीं उसने बन्दरगाह बना लिया। वास्तव में सुमात्रा-राज्य की बस्तियों की निराली बात यह थी कि वे सामरिक महत्व रखती थीं, यानी वे होशियारी के साथ ऐसी जगहों पर बसाई गई थीं जहां से आस-पास के समुद्रों पर क़ाबू रक्खा जा सके। कहीं-कहीं ये बस्तियां जोड़े से बसाई गई थीं, ताकि समुद्रों पर क़ाबू रखने में एक दूसरों की मदद कर सकें।

इस तरह सिंगापुर, जो आज बहुत बड़ा शहर है, शुरू में सुमात्रा के उपनिवेशियों की एक बस्ती था। 'सिंहपुर' : यह नाम ठेठ भारतीय है। जलडमरूमध्य के उस पार सिंगापुर के सामने सुमात्रा के लोगों की एक दूसरी बस्ती भी थी। कभी-कभी ये लोग इस जलडमरूमध्य के आर-पार लोहे की जंज़ीर डाल देते थे और सब जहाज़ों का आना-जाना रोक देते थे, जबतक कि वे भारी चुंगी अदा न कर देते।

इस तरह श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य से कुछ मिलता-जुलता था, हालांकि यह इससे बहुत छोटा ज़रूर था। लेकिन यह जितने दिनों तक क़ायम रहा उतने दिनों तक ब्रिटिश साम्राज्य के बने रहने की सम्भावना नहीं है। ग्यारहवीं सदी में यह साम्राज्य अपनी उन्नति की आख़िरी सीढ़ी पर था। यह क़रीब-क़रीब वही ज़माना था जब दक्षिण भारत में चोल-साम्राज्य का बोलबाला था। लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोल-साम्राज्य के बहुत समय बाद तक भी बना रहा। इन दोनों में बहुत दिनों तक दोस्ती रही। दोनों ही लड़ाकू समुद्र-यात्री लोगों के राज्य थे। दोनों की ही साम्राज्यवादी आकांक्षाएं थीं और ताक़तवर जल-सेनाएँ थीं। दूर-दूर के देशों के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध थे। इसलिए ग्यारहवीं सदी

---

[1] अब स्वेज़ नहर पर संयुक्त अरब गण-राज्य का अधिकार होगया है।

[2] लंका के स्वतंत्र होजाने के कारण कोलंबो पर से भी अंग्रेज़ों का अधिकार खत्म हो गया है।

[3] सिंगापुर को भी १९५९ में औपनिवेशिक स्वराज्य दिया गया है।

के शुरू में इन दोनों में संघर्ष हुआ और युद्ध ठन गया। चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने एक जहाज़ी बेड़ा भेजा, जिसने श्रीविजय को नीचा दिखाया। लेकिन श्रीविजय ने जल्दी ही इस धक्के से गिरी हुई हालत को सुधार लिया।

ग्यारहवीं सदी के शुरू में चीनी सम्राट ने सुमात्रा के राजा के लिए कांसे के कई घंटे उपहार में भेजे थे। इसके बदले में सुमात्रा के राजा ने मोती, हाथीदांत और संस्कृत की पुस्तकें भेजी थीं। एक पत्र भी भेजा था जो, कहते हैं, सोने की चादर पर 'भारतीय लिपि' में लिखा गया था।

दूसरी सदी में अपनी शुरूआत से लगाकर पांचवीं या छठवीं सदी तक श्रीविजय लम्बे काल तक फूला-फला। फिर यह बौद्ध हो गया और फिर ग्यारहवीं सदी तक धीरे-धीरे बराबर तरक्क़ी करता गया। इसके बाद भी तीन सौ वर्षों तक यह एक महान साम्राज्य बना रहा और मलेशिया के व्यापार-वाणिज्य पर इसका अधिकार बना रहा। अन्त में १३७७ ई० में एक पुराने पल्लव उपनिवेश न इसका तख्ता उलट दिया।

मैं बता चुका हूं कि श्रीविजय-साम्राज्य लंका से लगाकर चीन के कैंन्टन नगर तक फैला हुआ था। इन दोनों के बीच के ज्यादातर टापू इस साम्राज्य में शामिल थे। लेकिन यह एक छोटे-से टुकड़े को क़ाबू में नहीं ला सका। यह जावा का पूर्वी हिस्सा था, जो एक स्वाधीन राज्य बना रहा। इसने हिन्दू धर्म को भी नहीं छोड़ा और बौद्ध बनने से इन्कार कर दिया। इस तरह जहां पश्चिमी जावा श्री-विजय के अधीन था वहां पूर्वी जावा स्वाधीन था। पूर्वी जावा का यह हिन्दू राज्य भी व्यापारी राज्य था और अपनी खुशहाली के लिए व्यापार पर निर्भर था। यह सिंगापुर को ईर्ष्या की नज़र से देखता रहा होगा, क्योंकि मौक़े की जगह पर बसा होने से वह एक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र हो गया था। इस तरह श्रीविजय और पूर्वी जावा में लाग-डांट पैदा हुई और बढ़कर कट्टर दुश्मनी बन गई। बारहवीं सदी से आगे जावा राज्य धीरे-धीरे श्रीविजय को दबाकर बढ़ता रहा, यहांतक कि, जैसा मैं लिख चुका हूं, चौदहवीं सदी में, यानी १३७७ ई० में, इसने श्रीविजय को पूरी तरह हरा दिया। यह युद्ध बड़ी बेरहमी से लड़ा गया, और इसमें बड़ा विनाश हुआ। श्रीविजय और सिंगापुर, दोनों नगर तहस-नहस हो गये। इस तरह मलेशिया के दूसरे महान साम्राज्य—श्रीविजय साम्राज्य का अन्त हुआ, और इसके खंडहरों पर मज्जापहित का तीसरा साम्राज्य क़ायम हुआ।

हालांकि पूर्वी जावा के निवासियों ने श्रीविजय के साथ युद्ध में बहुत बेरहमी और क्रूरता दिखाई, फिर भी जावा में पाई गई उस ज़माने की पुस्तकों से मालूम होता है कि यह हिन्दू-राज्य सभ्यता के बहुत ऊंचे दर्जे तक पहुंच चुका था। जिस बात में यह सबसे बढ़ा-चढ़ा था वह इमारतें बनाने की, खासकर मन्दिर बनाने की, कला थी। जावा में पांच सौ से ज्यादा मन्दिर थे, और कहा जाता है कि इन

मन्दिरों में कुछ ऐसे थे, जो पत्थर के काम के दुनिया भर में सबसे ज़्यादा सुन्दर और कलापूर्ण नमूने थे। इन बड़े-बड़े मन्दिरों में से ज़्यादातर सातवीं सदी से दसवीं सदी, यानी ६५० से ९५० ई० के बीच के समय में बने थे। इन विशाल मन्दिरों को बनवाने के लिए जावा के लोगों ने भारत और आस-पास के देशों से बहुत काफ़ी संख्या में होशियार राजगीर और मिस्त्री बुलाये होंगे। जावा और मज्जापहित के उतार-चढ़ाव का ज़िक्र मैं अगले पत्र में करूंगा।

यहां मैं यह भी बता दूं कि बोर्नियो और फ़िलीपाइन दोनों ने लिखने की कला शुरू के पल्लव उपनिवेशियों के मार्फ़त भारत से सीखी थी। बदक़िस्मती से फ़िलीपाइन की बहुत-सी पुरानी हस्त-लिखित पुस्तकें स्पेनवालों ने नष्ट कर डालीं।

यह भी याद रक्खो कि इन टापुओं में बहुत पुराने ज़माने से, इस्लाम से भी बहुत पहले, अरबों की बस्तियां थीं। ये लोग बड़े व्यापारी होते थे, और जहां कहीं व्यापार की गुंजाइश होती वहां अरब लोग ज़रूर पहुंच जाते थे।

: ४७ :

## रोम फिर अन्धकार में गिरता है

१९ मई, १९३२

मैं कई बार महसूस करता हूं कि पुराने इतिहास की भूल-भुलैंया में तुम्हें अच्छी तरह रास्ता नहीं दिखा सकता। मैं खुद ही भटक जाता हूं, फिर तुम्हें ठीक राह कैसे दिखा सकता हूँ ? लेकिन, फिर मैं यह सोचता हूँ कि शायद मैं तुम्हें कुछ फ़ायदा पहुँचा सकूं, इसलिए इन पत्रों को जारी रखता हूँ। इसमें शक नहीं कि ये पत्र मेरी तो बहुत मदद करते हैं। प्यारी बेटी, जब मैं इन्हें लिखने बैंठता हूँ, और तुम्हारा ख़याल करता हूँ, तो मैं भूल जाता हूँ कि जहां मैं बैठा हूँ, वहां छाया में भी तापमान ११२ डिग्री है और गर्म लू चल रही है। और कभी-कभी तो मैं यह भी भूल जाता हूँ कि मैं बरेली की ज़िला जेल में हूँ।

मेरे आख़िरी पत्र ने तुम्हें मलेशिया में चौदहवीं सदी के ठेठ अन्त तक पहुंचा दिया था। लेकिन उत्तर भारत में अभी हम राजा हर्ष के ज़माने यानी सातवीं सदी से आगे नहीं बढ़ सके हैं। और यूरोप में तो हमें अभी बहुत दिनों की कमी पूरी करनी है। सब जगहों पर वक्त का एक ही पैमाना रखना बहुत मुश्किल है। मैं ऐसा करने की कोशिश तो करता हूं, लेकिन कभी-कभी, जैसे अंगकोर और श्रीविजय के मामले में हुआ, मैं सैकड़ों वर्ष आगे बढ़ जाता हूं, ताकि मैं उनकी कहानी को पूरा कर सकूं। लेकिन याद रक्खो कि जब काम्बोज के और श्रीविजय के साम्राज्य पूर्व में फल-फूल रहे थे तब भारत, चीन और यूरोप में तरह-तरह के परिवर्तन हो रहे थे। यह भी याद रक्खो कि मेरे पिछले पत्र में कुछ ही पन्नों में

हिंद-चीन और मलेशिया का एक हज़ार वर्ष का इतिहास समाया हुआ है। एशिया और यूरोप के इतिहास की मुख्य धाराओं से ये दूर पड़ जाते हैं, इसलिए इनपर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता। लेकिन इनका इतिहास लम्बा और शानदार है। इनकी शान नई सफलताओं में, व्यापार में, कला में, ख़ासकर मकान बनाने की कला में, रही है। इसलिए इनका इतिहास अध्ययन करने के क़ाबिल है। भारतवासियों के लिए तो इनकी कहानी ख़ास दिलचस्पी की चीज़ होनी चाहिए, क्योंकि उस ज़माने में ये क़रीब-क़रीब भारत के ही हिस्से थे। भारत के स्त्री-पुरुष समुद्र पार करके अपने साथ भारतीय संस्कृति, सभ्यता, कला और धर्म वहां ले गये थे।

इस तरह, हालांकि, हम मलेशिया में आगे बढ़ गये, पर असल में हम अभी तक सातवीं सदी में ही हैं। हमें अभी अरब पहुँचना है और इस्लाम के आगमन पर, और उसकी वजह से यूरोप और एशिया में होनेवाले बड़े-बड़े परिवर्तनों पर, ग़ौर करना है। इसके अलावा यूरोप की घटनाओं के सिलसिले पर भी हमें नज़र डालनी है।

अब हमें ज़रा लौटकर यूरोप पर फिर एक नज़र डाल लेनी चाहिए। तुम्हें याद होगा कि रोमन सम्राट् कुस्तुन्तीन ने कुस्तुन्तुनिया शहर दर्रे-दानियाल (बास्फ़ोरस) के किनारे उस जगह बसाया था जहां, बिज़ैन्तियम था। साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से हटा कर, वह इस शहर में यानी नये रोम में ले आया था। इसके बाद ही रोमन साम्राज्य दो हिस्सों में बंट गया। पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम और पूर्वी की कुस्तुन्तुनिया हुई। पूर्वी साम्राज्य को बड़ी परेशानियां उठानी पड़ीं और बहुत-से दुश्मनों का मुक़ाबला करना पड़ा। फिर भी ताज्जुब है कि यह सदियों तक, यानी ११०० वर्षों तक, चलता रह सका, जबतक कि तुर्कों ने आकर इसका ख़ातमा नहीं कर दिया।

पश्चिमी साम्राज्य की जिन्दगी ऐसी नहीं रही। बहुत दिनों तक पश्चिमी दुनिया पर हावी रह चुकनेवाले शाही नगर रोम का और रोम के नाम का इतना ज़्यादा रौब होते हुए भी यह साम्राज्य अजीब तेज़ी के साथ ढह गया। यह किसी भी उत्तरी कबीले के हमलों को बर्दाश्त नहीं कर सका। एलरिक, जो गोथ जाति का था, इटली में घुस गया, और इसने ४१० ई० में रोम पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद वण्डाल आये और उन्होंने भी रोम को लूटा। वण्डाल जर्मन जाति के थे। इन्होंने फ्रांस और स्पेन को पार किया और फिर अफ्रीका में घुसकर कार्थेज के खण्डहरों पर अपना राज्य कायम किया। पुराने कार्थेज से इन लोगों ने समुद्र पार करके रोम पर क़ब्ज़ा कर लिया। ऐसा मालूम होता है, मानो प्यूनिक लड़ाइयों में रोम की विजय का इतने दिन बाद बदला लिया गया हो।

इसी ज़माने के लगभग हूण लोग, जो असल में मध्य एशिया या मंगोलिया से आये थे, बड़े शक्तिशाली हो गये थे। ये लोग घुमक्कड़ थे और डैन्यूब नदी के

पूर्व की तरफ़ और पूर्वी रोमन साम्राज्य के उत्तर व पश्चिम में बस गये थे। अपने सरदार अतिला की मातहती में इन्होंने बड़ा ज़ोर बांधा और कुस्तुन्तुनिया के सम्राट और वहां की सरकार पर इनका आतंक बराबर छाया रहता था। अतिला इनको धमकियां देता रहता था और इनसे बड़ी-बड़ी रकमें ऐंठता रहता था। पूर्वी साम्राज्य को काफी नीचा दिखाने के बाद अतिला ने पश्चिमी साम्राज्य पर हमला करने का इरादा किया। उसने गाल प्रदेश पर हमला किया और दक्षिणी फ्रांस के बहुत-से शहर बरबाद कर दिये। शाही फ़ौज तो उसके मुक़ाबले में ठहरती ही नहीं थी। लेकिन वे जर्मन कबीले जिन्हें रोमन लोग बर्बर कहते थे, हूणों के इस हमले से डर गये। इसलिए फ्रैंकों और गोथों ने रोम की शाही फ़ौज का साथ दिया और इन सबने मिलकर त्रोय की बड़ी लड़ाई में हूणों का, जिनका सेनापति अतिला था, मुक़ाबला किया। कहते हैं, इस लड़ाई में डेढ़ लाख आदमी काम आय। अतिला हार गया और मंगोली हूण पीछे हटा दिये गए। यह ४५१ ई० की बात है। लेकिन हार जाने पर भी अतिला में लड़ाई का जोश बाक़ी रह गया था। वह इटली पहुंचा और वहां उसने उत्तर के बहुत-से शहर लूटे और जला दिये। कुछ दिनों बाद ही वह मर गया, लेकिन हमेशा के लिए बेरहमी और क्रूरता की बदनामी छोड़ गया। आज भी अतिला हूण क्रूरताभरे, सत्यानाश का अवतार समझा जाता है। उसकी मृत्यु के बाद हूण ठंडे पड़ गये। वे खेतीबाड़ी करने लगे, और दूसरी बहुत-सी आबादियों में मिल-जुल गये। तुम्हें ख़याल होगा कि यह क़रीब-क़रीब वह ज़माना है, जब सफ़ेद हूण भारत में आये थे।

इसके ४० वर्ष बाद थियोदोरिक, जो गोथ था, रोम का बादशाह हुआ और यही एक तरह से रोम के पश्चिमी साम्राज्य का अन्त था। थोड़े दिनों बाद पूर्वी रोमन साम्राज्य के एक बादशाह ने, जिसका नाम जस्तीनियन था, इटली को अपने साम्राज्य में मिलाने की कोशिश की। इस कोशिश में वह सफल भी हुआ। उसने सिसली और इटली दोनों को जीत लिया। लेकिन कुछ ही समय बाद ये दोनों उसके हाथ से निकल गये, और पूर्वी साम्राज्य को अपनी ही ज़िन्दगी के लाले पड़ गये।

क्या शाही रोम और उसके साम्राज्य का इतनी जल्दी और इतनी आसानी से हरेक हमलावर क़बीले के सामने पस्त हो जाना ताज्जुब की बात नहीं है? इससे कोई यही नतीजा निकालेगा कि रोम के अंजर-पंजर ढीले पड़ गये थे, या वह बिलकुल खोखला था। शायद यह बात सही है। बहुत लम्बे ज़माने तक रोम का रौब ही उसकी ताक़त थी। उसके पुराने इतिहास से प्रभावित होकर लोग उसे सारी दुनिया का नेता समझने लगे थे और उसकी इज़्ज़त करते थे। रोम का डर क़रीब-क़रीब अन्ध-विश्वास बन गया था। इस तरह रोम ज़ाहिरा तौर पर

कोई ताक़त नहीं थी। बाहर से शान्ति थी और उसके नाटकघरों म, बाज़ारों में और अखाड़ों में आदमियों की भीड़ें लगी रहती थीं। लेकिन वह लाज़िमी तौर पर पतन की तरफ़ जा रहा था, सिर्फ इसलिए नहीं कि वह कमज़ोर था; बल्कि इसलिए भी कि उसने जनता की ग़ुलामी और मुसीबतों की बुनियाद पर अमीरों की सभ्यता का महल खड़ा किया था। मैंने अपने एक पत्र में रोम के ग़रीबों के विद्रोह और बलवे का, और ग़ुलामों क उस विद्रोह का, जो बड़ी क्रूरता से दबा दिया गया था, हाल लिखा था। इन विद्रोहों से ज़ाहिर होता है कि रोम का समाजी ढांचा कितना सड़ा हुआ था। वह अन्दर-ही-अन्दर टूक-टूक हो रहा था। गोथ और दूसरे उत्तरी क़बीलों के हमलों ने इस क्रिया को मदद पहुंचाई और इसीलिए उनका कोई विरोध नहीं किया गया। रोमन किसान अपनी मुसीबतों से तंग आ गये थे और वे किसी भी तरह के परिवर्तन का स्वागत करने के लिए तैयार थे। ग़रीब मज़दूर और ग़ुलाम तो और भी बदतर हालत में थे।

पश्चिम के रोमन साम्राज्य के ख़तम होते ही, हम देखते हैं कि पश्चिम की कई क़ौमें गोथ, फ्रैंक, वग़ैरा आगे आईं, जिनके नाम गिनाकर मैं तुम्हें परेशान न करूंगा। ये लोग आजकल की पश्चिमी यूरोपीय जातियों यानी जर्मन, फ़्रान्सीसी, वग़ैरा के पूर्वज थे। हम इन देशों को यूरोप में धीरे-धीरे शकल लेता हुआ देखते हैं। साथ ही हम उस समय वहां एक बहुत नीचे दर्जे की सभ्यता पाते हैं। शाही रोम के अन्त के साथ-साथ रोम की तड़क-भड़क और विलासिता का भी अन्त हो गया, और रोम की छिछली सभ्यता, जो घिसटती आ रही थी, एक दिन में ग़ायब हो गई; क्योंकि इसकी जड़ें तो पहले ही सूख चुकी थीं। इस तरह हम सचमुच मनुष्य जाति के पीछे हटने की एक विचित्र मिसाल देखते हैं। यही चीज़ हमें भारत, मिस्र, चीन, यूनान, रोम, और दूसरी जगहों पर देखने को मिलती है। मेहनत के साथ ज्ञान और अनुभव इकट्ठे किये जाते हैं और संस्कृति और सभ्यता बनती है और उसके बाद एकदम गति रुक जाती है। सिर्फ गति ही नहीं रुक जाती बल्कि पीछे लौटना शुरू हो जाता है। अतीत के ऊपर एक परदा-सा पड़ जाता है और हालांकि कभी-कभी हमें उसकी झलक मिल जाती है, लेकिन ज्ञान और अनुभव के पहाड़ पर फिर से चढ़ना ज़रूरी हो जाता है। शायद हर बार लोग कुछ ऊपर चढ़ जाते हैं और आगे की चढ़ाई आसान कर देते हैं; ठीक वैसे ही जैसे हिमालय की सबसे ऊंची चोटी एवरेस्ट पर चढ़ाई करने के लिए टोली के बाद टोली आती है, और हर टोली अपने पहलेवाली टोली की बनिस्बत चोटी के ज़्यादा नज़दीक पहुंचने में सफल होती है, और हो सकता है कि एक दिन इस चोटी पर विजय हासिल कर ली जाय।

मतलब यह है कि यूरोप में हमें अन्धेरा दिखाई देता है। 'अन्धकार का युग' शुरू होता है और लोगों की ज़िन्दगी असभ्य और बेढंगी हो जाती है। शिक्षा का

क़रीब-क़रीब ग़ायब हो जाती है और लड़ाई के सिवा लोगों का कोई धन्धा या मनोरंजन नहीं रह जाता। सुक़रात और अफ़लातून का ज़माना वास्तव में बहुत दूर नज़र आता है।

यह तो पश्चिमी साम्राज्य की बात हुई। आओ, अब पूर्वी साम्राज्य पर भी नज़र दौड़ायें। तुम्हें याद होगा कि कुस्तुन्तीन ने ईसाइयत को राज-धर्म बना दिया था। इसके एक उत्तराधिकारी सम्राट् जूलियन ने ईसाइयत को मानने से इन्कार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओं की पूजा के रास्ते पर वापस जाना चाहता था। लेकिन वह सफल न हो सका क्योंकि पुराने देवी-देवताओं के दिन बीत चुके थे और ईसाइयत उनके मुक़ाबले में बहुत ज़्यादा ताक़तवर थी। जूलियन को ईसाई लोग 'क़ाफ़िर जूलियन' कहने लगे और इसी नाम से वह इतिहास में मशहूर है।

जूलियन के बाद एक दूसरा सम्राट् हुआ, जो उससे बिलकुल दूसरी क़िस्म का था। उसका नाम थियोदोसी था और उसे 'महान्' कहा गया है। मेरे ख़याल से उसे महान् इसलिए कहा गया है कि वह देवी-देवताओं की पुरानी मूर्तियों और पुराने मन्दिरों को तोड़ने में महान् था। वह सिर्फ़ ग़ैर-ईसाइयों के ही ख़िलाफ़ नहीं था, बल्कि उन ईसाइयों का भी दुश्मन था, जो इसके ख़याल से कट्टर नहीं थे। वह कोई भी विचार या धर्म, जो उसे पसन्द न होता था, उसे सहन करने को तैयार नहीं था। थियोदोसी ने थोड़े दिनों के लिए पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य को जोड़ दिया और वह दोनों का सम्राट बन गया। यह ३९२ ई० की बात है, जबतक रोम पर बर्बरों का हमला नहीं हुआ था।

ईसाई महज़ब बराबर फैलता गया। इसकी लड़ाइयां अब ग़ैर-ईसाइयों से नहीं थीं। जो कुछ लड़ाई-झगड़े होते थे, वे सब ईसाई फ़िरकों में आपस में ही हुआ करते थे और इन लोगों की असहिष्णुता की मात्रा को देखकर ताज्जुब होता है। सारे उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया, और यूरोप में भी, बहुत-से लड़ाई के मैदानों में ईसाइयों ने, अपने ईसाई भाइयों को घूंसों, डंडों और समझाने के इसी तरह के दूसरे 'नर्म' उपायों के जरिये सच्चा धर्म सिखाने की कोशिश की !

५२७ से ५६५ ई० तक जस्तीनियन कुस्तुन्तुनिया में सम्राट रहा। मैं पहले बता चुका हूं कि उसने गोथों को इटली से निकाल दिया था और कुछ दिनों के लिए इटली और सिसली पूर्वी साम्राज्य के हिस्से बन गये थे। पर बाद में गोथों ने इटली पर क़ब्ज़ा कर लिया।

जस्तीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में साक्ता सोफ़िया का खूबसूरत गिरजा बनाया जो आज तक सबसे बढ़िया बिज़ैन्तीन गिरजों में गिना जाता है। इसने उस वक्त के तमाम क़ानूनों को एक जगह इकट्ठा कराया और योग्य वकीलों से उन्हें

तरतीबवार जमवाया। पूर्वी रोमन साम्राज्य और उसके सम्राटों के बारे में कुछ भी जानने से बहुत पहले मुझे इस क़ानूनी किताब से जस्तीनियन का नाम मालूम हुआ। इस किताब का नाम 'इन्स्टीट्यूट ऑफ़ जस्तीनियन' है और मुझे यह पढ़नी पड़ी थी। हालांकि जस्तीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में एक विश्वविद्यालय क़ायम किया था, लेकिन उसने एथेन्स की अकादमी यानी दर्शनशास्त्र के पुराने स्कूल बन्द करा दिये थे, जो अफ़लातून ने क़ायम किये थे, और जो क़रीब एक हज़ार वर्ष से चले आ रहे थे। किसी भी रूढ़िवादी मज़हब के लिए दर्शनशास्त्र खतरनाक चीज़ होती है, क्योंकि इसकी वजह से लोग सोचने-विचारने लगते हैं।

अब हम छठी सदी तक आ पहुंचे हैं। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे रोम और कुस्तुन्तुनिया धीरे-धीरे एक-दूसरे से दूर होते जाते हैं। रोम पर तो उत्तर के जर्मन क़बीलों का कब्ज़ा हो जाता है, और कुस्तुन्तुनिया रोमन साम्राज्य कहलानेवाले यूनानी साम्राज्य का केन्द्र हो जाता है। रोम टूक-टूक होकर अपने उन विजेताओं की सभ्यता के नीचे दर्जे को पहुंच जाता है, जिन्हें वह अपनी शान के ज़माने में 'बर्बर' कहा करता था। कुस्तुन्तुनिया ने एक तरह से अपनी पुरानी परम्परा जारी रक्खी, लेकिन वह भी सभ्यता के दर्जे में नीचे गिर जाता है। ईसाई फ़िरके प्रभुत्व के लिए आपस में लड़ते हैं, और पूर्वी ईसाइयत, जो तुर्किस्तान, चीन और हब्श[1] तक फैल गई थी, कुस्तुन्तुनिया और रोम दोनों से अलग कट जाती है। 'अन्धकार का युग' शुरू होता है। इस समय तक अगर कोई शिक्षा थी तो प्राचीन भाषाओं की, यानी यूनानी या पुरानी लातीनी की जिसे यूनानी से प्रेरणा मिली। लेकिन ये पुरानी यूनानी किताबें, जिनमें देवी-देवताओं का हाल था और दर्शन की बातें थीं, उस शुरू के ज़माने के नेक, श्रद्धालु और अनुदार ईसाइयों के लिए ठीक साहित्य नहीं समझी जाती थीं। इसलिए इनको पढ़ने के लिए कोई बढ़ावा नहीं दिया जाता था। इस तरह विद्या को और कला के भी कई रूपों को नुकसान उठाना पड़ा।

लेकिन ईसाइयत ने विद्या और कला की रक्षा करने की भी कुछ कोशिश की। बौद्ध संघों की तरह ईसाई मठ क़ायम हुए और तेज़ी से फैल गये। इन मठों में कभी-कभी पुरानी विद्या को ठिकाना मिल जाता था। इन्हीं मठों में उस नई कला का भी बीज बोया गया, जो सदियों बाद अपने पूरे सौन्दर्य से खिली। इन मठों के पादरियों ने विद्या और कला के दीपक की टिमटिमाहट को बुझने नहीं दिया। यह बुझने न देना ही इनकी सेवा है। लेकिन यह रोशनी एक छोटे दायरे में ही बन्द थी; बाहर तो बिल्कुल अंधेरा था।

ईसाइयत के इस शुरू ज़माने में हमें एक और अजीब झुकाव दिखाई देता है। बहुत-से लोग मज़हबी जोश में आकर आदमी की आबादियों से दूर, रेगिस्तानों

[1] हब्श—एबीसीनिया।

में या सुनसान जगहों में चले जाते थे, और वहां जंगली हालत में रहते थे। ये लोग अपने-आपको पीड़ा पहुंचाते थे; नहाते-धोते नहीं थे और ज़्यादा-से-ज़्यादा पीड़ा सहने की कोशिश करते थे। यह बात मिस्र में ख़ास तौर से पाई जाती थी, जहां इस किस्म के बहुत-से दरवेश रेगिस्तान में रहा करते थे। इनका शायद यह ख़याल था कि वे जितनी ही ज्यादा पीड़ा सहेंगे और जितना ही कम नहायें-धोयेंगे, उतने ही ज़्यादा पवित्र हो जायंगे। एक दरवेश तो कई वर्षों तक एक खम्भे के ऊपर बैठा रहा! धीरे-धीरे इस तरह के दरवेशों का सिलसिला ख़तम हो गया, लेकिन बहुत दिनों तक बहुत-से श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास बना रहा कि किसी भी तरह का आनन्द मनाना पाप है। कष्ट-सहन के इस सिद्धान्त ने ईसाइयों की विचारधारा को रंग दिया था। यूरोप में आज इस तरह की कोई बात नहीं दिखाई देती। आज तो वहां यह हाल है कि हरेक आदमी पागल की तरह इधर-उधर दौड़ने और मौज-बहार की ज़िन्दगी गुज़ारने पर उतारू है। अक्सर इस दौड़-धूप से आख़िर में थकावट और उचाट पैदा हो जाती है, मज़ा नहीं हासिल होता।

पर भारत में आज भी हम कभी-कभी लोगों को वैसा ही बर्ताव करते देखते हैं, जैसाकि मिस्र में ये ईसाई दरवेश किया करते थे। ये लोग अपना एक हाथ ऊपर उठाये रहते हैं, यहांतक कि वह सूखकर बेकार हो जाता है, या लोहे की कीलों पर बैठे रहते हैं, या इसी तरह के बहुत-से बेहूदा और बेवक़ूफ़ी के काम करते हैं। मेरा ख़याल यह है कि कुछ तो ऐसा इसलिए करते हैं कि नासमझ लोगों पर धाक जमाकर उनसे पैसे वसूल करें, और कुछ लोगों की शायद यह भावना रहती है कि ऐसा करने से वे पवित्र हो जायंगे! मानो अपने शरीर को किसी भले काम के नाक़ाबिल बना लेना भी कोई अच्छी बात हो सकती है!

यहां मुझे बुद्ध की एक कथा याद आती है, जिसके लिए मुझे फिर अपने पुराने मित्र ह्यूएनत्सांग का सहारा लेना पड़ता है। बुद्ध का एक नौजवान शिष्य तपस्या कर रहा था। बुद्ध ने उससे पूछा, "प्रिय युवक जब तुम दुनियादार थे, तब क्या वीणा बजाना जानते थे?" उसने कहा, "जी हां!" तब बुद्ध ने कहा—

> "अच्छा मैं इससे एक उपमा देता हूँ। जिस वीणा के तार बहुत कसे होते हैं, उसमें स्वरों का उतार-चढ़ाव ठीक नहीं होता। जब तार ढीले होते हैं तो स्वरों में न संगति होती है, न मधुरता। लेकिन जब वीणा के तार न तो ज़्यादा कसे होते हैं और न ज्यादा ढीले तब उनसे मधुर स्वर निकलते हैं। यही हाल शरीर का भी है। अगर इसके साथ कठोरता का व्यवहार किया जाता है, तो यह थक जाता है, और चित्त अस्थिर हो जाता है। अगर इसे बहुत अधिक आराम दिया जाता है तो वासनाएं बढ़ने लगती हैं और इच्छाशक्ति कमज़ोर पड़ जाती है।"

: ४८ :

# इस्लाम का उदय

२१ मई, १९३२

हमने कई देशों के इतिहास पर और कई राज्यों व साम्राज्यों के उत्थान व पतन पर विचार किया। लेकिन अरब देश का क़िस्सा अभी तक हमने नहीं छेड़ा, सिवाय इस ज़िक्र के कि इस देश के व्यापारी और नाविक दुनिया के दूर-दूर हिस्सों में जाया करते थे। नक़शे को देखो। अरब के पश्चिम में मिस्र है, उत्तर में सीरिया (शाम) और इराक़ हैं, पूर्व से कुछ दूरी पर ईरान है और उत्तर-पश्चिम में कुछ दूर हटकर एशिया-कोचक और कुस्तुन्तुनिया हैं। यूनान भी दूर नहीं है और भारत भी बस समुद्र के उस पार दूसरी तरफ़ है। चीन और सुदूर पूर्व के मुल्कों का अगर हम खयाल न करें, तो अरब देश पुरानी सभ्यताओं के लिहाज़ से बिलकुल बीचों-बीच था। इराक़ में दज़ला और फ़ुरात नदियों के किनारे बड़े-बड़े शहर बस गये। मिस्र में सिकन्दरिया, सीरिया में दश्मिक और एशिया-कोचक में अन्तिओक जैसे बड़े-बड़े शहर बसे। अरब लोग यात्रा-पसन्द और व्यापारी थे, इसलिए वे इन शहरों को अक्सर जाया करते होंगे। फिर भी इतिहास में अरब का कोई नामी भाग नहीं रहा। मालूम होता है कि इस देश की सभ्यता भी उतनी ऊंचे दर्जे की नहीं रही जितनी कि उसके आस-पास के देशों की। अरब ने न तो दूसरे देशों को जीतने की कोशिश की, और न उसको ही जीतना किसीके लिए आसान था।

अरब एक रेगिस्तानी मुल्क है, और रेगिस्तानों और पहाड़ों में पलनेवाले लोग मज़बूत होते हैं, जिन्हें अपनी आज़ादी प्यारी होती है और जिन्हें आसानी से दबाया नहीं जा सकता। फिर अरब कोई उपजाऊ देश नहीं था, और इसमें कोई ऐसी चीज़ भी नहीं थी, जो विदेशी विजेताओं या साम्राज्यवादियों को खींचती। इसमें बस सिर्फ़ दो छोटे-छोटे नगर थे, मक्का और यथरीब, जो समुद्र के किनारे बसे हुए थे। बाक़ी रेगिस्तान के भीतर सिर्फ़ वास-स्थान थे और इस देश के लोग ज़्यादातर बद्दू, 'रेगिस्तान के बाशिंदे' थे। तेज़ ऊंट और खूबसूरत घोड़े इनके आठों पहर के साथी थे और अद्भुत सहनशक्तिवाला गधा भी एक क़ीमती चीज़ और वफ़ादार दोस्त समझा जाता था। किसीको गधे की उपमा देना तारीफ़ समझा जाता था; दूसरे देशों की तरह कोई गाली नहीं। क्योंकि किसी रेगिस्तानी मुल्क में ज़िन्दगी बड़ी सख्त होती है और दूसरी जगहों की बनिस्बत वहां मज़बूती और सहन-शक्ति कहीं ज़्यादा क़ीमती गुण समझे जाते हैं।

रेगिस्तान के ये बाशिंदे आत्माभिमानी, भावुक और झगड़ालू होते थे। ये अपने-अपने वंशों और खानदानों में रहते थे, और दूसरे वंशों और खानदानों से

झगड़ा करते थे। साल में एक बार ये लोग आपस में सुलह कर लेते थे और ज़ियारत के लिए मक्का जाया करते थे, जहां इनके देवताओं की बहुत-सी मूर्तियां रहती थीं। सबसे ज़्यादा वे एक बड़े भारी काले पत्थर[1] की पूजा करते थे, जिसका नाम 'काबा' था।

इन लोगों की ज़िन्दगी घुमक्कड़ों की ज़िन्दगी थी, जिसमें हर ख़ानदान का सबसे बूढ़ा आदमी सरदार होता था। इनकी ज़िन्दगी उसी किस्म की थी, जैसी कि शहरी जीवन और सभ्यता अपनाने के पहले मध्य एशिया या दूसरी जगहों के आदिम क़बीले बसर किया करते थे। अरब के चारों तरफ़ जितने बड़े-बड़े साम्राज्य बने, उन सबकी सल्तनत में अक्सर अरब देश भी शामिल होता था। लेकिन यह अधीनता असली न होकर सिर्फ नाम के लिए होती थी। क्योंकि घुमक्कड़ रेगिस्तानी क़बीलों को दबाकर रखना या उनपर हुकूमत करना कोई आसान बात नहीं थी।

तुम्हें शायद याद होगा कि एक बार सीरिया में पालमीरा में एक छोटी-सी अरब सल्तनत क़ायम हुई थी, और ईसवी सन् की तीसरी सदी में, थोड़े दिनों के लिए इसका एक शानदार ज़माना रहा था। लेकिन यह भी मुख्य अरब के बाहर थी। मतलब यह कि बद्दू लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी रेगिस्तानी ज़िन्दगी बिताते रहते थे, अरबी जहाज़ व्यापार के लिए बाहर जाते थे, और देश का जीवन बिना किसी परिवर्तन के चलता रहता था। कुछ लोग ईसाई हो गये थे, और कुछ यहूदी; लेकिन ज़्यादातर लोग ३६० मूर्तियों के, और मक्का के संगे-असवद के पूजनेवाले ही बने रहे।

यह अजीब बात है कि वह अरब नस्ल जो युगों से सोते हुओं की तरह जीवन बिता रही थी और ज़ाहिरा तौर पर दूसरी जगहों की घटनाओं से बिलकुल अलग थी, अचानक जाग पड़ी, और उसने इतनी जबर्दस्त जीवट दिखाई कि सारी दुनिया को चौंका दिया और उसमें उथल-पुथल मचा दी। अरब लोग एशिया, यूरोप और अफ्रीका में तेज़ी के साथ फैल गये, और उन्होंन ऊंचे दर्जे की संस्कृति और सभ्यता का किस तरह विकास किया, यह इतिहास में एक चमत्कार की बात है।

जिस नये बल या भावना ने अरबों को जगाया और उनमें आत्म-विश्वास और जोश भर दिया, वह इस्लाम था। इस मज़हब को एक नये पैग़म्बर, मोहम्मद ने, जो मक्का में ५७० ई० में पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हें इस मज़हब को शुरू करने की कोई जल्दी नहीं थी। वह शान्ति की ज़िन्दगी गुज़ारते थे, और मक्का के लोग उनको चाहते थे और उनपर भरोसा करते थे। वास्तव में लोग उन्हें 'अल् अमीन' या अमानतदार कहा करते थे। लेकिन जब उन्होंने अपने नये मज़हब का प्रचार शुरू किया, और ख़ासकर जब मक्का की मूर्तियों की पूजा का विरोध

---

[1] संगे असवद।

का दावा करता था। खुसरो ने मिस्र भी जीत लिया था, और ठेठ क़ुस्तुन्तुनिया तक पहुंच गया था। लेकिन यूनानी सम्राट् हीरेक्ली ने इसे वहां हरा दिया। बाद में खुसरो को उसके ही बेटे कवाद ने मार डाला।

इस तरह तुम देखोगी कि पश्चिम में यूरोप और पूर्व में ईरान, दोनों ही की हालत खराब थी। इसके अलावा ईसाई फ़िरकों में होनेवाले आपसी झगड़ों का कोई अन्त नहीं था। अफ्रीका में और पश्चिम में बहुत भ्रष्ट और झगड़ालू ईसायत फैल रही थी। ईरान में ज़रथुस्त मज़हब राजधर्म था और लोगों पर ज़बरदस्ती लादा जाता था। इसलिए यूरोप, अफ्रीका और ईरान के ज़्यादातर लोगों की आंखें उस समय के मज़हबों के बारे में खुल गई थीं। उन्हीं दिनों, सातवीं सदी की शुरुआत में, सारे यूरोप में भयंकर महामारियां फ़ल रही थीं, जिनमें लाखों आदमी मर रहे थे।

भारत में इस समय हर्षवर्धन राज्य कर रहा था और ह्यूएनत्सांग भारत आया हुआ था। हर्ष के राजकाल में भारत एक बलशाली देश था। लेकिन थोड़े ही दिन बाद उत्तर भारत के टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह कमज़ोर पड़ गया। दूर पूर्व के देश चीन में इसी समय तंग-राजवंश का दौर शुरू हुआ था। ६२७ ई० में 'ताई-त्सुंग', जो चीन के सबसे बड़े सम्राटों में गिना जाता है, राजगद्दी पर बैठा और उसके ज़माने में चीनी साम्राज्य पश्चिम में ठेठ कैस्पियन सागर तक फैल गया था। मध्य एशिया के ज़्यादातर देशों ने उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली थी और उसे ख़िराज देते थे। पर शायद इस सारे विशाल साम्राज्य की कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी।

इस्लाम के उदय के समय एशियाई और यूरोपीय दुनिया की यह हालत थी। चीन शक्तिशाली और मज़बूत था, लेकिन वह बहुत दूर था। भारत भी, कम-से-कम कुछ दिनों तक तो, काफ़ी मज़बूत था। लेकिन, हम आगे देखेंगे कि भारत के साथ इस्लाम का बहुत दिनों तक कोई संघर्ष नहीं हुआ। यूरोप और अफ्रीका कमज़ोर और पस्त हो चुके थे।

हिजरत के बाद सात वर्ष के अन्दर ही मोहम्मद मक्का के स्वामी बनकर ही वहां लौटे। इसके पहले ही वह मदीना से दुनिया के बादशाहों और शासकों के पास परवाना भेज चुके थे कि वे एक अल्लाह और उसके रसूल पर ईमान लायें। क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राट् हीरेक्ली के पास यह परवाना उस वक्त पहुंचा था, जब वह सीरिया में ईरानियों के ख़िलाफ़ लड़ाई में मशग़ूल था। ईरान के बादशाह के पास, और कहते हैं कि चीन के ताई-त्सुंग तक भी यह परवाना पहुंचा था। इन बादशाहों और शासकों को बड़ा ताज्जुब हुआ होगा कि आख़िर यह अनजान आदमी कौन है, जो उनके ऊपर हुक्म चलाने की जुर्रत करता है! इन पैग़ामों के

भेजने से ही हम कुछ अन्दाज़ लगा सकते हैं कि मोहम्मद को अपने में और अपने मिशन में कितना बड़ा भरोसा था। यही भरोसा और ऐतक़ाद उसने अपनी क़ौम में भर दिया, और इसीसे प्रेरणा और तसल्ली हासिल करके रेगिस्तान के ये लोग, जिनकी पहले कोई बड़ी हैसियत नहीं थी, उस समय तक मालूम दुनिया के आधे हिस्से को जीतने में सफल हुए।

भरोसा और ऐतक़ाद ख़ुद तो बड़ी चीज़ें थे ही। साथ ही इस्लाम ने भाईचारे का, यानी सब मुसलमान बराबर हैं, इस बात का भी सन्देश दिया। इस तरह कुछ हद तक लोकतन्त्र लोगों के सामने आया। उस ज़माने की भ्रष्ट ईसाइयत के मुक़ाबले में भाईचारे के इस सन्देश ने सिर्फ़ अरबों पर ही नहीं, बल्कि जहां-जहां वे गये, उन सभी देशों के निवासियों पर भी, बड़ा भारी असर डाला होगा।

मोहम्मद ६३२ ई० में, हिजरत के दस साल बाद, मरे। उन्होंने अरब के आपस में लड़नेवाले कई क़बीलों को संगठित करके एक राष्ट्र बनाया और उनमें एक उद्देश्य के लिए ज़बरदस्त जोश भर दिया। इनके बाद इनके ख़ानदान के एक व्यक्ति अबूबकर ख़लीफ़ा हुए। ख़लीफ़ा चुनने का यह काम आम सभा में ग़ैर-रस्मी चुनाव से होता था। दो साल बाद अबूबकर मर गये और उमर उनकी जगह ख़लीफ़ा बनाये गए। यह दस साल तक ख़लीफ़ा रहे।

अबूबकर और उमर महान् व्यक्ति थे, जिन्होंने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली। ख़लीफ़ा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनीतिक सरदार, यानी बादशाह और पोप दोनों थे। अपने ऊंचे ओहदे और अपने राज्य की बढ़ती हुई शक्ति के बावजूद उन्होंने अपने रहन-सहन की सादगी नहीं छोड़ी, और ऐश-आराम व ऊपरी शान-शौक़त से क़तई इन्कार कर दिया। इस्लाम का लोकतन्त्र इनके लिए एक ज़िन्दा चीज़ थी। लेकिन इनके मातहती हाक़िम और अमीर बहुत जल्द रेशमी लिबास और ऐश-आराम में डूब गये। अबूबकर और उमर ने किस तरह बार-बार इन अफ़सरों की लानत-मलामत की और उन्हें सज़ा दी, यहांतक कि इनकी फ़िज़ूलख़र्ची पर आंसू भी बहाये, इसके बहुत-से क़िस्से बयान किये जाते हैं। ये महसूस करते थे कि सीधे-सादे और कठोर रहन-सहन में ही इनकी ताक़त है, और अगर उन्होंने कुस्तुन्तुनिया और ईरान के दरबारों जैसा ऐश-आराम अपना लिया, तो अरब लोग भ्रष्ट हो जायंगे और नीचे गिर जायंगे।

अबूबकर और उमर का शासन बारह साल रहा। लेकिन इस थोड़े से समय में ही अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासानी बादशाह, दोनों को हरा दिया था। यहूदियों और ईसाइयों के पवित्र शहर यरूशलम पर अरबों ने क़ब्ज़ा कर लिया था, और सारे सीरिया, इराक और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य के हिस्से बन चुके थे।

: ४९ :

# स्पेन से मंगोलिया तक अरबों की विजय

२३ मई, १९३२

दूसरे कुछ मज़हबों के संस्थापकों की तरह मोहम्मद भी उस समय के बहुत से समाजी रस्म-रिवाजों के विद्रोही थे। जिस मज़हब का उन्होंने प्रचार किया, उसकी सादगी, सफ़ाई और लोकतन्त्र व समता की सुगन्ध ने आस-पास के देशों की जनता के दिलों को खींच लिया; क्योंकि निरंकुश राजाओं ने और राजाओं की ही तरह निरंकुश और ज़ालिम पुजारियों ने जनता को बहुत दिनों से कुचल रक्खा था। लोग पुराने ढंगों से तंग आ गये थे और परिवर्तन के लिए तैयार बैठे थे। इस्लाम ने यह परिवर्तन उनके सामने रक्खा और इसका उन्होंने स्वागत किया; क्योंकि इसकी वजह से उनकी हालत बहुत-सी बातों में बेहतर हो गई, और बहुत-सी पुरानी बुराइयां खतम हो गई। इस्लाम के साथ कोई ऐसी बड़ी समाजी क्रान्ति नहीं आई, जिससे जनता का शोषण खतम हो गया होता। लेकिन जहांतक मुसलमानों का ताल्लुक़ था, यह शोषण वास्तव में कम हुआ और वे महसूस करने लगे कि वे सब एक ही बड़ी बिरादरी के लोग हैं।

इस तरह अरब लोग जीत-पर-जीत हासिल करते हुए आगे बढ़ने लगे। अकसर ये लोग बिना युद्ध किये ही जीत जाते थे। अपने रसूल की मृत्यु के पच्चीस वर्ष के अन्दर ही अरबों ने एक तरफ़ सारा ईरान, सीरिया, आरमीनिया और मध्य-एशिया का कुछ टुकड़ा और पश्चिम की तरफ़ मिस्र, और उत्तरी अफ्रीका का छोटा-सा टुकड़ा जीत लिया। मिस्र इन लोगों को सबसे ज्यादा आसानी से मिल गया, क्योंकि यह देश रोमन साम्राज्य के शोषण से और ईसाई सम्प्रदायों की आपसी लाग-डांट से सबसे ज्यादा तक़लीफ़ें उठा चुका था। कहते हैं कि अरबों ने सिकन्दरिया का मशहूर पुस्तकालय जला दिया था, लेकिन अब यह बात ग़लत समझी जाती है। अरब लोग पुस्तकों के इतने शौक़ीन थे कि ऐसा जंगलीपन नहीं कर सकते थे। सम्भव है कि क़ुस्तुन्तुनिया का सम्राट थियोदोसी, जिसका कुछ ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ, पुस्तकालय को या उसके कुछ हिस्से को बर्बाद करने का अपराधी रहा हो। पुस्तकालय का एक हिस्सा तो बहुत पहले जूलियस सीज़र के ज़माने में, एक घेरे के समय, बर्बाद हो चुका था। थियोदोसी पुरानी ग़ैर-मसीही यूनानी किताबों को, जिनमें पुरानी यूनानी गाथाएँ और दर्शन की बातें होती थीं, पसन्द नहीं करता था। वह बड़ा श्रद्धालु ईसाई था। कहा जाता है कि वह अपने नहाने का पानी इन किताबों को जलाकर गर्म किया करता था।

अरब लोग पूर्व और पश्चिम दोनों तरफ़ बढ़ते ही चले गये। पूर्व में हेरात,

अरबों की विजय-यात्रा
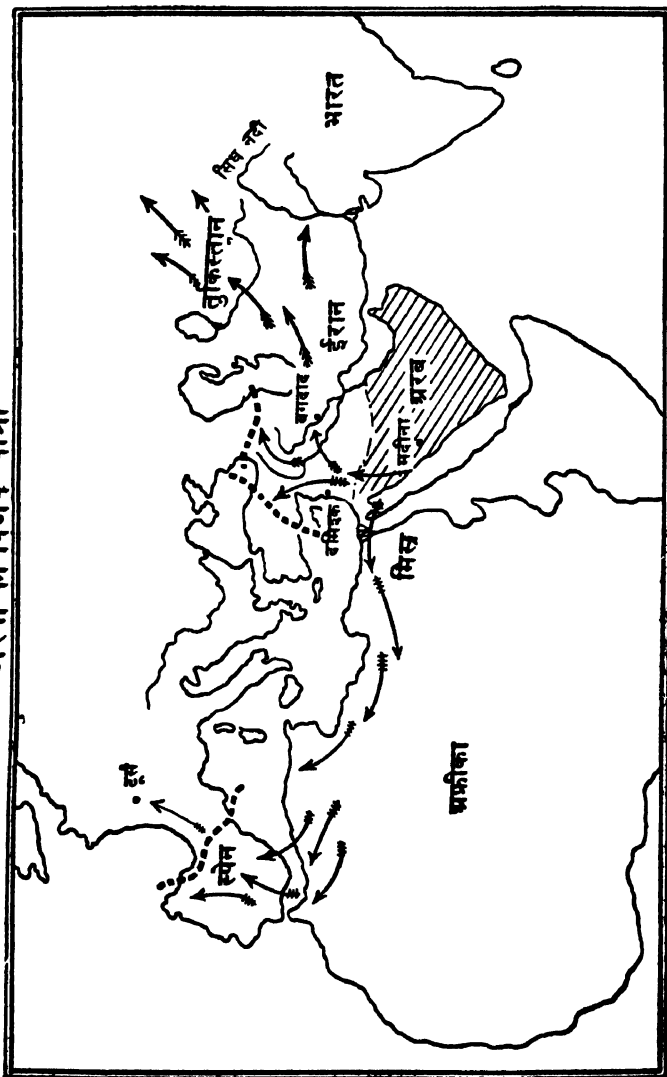
काबुल और बलख़ इनके क़ब्ज़े में आ गये और वे सिन्ध नदी और सिन्ध तक जा पहुँचे। लेकिन इसके आगे वे भारत में दाख़िल नहीं हुए और कई सौ वर्षों तक भारत के राजाओं के साथ इनका बहुत दोस्ती का सम्बन्ध रहा। पश्चिम में ये लोग आगे बढ़ते ही गये। कहते हैं कि इनका सेनापति उक़बा उत्तरी अफ्रीका को पार करता हुआ अतलांतिक समुद्र तक, यानी उस देश के पश्चिमी किनारे पर पहुँच गया था जिसे आज मरक्कश (मोरक्को) कहते हैं। यह रुकावट सामने आ जाने से उसे बड़ी निराशा हुई और वह घोड़े पर सवार होकर समुद्र में जितनी दूर जा सकता था गया, और फिर उसने अल्लाह के सामने अफ़सोस ज़ाहिर किया कि अब उस दिशा में कोई देश नहीं रहा, जिसे वह अल्लाह के नाम पर फ़तह करता!

मोरक्को और अफ्रीका से समुद्र के तंग मुहाने को पार करके अरब लोग स्पेन और यूरोप में दाख़िल हुए। इस तंग जलडमरूमध्य को पुराने यूनानी लोग 'हरकुल के स्तम्भ' कहते थे। अरब-सेनापति ने समुद्र को पार करके जिब्राल्टर में लंगर डाला था और यह नाम ही उस सेनापति की याद दिलाता है। उसका नाम तारीक़ था और जिब्राल्टर का असली नाम 'जबल-उत-तारीक़' यानी तारीक़ की चट्टान है।

स्पेन को अरबों ने बहुत जल्द फ़तह कर लिया और इसके बाद वे दक्षिणी फ्रान्स में घुस पड़े। इस तरह मोहम्मद के मरने के बाद सौ वर्षों के अन्दर ही अरबों का साम्राज्य दक्षिण फ्रान्स और स्पेन से लेकर उत्तर अफ्रीका को पार करके स्वेज़ तक, और आगे अरब, ईरान और मध्य एशिया को पार करके मंगोलिया की सरहद तक फैल गया था। सिन्ध को छोड़कर भारत इस साम्राज्य से बाहर था। यूरोप पर अरब लोग दो तरफ़ से हमले कर रहे थे। एक तो क़ुस्तुन्तुनिया पर बिलकुल सीधा हमला था, और दूसरा अफ्रीका होकर फ्रान्स पर। दक्षिण फ्रान्स में अरबों की संख्या कम थी और वे अपने वतन से बहुत दूर थे। इसलिए उनको अरब से ज़्यादा मदद नहीं मिल सकती थी, क्योंकि वह मध्य एशिया को फ़तह करने में उलझा हुआ था। फिर भी फ्रान्स पहुँचे हुए इन अरबों ने पश्चिमी यूरोप के लोगों को इतना डरा दिया कि इनका मुक़ाबला करने के लिए यूरोप में एक बहुत बड़ा शामिल-गुट बनाया गया। इस गुट का नेता चार्ल्स मार्तें था और इसने फ्रान्स में तूर की लड़ाई में ७३२ ई० में अरबों को हरा दिया। इस हार ने यूरोप को अरबों से बचा दिया। एक इतिहास-लेखक ने लिखा है—"तूर के मैदान में अरबों ने सारी दुनिया का साम्राज्य ऐसे समय खो दिया, जबकि वह क़रीब-क़रीब इनकी मुट्ठी में आ चुका था।" इसमें शक नहीं कि अगर अरब लोग तूर की लड़ाई में जीत गये होते तो यूरोप का इतिहास बिलकुल ही बदल गया होता। यूरोप में इनकी गति को रोकने-वाला और कोई भी नहीं था। ये लोग क़ुस्तुन्तुनिया तक आसानी से बढ़े चले गए

होते, और इन्होंने पूर्वी रोमन साम्राज्य को और बीच के दूसरे राज्यों को ख़तम कर दिया होता। तब ईसाइयत के बजाय इस्लाम यूरोप का मज़हब हो गया होता, और दूसरी तरह के भी बहुत-से परिवर्तन हो गये होते। लेकिन यह सब तो कल्पना की उड़ान है। हुआ यह कि अरब लोग फ्रान्स में रोक दिये गए, और इसके बाद कई सौ वर्षों तक वे स्पेन में रहे, और वहां राज करते रहे।

स्पेन से मंगोलिया तक के सारे देशों पर अरबों ने फ़तह पाई और रेगिस्तान के ये घुमक्कड़ एक ज़बर्दस्त साम्राज्य के अभिमानी शासक बन गये। लोग इन्हें सरासीन कहते थे। शायद यह शब्द 'सहरा नशीन' से बना हो, जिसका अर्थ 'रेगिस्तान के बाशिंदे' होता है। लेकिन इन सहरानशीनों ने बहुत जल्द विलासिता और शहर की ज़िन्दगी इख्तियार कर ली और इनके शहरों में बड़े-बड़े महल खड़े हो गये। दूर-दूर देशों में विजय हासिल कर लेने पर भी, इनकी आपस में झगड़ने की पुरानी आदत नहीं गई। अब तो वास्तव में झगड़ने के लिए कुछ सामान भी हो गया था, क्योंकि अरब की प्रभुता का मतलब था एक बड़े साम्राज्य की बागडोर हाथ में आ जाना। इसलिए ख़लीफ़ा की गद्दी के लिए अक्सर झगड़े होते थे। इन छोटे-छोटे झगड़ों और ख़ानदानी झगड़ों से गृह-युद्ध हो गया। इन्हीं झगड़ों की वजह से इस्लाम दो हिस्सों में बँट गया और दो सम्प्रदाय बन गये जो सुन्नी और शिया के नाम से आज तक मौजूद हैं।

पहले दो महान् ख़लीफ़ाओं—अबूबकर और उमर—के शासनकाल के कुछ दिनों बाद ही गड़बड़ पैदा हो गई। मोहम्मद की बेटी फ़ातिमा के पति अली कुछ दिनों के लिए ख़लीफ़ा हुए, लेकिन झगड़ा बराबर जारी रहा। अली क़त्ल कर दिये गए और कुछ दिनों बाद उनके बेटे हुसेन सारे कुटुम्ब के साथ कर्बला के मैदान में मार डाले गये। कर्बला की इसी दुखान्त घटना की याद में मुसलमान और ख़ासकर शिया लोग, हर साल मुहर्रम के महीने में मातम मनाया करते हैं।

ख़लीफ़ा अब बिल्कुल निरंकुश बादशाह बन बैठे थे। ख़लीफ़ा के ओहदे का लोकतन्त्र या चुनाव से कोई सरोकार नहीं रहा था। उस ज़माने के और निरंकुश राजाओं की तरह ख़लीफ़ा भी था। कहने को ख़लीफ़ा इस्लाम का प्रमुख यानी 'अमीरुल-मोमिनीन'[1] भी माना जाता था। लेकिन कुछ ख़लीफ़ा ऐसे भी हुए जिन्होंने इस्लाम का, जिसके कि वे मुख्य रक्षक समझे जाते थे, वास्तव में अपमान किया।

लगभग सौ वर्षों तक ख़लीफ़ा मोहम्मद के वंश की एक शाखा में से होते रहे जो उम्मैया कहलाती थी। दमिश्क इनकी राजधानी थी और महलों, मस्जिदों

[1] ईमानवालों का सरदार।

फ़व्वारों और कुश्कों[1] की वजह से यह पुराना शहर बड़ा ख़ूबसूरत बन गया था। दमिश्क की पानी की व्यवस्था बड़ी मशहूर थी। इस ज़माने में अरबों ने इमारतें बनाने की कला की एक ख़ास शैली निकाली, जो सरासीनी शिल्प के नाम से मशहूर हुई। इस शैली में ज़्यादा सजावट नहीं होती। यह सादा, शानदार और सुन्दर होती है। इस शैली के पीछे अरब और सीरिया के मनोहर खजूरों की भावना थी। मेहराबें व खम्भे और मीनारें व गुम्बदें खजूर के कुंजों की मेहराबनुमा और गुम्बदनुमा शकलों की याद दिलाते हैं।

यह शैली भारत में भी आई। लेकिन इसपर भारत के संस्कारों का असर पड़ा और एक मिलवां शैली पैदा हो गई। सरासीनी इमारतों के कुछ सबसे सुन्दर नमूने स्पेन में अबतक पाये जाते हैं।

धन और साम्राज्य की वजह से विलास का और विलास के खेल-तमाशों और कलाओं का उदय हुआ। घुड़दौड़ अरबों के मनोरंजन का प्यारा साधन था। पोलो, शिकार और शतरंज भी इन्हें बहुत पसन्द थे। संगीत और ख़ासकर गाना एक फ़ैशन बन गया था, जिसकी धुन सबपर सवार थी। दमिश्क की राजधानी गवैयों से और उनके संगीतियों और पिछलग्गुओं से भरी पड़ी थी।

एक और बड़ा लेकिन अभागा परिवर्तन धीरे-धीरे आ गया। यह परिवर्तन स्त्रियों की हालत में हुआ। अरबों में औरतें बिल्कुल परदा नहीं करती थीं। इन्हें न तो अलहदा रक्खा जाता था, न छिपाया जाता था। वे बाहर निकलती थीं, मस्जिदों और तक़रीरों में जाया करती थीं, और ख़ुद भी तक़रीरें देती थीं। लेकिन सफलता के नशे में अरब लोग उन दोनों पुराने साम्राज्यों, यानी पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य के रिवाजों की नक़ल करने लगे, जो इनके दो तरफ़ थे। अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को हरा दिया था, और ईरानी साम्राज्य को ख़तम कर डाला था, लेकिन ये खुद इन साम्राज्यों की बहुत-सी बुरी आदतों के शिकार हो गये। कहा जाता है कि ख़ासकर क़ुस्तुन्तुनिया और ईरान के असर से अरबों ने स्त्रियों को परदे में रखना शुरू किया। धीरे-धीरे हरम[2] का रिवाज शुरू हुआ, और समाज में मर्दों और औरतों का मिलना-जुलना कम होने लगा। दुर्भाग्य से स्त्रियों का यह परदा इस्लामी समाज का अंग बन गया, और जब मुसलमान भारत में आये तो भारत ने भी यह बात उनसे सीख ली। यह सोचकर कि आज भी कुछ लोग इस जंगलीपन को बर्दाश्त कर रहे हैं, मुझे हैरत होती है। जब कभी मैं बाहर की दुनिया

[1] **क़ुश्क—ईरान और तुर्की में बाग़-बगीचों में बैठने के छोटे शामियाने। अंग्रेजी का kiosk शब्द इसीसे बना है।**

[2] **हरम—अन्तःपुर, यानी घर के भीतर स्त्रियों को परदे में रखने की जगह।**

से अलग की हुई परदे में रहनेवाली स्त्रियों का ख़याल करता हूं तो मुझे हमेशा क़ैदख़ाना या चिड़ियाघर याद आ जाता है। कोई राष्ट्र, जिसकी आधी आबादी एक क़िस्म के क़ैदख़ाने में छिपाकर रक्खी जाती हो, कैसे तरक़्क़ी कर सकता है ?

सौभाग्य की बात है कि भारत तेज़ी से परदे को फाड़कर फेंक रहा है। बहुत हद तक मुसलमान समाज ने भी इस भारी बोझ से छुटकारा पा लिया है। तुर्की में कमाल पाशा ने इसे बिलकुल ख़तम कर दिया है और मिस्र में यह बहुत तेज़ी के साथ ग़ायब हो रहा है।

एक बात और कहकर मैं इस पत्र को ख़तम करूंगा। अरबों में, ख़ासकर अपनी जागृति की शुरूआत के दिनों में, अपने दीन के लिए बहुत जोश भरा हुआ था। फिर भी ये लोग उदार थे और उनकी इस धार्मिक उदारता की बहुत-सी मिसालें मिलती हैं। यरूशलम में ख़लीफ़ा उमर ने इस बात पर काफ़ी ज़ोर दिया था। स्पेन में ईसाइयों की काफ़ी आबादी थी, और उन लोगों को मज़हब के मामले में पूरी-पूरी आज़ादी थी। भारत में, सिन्ध के अलावा अरबों का शासन कहीं नहीं रहा। लेकिन इस देश के साथ उनका काफ़ी सम्पर्क रहा और आपसी सम्बन्ध मित्रता के रहे। सच तो यह है कि इतिहास के इस युग की सबसे उल्लेखनीय बात है अरबी मुसलमानों की उदारता और उससे उलटी यूरोप के ईसाइयों की धार्मिक असहिष्णुता।

: ५० :

# बग़दाद और हारूं-अल-रशीद

२७ मई, १९३२

दूसरे देशों की चर्चा करने से पहले अरबों की कहानी जारी रक्खेंगे। जैसा मैंने अपने पिछले पत्र में बताया है, क़रीब सौ वर्षों तक ख़लीफ़ा लोग हज़रत मोहम्मद के वंश की उम्मैया शाखा के हुआ करते थे। उनकी राजधानी दमिश्क थी, और उनकी हुकूमत में मुसलमान अरबों ने इस्लाम का झंडा दूर-दूर देशों तक पहुंचा दिया। एक तरफ़ तो अरब लोग दूर-दूर के देशों को जीतते थे, दूसरी तरफ़ अपने घर में ही लड़ते-झगड़ते रहते थे और अक्सर गृह-युद्ध हुआ करते थे। आखिरकार मोहम्मद के वंश के एक दूसरे घराने ने, जो चचा अब्बास की संतान था और अब्बासी कहलाता था, उम्मैया ख़ानदान को गद्दी से उतार दिया। अब्बासी लोग उम्मैयों के ज़ुल्म का बदला लेने के लिए आये थे; लेकिन फ़तह हासिल करने के बाद उन्होंने ज़ुल्म और हत्या में उम्मैयों को भी मात कर दिया। उन्होंने उम्मैया लोगों को जहां भी पाया पकड़ लिया और इन्हें बेरहमी से मार डाला।

यहीं से ७५० ई० में अब्बासी ख़लीफ़ाओं के शासन का लम्बा समय शुरू होता है। यह शुरुआत कुछ शुभ या मंगलमय नहीं थी, फिर भी अरब इतिहास में

अब्बासी काल काफ़ी चमकदार समझा जाता है। इस जमाने में उम्मैयों के समय के मुकाबले में बहुत बड़े परिवर्तन होने लगे थे। अरब के गृह-युद्ध ने सारे अरब साम्राज्य को हिला दिया था। अब्बासी लोग अपने देश में तो जीत गये, लेकिन सुदूर स्पेन में अरब हाकिम ने, जो उम्मैया था, अब्बासी खलीफ़ा को मानने से इन्कार कर दिया। उत्तर अफ्रीका या इफरीकिया की सूबेदारी बहुत जल्दी स्वाधीन हो गई। मिस्र ने भी यही किया, बल्कि उसने तो अपना दूसरा खलीफ़ा ही घोषित कर दिया। मिस्र तो इतना नजदीक था, कि इसे भी धमकाया जा सकता था और मातहती कबुल करने को मजबूर किया जा सकता था। और समय-समय पर ऐसा होता भी रहा। लेकिन इफ़रीकिया में कोई दखल नहीं दिया गया, और स्पेन तो इतनी दूर था कि उसके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई की ही नहीं जा सकती थी। इस तरह अब्बासियों के खलीफ़ा होने पर अरब साम्राज्य के टुकड़े हो गये। अब खलीफ़ा सारी दुनिया का प्रमुख नहीं रहा, और न 'अमीरुल मोमिनीन' ही रह गया। मुसलमानों में एकता नहीं रही और स्पेन के अरब और अब्बासी एक दूसरे से इतनी नफ़रत करते थे कि जब एक पर आफ़त आती थी, तो दूसरा खुशी मनाता था।

इन सब बातों के होते हुए भी अब्बासी खलीफ़ा बहुत बड़े बादशाह थे, और साम्राज्यों के लिहाज़ से उनका साम्राज्य बहुत बड़ा था। वह पुराना अक़ीदा और जोश, जिन्होंने पहाड़ों को जीता था और जो जंगल की आग की तरह फैल गये थे, अब नज़र नहीं आते थे। सादगी नहीं रही थी, और न लोकतन्त्र ही बाक़ी रह गया था। 'अमीरुल मोमिनीन' और ईरानी शहंशाहों में, जिन्हें पहले के अरबों ने हराया था, या कुस्तुन्तुनिया के सम्राट में, कोई ख़ास फ़र्क नहीं रह गया था। पैग़म्बर मोहम्मद के जमाने के अरबों में एक अजीब ज़िन्दगी और ताक़त थी, जो बादशाहों की सेनाओं की ताक़त से बिलकुल जुदा चीज़ थी। अपने ज़माने की दुनिया में उन्होंने अपना सिक्का जमाया था और उनकी दुर्निवार विजय-यात्राओं के सामने सेनाएं और बादशाह धूल में मिलते गये। जनता इन बादशाहों से तंग आ गई थी, और अरबों के आने से उसके दिल में बेहतर दिनों की और समाजी क्रान्ति की उम्मीद पैदा हो गई थी।

लेकिन अब हालत बदल गई थी। रेगिस्तान के लोग अब महलों में रहते और खजूरों की जगह बढ़िया से बढ़िया पकवान खाते थे। वे सोचते थे कि हम तो काफ़ी आराम में हैं, फिर समाजी क्रान्ति या किसी परिवर्तन की झंझट में क्यों फँसें? शान-शौकत में वे पुराने साम्राज्यों की होड़ करने की कोशिश करते थे, और उनके कई बुरे रस्म-रिवाज़ उन्होंने अपना लिये। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इनमें से एक बुरा रिवाज स्त्रियों का परदा था।

राजधानी दमिश्क से हटकर इराक़ में बग़दाद चली गई। राजधानी की यह बदली भी महत्वपूर्ण थी, क्योंकि बग़दाद ईरानी बादशाहों का गर्मी के मौसम में रहने की जगह था। और चूंकि दमिश्क की बनिस्बत वह यूरोप से दूर था, इसलिए अब अब्बासियों की नज़र यूरोप के बनिस्बत एशिया की तरफ़ ज़्यादा रहने लगी। क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने की कोशिशें तो होती रहीं और यूरोपीय राष्ट्रों से कई युद्ध भी हुए, लेकिन ज़्यादातर युद्ध बचाव के लिए होते थे। देशों की विजय के दिन लद चुके थे और अब्बासी ख़लीफ़ा अपने बचे हुए साम्राज्य को ही मज़बूत करने की कोशिश में लग गये थे। स्पेन और अफ़्रीक़ा के बिना भी यह साम्राज्य काफ़ी बड़ा था।

बग़दाद! तुम इसे भूल तो नहीं गईं? और क्या अलिफ़लैला में हारूं-अल-रशीद और शहरज़ादी की अद्भुत कहानियां तुम्हें याद हैं? अब्बासी ख़लीफ़ाओं के राज में जो शहर बढ़ा वह अलिफ़लैला का ही शहर था। बग़दाद एक लम्बा-चौड़ा शहर था, जिसमें महल, सरकारी दफ़्तर, स्कूल, कालेज, बड़ी-बड़ी दुकानें पार्क और बग़ीचे थे। यहां के सौदागर पूर्व और पश्चिम के देशों से बड़ा भारी व्यापार करते थे। ढेरों सरकारी अफ़सर साम्राज्य के दूर-दूर के हिस्सों से बराबर सम्पर्क बनाये रखते थे। सरकार दिन-पर-दिन पेचीदा होती जाती थी और उसके बहुत-से महकमे बन गये थे। साम्राज्य के कोने-कोने से राजधानी तक चिट्ठी-पत्री लाने-ले जाने का बहुत अच्छा इन्तज़ाम था। अस्पताल काफ़ी संख्या में थे। सारी दुनिया के लोग बग़दाद आया करते थे। विद्वान विद्यार्थी और कलाकार ख़ास तौर पर आते थे, क्योंकि यह मशहूर था कि ख़लीफ़ा सब विद्वानों और कुशल कलाकारों का स्वागत करता है।

ख़लीफ़ा ख़ुद ख़ूब ऐश-आराम की ज़िन्दगी गुज़ारता था और ग़ुलामों से घिरा रहता था। उसकी बेगमें हरम में रहती थीं। हारूं-अल-रशीद के ज़माने में, यानी ७८६ से ८०९ ई० तक, अब्बासी साम्राज्य अपनी ज़ाहिरा शान-शौकत की चोटी पर था। हारूं के दरबार में चीनी सम्राट् के और पश्चिम में सम्राट् शार्लमैन के राजदूत आये थे। स्पेन के अरबों को छोड़कर, बग़दाद और अब्बासी साम्राज्य शासन की सारी कलाओं में, व्यापार में और विद्या के विकास में, यूरोप से बहुत आगे बढ़े हुए थे।

अब्बासी काल हमारे लिए ख़ास तौर से दिलचस्प है, क्योंकि इसी ज़माने में विज्ञान में नई दिलचस्पी पैदा हुई थी। तुम जानती हो कि विज्ञान आजकल की दुनिया में एक बहुत बड़ी चीज़ है और बहुत-सी बातों के लिए हम विज्ञान के देनदार हैं। विज्ञान का काम यह नहीं है कि सिर्फ़ हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाय और मनाता रहे कि घटनाएं होती रहें। वह तो इस तलाश में रहता है कि घटनाएं क्यों

होती हैं ? विज्ञान प्रयोग करता रहता है और बार-बार कोशिश करता है—कभी असफल होता है और कभी सफल—और इस तरह धीरे-धीरे मनुष्य-जाति के ज्ञान को बढ़ाता रहता है। आजकल की हमारी दुनिया प्राचीन या मध्यकालीन दुनिया से बिलकुल अलग तरह की है। यह बड़ा फ़र्क़ ज़्यादातर विज्ञान की वजह से ही है, क्योंकि आज का संसार विज्ञान का ही बनाया हुआ है।

प्राचीन देशों में हमको मिस्र, चीन या भारत में वैज्ञानिक तरीक़ा नहीं दिखाई देता। पुराने यूनान में ज़रूर कुछ अंश में पाया जाता है। रोम में भी इसका अभाव था। लेकिन अरबों में खोज की वैज्ञानिक भावना पाई जाती थी, इसलिए अरबों को आजकल के विज्ञान का जन्मदाता कह सकते हैं। आयुर्वेद और गणित जैसे कुछ विषयों में इन्होंने भारत से बहुत-कुछ सीखा था। भारतीय विद्वान और गणितज्ञ बड़ी संख्या में बग़दाद जाते थे। बहुत-से अरबी विद्यार्थी उत्तर भारत में तक्षशिला आया करते थे, जो उस समय तक एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था और आयुर्वेद की शिक्षा के लिए ख़ास मशहूर था। आयुर्वेद की और दूसरे विषयों की संस्कृत पुस्तकें अरबी ज़बान में खासतौर से अनुवाद की गई थीं। बहुत-सी चीज़ें अरबों ने चीन से सीखीं—जैसे काग़ज़ बनाना। लेकिन जो कुछ उन्होंने दूसरों से सीखा उसकी बुनियाद पर अपनी खोजें करके उन्होंने और बहुत-सी महत्वपूर्ण ईजादें कीं। सबसे पहले उन्होंने ही दूरबीन और क़ुतुबनुमा बनाये। चिकित्सा में अरब के हकीम और जर्राह सारे यूरोप में मशहूर थे।

इन तमाम दिमाग़ी हलचलों का मुख्य केन्द्र बग़दाद ही था। पश्चिम में अरबी स्पेन की राजधानी कुरतुबा भी ऐसा ही केन्द्र था। अरबी दुनिया में इसी तरह के और भी कई विश्वविद्यालयों के केन्द्र थे, जहां दिमाग़ी जीवन खूब उन्नति पर था; जैसे 'विजयी' अल-क़ाहिरा, बसरा, और कूफा। लेकिन एक अरबी इतिहासकार के अनुसार "इस्लाम की राजधानी, इराक की आंख, साम्राज्य की गद्दी और कला, संस्कृति व सौन्दर्य का केन्द्र" बग़दाद इन सब मशहूर शहरों से बढ़ा-चढ़ा था। इसकी आबादी बीस लाख से ज्यादा थी और यह आजकल के कलकत्ता या बम्बई से बहुत बड़ा था।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि मोज़ा और जुर्राब पहनने की आदत सबसे पहले बगदाद के अमीरों से ही शुरू हुई बतलाई जाती है। इन्हें 'मोज़ा' कहा जाता था और इनका भारतीय नाम इसी शब्द से निकला होगा। इसी तरह फ्रांसीसी शब्द 'शेमीज़' यानी कुर्त्ता 'क़मीज़' से निकला है। 'क़मीज़' और 'मोज़ा' दोनों चीज़ें अरबों से क़ुस्तुन्तुनिया के बिज़ैन्तीनों ने लीं और फिर वहां से ये यूरोप पहुंचीं।

अरब लोग हमेशा से दूर-दूर की यात्रा करनेवाले रहे हैं। इन्होंने अपनी

लम्बी-लम्बी समुद्र-यात्राएं जारी रक्खीं और अफ्रीका में, भारत के किनारों पर, मलेशिया में, और चीन तक में अपने उपनिवेश क़ायम किये। अलबेरूनी एक मशहूर अरब यात्री हो गया है, जो भारत आया था, और वह भी ह्यूएत्सांग की तरह अपने सफ़र का लिखा हुआ हाल छोड़ गया है।

अरब लोग इतिहास-लेखक भी थे, और इनकी ही किताबों और इतिहासों से हमें इनके बारे में बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। हम सभी जानते हैं कि वे कितने सुन्दर क़िस्से और फ़साने लिख सकते थे। हज़ारों-लाखों आदमियों ने अब्बासी ख़लीफ़ाओं का और उनके साम्राज्य का नाम तक नहीं सुना है, लेकिन 'अलिफ लैला यानी 'एक हजार एक रातों' में बयान किये हुए रहस्य और फ़सानों के नगर बग़दाद को कौन नहीं जानता। कल्पना का साम्राज्य अक्सर सचमुच के साम्राज्य से ज़्यादा असली और टिकाऊ होता है।

हारूं-अल-रशीद की मृत्यु के कुछ दिनों बाद अरब साम्राज्य पर आफत आई। दंगे-फ़साद होने लगे और साम्राज्य के कई हिस्से अलग हो गये। सूबों के हाकिम मौरूसी शासक बन बैठे। ख़लीफ़ा बराबर कमज़ोर होते गये, यहांतक कि एक ऐसा भी वक़्त आया जब ख़लीफ़ा का राज्य सिर्फ़ बग़दाद शहर और आस-पास के कुछ गांवों पर ही रह गया। एक ख़लीफ़ा को तो उसीके सिपाहियों ने महल से बाहर घसीटकर क़त्ल कर डाला था। फिर थोड़े दिन के लिए कुछ ऐसे ज़ोरदार व्यक्ति पैदा हुए, जो बग़दाद से बैठे-बैठे हकूमत करने लगे, और जिन्होंने ख़लीफ़ाओं को अपना मातहत बना लिया।

इस समय इस्लाम की एकता दूर के बीते हुए ज़माने की बात हो गई थी। मिस्र से लेकर मध्य एशिया के खुरासान तक, सभी जगह, अलग-अलग राज्य बन गये। दूर पूर्व से बहुत-से घुमक्कड़ कबीले पश्चिम की तरफ़ बढ़ने लगे। मध्य एशिया के पुराने तुर्क मुसलमान हो गये और उन्होंने आकर बग़दाद पर क़ब्ज़ा कर लिया। इनको सेलजूक़ तुर्क कहते हैं। इन्होंने कुस्तुन्तुनिया की बिजैन्तीन सेना को पूरी तरह हराकर यूरोप को हैरत में डाल दिया। क्योंकि यूरोप के लोगों का ख़याल था कि अरबों और मुसलमानों की ताक़त ख़तम हो चुकी है और वे लोग दिन-पर-दिन कमजोर होते जा रहे हैं। यह बात सच थी कि अरब लोग बहुत गिर चुके थे, लेकिन अब सेलजूक तुर्क इस्लाम का झंडा ऊंचा रखने और यूरोप को चुनौती देने के लिए मैदान में उतर आये थे।

हम आगे चलकर देखेंगे कि इस चुनौती का जल्दी जवाब दिया गया, और मुसलमानों से लड़ने के लिए और अपने पवित्र शहर यरूशलम को फिर से जीतने के लिए यूरोप के ईसाई राष्ट्रों ने कई बार संगठित होकर जिहाद (धर्मयुद्ध) का झंडा उठाया। सौ वर्षों से ज़्यादा तक सीरिया, फिलस्तीन और एशिया-कोचक

में हुकूमत के लिए इस्लाम और ईसाइयत में लड़ाइयां हुईं। दोनों ने एक दूसरे को पस्त कर दिया और इन देशों की चप्पा-चप्पा ज़मीन मनुष्यों के खून से तर कर दी। इन हिस्सों के खुशहाल शहरों की महानता और तिजारत ख़तम हो गई और हरे-भरे खेत अक्सर वीरान कर दिये गए।

इसी तरह ये एक दूसरे से लड़ते रहे। इनकी लड़ाइयां ख़तम भी नहीं होने पाई थीं कि एशिया के उस पार मंगोलिया में 'दुनिया को हिलानेवाला' कहलानेवाला मुग़ल चंगेज़ खां पैदा हुआ। एशिया और यूरोप को तो इसने आगे चलकर वास्तव में हिला दिया। इसने और इसके वंशज़ों ने बग़दाद और उसके साम्राज्य को हमेशा के लिए ख़तम कर दिया। जब मंगोल लोग बग़दाद के विशाल और मशहूर शहर का निपटारा कर चुके तो वहां सिर्फ़ मिट्टी और राख का ढेर रह गया था और उसके बीस लाख निवासियों में से ज्यादातर मर चुके थे। यह १२५८ ई० की बात है।

बग़दाद अब फिर एक खुशहाल शहर हो गया है और इराक़ की राजधानी है। लेकिन वह अपने पुराने रूप की सिर्फ़ छाया है, क्योंकि मंगोलों की ढायी हुई मौत और बरबादी के असर से यह कभी न पनप सका।

## : ५१ :
## उत्तर-भारत में—हर्ष से महमूद तक

१ जून, १९३२

अब हमें अरबों या सरासीनों की कहानी के सिलसिले को तोड़कर दूसरे देशों पर नज़र डालनी चाहिए। जिस अर्से में अरब शक्तिशाली हुए, विजयी हुए, फैले और फिर गिर गये, उस बीच भारत में, चीन में और यूरोप के देशों में क्या हो रहा था ? इसकी कुछ झलक हम पहले ही देख चुके हैं—७३२ ई० में चार्ल्स मार्टे की कमान में यूरोप की शामिल सेनाओं का अरबों को फ्रांस में तूर की लड़ाई में हराना, अरबों की मध्य-एशिया पर विजय और भारत में सिन्ध तक उनका आना। पहले ज़रा भारत की ओर चलें।

कन्नौज का राजा हर्षवर्धन ६४८ ई० में मर गया और उसके मरने के साथ ही उत्तर भारत का राजनीतिक पतन और भी साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा। पतन का यह सिलसिला कुछ समय पहले ही से चला आ रहा था और हिन्दू और बौद्धधर्म के संघर्ष ने इस गिरावट में मदद पहुंचाई। हर्ष के समय में खूब दिखावा था, लेकिन यह भी थोड़े ही दिन रहा। हर्ष के मरने के बाद उत्तर भारत में कई छोटे-छोटे राज्य पैदा हो गये, जो कभी-कभी कुछ दिनों के लिए शान दिखा देते

थे, और कभी-कभी आपस में लड़ा करते थे। यह विचित्र बात है कि हर्ष के मरने के बाद तीन सौ से भी ज्यादा वर्षों तक इस देश में साहित्य और कला फूलते-फलते रहे, और कई बढ़िया सार्वजनिक चीज़ें बनीं। इसी जमाने में भवभूति और राजशेखर जैसे कई प्रसिद्ध संस्कृत लेखक हुए और कई ऐसे राजा हुए, जो राजनीति के लिहाज़ से तो महत्व नहीं रखते, लेकिन इसलिए मशहूर हुए कि उनके राज में कला और विद्या ने तरक़्क़ी की। इनमें से राजा भोज तो आदर्श राजा का ऐसा नमूना बन गया है, जिसका नाम कहानियों में आता है।

लेकिन इन चमकदार घटनाओं के बावजूद उत्तर भारत का पतन होता जा रहा था। दक्षिण भारत फिर से आगे बढ़ रहा था और उत्तर भारत पर छाने लगा था। इस समय के दक्षिण भारत के बारे में मै तुम्हें अपने एक पिछले पत्र में कुछ लिख चुका हूं। उसमें मैंने चालुक्यों, पल्लवों, राष्ट्रकूटों और चोल साम्राज्य के बारे में लिखा था। मैं शंकराचार्य का भी ज़िक्र कर चुका हूं, जिन्होंने थोड़ी-सी ज़िन्दगी में ही सारे देश के विद्वानों और बेपढ़ों, दोनों पर असर डालने में सफलता पाई और जो भारत में बौद्ध धर्म को क़रीब-क़रीब खतम कर देने में सफल हुए। कितनी विचित्र बात है कि जब शंकराचार्य अपना काम कर रहे थे ठीक उसी समय एक नया मज़हब भारत का दरवाज़ा खटखटा रहा था, जो बाद में बाढ़ की तरह जीतता हुआ भारत में घुसा और उस ज़माने की व्यवस्था को चुनौती देने लगा!

अरब लोग बहुत जल्द, हर्ष की ज़िन्दगी में ही, भारत की सीमा पर आ पहुंचे थे। वे वहां कुछ समय के लिए रुक गये और फिर उन्होंने सिंध पर क़ब्ज़ा पर लिया। ७१० ई० में सत्रह साल के एक जवान लड़के मोहम्मद इब्न क़ासिम ने अरबी सेना लेकर सिन्ध कांठे को पश्चिम पंजाब में मुलतान तक जीत लिया। भारत में अरबों की फतह का यही पूरा फैलाव था। सम्भव है, अगर उन्होंने कड़ी कोशिश की होती वे इससे भी आगे बढ़ गये होते। यह काम कुछ मुश्किल भी न होता, क्योंकि उत्तर भारत बहुत कमज़ोर था। हालांकि इन अरबों और आस-पास के राजाओं में अकसर लड़ाइयां हुआ करती थीं, फिर भी देश जीतने के लिए कोई संगठित कोशिश नहीं की गई। इसलिए राजनीतिक पहल से अरबों की सिन्ध पर यह विजय कोई खास महत्त्व का मामला नहीं थी। मुसलमानों ने भारत को इसके कई सौ वर्षों बाद जीता, लेकिन अरबों और भारतवासियों के इस सम्पर्क का संस्कृति पर बहुत बड़ा असर हुआ।

अरबों का दक्षिण के भारतीय राजाओं, खासकर राष्ट्रकूटों, के साथ दोस्ती का व्यवहार रहता था। बहुत-से अरब भारत के पश्चिमी किनारे पर बस गये थे और अपनी बस्तियों में उन्होंने मस्जिदें बनवाई थीं। अरब यात्री और व्यापारी भारत के कई हिस्सों में जाया करते थे। अरब विद्यार्थी उत्तर भारत

के तक्षशिला विश्व-विद्यालय में काफ़ी संख्या में आते थे, जो ख़ासकर आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। कहते हैं कि हारूं-अल-रशीद के ज़माने में भारत के विद्वानों का बगदाद में बड़ा आदर था और भारत के वैद्य अस्पतालों और चिकित्सा की पाठशालाओं की व्यवस्था करने के लिए बग़दाद जाया करते थे। गणित और ज्योतिष के बहुत-से संस्कृत-ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया था।

इसी तरह अरबों ने पुरानी भारतीय आर्य-संस्कृति से बहुत-सी बातें लीं। उन्होंने ईरान की आर्य-संस्कृति और यूनानी संस्कृति से भी बहुत-कुछ लिया था। अरब लोग क़रीब-क़रीब एक नई नस्ल की तरह थे, जो अपनी पूरी जवानी पर थी। उन्होंने अपने चारों ओर जितनी पुरानी सभ्यताएं देखीं, सबसे कुछ-न-कुछ सीखा और फ़ायदा उठाया, और इस बुनियाद पर उन्होंने एक अपनी ही चीज़ बनाई, जिसे सरासीनी संस्कृति कहते हैं। संस्कृतियों के लिहाज़ से इस संस्कृति की जिन्दगी थोड़े दिनों की ही रही, लेकिन यह एक रोशन ज़िन्दगी थी, जो यूरोप के मध्य युगों के अन्धेरे परदे पर चमकती हुई दिखाई देती है।

यह अजीब बात है कि अरब लोगों ने तो भारतीय आर्य, ईरानी और यूनानी संस्कृतियों के सम्पर्क से फ़ायदा उठाया, पर भारतीयों, ईरानियों और यूनानियों ने अरबों के सम्पर्क से ज़्यादा फ़ायदा नहीं उठाया। शायद इसकी वजह यह हो कि अरब जाति नई थी, और मर्दानगी व उत्साह से भरी हुई थी; लेकिन दूसरी जातियां पुरानी थीं जो पुरानी लकीरों पर चली जाती थीं, और परिवर्तन की ज़्यादा परवाह नहीं करती थी। यह मजेदार बात है कि उम्र का जैसा असर व्यक्तियों पर पड़ता है, वैसा ही क़ौमों और नस्लों पर भी पड़ता है, उनकी गति धीमी पड़ जाती है, उनके मन और शरीर बेलोच हो जाते हैं, वे परिवर्तन से घबराने लगती हैं और रूढ़िवादी बन जाती हैं।

इसलिए अरबों के इस सम्पर्क से, जो कई सौ वर्षों तक रहा, भारत पर ज्यादा असर नहीं पड़ा, और न उसमें कोई ख़ास परिवर्तन ही हुआ। लेकिन इस लम्बे समय में नये मज़हब इस्लाम के बारे में भारत को कुछ-न-कुछ जानकारी ज़रूर हो गई होगी। अरब के मुसलमान आते और जाते रहे और मस्जिदें बनवाते रहे, कभी उन्होंने अपने मज़हब का प्रचार किया और कभी कुछ लोगों को मुसलमान भी बनाया। मालूम होता है कि उस समय इन बातों पर कोई ऐतराज़ नहीं किया जाता था और न हिन्दू धर्म और इस्लाम में कोई झगड़ा या संघर्ष हुआ। यह बात ध्यान देने लायक़ है; क्योंकि बाद में इन दोनों में संघर्ष और लड़ाई-झगड़े हुए ही। ग्यारहवीं सदी में जब इस्लाम हाथ में तलवार लेकर, विजेता की तरह, भारत में दाख़िल हुआ तभी जबर्दस्त प्रतिक्रिया शुरू हुई और पुरानी सहनशीलता की जगह नफ़रत और संघर्ष ने ले ली।

यह तलवार चलानेवाला, जो आग और मार-काट लेकर भारत में आया, ग़ज़नी का महमूद था। ग़ज़नी अब अफ़ग़ानिस्तान में एक छोटा-सा क़स्बा रह गया है। दसवीं सदी में ग़ज़नी के आस-पास एक राज्य बन गया था। मध्य एशिया के राज्य नाम के लिए बग़दाद के ख़लीफ़ा के अधीन थे, लेकिन, जैसा कि मैं तुमको पहले ही बता चुका हूं, हारूं-अल-रशीद के मरने के बाद ख़लीफ़ा कमज़ोर हो गये, और एक समय आया जब ख़लीफ़ाओं का साम्राज्य कई स्वाधीन राज्यों में बंट गया। यह उसी समय की बात है, जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। सुबुक्तगीन नामक एक तुर्की ग़ुलाम ने ९७५ ई० के लगभग ग़ज़नी और क़ंधार में अपना एक राज्य क़ायम कर लिया था। उसने भारत पर भी हमला किया। उन दिनों लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल ने सुबुक्तगीन के ख़िलाफ़ काबुल नदी के कांठे पर चढ़ाई कर दी, पर उसकी हार हो गई।

सुबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गद्दी पर बैठा। वह एक तेजस्वी सेनापति और घुड़सवारों का कुशल नायक था। हर साल वह भारत पर धावा बोलता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से क़ैदी ले जाता। कुल मिलाकर उसने भारत पर सत्रह हमले किये, जिनमें से सिर्फ़ एक कश्मीर का धावा असफल रहा। बाक़ी सब धावे सफल हुए, और सारे उत्तर भारत पर उसका आतंक छा गया। वह दक्षिण की तरफ़ पाटलिपुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक जा पहुंचा। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख क़ैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे सबसे ज़्यादा ख़ज़ाना सोमनाथ में मिला, क्योंकि वहांपर एक बहुत बड़ा मन्दिर था और सदियों की भेंट-पूजा वहां जमा थी। कहते हैं कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुंचा, तो इस आशा में कि कोई चमत्कार होगा, और उनका पूज्य देवता उनकी मदद करेगा, हज़ारों आदमियों ने उस मन्दिर में शरण ली! लेकिन भक्तों की कल्पनाओं के बाहर चमत्कार शायद ही कभी होते हों। महमूद ने मन्दिर को तोड़ डाला और उसे लूट लिया। पचास हज़ार आदमी उस चमत्कार की, जो होनेवाला नहीं था, राह देखते-देखते मर गये।

महमूद १०३० ई० में मर गया। उस समय सारा पंजाब और सिन्ध उसके अधीन था। वह इस्लाम का एक बड़ा नेता माना जाता है, जो भारत में इस्लाम फैलाने के लिए आया। बहुत-से मुसलमान उसकी इज़्ज़त करते हैं, बहुत-से हिन्दू उससे नफ़रत करते हैं। लेकिन असल में वह मज़हबी आदमी नहीं था। वह मुसलमान ज़रूर था, लेकिन यह कोई ख़ास बात नहीं थी। असली बात यह थी कि वह एक सिपाही था और बहुत होशियार सिपाही था। वह भारत को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि बदक़िस्मती से अक्सर सिपाही किया करते हैं, और वह किसी भी मज़हब का माननेवाला होता तो भी यही करता। यह दिलचस्प बात

है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान शासकों को भी धमकी दी थी और जब उन्होंने उसकी अधीनता मंज़ूर कर ली और उसे ख़िराज दिया तभी उन्हें छोड़ा था। उसने बग़दाद के ख़लीफ़ा को भी मौत की धमकी दी थी और उससे समरक़न्द मांगा था। इसलिए हमें महमूद को एक सफल सिपाही के अलावा और कोई दूसरी चीज़ समझने की आम ग़लतफ़हमी में नहीं पड़ना चाहिए।

महमूद बहुत-से भारतीय शिल्पकारों और मेमारों को अपने साथ ग़ज़नी ले गया था, और वहां उसने एक सुन्दर मस्जिद बनाई थी, जिसका नाम उसने 'उरूसे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रक्खा था। बग़ीचों का उसे बड़ा शौक़ था।

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमें दिखाई है, जिससे पता लगता है कि मथुरा उस समय कितना बड़ा शहर था। महमूद ने ग़ज़नी के अपने सूबेदार को एक ख़त में लिखा था—"यहां एक हज़ार ऐसी इमारतें हैं, जो मोमिनों के ईमान की तरह मज़बूत हैं। यह मुमकिन नहीं कि यह शहर अपनी इस मौजूदा हालत बिना करोड़ों दीनार[1] ख़र्च किये पहुंचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दोसौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है।"

महमूद का लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फ़िरदौसी की किताब में पढ़ते हैं। फ़िरदौसी फ़ारसी का महाकवि था और महमूद का समकालीन था। मुझे ख़याल आता है कि पिछले साल एक पत्र में मैंने उसका और उसकी ख़ास रचना 'शाहनामा' का ज़िक्र किया है। एक कथा है कि शाहनामा महमूद के कहने पर लिखा गया था और उसने फ़िरदौसी को एक शेर पर सोने की एक-एक दीनार देने का वादा किया था। लेकिन मालूम होता है फ़िरदौसी संक्षेप में और थोड़े शब्दों में लिखने का क़ायल नहीं था। उसने बहुत ही विस्तार के साथ लिखा, और जब वह महमूद के सामने अपने बनाये हज़ारों शेर ले गया, तो हालांकि उसकी रचना की बहुत तारीफ़ की गई, लेकिन महमूद को जल्दबाज़ी में किये गए अपने वादे पर अफ़सोस हुआ। उसने उसे वादे से बहुत कम देने की कोशिश की। इसपर फ़िरदौसी बड़ा नाराज़ हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया।

हर्ष से महमूद तक हमने एक लम्बी छलांग मारी है और साढ़े तीन सौ वर्षों से ज़्यादा समय का भारतीय इतिहास कुछ ही पैरों में देख लिया है। मैं समझता हूं कि इस लम्बे काल के बारे में बहुत-कुछ दिलचस्प बातें लिखी जा सकती हैं। लेकिन मैं उनसे परिचित नहीं हूं, इसलिए अक्लमन्दी की बात यही है कि मैं इस बारे में चुप रह जाऊं। मैं तुम्हें अलग-अलग राजाओं और शासकों के बारे में कुछ-न-कुछ बता सकता हूं, जो एक-दूसरे से लड़े और जिन्होंने उत्तर भारत में कभी कभी पांचाल जैसे बड़े-बड़े राज्य भी क़ायम किये। कन्नौज के बड़े शहर की

[1] दीनार—सोने का एक सिक्का।

मुसीबतों का भी हाल मैं बता सकता हूं कि किस तरह उसपर पहले कश्मीर के राजाओं ने फिर बंगाल के राजा ने और बाद में दक्षिण के राष्ट्रकूटों ने हमले किये और थोड़े-थोड़े दिनों के लिए क़ब्ज़े किये, लेकिन इससे कोई फ़ायदा न होगा; तुम सिर्फ़ उलझन में फंस जाओगी।

यहां हम भारत के इतिहास के एक लम्बे अध्याय के अन्त तक आ पहुंचे हैं, और अब एक नया अध्याय शुरू होता है। इतिहास को अलग-अलग हिस्सों में बांटना मुश्किल होता है और अक्सर ग़लत भी। इतिहास बहती हुई नदी की तरह आगे बढ़ता ही रहता है। फिर भी इसमें परिवर्तन होते रहते हैं; एक पहलू का अन्त और दूसरे की शुरूआत होती दिखाई देती है। ये परिवर्तन अचानक नहीं होते; एक परिवर्तन पूरा होने नहीं पाता कि दूसरा शुरू हो जाता है। इसलिए जहांतक भारत का सम्बन्ध है, हम उसके इतिहास के अटूट नाटक के एक अंक तक पहुंच गये हैं। जिस काल को हिन्दू-काल कहा जाता है वह अब धीरे-धीरे खतम होता है। हिन्दू आर्य-संस्कृति, जो कई हज़ार वर्षों से फूलती-फलती आ रही थी, अब एक नई आनेवाली संस्कृति के संघर्ष में आती है। लेकिन याद रखो कि यह परिवर्तन अचानक नहीं हुआ था; धीरे-धीरे आया था। इस्लाम उत्तर भारत में महमूद के साथ आया। दक्षिण भारत बहुत दिनों तक इस्लाम से अछूता रहा, और इसके बाद बंगाल भी क़रीब दो सौ वर्षों से ज़्यादा तक इस्लाम के प्रभाव से बचा रहा। हम देखते हैं कि उत्तर में चित्तौड़, जो आगे के इतिहास में अपनी जां-बाज बहादुरी के लिए मशहूर होनेवाला था, राजपूत घरानों के एक जगह इकट्ठा होने की जगह बनने लगा था। लेकिन मुसलमानों की विजय का ज्वार पक्के और न बदलनेवाले रूप से आगे बढ़ता ही गया और व्यक्तिगत वीरता उसे ज़रा भी न रोक सकी। इसमें कोई शक नहीं कि पुराना हिन्दू आर्य-भारत गिरावट की तरफ़ जा रहा था।

विदेशियों और विजेताओं को रोकने में असमर्थ होने पर हिन्दू आर्य-संस्कृति ने बचाव की नीति पकड़ी। अपनेको बचाने की कोशिश में वह एक कोठरी में बन्द होकर बैठ गई। उसने अपनी जाति-प्रथा को, जिसमें अभी तक कुछ लोच बाक़ी था, ज़्यादा कड़ी और जड़ बना दिया। उसने स्त्रियों की आज़ादी कम कर दी। ग्राम-पंचायतों की हालत भी धीरे-धीरे बदलकर बुरी हो गई। लेकिन इस हालत में भी, जबकि वह एक ज़्यादा जीवटदार कौम के सामने गिर रही थी, उसने उन लोगों पर अपना असर डालने और उन्हें अपने सांचे में ढालने की कोशिश की। और इस आर्य-संस्कृति में दूसरों की बातों को अपनाने और हज़म करने की इतनी ताक़त थी कि, एक हद तक, इसने अपने विजेताओं के ऊपर भी सांस्कृतिक विजय हासिल कर ली।

तुम्हें याद रखना चाहिए कि यह खींच-तान भारतीय आर्य-सभ्यता और

ऊंचे दर्जे की सभ्यतावाले अरबों के बीच नहीं थी। यह तो सभ्य, लेकिन गिरते हुए भारत और मध्य एशिया की उन आधी सभ्य और अक्सर घुमक्कड़ क़ौमों के बीच थी जिन्होंने ख़ुद ही उन्हीं दिनों इस्लाम कबूल किया था। बदक़िस्मती से भारत ने इस्लाम का सम्बन्ध इस असभ्यता और महमूद के हमलों की भयानकता के साथ जोड़ दिया, जिससे कड़वाहट पैदा हो गई।

: ५२ :

# यूरोप के देशों का रूप लेना

३ जून, १९३२

प्यारी बेटी! अब हम यूरोप की सैर करेंगे। पिछली बार जब हमने उसका ज़िक्र किया था तब उसकी हालत ख़राब थी। रोम का पतन, पश्चिमी यूरोप में सभ्यता का पतन था। क़ुस्तुन्तुनिया की सरकार के अधीन हिस्से को छोड़कर पूर्वी यूरोप में इससे भी ख़राब हालत थी। अतिला नामक हूण ने इस महाद्वीप के बहुत बड़े हिस्से को जला डाला और तहस-नहस कर डाला था। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य, गिरावट पर होते हुए भी, बना रहा। इतना ही नहीं, कभी-कभी उसमें हलचल के उफ़ान भी आते रहते थे।

रोम के पतन ने पश्चिम को झंझोड़ दिया और उसके बाद वहां सब बातें नये तरीक़े से जमने लगीं। इनके ज़मने में बहुत दिन लग गये। फिर भी नया ढांचा जैसे-जैसे बनता जाता है, वह हमें कुछ हद तक नज़र आने लगता है। कभी सन्तों और शान्ति-प्रिय लोगों की मदद पाकर, और कभी अपने योद्धा राजाओं की तलवार की ज़ोर पर, ईसाइयत फैलने लगी। नये-नये राज्य पैदा हो गये। फ्रांन्स, बेलज़ियम और जर्मनी के एक भाग पर फ्रैंक लोगों ने, जिन्हें तुम फ्रैंच (फ़्रांस-निवासी) समझने की भूल न करना, क्लोविस नामक शासक के मातहत एक राज्य बनाया। इसने ४८१ से ५११ ई० तक राज किया। यह राजवंश क्लोविस के दादा के नाम से मेरोविंजी वंश कहलाता है। लेकिन इन राजाओं के ऊपर बहुत जल्दी उन्हींके दरबार का एक अफ़सर हावी हो गया। यह राजमहल का 'मेयर' था। ये मेयर सारी शक्तिवाले हो गये और इनका यह पद मौरूसी हो गया। असली शासक तो ये थे, राजा तो सिर्फ़ नाम के और कठपुतली थे।

चार्ल्स मार्तेल भी इन्हीं राजमहल के मेयरों में से था, जिसने ७३२ ई० में फ़्रान्स में तूर की बड़ी लड़ाई में सरासीनों को हराया था। इस विजय से चार्ल्स मार्तेल ने सरासीनों की उस लहर को रोक दिया जो मुल्कों को जीतती चली आ रही थी, और ईसाइयों की निगाह में उसने यूरोप को बचा लिया। इस जीत से उसकी इज़्ज़त और शोहरत बहुत बढ़ गई। वह शत्रुओं से ईसाई सल्तनत की रक्षा करने

नवीं सदी का यूरोप

स्वीड लोग
डेन लोग
वोल्गा
उनरी स्लाव
नीपर नदी
राइन नदी
शार्लमेन
मगियार
रोन नदी
वेनिस
बुलगार
सर्ब
कुस्तुन्तुनिया
पूर्वी साम्राज्य
खिलाफ़त
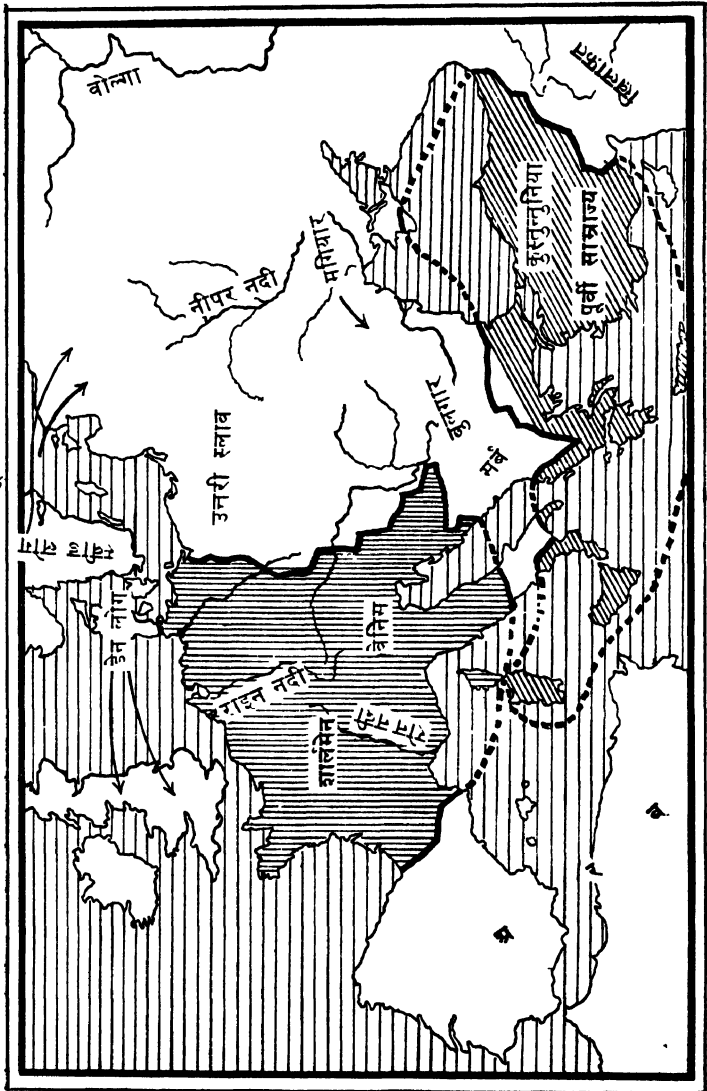
वाला वीर माना जाने लगा। इन दिनों रोम के पोपों और क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राटों के आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। इसलिए पोप सहायता के लिए चार्ल्स मार्ते का मुंह देखने लगे। चार्ल्स मार्ते के पुत्र पेपिन ने वहां के कठपुतली राजा को गद्दी से उतारकर अपनेको बादशाह घोषित करना तय किया और पोप ने ख़ुशी के साथ यह बात मान ली।

पेपिन का पुत्र शार्लमेन था। पोप के ऊपर फिर मुसीबत आई और उसने शार्लमेन को अपने बचाव के लिए बुलाया। शार्लमेन ने मदद की और पोप के दुश्मनों को भगा दिया और ८०० ई० के बड़े दिन को गिरजे में एक बड़ा उत्सव मनाया गया, जिसमें पोप ने शार्लमेन को रोमन सम्राट का ताज पहना दिया। उसी दिन से पवित्र रोमन साम्राज्य शुरू हुआ, जिसकी बाबत मैं तुम्हें पहले एक बार लिख चुका हूं।

यह एक विचित्र साम्राज्य था, और इसका आगे का इतिहास तो और भी विचित्र है, क्योंकि वह धीरे-धीरे ग़ायब हो जाता है, जैसे 'एलिस इन दि वंडरलैण्ड'[१] की चेशायर बिल्ली ग़ायब होकर सिर्फ़ अपनी मुस्कराहट छोड़ जाती है और उसके शरीर का कोई निशान नहीं रहता। लेकिन यह आगे की बात है और हमें अभी से भविष्य में ताक-झांक करने की ज़रूरत नही।

यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पुराने पश्चिमी रोमन साम्राज्य का सिलसिला नहीं था। यह एक अलग ही चीज़ थी। यह अपने साम्राज्य को ही साम्राज्य समझता था। इसका सम्राट, शायद पोप को छोड़कर अपने को दुनिया में हरेक का स्वामी मानता था। सम्राट और पोप के बीच कई सदियों तक इस बात की लाग-डांट रही थी कि दोनों में कौन बड़ा है। लेकिन यह भी अभी आगे की बात है। मज़ेदार बात यह है कि यह साम्राज्य उस पुराने साम्राज्य का पुनर्जीवन माना जाता था, जो किसी समय सर्वोपरि था और जब रोम दुनिया का स्वामी माना जाता था। लेकिन इसके साथ ईसाइयत और ईसाई-राज्य का एक नया विचार और जुड़ गया था। इसलिए यह साम्राज्य 'पवित्र' बन गया था। सम्राट को इस पृथ्वी पर ईश्वर का नायब जैसा समझा जाता था और यही बात पोप के लिए भी थी। एक राजनैतिक मामलों को निपटाता था, दूसरा आध्यात्मिक मामलों को। बहरहाल

---

[१] 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'—अंग्रेज़ी की एक पुस्तक का नाम। आक्सफ़ोर्ड विश्व-विद्यालय के एक प्रोफ़ेसर ने, लुई केरोल के नाम से, एक मित्र की लड़कियों के विनोद के लिए, सन् १८६५ में इसे लिखा था। यह पुस्तक बड़ी रोचक है, और शायद ही कोई अंग्रेजी जाननेवाला बालक या बालिका ऐसी हो, जिसने इसे न पढ़ा हो। इस पुस्तक में एलिस नाम की एक लड़की की आश्चर्यमय लोक की स्वप्न-यात्रा का वर्णन है।

कुछ ऐसा ही विचार था; और मैं समझता हूं कि इसी विचार से यूरोप में राजाओं के दैवी अधिकार[1] का खयाल पैदा हुआ। सम्राट 'धर्म का रक्षक' था। तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि इंग्लैण्ड का बादशाह अभी तक 'धर्म का रक्षक' कहा जाता है।

इस सम्राट् का मुक़ाबला उस खलीफ़ा से करो जो 'अमीरुल मोमनीन' कहलाता था। शुरू में खलीफ़ा वास्तव में सम्राट् और पोप दोनों ही होता था। लेकिन बाद में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उसकी हैसियत नाम की रह गई थी।

क़ुस्तुन्तुनिया के सम्राटों ने पश्चिम के इस नये उठे हुए 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को बिलकुल पसंद नहीं किया। जिस समय शार्लमेन गद्दी पर बैठा, क़ुस्तुन्तुनिया में आइरीन नामक एक औरत सम्राज्ञी बन बैठी। आइरीन ऐसी स्त्री थी, जिसने सम्राज्ञी बनने के लिए खुद अपने ही पुत्र को मार डाला था और उसके समय में राज्य की हालत खराब थी। यह भी एक वजह थी, जिससे पोप को यह साहस हुआ कि शार्लमेन को ताज पहनाकर क़ुस्तुन्तुनिया से नाता तोड़ ले।

शार्लमेन इस समय पश्चिमी ईसाई सल्तनत का नायक था। वह पृथ्वी पर 'ईश्वर का नायब' था और एक पवित्र साम्राज्य का सम्राट् था। सुनने में ये शब्द कितने शानदार मालूम पड़ते हैं! लेकिन इनसे जनता को चकमा देने और उसे मंत्रमुग्ध कर देने का काम सध ही जाता है। ईश्वर और धर्म को अपना मददगार बनाकर सत्ताधारियों ने बहुत बार दूसरों को बेवक़ूफ़ बनाने और अपनी ताक़त बढ़ाने की कोशिशें की हैं। राजा, सम्राट् और धर्माचार्य इस तरह औसत आदमी की नज़रों में धुंधले और छाया-जैसे प्राणी बन जाते हैं, जो लोगों की निगाह में देवताओं की तरह और साधारण जीवन से दूर हो जाते हैं। इस रहस्य की वजह से मनुष्य उनसे भय खाने लगता है। दरबारों के तकल्लुफ़ी क़ायदों, शिष्टाचारों और ढकोसलों की तुलना मन्दिरों और गिरजों में होनेवाली पूजा के वैसे ही लम्बे-चौड़े आडम्बरों से करो। दोनों में वही एक-से सर झुकाना, कोर्निश करता और दंडवत् करना—जिसे चीनी लोग 'को-टो' करना कहते हैं। सत्ता के विविध रूपों की यह पूजा बचपन से ही हमें सिखाई जाती है। यह भय की उपासना है, प्रेम की नहीं।

शार्लमेन बग़दाद के हारूं-अल-रशीद का समकालीन था। वह उससे पत्र-व्यवहार करता था। और ग़ौर करने की बात है कि उसने सचमुच यह सुझाव दिया था कि वे दोनों मिलकर पूर्वी रोमन साम्राज्य और स्पेन के सरासीनों का मुक़ाबला करें। मालूम होता है, इस सुझाव का कोई फल नहीं निकला, लेकिन फिर भी इससे राजाओं और राजनीतिकों के दिमाग़ों के रंग-ढंग पर काफ़ी रोशनी पड़ती है। ईसाई-शक्ति और अरब-शक्ति के खिलाफ़, 'पवित्र' सम्राट् ईसाई सल्तनत का

[1] Divine Right of Kings.

नायक, बग़दाद के ख़लीफ़ा से मेल करे; इसकी कल्पना तो करो ! तुम्हें याद होगा कि स्पेन के सरासीनों ने बग़दाद के अब्बासी ख़लीफ़ाओं को मानने से इन्कार कर दिया था। वे आज़ाद हो गये थे और बग़दाद उनसे जला-भुना बैठा था। लेकिन ये दोनों एक-दूसरे से इतने दूर थे कि लड़ नहीं सकते थे। क़ुस्तुन्तुनिया और शार्लमेन के आपसी सम्बन्ध भी कुछ अच्छे नहीं थे। लेकिन यहां भी फ़ासले की वजह से लड़ाई नहीं हो पाई। बहरहाल यह सुझाव दिया गया था कि ईसाई और अरबी आपस में मिलकर दूसरी ईसाई शक्ति और दूसरी अरबी शक्ति से लड़ें। राजाओं के मन में असली नीयत यह होती थी कि किसी तरह शक्ति, सत्ता और दौलत हासिल करें—लेकिन मज़हब को अक्सर इस नीयत का चोला बना दिया जाता था। हर जगह ऐसा ही होता रहा है। भारत में हमने देखा है कि महमूद आया तो मज़हब के नाम पर लेकिन उसने इस चीज़ से ख़ूब फ़ायदा उठाया। धर्म की दुहाई देकर लोगों ने बहुत कमाइयां की हैं।

लेकिन हरेक युग में लोगों के विचार बदला करते हैं, और हमारे लिए बहुत दिन पहले के लोगों के बारे में फ़ैसला देना मुश्किल है। यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। बहुत-सी बातें, जो आज हमें ज़ाहिरा दिखाई देती हैं, उस समय के लोगों को बहुत विचित्र मालूम होतीं और उनके सोचने के ढंग और उनकी आदतें हमको अजीब मालूम होतीं। एक तरफ़ जब लोग ऊंचे आदर्शों की, पवित्र साम्राज्य की, ईश्वर के नायब की, और ईसा की जगह लेनेवाले पोप की बातें करते थे, तब उधर पश्चिम में हद से ज़्यादा ख़राब हालत थी। शार्लमेन के राज के कुछ ही दिन बाद इटली और रोम बहुत ही शर्मनाक हालत में थे। रोम में कुछ स्त्रियों और पुरुषों का एक घृणा पैदा करनेवाला झुंड मनमानी करता था और पोपों को बनाता-बिगाड़ता रहता था।

वास्तव में रोम के पतन के बाद पश्चिमी यूरोप में फैली हुई आम अशान्ति से लोगों के दिलों में यह ख़याल पैदा हो गया था कि साम्राज्य अगर फिर ज़िन्दा हो जाय तो हालत सुधर जायगी। बहुतों के लिए यह इज़्ज़त का सवाल हो गया कि उनका एक सम्राट् हो। उस समय का एक पुराना लेखक लिखता है कि चार्ल्स को इसलिए सम्राट् बनाया गया, कि "ग़ैर-ईसाई यह समझकर ईसाइयों का अपमान न करें कि ईसाइयों में सम्राट् का नाम बाक़ी नहीं रहा है।"

शार्लमेन के साम्राज्य में फ़ान्स, बेलजियम, हालैंड, स्वीज़रलैंड, आधा जर्मनी और आधा इटली शामिल थे। इसके दक्षिण-पश्चिम में स्पेन था, जो अरबों के अधीन था। उत्तर-पूर्व में स्लाव[1] और दूसरे क़बीले थे। उत्तर में डेन[2] और नार्थमेन[3]

---

[1] यूगोस्लाविया के निवासी, [2] डेनमार्क के निवासी [3] उत्तर यूरोप के क़बीले

थे। दक्षिण-पूर्व में बलग़ारी और सर्ब[1] थे और उनके आगे क़ुस्तुन्तुनिया के अधीन पूर्वी रोमन साम्राज्य था।

८१४ ई० में शार्लमेन की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद साम्राज्य की लूट के बंटवारे के लिए झगड़े उठ खड़े हुए। उसके वंशज, जो कार्लोविंजियन (केरोल चार्ल्स का लातीनी रूप है) कहलाते थे, किसी काम के नहीं थे, जैसाकि उनमें से कुछकी उपाधियों से मालूम होता है—एक 'मोटा' कहलाता था, एक 'गंजा' और एक 'दीनदार'। शार्लमेन के साम्राज्य के बंटवारे से अब हम जर्मनी और फ्रांस को अपना-अपना अलग रूप लेता हुआ देखते हैं। ८४३ ई० से जर्मनी का एक राष्ट्र के रूप में जन्म माना जाता है, और कहा जाता है कि ९६२ से ९७३ ई० तक राज करनेवाले सम्राट् ओटो महान् ने जर्मनों को बहुत करके एक क़ौम बना दिया। फ्रांस तो पहले से ही ओटो के साम्राज्य का हिस्सा नहीं था। ९८७ ई० में ह्यूकैपे ने कमज़ोर कार्लोविंजी राजाओं को निकाल दिया और फ्रांस पर क़ब्ज़ा कर लिया। लेकिन यह क़ब्ज़ा पूरी तरह का नहीं था, क्योंकि फ्रांस बड़े-बड़े इलाकों में बंटा हुआ था, जो स्वाधीन सरदारों के मातहत थे और ये सरदार आपस में अक्सर लड़ा करते थे। लेकिन वे एक-दूसरे से उतना नहीं डरते थे, जितना सम्राट् और पोप से; और इन दोनों का मुक़ाबला करने के लिए मिल जाते थे। ह्यूकैपे के समय से फ्रांस की राष्ट्र के रूप में शुरुआत हुई और इस शुरू के काल में भी हमें फ्रान्स और जर्मनी की लाग-डांट दिखाई देती है, जो पिछले हज़ार वर्षों से ठेठ हमारे ज़माने तक चली आ रही है। अजीब बात है कि फ्रान्स और जर्मनी जैसे दो इतने सुसंस्कृत और ऊंची दिमाग़ी प्रतिभावाले पड़ोसी देश और राष्ट्र इस प्राचीन कलह को पीढ़ी-दर-पीढ़ी पालते रहे। लेकिन शायद इसमें उनका उतना क़सूर नहीं है, जितना उन प्रणालियों का, जिनके अधीन वे रहते आये हैं।

क़रीब-क़रीब इसी समय रूस भी इतिहास के रंग-मंच पर आता है। कहा जाता है कि उत्तर के रूरिक नामक एक व्यक्ति ने ८५० ई० के लगभग रूसी राज्य की नींव डाली थी। इसी समय यूरोप के दक्षिण-पूर्व में बलग़ारी लोग जमने लगे और वास्तव में कुछ हमलावर भी होने लगे; इसी तरह सर्ब लोग भी। मगयार या हंगेरी और पोल[2] लोग भी पवित्र रोमन साम्राज्य के और नये रूस के बीच में अपने राज्य बनाने लगे।

इसी बीच उत्तर यूरोप से कुछ लोग जहाज़ों में पश्चिमी और दक्षिणी देशों में आये और यहां उन्होंने आगें लगाईं, हत्याएं कीं और लूट-मार की। तुमने डेनों और दूसरे नार्थमेनों के बारे में पढ़ा होगा, जो लूट-खसोट के लिए इंग्लैण्ड पहुंचे थे। ये नार्थमैन या नार्समैन जो नार्मन कहलाये, भूमध्यसागर में गये, अपने जहाज़ों

---

[1]सरबिया के निवासी [2]पोलैण्ड के निवासी

को बड़ी-बड़ी नदियों के रास्ते से अन्दर ले गये और जहां कहीं पहुंचे वहां डकैती, मारकाट और लूट-खसोट की। इटली में अराजकता थी और रोम की हालत बहुत बुरी थी। इन लोगों ने रोम को लूट लिया और क़ुस्तुन्तुनिया पर भी जा धमके। इन लुटेरों और डाकुओं ने फ्रान्स के पश्चिमी हिस्से पर, जहां नारमण्डी है, और दक्षिण इटली और सिसली पर क़ब्ज़ा जमाया और धीरे-धीरे वहां बस गये और सामन्त व ज़मींदार बन बैठे, जैसा कि लुटेरे ख़ुशहाल होने पर अक्सर किया करते हैं। फ्रान्स के नारमंडी प्रांत में बसे हुए इन्हीं नार्मनों ने १०६६ ई० में, विलियम की सेनानायकी में, जो 'विजेता' के नाम से मशहूर है, इंग्लैण्ड को जीत लिया। इस तरह हम इंग्लैण्ड की भी शक्ल बनते देखते हैं।

अब हम मोटे तौर पर यूरोप में ईसवी सन् के पहले हज़ार वर्षों के अन्त तक पहुंच गये हैं। इसी वक़्त ग़ज़नी का महमूद भारत पर हमले कर रहा था और इसी समय के लगभग बग़दाद के अब्बासी ख़लीफ़ाओं की ताक़त टूट रही थी और पश्चिमी एशिया में सेलज़ूक़ तुर्क इस्लाम को फिर से उठा रहे थे। स्पेन अब भी अरबों के मातहत था, लेकिन वे अपने वतन अरब से बिलकुल कट गये थे और दरअसल बगदाद के शासकों के साथ उनके अच्छे ताल्लुक़ नहीं थे। उत्तरी अफ्रीका अमली तौर पर बग़दाद की अधीनता से निकल चुका था। मिस्र में एक स्वाधीन सरकार ही नहीं बल्कि एक अलग ख़िलाफ़त भी क़ायम हो गई थी और कुछ समय के लिए मिस्र के ख़लीफ़ा ने उत्तरी अफ्रीका पर भी राज किया था।

: ५३ :

## सामन्त-प्रथा

४ जून, १९३२

अपने पिछले पत्र में हमने आज के फ्रान्स, जर्मनी, रूस और इंग्लैण्ड की शुरुआत की एक झलक देखी थी। लेकिन यह न समझ बैठना कि उस ज़माने के लोग इन देशों को उसी रूप में जानते थे, जिसमें हम इन्हें आज जानते हैं। हम आज अंग्रेज़ों, फ्रान्सीसियों और जर्मनों के राष्ट्रों का अलग-अलग विचार करते हैं और इनमें से हरेक अपने देश को अपनी मातृभूमि या पितृ-भूमि की तरह मानता है। राष्ट्रीयता की यही भावना है, जो आजकल संसार में इतनी ज़ाहिर हो रही है। भारत में हमारी आज़ादी की लड़ाई हमारी 'राष्ट्रीय' लड़ाई है। लेकिन उस ज़माने में राष्ट्रीयता की यह भावना मौजूद नहीं थी। ईसाई-जगत् की कुछ भावना ज़रूर थी—यानी काफ़िरों और मुसलमानों से अलग ईसाइयों के एक समुदाय या समाज का होने की भावना। इसी तरह मुसलमानों का भी ख़याल था कि वे इस्लामी दुनिया के हैं और उनके अलावा बाक़ी जितने हैं वे सब काफ़िर हैं।

लेकिन ईसाई-जगत् और इस्लाम की ये भावनाएं धुंधली धारणाएं थीं और जनता की रोज़ाना ज़िन्दगी पर इनका कोई असर नहीं था। खास-खास मौक़ों पर इन भावनाओं को उभाड़कर लोगों के दिलों में इस्लाम या ईसाइयत दोनों में से किसीके ख़िलाफ़ लड़ने का मज़हबी जोश भरा जाता था। राष्ट्रीयता के बजाय, आदमी-आदमी के बीच एक अजीब तरह का सम्बन्ध था। यह सामन्ती सम्बन्ध था, जो सामन्त-प्रथा से पैदा हुआ था। रोम के पतन के बाद पश्चिम की पुरानी व्यवस्था तहस-नहस हो गई थी। हर जगह गड़बड़, अराजकता, हिंसा और ज़बरदस्ती का बोलबाला था। ज़बर्दस्त लोग जो कुछ छीन सकते छीन लेते थे, और जबतक कोई उनसे ज्यादा ज़बर्दस्त आदमी आकर उन्हें पछाड़ नहीं देता, तबतक उसपर क़ब्ज़ा जमाये रहते थे। मजबूत गढ़ैयां बनाई जाती थीं और इन गढ़ैयों के सरदार छापे मारने के लिए अपने दलों के साथ बाहर निकलते थे। ये गांवों में लूटमार करते थे, और कभी-कभी अपने ही जैसे सरदारों से लड़ते भी थे। नतीजा यह था कि ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों को ही सबसे ज्यादा मुसीबतें उठानी पड़ती थीं। इसी गड़बड़ से सामन्त-प्रथा का जन्म हुआ था।

किसान संगठित नहीं थे और इन डकैत सरदारों से अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे। इनकी रक्षा करने के लिए कोई ताक़तवर केन्द्रीय सरकार नहीं थी। इसलिए इस बुराई से बचने का उन्होंने सबसे अच्छा उपाय यही देखा कि उन्हें लूटनेवाले इन गढ़ के सरदारों से समझौता कर लें। वे इस बात पर राज़ी हो गये कि उनके खेतों में जो कुछ पैदा हो उसका कुछ हिस्सा उन्हें दे दें और दूसरे रूप में भी उनकी कुछ सेवा करें, बशर्ते कि वे इन्हें लूटना और परेशान करना छोड़ दें और अपने वर्ग के दूसरे लोगों से भी इनकी रक्षा करें। इसी तरह छोटी गढ़ैयों के सरदारों ने बड़े गढ़ों के सरदारों से समझौता कर लिया। लेकिन छोटा सरदार बड़े सरदार को खेत की कोई उपज नहीं दे सकता था, क्योंकि वह खुद किसान या नाज पैदा करनेवाला नही होता था। इसलिए वह सैनिक सेवा का वादा करता था, यानी ज़रूरत पड़ने पर उसकी तरफ़ से लड़ने का वचन देता था। इसके एवज़ में बड़ा सरदार छोटे की रक्षा करता था और छोटा बड़े का आसामी हो जाता था। इसी तरह सीढ़ी-दर-सीढ़ी यह सिलसिला बड़े सरदारों और सामन्तों तक चलता था और अन्त में इस सामन्ती ढांचे के सिरमौर बादशाह तक पहुंच जाता था। लेकिन यह सिलसिला यहां भी खतम नहीं होता। लोगों के लिए स्वर्ग में भी त्रिदेव के रूप में एक तरह की सामन्त-प्रथा थी, जिसका अध्यक्ष ईश्वर था!

यूरोप में फैली हुई गड़बड़ में से यही सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे पैदा हुई। तुम्हें याद रखना चाहिए कि उस वक़्त वास्तव में कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी;

न तो पुलिस के सिपाही थे और न इस क़िस्म की कोई दूसरी चीज़ थी। ज़मीन के किसी टुकड़े का मालिक, उसका शासक और सरदार तो था ही, लेकिन उसपर बसनेवाले तमाम लोगों का भी शासक और सरदार होता था। यह एक क़िस्म का छोटा राजा था, जो उनकी सेवाओं और खेतों की उपज के बदले में उनकी रक्षा करनेवाला माना जाता था। यह उनकी सेवा का हक़दार सरदार कहलाता था और वे उसकी रैयत या उसके ताबेदार समझे जाते थे। माना यह जाता था कि इसकी ज़मीन उस बड़े सामन्त की दी हुई होती थी, जिसका वह आसामी होता था और जिसे वह सैनिक सेवा देता था।

ईसाई-संघ के पादरी भी सामन्त-प्रथा के अंग थे। वे धर्म-पुरोहित और सामन्ती सरदार दोनों थे। जर्मनी में तो क़रीब आधी ज़मीन और सम्पत्ति बिशपों और ऐबटों[1] के हाथ में थी। पोप ख़ुद एक बड़ा सामन्ती सरदार था।

तुम देखोगी कि इस सारी प्रथा में सीढ़ियां और वर्ग थे। बराबरी का कोई सवाल ही न था। ताबेदार आसामी सबसे नीचे होते थे और उन्हें ही इस सामाजिक ढांचे का—छोटे सरदारों, बड़े सरदारों उनसे बड़े सरदारों और राजाओं का—सारा बोझ उठाना पड़ता था। ईसाई-संघ, यानी बिशपों, ऐबटों, कार्डिनलों और मामूली पादरियों का सारा खर्च भी इन्हींको बर्दाश्त करना पड़ता था। सामन्त लोग, चाहे छोटे हों या बड़े, अन्न या और किसी क़िस्म की सम्पत्ति पैदा करने के लिए कोई मेहनत नहीं करते थे। ऐसा करना उनकी शान के ख़िलाफ़ समझा जाता था। लड़ाई इन लोगों का ख़ास धन्धा था और जब कोई लड़ाई नहीं होती थी तो ये शिकार में या नकली लड़ाइयों में और टूर्नामेंटों में वक़्त गुज़ारते थे। यह अनपढ़ और अनगढ़ लोगों की एक ऐसी जमात थी, जो सिवाय खाने-पीने और लड़ने के कोई और मनोरंजन के साधन नहीं जानती थी। इसलिए अन्न और जीवन की दूसरी ज़रूरतों को पैदा करने का सारा बोझ किसानों और दस्तकारों पर पड़ता था। इस सारी प्रणाली की चोटी पर बादशाह होता था, जो ईश्वर का जागीरदार माना जाता था।

सामन्त-प्रथा के पीछे यही विचार था। कहने को सरदारों का फ़र्ज़ था कि अपने आसामियों और ताबेदारों की रक्षा करें, पर व्यवहार में ये अपनी मनमानी करते थे। बड़े सरदारों का या बादशाह का इनपर कोई अंकुश नहीं था, और किसानों में इतनी ताक़त नहीं थी कि इनकी मांगों को पूरा करने से इनकार करते। चूंकि ये लोग ज़्यादा ज़बर्दस्त होते थे, इसलिए अपने ताबेदारों से ज़्यादा-से-ज़्यादा वसूल करते थे और उनके पास मुश्किल से इतना छोड़ते थे कि वे अपनी मुसीबत की ज़िन्दगी बिता सकें। ज़मीन के मालिकों का यही ढंग हमेशा से हर देश में रहा

---

[1] बिशप और ऐबट पादरियों के दर्जे हैं।

है। ज़मीन की मिल्कियत ने लोगों को ऊंचा बना दिया। लुटेरा नाइट[1], जो ज़मीन दबा बैठता और गढ़ैया बना लेता, अमीर-सरदार माना जाता था और सब उसकी इज्ज़त करते थे। मिल्कियत से इख्तियार भी आ जाता है। और मालिकों ने इस इख्तियार का उपयोग करके, अन्न पैदा करनेवाले किसानों से, या मज़दूरों से जो कुछ वसूल किया जा सका, किया है। कानून भी ज़मीन के मालिकों की मदद करता रहा है, क्योंकि कानून के बनानेवाले या तो वे खुद ही होते हैं या उनके यार-दोस्त। और यही वजह है कि आज कुछ लोगों का यह खयाल है कि ज़मीन किसी व्यक्ति की मिलकियत नहीं होनी चाहिए, बल्कि समाज की मिलकियत होनी चाहिए। अगर ज़मीन राज्य की या समाज की सम्पत्ति हो तो इसका मतलब यह होगा कि जमीन उन सबकी है जो उसपर बसते हैं। और ऐसी हालत में न तो कोई उस ज़मीन पर दूसरों की कमाई खा सकेगा और न कोई बेजा फ़ायदा ही उठा सकेगा।

लेकिन ये विचार तो अभी पैदा ही नहीं हुए थे। जिस ज़माने की हम बात कर रहे हैं, उस जमाने के लोग इस ढंग से नहीं सोचते थे। जनता मुसीबत में थी, लेकिन उसे अपनी मुश्किलों से छुटकारा पाने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता था। इसलिए बेचारे इन सब बातों को बर्दाश्त करते थे और ज़िन्दगी बिताते थे। फरमाबरदारी की आदत उनमें कूट-कूटकर भर दी गई थी, और एक दफ़ा जब ऐसा कर दिया जाता है तब लोग सबकुछ बर्दाश्त करने लगते हैं। इस तरह हम एक ऐसा समाज बनता देखते हैं, जिसमें एक तरफ़ तो सामन्ती सरदार और उनके पिछलग्गू थे और दूसरी तरफ़ दीन-हीन लोग थे। सरदार की पक्की गढ़ैया के चारों तरफ़ आसामियों के मिट्टी या लकड़ी के झोंपड़ों का जमघट होता था। दो क़िस्म की दुनियाएं थीं, जो एक दूसरी से बहुत दूर थी। एक सरदारों की और दूसरी आसामियों की। शायद सरदार अपने आसामियों को अपने पालतू मवेशियों से कुछ ही दर्जे ऊंचे समझता था!

कभी-कभी छोटे पादरी आसामियों को उनके सरदारों के अत्याचार से बचाने की कोशिश करते थे। लेकिन आमतौर पर पादरी लोग सरदारों का ही पक्ष लेते थे और सच तो यह है कि पादरी लोग खुद भी सामन्ती सरदार होते थे।

भारत में इस क़िस्म की सामन्त-प्रथा तो नहीं रही, लेकिन यहां इससे कुछ मिलती-जुलती प्रथा पाई जाती है। हमारी देशी रियासतों में राजाओं, सरदारों ठिकानेदारों और जागीरदारों ने बहुत-से सामन्ती रिवाज अबतक क़ायम रख

---

**[1]नाइट (knight)—मध्यकालीन इंग्लैण्ड का योद्धा, जो सम्मानित समझा जाता था। नाइट को 'सर' की उपाधि दी जाती थी।**

छोड़े हैं। हालांकि भारत की जाति-व्यवस्था सामन्त-प्रथा से बिलकुल अलग है, पर इसने समाज को वर्गों में बांट दिया है। चीन में, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूं, कभी कोई निरंकुशता नहीं रही और न इस किस्म का कोई ख़ास अधिकारवाला वर्ग ही रहा। इम्तहानों की इनकी प्राचीन प्रणाली ने हरेक व्यक्ति के लिए ऊंचे-से-ऊंचे ओहदों का दरवाज़ा खोल रखा था। लेकिन व्यवहार में अलबत्ता बहुत-सी बंदिशें रही होंगी।

सामन्त-प्रथा में समानता या आजादी का कोई ख़याल नहीं था। अधिकारों और कर्तव्यों का कुछ ख़याल ज़रूर था, यानी सामन्त का यह अधिकार था कि वह अपने आसामियों से सेवा और खेत की उपज का कुछ भाग वसूल करे, और उनकी रक्षा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। लेकिन अधिकार हमेशा याद रहते हैं और कर्त्तव्यों की ओर से लोग अक्सर आंखें मूंद लेते हैं। आज भी कुछ यूरोपीय देशों में और भारत में बड़े-बड़े जमींदार पाये जाते हैं, जो बिना हाथ-पैर हिलाये अपने किसानों से बड़ी-बड़ी रकमें लगान में वसूल करते हैं। लेकिन किसी कर्त्तव्य का ख़याल तो ज़माना हुआ उन्होंने भुला दिया है।

ताज्जुब की बात है कि यूरोप की पुरानी बर्बर क़ौमों ने, जिन्हें अपनी आज़ादी इतनी प्यारी थी, धीरे-धीरे इस सामन्त-प्रथा को कबूल कर लिया, जिसमें आज़ादी के लिए कोई जगह ही नहीं थी। पहले ये क़ौमें अपने मुखिया चुना करती थीं और उसपर रोक-थाम रखती थीं। लेकिन अब चुनाव का कोई सवाल नहीं रह गया और सब जगह अत्याचारी और निरंकुश शासन हो गया। मैं नहीं कह सकता कि यह परिवर्तन क्यों हुआ। मुमकिन है कि ईसाई-संघ के फैलाये हुए सिद्धान्तों ने लोकतन्त्र-विरोधी विचारों के फैलने में मदद दी हो। राजा को पृथ्वी पर परमेश्वर की छाया माना जाने लगा और सर्वशक्तिमान की छाया से भला कौन हुज्जत करे और कौन उसका हुक्म मानने से इन्कार करे? इस सामन्त-प्रथा में स्वर्ग और पृथ्वी दोनों शामिल हो गये थे।

भारत में भी हम देखते हैं कि स्वतंत्रता के प्राचीन आर्य-विचार धीरे-धीरे बदलने लगे। वे कमज़ोर होते गये और अन्त में लोग उन्हें बिलकुल भूल गये। लेकिन, जैसा मैंने तुम्हें बताया है, मध्य युगों की शुरुआत में ये विचार कुछ हद तक पाये जाते थे। शुक्राचार्य के 'नीति-सार' से और दक्षिण भारत के शिलालेखों से यह बात मालूम होती है।

यूरोप में जो नई शक़लें बन रही थीं, उनके नतीजे से कुछ आज़ादी धीरे-धीरे फिर आने लगी। सामन्तों और आसामियों, यानी ज़मीन के मालिकों और उसपर काम करनेवालों के अलावा, लोगों के और वर्ग भी थे, जैसे व्यापारी और कारीगर। अपना-अपना काम करनेवाले ये लोग सामन्त-प्रथा के अंग नहीं थे।

अशांति के दिनों में व्यापार बिल्कुल कम होता था और कारीगरी को भी फूलने-फलने का मौक़ा नही मिलता था। लेकिन धीरे-धीरे व्यापार बढ़ा और मिस्त्रियों और सौदागरों का महत्व बढ़ने लगा। वे धनवान हो गये और सामन्त व सरदार लोग इनके पास रुपया उधार लेने के लिए जाने लगे। ये लोग रुपया तो उधार देते थे, लेकिन बदले में सामन्तों को मजबूर करते थे कि वे इन्हें कुछ रियायतें दें। इन रियायतों से इनकी ताक़त बढ़ गई। इस तरह अब हम देखते हैं कि सामन्त की गढ़ैया के चारों तरफ़ आसामियों के झोंपड़ों के झुंड के बजाय, छोटे-छोटे क़स्बे पैदा होने लगे, जिनमें गिरजों या पंचायत-घरों (गिल्ड हॉल) के चारों तरफ़ मकान बनने लगे। सौदागर और दस्तकार अपने-अपने संघ या समितियां बनाने लगे और इन समितियों के दफ्तर पंचायत-घर बन गये। बाद में यही टाउन-हाल कहलाने लगे।

ये बढ़ते हुए शहर—कोलोन, फ्रैंकफुर्त, हैम्बर्ग, वग़ैरा सामन्ती सरदारों की शक्ति की बराबरी का दावा करनेवाले बन गये। इन शहरों में एक नया वर्ग, यानी व्यापारी-वर्ग, पैदा हो रहा था, जो अपने धन की ताक़त पर अमीर सरदारों से भी टक्कर लेने लगा था। दोनों में एक लम्बा संघर्ष चला। अक्सर बादशाह अपने अमीरों और सामन्तों के प्रभाव से डरकर शहरों का साथ देता था। लेकिन ये तो बहुत आगे की बातें हैं।

मैंने इस पत्र के शुरू में यह बताया था कि इस ज़माने में राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। लोग अपने बड़े सामन्त के लिए अपने कर्त्तव्य और अपनी वफ़ादारी का ही ख़याल करते थे। उसीकी सेवा की प्रतिज्ञा करते थे, देश की नहीं। उनके लिए बादशाह भी एक धुंधला-सा व्यक्ति था, जो उनसे बहुत दूर था। अगर कोई सामन्त बादशाह के ख़िलाफ़ बग़ावत करता, तो यह बात उसीसे सरोकार रखती थी। उसकी रैयत को तो उसके पीछे चलना पड़ता था। यह चीज़ राष्ट्रीय भावना से, जो बहुत दिन बाद पैदा हुई, बहुत अलग तरह की थी।

## : ५४ :

# चीन घुमक्कड़ कबीलों को पश्चिम में खदेड़ देता है

५ जून, १९३२

मैंने बहुत दिनों से, क़रीब एक महीने से, तुम्हें चीन के और सुदूर-पूर्वी देशों के बारे में कुछ नहीं लिखा। हम पश्चिमी एशिया, भारत और यूरोप की बहुत-से परिवर्तनों की चर्चा कर चुके हैं। हमने अरबों को बहुत-से देशों में फैलते और उन्हें जीतते देखा और यूरोप को फिर अन्धेरे में गिरते और उससे बाहर निकलने की

कोशिश करते भी देखा। इस बीच चीन अपने ढंग पर चलता रहा और वास्तव में बहुत अच्छी तरह चलता रहा। सातवीं और आठवीं सदियों में, तांग राजाओं के शासन में, चीन शायद दुनिया का सबसे ज़्यादा सभ्य, ख़ुशहाल और सुशासित देश था। यूरोप की तो इस देश से तुलना ही नहीं की जा सकती थी, क्योंकि रोम के पतन के बाद यूरोप बहुत पिछड़ गया था। उत्तर भारत की हालत इस समय के ज़्यादातर हिस्से में गिरावट की रही। इस बीच कभी-कभी शानदार ज़माने भी आये—जैसे हर्ष के राज में, लेकिन कुल मिलाकर भारत गिरता ही जा रहा था। दक्षिण भारत अलबत्ता उत्तर से ज़्यादा ज़ोरदार था और समुद्र-पार उसके उपनिवेश, श्रीविजय और अंगकोर, एक महान् काल में दाख़िल हो रहे थे। कुछ बातों में इस ज़माने के चीन का मुक़ाबला करनेवाले अगर कोई राज्य थे, तो वे बगदाद और स्पेन के दोनों अरब राज्य थे। लेकिन ये दोनों राज्य भी कुछ ही ज़माने तक अपनी शान की चोटी पर रहे। मगर दिलचस्प बात यह है कि राजगद्दी से उतारे हुए एक तांग सम्राट ने अरबों से मदद की अपील की थी और इन्हींकी मदद से उसे अपना राज वापस मिला था।

इस तरह सभ्यता में चीन उस ज़माने में सबसे आगे था और अगर वह उस समय के यूरोपीय लोगों को आधे जंगलियों के दर्जे का समझता हो तो यह कुछ वाजिब ही था। जितनी दुनिया उस समय मालूम थी, उसमें चीन सबसे ऊपर था। 'जितनी दुनिया मालूम थी', यह वाक्य मैं इसलिए इस्तेमाल करता हूं कि मुझे नहीं मालूम उस समय अमेरिका में क्या हो रहा था। इतना हमें ज़रूर पता चलता है कि मैक्सिको, पेरू और आस-पास के देशों में कई सदियों से सभ्यता चली आ रही थी। कुछ बातों में ये हिस्से ख़ास तौर पर आगे बढ़े हुए थे, कुछ बातों में उतने ही ज़्यादा पिछड़े हुए थे। लेकिन मैं इन सब चीज़ों के बारे में इतना कम जानता हूं कि ज़्यादा कहने की हिम्मत नहीं कर सकता। फिर भी मैं चाहता हूं कि तुम मैक्सिको और मध्य अमेरिका और 'इनका'[1] के पेरू राज्य की 'मय' सभ्यता का ध्यान रखना। मुझसे ज़्यादा विद्वान लोग शायद इनके बारे में कुछ जानने योग्य बातें तुम्हें बतावें। इतना मैं ज़रूर स्वीकार करूंगा कि मैं इनकी ओर बहुत आकर्षित हुआ हूं, लेकिन जितना मेरा आकर्षण है उतनी ही कम मेरी जानकारी भी है।

मैं चाहता हूं कि एक और बात भी तुम याद रखो। हम देख चुके हैं कि बहुत-से घुमक्कड़ क़बीले मध्य एशिया में प्रकट हुए और वे या तो पश्चिम की ओर यूरोप चले गये या भारत में उतर आये। हूण, शक, तुर्क और इसी तरह की बहुत-सी

---

**[1]इनका (Inca)—दक्षिणी अमेरिका के पेरू नामक देश के प्राचीन शासकों की उपाधि। 'इनका' एक प्रकार के दैवी पुरुष माने जाते थे। पेरू में 'इनकाओं' ने लगभग तीन सौ वर्ष तक राज्य किया।**

क़ौमें लहरों की तरह एक के बाद एक आती-जाती रहीं। सफ़ेद हूण, जो भारत आये, और अतिला हूण, जो यूरोप में थे, तुम्हें याद होंगे। सेलजूक़ तुर्क भी, जिन्होंने बग़दाद के साम्राज्य पर क़ब्ज़ा किया था, मध्य एशिया से आये थे। इसके बाद तुर्कों की एक दूसरी शाखा के लोग, जिन्हें उस्मानी तुर्क कहा जाता है, आये। उन्होंने कुस्तुन्तुनिया को आखिरी तौर पर जीत लिया और वे ठेठ विएना के दरवाज़े तक पहुंच गये। इसी मध्य एशिया या मंगोलिया से भयंकर मंगोल लोग भी आये, जो विजय करते हुए यूरोप के ठेठ मध्य तक पहुंच गये, और जिन्होंने चीन को भी अपने शासन में ले लिया। इसी मंगोल वंश के एक आदमी ने भारत में एक राजवंश और साम्राज्य की नींव डाली, जिसमें कई मशहूर शासक पैदा हुए।

मध्य एशिया और मंगोलिया के इन घुमक्कड़ क़बीलों से चीन को बराबर लड़ना पड़ा। या शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि ये घुमक्कड़ लोग चीन को बराबर परेशान करते रहे और चीन को अपनी रक्षा के लिए मजबूर होना पड़ा। इन्हींसे बचने के लिए चीन की 'बड़ी दीवार' बनाई गई थी। इसमें शक़ नहीं कि इस दीवार से कुछ फ़ायदा ज़रूर हुआ, लेकिन हमलों से बचाने में यह कोई बहुत ज़्यादा उपयोगी चीज़ नहीं साबित हुई। एक के बाद दूसरे सम्राट् को इन घुमक्कड़ों को पीछे खदेड़ना पड़ा और जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूं इन्हें इस तरह खदेड़ने में ही चीनी साम्राज्य दूर पश्चिम में कैस्पियन समुद्र तक फैल गया। चीनी लोगों में साम्राज्य क़ायम करने की कोई ज़्यादा लालसा नहीं थी। इनके सम्राटों में से कुछ ज़रूर साम्राज्यवादी थे और दूसरे देशों को जीतने का हौसला रखते थे। लेकिन और क़ौमों के मुक़ाबले में चीनी लोग शान्ति-प्रिय थे और ये लड़ाई या दूसरे मुल्कों को जीतना पसन्द नहीं करते थे। चीन में विद्वानों को योद्धाओं से हमेशा ज़्यादा आदर और कीर्ति मिलते रहे हैं। इसपर भी अगर चीन का साम्राज्य कभी-कभी बहुत बढ़ गया, तो उसकी वजह बहुत करके यह थी कि उत्तर और पश्चिम की ओर घुमक्कड़ क़बीले बराबर कोंचते रहते थे और हमले करते रहते थे, जिससे चीनी लोग झुंझला उठते थे। शक्तिशाली सम्राट् इनसे हमेशा के लिए छुटकारा पा जाने के वास्ते इन्हें बहुत दूर पश्चिम की ओर खदेड़ दिया करते थे। इस ढंग से वे इस सवाल को हमेशा के लिए तो हल नहीं कर पाये, लेकिन उन्हें कुछ राहत ज़रूर मिल गई।

पर यों चीन-निवासियों को जो राहत मिली, उसका खमियाज़ा अन्य मुल्कों और क़ौमों को उठाना पड़ा। क्योंकि जिन घुमक्कड़ों को चीनी भगाते थे वे जाकर दूसरे देशों पर हमले करते थे। इसी तरह ये भारत आये और बार-बार यूरोप गये। चीन के हन् सम्राटों ने हूणों, तातारियों और दूसरे घुमक्कड़ों को अपने यहां से खदेड़कर दूसरे देशों में पहुंचा दिया और तांग-सम्राटों ने तुर्कों को यूरोप को भेंट में दिया।

अभी तक तो चीनी लोग इन घुमक्कड़ क़बीलों से अपनी रक्षा करने में बहुत हद तक सफल रहे थे। लेकिन अब हम उस ज़माने की चर्चा करेंगे जब वे इतने सफल नहीं रह सके।

जैसा कि हमेशा राजवंशों का हर जगह हाल हुआ करता है, तांग-वंश में धीरे-धीरे एक से एक ज़्यादा निकम्मे शासक होते गये, जिनमें ऐयाशी के अलावा अपने पूर्वजों के कोई अच्छे गुण नहीं पाये जाते थे। राज्य भर में बेईमानी फैल गई और इसीके साथ-साथ भारी टैक्स लगा दिये गए, जिनका बोझ वास्तव में ग़रीब लोगों पर पड़ता था। असन्तोष बढ़ा और दसवीं सदी के शुरू में, यानी ९०७ ई० में, यह राजवंश ख़तम हो गया।

लगभग पचास वर्ष तक छोटे-छोटे और अदना शासकों का सिलसिला चलता रहा। लेकिन ९६० ई० में चीन के एक और बड़े राजवंश की शुरुआत होती है। यह सुंग-राजवंश था, जिसे काओ-त्सू ने क़ायम किया। लेकिन चीन की सरहदों पर और अन्दर देश में भी, झगड़े ज़ारी रहे। भारी लगानों का किसानों पर बहुत ज़्यादा बोझ पड़ता था, जिससे वे बहुत नाराज़ थे। भारत की तरह चीन में भी ज़मीन का सारा बन्दोबस्त ऐसा था कि वह जनता पर बड़ा ज़बरदस्त बोझ डाल देता था, और बिना इसे पूरी तरह बदले न तो शान्ति ही सम्भव थी और न तरक़्क़ी ही। लेकिन जड़ से ऊपर तक इस क़िस्म के परिवर्तन करना हमेशा मुश्किल होता है। चोटी के लोगों को चालू प्रणाली में फायदा रहता है, और जब किसी परिवर्तन की चर्चा होती है, ये लोग बहुत शोर मचाने लगते हैं। लेकिन अगर परिवर्तन वक़्त पर नहीं किया जाता तो इसकी यह आदत है कि यह बिना बुलाए ही आ जाता है और सारी ग़ाड़ी उलट देता है!

तांग-राजवंश इसलिए ख़तम हो गया कि उसने ज़रूरी परिवर्तन नहीं किये। इसी वजह से सुंग-राजवंश को भी लगातार परेशानियां रहीं। एक ऐसा आदमी पैदा हुआ, जो सफल हो सकता था। इसका नाम वांग-आन-शीह था जो ग्यारहवीं सदी में सुंगों का प्रधान-मंत्री था। जैसा कि मैंने तुम्हें पहले बताया है, चीन का शासन कनफ़्यूशियस के विचारों के अनुसार होता था। कनफ़्यूशियस के ग्रन्थों की परीक्षा सारे सरकारी अफ़सरों को पास करनी पड़ती थी और कनफ्यूशियस के लेखों के ख़िलाफ़ जाने का कोई साहस नहीं कर सकता था। वांग-आन-शीह ने इन-की अवहेलना तो नहीं की, लेकिन उसने इनका एक निराला ही अर्थ लगाया। किसी कठिनाई से बचने की ऐसी तरकीबें होशियार आदमी अक्सर निकाल लिया करते हैं। वांग के कुछ विचार बहुत हद तक आजकल के ढंग के थे। उसका सारा उद्देश्य यह था कि ग़रीबों के ऊपर से टैक्स का बोझ कम कर दे और धनवानों पर, जो अदा कर सकते थे, बढ़ा दे। इसने लगानों में कमी कर दी और किसानों को यह

छूट दे दी कि अगर रुपये की सूरत में लगान देना उनके लिए मुश्किल पड़े तो वे अनाज या किसी दूसरी उपज की सूरत में लगान अदा कर दें। धनवानों पर इसने आय-कर (इन्कम टैक्स) लगा दिया। यह टैक्स बिलकुल आधुनिक टैक्स समझा जाता है, लेकिन इसकी तजवीज़ चीन में हम नौ सौ वर्ष पहले पाते हैं। वांग की यह भी तजवीज़ थी कि किसानों की सहायता के लिए सरकार उन्हें तक़ावी दिया करे, जिसे वे फ़सल पर वापस कर दें। दूसरी कठिनाई यह थी कि अनाज का भाव घटता-बढ़ता रहता था। बाजार-भाव जब गिर जाता है, तो ग़रीब किसानों को अपने खेतों की उपज की बहुत कम कीमत मिलती है। वे उसे बेच नहीं सकते, फिर लगान देने के लिए या कोई चीज़ खरीदन के लिए पैसे कहां से लायें? वांग-आन-शीह ने इस समस्या को हल करने की कोशिश की। उसने यह तजवीज़ की कि अनाज के भाव को बढ़ने-घटने से रोकने के लिए सरकार को ग़ल्ला खरीदना और बेचना चाहिए।

वांग की यह भी तजवीज़ थी कि सरकारी कामों के लिए बेगार न ली जाय। जो आदमी काम करे उसे उसकी पूरी मज़दूरी दी जाय। उसने स्थानीय रक्षक-सेना भी बनाई थी, जिसे 'पाओ-चिया' कहते थे। लेकिन बदक़िस्मती से वांग अपने जमाने से बहुत आगे था, इसलिए कुछ समय बाद उसके सुधार ख़तम हो गये। सिर्फ़ उसकी रक्षक-सेना ही ८०० वर्ष से ऊपर क़ायम रही।

सुंगों में इतनी हिम्मत नहीं थी कि जो समस्याएं उनके सामने आईं उनका मुक़ाबला कर सकते। इसलिए इन लोगों ने धीरे-धीरे उन समस्याओं के आगे घुटने टेक दिये। उत्तर की जंगली क़ौमें, जिनको खितन कहते थे, इन्हें बहुत परेशान करती थीं। इनको पीछे हटाने में अपनेको असमर्थ पाकर सुंगों ने उत्तर-पश्चिम की एक जाति से, जिन्हें 'किन' या 'सुनहरे तातारी' कहते थे, मदद मांगी। 'किन' लोगों ने आकर खितनों को मार भगाया, लेकिन वे ख़ुद वहां जम गये और हटने से इन्कार कर गये। ताक़तवर से मदद मांगनेवाले कमज़ोर आदमी या कमज़ोर देश का अक्सर यही हाल हुआ करता है। किन लोग उत्तर चीन के मालिक बन बैठे और उन्होंने पेकिंग को अपनी राजधानी बना लिया। सुंग दक्षिण की ओर चले गये और ज्यों-ज्यों किन बढ़ते गये वे पीछे हटते गये। इस तरह उत्तर चीन में तो किन-साम्राज्य हो गया और दक्षिण में सुंग-साम्राज्य। इन सुंगों को दक्षिणी सुंग कहा गया है। सुंग-राजवंश उत्तर में ९६० से ११२७ ई० तक रहा। दक्षिणी सुंग दक्षिण चीन में इसके बाद भी १५० वर्ष तक राज करते रहे। अन्त में १२६० ई० में मंगोलों ने आकर इन्हें ख़तम कर दिया। लेकिन चीन ने प्राचीन भारत की तरह इसका बदला लिया और मंगोलों को भी अपने अंदर मिलाकर और हज़म करके चीनी बना लिया।

इस तरह चीन ने घुमक्कड़ क़बीलों के सामने घुटने टेक दिये। लेकिन ऐसा करते-करते भी इसने उन घुमक्कड़ों को सभ्यता सिखाई; इसलिए चीन को इन-से नुक़सान नहीं पहुंचा, जैसा कि एशिया और यूरोप के दूसरे हिस्सों में हुआ।

उत्तर और दक्षिण के सुंग राजनैतिक लिहाज़ से उतने ताक़तवर नहीं थे जितने कि उनके पहले के तांग लोग। लेकिन सुंगों ने तांगों की महानता के दिनों की कला की परम्परा क़ायम रखी, बल्कि उसकी उन्नति भी की। दक्षिण सुंगों के राज में दक्षिण चीन में कला और कविता बहुत ऊंचे दर्जे तक पहुंची और बड़े सुन्दर चित्र बनाये गए। इन चित्रों में प्रकृति के दृश्यों की विशेषता थी, क्योंकि सुंग कला-कार प्रकृति के प्रेमी थे। चीनी के बर्तन भी इस ज़माने में बनना शुरू हुए और कला-कारों के कुशल हाथों ने उन्हें सुन्दर बनाया। इन बर्तनों की बनावट दिन-पर-दिन ज़्यादा सुन्दर और अद्भुत होती गई, यहांतक कि २०० वर्ष बाद, मिंग-राजाओं के समय में, चमत्कारी सुन्दरता के बर्तन बनने लगे। मिंग-युग के बने हुए चीनी के कलश आज भी दिल को ख़ुश करनेवाली दुर्लभ चीज़ समझे जाते हैं।

## : ५५ :
## जापान में शोगुन का शासन

६ जून, १९३२

चीन से पीला समुद्र पार करके जापान पहुंचना बहुत आसान है, और अब, जबकि हम जापान के इतने नजदीक पहुंच गये हैं, इस देश की सैर कर लेना ही मुनासिब होगा। तुम्हें जापान की पिछली बातें तो याद ही होंगी। उस समय हमने देखा था कि बड़े-बड़े घराने पैदा हो रहे थे और प्रभुत्व के लिए लड़ रहे थे, और एक केन्द्रीय सरकार धीरे-धीरे प्रकट हो रही थी। सम्राट्, जो पहले एक ताक़तवर और बड़े कुटुम्ब का सरदार था, अब केन्द्रीय सरकार का अध्यक्ष बन गया था। नारा की राजधानी केन्द्रीय सत्ता के चिन्ह के तौर पर क़ायम की गई थी। इसके बाद राजधानी बदलकर क्योटो कर दी गई। चीन की शासन-प्रणाली की नक़ल की गई थी और कला, धर्म और राजनीति में जापान ने बहुत-कुछ चीन से या चीन के ज़रिये से सीखा था। जापान का नाम 'दाई निप्पन' भी चीन से ही आया था।

हम यह भी देख चुके हैं कि फ़ूजीवारा नामक एक घराने ने सारी ताक़त हथिया ली थी और वह सम्राट् को कठपुतली की तरह नचाता था। दो सौ वर्ष तक इन्हींका राज चलता रहा। आखिरकार सम्राटों ने बेबस होकर गद्दियां छोड़ दीं और मठों में आसरा लिया। लेकिन भिक्षु होने पर भी भूतपूर्व सम्राट् गद्दी पर बैठे हुए अपने पुत्र सम्राट् को सलाह-मशविरा देकर शासन के कामों में बहुत दखल देता था। इस तरीके से सम्राटों ने फ़ूजीवारा घराने से पैदा होनेवाली अड़चन को

किसी हद तक मिटाने की कोशिश की। हालांकि काम करने का यह तरीक़ा बहुत पेचीदा था, लेकिन फिर भी इससे फ़ूजीवारा घराने की ताक़त बहुत कम हो गई। असली शक्ति सम्राटों के हाथ में होती थी, जो राजगद्दी छोड़-छोड़कर भिक्षु बनते जाते थे। इसलिए इनको 'मठवासी सम्राट्' कहा गया है।

इस बीच दूसरे परिवर्तन हुए और बड़े-बड़े ज़मींदारों का, जो सैनिक भी थे, एक नया वर्ग पैदा हुआ। फ़ूजीवारों ने ही इन जमींदारों को बनाया था और इन्हें सरकारी टैक्स जमा करने के लिए मुकर्रर किया था। इनको 'दाइम्यो' कहते थे, जिसका अर्थ 'बड़ा नाम' है। अंग्रेज़ों के आने से पहले इसी क़िस्म का जो वर्ग हमारे प्रान्त में पैदा हुआ, उसकी तुलना दाइम्यो से करना कुतूहल की बात है। ख़ासकर अवध के कमज़ोर बादशाह ने मालगुज़ारी वसूल करनेवाले मुकर्रर किये थे। ये लोग अपनी छोटी-छोटी फौजें रखते थे, ताकि उनकी मदद से ज़बरदस्ती वसूली कर सकें और ज़ाहिर है कि वसूली का ज़्यादातर हिस्सा ये लोग अपनी ही जेबों में रख लिया करते थे। यही मालगुज़ारी वसूल करनेवाले कुछ लोग बढ़कर बड़े-बड़े ताल्लुकेदार बन गये।

दाइम्यो अपने पिछलग्गुओं और अपनी छोटी-छोटी सेनाओं की मदद से बहुत शक्तिशाली हो गये। वे आपस में लड़ते थे और क्योटो की केन्द्रीय सरकार की कोई परवाह नहीं करते थे। दाइम्यो के घरानों में दो घराने मुख्य थे—एक तायरा और दूसरा मिनामोतो। इन लोगों ने ११५६ ई० में फ़ूज़ीवारों को दबाने में सम्राट् की मदद की। लेकिन बाद में वे एक-दूसरे पर हमले करने लगे। तायरा जीत गये और इस इत्मीनान के लिए कि बराबरी का घराना भविष्य में उन्हें परेशान न करे, उन्होंने मिनामोतो घरानेवालों की हत्या कर डाली। उन्होंने सभी प्रमुख मिनामोतों को मार डाला। सिर्फ चार बच्चों को छोड़ दिया, जिनमें एक बारह वर्ष का बालक योरीतोमो था। तायरा घराने ने मोनामोतों को ख़तम कर देने की कोशिश तो की, लेकिन पूरी तरह नहीं। यह लड़का योरीतोमो, जिसे न कुछ समझकर छोड़ दिया गया था, बड़ा होकर तायरा घराने का कट्टर दुश्मन बन गया। उसके दिल में बदला लेने की आग थी। वह अपनी अभिलाषा पूरी करने में सफल हुआ। उसने तायरा लोगों को राजधानी से निकाल दिया और एक समुद्री लड़ाई में उनको चकनाचूर कर दिया।

इसके बाद योरीतोमो ने सारी सत्ता हथिया ली और सम्राट् ने उसे 'सी-ए-ताई-शोगुन' की लम्बी-चौड़ी उपाधि दी, जिसका मतलब है 'बर्बरों का दमन करनेवाला महान सेनापति'। यह ११९२ ई० की बात है। यह उपाधि पुश्तैनी थी और इसके साथ शासन के पूरे अधिकार भी जुड़े हुए थे। पर असली शासक शोगुन ही होता था। इस तरह जापान में शोगुनशाही कायम हुई। इसका दौर बहुत दिनों

तक, यानी करीब ७०० वर्ष तक रहा और क़रीब-क़रीब मौजूदा जमाने तक चला। लेकिन इस बीच आधुनिक जापान अपने इस सामन्ती खोल को तोड़कर बाहर निकल आया था।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि योरीतोमो के वंशजों ने ही शोगुनों की हैसियत से ७०० वर्ष राज्य किया। जिन घरानों से शोगुन निकले थे उनमें कई परिवर्तन हुए। गृह-युद्ध बराबर होते रहे, लेकिन शोगुनशाही—यानी शोगुन का वास्तविक शासक होना और सम्राट् के नाम पर, जिसे कोई अधिकार नहीं होते थे, राज करना—इस लम्बे अर्से तक जारी रही। अक्सर ऐसा भी होता था कि शोगुन भी नाम का शासक रह जाता था और असली सत्ता कुछ हाक़िमों के हाथ में होती थी।

राजधानी क्योटो के विलासी जीवन से योरीतोमो बहुत घबराता था, क्योंकि उसका यह ख़याल था कि आराम की ज़िन्दगी उसे और उसके साथियों को कम-ज़ोर बना देगी। इसलिए उसने कामाकुरा में अपनी सैनिक राजधानी बनाई और इसीलिए यह पहली शोगुनशाही 'कामाकुरा शोगनशाही' कहलाती है। यह १३३३ ई० तक, यानी करीब १५० वर्ष रही। इस काल के ज़्यादातर भाग म जापान में शांति रही। बहुत वर्षों के गृह-युद्ध के बाद शांति का लोगों ने बहुत स्वागत किया और ख़ुशहाली का ज़माना शुरू हुआ। इस ज़माने में जापान की हालत उस समय के यूरोप के किसी भी देश की हालत से कहीं बेहतर थी और इसका शासन भी ज़्यादा कारगर था। जापान चीन का योग्य शिष्य था, हालांकि दोनों के नज़रियों में बहुत फ़र्क़ था। जैसा मैंने बताया है, चीन स्वभाव से ही शान्तिप्रिय और संतोषी देश था। दूसरी तरफ़ जापान एक उग्र सैनिक देश था। चीन में लोग सैनिकों को बुरी निगाह से देखते थे और लड़ाई का पेशा कुछ इज्जतदार नहीं समझा जाता था। जापान में चोटी के सिपाही होते थे और लड़ाकू वीर या दाइम्यो उनका आदर्श था।

मतलब यह कि जापान ने चीन से बहुत-कुछ सीखा। लेकिन अपने ही तरीक़े से सीखा और उसने हरेक चीज़ को अपने जातीय स्वभाव के अनुरूप बनाने और ढालने की कोशिश की। चीन के साथ उसका नज़दीकी सम्बन्ध बना रहा और व्यापार भी चलता रहा जो ज़्यादातर चीनी जहाज़ों के ज़रिये होता था। तेरहवीं सदी के अन्त में यह सिलसिला अचानक रुक गया, क्योंकि मंगोल लोग चीन और कोरिया पहुंच गये थे। मंगोलों ने जापान को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन पीछे हटा दिये गए। इस तरह ये मंगोल, जिन्होंने एशिया की कायापलट दी और यूरोप को हिला दिया, जापान पर कोई ख़ास असर नहीं डाल पाये। जापान अपने पुराने ढंग पर ही चलता रहा और बाहरी प्रभावों से पहले की बनिस्बत और भी ज़्यादा दूर हो गया।

और अब मैं देहरादून की छोटी-सी जेल में बैठा हूं। यह बरेली से अच्छी जगह है। यहां गर्मी उतनी नहीं है, और तापमान बरेली की तरह ११२° तक नहीं पहुंचता। हमारे चारों तरफ की दीवारें भी नीची हैं, और उनके पार दिखाई देने-वाले पेड़ ज़्यादा हरे-भरे हैं। दीवार के उसपार दूर पर एक खजूर के पेड़ की चोटी दिखाई देती है; इस दृश्य से मेरी तबीयत खुश हो जाती है और मुझे लंका और मलाबार की याद आ जाती है। इन पेड़ों के परली तरफ़ कुछ ही मील के फासले पर पहाड़ है, और इन पहाड़ों की चोटी पर मसूरी बसा हुआ है। मैं पहाड़ों को नहीं देख सकता, क्योंकि पेड़ो ने इनको छिपा रखा है, लेकिन इन पहाड़ों के नज़दीक रहना, और रात में यह कल्पना करना कि बहुत दूर मसूरी के चिराग़ टिमटिमा रहे हैं, अच्छा मालूम होता है।

चार वर्ष हुए—या तीन ?—जब मैंने इन पत्रों का सिलसिला शुरू किया था, उस वक़्त तुम मसूरी में थीं। इन तीन या चार वर्षों में कितनी-कितनी बातें हो गईं, और तुम कितनी बड़ी हो गई हो। रह-रहकर और कभी-कभी लम्बे अवकाशों के बाद मैंने इन खतों को जारी रखा है और ये ज्यादातर जेल में ही लिखे गये हैं। लेकिन जितना ही मैं लिखता जाता हूं उतना ही मैं अपने लिखे को नापसन्द करता जाता हूं; मुझे आशंका होने लगती है, कि कहीं ऐसा न हो कि ये पत्र तुम्हें दिलचस्प न लगें और कहीं तुम्हारे लिए बोझ बन जायं। ऐसी हालत में इन पत्रों को क्यों जारी रखूं ?

मैं चाहता था कि तुम्हारे सामने एक-एक करके पुराने ज़माने की जीती-जागती तसवीरें रखू, ताकि तुम्हें यह भान हो सके कि हमारी यह दुनिया सीढ़ी-दर-सीढ़ी किस तरह बदली, कैसे विकसित और उन्नत हुई, और कैसे कभी-कभी पीछे हटती हुई नज़र आई; तुम्हें दिखलाऊं कि पुरानी सभ्यताएं कैसी थीं और वे ज्वार-भाटे की तरह कैसे आगे बढ़ीं और पीछे फिर हटीं; तुम्हें महसूस कराऊं कि इतिहास की नदी, चक्कर, भंवर और हृद बनाती हुई, किस तरह बराबर युग-युगों से निरन्तर बहती चली आ रही है और अनजाने समुद्र की तरफ़ दौड़ी चली जा रही है। मैं चाहता था कि तुम्हें मनुष्य-जाति के पैरों की लीक का परिचय कराऊं और इस लीक पर शुरू से लगाकर आज तक, यानी जब मनुष्य मानव नहीं बना था, तबसे आजतक जबकि वह अहंकार और बेवकूफी से अपनी महान सभ्यता पर घमंड करने लगा है, तुम्हें ले चलूं। हम लोगों ने शुरू तो इसी तरह से किया था। तुम्हें याद होगा कि मसूरी में हमने इस बात की चर्चा शुरू की थी, कि सबसे पहले आग और खेती का आविष्कार कैसे हुआ, लोग नगरों में कैसे बसे और मेहनत का बंटवारा कैसे हुआ। लेकिन ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते गये, त्यों-त्यों हम साम्राज्यों वग़ैरा में उलझते गये, और उस लीक को खो बैठे। अभी तक

हम इतिहास की ऊपरी सतह पर ही चलते रहे हैं। मैंने तुम्हारे सामने पुरानी घटनाओं का एक ढांचा ही रखा है। मै चाहता हूं कि मुझे इस ढांचे पर मांस और खून चढ़ाने की शक्ति मिल जाय ताकि मैं इसे तुम्हारे लिए सजीव और प्राणवान बना सकूं।

मगर मैं जानता हूं कि मुझमें वह शक्ति नहीं है और तुम्हें घटनाओं के ढांचे में जान फूंकने के इस चमत्कार को सफल बनाने के लिए अपनी ही कल्पना पर भरोसा करना पड़ेगा। फिर मै तुम्हें ये पत्र क्यों लिखूं ? क्योंकि प्राचीन इतिहास की बहुत-सी अच्छी पुस्तकें तुम खुद ही पढ़ सकती हो। लेकिन इन शंकाओं के बावजूद भी मैंने पत्रों का सिलसिला जारी रखा है और मेरा खयाल है कि मैं इसे आगे भी जारी रखूंगा। जो वादा मैंने तुमसे किया था, वह मुझे याद है और इसे पूरा करने की मैं कोशिश करूंगा। लेकिन इस वादे से भी ज़्यादा वह आनन्द है, जो मुझे तुम्हारी याद से उस वक़्त मिलता है, जब मैं लिखने बैठता हूं और कल्पना करता हूं कि तुम मेरे पास बैठी हो और हम एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं।

जबसे मनुष्य लुढ़कता-पुढ़कता अपनी जंगली हालत से बाहर निकला तब-से उसकी यात्रा का ज़िक्र मैंने ऊपर किया है। यह रास्ता लाखों वर्षों का रहा है, फिर भी अगर तुम पृथ्वी की कहानी और आदमी के उसपर जन्म लेने के पहले के युग-युगों से इसका मुक़ाबला करो, तो यह समय कितना कम है ! लेकिन हमारे लिए उन तमाम बड़े-बड़े जानवरों के मुक़ाबले में, जो मनुष्य के पहले मौजूद थे, मनुष्य कुदरती तौर पर ज़्यादा दिलचस्पी रखता है। यह इसलिए कि मनुष्य अपने साथ एक नई चीज लाया था, जो शायद दूसरों में नहीं पाई जाती थी। यह थी बुद्धि और जिज्ञासा, यानी खोजने की और सीखने की इच्छा। इस तरह शुरू से ही आदमी में खोज की धुन शुरू हुई। किसी छोटे बच्चे को देखो; वह अपने चारों ओर की नई और विचित्र दुनिया को कैसे देखता है; आदमियों को और दूसरी चीज़ों को वह कैसे पहचानने लगता है और कैसे सीखता है। किसी छोटी लड़की को देखो। अगर वह तन्दुरुस्त और चौकस है, तो वह कितनी ही बातों के बारे में कितने ही सवाल करेगी। इसी तरह इतिहास के प्रभात में, जब मानव का बचपन था और दुनिया नई और अद्भुत थी और उसके लिए कुछ डरावनी भी थी, उसने अपने चारों तरफ़ नज़र डाली होगी और ग़ौर से देखा होगा और सवाल पूछे होंगे। लेकिन वह अपने सिवा सवाल पूछता भी किससे ? कोई दूसरा जवाब देनेवाला नहीं था। हां, उसके पास एक छोटी-सी अजीब चीज़ थी—बुद्धि। और उसकी मदद से, धीरे-धीरे तक़लीफ़ें उठाकर, वह अपने अनुभवों को जमा करता गया और उनसे ज्ञान हासिल करता गया। इस तरह शुरू के ज़माने सें आज तक, मानव की खोज का सिलसिला चला आ रहा है। उसने बहुत-सी बातें मालूम कर ली हैं, लेकिन बहुत-

सी अभी मालूम करना बाक़ी हैं। जैसे-जैसे वह अपनी खोज के रास्ते पर आगे बढ़ता है, उसे लम्बे-चौड़े नये मैदान सामने फैले हुए मिलते हैं, जो उसे बतलाते हैं कि वह अब भी अपनी खोज की आख़िरी मंज़िल से—अगर आख़िरी मंज़िल कोई है तो—कितना दूर है।

मनुष्य की यह खोज क्या रही है और उसकी मंज़िल क्या है? हज़ारों वर्षों से लोगों ने इन सवालों का जवाब देने की कोशिश की है। धर्म, दर्शन और विज्ञान, सबने इन सवालों पर विचार किया है और बहुत-से जवाब दिये हैं। लेकिन इन जवाबों से मैं तुम्हें परेशान नहीं करूंगा, क्योंकि ज़्यादातर जवाब मुझे मालम ही नहीं हैं। देखा जाय तो धर्म ने अपने ढंग पर इन सवालों का पूरा जवाब देने की कोशिश की है। पर उसमें तर्क की गुंजायश नहीं रक्खी। बहुत करके धर्म ने बुद्धि की कोई परवाह नहीं की, और अपने फैसलों को हर तरह से ज़बरदस्ती मनवाने की कोशिश की है। विज्ञान के जवाब में संदेह और हिचकिचाहट होते हैं, क्योंकि विज्ञान का स्वभाव यह है कि वह हठ-धर्मी नहीं करता। वह प्रयोग और तर्क करता है और मनुष्य की बुद्धि का सहारा लेता है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि मैं विज्ञान को और विज्ञान के तरीक़ों को ही पसन्द करता हूं।

यह सम्भव है कि हम मनुष्य की खोज के बारे में इन सवालों का जवाब भरोसे के साथ न दे सकें। लेकिन इतना हम देखते हैं कि यह खोज दो ढंग पर चली है। मनुष्य ने अपने बाहर की चीज़ों पर ग़ौर किया है और अपने भीतर भी; उसने प्रकृति को समझने की कोशिश की है और अपने-आपको भी। यह खोज वास्तव में एक ही है, क्योंकि आदमी ख़ुद प्रकृति का अंग है। भारत और यूनान के पुराने तत्त्व-ज्ञानियों ने कहा है—"अपनेको जानो"। और उपनिषदों में इस ज्ञान के लिए प्राचीन भारत के आर्यों के इन अद्भुत और निरन्तर प्रयत्नों का लेखा है। दूसरा, यानी प्रकृति का ज्ञान विज्ञान का ख़ास विषय रहा है और इस दिशा में विज्ञान ने जो तरक़्क़ी की है, उसका परिचय आधुनिक जगत को मिल रहा है। अब तो वास्तव में विज्ञान अपने पंख और भी आगे पसार रहा है और इन दोनों रास्तों की खोज को हाथ में ले रहा है और उनको आपस में जोड़ रहा है। एक ओर तो विज्ञान बहुत दूर के सितारों की विश्वास के साथ खोज कर रहा है, और दूसरी ओर हमें उन निरन्तर गतिशील नन्हीं-नन्हीं चीज़ों, यानी इलैक्ट्रनों और प्रोटनों का हाल भी बता रहा है जिनसे सारा पदार्थ बना है।

मनुष्य की बुद्धि ने उसे उसकी खोज की यात्रा में काफ़ी दूर की मंज़िल तक पहुंचा दिया है। जैसे-जैसे मनुष्य प्रगति को समझना सीखता जाता है वैसे-वैसे वह उसका उपयोग करके उसे अपने फ़ायदे के कामों में लगाता जाता है, और इस तरह उसने ज़्यादा शक्ति हासिल कर ली है। लेकिन अफ़सोस है कि इस नई

शक्ति का उसने ठीक ढंग से इस्तेमाल नहीं किया बल्कि अकसर बेजा इस्तेमाल किया है। मनुष्य ने विज्ञान का ज़्यादातर उपयोग ऐसे भयंकर अस्त्र बनाने के लिए किया है, जिनसे वह अपने ही भाइयों को मार डाले और इतनी मेहनत से तैयार की हुई सभ्यता को नष्ट कर दे।

## : ५७ :
# ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष

अब यह ठीक मालूम होता है कि हम अपनी यात्रा की जिस मंज़िल पर आ पहुंचे हैं, वहां थोड़ी देर के लिए ठहर जायं और चारों तरफ़ नज़र डाल लें। हम कितनी दूर आ पहुंचे हैं, इस समय कहां है और दुनिया की क्या हालत है ? आओ हम अला-दीन की जादुई क़ालीन पर बैठकर उस समय की दुनिया के तरह-तरह के हिस्सों की कुछ सैर कर लें।

हम ईसाई सन् के पहले हज़ार वर्षों में सफ़र कर चुके हैं। कुछ देशों में हम ज़रा आगे बढ़ गये हैं और कहीं इस मंज़िल से कुछ पीछे भी रह गये हैं।

एशिया में इस समय हम चीन को सुंग-राजवंश के अधीन देखते हैं। महान् तांग-राजवंश खतम हो चुका था और सुंगों को एक तरफ़ घरेलू झगड़ों का सामना करना पड़ रहा था और दूसरी तरफ़ उत्तर के बर्बर खितनों के विदेशी हमले का। डढ़ सौ वर्षों तक उन्होंने मुक़ाबला किया, लेकिन फिर अपनी कमज़ोरी की वजह से उन्हें दूसरे बर्बर क़बीले 'सुनहरे तातारों' या 'किन' लोगों से मदद मांगनी पड़ी। किन आये, लेकिन वहीं जम गये और बेचारे सुंगों को खिसककर दक्षिण चले जाना पड़ा, जहां दक्षिण सुंगों के नाम से उन्होंने डेढ़ सौ वर्षों तक राज किया। इस बीच में वहां ललित कलाओं की, और चित्रकला व चीनी के बर्तन बनाने की कला की, खूब उन्नति हुई।

कोरिया में आपस की फूट और संघर्ष के दिनों के बाद ९३५ ई० में एक संयुक्त स्वाधीन राज्य क़ायम हुआ और यह बहुत दिनों तक, क़रीब साढ़े चार सौ वर्ष, बना रहा। कोरिया ने चीन से अपनी सभ्यता, कला और शासन-प्रणाली के बारे में बहुत-कुछ सीखा। धर्म और थोड़ी बहुत कलाएं चीन होकर भारत से कोरिया को और जापान को भी गईं। पूर्व में बहुत दूर एशिया के संतरी की तरह स्थित जापान, दुनिया से क़रीब-क़रीब कटा हुआ, अपनी ज़िन्दगी गुज़ार रहा था। फ़ूजीवारा खान-दान सर्वोपरि हो गया था और उसने सम्राट् को, जो अब एक कुल के सरदार से कुछ ज़्यादा हैसियतवाला हो गया था, पीछे डाल दिया था। इसके बाद शोगुन आये।

एशिया तथा योरप—१००० ई०
फ्रान्स
साम्राज्य
हंगरी
कीफ
पूर्वी
साम्राज्य
सैल्जुक
बगदाद
बुखारा
समरकंद
महमूद
गजनवी
मंगोलिया
किन
साम्राज्य
कोरिया
जापान
सुंग
साम्राज्य
कम्भोज
अंगकोर
श्रीविजय
चोल
साम्राज्य
अरब
मिस्र
मध्य एशिया के पठार
तथा हिमालय

मलेशिया में भारतीय उपनिवेश फूल-फल रहे थे। शानदार अंगकोर काम्बोज की राजधानी था और यह राज्य अपनी शक्ति और उन्नति की चोटी पर पहुंच गया था। सुमात्रा में श्रीविजय एक बड़े बौद्ध साम्राज्य की राजधानी था। इस साम्राज्य का सारे पूर्वी टापुओं पर अधिकार था और इनके साथ उसका बहुत बड़ा व्यापार चलता था। पूर्वी जावा में एक स्वाधीन हिन्दू-राज्य था, जो बहुत जल्द उन्नति करके व्यापार और व्यापार से पैदा होनेवाले धन के लिए श्रीविजय से होड़ करते हुए उसके साथ भयंकर लड़ाई में उतरनेवाला था। और, जैसा कि व्यापार के लिए आजकल के यूरोपीय राष्ट्र करते हैं, इसने अन्त में श्रीविजय को जीत लिया और नष्ट कर डाला।

भारत में उत्तर और दक्षिण एक दूसरे से इतने अलग हो गये कि जितने पिछले दिनों से कभी नहीं रहे थे। उत्तर में महमूद ग़ज़नवी बार-बार धावे मार रहा था और विनाश और लूटपाट कर रहा था। वह अपार धन लूटकर ले गया और उसने पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया। दक्षिण में हम देखते हैं कि चोल-साम्राज्य बढ़ रहा था और राजराजा व उसके पुत्र राजेन्द्र के शासन में उसकी शक्ति दिन-दिन बढ़ रही थी। उन्होंने दक्षिण भारत पर अपना सिक्का जमा लिया था और उनकी जल-सेनाएं अरब-सागर और बंगाल की खाड़ी पर हावी हो रही थीं। लंका, दक्षिण बर्मा और बंगाल पर भी उन्होंने धावे किये थे।

मध्य और पश्चिम एशिया में हम बग़दाद के अब्बासी साम्राज्य के कुछ अवशेष देखते हैं। बग़दाद अभी तक फूल-फल रहा था और एक नये शासक वर्ग, यानी सेलजूक तुर्कों के अधीन उसकी ताक़त बढ़ रही थी। लेकिन पुराना साम्राज्य कई राज्यों में बंट चुका था। इस्लाम अब एक साम्राज्य नहीं रह गया था बल्कि वह बहुत-से देशों और क़ौमों का सिर्फ मज़हब रह गया था। अब्बासिया साम्राज्य के खंडहर से ग़ज़नी की सल्तनत पैदा हुई, जिसपर महमूद ने राज किया और जहां से वह भारत पर झपट्टे मारता रहता था। हालांकि बग़दाद का साम्राज्य टूक-टूक हो गया था, लेकिन बग़दाद खुद अभी तक बहुत बड़ा शहर बना हुआ था, और दूर-दूर के विद्वानों और कलाकारों को अपने यहां खींच रहा था। मध्य एशिया में उस समय कई बड़े और मशहूर शहर उन्नति कर रहे थे, जैसे बुख़ारा, समरक़न्द, बलख़ वग़ैरा। इन शहरों के बीच खूब व्यापार हुआ करता था और बड़े-बड़े कारवां व्यापार का माल एक शहर से दूसरे शहर को लाते-लेजाते थे।

मंगोलिया में और उसके आसपास घुमक्कड़ों के नये कबीलों की संख्या और ताक़त बढ़ रही थी। दो सौ वर्ष बाद ये सारे एशिया के ऊपर टूट पड़नेवाले थे। आज भी मध्य और पश्चिमी एशिया की मुख्य नस्लें, इसी मध्य एशिया से आई हुई हैं, जहां घुमक्कड़ कबीलों की नस्लें पैदा होती हैं। चीनियों ने इन्हें पश्चिम

की तरफ़ खदेड़ दिया था और कुछ तो इनमें से भारत की तरफ़ और कुछ यूरोप की तरफ फैल गये थे। इसी समय पश्चिम की ओर खदेड़े गये सेलजूक तुर्कों ने बग़दाद के साम्राज्य का सितारा फिर बुलन्द किया, और कुस्तुन्तुनिया के पूर्वी रोमन साम्राज्य पर हमला करके उसे हरा दिया।

यह तो एशिया की बात रही। लाल समुद्र के उसपार मिस्र था जो बग़दाद से बिलकुल स्वाधीन था। मिस्र के मुसलमान शासक ने अपनेको अलग ख़लीफ़ा ऐलान कर दिया था। उत्तरी अफ्रीका भी एक स्वाधीन मुसलमानी राज्य था। जिब्राल्टर जल-डमरूमध्य के उसपार स्पेन में भी एक स्वाधीन मुस्लिम राज्य था, जिसे क़ुर्तुबा या कार्डोबा की अमीरत कहा गया है। इसके बारे में मैं तुम्हें आगे कुछ बताऊंगा। लेकिन इतना तो तुम जानती ही हो कि जब अब्बासी ख़लीफ़ाओं का राज आया तो स्पेन ने उनकी मातहती क़बूल नहीं की थी। उस समय से यह स्वाधीन ही था। फ्रान्स को जीतने की इसकी कोशिश को चार्ल्स मार्ते ने बहुत पहले ही नाकामयाब कर दिया था। अब स्पेन के उत्तरी हिस्से के ईसाई राज्यों की बारी थी कि मुसलमानों पर हमला करें। और ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रा इनका हौसला भी बढ़ता गया। लेकिन जिस वक्त की बात हम कर रहे हैं, उस वक्त क़ुर्तुबा की अमीरत एक बड़ा और प्रगतिशील राज्य था और सभ्यता और विज्ञान में यूरोप के और देशों से कहीं आगे था।

स्पेन को छोड़कर यूरोप कई ईसाई राज्यों में बंटा हुआ था। इस समय तक ईसाइयत सारे महाद्वीप में फैल चुकी थी और वीरों और देवी-देवताओं के पुराने मज़हब यूरोप से क़रीब-क़रीब ग़ायब हो चुके थे।

आजकल के यूरोपीय देशों की शक्लें बनने लगी थीं। ९८७ ई० में ह्यू कैपे की मातहती में फ्रान्स का नाम सामने आया। इंग्लैंड में डेनमार्क का कैन्यूट, जो समुद्र की लहरों को पीछे हटने का हुक्म देने के कारण मशहूर है, १०१६ ई० में राज करता था और पचास वर्ष बाद नॉरमंडी में 'विजेता' विलियम आया। जर्मनी पवित्र रोमन साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन साफ़ तौर पर वह एक राष्ट्र बनता जा रहा था, हालांकि वह अभी तक बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों में बंटा हुआ था। रूस पूर्व की तरफ़ फैल रहा था और कुस्तुन्तुनिया को अपने जहाज़ों से अक्सर डराया करता था। यह उस अजीब आकर्षण की शुरूआत थी, जो कुस्तुन्तुनिया के लिए रूस के दिल में हमेशा रहा है। रूस को इस बड़े शहर को पाने की लालसा एक हजार वर्षों से लगी हुई है और उसे उम्मीद थी कि चौदह वर्ष हुए ख़तम होनेवाले पहले महायुद्ध के बाद, यह शहर उसे मिल जायगा। लेकिन क्रान्ति ने अचानक आकर पुराने रूस की सारी योजनाओं को उलट दिया।

नौ सौ वर्ष पुराने यूरोप के नक़शे में तुम्हें पोलैंड और हंगरी भी मिलेंगे, जहां

मगियार रहा करते थे, और बलग़ारियों के और सर्बों के राज्य भी दिखाई देंगे। तुम इसमें पूर्वी रोमन साम्राज्य को भी पाओगी, जिसे चारों ओर से कई दुश्मन घेरे हुए थे, लेकिन वह अपने ढर्रे पर चला जा रहा था। रूसियों ने उसपर हमला किया; बलग़ारियों ने उसको तंग किया और नार्मन समुद्र के रास्ते बराबर उसे परेशान करते रहे। और अब सबसे ज्यादा ख़तरनाक सेलजूक़ तुर्क निकले, जो उसकी ज़िन्दगी को ही ख़तम करना चाहते थे। लेकिन इन दुश्मनों और बहुत-सी दूसरी कठिनाइयों के बावजूद भी यह साम्राज्य अभी ४०० वर्ष तक ख़तम होनेवाला नहीं था। इस अद्भुत जमे रहने की कुछ वजह यह थी कि कुस्तुन्तुनिया की स्थिति बहुत मज़बूत थी। यह ऐसी अच्छी जगह पर बसा था कि किसी दुश्मन के लिए इसपर कब्ज़ा करना मुश्किल था। कुछ वजह यह भी थी कि यूनानियों ने सुरक्षा का एक नया ढंग ईजाद किया था। इसका नाम 'यूनानी आग' था। यह कोई ऐसा मसाला था जो पानी के छूते ही जलने लगता था। इस यूनानी आग के ज़रिये से कुस्तुन्तुनिया के लोग दर्रे दानियाल को पार करके हमला करने की कोशिश करनेवाली फ़ौजों के जहाज़ों में आग लगाकर उनकी फ़ौजों को तहस-नहस कर देते थे।

ईसवी सन् के १००० वर्षों के बाद यूरोप का यह नक़शा था। उसी वक़्त नार्मन लोग अपने जहाज़ों में आ रहे थे और भूमध्यसागर के किनारे के शहरों को और समुद्रों में चलनेवाले जहाज़ों को लूट रहे थे। सफलता मिलने से य वास्तव में शरीफ़ भी बनते गये। फ्रान्स में ये लोग उसके पश्चिमी हिस्से, नारमंडी. में बस गये थे। फान्स को अड्डा बनाकर उन्होंने इंग्लैण्ड को जीत लिया था। सिसली का टापू उन्होंने मुसलमानों से छीन लिया और उसमें दक्षिण इटली को जोड़कर 'सिसीलिया का राज्य' क़ायम कर दिया।

यूरोप के मध्य में, उत्तरी समुद्र से रोम तक, 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पसरा हुआ था, जिसमें बहुत-सी रियासतें थीं और सबका अध्यक्ष एक सम्राट् था। जर्मन सम्राट् और रोम के पोप के बीच प्रभुत्व के लिए बराबर खींच-तान बनी रहती थी। कभी सम्राट का पासा भारी रहता और कभी पोप का, लेकिन धीरे-धीरे पोपों की शक्ति बढ़ती गई। बहिष्कार यानी किसी आदमी को समाज से छेककर कानून से वंचित कर देने की धमकी का भयंकर हथियार पोपों के हाथ में था। पोप ने एक अभिमानी सम्राट को तो इतना ज़लील किया कि माफ़ी मांगने के लिए उसे बर्फ़ में नंगे पांव पोप के पास जाना पड़ा था और कनौज़ा (इटली) में पोप के निवास-स्थान के बाहर इसी तरह उस समय तक खड़े रहना पड़ा था, जबतक कि पोप ने मेहरबानी करके उसे अन्दर आने की इजाज़त नहीं दी!

हम देख रहे हैं कि इस समय यूरोप के देश शक्ल लेने लगे थे। फिर भी वह आज के देशों से बिलकुल अलग तरह के थे—ख़ासकर उनके निवासी तो थे

ही। ये लोग अपने को फ्रान्सीसी, अंग्रेज़ या जर्मन कभी नहीं कहते होंगे। ग़रीब किसान बहुत मुसीबत में थे और अपने देश या भूगोल के बारे में कुछ नहीं जानते थे; सिर्फ़ इतना जानते थे कि हम अपने जागीरदार के चाकर हैं और हमें उसकी आज्ञा का पालन करना है। अगर अमीर सामन्तों से कोई पूछता कि तुम कौन हो, तो वे यही जवाब देते कि हम किसी-न-किसी जगह के सरदार हैं और किसी बड़े सरदार के या बादशाह के ताबेदार हैं। यही सामन्तशाही थी जो सारे यूरोप में फैली हुई थी।

धीरे-धीरे जर्मनी में, और ख़ासतौर से उत्तरी इटली में, बड़े-बड़े शहर बढ़ने लगे। पेरिस भी उस वक़्त एक मशहूर शहर था। ये शहर व्यापार और वाणिज्य के केन्द्र थे और वहां बहुत दौलत इकट्ठी होती जाती थी। ये शहर सामन्तों को पसन्द नहीं करते थे और इन दोनों के बीच हमेशा खीच-तान रहती थी। पर अन्त में पैसे की जीत हुई। सामन्तों और सरदारों को कर्ज़े देकर शहरों ने पैसे की मदद से रियायतें और सत्ता खरीदीं। और इस तरह शहरों में धीरे-धीरे एक नया वर्ग पैदा हो गया, जिसकी इस सामन्तशाही से कभी नहीं पटी।

इस तरह हम देखते हैं कि यूरोप का समाज सामन्ती ढांचे के ढंग पर बहुत सी तहों में बंट गया था और ईसाई-संघ भी इस प्रणाली को अपना समर्थन और आशीर्वाद देता था। राष्ट्रीयता की कोई भावना नहीं पाई जाती थी। लेकिन सारे यूरोप में, ख़ासकर ऊंचे वर्ग में, ईसाई-राज्य की भावना ज़रूर थी। यह ऐसी चीज़ थी जो यूरोप के ईसाई-राष्ट्रों को एक सूत्र में बांधती थी। ईसाई-संघ ने इस भावना के फैलाने में मदद की क्योंकि इससे वह मज़बूत होता था और रोम के पोप की शक्ति बढ़ती थी, जो उस वक़्त पश्चिमी यूरोप में ईसाई-संघ का निर्विवाद अध्यक्ष बन चुका था। तुम्हें याद होगा कि रोम पूर्वी रोमन साम्राज्य और क़ुस्तुन्तु-निया से अलग हो चुका था। क़ुस्तुन्तुनिया में ईसाइयों का वही पुराना कट्टर सम्प्रदाय चला आ रहा था और रूस ने भी अपना मजहब यहींसे लिया। क़ुस्तुन्तुनिया के यूनानी लोग पोप को नहीं मानते थे।

लेकिन ख़तरे के मौक़े पर, जब क़ुस्तुन्तुनिया को दुश्मनों ने घेर लिया और ख़ासकर सेलजूक़ तुर्कों ने इसपर हमला किया, तो वह अपने अभिमान को और रोम की नफ़रत को भूल गया, और उसने मुसलमान विधर्मियों के ख़िलाफ़ पोप से मदद मांगी। उस वक़्त रोम में एक महान पोप हिल्देब्रांदे था, जो पोप ग्रेगरी सप्तम के नाम से गद्दी पर बैठा। इसी हिल्देब्रांदे के सामने कनौजा में अभिमानी जर्मन सम्राट् नंगे पैर, गिरती हुई बर्फ़ में, हाज़िर हुआ था।

उस समय यूरोप के सारे ईसाइयों के दिलों में एक दूसरी घटना ने हलचल मचा दी थी। बहुत-से श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास था कि ईसा के ठीक एक हज़ार

वर्ष बाद दुनिया का एकदम अन्त हो जायगा। 'मिलीनियम'[1] शब्द का अर्थ 'एक हज़ार वर्ष' है। यह शब्द दो लातीनी शब्दों से मिलकर बना है; 'मिली' यानी हज़ार, और 'एनस', यानी साल। चूंकि एक हज़ार वर्ष के बाद दुनिया के अन्त की उम्मीद की जाती थी, इसलिए मिलीनियम शब्द का मतलब हो गया—एकदम परिवर्तन से बेहतर दुनिया बनाना। मैंने तुम्हें बताया है कि यूरोप में उस वक़्त बड़ी तबाही थी और 'मिलीनियम' का यह नज़ारा बहुत-से परेशान लोगों को तसल्ली देता था। बहुत-से लोग अपनी ज़मीनें बेच-बेचकर फ़िलस्तीन चले गए ताकि जब दुनिया का अन्त हो तो उस समय वे अपनी 'पवित्र भूमि' में मौजूद रहें।

लेकिन दुनिया का अन्त नहीं हुआ और उन हज़ारों तीर्थ-यात्रियों को, जो यरूशलम गये थे, तुर्कों ने बहुत परेशान किया और सताया। क्रोध और अपमान की भावना से भरे हुए ये लोग यूरोप लौटे और पवित्र भूमि में उठाई हुई अपनी मुसीबतों के क़िस्से सारे यूरोप में फैलाने लगे। ख़ासकर एक मशहूर तीर्थयात्री, साधु पीटर, हाथ में लाठी लिये, चारों तरफ़ यही प्रचार करता फिरता था कि ईसाइयों के पवित्र नगर यरूशलम का मुसलमानों से उद्धार करना चाहिए। ईसाई-जगत में इस अन्याय के खिलाफ़ क्रोध और जोश बढ़ता गया और यह देखकर पोप ने इस आन्दोलन का नेता खुद बनने का निश्चय किया।

इसी समय विधर्मियों के खिलाफ़ सहायता के लिए कुस्तुन्तुनिया से पुकार आई। मालूम होता था कि सारा ईसाई-जगत, रोमन भी और यूनानी भी, बढ़ते हुए तुर्कों के खिलाफ़ एक जूट हो गया है। १०९५ ई० में ईसाई-संघ की बड़ी परिषद् में यह तय हुआ कि यरूशलम के पवित्र नगर के उद्धार के लिए मुसलमानों के खिलाफ़ धर्म-युद्ध की घोषणा की जाय। इस तरह क्रूसेड का युद्ध शुरू हुआ, यानी इस्लाम के खिलाफ़ ईसाइयत की—हिलाल[2] के खिलाफ़ सलेब[3] की, लड़ाई।

: ५८ :

## एशिया और यूरोप पर एक और नज़र

१२ जून, १९३२

हमने ईसा के बाद एक हज़ार वर्ष के अन्त तक की दुनिया का—यानी एशिया, यूरोप और अफ्रीका के कुछ हिस्सों का—संक्षिप्त सिंहावलोकन खतम कर दिया। लेकिन आओ, एक नज़र और डाल लें।

[1] Millennium+Mille-annus
[2] मुसलमानों का धर्म-चिन्ह, दूज का चांद।
[3] क्रास या सूली, ईसाइयत का चिन्ह।

पहले एशिया को लें। भारत और चीन की पुरानी सभ्यताएं चली आ रही थीं और उन्नति कर रही थीं। भारतीय संस्कृति मलेशिया और कम्बोडिया तक फैल गई थी और वहां बहुत बढ़िया फल पैदा कर रही थी। चीनी संस्कृति कोरिया और जापान, और किसी हद तक मलेशिया में भी फैली हुई थी। पश्चिमी एशिया में, अरब, फ़िलस्तीन, सीरिया और इराक़ में अरबी संस्कृति का दौर था। ईरान में पुरानी ईरानी और नई अरबी सभ्यता का मेल था। मध्य एशिया के कुछ देशों ने भी इस ईरानी-अरबी संस्कृति के मिले-जुले रूप को इख़्तियार कर लिया था, और उनपर भारत और चीन का भी असर पड़ा था। ये सब देश सभ्यता के ऊंचे दर्जे को पहुंच गये थे। व्यापार, विद्या और कलाओं की उन्नति हो रही थी; बड़े-बड़े शहरों की बहुतायत थी; और मशहूर विश्वविद्यालयों में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। सिर्फ़ मंगोलिया और मध्य एशिया के कुछ हिस्सों में और उत्तर में साइ-बेरिया में सभ्यता का स्तर कुछ नीचा था।

अब यूरोप को लो। एशिया के प्रगतिशील देशों के मुक़ाबले में यह पिछड़ा हुआ और आधा-जंगली था। यूनानी-रोमन सभ्यता पुराने ज़माने की सिर्फ़ याद-गार रह गई थी। विद्या की क़द्र नहीं थी; कलाओं का भी ज़्यादा प्रचार नहीं था और एशिया के मुक़ाबले व्यापार भी बहुत कम था। लेकिन दो जगह रोशनी नज़र आती थी। एक तो अरबोंके शासन में स्पेन में जो अरबों के शानदार ज़माने की परम्परा को क़ायम रखे हुए था; दूसरा कुस्तुन्तुनिया था, जो धीरे-धीरे गिरावट की हालत में भी, एशिया और यूरोप की सरहद पर, बहुत बड़ा और घनी आबादी का शहर था। यूरोप के ज़्यादातर हिस्सों में बार-बार गड़बड़ हुआ करती थी और सामन्त-शाही में हरेक नाइट और सरदार अपने मातहत इलाके का छोटा-मोटा राजा हुआ करता था। एक समय ऐसा आया कि पुराने रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम एक मामूली गांव के बराबर रह गया और उसके पुराने कोलोज़ियम में जंगली जानवरों का बसेरा हो गया। लेकिन अब यह फिर बढ़ने लगा था।

इसलिए अगर तुम ईसा के १००० वर्ष बाद के यूरोप और एशिया का मुक़ाबला करो तो एशिया का पलड़ा बहुत भारी निकलेगा।

आओ, अब एक नज़र और डालें, और मामलों की तह में जाकर देखने की कोशिश करें। हमें पता चलेगा कि ऊपर से देखनेवाले के ख़याल से एशिया की हालत जितनी अच्छी थी, असल में उतनी अच्छी नहीं थी। प्राचीन सभ्यता के दो पालने, भारत और चीन, परेशानी में फंसे हुए थे। ये सिर्फ़ बाहर से होनेवाले हमलों से ही परेशान नहीं थे, बल्कि इनसे भी ज़्यादा असली वे परेशानियां थीं जो इनकी अन्दरूनी ज़िन्दगी और ताक़त को चूस रही थीं। पश्चिम में अरबों के शान-दार दिनों का अन्त हो रहा था। यह सच है कि सेलजूकों की ताक़त बढ़ रही थी,

लेकिन उनकी तरक़्क़ी की वजह सिर्फ़ यह थी कि वे बड़े रंण-बांकुरे थे। भारतीयों, चीनियों, ईरानियों या अरबों की तरह ये लोग एशिया की सभ्यता के प्रतिनिधि नहीं थे, बल्कि एशिया के रण-बांकुरेपन के प्रतिनिधि थे। एशिया में हर जगह पुरानी सभ्य जातियां सिकुड़ती हुई दिखाई देती थीं। वे आत्म-विश्वास खो बैटी थी और अपनेको बचाने की चिन्ता में थीं। बलवान और तेज़-तरार नई क़ौमें पैदा हुईं, जिन्होंने एशिया की इन पुरानी नस्लों को विजय किया और जो यूरोप की तरफ़ भी बढ़ने लगीं। लेकिन ये अपने साथ सभ्यता की कोई नई लहर या संस्कृति की कोई नई प्रेरणा नही लाईं। पुरानी नस्लों ने धीरे-धीरे इन नई क़ौमों को सभ्य बनाया और अपने विजेताओं को हज़म कर लिया।

इस तरह हम एशिया के ऊपर एक बड़ा परिवर्तन आता हुआ देखते हैं। पुरानी सभ्यताएं क़ायम थीं, ललित कलाएं फूल-फल रही थीं, विलासिता में नज़ाकत मौजूद थी, लेकिन सभ्यता की नाड़ी कमज़ोर पड़ रही थी और ज़िन्दगी की सांस धीरे-धीरे मन्द होती जा रही थी। ये सभ्यताएं बहुत दिनों तक क़ायम रहीं। सिवा अरब के, और मध्य-एशिया के, जबकि वहां मंगोल आये, कही दूसरी जगह न तो ये सभ्यताएं ख़तम हुई, और न इनका सिलसिला ही टूटा। चीन और भारत की सभ्यताएं धीमे-धीमे मन्द पड़ने लगीं, और अन्त में पुरानी सभ्यता चित्रित तसवीर की तरह हो गई, जो दूर से देखने में तो बहुत सुंदर मालूम होती थी, लेकिन थी बे-जान और नज़दीक से देखने पर मालूम होता था कि उसमें दीमक लगी हुई है।

साम्राज्यों की तरह सभ्यताओं का पतन भी, बाहरी दुश्मनों की ताक़त की वजह से इतना नहीं होता, जितना कि अन्दरूनी कमज़ोरी और सड़न की वजह से। रोम का अन्त बर्बरों की वजह से नहीं हुआ। बर्बरों ने तो सिर्फ़ एक ऐसी चीज़ को धराशायी किया था जो पहले ही मुर्दा थी। जिस समय रोम के हाथ-पांव काटे गये, उससे पहले ही उसके दिल की धड़कन बन्द हो चुकी थी। कुछ ऐसी ही प्रक्रिया हमें भारत, चीन और अरब में भी दिखाई देती है। अरबी सभ्यता का अन्त भी उसके उदय के समान ही एकदम हुआ। भारत और चीन में पतन की यह प्रक्रिया बहुत लम्बे अर्से तक चलती रही और यह पता लगाना आसान नहीं है कि वह कहां ख़तम हुई।

महमूद ग़ज़नवी के भारत आने से बहुत पहले पतन की यह प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। लोगों के दिमाग़ों में परिवर्तन होता हुआ दिखाई देने लगा था। नये विचार और नई चीज़ें पैदा करने के बजाय भारत के लोग पुरानी बातों को दोहराने और उनकी नक़ल करने में लग गये थे। उनके दिमाग़ अभी तक काफ़ी तेज़ थे, लेकिन वे अपना समय उन बातों का नया अर्थ लगाने में और उनकी व्याख्या करने

में बिताते थे, जो बहुत दिनों पहले कही और लिखी जा चुकी थीं। ये लोग अभी भी चकित करनेवाली मूर्त्तिकला व नक्काशी कला की चीज़ें बनाते थे, लेकिन ये सब चीज़ें ज़रूरत से ज़्यादा बारीकियों और सजावट से बोझिल थीं और कहीं-कहीं उनमें कुछ अजीब विकृति भी आ जाती थी। इनमें मौलिकता नहीं थी और इसी तरह आकृतियां भी उभरी हुई और शानदार नहीं थी। धनवानों और ख़ुशहालों में तकल्लुफ़ और कला-प्रेम और विलासिता का ज़ोर था, लेकिन न तो आम जनता की मेहनत व मुसीबत को कम करने के लिए कुछ किया गया और न उपज बढ़ाने के लिए।

ये तमाम सभ्यता की संध्या के काल की निशानियां हैं। जब ऐसा होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उस सभ्यता की चेतना लोप हो रही है; क्योंकि रचना ही जीवन का चिन्ह है, दोहराना या नक़ल करना नहीं।

चीन और भारत में उस समय कुछ इसी किस्म की प्रक्रियाएं हो रही थीं। लेकिन मेरे मतलब को समझने में ग़लती न करना। मेरा मतलब यह नहीं है कि इसकी वजह से चीन या भारत की हस्ती मिट गई या वे असभ्यता के गड्ढे में गिर पड़े। मेरा मतलब यह है कि चीन और भारत की रचनात्मक भावना को जो पुरानी प्रेरणा बीते ज़माने में मिलती थी, उसकी शक्ति अब ख़तम हो रही थी और उसमें नई जान नहीं पड़ रही थी। यह भावना अपनेको बदले हुए हालात के मुताबिक़ नहीं ढाल रही थी, बल्कि सिर्फ़ पुराने ढर्रे पर चल रही थी। हर देश और सभ्यता की यही हालत होती है। ऊंचे दर्जे की नई रचना की कोशिश के और विकास के ज़माने आते हैं और फिर पस्ती के ज़माने आते हैं। ताज्जुब की बात तो यह है कि चीन और भारत में यह पस्ती इतनी देर से आई और फिर भी ऐसा कभी नहीं हुआ कि ये पूरी तरह पस्त हो गये हों।

इस्लाम अपने साथ भारत में मानव-प्रगति की एक नई लहर लेकर आया। कुछ हद तक इसने पौष्टिक दवा का काम किया। इसने भारत को झकझोर डाला, लेकिन दो कारणों से वह भारत को उतना फ़ायदा नहीं पहुंचा सका, जितना कि पहुंचा सकता था। वह भारत में ग़लत तरीक़े से आया और बहुत देर से आया। महमूद ग़ज़नवी के हमलों के कई सौ वर्ष पहले से मुसलमान धर्म-प्रचारक भारत भर में घूमते-फिरते थे और इनका स्वागत होता था। ये शान्ति के साथ आये थे और कुछ क़ामयाब भी हुए थे। इस्लाम के ख़िलाफ़ कोई भी बुरी भावना नहीं थी। लेकिन महमूद अपने साथ तलवार और आग लेकर आया। और जिस ढंग से वह विजेता, लुटेरा और क़ातिल बनकर आया, उससे भारत में इस्लाम के नाम को जितना धक्का पहुंचा उतना किसी दूसरी वजह से नहीं। यह ठीक है कि महमूद मज़हब की कुछ परवाह नहीं करता था और उसने वैसी ही मारकाट और लूटपाट

की जैसी कि सब बड़े विजेता किया करते हैं। लेकिन भारत में इस्लाम पर इसके हमले बहुत दिनों तक छाये रहे और लोगों के लिए इस्लाम के बारे में निष्पक्षता से विचार करना मुश्किल हो गया; वरना हालत दूसरी ही होती।

यह एक वजह थी। दूसरी वजह यह थी कि इस्लाम देर में आया। वह अपनी शुरूआत के चार सौ वर्ष बाद यहां आया और इस लम्बे अर्से में वह कुछ पस्त हो चुका था और उसकी रचना-शक्ति बहुत-कुछ बीत चुकी थी। अगर अरब लोग शुरू में ही इस्लाम को लेकर भारत आये होते तो उन्नति-शील अरबी संस्कृति और पुरानी भारतीय संस्कृति आपस में मिल गई होतीं और दोनों एक-दूसरी पर असर डालतीं, जिसके नतीजे बड़े महान होते। तब दो सुसंस्कृत नस्लों का मेल हो गया होता, क्योंकि अरब लोग मज़हब के मामले में उदारता और बुद्धिवाद के लिए मशहूर थे। वास्तव में एक जमाने में बग़दाद में एक क्लब था, जिसका संरक्षक ख़लीफ़ा था, और जहां हर मज़हब के माननेवाले और किसी भी मज़हब को न माननेवाले जमा होते थे और सिर्फ़ बुद्धिवादी दृष्टिकोण से सब मामलों पर चर्चा और बहस किया करते थे।

लेकिन अरब लोग भारत के भीतर नहीं घुसे। वे सिन्ध में आकर रुक गये और भारत पर उनका कुछ असर नहीं पड़ा। भारत में इस्लाम तुर्कों और दूसरी क़ौमों के ज़रिये आया, जिनमें अरबों जैसी उदारता और संस्कृति नहीं थी, क्योंकि वे सिर्फ़ सिपाही थे।

लेकिन फिर भी प्रगति और रचनात्मक प्रयत्न की एक नई लहर भारत में आई। यह नई लहर भारत में कुछ नई जान डालकर किस तरह ख़तम हो गई, इसपर हम आगे विचार करेंगे।

अब भारतीय सभ्यता के कमज़ोर पड़ने का एक और नतीजा सामने आने लगा था। जब इसपर बाहर से हमला हुआ तो उस आनेवाली लहर से बचने के लिए इसने अपने चारों तरफ़ बाड़ लगा ली और अपनेको उसमें बंद-सा कर लिया। यह भी कमज़ोरी और डर की एक निशानी थी; और इस दवा ने रोग को और भी बढ़ा दिया। असली बीमारी विदेशी हमला नहीं थी, बल्कि कूप-मंडूकपन थी। इस कूप-मंडूकपन से सड़न पैदा हुई और बढ़ोतरी के सारे रास्ते रुक गये। आगे चलकर हम देखेंगे कि चीन ने भी यही बात अपने तरीक़े से की और जापान ने भी ऐसा ही किया। किसी परकोटे में बन्द समाज में रहना कुछ ख़तरनाक बात है। उसमें रहकर हम पथरा जाते हैं और ताज़ी हवा और ताज़े विचारों के आदी नहीं रह जाते। समाजों के लिए भी ताज़ी हवा उतनी ही ज़रूरी है जितनी व्यक्तियों के लिए।

यह तो एशिया की बात हुई। हमने देखा है कि यूरोप उस समय पिछड़ा हुआ था और झगड़ालू भी था। लेकिन इसकी तमाम गड़बड़ी और असभ्यता

के पीछे कम-से-कम इसमें क्रियाशील शक्ति और चेतना पाई जाती थी। एशिया बहुत दिनों तक सिरमौर रहने के बाद पतन की तरफ़ जा रहा था; यूरोप ऊंचा उठने की कोशिश में था। लेकिन एशिया के स्तर के पास तक पहुंचने के लिए उसे अभी बहुत लम्बी मंजिल तय करनी बाक़ी थी।

आज यूरोप दुनिया पर हावी है, और एशिया आज़ादी के लिए तकलीफें उठाकर लड़ रहा है। लेकिन सतह के नीचे फिर देखने की कोशिश करो। तुम्हें एशिया में नई क्रियाशील शक्ति, नई रचना की भावना और नई जिन्दगी दिखाई देगी। एशिया अब फिर उठ रहा है, इसमें कोई शक नहीं। और यूरोप में, या यों कहो पश्चिमी यूरोप में, उसकी महानता के बावजूद, पतन के कुछ चिन्ह दिखाई दे रहे हैं। आज कोई जंगली क़ौम इतनी ताक़तवर नहीं है, जो यूरोप की सभ्यता को बर्बाद कर दे। लेकिन कभी-कभी सभ्य जातियां खुद जंगलियों जैसी हरकतें करने लगती हैं, और जब ऐसा होता है तो सभ्यता खुद अपनेको नष्ट कर देती है।

मैं एशिया और यूरोप की बातें कर रहा हूं। लेकिन ये तो सिर्फ भौगोलिक शब्द हैं और जो समस्याएं हमारे सामने हैं, वे एशियाई या यूरोपीय समस्याएं नहीं हैं, बल्कि सारे संसार की या मनुष्य-जाति की समस्याएं हैं। और जबतक हम सारे संसार की इन समस्याओं को हल नहीं कर डालते, तबतक गड़बड़ें चलती रहेंगी। इन समस्याओं के हल का अर्थ सिर्फ़ यही हो सकता है कि हर जगह ग़रीबी और मुसीबत खतम हों। सम्भव है, इसमें कुछ वक़्त लग जाय, लेकिन हमारा निशाना यही होना चाहिए, और इससे कम हरगिज़ नहीं होना चाहिए। तभी हम बराबरी के आधार पर असली सभ्यता और संस्कृति क़ायम कर सकेंगे, जिसमें किसी देश या किसी वर्ग का शोषण न होगा। यह समाज नई रचना करनेवाला और प्रगतिशील होगा जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपनेको ढालेगा और जिसकी बुनियाद सब लोगों के आपसी सहयोग पर होगी। और अन्त में यह समाज सारी दुनिया में फैल जायगा। फिर यह खतरा न रहेगा कि ऐसी सभ्यता पुरानी सभ्यताओं की तरह ढह जाय या सड़ जाय।

इसलिए जब हम भारत की आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं तो हमें याद रखना चाहिए कि सारी मनुष्य-जाति की आज़ादी हमारा महान् लक्ष्य है, जिसमें हमारे राष्ट्र की आजादी के साथ दूसरे राष्ट्रों की आज़ादी भी शामिल है।

: ५९ :

## अमेरिका की मय सभ्यता

१३ जून, १९३२

मैं तुमसे कहता आया हूं कि इन पत्रों में मैं संसार के इतिहास की रूप-

मध्य अमरीका की मय सभ्यता
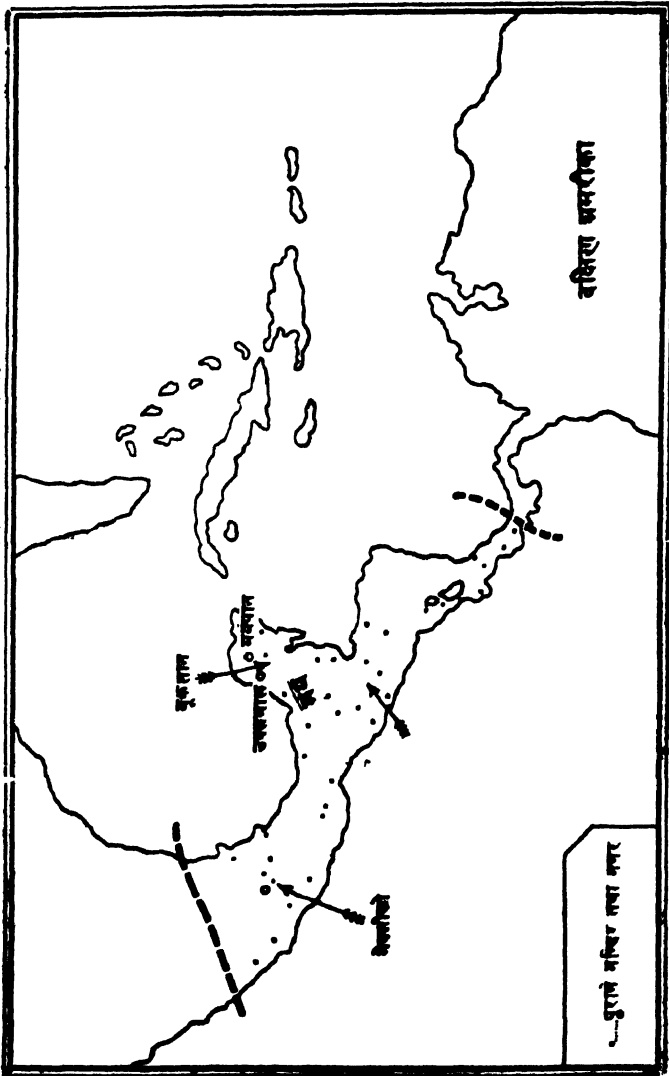
रेखा खींचने की कोशिश कर रहा हूं। लेकिन वास्तव में अभी तक यह एशिया और यूरोप और उत्तरी अफ्रीका का ही इतिहास रहा है। अमेरिका और आस्ट्रेलिया के बारे में मैंने अभी तक कुछ नहीं बताया। या अगर कुछ बताया भी है तो वह नहीं के बराबर है। लेकिन मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूं कि इस शुरू के ज़माने में भी अमेरिका में एक सभ्यता थी। इस सभ्यता के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती है, और मैं तो वास्तव में बहुत ही कम जानता हूं। फिर भी उसके बारे में तुम्हें कुछ बताने की अपनी चाह को मैं नहीं दबा सकता, ताकि तुम यह समझने की आम ग़लती न कर बैठो कि कोलम्बस और दूसरे यूरोपवासियों के पहुंचने से पहले अमेरिका सिर्फ एक वहशी मुल्क था।

शायद पाषाण-युग[1] के बहुत पुराने ज़माने में, जब मनुष्य कहीं जमकर नहीं रहता था और घूमने-फिरनेवाला शिकारी था, तब उत्तरी अमेरिका और एशिया के बीच में खुश्की का रास्ता था। आदमियों के कितने ही गिरोह और कबीले अलास्का होकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में आते-जाते रहे होंगे। बाद में आने-जाने का यह रास्ता कट गया और अमेरिका के लोगों ने धीरे-धीरे अपनी निजी सभ्यता बना ली। याद रहे कि, जहांतक पता चला है, अमरीका के लोगों को एशिया और यूरोप से जोड़नेवाला कोई साधन नहीं था। सोलहवीं सदी तक, जबकि नई दुनिया की खोज की गई बतलाई जाती है, ऐसा कोई बयान नहीं पाया जाता कि यूरोप और एशिया का इस देश से कोई असर डालने वाला सम्पर्क रहा हो। अमेरिका की यह दुनिया दूर और अलग थी—और इसपर यूरोप और एशिया की घटनाओं का कोई असर नहीं पड़ता था।

मालूम होता है कि अमेरिका में सभ्यता के तीन केन्द्र थे : मैक्सिको, मध्य-अमेरिका और पेरू। यह ठीक मालूम नहीं है कि ये सभ्यताएं कबसे शुरू हुई। लेकिन मैक्सिको का पंचांग ईसवी सन् के करीब ६१३ साल पहले से शुरू होता है। हम देखते हैं कि ईसवी सन् के शुरू के वर्षों में, दूसरी सदी के आगे, बहुत-से शहर बढ़ चुके थे। पत्थर का काम, मिट्टी के बरतनों का काम, बुनाई और बहुत सुन्दर रंगाई के काम होते थे। तांबा और सोना बहुतायत से मिलते थे; लेकिन लोहा नहीं था। इमारतें बनाने की कला की तरक्क़ी हो रही थी और मकानों के बनाने में इन शहरों की आपसी होड़ चलती थी। एक ख़ास तरह की और बहुत पेचीदा लिपि लिखी जाती थी। कला, ख़ासकर मूर्त्तिकला, बहुत देखने में आती थी और वह क़ाफ़ी सुन्दर थी।

---

**[1]पाषाणयुग—मनुष्य-जाति का शुरू का समय जब मनुष्य सिर्फ़ पत्थर के औज़ार बनाना जानता था।**

सभ्यता के इन क्षेत्रों में से हरेक में कई राज्य थ। कई भाषाएं थीं और इन भाषाओं में काफ़ी साहित्य भी था। सुसंगठित और मजबूत सरकारें थीं और शहरों में सुसंस्कृत और दिमाग़ी समाज था। इन राज्यों का क़ानून और अर्थ-व्यवस्था बहुत विकसित थे। ९६० ई० के लगभग उक्षमल नगर की नींव डाली गई। कहा जाता है कि यह शहर बहुत जल्दी बढ़कर उस समय के एशिया के बड़े शहरों की टक्कर का हो गया। इसके अलावा लाबुआ, मयपान, चाओ-मुल्तुन, वग़ैरा और भी बड़े-बड़े नगर थे।

मध्य अमेरिका के तीन मुख्य राज्यों ने मिलकर एक संघ बनाया था, जिसे अब मयपान-संघ कहते हैं। यह ईसा के बाद ठीक एक हज़ार वर्ष के आसपास की बात है, यानी उस ज़माने की जहांतक हम एशिया और यूरोप में आ पहुचे हैं। यानी ईसा के एक हज़ार वर्ष बाद मध्य अमेरिका में सभ्य राज्यों का एक शक्ति-शाली संगठन था। लेकिन इसके सारे राज्यों पर और ख़ुद मय सभ्यता पर पुरोहित लोग सवार थे। ज्योतिष-विज्ञान का सबसे ज़्यादा आदर होता था, और इस विज्ञान के जानकार होने की वजह से पुरोहित लोग जनता की अज्ञानता से फ़ायदा उठाते थे। इसी तरह भारत में भी लाखों आदमी चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहणों पर स्नान व उपवास करने के लिए फ़ुसलाये गए हैं।

यह मयपान-संघ सौ वर्षों से अधिक बना रहा। जान पड़ता है कि इसके बाद एक समाजी क्रान्ति हुई और सरहद की एक बाहरी शक्ति ने दख़ल देना शुरू कर दिया। ११९० ई० के लगभग मयपान नष्ट हो गया, लेकिन दूसरे शहर बने रहे। इसके बाद सौ वर्ष के अन्दर एक दूसरी क़ौम सामने आई। ये लोग मैक्सिको से आये थे और अज़टेक कहलाते थे। इन लोगों ने चौदहवीं सदी के शुरू में मय देश को जीत लिया और १३२५ ई० के लगभग टेनोक्टिट्लन नामक शहर बसाया। जल्द ही यह सारे मैक्सिको की राजधानी और अज़टेक साम्राज्य का केन्द्र बन गया। इस शहर की आबादी बहुत बड़ी थी।

अज़टेक लोग एक फौजी राष्ट्र थे। इनके फ़ौजी उपनिवेश थे, छावनियां थीं और फ़ौजी सड़कों का जाल था। यहांतक कहा जाता है कि वे इतने चालाक थे कि अपने मातहत राज्य को आपस में लड़ाते रहते थे। उनकी आपसी फूट से उनपर शासन करना ज़्यादा आसान था। सारे साम्राज्यों की यह बहुत पुरानी नीति रही है। रोमवाले इसे 'फूट डालो और राज करो' की नीति[1] कहते थे!

दूसरी बातों में चतुर होते हुए भी अज़टेक लोग मज़हब के मामले में पुरोहितों के शिकंजे में थे, और इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके मज़हब में आदमियों की

---

[1] Divide et impera

क़ुरबानियां बहुत होती थीं। हर साल धर्म के नाम पर हज़ारों आदमी बड़े भयंकर तरीक़े से बलि चढ़ा दिये जाते थे।

लगभग दो सौ वर्षों तक अज़टेकों ने अपने साम्राज्य पर डंडे के ज़ोर से राज किया। साम्राज्य में ज़ाहिरा सुरक्षा व शान्ति थी, लेकिन जनता बेरहमी से निचोड़ी और लूटी जाती थी। जो राज्य इस तरह बना हो और इस तरह चलाया जाय, वह बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रह सकता। और यही हुआ भी। सोलहवीं सदी के शुरू में, यानी १५१९ ई० में, जब अज़टेक अपनी शक्ति की सबसे ऊंची चोटी पर दिखाई देते थे, उनका साम्राज्य मुट्ठी भर लुटेरे और हौसलावर विदेशियों के हमले से भरभराकर गिर पड़ा! साम्राज्यों के पतन की यह एक बड़ी ही हैरत में डालनवाली मिसाल है। और यह सब एक स्पेनेवासी हर्नन कोर्तीज़ और उसके साथ की सिपाहियों की एक टुकड़ी ने कर दिखाया। कोर्तीज़ बहादुर आदमी था और काफ़ी ज़ोखिम उठानेवाला था। उसके पास दो चीज़ें थीं, जिनसे उसे बड़ी मदद मिली—बन्दूकें और घोड़े। मालूम होता है कि मैक्सिको के साम्राज्य में घोड़े नहीं थे और बन्दूकें तो थीं ही नहीं। लेकिन, अगर अज़टेक साम्राज्य की जड़ें खोखली न होतीं तो न तो कोर्तीज़ की हिम्मत और न उसकी बन्दूकें और घोड़े ही किसी काम आते। इस राज्य का ऊपरी रूप तो बना हुआ था, लेकिन अन्दर से यह खोखला हो चुका था, इसलिए इसे गिराने को ज़रा-सी ठोकर ही काफ़ी थी। यह साम्राज्य जनता के शोषण की नींव पर बना था; इसलिए लोग उससे बहुत नाराज़ थे। इसलिए जब उसपर हमला हुआ तो आम जनता ने साम्राज्यवादियों की इस हार का स्वागत किया। और, जैसाकि अक्सर होता है इसके साथ ही एक समाजी क्रान्ति भी हुई।

एक बार तो कोर्तीज़ खदेड़ दिया गया और मुश्किल से वह अपनी जान बचा सका। लेकिन वह फिर लौटा और वहां के कुछ निवासियों की मदद से उसने फ़तह पाई। इससे अज़टेक शासन का तो अन्त हुआ ही, लेकिन मज़ेदार बात यह है कि साथ-ही-साथ मैक्सिको की सारी सभ्यता लड़खड़ाकर गिर पड़ी और थोड़े ही समय में उस शाही और विशाल राजधानी टेनोक्टिटलन का निशान तक बाक़ी नहीं रहा। उसकी एक ईंट भी आज नहीं बची है और उसकी जगह पर स्पेनवालों ने एक बड़ा गिरजा बनाया। मय सभ्यता के दूसरे बड़े शहर भी नष्ट हो गये और यूकेतन के जंगलों ने उन्हें ढंक लिया, यहांतक कि उनके नाम भी बाक़ी न रहे और उनमें से बहुतों की याद आजकल उनके पड़ौस के गांवों के नामों में बाक़ी रह गई है। उनका सारा साहित्य भी नष्ट हो गया और सिर्फ़ तीन किताबें बच रही हैं, और उन्हें भी आज तक कोई पढ़ नहीं सका है।

मामूली तौर पर यह बताना मुश्किल है कि एक प्राचीन जाति और एक

प्राचीन सभ्यता, जो करीब १५०० वर्षों तक कायम रही, यूरोप के नये लोगों के संपर्क में आते ही एकाएक कैसे ख़तम हो गई। ऐसा मालूम होता है कि यह सम्पर्क एक बीमारी की तरह था, यानी एक नई महामारी थी, जिसने उनका सफ़ाया कर दिया। हालांकि कुछ बातों में इनकी सभ्यता बहुत ऊंची थी लेकिन कुछ दूसरी बातों में ये लोग बहुत पिछड़े हुए थे। इतिहास के जुदा-जुदा कालों की ये लोग एक विचित्र खिचड़ी थे।

दक्षिणी अमेरिका के पेरू में सभ्यता का एक और केन्द्र था और इस देश में 'इनका' का शासन था। यह एक तरह का दैवी राजा माना जाता था। यह अजीब बात है कि पेरू की इस सभ्यता का, कम-से-कम पिछले दिनों में, मैक्सिको की सभ्यता से बिल्कुल भी सम्पर्क नहीं था। दोनों सभ्यताएं एक-दूसरी से बहुत दूर नहीं थीं, फिर भी वे एक-दूसरी के बारे में कुछ नहीं जानती थीं और सिर्फ़ इसी बात से यह साबित हो जाता है कि कुछ मामलों में वे कितनी ज्यादा पिछड़ी हुई थीं। मैक्सिको में कोर्तीज़ की सफलता के बाद ही, एक दूसरे स्पेन-वासी ने पेरू राज्य का भी अन्त कर दिया। इसका नाम पिज़ारो था। इसने १५३० ई० में आकर इनका को दग़ाबाज़ी से पकड़ लिया। 'दैवी' राजा के पकड़े जाने से ही लोग डर गये। पिज़ारो ने कुछ समय तक इनका' के नाम पर राज करने की कोशिश की और लोगों को दबाकर बहुत दौलत ऐंठी। बाद में यह ढोंग ख़तम कर दिया गया और स्पेनवासियों ने पेरू को अपने राज्य का एक हिस्सा बना लिया।

कोर्तीज़ ने जब पहले-पहल टेनोक्टिटलन शहर देखा तो वह उसकी विशालता पर हक्का-बक्का रह गया। उसने यूरोप में इस क़िस्म का कोई शहर नहीं देखा था।

मय और पेरू की कला की बहुत-सी निशानियां मिली हैं और वे अमेरिका के, और ख़ासकर मैक्सिको के, अजायबघरों में देखी जा सकती हैं। इनमें कला की एक बढ़िया परम्परा दिखाई देती है। पेरू के सुनारों का काम बहुत ही ऊंचे दर्जे का बताया जाता है। पत्थर की मूर्तियों के भी कुछ नमूने मिले हैं, जिनमें पत्थर के कुछ सांप ख़ास तौर पर बहुत ही सुन्दर हैं। दूसरी मूरतें तो मानो दहलाने व नफ़रत पैदा करने के लिए बनाई गई हैं, और उन्हें देखकर सचमुच डर व नफ़-रत पैदा होते हैं!

: ६० :

## मोहेन-जो-दड़ो की तरफ वापस छलांग

१४ जून, १९३२

मैंने अभी मोहेन-जो-दड़ो और सिन्ध-घाटी की पुरानी भारतीय सभ्यता

के बारे में कुछ पढ़ा है। एक नई महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें इस सभ्यता के बारे में वे सारी बातें, जो अभी तक मालूम हो सकी हैं, बयान की गई हैं। यह पुस्तक उन लोगों ने तैयार की है और लिखी है, जिनकी देख-रेख में खुदाई का और खोद निकालने का काम था और जिन्होंने गहराई तक खोदते-खोदते अपनी आंखों से शहर को, मानो धरती-माता के गर्भ से बाहर निकलते देखा है। मैंने अभी तक यह पुस्तक नहीं देखी है। मैं चाहता हूं कि वह मुझे यहां मिल जाती। लेकिन मैंने इसकी समालोचना पढ़ी है और मैं चाहता हूं कि इसके कुछ उद्धरण तुम्हारे सामने भी रख दूं। सिन्ध-घाटी की यह सभ्यता एक अद्भुत चीज़ है और इसकी बाबत जितना ज़्यादा मालूम होता है उतना ही आश्चर्य भी बढ़ता है। इसलिए मुझे आशा है कि अगर हम पिछले इतिहास के विवरण को छोड़कर इस पत्र में पांच हज़ार वर्ष पीछे कूद जायं, तो तुम्हें कुछ ऐतराज़ न होगा।

मोहेन-जो-दड़ो को लोग कम-से-कम इतना पुराना तो मानते ही हैं। जो मोहेन-जो-दड़ो हमें मिला है वह एक सुन्दर शहर था और एक सुसंस्कृत और सभ्य जाति का घर था। इसके पीछे विकास का एक लम्बा ज़माना ज़रूर रहा होगा। यही बात इस पुस्तक से हमें मालूम होती है। सर जॉन मार्शल, जिसकी देख-रेख में खुदाई का काम हो रहा है, लिखता है—

> "एक बात, जो मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा दोनों जगहों में साफ़-तौर पर और बिना किसी भ्रम के दिखाई देती है, यह है कि जो सभ्यता इन दो स्थानों पर अभी तक प्रकट हुई है, वह नवजात सभ्यता नहीं है, बल्कि युगों पुरानी और भारत की जमीन पर रूढ़ हुई सभ्यता है, जिसके पीछे लाखों वर्षों का मानव-प्रयत्न है। इसलिए अब आगे ईरान, इराक़ और मिस्र के साथ-साथ भारत की गिनती भी सभ्यता के उन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में की जानी चाहिए, जहां सभ्यता की प्रक्रिया शुरू हुई और विकसित हुई।"

मेरा ख़याल है कि हड़प्पा के बारे में मैंने तुम्हें अभी कुछ नहीं बताया है। यह दूसरी जगह है, जहां मोहेन-जो-दड़ो से मिलते-जुलते पुराने खंडहर खोदकर निकाले गये हैं। यह पश्चिमी पंजाब में है।

इस तरह हम देखते हैं कि सिन्ध-घाटी में हम न सिर्फ़ ५००० वर्ष पहले, बल्कि उससे भी हज़ारों वर्ष पहले पहुंच जाते हैं। यहांतक कि हम प्राचीनता के उस धुंधले कोहरे में खो जाते हैं जब आदमी पहले-पहल एक जगह जमने लगा था। जिस समय मोहेन-जो-दड़ो की सभ्यता फल-फल रही थी, उस समय भारत में आर्य लोग नहीं थे। किंतु इसमें संदेह नहीं कि उस समय "भारत के दूसरे भाग नहीं तो कम-से-कम पंजाब और सिन्ध एक उन्नत और निराली एक-रूप सभ्यता

का उपभोग कर रहे थे, जो उस समय की इराक और मिस्र की सभ्यताओं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती और कई बातों में उनसे भी ऊंची थी।"

मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई से यह प्राचीन और दिल को मोहनेवाली सभ्यता हमारे सामने प्रकट हो गई है। न जाने भारत की मिट्टी के नीचे दूसरी जगहों पर कितना कुछ और दबा पड़ा है! मालूम होता है कि यह सभ्यता भारत के काफ़ी हिस्से में फैली हुई थी और सिर्फ मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा तक ही सीमित नहीं थी। ये दोनों स्थान भी एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं।

यह वह युग था "जिसमें तांबे व कांसे के हथियारों और बर्तनों के साथ-साथ पत्थर के हथियारों और बर्तनों का भी उपयोग चला आ रहा था।" सर जॉन मार्शल ने सिन्ध-घाटी के निवासियों के साथ उस समय के मिस्र और इराक़ के लोगों की तुलना करके दोनों का फ़र्क और सिन्ध-घाटी के निवासियों की श्रेष्ठता बताई है। वह लिखता है—

> "अगर सिर्फ़ कुछ प्रधान बातों का ही ज़िक्र किया जाय तो पहली चीज़ यह है कि कपड़ा बनाने के लिए रुई का उपयोग इस युग में सिर्फ़ भारत तक ही सीमित था और पश्चिमी जगत में इसके दो-तीन हज़ार वर्ष बाद तक चालू नहीं हुआ। दूसरे, ऐतिहासिक युग के पहले मिस्र या इराक़ या पश्चिमी एशिया के किसी भी भाग में हमें कोई ऐसी चीज़ नहीं मिलती, जो मोहेन-जो-दड़ो के नागरिकों के सुनिर्मित स्नानागारों और कुशादा मकानों की बराबरी कर सके। उन देशों में देवताओं के शानदार मन्दिरों, और राजाओं के महलों व क़ब्रों के बनाने में बहुत धन और सूझ-बूझ खर्च की जाती थी, लेकिन मालूम होता है, बाक़ी जनता को मिट्टी की तुच्छ झोंपड़ियों पर ही सन्तोष करना पड़ता था। लेकिन सिन्ध-घाटी में हमें इसका उलटा दृश्य मिलता है, और यहांपर सबसे अच्छे मकान वे हैं, जो नागरिकों के आराम के लिए बनाये गए थे।"

आगे वह फिर लिखता है—

> "सिन्ध-घाटी की कला और उसके धार्मिक दृष्टिकोण में अपना एक निरालापन है और उनपर उसके विशेष गुण की छाप है। मेढ़ों, कुत्तों व दूसरे जानवरों के रंगीन मीनेवाले मिट्टी के खिलौनों की और कीमती पत्थर के ठप्पों पर नक़्काशी की शैली ऐसी अनोखी है कि उससे मिलती-जुलती कोई भी चीज़ उस ज़माने के किसी देश में अभी तक हमारे देखने में नहीं आई है। इसके सबसे बढ़िया नमूनों में—खासकर कूबदार और छोटे सींगोंवाले सांड़ों में—रचना-विस्तार

और रेखा व आकृति-निर्माण में अनुभूति की ऐसी विशेषता है, जिससे बढ़िया नक्काशी-कला दुर्लभ है। इसी प्रकार, हड़प्पा की दो छोटी मानव-मूर्त्तियों में—जिनके चित्र प्लेट नं० १० और ११ में दिये गए हैं—मूर्त्ति गढ़ने की कला कोमलता की जिस पराकाष्ठा को पहुंची है, उसका जोड़ यूनान के पौराणिक काल से पहले की कृतियों में मिलना सम्भव नहीं है। सिन्ध के लोगों के धर्म में अवश्य बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिसके समान बातें हमें दूसरे देशों में मिल सकती हैं। यह बात पूर्व-ऐतिहासिक युग के हर धर्म पर और ऐतिहासिक युग के अधिकतर धर्मों पर लागू होती है। लेकिन सब बातों को मिलाकर देखने से इन लोगों के धर्म में भारतीयता का विशेष गुण इतना स्पष्ट है कि उसमें तथा वर्तमान प्रचलित हिन्दू धर्म में कोई अन्तर नहीं मालूम देता।"

मैं चाहता हूं कि हड़प्पा में पाई गई छोटी मूर्त्तियां, या कम-से-कम उनकी तसवीरें देख सकता। मुमकिन है कि किसी दिन हम और तुम हड़प्पा और मोहेन-जो-दड़ो साथ-साथ चलें और जी भरकर वहां के दृश्यों को देखें। लेकिन अभी तो हमारा यही ढर्रा चलता रहेगा—तुम्हारा पूना के स्कूल में और मेरा अपने स्कूल में, जो देहरादून का डिस्ट्रिक्ट जेल कहलाता है।

: ६१ :

## कुर्तुबा (कॉरडोबा) और ग्रैनैडा

१६ जून, १९३२

हमने एशिया और यूरोप में बहुत वर्षों की यात्रा कर ली है और ईसा से हज़ार वर्ष के अन्त तक पहुंचकर हमने एक बार पीछे फिरकर देखा है। लेकिन स्पेन के उस ज़माने का हाल हमारी इस कहानी से छूट गया है जब उसपर अरबों का क़ब्जा था। इसलिए अब हमें एक बार और पीछे लौटकर उसे भी अपने इस चित्र में बैठाना चाहिए।

अगर तुम भूली न हो तो स्पेन के बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी तो तुम्हें है ही। ७११ ई० में अरब-सेनापति समुद्र पार करके अफ़्रीका से स्पेन पहुंचा। उसका नाम तारिक था और वह जिब्राल्टर (जबलुत्तारिक, यानी तारिक की पहाड़ी) पर उतरा था। दो साल के भीतर ही अरबों ने सारा स्पेन जीत लिया और कुछ दिनों बाद उन्होंने पुर्तगाल को भी मिला लिया। वे बराबर आगे बढ़ते गये; फ़्रान्स में घुस गये और सारे दक्षिण में फैल गये। इससे बुरी तरह डरकर फ्रैन्कों और दूसरे कबीलों ने चार्ल्स मार्तेल के नेतृत्व में इकट्ठे होकर अरबों को रोकने की एक बहुत बड़ी कोशिश की। वे सफल हुए और फ्रान्स में पाइतिये के पास तूर की लड़ाई में फ्रैन्कों ने अरबों को हरा दिया। यह बहुत करारी हार थी और इससे

अरबों का यूरोप जीतने का सपना टूट गया। इसके बाद बहुत बार अरबों व फ़्रैन्कों और फ्रान्स की दूसरी ईसाई क़ौमों के बीच लड़ाइयां हुईं; कभी अरब जीते और फ़्रान्स में घुस पड़े और कभी वे वापस स्पेन में खदेड़ दिये गए। शार्लमेन ने भी स्पेन में अरबों पर हमला किया था, लेकिन वह हार गया। बहुत दिनों तक हार-जीत का पलड़ा बराबर बना रहा और अरब-लोग स्पेन में राज करते रहे; पर वे आगे न बढ़ सके।

इस तरह स्पेन उस बड़े साम्राज्य का अंग बन गया, जो अफ़्रीका के एक सिरे से लगाकर ठेठ मंगोलिया की सरहद तक फैला हुआ था। लेकिन यह हालत बहुत दिनों तक न रही। तुम्हें याद होगा कि अरब में गृह-युद्ध हुआ था और अब्बासियों ने उम्मैया खलीफ़ाओं को निकाल दिया था। स्पेन का अरबी हाकिम उम्मैया था। उसने नये अब्बासी खलीफ़ा को मानने से इन्कार कर दिया। इस तरह स्पेन अरब साम्राज्य से अलग हो गया और बग़दाद का खलीफ़ा बहुत दूर होने की वजह से और अपने घरू झगड़ों में उलझा रहने की वजह से इधर ध्यान नहीं दे सका। लेकिन बग़दाद और स्पेन के बीच दुश्मनी चलती रही और ये दोनों अरब राज्य मुसीबत के समय एक-दूसरे की मदद करने के बजाय एक दूसरे की मुसीबतों पर खुशी मनाते थे।

स्पेन के अरबों का अपने वतन से सम्बन्ध तोड़ने का फैसला कुछ जल्दबाज़ी का था। वे एक दूर देश में एक विदेशी आबादी के बीच में थे और चारों ओर दुश्मनों से घिरे हुए थे। उनकी संख्या भी थोड़ी थी। मुसीबत व खतरे के मौक़े पर उनकी मदद करनेवाला कोई नहीं था। लेकिन उन दिनों उनमें आत्म-विश्वास भरा हुआ था और वे इन खतरों की बिल्कुल परवाह नहीं करते थे। सच तो यह है कि उत्तर के ईसाई राष्ट्रों के लगातार दबाव के बावजूद वे बड़ी खूबी से डटे रहे और उन्होंने अकेले ही ५०० वर्षों तक स्पेन के ज्यादातर हिस्से पर अपना प्रभुत्व क़ायम रखा। इसके बाद भी वे स्पेन के दक्षिण में एक छोटी-सी रियासत में २०० वर्षों तक अड़े रहे। इस तरह वे वास्तव में बग़दाद के बड़े साम्राज्य के खतम हो जाने के बाद तक बने रहे, और जब उन्होंने स्पेन से आखिरी बिदा ली, उसके बहुत पहले ही बग़दाद शहर मिट्टी में मिल चुका था।

स्पेन के हिस्सों पर अरबों के शासन के ये ७०० वर्ष काफ़ी अचम्भे में डालने-वाले हैं। लेकिन मूरों के नाम से मशहूर, स्पेन के इन अरबों की ऊंचे दर्जे की सभ्यता और संस्कृति इससे भी ज्यादा दिलचस्पी की बात है। एक इतिहास-लेखक ने जोश की कुछ तरंग में आकर लिखा है—

> "मूर लोगों ने कॉरडोबा के उस अद्भुत साम्राज्य को संगठित किया था, जो मध्यकाल का एक चमत्कार था, और जब सारा

यूरोप जंगली अज्ञान और लड़ाई-झगड़ों में डूबा हुआ था, तब अकेले इसी राज्य ने विद्या और सभ्यता की मशाल पश्चिमी दुनिया के सामने रोशन की और जलती हुई रक्खी।"

ठीक ५०० वर्षों तक कुर्तुबा इस राज्य की राजधानी रहा। इसीको अंग्रेज़ी में कॉरडोबा, और कभी-कभी कॉरडोवा कहते हैं। मुझे लगता है कि मैं कभी-कभी एक ही नाम के कई हिज्जे करता रहता हूं। लेकिन अब मैं बराबर कॉरडोबा पर ही जमा रहूंगा। कॉरडोबा बहुत बड़ा शहर था, जिसमें दस लाख आदमी रहते थे। यह बाग़-बग़ीचोंवाला दस मील लम्बा शहर था, जिसके उपनगर चौबीस मीलों में फैले हुए थे। कहा जाता है कि इसमें ६०,००० महल और कोठियां थीं, २,००,००० छोटे मकान थे, ८०,००० दुकानें थीं, ३७८०० मसजिदें थीं और ७०० सार्वजनिक हम्माम थे। इन आंकड़ों में कुछ बढ़ी-चढ़ी बातें हो सकती हैं, लेकिन इससे शहर का कुछ अंदाज़ लगाया जा सकता है। यहां कितने ही पुस्तकालय थे, जिनमें अमीर का शाही पुस्तकालय मुख्य था। इसमें ४,००,००० पुस्तकें थीं। कॉरडोबा का विश्वविद्यालय सारे यूरोप में और पश्चिमी एशिया तक में मशहूर था। ग़रीबों के लिए बहुत-सी प्राइमरी पाठशालाएं थीं, जिनमें मुफ्त शिक्षा दी जाती थी। एक इतिहास-लेखक कहता है—

"स्पेन में क़रीब-क़रीब सभी लोग पढ़ना-लिखना जानते थे; जब कि ईसाई यूरोप में पादरियों को छोड़कर और सब लोग, यहांतक कि ऊंचे-से-ऊंचे ख़ानदानों के लोग भी बिलकुल बेपढ़े होते थे।"

ऐसा वह कुर्तुबा का शहर था, जो दूसरे बड़े अरबी शहर बग़दाद का मुक़ाबला करता था। उसकी शोहरत सारे यूरोप में फैली हुई थी और दसवीं सदी के एक जर्मन लेखक ने उसे 'संसार का भूषण' कहा है। उसके विश्वविद्यालय में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। अरबी दर्शन का प्रभाव पेरिस, ऑक्सफर्ड वग़ैरा यूरोप के दूसरे बड़े विश्वविद्यालयों और इटली के उत्तरी विश्वविद्यालयों तक में फैल गया। एवरोज़ या इब्नरश्द बारहवीं सदी में कुर्तुबा का एक मशहूर दार्शनिक हुआ है। अपनी ज़िंदगी के आख़िरी दिनों में वह स्पेन के अमीर से लड़ बैठा और उसे देश से निकाल दिया गया। वह जाकर पेरिस में बस गया।

यूरोप के दूसरे हिस्सों की तरह स्पेन में भी एक तरह की सामन्त-प्रथा थी। वहां भी बड़े-बड़े और शक्तिशाली अमीर सरदार पैदा हो गये थे, जिनसे स्पेन के शासक अमीर की अकसर लड़ाइयां होती रहती थीं। अरब-राज्य बाहरी हमलों से इतना कमज़ोर नहीं हुआ जितना इन घरेलू लड़ाई-झगड़ों से। इसी समय उत्तरी स्पेन में कुछ छोटी ईसाई रियासतों की ताक़त बढ़ रही थी और वे अरबों को बराबर पीछे हटाती जा रही थीं।

१००० ई० के क़रीब अमीर का साम्राज्य लगभग सारे स्पेन पर फैला हुआ था; यहांतक कि इसमें दक्षिणी फ़्रान्स का भी एक छोटा-सा हिस्सा शामिल था। लेकिन इसका पतन जल्दी ही हुआ और, जैसा कि अक्सर होता है, इस पतन की जड़ में अन्दरूनी कमज़ोरी थी। कला, ऐश और बहादुरी के साथवाली अरबों की शानदार सभ्यता आख़िर धनवानों की ही सभ्यता थी। भूखी ग़रीब जनता ने विद्रोह कर दिया और मज़दूरों के दंगे हुए। धीरे-धीरे यह गृह-युद्ध फैलता गया, एक के बाद एक प्रान्त हाथ से निकलता गया और अन्त में अरबों का स्पेन-साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। हालांकि अरबों की ताक़त बिखर गई थी, फिर भी वे १२३६ ई० तक राज करते रहे और अन्त में कुर्तुबा कैस्ताइल के ईसाई बादशाह के क़ब्ज़े में आ गया।

अरब-लोग दक्षिण की ओर खदेड़ दिये गए, फिर भी वे बराबर मुक़ाबला करते रहे। स्पेन के दक्षिण में उन्होंने ग्रैनैडा नामक छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया और वे वहीं डटे रहे। आकार के लिहाज़ से यह राज्य बहुत छोटा था, लेकिन यह अरबी सभ्यता का एक छोटा-सा नमूना बन गया। ग्रैनैडा का प्रसिद्ध अलहम्ब्र अपने सुन्दर महराबों, खम्भों और अरबेस्कों[1] के साथ अभी तक मौजूद है और उस पुराने ज़माने की याद दिलाता है। इसका असली नाम अरबी भाषा में 'अल-हम्र' था, जिसका अर्थ है—'लाल महल'। अरबेस्क उस सुन्दर नक्काशी को कहते हैं, जो इस्लाम से प्रभावित अरबी और दूसरी इमारतों में पाई जाती है। इस्लाम मे मनुष्यों या जानवरों के चित्र बनाना मना है। इसलिए कारीगर लोग सजीली और पेचीदा रेखाकृतियां बनाने लगे। अक्सर महराबों वग़ैरा पर वे क़ुरान की अरबी आयतें नक़्श करते और उनमें सुन्दर सजावट करते थे। अरबी लिपि एक बहावदार लिपि है, जिसमें ऐसी सजावट आसानी से हो सकती है।

ग्रैनैडा का राज्य दो सौ वर्षों तक क़ायम रहा। इस ज़माने में स्पेन के ईसाई राज्य, ख़ासकर कैस्ताइल, उसे दबाते और तंग करते रहे। कभी-कभी उसने कस्ताइल को ख़िराज देना भी मंज़ूर कर लिया। अगर स्पेन के ईसाई राज्यों में आपसी फूट न होती तो शायद ग्रैनैडा का राज्य इतने दिनों तक क़ायम न रहता। लेकिन १४६९ ई० में इनमें से दो मुख्य ईसाई राज्यों के शासकों में, यानी फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला में, विवाह हो गया। इससे कैस्ताइल, अरागोन और लियोन तीनों एक हो गये। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला ने ग्रैनैडा के अरब-साम्राज्य को ख़तम कर दिया। अरब लोग कई वर्षों तक बहादुरी से लड़ते रहे, पर फिर वे ग्रैनैडा में

[1] अरबेस्क—स्पेन के अरबों अथवा 'मूरों' की अलंकृत चित्रकला या मूर्ति-कला। इसमें पौधों और लताओं का चित्रण अधिक होता था।

चारों तरफ से घेर लिये गए और बन्द कर दिये गए । आखिरकार १४९२ ई० में भूख से तंग आकर उन्होंने हथियार डाल दिये।

बहुत-से सरासीन या अरब स्पेन छोड़कर अफ़्रीका चले गए। ग्रैनैडा के नज़दीक, शहर के सामने ही, एक जगह है जो आज दिन भी 'मूरों की आखिरी आह'[1] के नाम से मशहूर है।

लेकिन बहुत-से अरब स्पेन में ही रह गये। इन अरबों के साथ जो सलूक हुआ, वह स्पेन के इतिहास का एक काला अध्याय है। उनके साथ बेरहमी की गई और उनकी हत्याएं की गईं और मज़हबी उदारता के जो वादे उनसे किये गए थे, उन्हें बिल्कुल भुला दिया गया। इसी समय स्पेन में 'इनक्विज़िशन' की शुरूआत हुई। रोमन ईसाई-संघ ने यह भयंकर हथियार उन तमाम लोगों को कुचलने के लिए ईजाद किया था, जो उनके सामने सर नहीं झुकाते थे। यहूदी लोग, जो सरासीनों के राज्य में खुशहाल हो गये थे, अपना मज़हब बदलने के लिए मजबूर किये जाने लगे और बहुतों को ज़िंदा जला दिया गया। स्त्रियों और बच्चों तक को नहीं छोड़ा गया। एक इतिहासकार लिखता है कि "विधर्मियों (यानी सरासीनों) को हुक्म दिया गया कि वे अपनी रंग-बिरंगी पोशाक छोड़ दें और अपने विजेताओं के हैट और बिरजिस पहना करें; अपनी भाषा, अपने रस्म-रिवाज और संस्कार, यहांतक कि अपने नाम भी छोड़ दें और स्पेनी भाषा बोलें; स्पेनवालों की तरह ही बर्ताव करें और अपने-आपको स्पेनवासी कहने लगें। इन ज़ुल्मों के विरोध में विद्रोह और बलवे हुए, लेकिन वे बेरहमी से कुचल दिये गए।

ऐसा मालूम होता है कि स्पेन के ईसाई नहाने-धोने के बहुत खिलाफ़ थे। शायद वे इसका विरोध सिर्फ़ इसलिए करते थे कि स्पेन के अरब लोग गुसल के बहुत शौक़ीन थे, और उन्होंने सारे मुल्क में बड़े-बड़े सार्वजनिक हम्माम बना दिये थे। ईसाई लोग यहांतक बढ़ गये, कि उन्होंने 'मूरों या अरबों के सुधार के लिए' हिदायतें निकालीं कि "उनके पुरुष, उनकी स्त्रियां और दूसरा कोई, घर में या और कहीं भी नहाने-धोने न पावें और उनके सब हम्माम गिरा दिये जायं और नष्ट कर दिये जायं।"

नहाने-धोने के पाप के अलावा एक दूसरा भी भारी जुर्म मूरों पर यह लगाया गया कि वे मज़हब के मामले में उदार होते हैं। यह एक बड़ी अजीब बात मालम होती है; लेकिन १६०२ ई० में वेलेंशिया के बड़े पादरी ने सरासीनों को स्पेन से निकालने की सिफ़ारिश करते हुए 'मूरों के कुफ़्र और राजद्रोह' के बारे में जो बयान तैयार किया था, उसमें उनपर लगाये गए जुर्मों में यह मुख्य है। इसका ज़िक्र करते हुए वह लिखता है : "वे (मूर लोग) तमाम मज़हबी मामलों में ईमान की आज़ादी

[1] El ultimo sospiro del moro

की जितनी क़द्र करते हैं उतनी किसी दूसरी चीज़ की नहीं करते, और तुर्क़ वग़ैरा तमाम मुसलमान अपनी प्रजा को इस आज़ादी की पूरी छूट देते हैं।" इस तरह इन शब्दों में स्पेन के सरासीनों की अनजान में कितनी ज़्यादा तारीफ़ की गई है। और उसके मुक़ाबले में स्पेन के ईसाइयों का नज़रिया कितना उलटा और अनुदार था !

लाखों सरासीन ज़बरदस्ती स्पेन से खदेड़ दिये गए। उनमें से ज़्यादातर अफ्रीका और कुछ फ्रान्स चले गए। लेकिन तुम्हें याद रखना चाहिए कि अरब लोग स्पेन में सात सौ वर्षों तक रह चुके थे, और इस लम्बे ज़माने में स्पेन की जनता में बहुत-कुछ घुल-मिल गये थे। मूल से तो वे अरब थे, लेकिन धीरे-धीरे स्पेनवासी बन गये थे। शायद पिछले ज़माने के स्पेनवासी अरब बग़दाद के अरबों से बिलकुल अलग थे। आज भी स्पेनी नस्ल की नसों में अरबों का काफ़ी खून है।

सरासीन लोग शासक की हैसियत से नहीं बल्कि बसनेवालों की तरह दक्षिणी फ़्रान्स और स्वीज़रलैंड में भी फैल गये थे। आज भी 'मिदी' के फ़्रान्सीसियों में कहीं-कहीं अरबी नमूने का चेहरा नज़र आ जाता है।

इस तरह स्पेन से अरबों का शासन ही नहीं बल्कि उनकी सभ्यता भी ख़तम हो गई। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, एशिया में इस सभ्यता का अन्त इससे भी पहले हो चुका था। इस सभ्यता ने बहुत-से देशों और संस्कृतियों पर अपना असर डाला और अपनी कितनी ही शानदार यादगारें छोड़ गई। लेकिन बाद में वह फिर अपने पैरों पर खड़ी न हो सकी।

सरासीनों के जाने के बाद फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला के शासन में स्पेन की शक्ति बढ़ती गई। कुछ ही दिनों बाद, अमेरिका की खोज के कारण, इसके हाथ गहरा माल लगा और कुछ समय के लिए स्पेन यूरोप में सबसे ज़्यादा शक्तिशाली देश हो गया और इसका दबदबा दूसरे देशों पर छा गया। लेकिन इसका पतन भी तेज़ी के साथ हुआ और इसका महत्व नष्ट हो गया। और जब यूरोप के दूसरे देश उन्नति कर रहे थे, स्पेन अपनी जगह पर सड़ता रहा और मध्य युगों के ही सपने देखता रहा। उसने यह महसूस नहीं किया कि तबसे दुनिया बहुत बदल गई थी। लेन पूल नामक अंग्रेज़ इतिहासकार ने स्पेन के सरासीनों के बारे में लिखा है—

> "सदियों तक स्पेन सभ्यता का केन्द्र और कला, विज्ञान, विद्या और हर तरह के सुसंस्कृत ज्ञान का घर रहा। तबतक यूरोप का कोई दूसरा देश मूरों के इस सुसंस्कृत राज्य की समानता नहीं कर पाया। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला की और चार्ल्स के साम्राज्य की थोड़े दिनों की चमक-दमक मूरों के स्थायी बड़प्पन को नहीं पा सकी। मूरों को निकाल बाहर किया गया; कुछ दिनों तक ईसाई स्पेन, चन्द्रमा की तरह उधार ली हुई रोशनी से चमकता रहा। इसके बाद

उसे ग्रहण लगा और उस अन्धेरे में स्पेन आज तक ज़मीन पर पड़ा रेंग रहा है। मूरों की सच्ची यादगार हमें स्पेन के बिल्कुल वीरान उजाड़-खण्डों में दिखाई देती है, जहां किसी ज़माने में अरब लोग अंगूर, ज़ैतून और अनाज की लहलहाती फ़सलें पैदा करते थे। वह उस मूर्ख व अज्ञान आबादी में मिलती है जहां कभी तेज़ बुद्धि और विद्याध्ययन का राज था; और यह यादगार उस जनता की आम जड़ता और गिरावट में मिलती है जो दूसरी क़ौमों के मुक़ाबले में बहुत ही नीचे गिरी हुई है और इस ज़लालत के क़ाबिल भी है।"

यह एक सख्त फ़ैसला है। साल-भर हुआ, स्पेन में एक क्रान्ति हुई और वहां का बादशाह गद्दी से उतार दिया गया। अब वहां गणराज्य है। शायद यह किशोर गणराज्य तरक्क़ी करे और स्पेन को फिर से दूसरे देशों की बराबरी में ले आवे।[1]

## : ६२ :
# 'क्रूसेड' या सलीब के युद्ध

१९ जून, १९३२

पिछले एक पत्र में मैंने पोप और उसकी परिषद् का, मुसलमानों से यरूशलम छीनने के लिए धर्म-युद्ध की घोषणा का ज़िक्र किया था। सेलजूक तुर्कों की बढ़ती हुई ताक़त से यूरोप भयभीत हो गया था—ख़ासकर कुस्तुन्तुनिया की सरकार, जिसपर सीधा ख़तरा था। यरूशलम और फ़िलस्तीन के ईसाई तीर्थ-यात्रियों पर तुर्कों के अत्याचार की कहानियों ने यूरोप के लोगों में उत्तेजना फैला दी थी और वे ग़ुस्से से भर गये थे। इसलिए 'धर्मयुद्ध' का ऐलान कर दिया था। पोप और ईसाई-संघ ने यूरोप के सारे ईसाइयों को आदेश दिया कि वे 'पवित्र' नगर के उद्धार के लिए सेनाएं सजायें।

इस तरह १०९५ ई० से ये 'क्रूसेड' या सलीब के युद्ध शुरू हुए और डेढ़ सौ वर्षों से ज़्यादा समय तक ईसाइयत और इस्लाम में, सलीब और हिलाल में, लड़ाई चलती रही। बीच-बीच में लम्बे वक़्त तक लड़ाई रुकी भी रहती थी, लेकिन युद्ध की हालत बराबर बनी रही। ईसाई जिहादियों के दल-के-दल लड़ने के लिए, और ज़्यादातर उस 'पवित्र' देश में मरने के लिए, जाते रहे। इन लम्बी युद्धबाज़ी से ईसाई जिहादियों को कोई ठोस नतीजा नहीं मिला। कुछ समय के लिए यरूशलम ईसाई जिहादियों के हाथ में आ गया, लेकिन बाद में फिर वह तुर्कों के हाथ में चला

---

[1] १९३९ ई० में गृहयुद्ध के बाद गणराज्य ख़तम हो गया और आजकल वहां तानाशाही है।

गया और उन्हींके क़ब्ज़े में बना रहा। क्रूसेडों का ख़ास नतीजा यह हुआ कि लाखों ईसाइयों और मुसलमानों को मुसीबतें झेलनी पड़ीं, मौत के घाट उतरना पड़ा और एशिया-कोचक और फ़िलस्तीन की ज़मीन इन्सान के ख़ून से तर हुई।

इन दिनों बग़दाद के साम्राज्य की क्या हालत थी ? अभी तक अब्बासी ख़लीफ़ा ही उसके शासक बने हुए थे। अभी तक वे ख़लीफ़ा, अमीरुल मोमनीन तो ज़रूर थे, लेकिन सिर्फ़ नाम के ही अमीर थे; उनके हाथ में कोई ताक़त न थी। हम देख चुके हैं कि उनका साम्राज्य किस तरह टुकड़े-टुकड़े हुआ और सूबों के हाकिम कैसे स्वाधीन हो गये। महमूद ग़ज़नवी, जिसने कई बार भारत पर चढ़ाई की थी, एक शक्तिशाली बादशाह था और उसने ख़लीफ़ा को धमकी दी थी कि अगर वह उसकी मर्ज़ी के मुताबिक़ काम न करेगा तो अच्छा न होगा। ख़ास बग़दाद में भी असली मालिक तुर्क ही थे। इनके बाद तुर्कों की सेलजूक़ नाम की दूसरी शाखा आई। उन्होंने जल्दी ही अपनी सत्ता क़ायम कर ली और वे जीत-पर-जीत हासिल करते हुए कुस्तुन्तुनिया के दरवाज़े पर जा पहुंचे। लेकिन ख़लीफ़ा फिर भी बना रहा, हालांकि उसके हाथ में कोई राजनैतिक शक्ति नहीं थी। उसने सेलजूक सरदारों को सुलतान की उपाधि दी और ये सुलतान राज करने लगे। इसलिए ईसाई जिहादियों को इन्हीं सेलजूक़ सुलतानों और उनके अनुयायियों से लड़ना पड़ा था।

यूरोप में क्रूसेडों ने ईसाई-जगत की भावना को, यानी इस भावना को बढ़ाया कि सब ग़ैर-ईसाइयों के मुक़ाबले में ईसाइयों की अपनी अलग दुनिया है। यूरोप भर में इसी समान भावना और उद्देश्य का दौर था कि 'काफ़िरों' के हाथों में से 'पवित्र देश' का उद्धार होना चाहिए। इस समान उद्देश्य ने लोगों में जोश भर दिया था और इस महान् हित की ख़ातिर कितने ही आदमी अपना घर-बार और धन-दौलत छोड़कर चल दिये। बहुत-से लोग ऊंचे इरादों से गये थे लेकिन बहुत-से पोप के इस वादे से आकर्षित हुए थे कि वहां जाने से उनके गुनाह माफ़ कर दिये जायंगे। क्रूसेडों के और भी कई कारण थे। रोम हमेशा के लिए कुस्तुन्तुनिया के ऊपर हुकूमत करनेवाला बन जाना चाहता था। तुम्हें याद होगा कि कुस्तुन्तुनिया और रोम के ईसाई-संघ अलग-अलग थे। कुस्तुन्तुनियावाले अपने को कट्टर ईसाई-संघ[1] कहते थे। वे रोमन ईसाई-संघ से सख़्त नफ़रत करते थे और पोप को कल का छोकरा समझते थे। पोप कुस्तुन्तुनिया का यह घमंड चूर करके उसे अपने संघ में लाना चाहता था। काफ़िर तुर्कों के ख़िलाफ़ धर्म-युद्ध की आड़ में वह अपनी यह पुरानी लालसा पूरी करना चाहता था। राजनैतिकों का और अपनेको राजनीतिज्ञ समझनेवालों का यही ढंग होता है! रोम और कुस्तुन्तुनिया

[1] Orthodox Church.

का यह संघर्ष याद रखने लायक़ है, क्योंकि क्रूसेडों के समय में यह बराबर सामने आता रहा।

क्रूसेडों का दूसरा कारण व्यापार से ताल्लुक़ रखता था। व्यापारी लोग, ख़ासकर वेनिस और जिनेवा के बढ़ते हुए बन्दरगाहों के व्यापारी, न युद्धों को चाहते थे, क्योंकि इनका व्यापार घटता जा रहा था। वजह यह थी कि सेलजूक़ तुर्कों ने पूर्व के कई तिजारती रास्तों को बन्द कर दिया था।

लेकिन आम जनता तो इन कारणों को बिलकुल नहीं जानती थी। किसीने उसे ये बातें नहीं बताई थीं। राजनैतिक लोग आमतौर पर अपने असली कारणों को छिपा रखते हैं और धर्म, न्याय, सत्य, वग़ैरा की लम्बी-चौड़ी दुहाई दिया करते हैं। क्रूसेडों के समय में यही बात थी और आज भी यही है। उस समय लोग उनकी बातों में आ जाते थ और आज भी ज़्यादातर लोग राजनैतिकों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आ जाते हैं।

इस तरह क्रूसेडों में शामिल होने के लिए बहुत आदमी जमा हो गये। उनमें बहुत-से तो नेक और लगनवाले थे, लेकिन बहुत-से ऐसे भी थे, जो भलमनसाहत से दूर थे और लूट-खसोट की उम्मीद ने ही उन्हें इस तरफ़ खींचा था। इस अजीब जमघट में पुण्यात्मा और धर्मात्मा लोग भी थे और आबादी का वह कूड़ा-करकट भी था, जो हर तरह के जुर्म कर सकता था। नेक काम समझकर उसमें मदद पहुंचाने के लिए घर छोड़कर जानेवाले इन जिहादियों ने, या उनमें से ज़्यादातर ने, दर असल नीच-से-नीच और महाघृणित अपराध किये। बहुत-से तो रास्ते में लूट-मार और दूसरे बुरे कामों में ऐसे मशग़ूल हो गये कि फ़िलस्तीन के पास तक नहीं पहुंचे। कुछने रास्ते में यहूदियों को क़त्ल करना शुरू कर दिया; कुछने अपने ईसाई भाइयों को ही क़त्ल कर डाला। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि जिन ईसाई देशों से होकर ये लोग गुज़रे वहां के किसानों ने इनकी बदमाशियों से तंग आकर इनका मुक़ाबला किया और इनपर हमला करके बहुतों को मार डाला और बाक़ी को भगा दिया।

आखिर में बुइलों के गादफ़्रे नॉमक एक नार्मन के नेतृत्व में ये जिहादी फ़िलस्तीन पहुंच गये। इन्होंने यरूशलम जीत लिया और फिर वहां 'एक हफ़्ते तक मार-काट मची'। हज़ारों लोग क़त्ल कर दिये गए। इस घटना को अपनी आंखों से देखनेवाले एक फ्रांसीसी ने लिखा है : "मसजिद की बरसाती के नीचे घुटने तक खून था, और घोड़ों की लगाम तक पहुंच जाता था।" गॉदफ़्रे यरूशलम का बादशाह बन गया।

सत्तर वर्ष बाद मिस्र के सुलतान सलादीन ने यरूशलम को ईसाइयों से फिर छीन लिया। इससे यूरोप के लोग फिर भड़क उठे और एक के बाद एक क्रूसेड हुए।

इस बार यूरोप के कई बादशाह और सम्राट् खुद जिहाद में शामिल हुए, लेकिन उन्हें कोई सफलता न मिली। वे इस बात पर आपस में ही झगड़ते थे कि बड़ा कौन है, और एक-दूसरे से ईर्षा रखते थे। ये क्रूसेड वीभत्स और क्रूर लड़ाइयों की, और अक्सर तुच्छ साज़िशों और नीच अपराधों की कहानी हैं। लेकिन कभी-कभी मनुष्य-स्वभाव के नेक पक्ष ने इस वीभत्सता पर विजय पाई, और एसी घटनाएं भी हुईं जब दुश्मनों ने एक दूसरे के साथ भलमनसाहत का और वीर-धर्म का बर्ताव किया। फ़िलस्तीन में बाहर से आये हुए इन राजाओं में इंग्लैंड का 'शेर-दिल' रिचर्ड भी था जो अपने शारीरिक बल और साहस के लिए मशहूर था। सलादीन भी बड़ा लड़ाका था और अपने वीर-धर्म के लिए मशहूर था। सलादीन से लड़ने-वाले जिहादी भी उसकी इस उदारता के क़ायल थे। कहते हैं कि एक बार रिचर्ड बहुत बीमार पड़ गया, उसे लू लग गई थी। जब सलादीन को इसकी ख़बर हुई तो उसने उसके पास पहाड़ों से ताज़ा बर्फ़ भिजवाने का इन्तज़ाम कर दिया। आज-कल की तरह उन दिनों पानी को जमाकर नकली बर्फ़ नहीं बनाई जा सकती थी। इसलिए पहाड़ों से क़ुदरती बर्फ़ तेज़ हरकारों के ज़रिये मंगवाई जाती थी।

क्रूसेडों के समय की बहुत-सी कहानियां हैं। शायद तुमने वाल्टर स्कॉट[1] का 'टैलिस्मैन' उपन्यास पढ़ा होगा।

जिहादियों का एक जत्था कुस्तुन्तुनिया भी जा पहुंचा और उसने उसपर क़ब्ज़ा कर लिया। इसने पूर्वी साम्राज्य के यूनानी सम्राट् को मार भगाया और वहां लातीनी राज्य और रोमन ईसाई-संघ क़ायम किया। कुस्तुन्तुनिया में भी भयंकर मारकाट हुई और जिहादियों ने शहर का एक हिस्सा जला भी दिया। लेकिन यह लातीनी राज्य ज़्यादा दिनों तक क़ायम नहीं रह सका। पूर्वी रोमन साम्राज्य के यूनानी कमज़ोर होते हुए भी वापस लौटे और पचास साल से कुछ ही ज़्यादा समय के अन्दर उन्होंने लातीनियों को मार भगाया। कुस्तुन्तुनिया का पूर्वी साम्राज्य दो सौ वर्षों तक और बना रहा। अन्त में १४५३ ई० में तुर्कों ने उसे हमेशा के लिए ख़तम कर दिया।

कुस्तुन्तुनिया पर जिहादियों का यह क़ब्ज़ा रोमन ईसाई-संघ और पोप की इस इच्छा को ज़ाहिर करता है कि वे अपना प्रभाव वहांतक बढ़ाना चाहते थे। हालांकि घबराहट के मौक़े पर इस शहर के यूनानियों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ रोम से सहायता मांगी थी, फिर भी उन्होंने जिहादियों की कुछ भी मदद नहीं की। बल्कि वे उनसे सख़्त नफ़रत करते थे।

---

[1] स्कॉट अंग्रेज़ी भाषा का बहुत मशहूर उपन्यास-लेखक और कवि हो गया है। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। १७७१ ई० में इसका जन्म हुआ था और १८३२ ई० में मृत्यु हुई।

लेकिन इन क्रूसेडों में सबसे भयंकर वह था जो 'बच्चों का क्रूसेड' कहलाता है। बहुत बड़ी संख्या में बच्चों ने, ज़्यादातर फ्रान्स के और कुछ जर्मनी के बच्चों ने, जोश में आकर अपने घरों को छोड़ दिया और फ़िलस्तीन जाने का इरादा कर लिया। उनमें से कितने ही तो रास्ते में मर गये और कितने ही खो गये। ज़्यादातर बच्चे मार्सल्स जा पहुंचे, जहां उन बेचारों के साथ धोखा किया गया और बदमाशों ने उनके जोश से बेजा फ़ायदा उठाया। 'पवित्र' देश तक पहुंचा देने का बहाना बनाकर ग़ुलामों के व्यापारी इन्हें अपने जहाज़ों में बिठाकर मिस्र ले गये और वहां इन्हें ग़ुलामी के लिए बेच दिया।

फ़िलस्तीन से लौटते समय इंग्लैंड के बादशाह रिचर्ड को पूर्वी यूरोप में उसके दुश्मनों ने पकड़ लिया और उसे छुड़ाने के लिए बहुत बड़ी रक़म देनी पड़ी। फ्रान्स का एक राजा फ़िलस्तीन में ही गिरफ़्तार कर लिया गया था और उसे भी रुपया देकर छुड़ाया गया था। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट्, फ्रेडरिक बारबरोसा फ़िलस्तीन की एक नदी में डूब गया। इधर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, क्रूसेडों का जादू कम होता गया। लोग इन युद्धों से उकता गये थे। यरूशलम मुसलमानों के ही हाथों में बना रहा, लेकिन यूरोप के राजाओं में और लोगों में अब यरूशलम को छीनने के लिए ज़्यादा जान व माल बर्बाद करने का उत्साह नहीं रहा। तबसे लगभग ७०० वर्षों तक यरूशलम मुसलमानों के ही अधीन रहा। थोड़े ही दिन पहले, पिछले यूरोपीय महायुद्ध के समय, १९१८ ई० में, एक अंग्रेज़ सेनापति ने इसे तुर्कों से छीन लिया।

बाद के क्रूसेडों में एक क्रूसेड बड़ा ही दिलचस्प और ग़ैरमामूली था। सच तो यह है कि पुराने अर्थ में यह क्रूसेड था ही नहीं। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय फिलस्तीन गया और वहां लड़ने के बजाय उसने मिस्र के सुलतान से भेंट की और दोनों में एक दोस्ताना समझौता हो गया! फ्रेडरिक असाधारण व्यक्ति था। उस ज़माने में, जब ज़्यादातर राजा बे-पढ़े-लिखे होते थे, यह अरबी के अलावा कई भाषाएं जानता था। वह 'जगत का आश्चर्य' के नाम से मशहूर था। पोप की वह बिल्कुल परवाह नहीं करता था और इसलिए पोप ने उसे बहिष्कृत कर दिया, लेकिन उसपर इसका कोई असर न हुआ।

मतलब यह कि क्रूसेडों का कोई नतीजा नहीं निकला। पर इस लगातार लड़ाई ने सेलजूक़ तुर्कों को कमज़ोर कर दिया। लेकिन इससे भी ज़्यादा यह हुआ कि सामन्त-प्रथा ने सेलजूक़ साम्राज्य की जड़ें खोखली कर दीं। बड़े-बड़े सामन्त सरदार अपनेको एक तरह से स्वाधीन मानने लगे। वे आपस में लड़ते रहते थे। कभी-कभी नौबत यहांतक पहुंचती थी कि वे एक-दूसरे के ख़िलाफ़ ईसाइयों की सहायता मांगा करते थे। कभी-कभी तुर्कों की यह अन्दरूनी कमज़ोरी उन्हें जिहा-

दियों के हाथ का खिलौना बना देती थी। लेकिन जब कभी सलादीन की तरह कोई दबंग सुलतान होता था तब इनकी नहीं चलती थी।

क्रूसेडों के बारे में दूसरा मत भी है। यह नया मत जी० एम० ट्रेवेलियन नामक एक अंग्रेज़ इतिहासकार ने (जिसे तुम गैरीबाल्दीवाली पुस्तकों के लेखक के रूप में जानती हो) पेश किया है। यह मत बड़ा दिलचस्प है। ट्रेवेलियन कहता है : "क्रूसेड यूरोप की उस दुबारा ज़िन्दा होनेवाली क्रियाशक्ति के सैनिक और धार्मिक पहलू थे, जो यूरोप के आम लोगों को पूर्व की ओर जाने को उकसा रही थी। क्रूसेडों से यूरोप को जीत का यह इनाम नहीं मिला कि 'पवित्र समाधि' का हमेशा के लिए उद्धार हो गया हो या ईसाई-जगत् में प्रभावशाली एकता हो गई हो। क्रूसेडों की कहानी तो इन बातों का एक लम्बा प्रतिवाद है। इनके बजाय यूरोप में क्रूसेड ललित कलाएं, कारीगरी, विलासिता, विज्ञान व बौद्धिक जिज्ञासा लेकर आया, यानी वे तमाम चीज़ें लाया, जिनसे साधु पीटर को सख्त नफ़रत होती।"

सलादीन ११९३ ई० में मर गया, और पुराने अरब-साम्राज्य का जो कुछ भाग बच रहा था वह भी धीरे-धीरे टूक-टूक हो गया। पश्चिमी एशिया के कई हिस्सों में, जो छोटे-छोटे सामन्त-सरदारों के क़ब्ज़े में थे, उपद्रव होने लगे। आखिरी क्रूसेड १२४९ ई० हुआ। इसका नेता फ्रान्स का राजा लुई नवम था। वह हार गया और क़ैद कर लिया गया।

इसी बीच पूर्वी और मध्य एशिया में बड़ी-बड़ी घटनाएं घट रही थीं। चंगेज़ खां नामक जबर्दस्त सरदार के नेतृत्व में मंगोल आगे बढ़ रहे थे और पूर्वी क्षितिज पर काली घटा की तरह छा रहे थे। क्रूसेडों में लड़नेवाले दोनों पक्ष, यानी ईसाई और मुसलमान दोनों ही इस मंडराते हुए हमले को एक समान डर से देख रहे थे। चंगेज़ और मंगोलों का ज़िक्र हम आगे के किसी पत्र में करेंगे।

इस पत्र को खतम करने से पहले मैं एक बात का ज़िक्र कर देना चाहता हूं। मध्य एशिया के बुखारा नामक शहर में एक बहुत बड़ा अरब हक़ीम रहता था जो एशिया और यूरोप दोनों में मशहूर था। उसका नाम इब्न सीना था, लेकिन यूरोप में वह 'एवीसेना' के नाम से ज़्यादा मशहूर है। वह 'हक़ीमों का शाह' कहा जाता था। क्रूसेडों के शुरू होने के पहले, १०३७ ई० में, उसकी मृत्यु हो गई।

मैंने इब्न सीना के नाम का ज़िक्र उसकी कीर्त्ति की वजह से किया है। लेकिन याद रखो कि इस सारे ज़माने में, यहांतक कि जब अरब-साम्राज्य का पतन हो रहा था तब भी, अरबी सभ्यता पश्चिमी एशिया में और मध्य एशिया के एक हिस्से में जारी रही। ईसाई जिहादियों से लड़ाई में मशगूल रहने पर भी सलादीन ने बहुत-से कालेज और अस्पताल बनवाये। लेकिन इस सभ्यता के अचानक और पूरी

तरह खतम होने का दिन नज़दीक आ चुका था, क्योंकि पूर्व की तरफ़ से मंगोल बढ़े चले आ रहे थे।

: ६३ :

## क्रूसेडों के समय का यूरोप

२० जून, १९३२

पिछले पत्र में हम लोगों ने ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं सदियों में ईसाइयत और इस्लाम की टक्कर का कुछ ज़िक्र किया था। ईसाई-जगत की भावना यूरोप में ज़ोर पकड़ रही थी। इस समय तक ईसाइयत सारे यूरोप में फैल चुकी थी। पूर्वी यूरोप की रूसी-वग़ैरा स्लाव जातियां सबसे पीछे इसमें शामिल हुई। एक रोचक कहानी है—मैं कह नहीं सकता कि वह कहांतक सच है—कि पुराने रूसी लोगों ने, ईसाई होने से पहले, अपना पुराना मज़हब बदलने और एक नया मज़हब अपनाने के सवाल पर बहस की थी। जिन दो नये मज़हबों के बारे में उन्होंने सुन रक्खा था, वे ईसाइयत और इस्लाम थे। इसलिए, ठीक आजकल के ढंग के अनुसार, रूसियों ने ऐसे देशों में, जहां इन मज़हबों के माननेवाले लोग थे, एक प्रतिनिधि-मंडल भेजा ताकि वह उनकी जांच करके अपनी रिपोर्ट पेश करे। कहते हैं कि यह प्रतिनिधि-मण्डल पहले पश्चिमी एशिया की कुछ जगहों में गया, जहां इस्लाम का प्रचार था और बाद में कुस्तुन्तुनिया पहुंचा। कुस्तुन्तुनिया में उन्होंने जो कुछ देखा उससे वे चकित हो गये। कट्टर ईसाई-संघ की पूजा-विधि में बड़ी शान-शौकत और तड़क-भड़क थी, जिसके साथ संगीत और मधुर गायन भी थे। पादरी लोग बढ़िया पोशाकें पहनकर आते थे और धूप जला करती थी। उत्तर के सीधे-सादे और अर्ध-सभ्य लोगों पर इस पूजा-विधि का ज़बर्दस्त असर पड़ा। इस्लाम में ऐसी तड़क-भड़क की कोई बात नहीं थी। इसलिए उन्होंने ईसाइयत के पक्ष में फ़ैसला किया और लौटकर वैसी ही रिपोर्ट अपने बादशाह के सामने पेश की। इसपर रूस के बादशाह और उसकी प्रजा ईसाई हो गये, और चूंकि उन्होंने यह ईसाइयत कुस्तुन्तुनिया से ली थी, इसलिए वे रोम के नहीं बल्कि 'कट्टर यूनानी ईसाई-संघ' के अनुयायी हुए। बाद में भी, रूस ने रोम के पोप को कभी नहीं माना।

रूस का यह धर्म-परिवर्तन क्रूसेडों के बहुत पहले हो चुका था। कहा जाता है कि एक समय बलगारी भी मुसलमान बनने के लिए कुछ-कुछ तैयार हो गये थे, लेकिन फिर कुस्तुन्तुनिया का आकर्षण ज्यादा ज़ोरदार साबित हुआ। उनके राजा ने एक बिज़ैन्तीन राजकुमारी से शादी कर ली थी और वह ईसाई हो गया था।

वोल्गा नदी
नोवगोरोद का राज्य
नीपर नदी
स्वीडन का राज्य
डेनमार्क का राज्य
पोलैण्ड का राज्य
हंगरी का राज्य
बलगारिया
सर्बिया
पूर्वी साम्राज्य
सेलजुक
रोम
राइन नदी
फ्रांस का राज्य
इंगलैण्ड का राज्य
स्पेन का राज्य
पुर्तगाल
मूर लोगों का राज्य

तेरहवीं सदी का यूरोप

(तुम्हें याद होगा कि बिज़ैन्तियम कुस्तुन्तुनिया का ही पुराना नाम था।) इसी तरह दूसरे पड़ोसी मुल्कों ने भी ईसाई-मज़हब स्वीकार कर लिया था।

इन क्रूसेडों के समय यूरोप में क्या हो रहा था ? तुम देख ही चुकी हो कि कुछ बादशाह और सम्राट फिलस्तीन गये थे और उनमें से कई वहां आफ़त में फंस गये थे। उधर पोप रोम में बैठा-बैठा 'विधर्मी' तुर्कों के ख़िलाफ़ 'पवित्र युद्ध' के लिए फ़रमान और अपीलें जारी कर रहा था। शायद ये दिन वही थे, जब पोप की शक्ति अपनी चोटी पर पहुंच चुकी थी। मैं तुम्हें बता चुका हूं कि किस तरह एक घमण्डी सम्राट् पोप से माफ़ी मांगने के लिए उसके सामने हाज़िर होने के इन्तज़ार में कनौज़ा में नंगे पांव बर्फ़ में खड़ा रहा था। यह वही पोप ग्रेगरी सप्तम था, जिसका पहला नाम हिल्देब्रांद था और जिसने पोपों के चुनाव का एक नया तरीका जारी किया था। रोमन कैथलिक जगत् में कार्डिनल लोग सबसे ऊंचे पादरी होते थे। इनका एक मंडल बनाया गया, जिसे 'पवित्र मंडल'[१] कहते थे। यही मंडल नये पोप को चुनता था। यह तरीक़ा १०५९ ई० में जारी किया गया था और कुछ फेर-बदल के साथ आजतक चला आ रहा है। आजकल भी जब कोई पोप मर जाता है, तब कार्डिनलों का मंडल फ़ौरन मिलता है और कार्डिनल लोग एक तालाबंद कमरे में बैठ जाते हैं। जबतक चुनाव ख़तम नहीं हो जाता तबतक न कोई उस कमरे के भीतर जा सकता है और न कोई उससे बाहर ही निकल सकता है। बहुत बार ऐसा हुआ है कि चुनाव में एकमत न हो सकने की वजह से वे घण्टों उसी बन्द कमरे में बैठे रहे हैं। पर वे बाहर नहीं आ सकते ! इसलिए अन्त में वे एकमत होने के लिए मजबूर हो जाते है, और जैसे ही पोप का चुनाव हो जाता है, वैसे ही सफेद धूआं उड़ाया जाता है ताकि बाहर इंतजार करती हुई भीड़ को सूचना मिल जाय।

जिस तरह पोप चुना जाता था उसी तरह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट् भी चुना जाने लगा। लेकिन उसका चुनाव बड़े सामन्त-सरदार करते थे। इनकी संख्या सात थी और वे 'निर्वाचक राजा'[२] कहलाते थे। इस तरह वे कोशिश करते थे कि सम्राट् हमेशा एक ही ख़ानदान से नहीं आ सके। लेकिन व्यवहार में अक्सर एक ही खानदान लम्बे समय तक इन चुनावों में जीतता रहता था।

इस तरह हम देखते हैं कि बारहवीं और तेरहवीं सदियों में साम्राज्य की बागडोर होहेन्स्तॉफ़ेन राजवंश के हाथ में थी। मेरा ख़याल है कि होहेन्स्तॉफ़ेन जर्मनी में कोई छोटा-सा क़स्बा या गांव है। शुरू में यह खानदान इसी गांव में से आया था। इसलिए इस गांव के नाम पर ही उसका नाम पड गया। होहेन्स्ताफ़ेन राजवंश

[१] Holly College. [२] Elector Princes.

मतलब यह कि यूरोप में सम्राट् धरती पर सर्वोपरि माना जाता था और इसीसे राजाओं के दैवी अधिकार की भावना पैदा हुई। मगर असल में तो उसका सर्वोपरि होना बहुत दूर की बात थी। उसके सामन्ती सरदार बहुत मुंहज़ोर थे और धीरे-धीरे, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, शहरों में नये-नये वर्ग पदा हो गये थे, और इन्होंने भी कुछ सत्ता हथिया ली थी। दूसरी ओर पोप भी धरती पर सर्वोपरि होने का दावा करता था। और फिर जहां दो सर्वोपरि मिलें, वहां झगड़ा होना लाज़िमी है।

फ़्रेडरिक बार्बरोसा के पोते का नाम भी फ़्रेडरिक था। वह थोड़ी ही उम्र में सम्राट् बन गया और उसका नाम फ्रेडरिक द्वितीय पड़ा। यह वही आदमी था जिसे 'संसार का आश्चर्य' [1] कहा गया है, और जिसने फ़िलस्तीन जाकर मिस्र के सुल्तान के साथ दोस्ताना बातचीत की थी। अपने दादा की तरह इसने भी पोप का खुला विरोध किया और उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। पोप ने उसे ईसाइयत से छेककर बदला चुकाया। यह पोपों का एक पुराना और ज़बर्दस्त हथियार था लेकिन अब इसमें कुछ जंग लग रहा था। फ़्रेडरिक द्वितीय ने पोप के गुस्से की ज़रा भी परवाह नहीं की, और अब दुनिया भी बदल रही थी। फ़्रेडरिक ने यूरोप के सब राजाओं और शासकों के पास लम्बे-लम्बे पत्र भेजे, जिनमें उसने बताया कि पोप को राजाओं के मामले में दख़ल देने की ज़रूरत नहीं है; पोपों का काम तो धार्मिक और आध्यात्मिक मामलों की देखरेख करना है, राजनीति में टांग अड़ाना नहीं। उसने पादरियों में फैले हुए भ्रष्टाचार का भी बयान किया। इस तरह के वाद-विवाद में फ़्रेडरिक ने पोपों को बुरी तरह पछाड़ दिया। उसके ये पत्र बड़े दिलचस्प हैं, क्योंकि वे पोप और सम्राट् के पुराने झगड़े में आजकल की भावना का प्रवेश होने की पहली निशानी हैं।

फ़्रेडरिक द्वितीय मज़हबी मामलों में बड़ा उदार था और अरबी और यहूदी दार्शनिक उसके दरबार में आया करते थे। कहा जाता है कि फ़्रेडरिक के ही ज़रिये अरबी अंक और बीजगणित यूरोप में पहुंचे थे (तुम्हें याद होगा कि ये शुरू में भारत से अरब [2] गये थे)। फ़्रेडरिक ने ही नेपल्स का विश्वविद्यालय और सालर्नो के प्राचीन विश्वविद्यालय में एक बड़ा मेडिकल स्कूल, क़ायम किये थे।

फ़्रेडरिक द्वितीय ने १२१२ से १२५० ई० तक राज किया। उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य पर से होहेन्स्ताफ़ेन वंश का क़ब्ज़ा जाता रहा। सच तो यह है कि उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य का ही क़रीब-क़रीब ख़ात्मा हो गया। इटली अलग हो गया, जर्मनी के टुकड़े-टुकड़े हो गये और बहुत वर्षों तक भयानक गड़बड़

---

[1] Stupor Mundi.

[2] अरबी में अंकों को 'हिन्दसा' कहते हैं।

मची रही। लुटेरे नाइट और डाकू लूट-मार करते थे और उनको कोई रोकने वाला नहीं था। जर्मन राज्य के लिए पवित्र रोमन साम्राज्य का बोझ इतना भारी पड़ा कि वह उसे सह नहीं सका। फ़ान्स और इंग्लैण्ड में वहां के बादशाह धीरे-धीरे अपनी हैसियत मज़बूत कर रहे थे और गड़बड़ मचाने वाले बड़े-बड़े सामन्ती सरदारों को कुचल रहे थे। जर्मनी का बादशाह सम्राट भी था और वह पोप से या इटली के शहरों से लड़ने में ही इतना फंसा रहता था कि अपने यहां के अमीर-सरदारों को दबा नहीं सकता था। कोई माने या न माने, पर जर्मनी को यह गौरव ज़रूर था कि उसका बादशाह सम्राट् है। लेकिन इसकी क़ीमत उसे यह चुकानी पड़ी कि उसके घर में कमज़ोरी और फूट पैदा हो गई। जर्मनी के एक राष्ट्र बनने के बहुत पहले ही फ़ांस और इंग्लैंड शक्तिशाली हो गये थे। सैकड़ों वर्षों तक जर्मनी में सैकड़ों छोटे-छोटे राजा थे। अभी क़रीब साठ ही वर्ष हुए जब जर्मनी एक हुआ, लेकिन छोटे-छोटे बादशाह और राजा फिर भी बने रहे। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इस भीड़ को ख़तम कर दिया।

फ़्रेडरिक द्वितीय के बाद जर्मनी में इतनी ज्यादा गड़बड़ रही कि तेईस साल तक कोई सम्राट् ही नहीं चुना गया। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का काउण्ट रूदोल्फ सम्राट् चुना गया। अब हैप्सबर्ग का नया राजवंश सामने आया। यह साम्राज्य के साथ अन्त तक चिपका रहनेवाला था। १९१४ ई० के महायुद्ध में यह राजवंश भी, शासक की हैसियत से, ख़तम हो गया। महायुद्ध के समय में आस्ट्रिया-हंगरी का सम्राट् हैप्सबर्ग घराने का था, जिसका नाम फ़्रांसिस जोज़ेफ़ था। वह बहुत बुड्ढा था और राजगद्दी पर बैठे हुए उसे साठ वर्ष से ज्यादा हो चुके थे। फ़्रंज़ फर्डिनेण्ड उसका भतीजा और उत्तराधिकारी था, जो १९१४ ई० में बोसनिया (बालकन प्रायद्वीप में) के सिराजेवो में अपनी पत्नी के साथ क़त्ल कर दिया गया था। महायुद्ध को भड़कानेवाली यही हत्या थी, और इस महायुद्ध ने बहुत-सी चीज़ों का ख़ात्मा कर दिया, जिनमें हैप्सबर्ग का पुराना राजवंश भी था।

पवित्र रोमन साम्राज्य के बारे में इतना काफ़ी है। इसके पश्चिम में फ़ान्स और इंग्लैंड बार-बार आपस में लड़ा करते थे, लेकिन इससे भी ज्यादा बार-बार इनके बादशाहों की अपने ही अमीर-सरदारों से लड़ाइयां हुआ करती थीं। जर्मनी के सम्राट् या बादशाह की बनिस्बत फ़ान्स और इंग्लैंड के बादशाह अपने अमीर-सरदारों पर ज्यादा विजयी हुए; इसलिए इंग्लैंड और फ़ान्स दूसरे देशों के मुक़ाबले में ज्यादा ठोस बन गये और उनकी एकता ने उन्हें मज़बूती दी।

इसी समय इंग्लैंड में एक घटना हुई जिसके बारे में शायद तुमने पढ़ा होगा। १२१५ ई० में किंग जॉन ने मैग्नाकार्टा[1] पर दस्तख़त किये। जॉन अपने भाई

[1] मैग्नाकार्टा (Magna Charta)—इंग्लैंड की स्वतन्त्रता का ख़रीता,

'शेर-दिल' रिचर्ड के बाद गद्दी पर बैठा था। वह बड़ा लालची था, लेकिन साथ ही कमज़ोर भी था और उसकी हरकतों से सब लोग खीज उठे। अमीर-सरदारों ने उसे टेम्स नदी के रनीमीड टापू में जा घेरा और तलवार के ज़ोर से डरा-धमकाकर मैग्नाकार्टा या 'महान् घोषणापत्र' पर उसके दस्तख़त करवा लिये। इसमें यह शर्त थी कि वह इंग्लैंड के अमीर-सरदारों और इंग्लैण्ड की जनता की कुछ आज़ादियों का आदर करेगा। इंग्लैंड की राजनैतिक स्वतन्त्रता की लम्बी लड़ाई में यह पहला बड़ा क़दम था। इसमें एक ख़ास शर्त यह थी कि बादशाह किसी नागरिक की सम्पत्ति या उसकी आज़ादी में बिना उसके बराबरवालों की राय के दखल नहीं दे सकेगा। इसीसे जूरी[1] की प्रथा निकली, जिसमें यह माना जाता है कि बराबर के लोग फ़ैसला करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि इंग्लैंड में बहुत पहले ही बादशाह के अधिकारों पर रोक लगा दी गई थी। पवित्र रोमन साम्राज्य में शासक को सर्वोपरि मानने का जो सिद्धान्त चालू था, वह उस समय भी इंग्लैंड में नहीं माना जाता था।

यह मजेदार बात है कि यह नियम, जो इंग्लैंड में आज से ७०० वर्ष पहले बनाया गया था, १९३२ ई० में भी ब्रिटिश राज्य के अधीन भारत पर लागू नहीं है। यहां आज भी एक व्यक्ति वाइसराय को अध्यादेश (आर्डिनेन्स) निकालने, कानून बनाने और जनता की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता छीन लेने का अधिकार मिला हुआ है।

मैग्नाकार्टा के थोड़े ही दिनों बाद इंग्लैंड में एक और मार्के की घटना हुई। धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय परिषद् का विकास होने लगा जिसमें अलग-अलग देहाती इलाक़ों और शहरों से नाइट और नागरिक भेजे जाते थे। यह इंग्लैंड की पार्लमेण्ट की शुरुआत थी। नाइटों और नागरिकों की सभा 'हाउस ऑफ़ कॉमन्स' बनी; अमीर-सरदारों व पादरियों की सभा 'हाउस आफ़ लार्डस' बनी। शुरू-शुरू में इस पार्लमेण्ट को नाम के अधिकार थे, पर ये धीरे-धीरे बढ़ते गये। अन्त में बादशाह और पार्लमेण्ट के बीच इस बात पर आख़िरी आज़माइश हुई कि दोनों में कौन बड़ा है। इस झगड़े में राजा का सिर उड़ा दिया गया और पार्लमेण्ट की

---

**जिसपर दस्तखत करने के लिए किंग जान को मजबूर होना पड़ा। इसमें नागरिक स्वतन्त्रता की कई महत्वपूर्ण बातें शामिल की गई थीं।**

**[1]बड़े मुकदमों में न्यायाधीश के साथ कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति बैठते हैं, जो गवाहियां पूरी हो जाने पर आपस में सलाह करके मुक़दमे के बारे में राय देते हैं। भारत में भी कत्ल के मुक़दमों में जूरी बैठती थी, लेकिन अब यह प्रथा बन्द होती जा रही है।**

प्रभुता सबने स्वीकार कर ली। लेकिन यह बात क़रीब ४०० वर्षों बाद, यानी सत्रहवीं सदी में जाकर हुई।

फ़ान्स में भी तीन वर्ग कहलानेवालों की एक परिषद् थी। ये तीन वर्ग थे; लार्ड, चर्च और कामन्स, यानी ज़मींदार, ईसाई-संघ और आमलोग। जब कभी राजा की इच्छा होती थी, इस परिषद् की बैठक हुआ करती थी; लेकिन इसकी बैठकें बहुत कम होती थीं और यह इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट की तरह अधिकार हासिल करने में सफल न हो सकी। फ़ान्स में भी राजाओं की कमर टूटने के पहले एक राजा को अपना सिर गंवाना पड़ा था।

पूर्व में अब भी यूनानियों का पूर्वी रोमन साम्राज्य चल रहा था। अपनी ज़िंदगी की शुरुआत से ही इसका किसी-न-किसीसे युद्ध चलता रहा, और अक्सर ऐसा मालूम होता था कि बस यह मरा। लेकिन फिर भी उसने पहले उत्तरी बर्बरों के, और बाद में मुसलमानों के, हमलों से अपनी जान बचा ली। इस साम्राज्य पर रूसियों, बलग़ारियों, अरबों, या सेलजूक़ तुर्कों के जितने हमले हुए उनमें ईसाई जिहादियों का हमला सबसे ज़्यादा घातक और हानिकर साबित हुआ। इन ईसाई योद्धाओं ने ईसाई कुस्तुन्तुनिया को जितना नुक़सान पहुंचाया, उतना किसी 'काफ़िर' ने नहीं पहुंचाया। इस महान आफ़त की मार से साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया का शहर फिर कभी नहीं पनप सका।

पश्चिमी यूरोप की दुनिया पूर्वी साम्राज्य के बारे में बिलकुल अनजान थी। उसे उसकी बिलकुल परवाह नहीं थी। वह ईसाई-जगत का अंग नहीं थी। उसकी भाषा यूनानी थी, जबकि पश्चिमी यूरोप के विद्वानों की भाषा लातीनी थी। देखा जाय तो इस गिरावट के ज़माने में भी कुस्तुन्तुनिया में पश्चिम की बनिस्बत कहीं ज़्यादा विद्या और साहित्य-चर्चा थी। लेकिन यह विद्या बुढ़ापे की विद्या थी जिसमें न कोई बल था और न कोई नई रचना-शक्ति। पश्चिम में विद्या नहीं के बराबर थी, लेकिन उसमें जवानी थी और नई रचना की शक्ति थी और थोड़े ही दिनों बाद यह शक्ति सुन्दर रचनाओं के रूप में खिल उठनेवाली थी।

पूर्वी साम्राज्य में, रोम की तरह सम्राट् और पोप में कोई झगड़ा नहीं था। वहां सम्राट् सर्वोपरि था और पूरी तरह स्वेच्छाचारी था। किसी तरह की आजादी का सवाल ही नहीं था। राजगद्दी उसीके हिस्से में आती थी, जो सबसे बलवान होता था या सबसे ज़्यादा बे-उसूला होता था। हत्या और छल से, ख़ून-ख़राबी और ज़ुल्म से, लोग राजगद्दी हासिल कर लेते थे और जनता भेड़-बकरियों की तरह उनके हुक्मों को मानती रहती थी। मालूम होता है, उसे इस बात में कोई दिलचस्पी न थी कि कौन राज करता है।

पूर्वी साम्राज्य यूरोप के फाटक पर एक पहरेदार की तरह खड़ा था और

एशियाई हमलों से उसकी रक्षा करता था। सैकड़ों वर्षों तक वह इसमें सफल होता रहा। अरब लोग क़ुस्तुन्तुनिया को नहीं ले सके । सेलजूक तुर्क भी, हालांकि वे उसके बहुत नजदीक पहुंच गये थे, उसे नहीं ले सके । मंगोल भी इसके पास से गुज़रते हुए उत्तर में रूस को तरफ़ निकल गये। अन्त में उस्मानी तुर्क आये और १४५३ ई० में क़ुस्तुन्तुनिया के शाही शहर का बड़ा लूट का माल उनके हाथ में आगया। इस शहर के पतन के साथ ही पूर्वी रोमन साम्राज्य का भी पतन हो गया।

## : ६४ :
# यूरोप के नगरों का अभ्युदय

२१ जून, १९३२

क्रूसेडों का ज़माना, यूरोप में श्रद्धा, सामूहिक आकांक्षा और विश्वास का महान ज़माना था और जनता अपनी आये दिन की मुसीबतों से शान्ति पाने के लिए इसी श्रद्धा और आशा का सहारा लेती थी। उस समय विज्ञान नहीं था और विद्या भी बहुत कम थी, क्योंकि आस्था के साथ विज्ञान और विद्या का मेल आसानी से नहीं बैठता। विद्या और ज्ञान से लोग सोचने-विचारने लगते हैं और संशय व तर्क-वितर्क श्रद्धा के साथ मुश्किल से मेल खाते हैं। विज्ञान का रास्ता जांच-पड़ताल और प्रयोग का रास्ता है। लेकिन श्रद्धा इस रास्ते नहीं जाती। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह यह श्रद्धा कमज़ोर पड़ गई और संशय पैदा हुआ।

लेकिन अभी तो जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उस समय श्रद्धा का ज़ोर था और रोमन ईसाई-संघ 'ईमानवालों' का सरदार बनकर उनसे खूब फ़ायदा उठाता था। न जाने कितने-कितने हज़ार 'ईमानवाले' फ़िलस्तीन में क्रूसेड युद्धों के लिए भेजे गए, जो फिर लौटकर नहीं आये। पोप ने यूरोप के उन ईसाई लोगों या समुदायों के ख़िलाफ़ भी धर्मयुद्ध के ऐलान शुरू कर दिये, जो हर बात में उसका हुक्म मानने को तैयार नहीं थे। पोप और ईसाई-संघ ने 'डिस्पेन्सेशन' और 'इंडलजेन्स' जारी करके और बेच करके भी स श्रद्धा से बेजा फ़ायदा उठाया। ईसाई-संघ के किसी क़ानून या परिपाटी को भंग करने की इजाज़त को 'डिस्पेन्सेशन' कहते थे। इस तरह जिन क़ानूनों को ईसाई-संघ ख़ुद बनाता था, उन्हीं-को खास मौक़ों पर तोड़ने की इजाज़त भी वह दे देता था। ऐसे क़ानूनों के लिए ज्यादा दिनों तक लोगों के दिलों में इज़्ज़त बनी नहीं रह सकती थी। 'इंडलजेन्स' इससे भी ज्यादा बुरी चीज़ थी। रोमन ईसाई-संघ मानता है कि मृत्यु के बाद आत्मा 'परगेटरी' (प्रायश्चित्त की जगह) नामक लोक में जाती है, जो स्वर्ग और नरक के बीच में कहींपर है, और जहां उसे इस दुनिया में किये हुए पापों के लिए यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। इसके बाद कहीं वह आत्मा स्वर्ग को जाती है। पोप

रुपया लेकर लोगों को यह प्रतिज्ञा-पत्र दे देता था कि वे 'परगेटरी' से बचकर सीधे स्वर्ग पहुंच जायंगे। इस तरह ईसाई-संघ भोले-भाले लोगों की श्रद्धा से फ़ायदा लूटता था और जिन अपराधों को वह पाप समझता था उनसे भी पैसा बनाता था। 'इंडल्जेन्स' की बिक्री का यह रिवाज क्रूसेडों के कुछ दिन बाद शुरू हुआ। इससे बड़ी बदनामी फैली। और बहुत से कारणों में एक कारण यह भी था, जिससे लोग रोमन ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ हो गये।

अजीब बात है कि भोले-भाले श्रद्धावान लोग कितनी ही बातें बिना किसी ननुनच के मान लेते हैं। यही वजह है कि कई देशों में मज़हब सबसे बड़ा और सबसे ज़्यादा फ़ायदे का रोज़गार बन गया है। मन्दिरों के पुजारियों को देखो कि वे किस तरह बेचारे उपासकों को मूंड़ने की कोशिश करते हैं। गंगा के घाटों पर जाओ तो वहां तुम देखोगी कि पंडे कुछ पूजा-पाठ करने से तबतक इन्कार करते हैं, जबतक कि बेचारा देहाती इन्हें भेंट नहीं चढ़ाता। कुटुम्ब में कुछ भी हो—चाहे जन्म हो, शादी हो या ग़मी हो, पुरोहित आ धमकता है और उसे दक्षिणा देनी ही पड़ती है।

यह बात हर मज़हब में है, चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे ईसाइयत हो, चाहे इस्लाम हो, चाहे ज़रथुस्ती। हर मज़हब का, श्रद्धालुओं की श्रद्धा से पैसा कमाने का अपना अलग तरीक़ा होता है। हिन्दू-धर्म के तरीक़े तो काफी ज़ाहिर हैं। कहा जाता है कि इस्लाम में पुरोहित नहीं होते और पुराने ज़माने में उसके अनुयायियों को मज़हबी लूट-खसोट से बचाने में इस बात से थोड़ी-बहुत मदद भी मिली। लेकिन बाद में कुछ व्यक्ति और वर्ग पैदा हो गये जो अपनेको मज़हब के मामलों की ख़ासतौर पर जानकारी रखनेवाले कहने लगे, जैसे आलिम, मौलवी, मुल्ला वग़ैरा। इन लोगों ने सीधे-सादे दीनदार मुसलमानों पर अपना रोब जमा लिया और उनको मूंड़ना शुरू कर दिया। जहां लम्बी दाढ़ी, या चोटी, या तिलक, या फ़क़ीरी बाना, या संन्यासी का गेरुआ या पीला कपड़ा पवित्रता की सनद समझा जाता हो, वहां जनता पर धाक जमाना कोई मुश्किल काम नहीं है।

अगर तुम अमेरिका जाओ, जो आजकल सबसे आगे बढ़ा हुआ मुल्क है, तो वहां भी देखोगी कि मज़हब एक बहुत बड़ा उद्योग बन गया है, जो जनता के शोषण पर जी रहा है।

मैं मध्य युगों और श्रद्धा के युग से बहुत दूर भटक गया हूं। हमें उस तरफ़ फिर वापस चलना चाहिए। हम इस श्रद्धा को ठोस और रचनात्मक रूप लेता हुआ पाते हैं। ग्यारहवीं-बारहवीं सदियों में इमारतों के निर्माण का एक बड़ा ज़माना आया और सारे पश्चिमी यूरोप में बड़े-बड़े गिरजाघर खड़े हो गये। एक नई वास्तुकला पैदा हुई जैसी यूरोप में इसके पहले कभी नहीं दिखाई पड़ी थी। इसमें

हिक़मत-भरी तरक़ीब से भारी-भारी छतों का बोझ और दबाव इमारत के बाहर बने बड़े-बड़े पुश्तों पर डाल दिया गया है। भीतर नाज़ुक खम्भों को ज़ाहिरा तौर पर ऊपर के भारी बोझ को सम्भाले हुए देखकर ताज्जुब होता है। इनके नोकदार मेहराब अरबी वास्तु-कला की नक़ल हैं। सारी इमारत के ऊपर आसमान तक पहुंचनेवाली मीनार होती है। वास्तु-कला की यह वह गोथिक शैली है, जो यूरोप में पैदा हुई और विकसित हुई। इसमें अद्भुत सुन्दरता थी और यह उड़ान भरनेवाली श्रद्धा और आकांक्षा का रूप दर्शानेवाली मालूम देती थी। सचमुच यह श्रद्धा के उस ज़माने का दर्शन कराती है। ऐसी इमारतें सिर्फ वे शिल्पकार और कारीगर ही बना सकते हैं, जिन्हें अपने काम की लगन हो और जो मिलकर किसी महान उद्योग को पूरा करने में जुट गये हों।

पश्चिमी यूरोप में इस गोथिक शैली का विकास एक अद्भुत बात है। अशान्ति, अराजकता, अज्ञान और मज़हबी बैर के कीचड़ से यह सुन्दर चीज़ पैदा हुई—मानो स्वर्ग की ओर जानेवाली प्रार्थना हो। फ्रान्स, उत्तरी इटली, जर्मनी और इंग्लैंड में गोथिक शैली के बड़े-बड़े गिरजे क़रीब-क़रीब एक ही साथ बने। यह कोई ठीक-ठीक नहीं जानता कि उनकी शुरुआत कैसे हुई, और न कोई उनके बनानेवालों के नाम ही जानता है। ये रचनाएं सारी जनता की शामिल इच्छा और मेहनत को दर्शाती हुई मालूम देती हैं, न कि किसी अकेले शिल्पकार की। इन गिरजों में दूसरी नई चीज़ नकी खिड़कियों के रंगीन कांच थे। इन खिड़कियों पर सुन्दर रंगों में बड़ी सुन्दर तसवीरें बनी होती थीं और उनमें से होकर आनेवाली रोशनी इन इमारतों के गम्भीर और रोब डालनेवाले प्रभाव को बढ़ाती थीं।

थोड़े दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में यूरोप का एशिया से मुक़ाबला किया था। हमने देखा था कि उस वक़्त एशिया संस्कृति और सभ्यता में यूरोप से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। फिर भी भारत में नई रचना का काम बहुत ज़्यादा नहीं हो रहा था, और मैं कह चुका हूं कि नई रचना करना ही ज़िंदगी की निशानी है। अर्ध-सभ्य यूरोप में पैदा होनेवाली यह गोथिक वास्तुकला इस बात का सबूत है कि वहां काफ़ी ज़िंदगी थी। अशान्ति और सभ्यता की पिछड़ी हुई हालत से पैदा होनेवाली कठिनाइयों के होते हुए भी यह ज़िन्दगी फूट निकली और उसने अपनेको प्रकट करने के तरीक़े तलाश कर लिये। गोथिक इमारतें इसी प्रदर्शन का एक रूप हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि यही ज़िन्दगी चित्रकला, मूर्त्तिकला और हौसले के कामों से प्रेम के रूपों में प्रकट हुई।

तुमने कुछ बड़े गोथिक गिरजे देखे हैं। पता नहीं कि तुम्हें उनकी याद है या नहीं। तुमने जर्मनी में कोलोन का सुन्दर बड़ा-गिरजा देखा था। इटली के मिलान शहर में एक बहुत बढ़िया बड़ा गोथिक गिरजा है और इसी तरह फ्रान्स के

चारत्रे में भी है। लेकिन मैं सबके नाम नहीं गिना सकता। ये गोथिक बड़े-गिरजे जर्मनी, फ़ान्स, इंग्लैंड और उत्तरी इटली में फैले हुए हैं। ताज्जुब की बात है कि ख़ास रोम में गोथिक शैली की कोई मार्के की इमारत नहीं है।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों के इस महान निर्माण-काल में ग़ैर-गोथिक शैली के गिरजे भी बनाये गए, जैसे पेरिस में नात्रदेम का और शायद वेनिस में सेन्ट मार्क का। सेन्ट मार्क का गिरजा, जिसे तुमने देखा है, बिज़ैन्तीन शैली का नमूना है और इसमें पच्चीकारी का बहुत सुन्दर काम है।

श्रद्धा का ज़माना ढल गया और इसके साथ गिरजों व बड़े-गिरजों का बनना भी कम हो गया। लोगों का ध्यान दूसरी तरफ़, यानी व्यापार व रोज़गार और अपनी शहरी ज़िदगी की तरफ चला गया। गिरजाघरों के बजाय टाउन-हॉल बनने लगे। इस तरह हम पन्द्रहवीं सदी की शुरुआत से सुन्दर गोथिक टाउन-हाल या गिल्ड-हॉल (पंचायती भवन) उत्तर और पश्चिम यूरोप-भर में फैले हुए देखते हैं। लन्दन में पार्लमेण्ट की इमारतें गोथिक शैली की हैं, लेकिन मैं यह नहीं जानता कि वे कब बनीं। इतना मुझे ख़याल है कि मूल गोथिक इमारत जल गई थी और उसके बाद गोथिक-शैली पर ही दूसरी इमारत बनाई गई।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में बनाये गए ये बड़े-बड़े गोथिक गिरजे शहरों और क़स्बों में ही थे। पुराने शहर जागने लगे थे और नये पैदा हो रहे थे। सारे यूरोप का नक्शा बदल रहा था और सभी जगह शहरी ज़िदगी बढ़ोतरी पर थी। रोमन साम्राज्य के पुराने ज़माने में भूमध्य सागर के किनारे चारों तरफ़ बड़े-बड़े शहर ज़रूर थे, लेकिन जब रोम और यूनानी-रोमन साम्राज्य का पतन हुआ, तब ये शहर भी उजड़ गये। क़ुस्तुन्तुनिया के सिवा यूरोप में किसी बड़े शहर का नाम नहीं थी। हां, स्पेन की बात अलग थी, जहां अरबों की हुक़ूमत थी। एशिया में भारत, चीन और अरबी दुनिया में इस समय बड़े-बड़े शहर मौजूद थे, लेकिन यूरोप में यह बात नहीं थी। मालूम होता है, शहरों का सभ्यता और संस्कृति के साथ चोली-दामन का-सा रिश्ता है और यूरोप में रोमन व्यवस्था के पतन के बहुत दिनों बाद तक इनमें से कोई भी चीज़ नहीं थी।

लेकिन अब शहरी जीवन फिर से उठ रहा था। इटली में ख़ास तौर से नये शहर पैदा हो रहे थे। ये शहर सम्राट् और पवित्र रोमन साम्राज्य की आंखों में खटकते थे, क्योंकि ये इसके लिए तैयार नहीं थे कि उन्हें जो थोड़ी-सी स्वतन्त्रताएं मिली हुई थीं, उन्हें छीन लिया जाय। इटली वग़ैरा में ये शहर व्यापारी वर्गों और मध्यम वर्गों की बढ़ती हुई ताक़त के सबूत थे।

वेनिस, जिसका सारे एड्रियाटिक सागर पर रौब था, आज़ाद गणराज्य हो गया था। इसकी घुमावदार गलियों की नहरों में समुद्र का पानी आता-जाता

है, जिससे आज यह बड़ा सुन्दर हो गया है; लेकिन कहते हैं कि शहर बनने के पहले यहां दलदल थी। जब अतिला हूण आग लगाता और मारकाट करता ऐक्वीलिय में आया तो कुछ लोग बचकर वेनिस के दलदलों की तरफ़ भाग गये। इन्हीं लोगों ने अपने हाथों से वेनिस का शहर बनाया, और चूंकि यह पूर्वी रोमन साम्राज्य और पश्चिमी रोमन साम्राज्य के बीच में पड़ता था, इसलिए वे आज़ाद बने रहे। भारत और पूर्व के दूसरे मुल्कों के साथ वेनिस का व्यापार क़ायम हुआ और व्यापार के साथ ही दौलत भी आई। वेनिस ने अपनी जल-सेना बना ली और एक समुद्री शक्ति बन गया। यह धनवानों का गणराज्य था, जिसमें एक अध्यक्ष हुआ करता था, जो 'दोज' कहलाता था। जब नेपोलियन विजेता बनकर १७९७ ई० में वेनिस में दाखिल हुआ, तबतक यह गणराज्य क़ायम रहा। कहते हैं कि उस दिन दोज जो बहुत बुड्ढा आदमी था, यकायक मर गया। वह वेनिस का आखिरी दोज था

इटली के दूसरी तरफ़ जिनेवा था। यह भी समुद्र-यात्री लोगों का एक बड़ा व्यापारिक शहर था और वेनिस से होड़ करता था। इन दोनों शहरों के बीच में विश्वविद्यालय का शहर बोलोना था, और पीसा, वेरोना और फ्लोरेन्स थे। फ्लोरेन्स में आगे चलकर बड़े-बड़े कलाकार पैदा होनेवाले थे और यह मशहूर मेदिची घराने के शासन में तेजी से चमकनेवाला था। उत्तर इटली में मिलान का शहर माल तैयार करनेवाला महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था और दक्षिण में नेपल्स भी बढ़ रहा था।

फ्रान्स में पेरिस, जिसे ह्यू कैपे ने अपनी राजधानी बनाया था, फ़्रान्स की तरक़्क़ी के साथ तरक़्क़ी कर रहा था। पेरिस हमेशा से ही फ़्रान्स का नाड़ी-केन्द्र और हृदय रहा है। दूसरे देशों की दूसरी राजधानियां रही हैं, लेकिन पिछले एक हज़ार वर्षों में फ़्रान्स पर पेरिस का जितना प्रभाव रहा है, उतना किसी राजधानी का किसी देश पर नहीं रहा। फ़्रान्स में दूसरे शहर भी मशहूर हुए—जैसे लियों, मार्सेल्स (यह बहुत पुराना बन्दरगाह था), आर्लियन्स, बोर्दो, बोलोन, वग़ैरा।

इटली की तरह जर्मनी में भी आज़ाद शहरों की तरक़्क़ी, खास तौर पर १३वीं और १४वीं सदियों में, बहुत मार्के की है। इन शहरों की आबादी बढ़ रही थी और ज्यों-ज्यों उनकी ताक़त और दौलत बढ़ती गई, उनके हौसले भी बढ़ते गये और उन्होंने अमीर-सरदारों से लड़ना शुरू कर दिया। सम्राट् भी इनको बढ़ावा देता था, क्योंकि वह अमीर-सरदारों को दबाये रखना चाहता था। इन शहरों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए बड़ी-बड़ी व्यापारी पंचायतें और समितियां बना लीं। कभी-कभी ये समितियां या संघ अमीर-सरदारों की जवाबी समितियों के खिलाफ़ युद्ध छेड़ देते थे। इन बढ़ते हुए शहरों में से कुछके नाम ये हैं—हैम्बुर्ग, ब्रीमेन, कोलोन, फ्रैंकफ़ुर्त, म्यूनिख, डैनज़िग, न्यूरेम्बर्ग और ब्रेसलाउ।

निदरलैंड्स में (जिसे आज हॉलैंड और बेलजियम कहते हैं) एण्टवर्प, ब्रूजेज़ और घेण्ट के शहर थे; ये व्यापारी शहर थे और इनका व्यापार बराबर बढ़ रहा था। इंग्लैण्ड में भी लन्दन था, लेकिन वह विस्तार, दौलत या व्यापार में यूरोप के महत्त्वपूर्ण नगरों का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज के दो विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्रों की हैसियत से महत्वपूर्ण बनते जा रहे थे। यूरोप के पूर्व में वियेना शहर था, जो यूरोप के सबसे पुराने शहरों में में से एक है; रूस में मास्को, कीफ़ और नोवगोरोद थे।

ये नये शहर, या इनमें से ज्यादातर, पुराने ढंग के शाही नगरों से बिलकुल अलग तरह के थे। यूरोप के इन बढ़नेवाले शहरों का महत्त्व किसी सम्राट् या बादशाह की वजह से नहीं था, बल्कि उस व्यापार की वजह था, जिसकी बाग-डोर इनके हाथों में थी। इसलिए इनकी मजबूती अमीर-सरदारों से नहीं थी, बल्कि सौदागर-वर्ग से थी। ये सौदागरों के शहर थे। इसलिए शहरों की तरक़्क़ी का मतलब था, बुर्जुआ यानी मध्यमवर्ग की तरक़्क़ी। इस मध्यमवर्ग की, जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, शक्ति बराबर बढ़ती रही। यहांतक कि इसने बादशाहों और अमीर-सरदारों को चुनौती दी और उनसे अधिकार छीन लिये। लेकिन यह बात तो उस जमाने के बहुत दिनों बाद हुई है, जिसका ज़िक्र हम अभी कर रहे हैं।

मैंने अभी कहा है कि शहर और सभ्यता अक्सर साथ-साथ चलते हैं। शहरों की बढ़ोतरी के साथ विद्या भी बढ़ती है और आज़ादी की भावना भी। देहात में रहनेवाले लोग बहुत दूर-दूर बसे होते हैं और अक़्सर बहुत ज्यादा अन्ध-विश्वासी हुआ करते हैं। वे तो मानो कुदरत की दया पर ही जीवित रहते हैं। उन्हें सख्त मेहनत करनी पड़ती है और बहुत कम फ़ुरसत मिलती है। वे अपने मालिकों के हुक्म के खिलाफ़ जाने की हिम्मत नहीं कर सकते। शहरों में लोग बड़ी संख्या में साथ-साथ रहते हैं। इन्हें ज्यादा सभ्य ज़िंदगी बिताने का, विद्या हासिल करने का, चर्चा और आलोचना करने का, और विचार करने का मौक़ा मिलता है।

इस तरह राजनीतिक सत्ता, जिसके प्रतिनिधि सामन्ती अमीर-सरदार होते थे, और आध्यात्मिक सत्ता जिसका प्रतिनिधि ईसाई-संघ था, दोनों के खिलाफ़ आज़ादी की भावना बढ़ने लगी। श्रद्धा का ज़माना ढलने लगा और संशय की शुरुआत हुई। अब लोग ईसाई-संघ और पोप की सत्ता को आंखें मूंदकर मानने को तैयार नहीं थे। हमने देखा है कि सम्राट फ़्रेडरिक द्वितीय ने पोप के साथ कैसा सलूक किया था। आगे हम देखेंगे कि चुनौती देने की यह भावना किस तरह बढ़ती गई।

बारहवीं सदी के बाद विद्या की भी फिर से तरक़्क़ी होने लगी। यूरोप में पढ़े-लिखों की आम भाषा लातीनी थी और लोग ज्ञान की तलाश में एक विश्व-विद्यालय से दूसरे को जाया करते थे। दान्ते अलीघेरी, जो इटली का महान कवि

हुआ है, १२६५ ई० में पैदा हुआ था। पेत्रार्क, जो इटली का दूसरा महान् कवि था, १३०४ ई० में पैदा हुआ था। थोड़े दिन बाद इंग्लैण्ड में चॉसर हुआ, जो इस देश के शुरू के महान कवियों में गिना जाता है।

लेकिन विद्या के दुबारा पनपने से भी ज़्यादा दिलचस्प चीज़ वैज्ञानिक भावना की हलकी शुरुआत थी, जो बाद के वर्षों में यूरोप में बहुत बढ़नेवाली थी। तुम्हें याद होगा, मैंने तुम्हें बताया था कि अरबों में यह भावना थी और इन लोगों ने कुछ हद तक इसके मुताबिक़ काम भी किया था। मध्य-युगों के यूरोप में खुले दिमाग से जांच-पड़ताल करने की और प्रयोग करने की ऐसी भावना का पनपना मुश्किल था। ईसाई-संघ इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता था। लेकिन ईसाई-संघ के बावजूद भी यह भावना प्रकट होने लगी। इस ज़माने में यूरोप के जिन व्यक्तियों में वैज्ञानिक भावना थी, उनमें सबसे पहला रोजर बेकन नामक एक अंग्रेज़ था। वह ऑक्सफ़र्ड में तेरहवीं सदी में रहता था।

: ६५ :

## अफ़ग़ानों का भारत पर हमला

२३ जून, १९३२

कल तुम्हारे पत्र में ख़लल पड़ गया। जब मैं लिखने बैठा तो इस जेल को और यहां के अपने चौगिर्द को भूल गया और विचारों की तेज़ी के साथ मध्य-युगों की दुनिया में पहुंच गया। लेकिन उससे भी ज़्यादा तेज़ी के साथ मैं मौजूदा वक़्त में खींच लाया गया और मुझे, किसी क़दर तकलीफ़ के साथ, यह बात याद दिला दी गई कि मैं जेल में हूं। मुझे यह बताया गया कि ऊपर से हुक्म आया है कि मम्मी, और दिद्दाजी[1] के साथ महीने भर तक मुलाक़ात न होने पायेगी। लेकिन ऐसा क्यों किया गया, इसकी वजह मुझे नहीं बताई गई। दस दिन से वे देहरादून में ठहरी हुई हैं और मुलाक़ात की अगली बारी का इन्तज़ार कर रही हैं, पर अब उनका ठहरना बिलकुल बेकार हो गया और उन्हें वापस जाना होगा। यह है वह शराफ़त, जो हमारे साथ बरती जाती है। जो भी हो, हमें इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। ये तो रोज़मर्रा की बातें हैं। हमें यह भूल न जाना चाहिए कि क़ैदख़ाना आख़िर क़ैदख़ाना है।

यों बुरी तरह झकझोर दिये जाने के बाद मेरे लिए यह सम्भव नहीं था कि मैं वर्तमान को भूलकर बीते हुए ज़माने का खयाल करता। लेकिन रात भर के आराम के बाद मैं अब कुछ ठीक हूं; इसलिए फिर से शुरू करता हूं।

---

[1] इन्दिरा की दादी श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू।

अब हम भारत लौट आते हैं। बहुत दिनों तक हम इस देश से दूर रहे। मध्य-युगों के अंधेरे से बाहर निकलने के लिए जिस वक्त यूरोप कोशिशें कर रहा था; जब यूरोप के लोग सामन्त-प्रथा, और फैली हुई आम बद-इंतज़ामी व बुरे शासन के बोझ से पिसे जा रहे थे, जब पोप और सम्राट् एक-दूसरे से लड़ रहे थे और यूरोप के मुल्क शक्ल पकड़ते जा रहे थे, जब क्रूसेडों के बीच इस्लाम और ईसाइयत प्रभुता के लिए लड़ रहे थे, तब भारत में क्या हो रहा था ?

मध्य-युगों की शुरुआत के भारत की एक झलक हम देख चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि सुलतान महमूद ने उत्तर-पश्चिम में ग़ज़नी से उत्तर-भारत के हरे-भरे मैदानों पर झपट्टा मारा, लूटमार की और बरबादी की। महमूद के हमले, हालांकि वे बड़े भयंकर थे, भारत में कोई बड़ा या टिकनेवाला परिवर्तन पैदा नहीं कर सके। इनसे देश को, खासकर इसके उत्तरी हिस्से को, बड़ा धक्का पहुंचा और महमूद ने बहुत-सी बढ़िया इमारतें और यादगारें नष्ट कर डालीं। लेकिन उसके (ग़ज़नी) साम्राज्य में सिर्फ़ सिन्ध और पंजाब का कुछ हिस्सा ही रहा। उत्तर के बाक़ी के हिस्से बहुत जल्द ही फिर से पनप गये; दक्षिण और बंगाल तो इन हमलों से बिल्कुल अछूते रहे। महमूद के बाद डेढ़ सौ से भी ज्यादा वर्षों तक न तो मुसलमानों ने कुछ जीत हासिल की और न इस्लाम ने ही ज्यादा तरक़्क़ी की।

बारहवीं सदी के अन्त में, ११८६ ई० के करीब, उत्तर-पश्चिम से हमलों की एक नई लहर आई। अफ़ग़ानिस्तान में एक नया सरदार पैदा हुआ, जिसने ग़ज़नी पर कब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवी साम्राज्य को खतम कर दिया। उसका नाम शहाबुद्दीन ग़ोरी (अफ़ग़ानिस्तान के ग़ोर नाम के एक छोटे-से कस्बे का रहने-वाला) था। शहाबुद्दीन लाहौर पर आ धमका और उसपर कब्ज़ा करके दिल्ली पर चढ़ आया। पृथ्वीराज चौहान उस वक्त दिल्ली का राजा था; उसके झंडे के नीचे उत्तर भारत के बहुत-से सामन्त शहाबुद्दीन के खिलाफ़ लड़े और उसे बुरी तरह हरा दिया। लेकिन यह जीत थोड़े ही दिनों की थी। शहाबुद्दीन दूसरे साल बहुत बड़ी फ़ौज लेकर वापस आया और इस बार उसन पृथ्वीराज को हरा दिया और मार डाला।

पृथ्वीराज आज भी एक लोकप्रिय वीर नायक माना जाता है और उसके बारे में बहुत-सी पुरानी गाथाएं और गीत हैं। इनमें से सबसे मशहूर कथा कन्नौज के राजा जयचन्द की लड़की को उड़ा ले जाने की है। लेकिन इसकी उसे बड़ी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी। इस झगड़े में उसके सबसे ज्यादा बहादुर योद्धाओं की जानें गईं और एक शक्तिशाली राजा की दुश्मनी गले पड़ी। इसने आपसी फूट और लड़ाई के बीज बो दिये, जिससे हमला करनेवाले की जीत का रास्ता आसान हो गया।

इस तरह ११९२ ई० में शहाबुद्दीन ने पहली बार बड़ी भारी विजय हासिल

की, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत में मुसलमानों की हुकूमत क़ायम हुई। धीरे-धीरे ये हमलावर पूर्व और दक्षिण की तरफ़ फैलने लगे। आगे के १५० वर्षों के अन्दर, यानी १३४० ई० तक, मुसलमानों की हुकूमत दक्षिण के एक बड़े भाग पर फैल चुकी थी। इसके बाद दक्षिण में यह सिकुड़ने लगी। नये-नये राज्य पैदा हुए—कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू। इनमें विजयनगर का हिन्दू साम्राज्य ज़िक्र करने लायक़ है। दो सौ वर्षों तक इस्लाम ने किसी हद तक कुछ गंवाया ही। फिर जब सोलहवीं सदी के बीच में अकबर महान पैदा हुआ तब कहीं यह क़रीब-क़रीब सारे भारत में फिर फैल गया।

मुसलमान हमलावरों के भारत में आने के बहुत-से नतीजे हुए। याद रहे कि ये हमला करनेवाले अफ़ग़ान थे; अरबी या ईरानी, या पश्चिमी एशिया के सुसंस्कृत और ऊंचे दर्जे के सभ्य मुसलमान न थे। सभ्यता के लिहाज़ से अफ़ग़ान भारतीयों के मुक़ाबले में पिछड़े हुए थे, लेकिन इनमें शक्ति भरी थी और वे उस वक़्त के भारतवासियों की अपेक्षा बहुत ज़्यादा जीवटवाले थे। भारत तो बिलकुल लकीर का फ़क़ीर बना हुआ था। वह परिवर्तन और प्रगति की तरफ़ नहीं जा रहा था। वह पुराने ढंगों से चिपका हुआ था और उनमें सुधार करने की कोशिश नहीं करता था। युद्ध के तौर-तरीक़ों में भी भारत पिछड़ा हुआ था और अफ़ग़ान उससे कहीं ज़्यादा संगठित थे। इसलिए साहस और त्याग के होते हुए भी पुराना भारत मुसलमान हमलावरों से हार गया।

शुरू में ये मुसलमान बड़े ख़ूंख़ार और ज़ालिम थे। ये एक रूखे-सूखे देश से आये थे, जहां 'नज़ाक़त' की ज़्यादा क़द्र नहीं थी। इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि वे एक नये जीते हुए मुल्क में थे, और चारों तरफ़ दुश्मनों से घिरे हुए थे, जो किसी भी वक़्त विद्रोह कर सकते थे। इन लोगों को बलवे का डर बराबर बना रहता होगा और डर से आदमी अक्सर ज़ालिम और भयभीत हो जाता है। इसलिए जनता को दबाने के लिए हत्याकांड होते थे। यह किसी मुसलमान का किसी हिन्दू को उसके धर्म की वजह से क़त्ल करने का सवाल नहीं था; बल्कि एक विदेशी विजेता का हराये हुओं की कमर तोड़ने की कोशिश का सवाल था। इन ज़ुल्मी कार्रवाइयों का सबब बताने में मज़हब को क़रीब-क़रीब हमेशा ला-घसीटा जाता है, लेकिन यह सही नहीं हैं। कभी-कभी मजहब का बहाना जरूर लिया जाता था, लेकिन असली कारण राजनैतिक और समाजी थे। मध्य एशिया के लोग, जिन्होंने भारत पर हमला किया, खुद अपने वतनों में भी ख़ूंख़ार और बेरहम थे और इस्लाम क़बूल करने के बहुत पहले उनकी यही हालत थी। नया मुल्क जीतने के बाद उसको क़ब्जे में रखने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा उन्हें मालूम था, और वह था आतंक का तरीक़ा।

हम देखते हैं कि धीरे-धीरे भारत ने इन ख़ूंख़ार लड़ाकुओं को नर्म बना दिया और उन्हें सभ्यता सिखा दी। वे महसूस करने लगे कि वे विदेशी हमलावर नहीं बल्कि भारतीय हैं। उन्होंने इस देश की स्त्रियों के साथ शादियां करनी शुरू कर दीं और हमला करनेवालों व हमला भुगतनेवालों के बीच का भेद धीरे-धीरे कम होता गया।

तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि महमूद ग़ज़नवी, जिसने उत्तरभारत में सबसे ज़्यादा बरबादी मचाई और जो 'बुतपरस्तों' के ख़िलाफ़ मुसलमानों का हिमायती समझा जाता था, हिन्दू फ़ौज की एक टुकड़ी रखता था, जिसका सेनापति तिलक नामक हिन्दू था। वह तिलक और उसकी फ़ौज को ग़ज़नी ले गया और उसने बलवाई मुसलमानों को दबाने में उसका उपयोग किया। इस तरह तुम देखोगी कि नये मुल्क़ों को फ़तह करना ही महमूद का उद्देश्य था। जैसे भारत में वह अपने मुसलमान सिपाहियों की मदद से 'बुतपरस्तों' को क़त्ल करने के लिए तैयार था, ठीक वैसे ही मध्य एशिया में वह हिन्दू सिपाहियों की मदद से मुसलमानों को क़त्ल करने के लिए तैयार रहता था।

इस्लाम ने भारत को हिला डाला। इसने ऐसे समाज में, जो पूरी तरह प्रगति को रोकनेवाला बनता जा रहा था, जीवन-शक्ति और प्रगति की लहर भर दी। उत्तर भारत की हिन्दू-कला में, जिसमें गिरावट और गन्दगी आ चुकी थी और जो पुरानी नक़ल और बारीकियों से बोझिल हो चुकी थी, परिवर्तन शुरू हो गया। एक नई कला का विकास हुआ, जिसे भारतीय इस्लामी कला कह सकते हैं और जिसमें शक्ति और चेतना थी। पुराने भारतीय मिस्त्रियों को मुसलमानों के लाये हुए नये विचारों से प्रेरणा मिली। इस्लामी विश्वास और जीवन के नज़रिये की सादगी ने उस ज़माने की वास्तुकला पर असर डाला, और उसमें फिर से सादी और ऊंचे दर्जे की बनावट ला दी।

मुसलमानों के हमलों का पहला असर यह हुआ कि बहुत-से लोग दक्षिण की तरफ़ भाग गये। महमूद के हमलों और हत्याकांडों के बाद उत्तर भारत के लोग वहशियाना बेरहमी और सत्यानाश को इस्लाम के साथ जोड़ने लगे। इसलिए जब फिर हमला हुआ और रोका नहीं जा सका तो कुशल दस्तकारों और विद्वानों के झुण्ड-के-झुण्ड दक्षिण भारत में जा बसे। इससे दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति को आगे बढ़ने का बड़ा ज़ोर मिला।

दक्षिण भारत का कुछ हाल मैं पहले तुम्हें बता चुका हूं। मैंने तुम्हें बताया था कि कसे छठी सदी के बीच से लेकर दो सौ वर्षों तक पश्चिम और मध्य भारत (महाराष्ट्र देश) में चालुक्यों का बोलबाला था। ह्यूएनत्सांग उस समय के राजा पुलिकेशी द्वितीय से मिला था। बाद में राष्ट्रकूट आये, जिन्होंने चालुक्यों को हरा

दिया और आठवीं सदी से दसवीं सदी के अन्त तक, यानी २०० वर्षों तक, दक्षिण में धाक जमाये रक्खी। सिन्ध के अरबी शासकों के साथ राष्ट्रकूटों के बड़े अच्छ सम्बन्ध थे और उनके यहां बहुत अरबी व्यापारी और यात्री आते थे। ऐसे ही एक यात्री ने अपनी यात्रा का कुछ हाल लिखा है। उसने लिखा है कि राष्ट्रकूटों का उस समय (नवीं सदी) का राजा संसार के चार सबसे बड़े बादशाहों में गिना जाता था। उसकी राय में बगदाद के ख़लीफ़ा और चीन और रूस (क़ुस्तुन्तुनिया) के सम्राट् दुनिया के बाकी तीन बड़े सम्राट् थे। यह बयान दिलचस्प है, क्योंकि इससे हमको उस समय एशिया में फैली हुई राय का पता चलता है। किसी अरबी यात्री का राष्ट्रकूटों के राज्य का ख़लीफ़ा के साम्राज्य से मुक़ाबला करना, जबकि बग़दाद अपनी शान और शक्ति की चोटी पर था, इस बात का सबूत है कि महाराष्ट्र का यह राज्य बहुत बलवान और शक्तिशाली रहा होगा।

दसवीं सदी, यानी ९७३ ई०, में राष्ट्रकूटों की जगह फिर चालुक्यों ने ले ली और ये २०० से भी ज्यादा वर्षों तक, यानी ११९० ई० तक फिर राज करते रहे। एक चालुक्य राजा के बारे में एक लम्बी कविता मिलती है, जिसमें कहा गया है कि उसकी स्त्री ने उसे स्वयंवर में चुना था। आर्यों की इस पुरानी रस्म का इतने दिनों तक बना रहना एक दिलचस्प बात है।

भारत में सुदूर दक्षिण और पूर्व की तरफ़ तमिल देश था। यहां तीसरी सदी से नवीं सदी तक, यानी क़रीब ६०० वर्षों तक, पल्लवों का राज रहा और छठी सदी के मध्य से लेकर २०० वर्षों तक ये दक्षिण पर हावी रहे। तुम्हें याद होगा कि इन्हीं पल्लवों ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों में उपनिवेश बसाने के लिए बेड़े भेजे थे। पल्लव राज्य की राजधानी कांची या कांजीवरम थी। यह उस समय एक सुन्दर शहर था और बुद्धिमानी से बनाई गई इसकी नगर-योजना आज भी मार्के की चीज़ है।

पल्लवों की जगह दसवीं सदी के शुरू में लड़ाकू चोल आ गये। मैं तुम्हें राजराजा और राजेन्द्र के चोल-साम्राज्य के बारे में कुछ बता चुका हूं, जिन्होंने बड़े-बड़े जहाज़ी बेड़े बनवाये थे और लंका, बर्मा और बंगाल को जीतने के लिए निकले थे। उस समय की उनकी चुनी हुई ग्राम-पंचायतों की प्रथा के बारे में जो जानकारी मिलती है वह और भी ज्यादा दिलचस्प है। इस प्रथा की रचना नीचे से शुरू होती थी। गांवों की पंचायतें जुदे-जुदे कामों की देख-रेख के लिए बहुत-सी समितियां चुनती थीं और जिला पंचायतें भी चुनती थीं। कई जिलों को मिलाकर प्रान्त बनता था। मैंने अक्सर इन पत्रों में इस ग्राम-पंचायत प्रणाली पर ज़ोर दिया है, क्योंकि पुरानी आर्य शासन-व्यवस्था इसीके सहारे खड़ी हुई थी।

जिस समय उत्तर भारत पर अफ़ग़ानों के हमले हो रहे थे, दक्षिण भारत

में चोलों का बोलबाला था। कुछ दिनों के बाद ये कमज़ोर पड़ने लगे और एक छोटी-सी रियासत, जो पहले इनके अधीन थी, स्वाधीन हो गई और उसकी शक्ति बढ़न लगी। यह पांड्य राज्य था, जिसकी राजधानी मदुरा थी और बन्दरगाह कायल था। वेनिस का मशहूर यात्री मार्को पोलो, जिसके बारे में मैं आगे फिर कुछ लिखूंगा, दो बार कायल गया था—एक बार १२८८ ई० में, और दूसरी बार १२९३ ई० में। इसने लिखा है कि यह 'बहुत बड़ा और भव्य शहर' है, अरब और चीन से आनेवाले जहाज़ों से और व्यापार की हलचलों से भरा रहता है। मार्को खुद चीन से जहाज़ पर आया था।

मार्को ने यह भी लिखा है कि भारत के पूर्वी समुद्र तट पर महीन-से-महीन मलमलें बनती थीं, जो 'मकड़ी के जाले की तरह मालूम होती थीं'। मार्को यह भी ज़िक्र करता है कि मद्रास के उत्तर में पूर्वी किनारे के तेलुगु देश की रानी रुद्रमणि-देवी नामक एक महिला थी। इसने ४० वर्ष राज किया। मार्को ने इसकी बड़ी तारीफ़ की है।

मार्को ने एक दूसरी दिलचस्प बात हम यह बताई है कि अरब और ईरान से समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत में घोड़े खूब आया करते थे। दक्षिण की आबहवा घोड़ों की नस्ल के लिए अच्छी नहीं थी। कहते हैं, भारत पर हमला करनवाले मुसलमान इसी कारण बेहतर लड़ाकू होते थे कि उनके पास ज्यादा अच्छे घोड़े हुआ करते थे। एशिया के सबसे बढ़िया घोड़े पैदा करनेवाले इलाके मुसलमानों के ही क़ब्ज़े में थे।

इस तरह तेरहवीं सदी में, जब चोलों का पतन हुआ, तब पाण्ड्य राज्य प्रमुख तमिल शक्ति था। चौदहवीं सदी के शुरू में, यानी १३१० ई० में, मुसलमानों के हमले की नोक दक्षिण तक पहुंच गई। यह नोक पांड्य राज्य में घुस गई और वह तेज़ी के साथ ढह गया।

मैंने इस पत्र में दक्षिण भारत के इतिहास पर एक सरसरी नज़र डाली है और शायद, जो कुछ पहले कह चुका हूं, उसे दुहरा दिया है। लेकिन यह विषय कुछ चकरानेवाला है और लोग-बाग पल्लव, चालुक्य, चोल, वग़ैरा नामों की भल-भुलैयां में फंस जाते हैं। लेकिन अगर तुम सबपर एक साथ नज़र डालोगी तो इतिहास का यह मोटा ढांचा तुम्हारे दिमाग में ठीक बैठ जायगा। तुम्हें याद होगा कि दक्षिण के छोटे-से सिरे को छोड़कर अशोक सारे भारत पर, अफ़ग़ानिस्तान पर और मध्य एशिया के एक हिस्से पर राज करता था। उसके बाद दक्षिण में आन्ध्रों की ताक़त बढ़ी, जो ठेठ दक्षिण तक फैल गये और करीब ४०० वर्षों तक बने रहे। करीब उसी वक्त कुषाणों का सरहदी साम्राज्य उत्तर में फैला हुआ था। जब तैलंगी आन्ध्रों का पतन हुआ तब पूर्वी समुद्र तट पर और दक्षिण में तमिल पल्लवों का ज़ोर

हुआ और इन्होंने बहुत दिनों तक राज किया और मलेशिया में अपने उपनिवेश बसाये; ६०० वर्षों के बाद चोलों के हाथ में हुकूमत आई और इन्होंने दूर-दूर के देश जीते और अपनी जल-सेनाओं से समुद्र खूंद डाला। तीन सौ वर्ष बाद ये भी विदा हुए और पाण्ड्य राज्य आगे बढ़ा। इसकी राजधानी मदुरा सभ्यता का केन्द्र बन गई और कायल एक बड़ा बन्दरगाह बन गया, जिसका सम्बन्ध दूर-दूर देशों से रहता था।

इतनी बात तो दक्षिण और पूर्व के बारे में हुई। पश्चिम में महाराष्ट्र देश में चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटों के बाद दुबारा फिर चालुक्य हुए।

लेकिन ये तो सिर्फ़ नाम हैं। विचार करने की बात तो यह है कि ये राज्य कितने लम्बे-लम्बे कालों तक कायम रहे और सभ्यता के कितने ऊंचे दर्जे तक पहुंच गये। इन राज्यों में कोई अन्दरूनी बल था, जिसने, मालूम होता है यूरोप के राज्यों के मुक़ाबले इन्हें ज़्यादा मज़बूती और शान्ति दी। लेकिन उनका समाजी ढांचा अपनी उम्र पूरी कर चुका था और उसकी मज़बूती ख़तम हो चुकी थी। यह बहुत जल्दी, चौदहवीं सदी की शुरुआत में जब मुसलमानी सेनाएं दक्षिण की तरफ बढ़ीं, लड़खड़ाकर गिर जानेवाला था।

## : ६६ :
## दिल्ली के ग़ुलाम-वंशी बादशाह

२४ जून, १९३२

मैंने सुलतान महमूद ग़ज़नवी के बारे में तुम्हें बताया है और कवि फ़िरदौसी के बारे में भी कुछ कहा है, जिसने महमूद के कहने पर फ़ारसी में शाहनामा लिखा था। लेकिन मैंने तुमसे अभी तक महमूद के ज़माने के एक दूसरे मशहूर आदमी के बारे में कुछ नहीं कहा, जो महमूद के साथ पंजाब आया था। यह अल-बेरूनी नामक विद्वान् और विद्याव्यसनी व्यक्ति था, जो उस ज़माने के खूंख़ार और कट्टर योद्धाओं की तरह बिल्कुल नहीं था। इसने सारे भारत की यात्रा की और इस नये देश और यहां के निवासियों को समझने की कोशिश की। इसमें भारतीय नज़रिये की खूबियों को समझने की इतनी लगन थी कि इसने संस्कृत सीखी और हिन्दुओं की मुख्य पुस्तकें ख़ुद पढ़ीं। इसने भारतीय दर्शनशास्त्र का और यहां पढ़ाये जानेवाले विज्ञान और कला का अध्ययन किया। भगवद्गीता तो इसे बहुत पसन्द आई। यह दक्षिण के चोल-राज्य में गया था और वहां सिंचाई की नहरों का इतना बड़ा इन्तज़ाम देखकर अचम्भे में रह गया था। भारत में इसकी यात्राओं का लेखा पुराने ज़माने के उन महान यात्रा-ग्रन्थों में गिना जाता है, जो अभी तक मिलते हैं। विनाश, मारकाट और मज़हबी बैर की दलदल के बीच यह धीरज-

वाला विद्याव्यसनी निरीक्षण करता हुआ, सीखता हुआ और यह जानने की कोशिश करता हुआ कि सत्य कहां रहता है, अलग खड़ा नज़र आता है।

अफ़ग़ान शहाबुद्दीन के बाद, जिसने पृथ्वीराज को हराया था, दिल्ली में ग़ुलाम-वंशी बादशाह कहलानेवाले सुल्तानों का सिलसिला शुरू हुआ। उनमें सबसे पहला क़ुत्बुद्दीन था। यह शहाबुद्दीन का ग़ुलाम था। लेकिन ग़ुलाम भी ऊंचे पदों पर पहुंच सकते हैं, और वह अपनी कोशिशों से दिल्ली का पहला सुल्तान बन गया। उसके बाद होनेवाले कुछ सुल्तान भी शुरू में ग़ुलाम थे; इसीलिए यह ग़ुलाम-वंश कहलाता है। ये सब-के-सब बड़े ख़ूंख़ार थे। और इमारतों व पुस्तकालयों का विनाश और आतंक इनकी जीतों के साथ-साथ चलते थे। इन्हें इमारतें बनाने का भी शौक़ था और इनका झुकाव बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने की तरफ़ था। क़ुत्बुद्दीन ने क़ुतब-मीनार बनवानी शुरू की। यह वही बड़ी मीनार है, जो दिल्ली के पास है और जिसे तुम अच्छी तरह जानती हो। उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमश ने इस मीनार को पूरा किया और उसीके पास ही कुछ सुन्दर महराब भी बनाये, जो अभी तक मौजूद हैं। इन इमारतों का क़रीब-क़रीब सारा मसाला पुरानी भारतीय इमारतों, ख़ासकर मन्दिरों, से लिया गया था। मिस्त्री तो सारे भारत के ही थे लेकिन, जैसा मैंने तुमसे कहा है, मुसलमानों के साथ आये हुए नये विचारों का इनपर बहुत असर पड़ा था।

महमूद ग़ज़नवी से लगाकर आगे भारत पर हमला करनेवालों में हरेक अपने साथ ढेर-के-ढेर भारतीय कारीगरों और मिस्त्रियों को ले गया। इस तरह मध्य एशिया में भारतीय वास्तुकला का असर फैल गया।

बिहार और बंगाल को अफ़ग़ानों ने बड़ी आसानी से जीत लिया। वे बड़े दिलेर थे और उन्होंने अचानक हमला करके बचाव करनेवालों को सम्भलने का ज़रा भी मौक़ा नहीं दिया। दिलेरी अक्सर कामयाब हो जाती है। बंगाल की यह विजय हमारे लिए उतने ही अचम्भे की बात है, जितनी अमेरिका में कोर्तीज़ और पिज़ारो की जीतें।

इल्तुतमश के ज़माने में ही, यानी १२११ और १२३६ ई० के बीच में, भारत की सरहद पर एक बड़ा भयंकर बादल उठा। यह मंगोलों का दल था, जिसका नेता चंग़ेज़ख़ां था। चंग़ेज़ख़ां अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ, ठेठ सिन्ध नदी तक आ गया लेकिन यहीं रुक गया। भारत इससे बच गया। इसके क़रीब २०० वर्ष बाद इसीके वंश का एक दूसरा आदमी—तैमूर भारत में मारकाट और बरबादी लेकर आया। हालांकि चंगेज़ यहां नहीं आया, लेकिन बहुत-से मंगोलों ने भारत पर छापा मारने और ठेठ लाहौर तक भी आ धमकने की आदत-सी डाल ली। कभी-कभी

ये आतंक फैलाते थे और सुल्तानों तक को भी इतना डरा देते थे कि वे रिश्वत देकर उनसे अपना पिंड छुड़ाते थे। इनमें से हज़ारों मंगोल पंजाब में ही बस गये।

सुल्तानों में रज़िया नाम की एक औरत भी हुई है। यह इल्तुतमश की बेटी थी। मालूम होता है कि यह बड़ी बहादुर और क़ाबिल औरत थी; लेकिन अपने ख़ूंख़ार अफ़ग़ान अमीर-सरदारों से, और पंजाब पर हमला करनेवाले उनसे भी ज़्यादा ख़ूंख़ार मंगोलों से, बहुत परेशान रहती थी।

ग़ुलाम बादशाहों का सिलसिला १२९० ई० म ख़तम हो गया। इसके बाद अलाउद्दीन ख़िलजी आया, जिसने राजगद्दी पर क़ब्ज़ा करन का यह नर्म तरीक़ा अपनाया कि अपने चचा को, जो उसका ससुर भी था, मौत के घाट उतार दिया। और फिर उन सब मुसलमान अमीर-सरदारों को भी मरवा डाला, जिनकी वफ़ादारी में उसे शक था। मंगोलों की साज़िश से डरकर उसने यह हुक्म निकाला कि उसके राज्य में जितने भी मंगोल हों, सब क़त्ल कर दिये जायं ताकि "उस नस्ल का एक भी आदमी दुनिया के पर्दे पर ज़िन्दा न बचे।" इस तरह बीस-तीस हज़ार मंगोल, जिनमें ज़्यादातर तो बिल्कुल बेगुनाह ही थे, क़त्ल कर डाले गए।

बार-बार इस तरह के हत्याकांडों का ज़िक्र करना मुझे अच्छा नहीं लगता, और इतिहास की ऊंची नज़र में इनका कोई ज़्यादा महत्व भी नहीं है। फिर भी इनसे यह समझने में मदद मिलती है कि उस वक़्त उत्तर भारत की हालत न तो निरापद थी और न सभ्य। कुछ हद तक बर्बरता की तरफ़ वापसी थी। एक तरफ़ तो इस्लाम भारत में कुछ प्रगतिशील तत्व लेकर आया, लेकिन दूसरी तरफ़ मुस्लिम अफ़ग़ान बर्बरता का बीज लेकर आये। बहुत-से लोग इन दोनों चीज़ों को मिला देते हैं, लेकिन तुम्हें इन दोनों का फ़र्क ध्यान में रखना चाहिए।

अलाउद्दीन दूसरों की तरह तास्सुबी था, लेकिन मालूम होता है कि भारत के इन मध्य-एशियाई शासकों का नज़रिया अब बदल रहा था। वे अब भारत को अपना वतन समझन लग गये थे। अब वे यहां अजनबी नहीं रहे थे। अलाउद्दीन ने एक हिन्दू महिला से शादी की और उसके पुत्र ने भी ऐसा ही किया। मालूम होता है अलाउद्दीन के राज में थोड़ी-बहुत कुशल शासन-व्यवस्था कायम करने की कोशिश की गई। फ़ौजों के आने-जाने के लिए सड़कें ख़ास तौर से दुरुस्त रक्खी जाती थीं और अलाउद्दीन अपनी फ़ौजों पर ख़ास ध्यान देता था। उसने अपनी फ़ौज को बहुत ताक़तवर बना लिया और उसकी मदद से गुजरात और दक्षिण के बहुत बड़े हिस्से को जीत लिया। उसका सेनापति दक्षिण से बेशुमार दौलत अपने साथ लेकर लौटा। कहते हैं, वह ५०,००० मन सोना, ढेरों मोती और जवाहरात, २०,००० घोड़े और ३१२ हाथी लेकर आया था।

वीर-गाथाओं व वीर-धर्म की भमि चित्तौड़ में अब भी पहले जैसा साहस

भरा था, लेकिन उसका ढंग वही पुराना था और वह युद्ध करने के उन्हीं तरीक़ों से चिपटा हुआ था, जो बेकार हो चुके थे, इसलिए अलाउद्दीन की कुशल सेना ने उसे कुचल दिया। १३०३ ई० में चित्तौड़ लूट लिया गया। लेकिन ऐसा होने से पहले ही क़िले के पुरुषों और स्त्रियों ने पुराने रिवाज का पालन करके भयंकर जौहर-व्रत कर डाला। इसके अनुसार जब हार सामने हो और दूसरा कोई चारा न रहा हो, तो आख़िरी उपाय यही समझा जाता था कि पुरुषों को मैदान में आकर लड़ते हुए मर जाना और स्त्रियों को चिता में भस्म हो जाना बेहतर है। यह चीज़ बड़ी भयंकर थी, ख़ासकर स्त्रियों के लिए। अच्छा तो यह था कि स्त्रियां भी तलवार हाथ में लेकर निकल पड़तीं और रणक्षेत्र में काम आतीं। लेकिन किसी भी सूरत में ग़ुलामी और ज़िल्लत से मौत बेहतर थी, क्योंकि उस ज़माने में हार का मतलब यही होता था।

इस बीच भारत के रहनेवाले, यानी हिन्दू धीरे-धीरे मुसलमान बनते जा रहे थे। पर तेज़ी से नहीं। कुछ लोगों ने अपना मज़हब इसलिए बदल डाला कि इस्लाम उन्हें अच्छा लगा; कुछ लोगों ने डर के मारे ऐसा किया, और कुछने इसलिए कि जीतनेवाले पक्ष की तरफ़ रहने की इच्छा मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन इस धर्म-परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण आर्थिक था। ग़ैर-मुस्लिमों को एक ख़ास टैक्स देना पड़ता था, जो हर आदमी पर लगता था और जज़िया कहलाता था। ग़रीबों के ऊपर यह भारी बोझ था। बहुत-से तो सिर्फ़ इससे बचने के लिए अपना मज़हब बदलने को राज़ी हो जाते थे। ऊंचे वर्ग के लोगों में दरबारी कृपा और ऊंचे ओहदे हासिल करने की लालसा मसलमान बनने के लिए ज़बरदस्त प्रेरणा थी। अलाउद्दीन का महान् सेनापति मलिक काफ़ूर, जिसने दक्षिण को जीता था, हिन्दू से मुसलमान हुआ था।

मैं तुम्हें दिल्ली के एक दूसरे सुल्तान का हाल बताना चाहता हूं। यह बड़ा ही अजीब व्यक्ति था। इसका नाम मुहम्मद-बिन-तुग़लक था। यह फ़ारसी और अरबी का बहुत बड़ा आलिम और कामिल था। इसने फ़लसफ़ा (दर्शनशास्त्र) और मन्तक़ (तर्कशास्त्र) का अध्ययन किया था और यनानी दर्शन का भी। इसे गणित, विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र का भी कुछ ज्ञान था। यह बहादुर आदमी था और अपने ज़माने के लिहाज़ से इल्मियत का अनोखा नमूना और एक चमत्कार ही था। लेकिन आखिर फिर भी यह नमना बेरहमी का दानव था और मालूम होता है कि बिल्कुल पागल था! वह अपने ही पिता की हत्या करके तख़्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के बारे में उसके विचार बड़े ही अजीब थे। और उनका नाकामयाब होना क़ुदरती बात थी। लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड़ डालने

का फ़ैसला किया कि शहर के कुछ लोगों ने गुमनाम पर्चों में उसकी नीति की आलोचना करने की गुस्ताख़ी की थी। उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से बदल कर दक्षिण के देवगिरि को ले जाई जाय। इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रक्खा। मकान-मालिकों को कुछ हरजाना दिया गया, और इसके बाद हरेक आदमी को, बिना किसी लिहाज़ के, यह हुक्म दिया गया कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड़ दे।

बहुत-से लोग शहर छोड़कर चल दिये। कुछ छिप भी गये। जब इनका पता चला तो इन्हें बेरहमी के साथ सज़ा दी गई, हालांकि इनमें से एक अन्धा था और दूसरा लकवे का मारा था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस दिन का था। इस कूच में लोगों की क्या भयंकर हालत हुई होगी और इनमें से कितने रास्ते में ही ख़तम हो गये होंगे, इसका ख़याल तो करो!

और दिल्ली शहर का क्या हुआ? दो वर्ष बाद मुहम्मद-बिन-तुग़लक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा, लेकिन कामयाब न हो सका। एक आंखों देखनेवाले के शब्दों में उसने इसे 'बिल्कुल वीराना' बना दिया था। किसी बाग़ को एकदम बयाबान किया जा सकता है, लेकिन बयाबान को फिर बाग़ बनाना आसान नहीं होता। अफ़्रीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुलतान के साथ था, दिल्ली वापस आया और उसने लिखा है कि "यह शहर दुनिया के सबसे बड़े शहरों में से एक है। जब हम इस शहर में दाख़िल हुए, हमने इसे उस हालत में पाया, जैसा बयान किया गया है। यह बिल्कुल ख़ाली और उजड़ा हुआ था और आबादी बहुत कम थी।" दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे में लिखा है कि यह आठ या दस मील में फैला हुआ था, लेकिन "सब कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी इतनी पूरी थी कि शहर की इमारतों, महलों और गलियों में कोई बिल्ली या कुत्ता तक बाक़ी नहीं रहा था।"

यह दीवाना पच्चीस वर्ष तक, यानी १३५१ ई० तक सुलतान बनकर हुकूमत करता रहा। यह देखकर हैरत होती है कि जनता अपने शासकों की कितनी बदमाशी, ज़ुल्म और अयोग्यता को बर्दाश्त कर सकती है! लेकिन जनता की ताबेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुग़लक अपने साम्राज्य को तहस-नहस कर डालने में सफल रहा। उसकी पागलपन की योजनाओं ने और भारी टैक्सों ने देश को बर्बाद कर दिया। अकाल पड़े और अन्त में बलवे होने लगे। उसकी ज़िन्दगी में ही, १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बड़े-बड़े हिस्से आज़ाद हो गये। बंगाल आज़ाद हो गया। दक्षिण में भी कई राज्य पैदा हो गये। इनमें विजयनगर का हिन्दू राज्य मुख्य था, जो १३३६ ई० में क़ायम हुआ और दस वर्ष के अन्दर ही दक्षिण में एक बड़ी शक्ति बन गया।

दिल्ली के पास अब भी तुम तुग़लक़ाबाद के खंडहर देख सकती हो। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

: ६७ :

# चंगेजखां एशिया और यूरोप को हिला डालता है

२५ जून, १९३२

हाल के अपने कई पत्रों में मैंने मंगोलों का ज़िक्र किया है और यह बताया है कि उन्होंने कितना आतंक फैलाया और कितनी बर्बादी मचाई। चीन में हमने मंगोलों के आने के बाद ही सुंग राजवंश का किस्सा बंद कर दिया था। पश्चिम एशिया में भी हमारा उनका मुक़ाबला होता है और पुरानी व्यवस्था वहीं ख़तम हो जाती है। भारत में ग़ुलाम बादशाह मंगोलों से बच गये, लेकिन फिर भी इन्होंने यहां काफी हलचल पैदा कर दी थी। मंगोलिया के इन घुमक्कड़ों ने मानो सारे एशिया को पस्त कर डाला था। सिर्फ़ एशिया को ही नहीं बल्कि आधे यूरोप को भी। ये अद्भुत लोग कौन थे, जो एकदम फट पड़े और जिन्होंने दुनिया को हैरत में डाल दिया? शक, हूण, तुर्क और तातार, सभी मध्य एशिया के थे और इतिहास में नाम पैदा कर चुके थे। इनमें कुछ क़ौमें उस वक्त भी मशहूर थीं, जैसे पश्चिमी एशिया में सेलजूक़ तुर्क, उत्तरी चीन वग़ैरा में तातारी। लेकिन मंगोलों ने अभी तक कुछ ज़्यादा नहीं किया था। पश्चिमी एशिया में शायद इनके बारे में कोई ज़्यादा जानता भी नहीं था। इनमें मंगोलिया के कई अनजान कबीलों के लोग थे और 'किन' तातारियों के अधीन थे, जिन्होंने उत्तरी चीन जीता था।

मालूम होता था कि इनमें एकदम ही कहीं से शक्ति आ गई। इनके बिखरे हुए कबीले आपस में मिल गये और उन्होंने अपना एक नेता—ख़ानमहान्—चुना और उसकी वफादारी और हुक्मबरदारी की क़सम खाई। उसके नेतृत्व में इन्होंने पेकिंग पर धावा मारा और 'किन' साम्राज्य को ख़तम कर दिया। ये लोग पश्चिम की ओर भी बढ़े और रास्ते में जितने बड़े-बड़े राज्य मिले, सभीका सफ़ाया कर डाला। ये रूस पहुंचे और उसे परास्त कर दिया। बाद में इन लोगों ने बग़दाद और उसके साम्राज्य का भी नामोनिशान मिटा दिया और ठेठ पोलैण्ड और मध्य-यूरोप तक जा पहुंचे। इनको रोकनेवाला कोई नहीं था। भारत इनसे बच गया यह सिर्फ़ संयोग की बात थी। ज्वालामुखी-जैसे इस विस्फोट पर यूरोप-एशिया के लोगों को जो हैरत हुई होगी, उसकी कल्पना हम अच्छी तरह कर सकते हैं। ऐसा लगता था कि यह भूकम्प की तरह की कोई महान् कुदरती आफ़त थी, जिसके सामने मनुष्य कुछ नहीं कर सकता था।

मंगोलिया के ये घुमक्कड़ मर्द और औरतें बड़े मज़बूत थे। तकलीफ़ें झेलने की इन्हें आदत थी और ये लोग उत्तर एशिया के लम्बे-चौड़ मैदानों में तम्बुओं में रहते थे। लेकिन इनकी मज़बूती और कठोर साधना इनके ज़्यादा काम नहीं आती अगर इन्होंने एक सरदार न पैदा किया होता, जो बड़ा ही अनोखा व्यक्ति था। यह वही व्यक्ति है, जो चंगेज़खां के नाम से मशहूर है। यह ११५५ ई० में पैदा हुआ था और इसका असली नाम चिङ-हिर-हान था। इसका पिता येसूगेइ-बग़ातुर इसको बच्चा ही छोड़कर मर गया था। 'बग़ातुर' मंगोल अमीर-सरदारों का लोक-प्रिय नाम था। इसका अर्थ है 'वीर' और मेरा ख़याल है कि उर्दू का 'बहादुर' शब्द इसीसे निकला है।

हालांकि चंगेज़ १० वर्ष का छोटा लड़का ही था और उसका कोई मदद-गार नहीं था, फिर भी वह ज़ोर मारता चला गया, और आख़िर में कामयाब हुआ। वह क़दम-क़दम आगे बढ़ता गया, यहांतक कि अन्त में मंगोलों की बड़ी सभा 'कुरुलतइ' ने बैठक करके उसे अपना 'ख़ान महान्' या 'काग़न' या सम्राट् चुना। इससे कुछ साल पहले उसे चंगेज़ का नाम दिया जा चुका था।

'मंगोलों का गुप्त इतिहास' पुस्तक में, जो तेरहवीं सदी में लिखी गई थी और चौदहवीं सदी में चीन में प्रकाशित हुई, इस चुनाव का हाल इस तरह से बयान किया हुआ है :

> "इस तरह 'चीता' नामक साल में, जब नमदे के तम्बूओं में रहनेवाली सारी पीढ़ियां एक सत्ता की मातहती में मिलकर एक हो गईं, तब अनान नदी के निकास पर वे सब जमा हुए और 'नौ पैरों' पर अपने 'सफ़ेद झंडे' को खड़ा करके उन्होंने चंगेज को 'काग़न' की उपाधि प्रदान की।"

चंगेज़ जब 'ख़ान महान्' या 'काग़न' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो चुकी थी। यह जवानी की उम्र नहीं थी और इस उम्र पर पहुंचकर ज़्यादातर आदमी चैन और आराम चाहते हैं। लेकिन उसके लिए तो यह विजय-यात्रा के जीवन की शुरुआत थी। यह ग़ौर करने की बात है; क्योंकि ज़्यादातर महान विजेताओं ने मुल्कों को जीतने का काम जवानी में ही पूरा किया है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि चंगेज़ ने जवानी के जोश में एशिया को नहीं रौंद डाला था। वह अधेड़ उम्र का एक होशियार और सावधान आदमी था और हर बड़े काम को हाथ में लेने से पहले उसपर विचार और उसकी तैयारी कर लेता था।

मंगोल लोग घुमक्कड़ थे। शहरों और शहरों के रंग-ढंग से भी उन्हें नफ़रत थी। बहुत लोग समझते हैं कि चूंकि वे घुमक्कड़ थे, इसलिए जंगली रहे होंगे। लेकिन यह ख़याल ग़लत है। शहर की बहुत-सी कलाओं का उन्हें अलबत्ता ज्ञान नहीं था;

लेकिन उन्होंने ज़िन्दगी का अपना एक अलग तरीक़ा ढाल लिया था और उनका संगठन बहुत गुंथा हुआ था। लड़ाई के मैदान में अगर उन्होंने बड़ी-बड़ी जीतें हासिल कीं तो संख्या में ज्यादा होने की वजह से नहीं, बल्कि अपने अनुशासन और संगठन की वजह से। और इसका सबसे बड़ी वजह तो यह थी कि उन्हें चंगेज़ जैसा कामिल कप्तान मिला था। इसमें कोई शक़ नहीं कि चंगेज़ इतिहास का सबसे बड़ा सैनिक प्रतिभावाला व्यक्ति और सैनिक नेता था। सिकन्दर और सीज़र इसके सामने तुच्छ नज़र आते हैं। चंगेज़ न सिर्फ़ खुद बहुत बड़ा सेनापति था, बल्कि उसने अपने बहुत-से फ़ौजी अफ़सरों को सिखाकर होशियार नेता बना दिया था। अपने वतनों से हज़ारों मील दूर होते हुए, दुश्मनों और विरोधी आबादी से घिरे रहते हुए भी, वे अपने से ज्यादा संख्या की फ़ौजों के मुक़ाबले में जीत की लड़ाइयां लड़ा करते थे।

जब चंगेज़ एशिया और यूरोप में डग भरता हुआ आया, तब इन देशों का क्या नक़्शा था ? मंगोलिया के पूर्व और दक्षिण में चीन दो टुकड़ों में बंटा हुआ था। दक्षिण में सुंग-साम्राज्य था, जहां दक्षिणी सुंगों का राज था; उत्तर में 'किन' या 'सुनहले तातारियों' का साम्राज्य था, जिनकी राजधानी पेकिंग थी और जिन्होंने सुंगों को निकाल बाहर किया था; पश्चिम में गोबी के रेगिस्तान पर, और उसके परे, हिसिया या तांगतों का साम्राज्य था। यह भी घुमक्कड़ों का राज्य था। भारत में हम देखते हैं कि दिल्ली में ग़ुलाम बादशाहों की हुकूमत थी। ईरान और इराक़ में ठेठ भारत की सरहद तक फैला हुआ खारज़म या खीवा का महान् मुसलमानी राज्य था, जिसकी राजधानी समरक़न्द थी। इसके पश्चिम में सेलजूक थे और मिस्र और फ़िलस्तीन में सलादीन के उत्तराधिकारियों का राज था। बग़दाद के चारों ओर, सेलजूकों की निगरानी में ख़लीफ़ा राज करता था।

यह वह ज़माना था जब बाद के क्रूसेड चल रहे थे। होहेनस्ताफ़ेन वंश का फ़ेडरिक द्वितीय, जिसे 'दुनिया का आश्चर्य' कहा गया है, पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् था। इंग्लैंड में मैग्नाकार्टा और उसके बाद की घटनाओं का ज़माना था। फ़ान्स में लुई नवम राज करता था, जो क्रूसेडों में गया था और जिसे वहां तुर्कों ने पकड़ लिया था और मुक्ति-धन लेकर छोड़ा था। पूर्वी यूरोप में रूस था, जो दो राज्यों में बंटा हुआ था—उत्तर में नोवगोरोद और दक्षिण में कीफ़। रूस और रोमन साम्राज्य के बीच में हंगरी और पोलैंड थे। बिज़ेन्तीन साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के आसपास अभी तक बना हुआ था।

चंगेज़ ने बड़ी सावधानी के साथ अपनी विजय-यात्रा की तैयारियां कीं। उसने अपनी फ़ौज को शिक्षित किया। सबसे ज्यादा इसने अपने घोड़ों को और उनके मरते ही उनकी जगह लेनेवाले दूसरे घोड़ों को शिक्षित किया था। क्योंकि

घुमक्कड़ों के लिए घोड़ों से ज्यादा महत्व की चीज़ कोई नहीं है। इन सब तैयारियों के बाद उसने पूर्व की तरफ़ कूच किया और उत्तर चीन व मंचूरिया के 'किन' साम्राज्य को क़रीब-क़रीब ख़तम कर दिया और पेकिंग पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि दक्षिणी सुंगों को उसने दोस्त बना लिया था। इन सुंगों ने 'किन' लोगों के ख़िलाफ़ उसकी मदद भी की थी। बेचारे यह नहीं समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चंगेज़ ने बाद में तांगतों को भी जीत लिया।

इन विजयों के बाद चंगेज़ आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर धावा मारने की उसकी इच्छा नहीं थी। वह ख़ारज़म के शाह से दोस्ती का सम्बन्ध रखना चाहता था, लेकिन यह हो नहीं पाया। एक पुरानी लातीनी कहावत है, जिसका मतलब है कि देवता जिसे नष्ट करना चाहते हैं पहले उसे दीवाना बना देते है।[1] ख़ारज़म का बादशाह अपनी ही बर्बादी पर तुला हुआ था और इसे पूरा करने के लिए उसने भरसक कोशिश की। उसके एक सूबे के हाकिम ने मंगोल सौदागरों को क़त्ल कर दिया। चंगेज़ फिर भी सुलह चाहता था और उसने यह संदेश लेकर राजदूत भेजे कि उस हाक़िम को सज़ा दी जाय। लेकिन बेवकूफ़ शाह इतना घमंडी था और अपनेको इतना बड़ा समझता था कि उसने इन राजदूतों का अपमान किया और उनको मरवा डाला। चंगेज़ इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता था, लेकिन उसने जल्दबाज़ी से काम नहीं लिया। उसने सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ़ अपनी फ़ौज के साथ कूच कर दिया।

इस कूच ने, जो १२१९ ई० में शुरू हुई, एशिया की, और कुछ हद तक यूरोप की आंखें इस नये आतंक की तरफ़ खोल दीं, जो बड़े भारी बेलन की तरह शहरों और करोड़ों आदमियों को बेरहमी के साथ कुचलता हुआ चला आ रहा था। ख़ार-ज़म का साम्राज्य मिट गया। बुख़ारा का बड़ा शहर, जिसमें बहुत-से महल थे और दस लाख से ज्यादा आबादी थी, जलाकर राख कर दिया गया। राजधानी समरक़न्द नष्ट कर दी गई और उसकी दस लाख की आबादी में से सिर्फ़ ५० हज़ार जिन्दा बचे। हिरात, बलख़ और दूसरे बहुत-से गुलज़ार शहर नष्ट कर दिये गए। करोड़ों आदमी मार डाले गए। जो कलाएं और दस्तकारियां वर्षों से मध्य-एशिया में फूल-फल रही थीं, ग़ायब हो गईं। ईरान और मध्य एशिया में सभ्यता की ज़िन्दगी का ख़ातमा-सा हो गया। जहां से चंगेज़ गुज़रा, वहां वीराना हो गया।

---

[1] तुलसीदास ने भी कहा है—

'जाको प्रभु दारुन दुख देहीं, ताको मति पहिले हर लेहीं।'

खारज़म (ख़ीवा) के बादशाह का बेटा जलालुद्दीन इस तूफ़ान के ख़िलाफ़ बहादुरी से लड़ा। वह पीछे हटते-हटते सिन्ध नदी तक चला आया और जब यहां भी इसपर ज़ोर का दबाव पड़ा तो कहते हैं कि वह घोड़े पर बैठा हुआ, ३० फ़ुट नीचे सिन्ध नदी में कूद पड़ा और तैरकर इस पार आ गया। उसे दिल्ली के दरबार में आसरा मिला। चंगेज़ ने वहांतक उसका पीछा करना फ़िज़ूल समझा।

सेलजूक तुर्कों का और बग़दाद का सौभाग्य था कि चंगेज़ ने इनको बिना छेड़े छोड़ दिया और वह उत्तर में रूस की तरफ़ बढ़ गया। उसने कीफ़ के ग्रैंड ड्यूक को हराकर क़ैद कर लिया। फिर वह हिसियों या तांगतों के बलवे को दबाने के लिए पूर्व की तरफ़ लौट गया।

चंगेज़ १२२७ ई० में ७२ वर्ष की उम्र में मर गया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काला सागर से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। और वह अब भी ज़ोरदार था और बढ़ रहा था। चंगेज़ की राजधानी अभी तक मंगोलिया में क़रा-क़ुरम नामक छोटा-सा क़स्बा थी। घुमक्कड़ होते हुए भी चंगेज़ बड़ा ही कुशल संगठन करनेवाला था और उसने बुद्धिमानी के साथ अपनी मदद के लिए योग्य मंत्री मुक़र्रर कर रखे थे। इतनी तेज़ी के साथ जीता हुआ उसका साम्राज्य उसके मरने पर टूटा नहीं।

अरबी और ईरानी इतिहास-लेखकों की नज़र में चंगेज़ एक दानव है और 'ख़ुदा का क़हर' कहा गया है। उसे बड़ा ज़ालिम आदमी बताया गया है। इसमें शक़ नहीं कि वह बड़ा ज़ालिम था, लेकिन उसके ज़माने के दूसरे बहुत-से शासकों में और उसमें कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं था। भारत में अफ़गान बादशाह कुछ छोटे पैमाने पर, इसी तरह के थे। जब ग़ज़नी पर अफ़ग़ानों ने ११५० ई० में क़ब्ज़ा किया तो पुराने ख़ून का बदला लेने के लिए उस शहर को लूटा और जला दिया। सात दिन तक "लूट-मार बर्बादी और मारकाट जारी रही। जो मर्द मिला, उसे क़त्ल कर दिया गया और तमाम स्त्रियों और बच्चों को क़ैद कर लिया गया। महमूदी बादशाहों (यानी सुलतान महमूद के वंशजों) के महल और इमारतें, जिनकी दुनिया में कोई होड़ नहीं थी, नष्ट कर दिये गए।" मुसलमानों का अपने मुसलमान-बिरादरों के साथ यह बर्ताव था! इस बर्ताव के, और यहां भारत में जो-कुछ अफ़ग़ान बाद-शाहों ने किया उसके, और मध्य एशिया और ईरान में चंगेज़ की सत्यानाशी कार्र-वाई के दर्जों में कोई फ़र्क़ नहीं था। चंगेज़ ख़ारज़म से ख़ास तौर पर नाराज़ था, क्योंकि शाह ने उसके राजदूत को क़त्ल करवा दिया था। उसके लिए तो यह ख़ूनी-झगड़ा जैसा था। और दूसरी जगहों पर भी चंगेज़ ने ख़ूब सत्यानाश किया था, लेकिन शायद उतना नहीं जितना मध्य एशिया में।

शहरों को यों बर्बाद करने के पीछे चंगेज़ की एक और भी नीयत थी। उसमें

घुमक्कड़ों की तबीयत थी और वह क़स्बों और शहरों से नफ़रत करता था। वह खुले मैदानों में रहना पसन्द करता था। एक दफ़ा तो चंगेज़ के मन में यह विचार आया कि चीन के सारे शहर बर्बाद कर दिये जायं तो अच्छा होगा! लेकिन खुश-क़िस्मती कहिये कि उसने ऐसा किया नहीं। उसका विचार था कि सभ्यता को घुमक्कड़-ज़िन्दगी से मिला दिया जाय। लेकिन न तो यह सम्भव था और न है।

चंगेज़खां के नाम से तुम्हें शायद यह ख़याल हो कि वह मुसलमान था; लेकिन वह मुसलमान नहीं था। यह एक मंगोल नाम है। मज़हब के मामले में चंगेज़ बड़ा उदार था। उसका अपना मज़हब अगर कुछ था तो शमा-धर्म था, जिसमें सदा रहनेवाले नीले आसमान की उपासना थी। अक्सर वह चीन के ताओ ज्ञानियों से ख़ूब बात किया करता था। लेकिन वह ख़ुद शमा-धर्म पर ही क़ायम रहा और जब कठिनाई में होता तब आसमान का ही आसरा लिया करता था।

तुमने इस पत्र के शुरू में पढ़ा होगा कि चंगेज़ को मंगोलों की सभा ने ख़ान महान् 'चुना' था। यह सभा असल मे सामन्तों की सभा थी, जनता की नहीं। यों चंगेज़ इस फ़िरके का सामन्ती सरदार था।

वह पढ़ा-लिखा नहीं था, और उसके तमाम अनुयायी भी उसीकी तरह थे। शायद वह बहुत दिनों तक यह भी नहीं जानता था कि लिखने जैसी भी कोई चीज़ होती है। संदेश ज़बानी भेजे जाते थे और आम तौर पर छन्द में रूपकों या कहावतों के रूप में होते थे। ताज्जुब तो यह है कि जबानी संदेशों से किस तरह इतने बड़े साम्राज्य का कारोबार चलाया जाता था। जब चंगेज़ को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज़ होती है, तो उसने फौरन ही महसूस कर लिया कि यह बड़ी फ़ायदेमन्द चीज़ है और उसने अपने पुत्रों और मुख्य सरदारों को इसे सीखने का हुक्म दिया। उसने यह भी हुक्म दिया था कि मंगोलों का पुराना रिवाजी क़ानून और उसकी अपनी उक्तियां भी लिख डाली जायं। मुराद यह थी कि यह रिवाजी क़ानून सदा-सर्वदा के लिए 'कभी न बदलनेवाला क़ानून' है, और कोई इसे तोड़ नहीं सकता। बादशाह के लिए भी इसका पालन करना ज़रूरी था। लेकिन यह 'कभी न बदलने वाला क़ानून' अब खो गया है और आजकल के मंगोलों को न तो इसकी कोई याद है और न इसकी कोई परम्परा ही बाक़ी रही है।

हरेक देश और हरेक मज़हब का पुराना रिवाजी क़ानून और लिखित क़ानून होता है और हरेक समझता है कि यही 'कभी न बदलनेवाला कानून' हमेशा क़ायम रहेगा। कभी-कभी इसे ईश्वरीय ज्ञान कहा जाता है और जो ज्ञान ईश्वर ने भेजा है, उसे बदलनेवाला या क्षणिक नहीं माना जा सकता। लेकिन क़ानन तो तत्कालीन परिस्थिति के माफ़िक़ बनाये जाते हैं और उनकी मंशा यह होती है कि उनकी मदद से हम अपनी उन्नति कर सकें। अगर परिस्थिति बदल जाती है तो पुराने क़ानून उसमें

कैसे फिट हो सकते हैं ? परिस्थिति के साथ क़ानूनों में भी परिवर्तन होना चाहिए; वरना ये लोहे की ज़ंजीरों की तरह हमें जकड़ रखते हैं और दुनिया आगे बढ़ती चली जाती है। कोई भी क़ानून अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। यह ज़रूरी है कि उसका आधार ज्ञान पर हो, और ज्यों-ज्यों ज्ञान की उन्नति हो त्यों-त्यों क़ानून को भी उसके साथ उन्नति करनी चाहिए।

चंगेज़खां के बारे में मैंने तुम्हें जितनी तफ़सील और जितनी बातें बताई हैं उतनी शायद ज़रूरी नहीं थीं। लेकिन इस आदमी ने मुझे बहुत मोहित किया है। कितने ताज्जुब की बात है कि एक खानाबदोश जंगली क़ौम का यह खूंख़ार, क्रूर और हिंसक सामन्ती सरदार मेरे-जैसे शान्तिप्रिय, अहिंसक और नर्म आदमी को मोहित करे, जो शहरों में रहनेवाला और सामन्ती चीज़ से नफ़रत करनेवाला है!

## : ६८ :
## मंगोलों का दुनिया पर छा जाना

२६ जून, १९३२

चंगेज़खां की मृत्यु के बाद उसका लड़का ओग़ोतइ 'ख़ान महान्' हुआ। चंगेज़ और उस ज़माने के मंगोलों के मुक़ाबले में वह दयावान और शान्तिप्रिय स्वभाव का था। वह कहा करता था: "हमारे काग़न चंगेज़ ने बड़ी मेहनत से हमारे शाही ख़ानदान को बनाया है। अब वक्त आ गया है कि हम अपने लोगों को चैन व खुशहाली दें और उनकी मुसीबतों को कम करें।" ओग़ोतइ किस तरह सामन्ती सरदार की हैसियत से अपने फ़िरक़े की बात सोचता था यह ध्यान देने की चीज़ है।

लेकिन विजय का युग ख़तम नहीं हुआ था और मंगोलों में अभी तक शक्ति उबल रही थी। महान् सेनापति सबूतई के नेतृत्व में यूरोप पर दूसरी बार हमला हुआ। यूरोप की सेनाएं और सेनापति, सबूतई के मुक़ाबले में कुछ नहीं थे। शत्रु-देशों के हाल-चाल लाने के लिए जासूस और हरकारे भेजकर वह सावधानी के साथ ज़मीन तैयार कर लेता था। इसलिए आगे बढ़ने से पहले उसे उन देशों की राजनैतिक और फ़ौजी हैसियत की पूरी जानकारी रहती थी। रण-क्षेत्र में वह युद्ध-कला का उस्ताद था और यूरोप के सेनापति उसके मुकाबले में नौसिखिये नज़र आते थे। सबूतई सीधा रूस चला गया और उसने दक्षिण-पश्चिम में बग़दाद और सेलजूकों को नहीं छेड़ा। छः वर्ष तक वह मास्को, कीफ़, पोलैंड, हंगरी और क्राकाऊ को लूटता-पाटता और नष्ट करता हुआ लगातार आगे बढ़ता चला गया। १२४१ ई० में मध्य यूरोप के निचले साइलेशिया में लिबनित्स पर पोलैण्ड और

जर्मनी की एक फ़ौज का बिलकुल सफ़ाया कर दिया गया। मालूम होता था कि सारे यूरोप का फैसला होनेवाला है। मंगोलों को रोकनेवाला कोई नहीं दिखाई देता था। फ्रेडरिक द्वितीय, जो 'दुनिया का आश्चर्य' कहलाता था, मंगोलिया से निकलकर आये हुए इस असली आश्चर्य के सामने ज़रूर डर के मारे पीला पड़ गया होगा। यूरोप के बादशाह और शासक हक्का-बक्का हो रहे थे कि अचानक उन्हें राहत मिल गई, जिसकी कोई आशा ही नहीं थी।

ओग्गोतइ की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी के बारे में कुछ झगड़ा खड़ा हो गया। इसलिए यूरोप में जो मंगोल फ़ौजें थीं, वे बिना हारी हुई भी पीछे लौट पड़ीं और १२४२ ई० में पूर्व की ओर अपने वतन को चल दीं। यूरोप की फिर जान में जान आई।

इसी बीच मंगोल चीन भर में फ़ैल चुके थे, और उत्तर में किनों को और दक्षिण चीन में सुंगों को भी उन्होंने बिल्कुल ख़तम कर दिया था। १२५२ ई० में मंगूखां 'खान महान्' बना और उसने कुबलइ को चीन का हाकिम मुक़र्रर किया। कराकुरम में, मंगू के दरबार में, एशिया और यूरोप से लोगों की भीड़ आया करती थी। 'खान महान्' घुमक्कड़ों की तरह, अभी तक तम्बुओं में ही रहता था। लेकिन ये तम्बू बहुत शानदार होते थे और वे महाद्वीपों की दौलत और लूट के माल से भरे रहते थे। सौदागर, खासकर मुसलमान, आते थे और मंगोल उनसे खूब माल खरीदते थे। ज्योतिषी, कारीगर, गणितज्ञ और वे लोग जो उस ज़माने के विज्ञान में दख़ल रखते थे, तम्बुओं के इस शहर में जमा हुआ करते थे। ऐसा लगता था कि मानो इस शहर का रौब सारी दुनिया पर छाया हुआ है। इस लम्बे-चौड़े मंगोल साम्राज्य भर में, एक हद तक, शांति और व्यवस्था थी। महाद्वीपों के बीच के कारवानी रास्ते इधर-से-उधर आने-जानेवाले लोगों से भरे रहते थे। यों एशिया और यूरोप एक-दूसरे के ज्यादा सम्पर्क में आ गये थे।

और फिर क़राकुरम की ओर मज़हबी लोगों की दौड़ मची हुई थी। उनमें से हरेक चाहता था कि यह संसार-विजेता खास उसीका मज़हब क़बूल कर लें। जो मज़हब इन सत्ताधारी लोगों को अपनी तरफ़ मिला लेने में कामयाब होता वह खुद भी ज़रूर शक्तिशाली बन जाता और दूसरे तमाम मज़हबों पर फतह हासिल कर लेता। पोप ने रोम से अपने एलची भेजे; नस्तोरियन ईसाई आये; मुसलमान भी वहां पहुंचे और बौद्ध भी। मंगोलों को कोई नया मज़हब क़बूल करने की जल्दी नहीं थी क्योंकि वे लोग कोई बहुत ज्यादा मज़हबी नहीं थे। कहते हैं कि एक बार 'खान महान्' के ईसाइयत क़बूल करने का इरादा था, लेकिन वह पोप के दावों को बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था। आखिर मंगोल लोग उन्हीं इलाकों के मज़हबों की धार में पड़ गये, जहां-जहां वे बस गये थे। चीन और मंगोलिया के

ज्यादातर मंगोल बौद्ध हो गये; मध्य एशिया के मुसलमान बन गये, और शायद रूस और हंगरी के कुछ मंगोल ईसाई हो गये।

रोम के वैतिकन[1] में, पोप के पुस्तकालय में, अभी तक 'ख़ान महान्' (मंगू) का पोप के नाम एक असली पत्र रक्खा हुआ है। यह पत्र अरबी भाषा में है। मालूम होता है कि पोप ने ओग़ोतइ के मरने के बाद नये ख़ान के पास अपना दूत यह चेतावनी लेकर भेजा था कि वह यूरोप पर फिर हमला न करे। ख़ान ने जवाब दिया था कि उसने यूरोप पर इसलिए हमला किया था कि यूरोपवासियों ने उसके साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया था।

मंगू के ज़माने में फ़तह और बर्बादी की एक लहर फिर चली। उसका भाई हलाकू ईरान का हाकिम था। बग़दाद के ख़लीफ़ा की किसी बात पर खीझकर उसने उसके पास एक संदेसा भेजा, जिसमें अपने वादे पूरे न करने पर उसे फटकारा और चेतावनी दी कि आगे से अपना ढंग ठीक रक्खे वरना अपना साम्राज्य खो बैठेगा। ख़लीफ़ा कोई बहुत अक्लमंद आदमी नहीं था और न वह तजुर्बे से फ़ायदा उठाना ही जानता था। उसने चुनौतीभरा जवाब भेजा और बग़दाद के लोगों की एक भीड़ ने मंगोली दूतों का अपमान भी किया। इसपर हलाकू का मंगोली ख़ून उबल पड़ा। तैश में आकर उसने बग़दाद पर धावा बोल दिया और चालीस दिन के घेरे के बाद उसपर कब्जा कर लिया। अलिफ़ लैला के शहर बग़दाद का यहीं अन्त हो गया और साम्राज्य के ५०० वर्षों में यहां जो बेशुमार ख़ज़ाना इकट्ठा हो गया था वह भी ख़तम हुआ। ख़लीफ़ा और उसके बेटे और नज़दीकी रिश्तेदार मार डाले गए। यह हत्याकांड हफ्तों तक जारी रहा, यहांतक कि दजला नदी का पानी मीलों तक ख़ून से लाल हो गया। कहते हैं कि पन्द्रह लाख आदमी मारे गये। कला और साहित्य के बेशकीमती भंडार और पुस्तकालय सब नष्ट कर दिये गए। बग़दाद बिलकुल बर्बाद हो गया। पश्चिमी एशिया की प्राचीन सिंचाई व्यवस्था, जो हज़ारों वर्ष पुरानी थी, हलाकू ने नष्ट कर दी।

यही हाल अलप्पो, अदिस्सा और दूसरे शहरों का हुआ। पश्चिमी एशिया पर रात जैसा अंधेरा छा गया। उस ज़माने का एक इतिहासकार लिखता है कि "यह ज़माना विज्ञान और नेकी के लिए अकाल का था।" फ़िलस्तीन को भेजी गई एक मंगोली फ़ौज को मिश्र के सुलतान बेबर ने हरा दिया। इस सुलतान का एक मज़ेदार उपनाम 'बन्दूकदार' था क्योंकि उसके पास बंदूकचियों का एक फ़ौजी दस्ता था। अब हम उस ज़माने तक पहुंच गये हैं जब तोप-बन्दूकों का इस्तेमाल शुरू हो गया था। चीनी लोग बहुत दिनों से बारूद बनाना जानते थे। मंगोलों ने

---

[1] **वैतिकन (Vatican)—रोम में पोप के महल, जो सुन्दर कारीगरी के नमूने हैं तथा जिनमें बड़ा भारी पुस्तकालय और संग्रहालय है।**

शायद इसे चीनियों से सीखा और सम्भव है कि इन लोगों को बारूदी हथियारों की वजह से अपनी जीतों में सहायता मिली हो। मंगोलों के ज़रिये ही तोप-बन्दूक वग़ैरा बारूदी हथियार यूरोप में पहुंचे।

१२५८ ई० में बग़दाद की बर्बादी ने आख़िरी तौर पर बचे-खुचे अब्बासिया साम्राज्य का भी अन्त कर दिया। पश्चिम एशिया में अरब की अपनी ख़ास सभ्यता का यहीं अन्त हो गया। दूर दक्षिण के स्पेन में ग्रैनेडा अभी तक अरबी परम्परा पर चल रहा था। यह भी २०० वर्ष बाद ख़तम हो गया। ख़ुद अरब देश का महत्व भी तेज़ी से घटता गया और वहां के लोगों ने इसके बाद इतिहास में कोई बड़ा हिस्सा नहीं लिया। ये लोग कुछ दिनों के बाद उस्मानी तुर्की साम्राज्य के अंग बन गये। १९१४-१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध में, अंग्रेज़ों के उभाड़ने से, अरबों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ बलवा किया था और तबसे अरब क़रीब-क़रीब स्वाधीन है।

दो वर्षों तक कोई ख़लीफ़ा नहीं रहा। इसके बाद मिस्र के सुलतान बेबर ने आख़िरी अब्बासी ख़लीफ़ा के एक रिश्तेदार को ख़लीफ़ा नामज़द कर दिया। लेकिन उसके हाथ में कोई राजनैतिक सत्ता नहीं थी, वह सिर्फ़ रूहानी (आध्यात्मिक) सरताज था। तीन सौ साल बाद क़ुस्तुन्तुनिया के तुर्की सुलतान ने ख़लीफ़ा की यह उपाधि भी छीन ली। तबसे तुर्की सुलतान ख़लीफ़ा होते चले आये। लेकिन कुछ ही साल हुए, मुस्तफ़ा कमालपाशा ने सुलतान और ख़लीफ़ा दोनों को ख़तम कर दिया।

मैं अपनी कहानी से भटक गया। 'ख़ान महान्' मंगू १२६० ई० में मर गया। मरने के पहले वह तिब्बत को जीत चुका था। उसके बाद चीन का हाकिम कुबलइ ख़ां 'ख़ान महान्' बना। कुबलइ बहुत दिनों तक चीन में रह चुका था और उसे यह देश पसन्द था। इसलिए उसने अपनी राजधानी क़राक़ुरम से हटाकर पेकिंग में क़ायम की और उसका नाम ख़ानबलिक यानी 'ख़ान का नगर' रक्खा। कुबलइ को चीन के मामलों में इतनी दिलचस्पी थी कि वह अपने बड़े साम्राज्य की तरफ़ से बेपरवाह हो गया और धीरे-धीरे बड़े-बड़े मंगोल हाक़िम स्वाधीन हो गये।

कुबलइ ने चीन की विजय पूरी कर ली, लेकिन इसका लड़ाइयों का ढंग पुराने मंगोली ढंग से बहुत जुदा था। इसमें जुल्म और बर्बादी बहुत कम थे। चीन ने कुबलइ को पहले ही मुलायम कर दिया था और उसे सभ्य बना दिया था। चीनी लोगों ने इसे भी अपना लिया और उसके साथ अपने ही आदमी जैसा बर्ताव करने लगे। कुबलई ने ही युआन राज-वंश, जिसे कट्टर चीनी राजवंश कहना चाहिए, चलाया। उसने ताङ्किङ् अनाम और बर्मा अपने राज्य में मिला लिये। उसने जापान और मलेशिया को भी जीतने की कोशिश की, लेकिन क़ामयाब नहीं हुआ। क्योंकि मंगोलों को समुद्र-यात्रा की आदत नहीं थी और उनको जहाज़ बनाना भी नहीं आता था।

मंगूखां के शासन-काल में, फ्रांस के बादशाह लुई नवम का राजदूत-मंडल एक दिलचस्प संदेश लेकर आया था। लुई ने यह सुझाव दिया था कि यूरोप की ईसाई शक्तियां और मंगोल मिलकर मुसलमानों का मुक़ाबला करें। क्रूसेडों के ज़माने में, जब वह क़ैद कर लिया गया था, तब बेचारे लुई को बहुत बुरे दिन देखने पड़े थे। लेकिन मंगोलों को ऐसी दोस्तियों में कोई दिलचस्पी नहीं थी और न उन्हें इसमें दिलचस्पी थी कि किसी मज़हब के लोगों पर सिर्फ़ मज़हब के नाम पर हमला करें।

फिर वे यूरोप के छोटे-छोटे बादशाहों और राजाओं से क्यों और किसके खिलाफ़ दोस्ती करते ? उन्हें पश्चिमी यूरोप के राज्यों या मुसलमानी राज्यों की लड़ने की क़ाबलियतों से कोई डर नहीं था। यह तो संयोग की बात थी कि पश्चिमी यूरोप उनसे बच गया था। सेलजूक तुर्कों ने इनके सामने सर झुका दिया था और इन्हें ख़िराज देते थे। सिर्फ़ मिस्र का सुलतान ही ऐसा था, जिसने मंगोल फ़ौज को हराया था। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि अगर मंगोल सरगर्मी के साथ कोशिश करते तो उसे सीधा कर देते। एशिया और यूरोप के एक सिरे से दूसरे तक शक्तिशाली मंगोल साम्राज्य पसरा हुआ था। मंगोलों की विजयों के मुक़ाबले की इतिहास में कोई चीज़ कभी नहीं हुई और न इतना विशाल साम्राज्य ही कभी हुआ। उस वक़्त तो मंगोल वास्तव में दुनिया के मालिक नज़र आते होंगे। उस समय भारत ही उनसे बचा हुआ था, वह भी सिर्फ़ इसलिए कि मंगोल उस तरफ़ गये नहीं थे। पश्चिमी यूरोप भी, जो क़रीब-क़रीब भारत के बराबर था, इस साम्राज्य से बाहर था। लेकिन ऐसा समझना चाहिए कि ये हिस्से भी मंगोलों की मेहरबानी पर ज़िन्दा थे और इनकी हस्ती भी तभी तक थी जब तक मंगोल इन्हें हज़म करने का इरादा नहीं करते थे। तेरहवीं सदी में ऐसा ही दिखाई देता रहा होगा।

लेकिन मंगोलों की ज़बर्दस्त शक्ति कुछ कम होती हुई मालूम पड़ने लगी और फतह करते चले जाने का जोश ठंडा पड़ने लगा। तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि उस ज़माने में लोग धीरे-धीरे या तो पैदल चलते थे या घोड़ों पर। सफ़र का इससे ज्यादा तेज़ कोई तरीक़ा नहीं था। मंगोलिया में अपने घर से यूरोप में साम्राज्य की पश्चिमी सरहद तक सफर करने में ही फ़ौजों को साल भर लग जाता था। विजय की इनमें इतनी धुन नहीं थी कि वे अपने साम्राज्य में से होकर इतनी ज़बर्दस्त यात्राएं करते, जबकि लूटमार की कोई गुंजाइश न थी। इसके अलावा लड़ाई में और लूटमार में बार-बार कामयाबियों की वजह से मंगोली सिपाहियों के पास लूट का खूब माल इकट्ठा हो गया था। बहुतों ने तो ग़ुलाम भी रख लिये होंगे। इसलिए वे ठंडे पड़ गये और संजीदा और अमन-चैन की ज़िन्दगी बिताने लगे। जिसे अपनी ज़रूरत की सब चीज़ें मिल गई हों, वह हमेशा शान्ति और व्यवस्था ही पसन्द करने लगता है।

विशाल मंगोल-साम्राज्य का प्रशासन बड़ा मुश्किल काम रहा होगा। इसलिए ताज्जुब की बात नहीं कि यह टूटने लगा। कुबलइ खां १२९२ ई० में मरा। इसके बाद कोई 'खान महान' नहीं हुआ और साम्राज्य इन पांच बड़े हिस्सों में बंट गया :

१. चीन का साम्राज्य, जिसमें मंगोलिया, मंचूरिया और तिब्बत शामिल थे। यह मुख्य भाग था और कुबलई के युआन राजवंश के अधीन था;

२. 'सुनहले गिरोह' (यह मुग़लों का स्थानीय नाम था) का साम्राज्य। यह बिलकुल पश्चिम में रूस, पोलैंड और हंगरी में था;

३. ईरान, इराक और मध्य एशिया के एक हिस्से में इलखान साम्राज्य था। इसकी बुनियाद हलाकू ने डाली थी और सेलजूक़ तुर्क इसे ख़िराज देते थे;

४. मध्य एशिया में, तिब्बत के उत्तर में चग़तई साम्राज्य था, जिसे महान तुर्की भी कहते थे;

५. मंगोलिया और 'सुनहले गिरोह' के बीच मंगोलों का साइबेरिया का साम्राज्य था।

हालांकि विशाल मंगोली साम्राज्य के टुकड़े हो गये थे, लेकिन उसके इन पांचों भागों में से हरेक बड़ा शक्तिशाली साम्राज्य था।

: ६९ :

## महान यात्री मार्को पोलो

२७ जून, १९३२

मैंने तुमसे क़राक़ुरम में 'खान महान्' के दरबार का ज़िक्र किया है कि मंगोलों की कीर्ति और उनकी विजयों के जादू से खिंचकर कैसे सैंकड़ों सौदागर, कारीगर, विद्वान और धर्म-प्रचारक वहां जमा होने लगे थे। ये लोग इसलिए भी आते थे कि मंगोल इनको बढ़ावा देते थे। ये मंगोल विचित्र आदमी थे, कुछ बातों में बड़े ही कुशल और कुछ बातों में बिलकुल बच्चों जैसे। इनकी खूंख्वारी और बेरहमी दिल हिलानेवाली ज़रूर थी, पर उसमें बचपने की लटक थी। और मेरे खयाल से इन खूंख्वार रण-बांकुरों के इस बचपने के स्वभाव ने ही इन्हें इतना आकर्षक बना दिया है। सैकड़ों वर्षों बाद एक मंगोल, या मुग़ल ने, जिस नाम से ये भारत में मशहूर हुए, इस देश को जीता। इसका नाम बाबर था और इसकी मां चंगेज़खां के वंश की थी। भारत जीतने के बाद यह क़ाबुल और उत्तर की ठंडी-ठंडी हवाओं, फूलों, बग़ीचों और तरबूज़ों के लिए तरसता था। यह मौजी आदमी था और उसने अपने जो संस्मरण लिखे हैं, उनमें तो वह बहुत इन्सानियत-भरा और आकर्षक नमूना नज़र आता है।

मतलब यह कि मंगोल लोग अपने दरबार में विदेशों के यात्रियों को आने के लिए बढ़ावा देते थे। इनमें ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना चाहते थे। तुम्हें याद होगा, मैंने तुमको बताया था कि जैसे ही चंगेज़खां को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ है, उससे फ़ौरन उसका महत्व समझ लिया और अपने अफ़सरों को लिखना सीखने का हुक्म दिया था। इनके दिमाग़ खुले थे, जिनमें सीखने की चाह थी, इसलिए ये दूसरों से सीख सकते थे। कुबलइ ख़ां पेकिंग में बसने और शरीफ़ चीनी सम्राट् बन जाने के बाद ख़ास तौर से विदेशी यात्रियों को बढ़ावा देता था। उसके पास वेनिस से दो व्यापारी आये थे। ये दोनों भाई थे—एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मैफ़ियो पोलो। ये लोग व्यापार की तलाश में ठेठ बुख़ारा तक पहुंच गये थे और वहां ईरान में हलाकू के पास भेजे हुए क़ुबलइख़ां के कुछ दूत इन्हें रास्ते में मिले थे। उन लोगों ने इन दोनों को अपने क़ारवां में शामिल होने को राज़ी कर लिया और इस तरह ये 'ख़ान महान' के दरबार में पेकिंग पहुंचे।

क़ुबलइ ख़ां ने निकोलो और मैफ़ियो का अच्छा स्वागत किया। उन्होंने ख़ान को यूरोप ईसाइयत और पोप के बारे में बताया। उसने इनकी बातों में बहुत दिलचस्पी ज़ाहिर की ओर ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाइयत की तरफ़ झुक रहा है। उसने १२६९ ई० में इन दोनों को यूरोप वापस भेजा और यह संदेश पोप से कहलाया कि सौ विद्वान, "सातों कलाओं को जानने वाले चतुर आदमी", जो ईसाइयत को सिद्ध करने में समर्थ हों, उसके यहां भेजे जायं। लेकिन ये दोनों भाई जब यूरोप वापस पहुंचे तो उस समय पोप और यूरोप दोनों की हालत ख़राब थी। ऐसे सौ विद्वान थे ही नहीं। दो वर्ष ठहरकर ये लोग दो ईसाई साधुओं को साथ लेकर वापस गये। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि ये अपने साथ निकोलो के नौजवान पुत्र मार्को को भी ले गये।

तीनों पोलो अपनी विकट यात्रा पर रवाना हुए और ख़ुश्की के रास्तों से इन्होंने एशिया की पूरी लम्बाई तय की। यह कितना ज़बरदस्त सफ़र था। अगर आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय, जिसपर पोलो गये थे, तो करीब साल भर लग जायगा। पोलोओं ने कुछ-कुछ ह्यूएनत्सांग का पुराना रास्ता पकड़ा था। वे फ़िलस्तीन होकर आरमीनिया आये और वहां से इराक़ और फिर ईरान की खाड़ी पहुंचे। यहां उन्हें भारत के व्यापारी मिले। ईरान पार करके वे बलख़ पहुंचे, और वहां से पहाड़ों को लांघते हुए काशगर से खुतन और खुतन से लोप-नोर झील, जो चलती-फिरती झील कहलाती है। वहां से फिर रेगिस्तान को लांघते हुए और चीन के खेतों में होते हुए वे पेकिंग पहुंचे। उनके पास एक शाही पासपोर्ट था; यह ख़ुद ख़ान महान की दी हुई सोने की तख़्ती थी।

प्राचीन रोम के ज़माने में, चीन और सीरिया के बीच कारवानों का यही पुराना रास्ता था। कुछ दिन हुए मैंने स्वीडन के मशहूर खोजी और यात्री स्वेन हेडन का गोबी के रेगिस्तान को लांघने का हाल पढ़ा है। वह पेकिंग से पश्चिम की ओर चलकर रेगिस्तान को लांघता हुआ और लोप-नोर झील के पास से निकलता हुआ खुतन और उसके परे गया। उसके पास आजकल की सारी सहूलियतें थीं, फिर भी उसे सफ़र में बड़ी तकलीफ़ और परेशानी हुई। फिर ७०० और १३०० वर्ष पहले, जब पोलो और ह्यूएनत्सांग इस रास्ते से गुज़रे होंगे, तब सफ़र की क्या हालत रही होगी! स्वेन हेडेन ने एक दिलचस्प खोज की। उसने यह देखा कि लोप-नोर झील का स्थान बदल गया है। बहुत दिन हुए, चौथी सदी में लोप-नोर में गिरनेवाली तारिन नदी ने अपना बहाव बदल दिया था और रेगिस्तान की बालू ने कुछ ही दिनों में उसके खादर को पाट दिया था। लाउलन का पुराना शहर, जो वहां बसा था, बाहरी दुनिया से बिलकुल कट गया और इसके निवासी शहर को बर्बादी के भरोसे छोड़कर चले गए। झील ने भी इस नदी की वजह से अपनी जगह बदल दी और यही हालत पुराने कारवानी और व्यापारी रास्ते की भी हुई। स्वेन हेडेन ने देखा कि हाल ही में, कुछ ही वर्ष हुए, तारिन नदी ने फिर अपना बहाव बदल दिया और अपने पुराने रास्ते पर चली गई। झील ने भी यही किया। तारिन नदी फिर पुराने लाउलन नगर के खंडहरों के पास से होकर बह रही है और मुमकिन है कि वह पुराना रास्ता, जो १६०० वर्षों से बन्द था, फिर चालू हो जाय। लेकिन ऊंटों की जगह अब मोटरें दौड़ने लगें! इसी वजह से लोप-नोर को 'चलती-फिरती' झील कहते हैं। मैंने तारिन नदी और लोप-नोर के इधर-उधर भटकने का इसलिए ज़िक्र कर दिया कि तुम्हें यह अंदाज़ हो जाय कि जल-प्रवाह किस तरह बड़े-बड़े क्षेत्रों को बदल देते हैं और इस तरह इतिहास पर असर डालते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, पुराने ज़माने में मध्य एशिया में बड़ी घनी आबादी थी और यहां के निवासियों की एक के बाद एक लहरें मुल्कों को जीतती हुई पश्चिम और दक्षिण की तरफ़ बढ़ी थीं। आजकल यह हिस्सा क़रीब-क़रीब वीरान है, जिसमें शहर बहुत ही कम हैं और आबादी भी बिखरी हुई है। शायद उस वक़्त यहां ज़्यादा पानी रहा हो और इस वजह से यहां बड़ी आबादी की गुज़र होती रही हो। जैसे-जैसे मौसम खुश्क होता गया और पानी कम पड़ता गया, आबादी भी कम होती गई और घटते-घटते बहुत थोड़ी रह गई।

इन लम्बी-लम्बी यात्राओं से एक फ़ायदा था। लोगों को नई-नई भाषा या भाषाएं सीखने का समय मिल जाता था। तीनों पोलों को वेनिस से पेकिंग तक पहुंचते-पहुंचते साढ़े तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे समय में मार्को को मंगोली भाषा पर पूरा अधिकार हो गया और शायद चीनी भाषा पर भी। मार्को 'खान-महान' का चहेता हो गया और उसने क़रीब सत्रह साल तक उसकी नौकरी की।

वह हाकिम बना दिया गया और सरकारी कामों पर चीन के हर हिस्से में जाया करता था। हालांकि मार्को और उसके पिता को घर की याद सताती थी और वे वेनिस वापस जाना चाहते थे, लेकिन ख़ान की इजाज़त हासिल करना आसान नहीं था। आखिरकार उनको वापस जाने का मौक़ा मिल गया। ईरान में इलख़ान साम्राज्य के मंगोल शासक की पत्नी मर गई। यह कुबलइ का चचेरा भाई था और फिर शादी करना चाहता था। पर उसकी पहली पत्नी ने उससे यह वादा करा लिया था कि वह अपने फ़िरक़े के बाहर की किसी औरत से शादी न करेगा। इसलिए आरगोन ने (कुबलई के चचेरे भाई का यही नाम था) एलचियों के ज़रिये कुबलई ख़ां के पास पेकिंग संदेशा भेजा और उससे प्रार्थना की कि अपने फ़िरक़े की एक स्त्री उसके लिए भेज दे।

कुबलइ ख़ां ने एक नौजवान मंगोल राजकुमारी को पसंद किया और तीनों पोलों को उसके लश्कर के साथ कर दिया, क्योंकि ये अनुभवी यात्री थे। ये लोग समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहां कुछ दिन ठहरे। सुमात्रा में उन दिनों श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य चल रहा था, लेकिन इसका विस्तार घट रहा था। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण भारत आये। दक्षिण भारत में पाण्ड्य राज्य के गुलज़ार बंदरगाह कायल में मार्को पोलो के आने का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूं। राजकुमारी, मार्को और उनका लश्कर भारत में काफ़ी दिन ठहरे। मालूम होता है कि इन्हें कोई जल्दी नहीं थी, क्योंकि इन्हें ईरान पहुंचते-पहुंचते दो साल लग गये। लेकिन इस बीच शादी का उम्मीदवार दूल्हा मर चुका था। उसके इन्तज़ार की हद हो गई थी। पर शायद उसकी मौत कोई बहुत बड़ा दुर्भाग्य साबित नहीं हुई। नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के पुत्र से हो गई, जो अपने बाप की बनिस्बत उसकी उम्र के अधिक जोड़ का था।

पोलों ने राजकुमारी को तो वहीं छोड़ दिया और खुद कुस्तुन्तुनिया होते हुए आगे अपने वतन को चले गए। १२९५ ई० में, यानी घर छोड़ने के २४ वर्ष बाद, वे वेनिस पहुंचे। किसीने उनको नहीं पहचाना। कहते हैं कि अपने पुराने दोस्तों और दूसरे लोगों पर छाप जमाने के लिए उन्होंने एक दावत दी और इस दावत के बीच में ही उन्होंने अपने फटे-पुराने और रुई से भरे कपड़े उधेड़ डाले। फौरन ही क़ीमती जवाहरों—हीरे, माणिक, पन्ना वगैरा—के ढेर-के-ढेर उनके कपड़ों में से निकल पड़े और मेहमान हैरत में आ गये। फिर भी पोलों की कहानियों पर, चीन और भारत में उनकी आप-बीती पर, बहुत कम लोगों ने यक़ीन किया। इन लोगों ने समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बातें कर रहे हैं। वेनिस के अपने छोटे-से गणराज्य के आदी होने की वजह से इन्हें चीन और एशिया के दूसरे देशों के विस्तार की और उनकी दौलत की कल्पना ही नहीं हो सकती थी।

में फंसे हुए यूरोपवासियों की आंखें खोल दीं और उन्हें इस लम्बी-चौड़ी दुनिया के विस्तार, धन व चमत्कारों का भान करा दिया। इसने उनकी कल्पना को उत्तेजना दी, उनकी साहस के काम करने की भावना को चुनौती दी और उनके लालच को भड़काया। इसने उन्हें और भी ज्यादा समुद्र-यात्राएं करने को उकसाया। यूरोप का विकास हो रहा था; उसकी नई सभ्यता अपने पैरों पर खड़ी हो रही थी और मध्य युगों की बंदिशों को तोड़ने की कोशिश कर रही थी। जवानी में क़दम रखनेवाले नौजवान की तरह उसमें शक्ति भरी हुई थी। समुद्र-यात्रा की इसी उकसाहट ने और धन की और साहस के कारनामों की तलाश ने यूरोपवासियों को कुछ दिन बाद अमेरिका पहुंचा दिया और फिर वे उत्तमाशा अन्तरीप (केप ऑफ गुड होप) का चक्कर काटते हुए प्रशांत महासागर, भारत, चीन और जापान जा पहुंचे। समुद्र दुनिया का राजमार्ग बन गया और महाद्वीपों को लांघनेवाले बड़े-बड़े क़ारवानी रास्तों का महत्त्व कम हो गया।

मार्को के चले आने के थोड़े दिन बाद ही 'ख़ान महान' कुबलइ की मौत हो गई। युआन राजवंश, जिसका यह क़ायम करनेवाला था, इसके मरने के बाद बहुत दिन तक नहीं टिका। मंगोलों की ताक़त तेज़ी के साथ घटने लगी और विदेशियों के ख़िलाफ़ चीन में एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। साठ वर्ष के अन्दर ही मंगोल दक्षिण चीन से निकाल दिये गए और नानकिंग में एक चीनी आदमी सम्राट् बन बैठा। इसके बारह वर्ष बाद, १३६८ ई० में, यूआन राजवंश बिलकुल खतम हो गया और मंगोल लोग चीन की बड़ी दीवार के उसपार खदेड़ दिये गए। अब एक दूसरा चीनी राजवंश—ताइमिंग राजवंश रंगमंच पर आया। इस वंश ने ३०० वर्षों के लम्बे अर्से तक चीन में राज किया। यह ज़माना अच्छे शासन, खुशहाली और संस्कृति का ज़माना समझा जाता है। दूसरे देशों को जीतने की या साम्राज्य बढ़ाने की इन लोगों ने कोई कोशिश नहीं की।

चीन में मंगोल साम्राज्य के टूट जाने का नतीजा यह हुआ कि चीन और यूरोप के बीच आना-जाना भी बन्द हो गया। खुश्की के रास्ते अब निरापद नहीं रह गये थे और समुद्र के रास्तों का अभी ज़्यादा इस्तेमाल शुरू नहीं हुआ था।

## : ७० :
# रोमन चर्च की सरजोरी

२८ जून, १९३२

मैंने तुम्हें बताया ह कि कुबलइ ख़ां ने पोप को संदेश भेजा था और कहलवाया था कि वह चीन को सौ विद्वान् भेज दे। लेकिन पोप ने इसपर कुछ नहीं

किया। उस वक़्त वह बुरी हालत में था। अगर तुम्हें याद हो तो यह सम्राट् फ़्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु के बाद का ज़माना था, जबकि १२५० से १२७३ ई० तक कोई सम्राट् ही नहीं था। उस वक़्त मध्य यूरोप की बड़ी ख़तरनाक हालत थी। चारों तरफ़ गड़बड़ थी और डाकू नाइट हर जगह लूट-पाट करते फिरते थे। १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का रूदोल्फ़ सम्राट् बना, लेकिन इससे हालत कुछ सुधरी नहीं। इटली भी साम्राज्य से निकल गया।

यहां इस समय सिर्फ़ राजनैतिक गड़बड़ ही नहीं थी, बल्कि रोमन ईसाई-संघ के ख़याल से मज़हबी गड़बड़ की भी शुरुआत हो रही थी। लोग उतने फ़र्माबरदार नहीं रह गये थे और न ईसाई-संघ के हुक्मों को ही उतना मानते थे। वे शंका करने लगे थे, और मज़हबी मामलों में शंका ख़तरनाक चीज़ होती है। हम देख चुके हैं कि सम्राट् फ़्रेडरिक द्वितीय पोप के साथ लापरवाही का बर्ताव करता था और छेक दिये जाने की कुछ परवाह नहीं करता था। उसने पोप के साथ पत्रों के ज़रिये बहस भी शुरू कर दी थी, जिसमें पोप को नीचा देखना पड़ा था। फ़्रेडरिक की तरह यूरोप में उस वक़्त बहुत-से शंका करनेवाले रहे होंगे। बहुत लोग ऐसे भी थे जो चाहे ईसाई-संघ या पोप के दावों में शंका या ऐतराज़ भी करते हों, लेकिन जो ईसाई-संघ के बड़े आदमियों के भ्रष्टाचार और विलासी जीवन से सख़्त नाराज़ थे।

क्रूसेड बड़ी फ़ज़ीहत के साथ ख़तम हो रहे थे। इनकी शुरुआत बड़ी उम्मीदों और बड़े जोश के साथ हुई थी, लेकिन ये कुछ भी क़ामयाबी हासिल न कर सके और ऐसी नाकामयाबियों की हमेशा उलटी क्रिया होती है; ईसाई-संघ का जो रूप बन गया था उससे पूरी तरह राज़ी न होने की वजह से लोग कुछ ढिलमिल तौर से और धीरे-धीरे रोशनी की खोज में दूसरी तरफ़ नज़रें दौड़ाने लगे। ईसाई-संघ ने बदले में ज़ोर-ज़बर्दस्ती शुरू कर दी और आतंक के तरीक़ों से आदमियों के दिमाग़ों पर कब्ज़ा क़ायम रखना चाहा। उसे यह ख़याल नहीं रहा कि आदमी का दिमाग़ बहुत नटखट होता है और शारीरिक बल इसके ख़िलाफ़ बहुत ही कमज़ोर हथियार है। उसने कोशिश यह की कि व्यक्तियों और समहों की अन्तरात्मा की बेक़रारियों का गला घोट दे। उसने शंका का जवाब तर्क और दलील से देने के बजाय डंडे और सूली से देने की कोशिश की।

११५५ ई० में ही इटली के लोकप्रिय और लगनवाले धर्मोपदेशक, ब्रेशिया के आर्नोल्द पर ईसाई-संघ का ग़ुस्सा उतरा। आर्नोल्द पादरियों के भ्रष्टाचार और विलास के ख़िलाफ़ प्रचार करता था। उसे पकड़कर फांसी पर लटका दिया गया और उसकी लाश को जलाकर राख ताइबर नदी में फिकवा दी गई कि कहीं लोग उसे विभूति की तरह न रख लें। मरते दम तक आर्नोल्द अपनी आन पर डटा रहा और शान्त रहा।

पोप इतने आगे बढ़ गये कि उन्होंने ईसाइयत के उन पूरे-के-पूरे गिरोहों और सम्प्रदायों को ही ग़ैर-ईसाई ऐलान कर दिया, जो मज़हब के किसी छोटे-से मामले में भी मतभेद रखते थे या जो पादरियों की बहुत ज़्यादा आलोचना करते थे। इन लोगों के ख़िलाफ़ बाक़ायदा धर्म-युद्ध का ऐलान कर दिया जाता था और इनपर हर तरह के नफ़रत पैदा करनेवाले और दिल दहलानेवाले ज़ुल्म ढाये जाते थे। दक्षिण-फ़ान्स के तूलों के अल्बिगियों या अल्बिगेनियों को और वाल्दो नामक व्यक्ति के अनुयायी वाल्दनियों को, इसी तरह सताया गया।

इसी समय, या इससे कुछ पहले, इटली में एक व्यक्ति रहता था, जो ईसाइयत के सबसे ज़्यादा आकर्षक व्यक्तियों में गिना जाता है। यह असीसी का फ़ान्सिस था। यह बड़ा धनवान था, लेकिन इसने अपनी दौलत त्यागकर ग़रीबी का व्रत लिया और बीमारों व ग़रीबों की सेवा के लिए दुनिया में निकल पड़ा। चूंकि कोढ़ी सबसे ज़्यादा दुःखी और बे-आसरा थे, इसलिए वह उनकी सेवा में ख़ास तौर पर लग गया। उसने एक संघ चलाया, जो संत फ़ान्सिस का संघ कहलाता है, और जो कुछ-कुछ बौद्ध संघ की तरह का है। वह एक जगह से दूसरी जगह प्रचार करता हुआ और लोगों की सेवा करता हुआ फिरता था और ईसा की तरह अपनी ज़िन्दगी बिताने की कोशिश करता था। हज़ारों आदमी इसके पास आते थे और उनमें से बहुत-से इसके शिष्य हो गये। जब क्रूसेड चल रहे थे तब यह मिस्र और फ़िलिस्तीन भी गया था, हालांकि वह ईसाई था, लेकिन मुसलमान भी इस नेक और प्यार के क़ाबिल व्यक्ति की इज्ज़त करते थे और उन्होंने उसके काम में किसी तरह की रुकावट नहीं डाली। यह ११८१ ई० में पैदा हुआ और १२२६ ई० में मरा। उसकी मौत के बाद उसके संघ की ईसाई-संघ के ऊंचे अधिकारियों से टक्कर हो गई। शायद ईसाई-संघ को यह पसन्द नहीं था कि ग़रीबी की ज़िंदगी पर इतना ज़ोर दिया जाय। इस दक़ियानूसी ईसाई सिद्धान्त से वे बहुत बड़े हो गये थे। १३१८ ई० में फ़ान्सिसी संघ के चार साधुओं को क़ाफ़िर क़रार दिया जाकर मार्साइ में ज़िन्दा जला दिया गया।

कुछ साल हुए, असीसी के छोटे-से शहर में संत फ़ान्सिस की यादग़ार में एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ था। मुझे याद नहीं रहा कि यह जलसा उस साल क्यों मनाया गया था। शायद यह उसकी मृत्यु की सातवीं शताब्दी थी।

फ़ान्सिस के संघ की तरह, लेकिन भावना में उससे बिलकुल जुदा, एक दूसरा संघ ईसाई-संघ के अन्दर पैदा हुआ। इसको क़ायम करनेवाला स्पेन-निवासी सन्त दोमिनिक था, और यह दोमिनिकन संघ कहलाता है। यह संघ उग्र और कट्टर था। इनके लिए ईमान क़ायम रखने के महान कर्त्तव्य के सामने दुनिया की तमाम

बातें हेच थीं। अगर कोई सीधी तरह समझाने से नहीं माने तो उसे मार-मार-कर समझाया जाय।

१२३३ ई० में 'इनक्विज़िशन' क़ायम करके ईसाई-संघ ने बाक़ायदा और सरकारी तौर पर मज़हब में हिंसा का राज क़ायम कर दिया। यह एक क़िस्म की अदालत होती थी, जो लोगों के ईमान के कट्टरपन की जांच करती थी और अगर इसकी राय में वे जांच में पूरे नहीं उतरते तो मामूली तौर पर उन्हें ज़िन्दा जला दिये जाने की सज़ा दी जाती थी। 'क़ाफ़िरों' को बाक़ायदा ढूंढ़-ढूंढ़कर पकड़ा गया और उनमें से सैकड़ों को ज़िन्दा जला दिया गया। ज़िन्दा जलाने से भी ज़्यादा बुरी बात यह थी कि लोगों से प्रायश्चित्त कराने के लिए उन्हें यातनाएं दी जाती थीं। बहुत-सी ग़रीब अभागी औरतों पर डाकनें होने का अपराध लगाया जाता था और वे जला दी जाती थीं। लेकिन अक्सर यह काम, ख़ासकर इंग्लैण्ड और स्काट-लैंड में. फ़िसादी भीड़ करती थी; 'इनक्विज़िशन' के हुक्म से ऐसा नहीं होता था।

पोप ने एक 'फ़तवा'[1] जारी किया, जिसमें हरेक आदमी को मुख़बिर बनने का हुक्म दिया गया! पोप ने रसायन के ख़िलाफ़ फ़तवा दे दिया और इसे शैतानी हुनर क़रार दिया। और मज़ा यह कि ये तमाम अत्याचार और आतंक सच्चे विश्वास के साथ किये जाते थे। इनका विश्वास था कि किसी आदमी को ज़िन्दा जलाकर वे उसकी आत्मा को या दूसरों की आत्माओं को पापों से बचा रहे हैं! मज़हबी लोगों ने अक्सर अपनी बात दूसरों से ज़बर्दस्ती मनवाने की कोशिश की है, अपने विचार ज़बर्दस्ती दूसरों के गले में उतारे हैं, और वे समझते रहे हैं कि जनता की सेवा कर रहे हैं। ईश्वर के नाम पर इन्होंने लोगों को मारा है और हत्याएं की हैं। और 'अमर आत्मा' को बचाने की बात करते हुए इन्होंने नाशवान शरीर को जलाकर राख कर देने में संकोच नहीं किया है। मज़हब का लेखा बड़ा ख़राब रहा है, पर जल्लादी बेरहमी में 'इनक्विज़िशन' को मात करनेवाली कोई चीज़ दुनिया में मेरे ख़याल से नहीं हुई। और फिर भी यह अचम्भे की बात है कि ऐसी हरकतों के लिए ज़िम्मेदार लोगों में से बहुतों ने यह काम अपने निजी फ़ायदे के लिए नहीं बल्कि इस पक्के विश्वास से किया कि वे सही चीज़ कर रहे हैं।

जब पोप लोग यूरोप के ऊपर आतंक का यह राज बरपा कर रहे थे तब उधर उनकी वह ऊंची हैसियत कम होती जा रही थी जो उन्होंने बादशाहों और सम्राटों के सरताज बनकर जमा रक्खी थी। वे दिन लद गये थे जब वे किसी सम्राट् को ईसाई बिरादरी से छेककर और धमकी देकर उसके घुटने टिकवा देते थे। जब पवित्र रोमन साम्राज्य की हालत ख़राब हो रही थी और कोई सम्राट् नहीं था, या सम्राट रोम से दूर रहता था, तब फ़्रान्स का बादशाह पोपों के कामों में दख़ल

---

१. Edic of Faith.

देने लगा। १३०३ ई० में पोप की किसी बात से बादशाह नाराज़ हो गया। उसने पोप के पास एक आदमी भेजा, जिसने पोप के महल में ज़बर्दस्ती घुसकर उसके सोने के कमरे में जाकर उसके मुंह पर उसका अपमान किया। पोप के साथ बेइज्ज़ती के बर्ताव को किसी देश ने नापसन्द नहीं किया। ज़रा कन्नौज़ा में पोप से मिलने के लिए सम्राट् के घंटों बर्फ़ में नंगे पैर खड़े रहने की घटना की इससे तुलना तो करो!

कुछ साल बाद, १३०९ ई० में, एक नया पोप जो फ़ान्सीसी था, फ़ान्स के आविन्यों शहर में रहने लगा। पोप लोग यहां १३७७ ई० तक, फ़ान्सीसी बादशाहों के अंगूठे के नीचे रहते रहे। एक साल बाद, १३७८ ई० में, पोप का चुनाव करनेवाले बड़े पादरियों के मंडल में फूट पड़ गई। इसे 'महान् मतभेद' कहा जाता है। बड़े पादरियों के दो दलों ने अपना-अपना पोप चुन लिया। एक पोप तो रोम में रहने लगा और सम्राट् और उत्तर यूरोप के ज़्यादातर देशों ने उसे मान लिया। दूसरा, जो विरोधी-पोप कहलाने लगा, आविन्यों में रहता था, और फ़ान्स का बादशाह और उसके कुछ मददगार उसका समर्थन करते थे। चालीस वर्षों तक यह हालत रही और पोप व विरोधी पोप एक दूसरे को कोसते और छेकते रहे। १४१७ ई० में समझौता हो गया और दोनों दलों ने मिलकर एक नया पोप चुना जो रोम में रहता था। लेकिन दोनों पोपों के बीच के इस भद्दे झगड़े का असर यूरोप के लोगों पर बहुत ज़्यादा पड़ा होगा। जब पादरी लोग और इस संसार में अपने-आपको ईश्वर का प्रतिनिधि कहनेवाले लोग, इस तरह की हरकतें करें, तो लोग उनकी पवित्रता और नेकनीयती में संदेह करने लगते हैं। इस तरह इस झगड़े ने लोगों को मज़हबी सत्ता की अंधी फ़र्माबरदारी से बाहर निकाल फेंकने में बड़ी मदद दी। लेकिन अभी उनको इससे भी और ज़ोरदार झटके की ज़रूरत थी।

जिन लोगों ने ज़्यादा खुले तौर पर ईसाई-संघ की आलोचना करना शुरू किया उनमें वाइक्लिफ़ नामक एक अंग्रेज़ भी था। वह पादरी था और आक्सफ़ोर्ड में प्रोफ़ेसर था। यह बाइबिल का अंग्रेज़ी में सबसे पहले अनुवाद करनेवाला मशहूर है। अपनी ज़िन्दगी में तो वह रोम के कोप से किसी तरह बच गया। लेकिन १४१५ ई० में, मरने के ३१ वर्ष बाद, ईसाई-संघ परिषद् ने हुक्म दिया कि उसकी हड्डियां खोदकर जला दी जायं और ऐसा ही किया गया।

हालांकि वाइक्लिफ़ की हड्डियों की बेहुरमती करके उन्हें जला दिया गया, मगर उसके विचारों को आसानी से नहीं दबाया जा सका और वे फैलने लगे। यहांतक कि वे बोहेमिया तक, जो अब चेकोस्लोवाकिया कहलाता है, पहुंच गये और उनका असर जॉन हस पर हुआ, जो बाद में प्राहा (प्रेग) विश्वविद्यालय

का कुलपति हुआ। पोप ने इसे इसके विचारों की वजह से ईसाइयत से छेक दिया, लेकिन उसके शहर में वे उनका कुछ नहीं बिगाड़ सके, क्योंकि वह बहुत लोकप्रिय था। इसलिए उसपर एक चाल चली गई। सम्राट् ने हिफ़ाज़त के साथ पहुंचा देने का वादा करके उसे स्वीज़रलैंड के कॉन्स्टैंन्स नगर में बुलवाया, जहां ईसाई-संघ परिषद् की बैटक हो रही थी। वह वहां गया। उससे कहा गया कि अपनी ग़लती कबूल कर ले, लेकिन उसने कह दिया कि जबतक उसे क़ायल न कर दिया जाय तबतक वह ऐसा नहीं कर सकता। इसपर हिफ़ाज़त के वादे के बावजूद उन्होंने उसे ज़िन्दा जला दिया। यह १४१५ ई० की बात है। हस बड़ा बहादुर आदमी था और जिसे वह झूठ समझता था उसे मान लेने की बनिस्वत उसने दर्दभरी मौत को बेहतर समझा। वह अन्तरात्मा की आज़ादी और बोलने की आज़ादी पर शहीद हो गया। चेक लोग इसे अपना एक वीर-नायक मानते हैं और चेकोस्लोवाकिया में इसकी याद आज तक मनाई जाती है।

जॉन हस का बलिदान बेकार नहीं गया। इस चिनगारी ने बोहेमिया में उसके पीछे चलनेवालों में विद्रोह की आग जला दी। पोप ने इन लोगों के ख़िलाफ़ ईसाई-जिहाद की घोषणा कर दी। जिहाद सस्ती चीज़ थी; उसमें कुछ ख़र्च नहीं होता था और ऐसे बदमाशों और मौक़ापरस्तों की कमी नहीं थी, जो उससे फ़ायदा उठाते थे। इन जिहादियों ने, जैसा कि एच० जी० वेल्स ने लिखा है, "बेगुनाह लोगों पर महा भयंकर अत्याचार किये।" लेकिन जब हस के अनुयायियों की फ़ौज अपना कड़खा गाती हुई सामने आई, तो ये जिहादी रफ़ू-चक्कर हो गये। जिस रास्ते से ये आये थे उसी रास्ते तेज़ी से वापस चले गये। जबतक बेगुनाह देहातियों को मारना और लूटना सम्भव था, इन जिहादियों ने खूब सैनिक जोश दिखाया, लेकिन संगठित सेना के आते ही वे भाग खड़े हुए।

इस तरह निरंकुश और अपने ख़ास विचारों को ही सही माननेवाले मज़हब के ख़िलाफ़ बलवों और विद्रोहों का सिलसिला शुरू हुआ, जो आगे चलकर सारे यूरोप में फैले और जिन्होंने उसे दो विरोधी दलों में बांट दिया और जिन्होंने आगे चलकर ईसाइयत के, कैथलिक और प्रोटेस्टैन्ट, दो टुकड़े कर दिये।

## : ७१ :
## सत्तावाद के ख़िलाफ़ लड़ाई

३० जून, १९३२

मुझे डर है कि यूरोप के मज़हबी झगड़ों के बयान तुम्हें बहुत नीरस मालूम हुए होंगे। लेकिन ये बयान महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे पता चलता है कि आज के यूरोप का विकास कैसे हुआ। वे हमें यूरोप को समझने में भी मदद देते हैं। मज़हबी

आज़ादी के लिए जो लड़ाई हम यूरोप में चौदहवीं सदी में और उसके बाद बढ़ती हुई देखते हैं और राजनैतिक आज़ादी की लड़ाई, जो आगे आनेवाली थी, वास्तव में एक ही लड़ाई के दो पहलू हैं। इसे सत्ता या सत्तावाद के ख़िलाफ़ लड़ाई कहना चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य और पोपडम दोनों पूरी निरंकुश सत्ता के निशान थे और मनुष्य की आत्मा को कुचलने की कोशिश करते थे। सम्राट् तो 'दैवी अधिकार' से बनता था और पोप उससे भी ज़्यादा था, और इसके बारे में शंका करने या ऊपर से भेजी गई आज्ञाओं को न मानने का किसीको हक़ नहीं था। फ़रमाबरदारी ही बड़ा सद्गुण समझा जाता था। निजी विवेक का इस्तेमाल तक भी पाप माना जाता था। इस तरह अंधी फ़रमाबरदारी और आज़ादी के बीच झगड़े की जड़ बिल्कुल ज़ाहिर हो गई थी। मज़हबी विश्वास की आज़ादी के लिए और, इसके बाद, राजनैतिक आज़ादी के लिए, यूरोप में कई सदियों तक ज़बर्दस्त लड़ाई लड़ी गई। बहुत-से उतार-चढ़ाव और बड़ी तकलीफ़ें उठाने के बाद कुछ हद तक कामयाबी हासिल हुई। लेकिन ठीक उस वक़्त, जब लोग आज़ादी की मंज़िल पर पहुंच जाने की ख़ुशियां मना रहे थे, उन्हें यह पता चला कि यह उनकी भूल थी। आर्थिक आज़ादी के बिना, और जबतक ग़रीबी न मिटे, तबतक असली आज़ादी हो ही नहीं सकती। भूखे आदमी से कहना कि तुम आज़ाद हो, सिर्फ़ उसका मज़ाक करना है। इसलिए दूसरा कदम आर्थिक आज़ादी की लड़ाई था और यह लड़ाई आज सारी दुनिया में लड़ी जा रही है। सिर्फ़ एक देश के बारे में यह कहा जा सकता है कि वहां आम तौर पर जनता ने आर्थिक आज़ादी हासिल कर ली है, और वह देश रूस है, या यों कहो कि सोवियत संघ है।

भारत में मज़हबी विश्वास की आज़ादी के लिए ऐसी कोई लड़ाई नहीं हुई, क्योंकि मालूम होता है यहां शुरू से ही इस अधिकार पर कभी कोई पाबन्दी नहीं रही। लोगों को आज़ादी थी कि जो बात उन्हें पसन्द हो उसे मानें और किसीको मजबूर नहीं किया जाता था। लोगों के दिमाग़ों पर असर डालने का तरीक़ा तर्क और वाद-विवाद था, डंडा और सूली नहीं। सम्भव है, कभी-कभी जब्र और हिंसा का भी इस्तेमाल किया गया हो, लेकिन पुराने आर्य-मत में मज़हबी विश्वास की आज़ादी का अधिकार माना जाता था। यह बात शायद अजीब मालूम होगी कि इसका नतीजा कोई बहुत अच्छा नहीं हुआ। इस तरह की ख़याली आज़ादी के इतमीनान में लोग उसके बारे में काफ़ी जागरूक नहीं रहे और धीरे-धीरे वे एक नीचे दर्जे के मज़हब के कर्मकाण्डों, आडम्बरों और अंध-विश्वासों में उलझते चले गए। उन्होंने एक मज़हबी विचारधारा बना ली, जो उन्हें बहुत पीछे घसीट ले गई और जिसने उन्हें मज़हबी सत्ता का ग़ुलाम बना दिया। यह सत्ता किसी पोप की या किसी दूसरे व्यक्ति की नहीं थी, बल्कि यह सत्ता धर्मशास्त्रों, रीतियों और परम्पराओं की थी। इस तरह जहां हम मज़हबी विश्वास की आज़ादी की दुहाई देते थे और उस

पर गर्व करते थे, वहां असल में हम इस आज़ादी से बहुत दूर थे और उन विचारों से जकड़े हुए थे, जो पुराने ग्रन्थों ने और हमारे रीति-रिवाजों ने हमारे दिलों में जमा रक्खे थे। सत्ता और सत्तावाद हमपर राज करता था और हमारे दिमाग़ों पर लगाम लगाता था। वे ज़ंजीरें, जो कभी-कभी हमारे शरीरों को बांध देती हैं, काफ़ी बुरी होती हैं; लेकिन विचारों और संस्कारों की अदृश्य ज़ंजीरें, जो हमारे दिमाग़ों को जकड़ लेती हैं, उनसे कहीं ज़्यादा बुरी होती हैं। ये ज़ंजीरें खुद हमारी ही बनाई होती हैं, और हालांकि अक्सर हम उन्हें महसूस नहीं करते, लेकिन वे हमें अपने भयंकर शिकंजे में जकड़े रहती हैं।

भारत में मुसलमानों के हमलावर की हैसियत से आने के बाद मज़हबी मामलों में ज़ोर-ज़बर्दस्ती का कुछ अंश दाखिल हो गया। असल में तो जीतनेवालों और जीते जानेवालों के बीच लड़ाई राजनैतिक लड़ाई थी, लेकिन इसमें मज़हबी रंग आ गया था और कभी-कभी मज़हब के नाम पर अत्याचार भी हुए। लेकिन यह ख़याल करना भूल होगी कि इस्लाम ऐसे अत्याचारों का हामी था। १६१० ई० में, जब बाक़ी बचे अरब लोग स्पेन से निकाल दिये गए थे, तब उनके साथ निकाले गये एक स्पेनी मुसलमान के दिये हुए भाषण का दिलचस्प वर्णन मिलता है। उसने इनक्विज़िशन का विरोध किया था और कहा था—

"क्या हमारे फ़तहमन्द पुरखों ने कभी एक दफ़ा भी ईसाइयत को स्पेन से नेस्तनाबूद करने की कोशिश की, जबकि वे आसानी से ऐसा कर सकते थे? क्या उन्होंने तुम्हारे बाप-दादों को यह छूट नहीं दी थी कि बंधन में रहते हुए भी वे अपनी मज़हबी रस्मों को आज़ादी से अदा करें... अगर ज़बर्दस्ती मज़हब बदलने की कुछ घटनाएं हों भी तो वे इतनी कम हैं कि बयान के लायक़ नहीं हैं। ऐसा करनेवाले सिर्फ़ वे ही होंगे, जिनकी आंखों में ख़ुदा और रसूल का डर नहीं था और जिन्होंने ऐसा करके इस्लाम के उन पाक उसूलों और शरीयत[1] की बिल्कुल सीधी खिलाफ़वर्ज़ी[2] की है जिन्हें, कलमा शरीफ़[3] के लायक़ अपनेको समझने वाला कोई भी शख्स, बिना तौहीन[4] किये तोड़ नहीं सकता। हम मुसलमानों में, तुम दीन के मामले में मुख्तलिफ़ अकीदे[5] के बाइस[6] एक भी ऐसी खून की प्यासी बाक़ायदा अदालत नहीं बतला सकते जो तुम्हारी मलऊन[7] इनक्विज़िशन के सामने ठहर सके। यह सही है कि जो लोग हमारा मज़हब क़बूल करना चाहते हैं, हम उनको गले लगाने के लिए हमेशा तैयार हैं; लेकिन क़ुरान मजीद में इस बात की इजाज़त नहीं है कि किसीके ज़मीर[8] पर ज़ुल्म किया जाय।"

[1]मुसलमानों का धर्मशास्त्र। [2]अवहेलना। [3]मुसलमानों का मूलमंत्र—ला इला लिल्लिलाह, मोहम्मद उर्रसूलिल्लाह। [4]अपमान। [5]विश्वासों। [6]कारण। [7]निन्दनीय। [8]धार्मिक विश्वास।

इस तरह मज़हबी उदारता और मज़हबी विश्वास की आज़ादी, जो पुराने भारतीय जीवन के ख़ास पहलू थे, किसी हद तक हममें से खिसक गये। उधर यूरोप हमारे बराबर पहुंच गया; बल्कि बहुत लड़ाई-झगड़ों के बाद इन्हीं सिद्धान्तों को क़ायम करने में वह हमसे आगे बढ़ गया। आज कभी-कभी भारत में मज़हबी झगड़े होते हैं; हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते हैं और एक-दूसरे को मारते हैं। यह सच है कि ऐसा कभी-कभी और कहीं-कहीं ही होता है, और हम लोग बहुत करके शान्ति और मेल के साथ रहते हैं, क्योंकि हमारे असली हित एक ही हैं। किसी हिन्दू या मुसलमान का, मज़हब के नाम पर, अपने भाई से लड़ना शर्म की बात है। हमें इसे ख़तम कर देना चाहिए, और हम ऐसा ज़रूर करेंगे। लेकिन महत्व की बात तो यह है कि हमें रीति, परम्परा और अंध-विश्वास की उस पेचीदा विचार-धारा से बाहर निकलना है, जिसने मज़हब के भेस में हमें ज़ंजीरों से बांध रक्खा है।

मज़हबी उदारता की तरह राजनैतिक आज़ादी के मामले में भी भारत ने पहले काफ़ी अच्छी शुरुआत की थी। तुम्हें ग्राम गणराज्यों की याद होगी और यह भी याद होगा कि शुरू में राजा के अधिकार किस तरह सीमित माने जाते थे। यूरोप की तरह यहां यह नहीं माना जाता था कि राजा का कोई 'दैवी अधि-कार' है। चूंकि हमारी सारी शासन-व्यवस्था का आधार गांवों की आज़ादी थी, इसलिए लोग इस बात से बेपरवाह थे कि राजा कौन है। अगर उनकी स्थानीय आज़ादी उनके लिए क़ायम रहती थी तो उनको इससे क्या वास्ता था कि ऊपर कौन हाकिम है? लेकिन यह विचार ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी का था। धीरे-धीरे ऊपर के हाकिम ने अपने अधिकार बढ़ा लिये और गांव की आज़ादी पर बेजा दख़ल जमाया। फिर एक ज़माना आया कि इस देश में बिल्कुल निरंकुश और एकतंत्री राजा होने लगे; गांवों का स्वराज्य मिट गया और ऊपर से नीचे तक कहीं भी आज़ादी का नामो-निशान नहीं रहा।

: ७२ :

## मध्य-युग का अंत

१ जुलाई, १९३२

आओ, अब तेरहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक के यूरोप पर फिर नज़र डालें। यहां ज़बर्दस्त गड़बड़, हिंसा और लड़ाई-झगड़े दिखाई देंगे। भारत की हालत भी काफ़ी ख़राब थी, लेकिन अगर विचार किया जाय तो यूरोप के मुक़ाबले में यहां शान्ति थी।

मंगोल लोग यूरोप में बारूद लाये और अब तोप-बन्दूकों का इस्तेमाल होने

लगा था। बादशाहों ने इससे फ़ायदा उठाकर अपने बाग़ी सामन्ती अमीर-सरदारों को कुचलना शुरू किया। इस काम में उन्हें शहरों के नये व्यापारी वर्ग की भी मदद मिली। अमीर-सरदारों की यह आदत थी कि वे खुद आपस में ही छोटी-छोटी निजी लड़ाइयां लड़ा करते थे। इसकी वजह से वे कमज़ोर पड़ गये। लेकिन इससे गांववालों को भी परेशानी रहती थी। जब बादशाहों की ताक़त बढ़ी तो उन्होंने इस आपसी लड़ाई को दबा दिया। कुछ जगहों पर गद्दी के दो विरोधी दावेदारों के बीच गृह-युद्ध हुए। जैसे इंग्लैंड में दो खानदानों में झगड़ा हुआ—एक तरफ़ यार्क का घराना, और दूसरी तरफ़ लैन्केस्टर का घराना। इन दोनों दलों ने गुलाब को अपना दल-चिह्न बनाया, एक ने सफ़ेद गुलाब को और दूसरे ने लाल गुलाव को। इन युद्धों को इसीलिए 'गुलाबों के युद्ध'[1] कहा जाता है। इन गृह-युद्धों में बड़ी संख्या में सामन्ती अमीर-सरदार मारे गए। क्रूसेडों में भी बहुत-से काम आये थे। इस तरह धीरे-धीरे ये सामन्ती सरदार क़ब्ज़े में आगये। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि अधिकार अमीर-सरदारों के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में पहुंच गये। असल में शक्ति बादशाह की बढ़ी, आम लोग तो जैसे-के-तैसे ही रहे, सिवा इसके कि खानगी लड़ाइयों के कम हो जाने से इनकी हालत कुछ बेहतर ज़रूर हो गई। पर बादशाह और भी ज़्यादा सत्ताधारी, निरंकुश और एकाधिपति बनता गया। बादशाह और नये व्यापारी वर्ग का संघर्ष अभी शुरू नही हुआ था।

युद्ध और हत्याकांड से भी ज़्यादा भयंकर वह 'बड़ी प्लेग' थी, जो यूरोप में १३४८ ई० के क़रीब फैली। यह महामारी सारे यूरोप में, रूस और एशिया-कोचक से लेकर इंग्लैंड तक फैल गई। फिर यह मिस्र, उत्तरी अफ़्रीका और मध्य एशिया में पहुंची और वहां से पश्चिम की तरफ़ फैली। इसको 'काली मौत' भी कहते थे। यह लाखों को खा गई। इंग्लैंड की एक-तिहाई आबादी खतम हो गई और चीन व दूसरे देशों की मृत्यु-संख्या का तो कुछ ठिकाना ही नहीं था। ताज्जुब की बात है कि यह भारत में नहीं आई।

इस भयानक आफ़त की वजह से आबादी बहुत घट गई, और बहुत जगह तो खेती करने के लिए काफ़ी आदमी ही नहीं रहे। आदमियों की कमी की वजह से मज़दूरों की मजूरी की दरें बढ़ने लगीं। लेकिन संसदें ज़मींदारों और जायदाद के मालिकों के हाथों में थीं। इन लोगों ने ऐसे क़ानून बनाये कि जिससे लोग पुरानी नीची मजूरी पर काम करने और ज़्यादा न मांगने के लिए मजबूर किये जा सकें। जब किसान और ग़रीब बर्दाश्त की हद से ज़्यादा कुचले और निचोड़े गये तब उन्होंने विद्रोह कर दिया। सारे पश्चिमी यूरोप में किसानों के ये विद्रोह एक के बाद एक होते रहे। फ़्रान्स में १३५८ ई० में किसानों का एक विद्रोह हुआ जो

---

[1] The Wars of the Roses.

ज़्हाकरी' के नाम से मशहूर है। इंग्लैंड में वाट टाइलर का बलवा हुआ, जिसमें टाइलर, १३८१ ई० में, अंग्रेज बादशाह के सामने मार डाला गया। ये विद्रोह अक्सर बड़ी बेरहमी के साथ दबा दिये गए। लेकिन बराबरी के नये विचार धीरे-धीरे फैल रहे थे। लोगों के दिलों में सवाल पैदा होने लगे कि जब दूसरों के पास धन है और हर चीज़ की बहुतायत है, तो वे ही ग़रीब क्यों रहें और भूखे क्यों मरें ? क्या वजह है कि कुछ लोग तो सरदार कहलायें और दूसरे ग़ुलाम असामी हों ? कुछके पास बढ़िया कपड़े क्यों हों जबकि दूसरों के पास तन ढकने के लिए चिथड़े तक भी नहीं हैं ? सत्ता के आगे सर झुकाने का पुराना ख़याल, जिसपर सारी सामन्त-प्रथा की बुनियाद थी, ढह रहा था। इसलिए किसान लोग बार-बार सर उठाते थे। लेकिन वे कमज़ोर और बिखरे हुए थे, इसलिए दबा दिये जाते थे। पर कुछ समय बाद वे फिर उठ खड़े होते थे।

इंग्लैण्ड और फ़ान्स के बीच क़रीब-क़रीब लगातार युद्ध चलते रहे। चौदहवीं सदी के शुरू से पन्द्रहवीं सदी के मध्य तक, इन दोनों में युद्ध होता रहा, जो 'सौ वर्ष का युद्ध' कहलाता है। फ़ान्स के पूर्व में बरगंडी था। यह एक शक्तिशाली रियासत थी और नाम के लिए फ़ान्स के बादशाह की ताबेदार थी। लेकिन यह सरकश और झगड़ालू रियासत थी और अंग्रेज़ों ने, फ्रान्स के ख़िलाफ़, इससे और दूसरी शक्तियों से साज़िश-सी कर ली थी। थोड़े दिनों के लिए फ़ान्स चारों ओर से घिर गया था। पश्चिमी फ्रान्स का काफ़ी बड़ा हिस्सा बहुत दिनों तक अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में रहा और इंग्लैंड का बादशाह अपनेको फ़ान्स का बादशाह भी कहने लगा था। जिस समय फ्रान्स के भाग्य का सितारा बहुत नीचे गिर गया था और उसके लिए कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती थी। तब आशा और विजय एक नौजवान किसान लड़की के रूप में प्रकट हुई। तुम 'ओर्लियों की कुमारी' जीन द आर्क या जोन ऑफ़ आर्क के बारे में तो थोड़ा-बहुत जानती ही हो। उसे तुमने अपनी आदर्श वीर महिला मान रक्खा है। उसने अपने पस्त-हिम्मत देशवासियों के दिलों में भरोसा पैदा किया और उन्हें बड़ा भारी उद्योग करने की प्रेरणा दी और उसके नेतृत्व में फ्रान्सीसियों ने अंग्रेजों को अपने देश से मार भगाया। लेकिन इसका इनाम उसे यह मिला कि इनक्विज़िशन के सामने उसपर मुक़दमा चला और उसे ज़िन्दा जला दी जाने की सज़ा दी गई। अंग्रेज़ों ने उसे पकड़ लिया और ईसाई-संघ से उसके ख़िलाफ़ फ़तवा निकलवाया और फिर १४३० ई० में रूआं नगर के चौराहे पर उसे ज़िन्दा जला दिया गया। बहुत वर्षों के बाद रोमन ईसाई-संघ ने अपने फ़तवे को बदलकर पहले अपकार को मिटाने की कोशिश की; और बाद में तो फिर उसे 'संत' का दर्जा दे दिया गया !

जीन ने फ़ान्स की, और अपनी पितृभमि को विदेशियों से बचाने की आवाज़

उठाई। यह आवाज़ नय ढंग की थी। उस वक़्त लोगों में सामन्ती भावना इतनी भरी हुई थी कि वे राष्ट्रीयता का विचार ही नहीं कर सकते थे। इसलिए जीन जिस ढंग से बात करती थी, उससे उन्हें ताज्जुब होता था और उसकी बातें कोई समझता ही नहीं था। लेकिन जीन द आर्क के ज़माने से फ़्रान्स में राष्ट्रीयता की हलकी-सी शुरूआत दिखाई देती है।

अंग्रेज़ों को अपने मुल्क से निकालने के बाद फ़्रान्स के बादशाह ने बरगंडी की तरफ़ ध्यान दिया, जिसने उसे इतना परेशान कर रक्खा था। यह शक्तिशाली रियासत आख़िरकार क़ाबू में आ गई और १४८३ ई० में बरगंडी फ़्रान्स का इलाक़ा बन गया। फ़्रान्स का बादशाह अब एक शक्तिशाली छत्रपति बन गया। उसने अपने सारे सामन्ती अमीर-सरदारों को या तो कुचल दिया या क़ाबू में कर लिया। बरगंडी के फ़्रान्स में मिल जाने से जर्मनी और फ़्रान्स आमने-सामने आ गये; इनकी सरहदें एक-दूसरी को छूने लगीं। लेकिन जहां फ़्रान्स में एक मज़बूत केन्द्रीय राजतंत्र था, वहां जर्मनी कमज़ोर था और बहुत-सी रियासतों में बंटा हुआ था।

इंग्लैंड भी स्कॉटलैंड को जीतने की कोशिश कर रहा था। यह भी एक लम्बा संघर्ष रहा है जिसमें स्कॉटलैंड अक्सर इंग्लैंड के ख़िलाफ़ फ़्रान्स का पक्ष लेता रहा। १३१४ ई० में स्काटलैंडवालों ने राबर्ट ब्रूस के नेतृत्व में, बैनकबर्न की लड़ाई में अंग्रेज़ों को हरा दिया।

इससे भी पहले, बारहवीं सदी में, अंग्रेज़ों ने आयरलैंड को जीतने की कोशिशें शुरू कीं। इस बात को सात सौ वर्ष हो गये; तबसे अब तक आयरलैंड में कितनी लड़ाइयां हुईं, कितने ही विद्रोह हुए और कितना आतंक और तहलका मचा। इस छोटे-से देश ने विदेशी प्रभुत्व को मानने से बराबर इन्कार किया और पीढ़ी-दर-पीढ़ी विद्रोह करके दुनिया के सामने ऐलान कर दिया कि वह सर नहीं झुकायेगा।

तेरहवीं सदी में यूरोप के एक और छोटे-से राष्ट्र स्वीज़रलैंड ने अपनी आज़ादी के हक़ का दावा किया। यह पवित्र रोमन साम्राज्य का हिस्सा था और इसपर आस्ट्रिया का शासन था। तुमने विलियम टेल और उसके पुत्र का क़िस्सा पढ़ा होगा, लेकिन यह ख़िस्सा शायद सही नहीं है। पर इससे भी ज़्यादा अजीब चीज़ है बड़े साम्राज्य के ख़िलाफ़ स्वीज़रलैंड के किसानों का विद्रोह और उनका उसके सामने सर झुकाने से इन्कार। पहले तीन ज़िलों ने बलवा किया और १२९१ ई० में एक 'अमर संघ' कायम किया। दूसरे ज़िले भी उसमें शामिल हो गये और १४९९ ई० में स्वीज़रलैंड आज़ाद गणराज्य हो गया। यह कई ज़िलों का एक संघ था और इसे 'स्विस कॉन्फ़ेडेरेशन' नाम दिया गया। तुम्हें याद होगा कि अगस्त की पहली तारीख़ को स्वीज़रलैंड में हम लोगों ने कई एक पहाड़ों की चोटियों पर होलियां जलती हुई देखी थीं। यह स्विस लोगों का राष्ट्रीय दिवस था; यह उनकी क्रान्ति

के उस जन्म-दिन की सालगिरह थी जिस दिन अलाव जलाकर इशारा किया गया था कि आस्ट्रिया के शासक के खिलाफ़ बग़ावत की घड़ी आ गई है।

यूरोप के पूर्व में कुस्तुन्तुनिया में क्या हो रहा था? तुम्हें याद होगा कि लातीनी जिहादियों ने १२०४ ई० में यूनानियों से यह शहर छीन लिया था। १२६१ ई० में यूनानियों ने इन लोगों को निकाल दिया और पूर्वी साम्राज्य फिर से क़ायम कर लिया। लेकिन एक दूसरा और ज़्यादा बड़ा ख़तरा सामने आ रहा था।

जब मंगोल एशिया में होते हुए आगे बढ़े थे तब पचास हज़ार उस्मानी तुर्क उनसे जान बचाकर भाग निकले थे। ये सेलजूक तुर्क नहीं थे। ये अपने पूर्वज या राजवंश के संस्थापक, उस्मान के वंशज होने का दावा करते थे, इसलिए उस्मानी तुर्क कहलाते थे। इन उस्मानियों ने पश्चिमी एशिया में सेलजूकों की शरण ली। जान पड़ता है कि ज्यों-ज्यों सेलजूक तुर्क कमज़ोर पड़ते गये, उस्मानियों की ताक़त बढ़ती गई। वे फैलते भी चले गए। क़ुस्तुन्तुनिया पर हमला करने के बजाय, जैसा कि उनके पहले बहुतों ने किया था, वे उसे रास्ते में छोड़ गये और १३५३ ई० में एशिया को पार करके यूरोप जा पहुंचे। वहां वे तेज़ी से फैल गये। उन्होंने बलग़ारिया और सर्बिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और एद्रियानोप्‌ल् को अपनी राजधानी बनाया। इस तरह से उस्मानी साम्राज्य क़ुस्तुन्तुनिया के दोनों तरफ़, एशिया और यूरोप में फैल गया। इसने कुस्तुन्तुनिया को चारों तरफ़ से घेर लिया मगर कुस्तुन्तुनिया शहर इसके बाहर ही रहा। हज़ार वर्ष पुराना घमंडी पूर्वी रोमन साम्राज्य घटते-घटते, बस अब इस शहर तक ही रह गया था। इससे ज़्यादा कुछ नहीं। हालांकि तुर्क पूर्वी साम्राज्य को तेज़ी के साथ हड़प करते जा रहे थे, फिर भी मालूम होता है सुलतानों और सम्राटों में मित्रता बनी हुई थी और इन दोनों के खानदानों पर आपसी शादी-विवाह भी होते रहते थे। आख़िरकार १४५३ ई० में क़ुस्तुन्तुनिया पर भी तुर्कों का क़ब्ज़ा हो गया। अब हम सिर्फ़ उस्मानी तुर्कों का ज़िक्र करेंगे। सेलजूकों का नाम अब बाक़ी नहीं रहा था।

हालांकि क़ुस्तुन्तुनिया के पतन की आशंका बहुत दिनों से की जा रही थी, फिर भी यह ऐसी घटना थी, जिसने यूरोप को हिला दिया, क्योंकि इसका मतलब यह था कि हज़ार वर्ष पुराना यूनानी पूर्वी साम्राज्य पूरी तरह ख़तम हो गया। इसका मतलब यह भी था कि यूरोप पर मुसलमानों का दूसरा हमला हो। तुर्क फैलते चले गए और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता था कि वे सारे यूरोप को जीत लेंगे, लेकिन वे वियेना के दरवाज़ों पर रोक दिये गए।

सेण्ट सोफ़िया का बड़ा गिरजा, जिसे छठी सदी में सम्राट् जस्तीनियन ने बनवाया था, बदलकर मसजिद बना दिया गया और उसका नाम आया सूफ़िया रख दिया गया। उसका खज़ाना भी कुछ लूटा गया। इसकी वजह से यूरोप में

कुछ उत्तेजना भी फैली लेकिन वह कुछ कर-धर नहीं सकता था। मगर सच तो यह है कि तुर्की सुल्तान कट्टर यूनानी ईसाई-संघ की तरफ़ बहुत उदार रहे, यहां तक कि क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने के बाद सुल्तान मोहम्मद द्वितीय ने अपने को यूनानी ईसाई-संघ का सरपरस्त ही ऐलान कर दिया। बाद के एक सुल्तान ने, जो 'शानदार सुलेमान' के नाम से मशहूर है, अपनेको पूर्वी सम्राटों का प्रतिनिधि मानकर 'सीज़र' का ख़िताब धारण कर लिया। प्राचीन परम्परा की यही शक्ति होती है!

जान पड़ता है कि उस्मानी तुर्कों का क़ुस्तुन्तुनिया के यूनानियों ने कोई ज़्यादा विरोध नहीं किया। उन्होंने देख लिया था कि पुराना साम्राज्य ढह रहा है। उन्होंने पोप से और पश्चिमी ईसाइयों से तुर्कों को बेहतर समझा। लातीनी जिहादियों का उन्हें बुरा तजुर्बा हो चुका था। कहते हैं कि १४५३ ई० के कुस्तुन्तुनिया के आख़िरी घेरे में, एक बिज़ेन्तीन अमीर ने कहा था, "पोप के ताज से रसूल की पगड़ी अच्छी है।"

तुर्कों ने जांनिसार नाम की एक निराली फ़ौज बनाई। वे छोटे-छोटे ईसाई लड़कों को, ईसाइयों से ख़िराज के रूप में ले लेते थे और उनको ख़ास तालीम देते थे। छोटे-छोटे बच्चों को उनके मां-बाप से अलग कर देना बेरहमी थी। लेकिन इन लड़कों को इससे कुछ फ़ायदा भी होता था, क्योंकि उन्हें अच्छी तालीम दी जाती थी और वे एक तरह के सैनिक रईस बन जाते थे। जांनिसारियों की यह फ़ौज उस्मानी सुल्तानों की शक्ति का एक आधार बन गई। 'जांनिसार' का मतलब है 'जान निछावर करनेवाला'।

इसी तरह, मिस्र में भी जांनिसारियों के ढंग की एक ममलूकों की फ़ौज बनाई गई। बाद में यह बहुत शक्तिशाली हो गई और इसमें से कई लोग मिस्र के सुल्तान भी हुए।

मालूम होता है कि उस्मानी सुल्तानों ने क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने के बाद अपने से पहले के बिज़ेन्तीन सम्राटों की विलास और भ्रष्टाचार की बहुत-सी बुरी आदतें भी विरासत में ले लीं। बिज़ेन्तीनों की सारी गिरी हुई साम्राज्यशाही ने इनको निगल लिया और धीरे-धीरे उनकी सारी ताक़त निचोड़ ली। लेकिन कुछ दिनों तक ये मज़बूत बने रहे और ईसाई यूरोप इनसे डरता रहा। इन्होंने मिस्र जीत लिया और अब्बासियों के कमज़ोर और शक्तिहीन प्रतिनिधि से उसका ख़लीफ़ा का ख़िताब छीन लिया। उस वक़्त से उस्मानी सुल्तान अपनेको ख़लीफ़ा भी कहते रहे, लेकिन कुछ वर्ष हुए मुस्तफ़ा कमाल पाशा ने ख़िलाफ़त और सुल्तानियत दोनों को मिटाकर इस ख़िताब का अन्त कर दिया।

क़ुस्तुन्तुनिया के पतन की तारीख इतिहास की एक बड़ी तारीख़ है। इस दिन

से एक युग का अन्त और दूसरे की शुरुआत मानी जाती है। मध्य-युग ख़तम हो जाते हैं, 'अंधकार युग' के हज़ार वर्ष समाप्त होते हैं, यूरोप में तेज़ी पैदा होती है और नई ज़िन्दगी व चेतना नज़र आती है। इसे रिनेसां[1], यानी विद्या और कला के पुनर्जन्म की शुरुआत कहते हैं। जनता मानो लम्बी नींद से जागती है। लोग सदियों-पार प्राचीन यूनान की तरफ़ फिर कर नज़र डालते हैं, जबकि उसकी शान के दिन थे, और उससे प्रेरणा हासिल करते हैं। जीवन के उस निराशा और उदासी भरे नज़रिये के ख़िलाफ़, जिसपर ईसाई-संघ ज़ोर देता था, और इन्सानी भावना को जकड़नेवाली ज़ंजीरों के ख़िलाफ़, लोगों के दिमाग़ में विद्रोह-सा उठ खड़ा होता है। पुराने यूनानियों का सौन्दर्य-प्रेम फिर प्रकट होता है और यूरोप चित्रकला और मूर्त्तिकला की सुन्दर रचनाओं से खिल उठता है।

लेकिन क़ुस्तुन्तुनिया के पतन से ही ये सब बातें एकदम नहीं पैदा हो गई। ऐसा ख़याल करना बेहूदगी होगी। तुर्कों के इस शहर पर क़ब्ज़ा कर लेने से परिवर्तन की गति में ज़रा-सी तेज़ी आगई, क्योंकि बहुत-से विद्वान और विद्या-व्यसनी लोग इसे छोड़कर पश्चिम चले गए। वे अपने साथ इटली में यूनानी साहित्य का ख़ज़ाना ठीक उस वक्त लेकर आये जब कि पश्चिम उसकी क़द्र करने के लिए तैयार बैठा था। इस अर्थ में कह सकते है कि क़ुस्तुन्तुनिया के पतन से रिनेसां की शुरुआत में थोड़ी-सी मदद मिल गई।

लेकिन इस महान परिवर्तन का यह बहुत छोटा कारण था। पुराना यूनानी साहित्य और विचार मध्य-काल के इटली या पश्चिम के लिए कोई नई चीज़ नहीं थे। विश्वविद्यालयों में लोग अब भी इसका अध्ययन करते थे और विद्वानों को इसकी जानकारी थी। लेकिन यह चीज़ कुछ गिने-चुने आदमियों तक ही सीमित थी, और चूंकि यह जीवन के चालू नज़रिये से मेल नहीं खाती थी, इसलिए इसका फैलाव नही हो पाता था। लोगों के मन में शंका की शुरुआत होने से धीरे-धीरे जीवन के नये नज़रिये की ज़मीन तैयार हुई। लोग ज़माने की हालत से नाखुश थे और ऐसी चीज़ की तलाश में थे, जो उन्हें ज्यादा तसल्ली दे सके। जब वे शंका और इंतज़ारी की इस हालत में थे तो उनके दिमाग़ों ने यूनान की पुरानी मूर्त्ति-पूजक फ़िलासफ़ी खोज निकाली और उसके साहित्य का रस छककर पिया। उन्हें जान पड़ा कि उनको बस इसी चीज़ की तलाश थी और इस खोज ने उनमें जोश भर दिया।

यह रिनेसां सबसे पहले इटली में शुरू हुआ। बाद में फ्रांन्स, इंग्लैंड, वग़ैरा में प्रकट हुआ। यह सिर्फ़ यूनानी विचार और साहित्य की दुबारा खोज नहीं थी। यह इससे कहीं ज़्यादा बड़ी और महान चीज़ थी। यूरोप में सतह के नीचे-ही-नीचे

---

[1] **रिनेसां (Renaissance)—कला और साहित्य के पुनरुत्थान का युग।**

बहुत दिनों से जो प्रक्रिया चल रही थी उसीका यह ज़ाहिरा रूप था। यह भीतरी हलचल बहुत-से रूपों में फूटकर निकलनेवाली थी। रिनेसां इन्हीं रूपों में से एक था।

## : ७३ :

# समुद्री रास्तों की खोज

३ जुलाई, १९३२

अब हम यूरोप में उस मंज़िल तक पहुंच गये है जब मध्यकालीन संसार टुकड़े-टुकड़े होना शुरू होता है और उसकी जगह एक नई व्यवस्था ले लेती है। लोग उस वक्त की हालत से बेज़ार और नाखुश थे और इस भावना ने ही परिवर्तन और तरक़्क़ी को पैदा किया। सामन्ती प्रथा और मज़हबी तौर-तरीक़े जिन वर्गों को निचोड़ते थे, वे सभी बेज़ार थे। हमने देखा है कि किसानों के विद्रोह होने लगे थे। लेकिन किसान बहुत पिछड़े हुए और कमज़ोर थे और विद्रोह करने पर भी कुछ हासिल न कर सके। उनके दिन अभी तक नहीं आये थे। असली संघर्ष पुराने सामन्त-वर्ग जागे हुए और नये मध्यम-वर्ग में था, जिसकी ताक़त बढ़ रही थी। सामन्त-प्रथा का मतलब यह था कि धन की बुनियाद ज़मीन है, या ज़मीन ही धन है। लेकिन अब एक नये क़िस्म का धन इकट्ठा हो रहा था, जो ज़मीन से पैदा नहीं होता था। यह धन उद्योगों से और व्यापार से आता था और नया मध्यम-वर्ग यानी बुर्जुआ इससे फ़ायदा उठाता था और इसीकी वजह से उसकी ताक़त बढ़ी थी। यह संघर्ष काफ़ी दिनों का हो चुका था। अब हम यह देखते हैं कि इन दोनों दलों की हालत में अदला-बदली हो गई थी। हालांकि सामन्त-प्रथा अभी तक जारी थी, लेकिन उसे अब अपने बचाव की चिन्ता थी और मध्यम-वर्ग अपनी ताक़त के भरोसे हमलावर हो रहा था। यह संघर्ष सैकड़ों वर्षों तक जारी रहा और बुर्जुआ की दिन-पर-दिन जीत होती गई। यूरोप के अलग-अलग देशों में इस संघर्ष की जुदी-जुदी सूरत रही है। पूर्वी यूरोप में यह संघर्ष नहीं के बराबर था। पश्चिम में ही मध्यम वर्ग सबसे पहले आगे आया।

पुरानी बन्दिशों के टूट जाने की वजह से कई दिशाओं में—जैसे विज्ञान में कला में, साहित्य में और शिल्पकारी में, तरक्क़ी हुई और नई-नई खोजें भी हुईं। जब मनुष्य की भावना-शक्ति अपने बन्धनों को तोड़ डालती है, तो हमेशा यही होता है। वह विकास करती है और फैल जाती है। इसी तरह, जब हमारा देश आज़ाद होगा, हमारे देशवासियों का और हमारी प्रतिभा का विकास होकर सब तरफ़ फैलाव होगा।

ज्यों-ज्यों ईसाई-संघ का क़ब्ज़ा ढीला पड़ा और वह कमज़ोर हुआ, लोग

समुद्री रास्तों की खोज
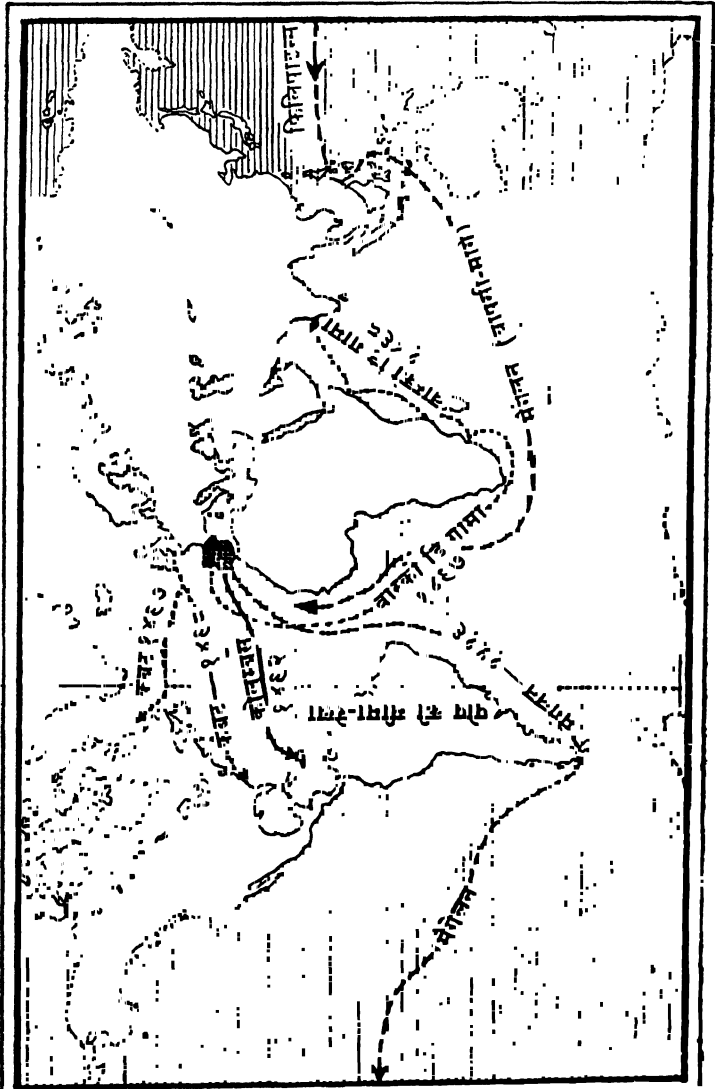
बड़े और छोटे गिरजों पर कम ख़र्च करने लगे। बहुत जगहों पर सुन्दर इमारतें बनीं। लेकिन ये टाउनहाल या इसी क़िस्म की दूसरी इमारतें थीं। गोथिक शैली भी पीछे रह गई और एक नई शैली का विकास होने लगा।

ठीस इसी वक्त, जब पश्चिमी यूरोप में नई ज़िन्दगी भर रही थी, पूर्व का सोना लोगों को लुभाने लगा। मार्को पोलो और दूसरे यात्रियों की कहानियों ने, जो भारत और चीन में सफ़र कर चुके थे, यूरोप की कल्पना को उभाड़ा और पूर्व की अथाह दौलत के इस ज़ोर ने बहुतों को समुद्र-यात्रा की ओर खींचा। इसी वक़्त क़ुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ। तुर्कों ने पूर्व जाने के ख़ुश्की और समुद्री रास्तों पर क़ब्ज़ा कर रखा था और वे व्यापार को ज़्यादा बढ़ावा नहीं देते थे। बड़े-बड़े सौदागर और व्यापारी इससे ख़ीज उठे और साहसिकों की नई जमात भी, जो पूर्व के सोने पर दांत लगाये बैठी थी, झल्ला गई। इसलिए इन लोगों ने सुनहरे पूर्व तक पहुंचने के लिए नये रास्ते खोज निकालने की कोशिश की।

स्कूल का हरेक बच्चा जानता है कि ज़मीन गोल है और सूर्य के चारों तरफ़ घूमती है। हम लोगों के लिए यह बिलकुल स्पष्ट बात है। लेकिन पुराने ज़माने में यह इतनी ज़ाहिर नहीं थी और जो लोग ऐसा सोचने या कहने का साहस करते थे, उन्हें ईसाई-संघ की नाराज़गी का सामना करना पड़ता था। लेकिन ईसाई-संघ का डर होते हुए भी दिन-पर-दिन और ज़्यादा लोग मानने लगे कि पृथ्वी गोल है। अगर गोल है तो पश्चिम की ओर जाने से भी चीन और भारत पहुंचना मुमकिन होना चाहिए, ऐसा कुछ लोग सोचते थे। कुछ अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुंचने की सोचते थे। याद रहे कि उस वक़्त स्वेज़ नहर नहीं थी और जहाज़ भूमध्यसागर से लालसागर नहीं जा सकते थे। भूमध्यसागर और लालसागर के बीच माल और सौदागरी सामान ख़ुश्की के रास्ते से, शायद ऊंटों पर लादकर, भेजे जाते थे, और दूसरी तरफ़ के जहाज़ों पर लादे जाते थे। यह ढंग सहूलियत का नहीं था। मिस्र और सीरिया पर तुर्कों का क़ब्ज़ा हो जाने से यह रास्ता और भी मुश्किल हो गया।

लेकिन भारत की दौलत का लोभ लोगों को बराबर उकसाता और खींचता रहा। खोज करने के लिए समुद्र-यात्रा में स्पेन और पुर्तगाल सबसे पहले आगे बढ़े। स्पेन उस वक़्त ग्रैनैडा से मूरों को सदा के लिए निकालने में लग रहा था। अरगॉन के फ़र्डिनेण्ड और कैस्ताइल की आइज़ाबला के विवाह से ईसाई स्पेन एक हो गया था और १४९२ ई० में ग्रैनैडा अरबों के हाथ से जाता रहा। यह उस वक़्त की बात है जब यूरोप की दूसरी तरफ, तुर्कों को कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा किये हुए क़रीब पचास वर्ष हो चुके थे। स्पेन फ़ौरन ही यूरोप की एक बड़ी ईसाई शक्ति बन गया।

पुर्तगालियों ने पूर्व की तरफ़ जाने की कोशिश की; स्पेनियों ने पश्चिम की तरफ़। १४४५ ई० में पुर्तगालियों ने वर्दे का अन्तरीप खोज निकाला। इसे सबसे पहली बड़ी मंज़िल कहना चाहिए। यह अन्तरीप अफ्रीका का आख़िरी पश्चिमी छोर है। अफ्रीका के नक़्शे को देखो। तुम्हें मालूम होगा कि अगर कोई यूरोप से जहाज़ के ज़रिये इस अन्तरीप को जाना चाहे तो उसे दक्षिण-पश्चिम जाना होगा। वर्दे अन्तरीप पहुंचकर फिर उसे घूमकर दक्षिण-पूर्व जाना होता है। इस अन्तरीप की खोज आशा की बड़ी किरन थी, क्योंकि इससे लोगों को विश्वास हो गया कि अब वे अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुंच सकेंगे।

फिर भी अभी अफ्रीका का चक्कर काटने में चालीस वर्ष की देर थी। १४८६ ई० में बार्थोलोम्यू, दायज़ ने, जो पुर्तगाली था, अफ्रीका की दक्षिणी नोक का चक्कर लगाया। यही नोक उत्तमाशा अन्तरीप[१] कहलाती है। कुछ ही वर्षों के बाद एक दूसरा पुर्तगाली वास्को-द-गामा, इस खोज से फ़ायदा उठाकर, उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ भारत आया। वास्को-द-गामा १४९७ ई० में मलाबार के किनारे कलीकट आ पहुंचा।

इस तरह भारत पहुंचने की दौड़ में पुर्तगालियों की जीत हुई। लेकिन इसी बीच दुनिया की दूसरी तरफ़ बड़ी-बड़ी घटनाएं हो रही थीं और स्पेन को उनसे फ़ायदा पहुंचनेवाला था। क्रिस्तोफ़र कोलम्बस १४९२ ई० में अमेरिका की दुनिया में जा पहुंचा। कोलम्बस जिनोआ का रहनेवाला एक ग़रीब आदमी था। इस विश्वास पर कि दुनिया गोल है, वह पश्चिम की ओर जहाज़ ले जाकर जापान और भारत पहुंचना चाहता था। उसे यह ख़याल नहीं हुआ कि यह सफ़र उसके अन्दाज़ से इतना ज़्यादा लम्बा हो जायगा। वह एक राज-दरबार से दूसरे राज-दरबार में इस कोशिश में फिरा कि कोई राजा उसे इस खोज की समुद्र-यात्रा के लिए मदद दे दे। आखिरकार स्पेन के फ़र्दिनेन्द और आइज़ाबेला मदद देने को तैयार हो गये और कोलम्बस अट्ठासी आदमियों और तीन छोटे जहाज़ों को लेकर रवाना हुआ। अनजानी दिशा में यह समुद्र-यात्रा असल में वीरता और साहस की यात्रा थी, क्योंकि कोई यह नहीं जानता था कि आगे क्या है। लेकिन कोलम्बस के दिल में विश्वास था और वह विश्वास सही साबित हुआ। उनसठ दिन की समुद्र-यात्रा के बाद वे किनारे लगे। कोलम्बस ने समझा कि यही भारत है। लेकिन असल में यह वेस्ट-इण्डीज़ का एक टापू था। कोलम्बस कभी अमेरिका के महाद्वीप में नहीं पहुंचा और मरते वक़्त तक उसका विश्वास रहा कि वह एशिया पहुंच गया। उसकी यह अजीब ग़लती आज तक क़ायम है। इन टापुओं को आज तक वेस्ट-इण्डीज़ कहते

---

[१] Cape of Good Hope

हैं और अमेरिका के आदिम निवासियों को अब भी इंडियन या 'रैड इंडियन' कहते हैं।

कोलम्बस यूरोप वापस आया और दूसरे साल और ज़्यादा जहाज़ों को लेकर फिर निकल पड़ा। लोगों ने समझा कि भारत का नया रास्ता मालूम हो गया। इससे यूरोप में काफी हलचल मच गई। इसके कुछ दिन बाद ही वास्को-द-गामा ने पूर्वी यात्रा की जल्दी की और वह कलीकट पहुंचा। पूर्व और पश्चिम में नये देशों की खोज की खबर से यूरोप की बेकरारी बढ़ने लगी। इन नये देशों पर हुकूमत जमाने की इच्छा रखनेवाले दो प्रतिद्वन्द्वी पुर्तगाल और स्पेन थे। इस मौक़े पर पोप न दस्तंदाज़ी की और स्पेनियों व पुर्तगालियों के बीच टक्कर को रोकने के लिए उसने दूसरों के बिरते पर उदारता दिखाने का निश्चय किया। १४९३ ई० में उसने एक 'बुल' (पोप की घोषणाओं और फ़तवों को किसी कारण 'बुल' कहते हैं) निकाला जो 'हदबन्दी का बुल' कहलाता है। उसने अज़ोर्स के पश्चिम १०० लीग[1] के फ़ासले पर उत्तर से दक्षिण तक एक फ़र्ज़ी लकीर खींच दी और यह ऐलान कर दिया कि इस लकीर के पूर्व जितना गैर-ईसाई मुल्क है, वह पुर्तगाल ले ले और इसके पश्चिम के मुल्क स्पेन ले ले। यूरोप को छोड़कर क़रीब-क़रीब सारी दुनिया का यह शानदार तोहफ़ा था और इसे देने में पोप को कुछ भी ख़र्च नहीं करना पड़ा! अज़ोर्स अतलांतिक महासागर के टापू हैं, और उनके पश्चिम में १०० लीग यानी ३०० मील के फ़ासले पर रेखा खींचने से सारा उत्तर अमेरिका और दक्षिण अमेरिका का ज़्यादातर हिस्सा पश्चिम में पड़ जाता है। इस तरह से पोप ने दर असल अमेरिका महाद्वीप स्पेन की नज़र कर दिया और भारत, चीन, जापान और दूसरे पूर्वी देश और सारा अफ्रीका पुर्तगाल की भेंट कर दिया!

पुर्तगालियों ने इस बड़ी सल्तनत पर क़ब्ज़ा करना शुरू किया। यह कोई आसान काम नहीं था। लेकिन वे कुछ आगे बढ़े और पूर्व की तरफ़ बढ़ते गये। १५१० ई० में वे गोवा पहुंचे। १५११ ई० में मलाया प्रायद्वीप में मलक्का पहुंचे। इसके बाद ही जावा और १५७६ ई० में चीन पहुंच गये। इसका मतलब यह नहीं है कि इन देशों पर उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया। कुछ जगहों पर उन्हें सिर्फ़ पांव रखने को जगह मिल गई। किसी अगले पत्र में हम पूर्व में इन लोगों की कारगुज़ारियों की चर्चा करेंगे।

पूर्व की ओर जानेवाले पुर्तगालियों में फर्दिनेन्द मैगेलन नाम का एक आदमी था। वह अपने पुर्तगाली मालिकों से लड़ पड़ा और यूरोप वापस जाकर स्पेन की प्रजा बन गया। उत्तमाशा अन्तरीप से होकर पूर्वी रास्ते से यह भारत और पूर्वी द्वीपों को जा चुका था। अब वह पश्चिमी रास्ते से अमेरिका होकर इन देशों को

---

[1]लीग—क़रीब तीन मील के बराबर होता है।

जाना चाहता था। शायद उसको यह मालूम था कि जिस मुल्क का पता कोलम्बस ने लगाया था वह एशिया नहीं था। वास्तव में १५७३ ई० में बलबोआ नामक एक स्पेनी मध्य अमेरिका में पनामा के पहाड़ों को पार करके प्रशान्त महासागर पहुंच गया था। उसने इस समुद्र को दक्षिण समुद्र नाम दिया और इसके किनारे पर खड़े होकर उसने दावा किया कि यह नया समुद्र और इसके किनारों के तमाम देश उसके स्वामी स्पेन के बादशाह की मिल्कियत हैं।

१५१९ ई० में मैगेलन अपनी पश्चिमी समुद्र-यात्रा पर रवाना हुआ। यह यात्रा उसकी सबसे बड़ी यात्रा साबित होनेवाली थी। उसके साथ पांच जहाज़ और २७० आदमी थे। वह अतलांतिक महासागर पार करके दक्षिण अमेरिका पहुंचा और वहां से दक्षिण की तरफ़ सफ़र करते-करते वह आख़िर में इस महाद्वीप के छोर तक पहुंच गया। उसका एक जहाज़ तो टूटकर नष्ट हो गया और दूसरा उसे छोड़कर भाग गया। सिर्फ़ तीन जहाज़ बचे। इन तीन जहाज़ों को लेकर वह दक्षिण अमेरिका के महाद्वीप और एक टापू के बीच के तंग जलडमरूमध्य को लांघकर दूसरी तरफ के खुले समुद्र में जा निकला। इस समुद्र को उसने प्रशान्त महासागर नाम दिया, क्योंकि अतलांतिक के मुक़ाबिले में यह बहुत ज़्यादा शान्त था। प्रशांत महासागर तक पहुंचने में उसे १४ महीने लगे। जिस जलडमरूमध्य से वह गुज़रा था, वह अभी तक उसीके नाम पर 'मैगेलन का जलडमरूमध्य' कहलाता है।

आगे भी मैगेलन ने बहादुरी के साथ अपनी यात्रा उत्तर की तरफ और इसके बाद अनजाने समुद्र में उत्तर-पश्चिम की तरफ जारी रक्खी। उसके सफ़र का यह हिस्सा सबसे ज़्यादा भयंकर था। कोई नहीं जानता था कि इसमें इतने दिन लग जायंगे। क़रीब चार महीने, और हिसाब से ठीक गिना जाय तो १०८ दिन, वे समुद्र के बीच बिना खाना-पानी के भटकते रहे। आख़िरकार, बड़ी तकलीफें उठाने के बाद, वे फिलीपाइन द्वीप पहुंचे। वहां के लोगों ने उनके साथ दोस्ती का सलूक किया; उन्हें खाने-पीने का सामान दिया और उनके साथ भेंटों की अदला-बदली की। लेकिन स्पेनवाले बदमिज़ाज और शान जमानेवाले थे। मैगेलन ने वहां के दो सरदारों की आपसी मामूली लड़ाई में भाग लिया और मारा गया। और भी बहुत-से स्पेनियों को इन टापुओं के निवासियों ने मार डाला, क्योंकि उन्होंने शान गांठने का रवैया अपनाया था।

स्पेनी लोग मसाले के द्वीपों की तलाश में थे, जहां से कि क़ीमती गरम मसाले आया करते थे। वे इन्हींकी तलाश में आगे बढ़ते गयें। उनका एक जहाज बेकार हो गया, इस कारण उसे जला देना पड़ा; बाकी सिर्फ़ दो बचे। यह तय हुआ कि इनमें से एक जहाज तो प्रशान्त महासागर होकर और दूसरा उत्तमाशा अन्तरीप

होकर वापस स्पेन जाय। पहला जहाज़ तो ज्यादा दूर नहीं जा सका, क्योंकि उसे पुर्तगालियों ने पकड़ लिया। लेकिन दूसरा जहाज, जिसका नाम 'वित्तोरिया' था, चुपचाप अफ्रीका का चक्कर काटता हुआ रवाना होने के ठीक तीन वर्ष बाद, १५२२ ई० में, सिर्फ़ अठारह आदमियों के साथ स्पेन में सैविले जा पहुंचा। सारी दुनिया का चक्कर लगानेवाला यह पहला जहाज़ था।

मैंने तुमको 'वित्तोरिया' की समुद्री-यात्रा का विस्तार से हाल बताया है क्योंकि यह अद्भुत यात्रा थी। आजकल हम बहुत आराम के साथ सागरों को पार कर लेते हैं और बड़े जहाजों पर लम्बे-लम्बे सफर करते हैं। लेकिन इन शुरू के समुद्र-यात्रियों का खयाल करो कि उन्होंने हर तरह के खतरों और संकटों का सामना किया और अज्ञात में गोते लगाकर अपने बाद के लोगों के लिए समुद्री-रास्तों की खोज की। उस जमाने के स्पेनी और पुर्तगाली बड़े घमण्डी, शानबाज़ और बेरहम थे; लेकिन वे अद्भुत तौरपर बहादुर भी थे और जोखिम उठानेवाले साहस की भावना से भरे हुए थे।

जिस वक्त मैगेलन दुनिया का चक्कर लगा रहा था, कोर्तीज़ मैक्सिको के शहर में दाख़िल हो रहा था और अज़टेक साम्राज्य को स्पेन के बादशाह के लिए फ़तह कर रहा था। मैं तुम्हें इसके बारे में और अमेरिका की मय सभ्यता के बारे में थोड़ा पहले ही बता चुका हूं। कोर्तीज १५१९ ई० में मैक्सिको पहुंचा। पिजारो १५३० ई० में दक्षिण अमेरिका के 'इनका' साम्राज्य में (जहां अब पेरू है) पहुंचा। हिम्मत और दिलेरी से, बेरहमी और फ़रेब से और वहां के लोगों के अन्दरूनी झगड़ों से फायदा उठाकर कोर्तीज और पिज़ारो दोनों पुराने साम्राज्यों को खतम करने में सफल हो गये। लेकिन ये दोनों साम्राज्य पुराने जमाने की चीज हो गये थे और कुछ हद तक बहुत आदिम थे। इसलिए बालू की दीवार की तरह ये पहले ही धक्के में गिर गये।

ये बड़े-बड़े तलाश करनेवाले, और खोज करनेवाले जहां-जहां पहुंच चुके थे वहां-वहां उनके बाद लूटमार के लोभी और मौका-परस्तों के झुंड-के-झुंड पहुंचने लगे। खासकर स्पेनी अमेरिका को तो इन झुंडों ने बहुत नुक़सान पहुंचाया। यहांतक कि कोलम्बस के साथ भी इन लोगों ने बहुत बुरा बर्ताव किया। लेकिन साथ-ही-साथ पेरू और मैक्सिको से स्पेन को सोने और चांदी की नदियां बराबर बह रही थीं। इन क़ीमती धातुओं की इतनी ज़्यादा मात्रा स्पेन पहुंची कि उससे यूरोप की आंखें चकाचौंध हो गईं और स्पेन यूरोप की सबसे बड़ी शक्ति बन गया। यह सोना और चांदी यूरोप के दूसरे देशों को भी गया और इस तरह पूर्व की पैदावार खरीदने के लिए उनके पास धन-दौलत की बहुतायत हो गई।

पुर्तगाल और स्पेन की कामयाबी से दूसरे देशों के लोगों की, खासकर फ्रान्स,

इंग्लैण्ड, हॉलैण्ड और उत्तर जर्मनी के शहरों के लोगों की कल्पनाओं में सनसनी पैदा होना स्वाभाविक ही था। पहले इन लोगों ने इस बात की बड़ी कोशिश की कि उत्तरी रास्ते से एशिया और अमेरिका पहुंचने का, यानी नार्वे के उत्तर से होकर पूर्व जाने का, और ग्रीनलैण्ड होकर पश्चिम जाने का कोई रास्ता मिल जाय। लेकिन वे इसमें नाकामयाब रहे और उन्हें जाने हुए रास्तों को ही पकना पड़ा।

वह ज़माना भी क्या ही अचरजभरा रहा होगा, जबकि दुनिया सामने खुलती हुई और अपने ख़ज़ानों और चमत्कारों को ज़ाहिर करती हुई दिखाई दे रही थी! एक के बाद दूसरी नई खोजें हो रही थीं और नये महाद्वीप, नये समुद्र, और अपार दौलत मानो अलादीन की जादू-भरी पुकार 'खुल जाओ सम-सम' का इन्तज़ार कर रही थी। उस हवा में ही इन साहस-भरे कारनामों के जादू की सांस चल रही होगी।

दुनिया अब संकड़ी हो गई है और इसमें खोज की गुंजाइश नहीं रही; कम-से-कम अभी तो ऐसा मालूम होता है। लेकिन ऐसा है नहीं, क्योंकि विज्ञान ने ज़बरदस्त नये नज्जारे खोल डाले हैं, जिनका भेद मालूम करने की ज़रूरत है और साहस के कारनामों की भी कोई कमी नहीं है—ख़ासकर आज के भारत में!

: ७४ :

## मंगोल साम्राज्यों का बिखरना

९ जुलाई, १९३२

मैंने तुम्हें बताया है कि मध्य युग कैसे गुजर गये; यूरोप में नई भावना कैसे जागी और नई चेतना-शक्ति कैसे आई, जो कितने ही रास्तों से फूट निकली। यूरोप में मानो हलचल और रचनात्मक उद्योग की लहर दौड़ रही थी। वहां के निवासी सदियों तक कूप-मंडूकों की तरह अपने छोटे-छोटे देशों में पड़े रहने के बाद एकदम बाहर निकल पड़े और लम्बे-चौड़े समुद्रों को पार करके दुनिया के कोने-कोने में पहुंचने लगे। अपनी ताक़त में भरोसा रखते हुए वे विजेताओं की तरह बढ़ते चले गए। इसी भरोसे ने उन्हें हिम्मत दी और उनसे अद्भुत काम कराये।

लेकिन तुम अचम्भा करती होगी कि यह अचानक परिवर्तन कैसे पैदा हुआ। तेरहवीं सदी के बीच में एशिया और यूरोप में मंगोलों का बोलबाला था। पूर्वी यूरोप उनके कब्जे में था; पश्चिमी यूरोप इन बड़े-बड़े और अजय दिखाई देने-वाले योद्धाओं के आगे थर्राता था। ख़ान महान के एक सेनापति तक के मुक़ाबले में यूरोप के बादशाहों और सम्राटों की क्या हस्ती थी?

दो सौ वर्षों बाद कुस्तुन्तुनिया का शाही नगर, और दक्षिण-पूर्वी यूरोप का काफ़ी हिस्सा, उस्मानी तुर्कों के क़ब्ज़े में आ गया था। मुसलमानों और ईसाइयों में ८०० वर्षों की लड़ाई के बाद वह बड़ा इनाम, जिसने अरबों और सेलजूक तुर्कों को लुभाकर खींचा था, उस्मानियों के हाथ में आया। उस्मानी सुलतानों को इतने से तसल्ली न हुई और यूरोप पर ही नहीं बल्कि रोम पर भी लालच-भरी निगाहें डालने लगे। वे जर्मन (पवित्र रोमन) साम्राज्य और इटली पर जा धमके। हंगरी को जीतकर वे वियना के दरवाज़े पर और इटली की सरहद तक पहुंच गये। पूर्व में उन्होंने बग़दाद को अपने साम्राज्य में मिला लिया और दक्षिण में मिस्र को। सोलहवीं सदी के मध्य में सुलतान सुलेमान, जिसे 'शानदार' कहा जाता है, इस विशाल तुर्की साम्राज्य पर राज करता था। समुद्रों में भी उसके जहाज़ी बेड़े सब पर हावी थे।

फिर यह परिवर्तन कैसे हुआ ? यूरोप मंगोलों के ख़तरे से कैसे बचा ? तुर्की ख़तरे से उसने अपनी जान कैसे बचाई ? कैसे उसने न सिर्फ़ अपनी ही जान बचाई बल्कि ख़ुद दूसरों पर चढ़ाई करने लगा और दूसरों के लिए ख़तरा बन गया।

लेकिन यूरोप पर मंगोलों का यह ख़तरा बहुत दिन नहीं रहा। वे ख़ुद ही एक नये ख़ान का चुनाव करने के लिए वापस चले गए और फिर लौटकर नहीं आये। पश्चिमी यूरोप उनके वतन मंगोलिया से बहुत दूर था। शायद इसने उन्हें इसलिए भी न खींचा हो कि यह घने जंगलों का देश था और वे ख़ूब खुले मैदानों और भीड़ की ज़मीनों पर रहने के आदी थे। बहरहाल पश्चिमी यूरोप मंगोलों से बच गया—अपनी किसी बहादुरी की वजह से नहीं, बल्कि मंगोलों की लापरवाही और उनके दूसरे कामों में फंसे रहने की वजह से। पूर्वी यूरोप में वे कुछ ज़्यादा दिन रहे जबतक कि मंगोलों की शक्ति धीरे-धीरे ख़तम न हो गई।

मैं पहले ही बता चका हूं कि १४५२ ई० में तुर्कों की कुस्तुन्तुनिया पर विजय यूरोप के इतिहास में एक ऐसी घटना मानी जाती है, जिससे उसके इतिहास का रुख़ ही बदल गया। सुभीते के लिए यह कह सकते हैं कि उस वक़्त से मध्य-युग ख़तम हुए और नई भावना यानी रिनेसां का आना हुआ, जो कितनी ही दिशाओं में फूली। इसी तरह संयोग से ठीक उसी वक़्त, जब तुर्क यूरोप पर चढ़े आ रहे थे, और तुर्कों की कामयाबी की काफ़ी सम्भावना नज़र आती थी, यूरोप अपने पांवों पर खड़ा हो गया और उसने अपने अन्दर ताक़त पैदा कर ली। तुर्क पश्चिमी यूरोप में कुछ अर्से तक बढ़ते चले गए; और जब वे बढ़ रहे थे, यूरोप के खोजी नये-नये देशों और समुद्रों का पता लगा रहे थे और पृथ्वी के चारों तरफ़ चक्कर लगा रहे थे। सुलतान शानदार सुलेमान के ज़माने में, जिसने १५२० से १५६६ ई० तक राज

किया, तुर्की साम्राज्य वियेना से बग़दाद और काहिरा तक फैल गया। लेकिन इसके आगे वे नहीं बढ़ सके। तुर्क लोग यूनानियों के कुस्तुन्तुनिया की कमज़ोर और भ्रष्ट करनेवाली परम्पराओं के शिकार हो रहे थे। इधर यूरोप की ताक़त बढ़ती जाती थी; उधर तुर्क अपनी पुरानी क्रिया-शक्ति खो रहे थे और कमज़ोर पड़ते जा रहे थे।

पुराने युगों में घूमते हुए हमने देखा कि एशिया ने यूरोप पर बहुत बार चढ़ाइयां कीं। यूरोप ने भी एशिया पर कुछ हमले किये, लेकिन उनका कोई महत्व नहीं था। सिकन्दर एशिया को पार करता हुआ भारत आया था, लेकिन इससे कोई बड़ा असर नहीं पड़ा। रोमन लोग इराक के आगे कभी नहीं बढ़े। दूसरी तरफ़, एशिया के क़बीलों ने शुरू ज़माने से ही यूरोप पर बार-बार धावे मारे। इन एशियाई हमलों में यूरोप पर उस्मानी तुर्कों का हमला आख़िरी था। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे पलड़ा उलट जाता है और यूरोप हमलावर बनता जाता है। यह परिवर्तन सोलहवीं सदी के बीच के लगभग हुआ समझना चाहिए। अमेरिका, जिसका पता हाल ही में चला था, यूरोप के सामने बहुत जल्द पस्त हो गया। लेकिन शिया कुछ ज़्यादा कठिन समस्या साबित हुआ। दो सौ वर्षों तक यूरोप के लोग शियाई महाद्वीप के कई हिस्सों में पैर जमाने की जगह तलाश करते रहे और अठारहवीं सदी के मध्य तक एशिया के कुछ हिस्सों पर हावी हो गये। यह बात ध्यान में रखने की है, क्योंकि कुछ लोग, जो इतिहास नहीं जानते, समझते हैं कि यूरोप ने हमेशा एशिया पर हुकूमत की है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यूरोप का यह नया नाटकी पार्ट बहुत हाल का है और अब पर्दा बदलना शुरू भी हो गया है और यह पार्ट पुराना नज़र आने लगा है। पूर्व के तमाम देशों में नई भावनाएं जाग रही हैं और शक्तिशाली आन्दोलन, जिनका उद्देश्य आज़ादी हासिल करना है, यूरोप की हुकूमत को चुनौती दे रहे हैं और हिला रहे हैं। इन राष्ट्रीय भावनाओं से भी ज़्यादा व्यापक और गहरी वे समानता की समाजी भावनाएं हैं, जो सारे साम्राज्यवाद और शोषण का ख़ातमा कर देना चाहती हैं। भविष्य में यह सवाल क़तई नहीं रहेगा कि एशिया पर यूरोप की हुकूमत हो, या यूरोप पर एशिया की, या एक देश दूसरे का शोषण करे।

यह लम्बी भूमिका हो गई। अब हम फिर मंगोलों की चर्चा करेंगे। कुछ देर उनके चढ़ाव-उतार के साथ-साथ चलकर हमें देखना है कि उनकी क्या हालत हुई। तुम्हें याद होगा कि कुबलइख़ां आखिरी ख़ान महान् था। १२९२ ई० में उसकी मौत के बाद वह विशाल साम्राज्य, जो एशिया में कोरिया से लेकर यूरोप में हंगरी और पोलैंड तक फैला हुआ था, पांच साम्राज्यों में बंट गया। इन पांचों साम्राज्यों में हरेक वास्तव में एक-एक बड़ा साम्राज्य था। मैंने अपने एक पिछले पत्र में इन पांचों के नाम दे दिये हैं।

इन पांचों में चीन का साम्राज्य मुख्य था, जिसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अनाम, तांगकिंग, और बर्मा का कुछ हिस्सा शामिल था। युआन राजवंश, जो कुबलइ का वंशज था, इस साम्राज्य का वारिस हुआ। लेकिन बहुत दिनों के लिए नहीं। बहुत जल्दी ही दक्षिण में इसके टुकड़े टूट-टूटकर अलग होने लगे और, जैसा मैंने तुम्हें बताया है, १३६८ ई० में, कुबलइ के मरने के ठीक ७६ वर्ष बाद, यह राजवंश ख़तम हो गया और मंगोल लोग निकाल बाहर किये गए।

बहुत दूर पश्चिम में सुनहरे कबीले का साम्राज्य था—इन लोगों का यह क्या ही लुभावना नाम था! रूसी अमीर-सरदारों ने कुबलइ की मृत्यु के बाद २०० वर्षों तक इन लोगों को ख़िराज दिया। इस ज़माने के अख़ीर में, यानी १४८० ई० के लगभग, साम्राज्य कुछ कमज़ोर पड़ रहा था और मास्को के ग्रांड ड्यूक ने, जो रूसी अमीर-सरदारों का मुखिया बन बैठा था, ख़िराज देने से इन्कार कर दिया। इस ग्रांड ड्यूक का नाम महान् आइवन था। रूस के उत्तर में नोवगोरोद का पुराना गणराज्य था, जो व्यापारियों और सौदागरों के हाथ में था। आइवन ने इस गणराज्य को हराकर अपनी रियासत में मिला लिया। इसी बीच कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के हाथ में पहुंच चुका था और पुराने सम्राटों का खानदान वहां से भगा दिया गया था। आइवन ने इस पुराने शाही घराने की एक लड़की से शादी करली और इस बात का दावा करने लगा कि वह उस शाही वंश का है और पुराने बिज़ैन्तियम का वारिस है। रूसी साम्राज्य, जो १९१७ ई० की क्रान्ति में हमेशा के लिए ख़तम हो गया, इसी महान् आइवन की मातहती में, इस तरह शुरू हुआ था। इसके पोते ने, जो बड़ा बेरहम था और इसीलिए 'भयंकर आइवन', कहलाता था, 'ज़ार' का ख़िताब धारण किया, जिसका अर्थ सीज़र या सम्राट् होता था।

इस तरह मंगोल हमेशा के लिए यूरोप से बिदा हुए। सुनहरे कबीले और मध्य एशिया के दूसरे मंगोल साम्राज्यों का क्या हुआ, इसके बारे में हमें अब ज़्यादा सर खपाने की ज़रूरत नहीं है। दूसरे, मैं उनके बारे में ज़्यादा जानता भी नहीं हूं। लेकिन एक आदमी पर हमारा ध्यान ज़रूर जाता है।

यह आदमी तैमूर है, जो दूसरा चंगेज़ख़ां बनना चाहता था। वह चंगेज़ का वंशज होने का दावा करता था, लेकिन असल में वह तुर्क़ था। वह लंगड़ा था, इसलिए तैमूरलंग कहलाता था। वह अपने बाप के बाद १३६९ ई० में समरक़ंद का शासक बना। इसके बाद ही उसने अपनी विजय और जुल्मों की यात्रा शुरू कर दी। वह बहुत बड़ा सेनापति था, लेकिन पूरा वहशी भी था। मध्य एशिया के मंगोल इस बीच में मुसलमान हो चुके थे और तैमूर ख़ुद भी मुसलमान था। लेकिन मुसलमानों से पाला पड़ने पर वह उनके साथ ज़रा भी नर्मी नहीं बरतता था। जहां-जहां वह पहुंचा उसने तबाही, बला और पूरी मुसीबत फैला दी।

नर-मुंडों के बड़े-बड़ ढेर लगवाने में उसे ख़ास मज़ा आता था। पूर्व में दिल्ली से लगाकर पश्चिम में एशिया-कोचक तक, उसने लाखों आदमी क़त्ल करा डाले और उनके कटे सिरों को स्तूपों की शकल में जमवाया !

चंगेज़ख़ां और उसके मंगोल भी बेरहम और बरबादी करनेवाले थे, पर वे अपने ज़माने के दूसरे लोगों की तरह ही थे। लेकिन तैमूर उससे ज़्यादा बुरा था। बे-लगाम और शैतानी ज़ुल्म में उसका मुक़ाबला करनेवाला कोई दूसरा नहीं था। कहते हैं कि एक जगह उसने २००० ज़िंदा आदमियों की एक मीनार बनवाई और उन्हें ईंट और गारे से चुनवा दिया !

भारत की दौलत ने इस वहशी को भी खींचा। अपने सेनापतियों और अमीर-सरदारों को भारत पर चढ़ाई के लिए राज़ी करने में इसे कुछ दिक्कत हुई। समरक़ंद में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें अमीर सरदारों ने भारत जाने पर इसलिए ऐतराज़ उठाया कि वहां गर्मी बहुत पड़ती है। अन्त में तैमूर ने वादा किया कि वह भारत में ठहरेगा नहीं, लूट-मार करके वापस चला आयेगा और उसने अपना वादा पूरा किया।

तुम्हें याद होगा कि उत्तर भारत में उस वक़्त मुसलमानी राज था। दिल्ली में एक सुलतान राज करता था। लेकिन यह मुसलमानी सल्तनत कमज़ोर थी और सरहद पर मंगोलों से बराबर लड़ाइयां करते-करते इसकी कमर टूट गई थी। इसलिए जब तैमूर मंगोलों की फ़ौज लेकर आया, तो उसका कोई बड़ा मुक़ाबला नहीं हुआ और वह हत्याकांड करता और खोपड़ियों के स्तूप बनाता हुआ मज़े के साथ आगे बढ़ता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों क़त्ल किये गए। मालूम होता है, उनमें कोई फ़र्क नहीं किया गया। जब ज़्यादा क़ैदियों को सम्हालना मुश्किल हो गया तो उसने उनके कत्ल का हुक्म दे दिया और एक लाख क़ैदी मार डाले गए। कहते हैं कि एक जगह हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने मिलकर जौहर की राजपूती रस्म अदा की थी; यानी युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने के लिए वे बाहर निकल पड़े थे। लेकिन दिल दहलानेवाली इस कहानी को बार-बार दोहराते रहने की मेरी इच्छा नहीं है। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर की फ़ौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली में वह पन्द्रह दिन रहा और उसने इस बड़े शहर को कसाईख़ाना बना दिया। बाद में काश्मीर को लूटता हुआ वह समरक़ंद वापस लौट गया।

हालांकि तैमूर वहशी था, पर वह समरकंद में, मध्य-एशिया में और दूसरी जगहों पर बढ़िया इमारतें बनवाना चाहता था। इसलिए बहुत दिन पहले के सुलतान महमूद की तरह उसने भारत के कारीगरों, राजगीरों और होशियार मिस्त्रियों को इकट्ठा किया और उन्हें अपने साथ ले गया। इनमें जो सबसे अच्छे राजगीर

और कारीगर थे उन्हें उसने अपनी शाही नौकरी में रख लिया। बाक़ी को उसने पश्चिमी एशिया के ख़ास-ख़ास शहरों में भेज दिया। इस तरह इमारतें बनाने की कला की एक नई शैली का विकास हुआ।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर रह गया था। चारों तरफ़ अकाल और महामारी का खुला राज था। दो महीने तक न कोई राजा था, न शासन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहां रह गये थे। यहांतक कि जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली में अपना नायब मुक़र्रर किया था, वह भी मुलतान चला गया।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक़ में तबाही और बर्बादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ़ बढ़ा। अंगोरा में १४०२ ई० में उस्मानी तुर्कों की एक बहुत बड़ी फौज के साथ इसका मुक़ाबला हुआ। बहुत होशियार सिपहसालारी से इसने इन तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र के आगे उसका बस नहीं चला, और वह दर्रे दानियाल को पार न कर सका। इसलिए यूरोप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद, १४०५ ई० में, जबकि वह चीन की तरफ़ कूच कर रहा था, तैमूर मर गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौड़ा साम्राज्य भी, जो क़रीब-क़रीब सारे पश्चिमी एशिया में फैला हुआ था, ढह गया। उस्मानी तुर्क, मिस्र और सुनहरे कबीले इसे ख़िराज देते थे। लेकिन उसकी योग्यता सिर्फ़ उसकी निराली सिपहसालारी तक ही सीमित थी। साइबेरिया के बर्फ़िस्तान में उसकी कुछ चढ़ाइयां असाधारण रही हैं। पर असल में वह एक जंगली घुमक्कड़ था; उसने न तो कोई संगठन बनाया और न चंगेज़ की तरह साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई क़ाबिल आदमी ही छोड़े। इसलिए तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ ख़तम हो गया और सिर्फ़ बर्बादी और नर-हत्याओं की यादगार भर छोड़ गया। मध्य एशिया में होकर जितने भी हौसलेबाज़ और विजेता गुज़रे हैं, उनके झुंड में चार के नाम लोगों को अभी तक याद हैं—सिकन्दर, सुलतान महमूद, चंगेज़ख़ां और तैमूर।

उस्मानी तुर्कों को हराकर तैमूर ने उन्हें हिला डाला। लेकिन वे बहुत जल्द फिर पनप गये और आगे पचास वर्षों के अन्दर, यानी १४५३ ई० में, उन्होंने कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया।

अब हमें मध्य एशिया से बिदा ले लेनी चाहिए। सभ्यता के दर्जे में वह नीचे चला जाता है और धुंधले पर्दे में छिप जाता है। अब वहां कोई ऐसी बात नहीं होती जिसपर हम ध्यान दें। सिर्फ़ उन पुरानी सभ्यताओं की यादगार बाक़ी रह जाती है, जिन्हें आदमी ने अपने हाथ से नष्ट कर दिया। कुदरत ने भी उसपर भारी मार की और धीरे-धीरे वहां की आबहवा को ज्यादा ख़ुश्क और आदमियों के कम रहने लायक बना दिया।

हमें मंगोलों से भी बिदा ले लेनी चाहिए; सिवाय उनकी एक शाखा के जो

बाद में भारत आई और जिसने यहां एक बड़ा और मशहूर साम्राज्य क़ायम किया। लेकिन चंगेज़ख़ां और उसके वंशजों का साम्राज्य बिखर गया। मंगोल फिर अपने छोटे-छोटे सरदारों और अपनी कबीली आदतों में पड़ जाते हैं।

: ७५ :

## भारत एक कठिन समस्या से जूझता है

१२ जुलाई, १९३२

मैं तैमूर और उसके हत्याकांडों और नर-मुंडों के स्तूपों के बारे में लिख चुका हूं। यह सब कितनी हौलनाक और वहशियाना बातें मालूम होती हैं! हमारे इस सभ्य युग में ऐसी बात नहीं हो सकती। लेकिन यह भी यक़ीन के साथ नहीं कहा जा सकता। हाल ही में हमने देखा है और सुना है कि हमारे ज़माने में भी क्या हो सकता है और क्या होता है। चंगेज़ख़ां और तैमूर का किया हुआ जान और माल का नुक़सान, हालांकि बहुत ज़्यादा था, फिर भी वह १९१४-१८ ई० के महायुद्ध में हुई बर्बादी के मुक़ाबले नहीं के बराबर जंचता है। और मंगोलों के हरेक ज़ुल्म की होड़ करनेवाली भीषणता के नमूने आज के ज़माने में भी मिल सकते हैं।

फिर भी, इसमें कोई शक नहीं कि चंगेज़ और तैमूर के ज़माने से आज हमने सैकड़ों बातों में प्रगति की है। यही नहीं कि आजकल की ज़िन्दगी कहीं ज़्यादा पेचीदा बन गई है, बल्कि वह ज़्यादा सम्पन्न भी है। कुदरत की कितनी ही ताक़तें खोज निकाली गई हैं, उनको समझने की कोशिश की गई है और उन्हें इन्सान के फ़ायदे के लिए काम में लगाया गया है। इसमें शक नहीं कि दुनिया आज ज़्यादा सभ्य और सुसंस्कृत है। फिर हम युद्ध-काल में पुराना जंगलीपन क्यों इख़्तियार कर लेते हैं? इसकी वजह यह है कि युद्ध ख़ुद ही सभ्यता और संस्कृति का प्रतिवाद है। युद्ध का सभ्यता और संस्कृति से सिर्फ़ इतना ही ताल्लुक़ है कि यह सभ्य दिमाग़ से फ़ायदा उठाकर ज़्यादा-से-ज़्यादा शक्तिशाली और ख़ौफनाक हथियारों के आविष्कार कराती है और उनका इस्तेमाल कराती है। जब युद्ध शुरू होता है तो बहुत-से आदमी, जो इसमें लगे-फंसे होते हैं, अपने-आपको उत्तेजना की भयानक हालत में पहुंचा देते हैं। सभ्यता की सिखाई हुई बहुत-सी बातें भूल जाते हैं, सचाई को और ज़िन्दगी की शराफ़तों को भुला देते हैं, और हज़ारों वर्ष पुराने अपने वहशी पूर्वजों के समान बन जाते हैं। फिर इसमें ताज्जुब की बात क्या है कि युद्ध जब कभी छिड़ता है तो डर व नफ़रत पैदा करनेवाली चीज़ होता है!

अगर कोई अजनबी दूसरी दुनिया से इस दुनिया में युद्ध के ज़माने में आ जाय

तो वह क्या कहेगा ? मान लो कि उसने हमें सिर्फ़ युद्ध के समय ही देखा, शान्ति के समय नहीं। वह सिर्फ़ युद्ध के आधार पर हमारे बारे में अपनी राय क़ायम करेगा और इस नतीजे पर पहुंचेगा कि हम लोग बेरहम, बेतरस और वहशी हैं; कभी-कभी साहस और त्याग दिखा देते हैं, लेकिन कुल मिलाकर देखा जाय तो हमारी ज़िन्दगी के नजात देनेवाले कोई पहलू नहीं, सिर्फ़ एक ही सबसे बड़ा जुनून है कि एक दूसरे को मारें और बर्बाद करें। वह हमारे बारे में ग़लत राय क़ायम करेगा और हमारी दुनिया के बारे में भोंडा ख़याल बना लेगा, क्योंकि वह एक ख़ास मौक़े पर, जो हमारे कुछ ज़्यादा अनुकूल नहीं था, हमारा सिर्फ़ एक ही पहलू देखेगा।

इसी तरह अगर हम पुराने ज़माने का भी सिर्फ़ युद्धों और नर-हत्याओं के रूप में ही विचार करेंगे तो उसके बारे में हमारी राय गलत होगी। बदक़िस्मती से युद्धों और नर-हत्याओं की तरफ़ हमारा ध्यान बहुत ज़्यादा खिंच जाता है। लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी बहुत-कुछ नीरस होती है। इतिहास-लेखक इसके बारे में क्या लिखें ? इसलिए इतिहास-लेखक किसी युद्ध या लड़ाई पर झपटता है, और उसीको सबसे ज़्यादा महत्व देता है। इसमें शक नहीं कि हम युद्धों को न तो भूल सकते हैं और न उन्हें नज़र-अन्दाज़ कर सकते हैं। लेकिन हमें उन्हें ज़रूरत से ज़्यादा महत्व भी नहीं देना चाहिए। हमें पुराने ज़माने पर मौजूदा ज़माने के लिहाज़ से विचार करना चाहिए और उस ज़माने के आदमियों के बारे में आजकल के अपने लिहाज़ से सोचना चाहिए। तभी हमें उनकी ज़्यादा इन्सानी झलक मिल सकेगी और हम महसूस करेंगे कि लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी और विचार ही असल में महत्व रखते हैं; कभी-कभी होनेवाले युद्ध नहीं। इस बात को ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि तुम्हें इतिहास की पुस्तकें इस तरह के युद्धों के वर्णनों से बहुत ज़्यादा भरी मिलेंगी। मेरे ये पत्र भी अक्सर उसी तरफ़ बहक जाते हैं। असली वजह इसकी यह है कि पुराने ज़माने के लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के बारे में लिखना मुश्किल है। मुझे इसके बारे में काफ़ी जानकारी नहीं है।

जैसा कि हमने देखा है, तैमूर भारत पर आनेवाली सबसे बुरी बलाओं में एक था। जहां-जहां वह गया वहां उसने भीषणता की जो निशानियां छोड़ीं उनका विचार करने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर भी दक्षिण भारत पर उसका ज़रा भी असर नहीं पड़ा था। यही बात पूर्वी, पश्चिमी और मध्य भारत के बारे में भी थी। आजकल का उत्तर प्रदेश भी बहुत करके उससे बच गया था, सिवाय दिल्ली और मेरठ के नज़दीक के उत्तर के एक छोटे-से हिस्से के। दिल्ली शहर के अलावा पंजाब ही ऐसा प्रान्त था, जो तैमूर के छापे से सबसे ज़्यादा बर्बाद हुआ। पंजाब में भी ख़ास बर्बादी उन जगहों की हुई जो तैमूर के रास्ते में पड़ीं। पंजाब के ज़्यादातर लोग बिना दखल के अपने रोज़मर्रा के कामों में लगे रहे। इसलिए हमें

इस बात से होशियार रहना चाहिए कि हम इन युद्धों और हमलों के महत्व को ज़रूरत से ज़्यादा न बढ़ावें।

अब हमें चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों के भारत पर नज़र डालनी चाहिए। दिल्ली की सल्तनत सिकुड़ती जाती थी, यहांतक कि तैमूर के आने पर वह बिलकुल ग़ायब हो गई। सारे भारत में बहुत-सी बड़ी-बड़ी स्वाधीन रियासतें थीं, जिनमें से ज़्यादातर मुसलमानों की थीं। लेकिन दक्षिण में विजयनगर का एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य था। अब इस्लाम भारत के लिए कोई अजनबी या नया आनेवाला नहीं रह गया था; उसके पांव यहां अच्छी तरह से जम गये थे। शुरू के अफ़ग़ान हमलावरों और ग़ुलाम बादशाहों की ख़ूंख्वारी और बेरहमी ठंडी पड़ चुकी थीं, और मुसलमान अब उतने ही भारतीय थे जितने कि हिंदू थे। उनका बाहरी मुल्कों से कोई रिश्ता नहीं रह गया था। अलग-अलग रियासतों के बीच युद्ध होते थे, लेकिन ये राजनैतिक थे, मज़हबी नहीं। कभी-कभी कोई मुसलमान राज्य हिन्दू सिपाहियों का उपयोग करता था, और कोई हिन्दू राज्य मुसलमान सिपाहियों का। मुसलमान बादशाह अक्सर हिन्दू औरतों से शादियां करते थे। अक्सर वे हिन्दुओं को मंत्री बनाते थे और ऊंचे-ऊंचे ओहदे देते थे। विजेता और पराजित, या शासक और शासित, की कोई भावना नहीं रही थी। सच तो यह है कि ज़्यादातर मुसलमान, जिनमें कुछ शासक भी थे, वे भारतीय थे जिन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया था। इनमें से बहुत-से तो इसलिए मुसलमान बने थे कि उनपर दरबार की कृपा हो जाय या उन्हें कुछ आर्थिक लाभ हो जाय। मज़हब बदल देने पर भी वे अपने पुराने बहुत-से रस्म-रिवाजों को पकड़े हुए थे। कुछ मुसलमान शासकों ने लोगों को मुसलमान बनाने के लिए ज़बर्दस्ती के तरीके अपनाये। लेकिन इसमें भी उद्देश्य ज़्यादातर राजनैतिक था, क्योंकि यह समझा जाता था कि मुसलमान बनने पर लोग ज़्यादा वफ़ादार प्रजा साबित होंगे। लेकिन मज़हब बदलवाने में ज़बर्दस्ती बहुत कारगर नहीं होती। आर्थिक तरीक़ा इससे ज़्यादा कारगर होता है। हरेक ग़ैर-मुस्लिम को जज़िया नाम का टैक्स देना पड़ता था, इसलिए बहुत-से इससे बचने के लिए मुसलमान हो गये।

लेकिन ये सब बातें शहरों में हुईं। गांवों पर इनका कोई असर नहीं पड़ा और लाखों देहाती अपने पुराने ढर्रे पर चलते रहे। यह सही है कि अब सरकारी अफ़सरों ने गांव की ज़िन्दगी में पहले से ज़्यादा दख़ल देना शुरू कर दिया था। ग्राम-पंचायतों के पहलेवाले अधिकार अब कम हो गये थे। फिर भी पंचायतों का सिलसिला जारी रहा और वे देहाती जीवन की केन्द्र और रीढ़ बनी रहीं। समाजी तौर पर और धर्म व रस्म-रिवाजों के मामलों में गांवों में बहुत ही कम परिवर्तन हुआ। तुम जानती हो कि भारत आज तक भी लाखों गांवों का देश है। देखा

जाय तो शहर और कस्बे तो सिर्फ़ सतह के ही ऊपर बैठे हुए हैं; असली भारत हमेशा से देहाती भारत रहा है और आज भी है। इस देहाती भारत को इस्लाम ज़्यादा नहीं बदल सका।

इस्लाम के आने से हिन्दू धर्म को दो तरह से धक्का लगा, और ताज्जुब तो यह है कि दोनों बातें एक दूसरी से उलटी थीं। एक तरफ़ तो वह रूढ़िवादी बन गया; वह सख्त पड़ गया और हमले से बचने की कोशिश में मज़बूत परकोटे के अन्दर घुस गया। जात-पांत का बन्धन ज़्यादा कठोर और अलगाव-पसन्द हो गया; पर्दा और स्त्रियों को बन्द करके रखना व्यापक हो गया। दूसरी तरफ़ जात-पांत और बहुत ज़्यादा पूजा-पाठ और कर्मकांड के खिलाफ़ एक अन्दरूनी विद्रोह-सा पैदा हो गया। हिन्दू धर्म में सुधार के लिए बहुत-सी कोशिशें की गईं।

वास्तव में सारा इतिहास बताता है कि शुरू के ज़माने से ही हिन्दू-धर्म में सुधारक पदा होते रहे हैं, जिन्होंने इसकी बुराइयों को दूर करने का जतन किया हैं। बुद्ध इनमें सबसे महान थे। मैंने शंकराचार्य का ज़िक्र किया ही है, जो आठवीं सदी में हुए थे। तीन सौ वर्ष बाद, ग्यारहवीं सदी में, एक और महान सुधारक पैदा हुए, जो दक्षिण में चोल साम्राज्य के रहनेवाले थे और शंकर मत के मुक़ाबले के मत के नेता थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और तेज़ बुद्धिवाले थे; रामानुज वैष्णव थे और श्रद्धावान थे। रामानुज का प्रभाव सारे भारत में फैल गया। मैंने तुम्हें बताया है कि सारे इतिहास में संस्कृति के लिहाज़ से भारत एक रहा है—राजनैतिक लिहाज़ से चाहे इस देश में कितनी ही आपस में लड़नेवाली रियासतें क्यों न रही हों। जब कोई भी महापुरुष पैदा हुआ या बड़ा आन्दोलन उठा, वह राजनैतिक सीमाओं को लांघकर सारे देश में फैल गया।

इस्लाम के भारत में जमने के बाद हिन्दुओं में और मुसलमानों में भी एक नये नमूने के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनों मज़हबों के समान पहलुओं पर ज़ोर देकर दोनों को नज़दीक लाने की कोशिश करते थे और दोनों की रीतियों और आडम्बरों की निन्दा करते थे। इस तरह दोनों के समन्वय या यूं कहो कि मिलावट की कोशिश की गई। यह एक मुश्किल काम था, क्योंकि दोनो तरफ़ बहुत बैर और बिगाड़ था। लेकिन हम देखेंगे कि हर सदी में इस तरह की कोशिशें होती रही। यहांतक कि कुछ मुसलमान शासकों ने, और खासकर अकबर महान ने भी, इस तरह के समन्वय की कोशिश की।

रामानन्द, जो चौदहवीं सदी में दक्षिण में हुए, इस समन्वय का प्रचार करनेवाले सबसे मशहूर आचार्य थे। वह जात-पांत के ख़िलाफ़ प्रचार करते थे और उसका बिल्कुल विचार नहीं करते थे। कबीर नामक एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद में उनसे भी ज्यादा मशहूर हुए। कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये थे।

तुम शायद जानती होगी कि हिन्दी में उनके भजन आजकल उत्तर भारत के दूर-दूर के गांवों तक में खूब प्रचलित हैं। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू मुसलमान दोनों थे, या दोनों के बीच के थे, और दोनों मज़हबों के और सब जातियों के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं कि जब वह मरे, उनकी लाश एक चादर से ढक दी गई। उनके हिन्दू चेले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शागिर्द उसे दफ़न करना चाहते थे। इसपर दोनों में वाद-विवाद और झगड़ा हुआ। लेकिन जब चादर हटाई गई तो लोगों ने देखा कि वह शरीर, जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, गायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताज़े फूल पड़े हुए थे। मुमकिन है कि यह कहानी बिलकुल मन-गढ़ंत हो, लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनों बाद उत्तर में एक बड़े सुधारक और धार्मिक नेता पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होंने सिक्ख पन्थ चलाया। इनके बाद एक-एक करके सिक्खों के दस गुरु हुए, जिनमें आखिरी गुरु गोविन्दसिंह थे।

भारत के धर्म और संस्कृति के इतिहास में एक और नाम मशहूर है, जिसका मैं यहां ज़िक्र करना चाहता हूं। यह नाम चैतन्य का है, जो सोलहवीं सदी में बंगाल के एक नामी विद्वान हुए और जिन्होंने यकायक यह तय कर डाला कि उनका किताबी ज्ञान किसी काम का नहीं है। इसलिए उसे छोड़कर उन्होंने भक्ति का मार्ग अपनाया। वह एक महान भक्त बन गये और अपने शिष्यों को साथ लेकर सारे बंगाल में भजन गाते फिरने लगे। उन्होंने एक वैष्णव सम्प्रदाय भी क़ायम किया। बंगाल में आज भी उनका बहुत बड़ा असर नज़र आता है।

यह तो हुई धर्म के सुधार और समन्वय की बात। जीवन के दूसरे अंगों में भी इसी तरह का समन्वय, कभी जान में और ज़्यादातर अनजान में, जारी था। एक नई संस्कृति, एक नई भवन-निर्माण कला और एक नई भाषा बन रही थी। लेकिन याद रक्खो कि ये सब-कुछ गांवों की बनिस्बत शहरों में ख़ासकर शाही राजधानी दिल्ली में और सूबों और रियासतों की बड़ी राजधानियों में, ज़्यादा हो रहा था। चोटी पर बैठा बादशाह इतना निरंकुश था कि जितना पहले कभी भी न रहा होगा। पुराने भारतीय राजाओं की मनमानी को रोकने के लिए रिवाज और परम्पराएं बनी हुई थीं। नये मुसलमान बादशाहों के लिए ऐसी कोई चीज़ नहीं थी। हालांकि सिद्धान्त-रूप से इस्लाम में कहीं ज़्यादा समता है और, जैसा कि हमने देखा है, गुलाम भी सुल्तान बन सकता था; फिर भी बादशाहों की मनमानी और बे-लगाम शक्ति बढ़ने लगी। इसकी इससे ज़्यादा हैरत में डालनेवाली मिसाल और क्या हो सकती है कि दीवाना तुग़लक अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले गया ?

गुलाम रखने का रिवाज भी, ख़ासकर सुलतानों में, बहुत बढ़ गया था।

युद्ध में ग़ुलाम पकड़ने की ख़ास तौर से कोशिश की जाती थी। इनमें भी दस्तकारों की ख़ास क़द्र की जाती थी। बाक़ी लोग सुलतान की गारद में भरती कर लिये जाते थे।

नालन्दा और तक्षशिला के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों का क्या हुआ? इनका नाम-निशान बहुत पहले ही मिट चुका था। लेकिन नई क़िस्म के नये विश्वविद्यालय-केन्द्र बहुत-से पैदा हो गये थे। ये 'टोल' कहलाते थे और उनमें पुरानी संस्कृत विद्या पढ़ाई जाती थी। लेकिन ये ज़माने के साथ नहीं चल रहे थे। ये मानो बीते ज़माने में रहते थे और शायद पीछे जाने की भावना बनाये रखते थे। बनारस हमेशा से इस क़िस्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।

मैंने ऊपर कबीर के हिन्दी भजनों का ज़िक्र किया है। मालूम होता है कि पन्द्रहवीं सदी में हिन्दी न सिर्फ़ जनता की बल्कि साहित्य की भाषा भी बन गई थी। संस्कृत बहुत दिन पहले ही चालू भाषा नहीं रही थी। यहांतक कि कालिदास और गुप्त राजाओं के ज़माने में भी वह सिर्फ़ विद्वानों तक ही सीमित थी। साधारण लोग प्राकृत बोलते थे, जो संस्कृत का एक बदला हुआ रूप थी। धीरे-धीरे संस्कृत की दूसरी पुत्रियों—हिन्दी, बंगाली, मराठी और गुजराती—का विकास हुआ। बहुत-से मुसलमान लेखक और कवियों ने हिन्दी में रचनाएं कीं। जौनपुर के एक मुसलमान बादशाह ने पंद्रहवीं सदी में महाभारत और भागवत का संस्कृत से बंगला में अनुवाद कराया था। दक्षिण के बीजापुर के मुसलमान शासकों के हिसाब-किताब मराठी में रक्खे जाते थे। इस तरह हम देखते हैं कि पंद्रहवीं सदी में ही संस्कृत से पैदा होनेवाली ये भाषाएं काफ़ी तरक़्क़ी कर चुकी थीं। दक्षिण की द्रविड़ भाषाएं—तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड़—अलबत्ता इनसे कहीं पुरानी थीं।

मुसलमानों की दरबारी ज़बान फ़ारसी थी। ज़्यादातर पढ़े-लिखे लोग, जिन्हें दरबारों से या सरकारी दफ़्तरों से कुछ भी सरोकार था, फ़ारसी पढ़ते थे। इस तरह बहुत-से हिन्दुओं ने फ़ारसी सीखी। धीरे-धीरे लश्करों और बाज़ारों में एक नई भाषा पैदा हो गई, जो उर्दू कहलाई; क्योंकि उर्दू 'लश्कर' को ही कहते हैं। असल में उर्दू कोई नयी भाषा नहीं थी। यह हिन्दी ही थी, जिसकी पोशाक ज़रा बदली हुई थी; इसमें फ़ारसी के शब्द ज़्यादा थे वरना थी यह हिन्दी ही। यह हिन्दी-उर्दू भाषा, या जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है हिन्दुस्तानी भाषा, सारे उत्तर और मध्य भारत में फैल गई। आज भी इसे मामूली फेर-फार से पंद्रह करोड़ आदमी बोलते हैं और इससे कहीं ज़्यादा लोग समझते हैं। इस तरह संख्या के लिहाज़ से यह दुनिया की एक मुख्य भाषा है।

भवन-निर्माण कला में नई-नई शैलियों का विकास हुआ और दक्षिण के बीजापुर और विजयनगर में, गोलकुंडा में, अहमदाबाद में—जो उस समय

एक बड़ा और सुन्दर शहर था—और इलाहाबाद के नज़दीक जौनपुर में, बहुत-सी शानदार इमारतें बनीं। क्या तुम्हें याद है कि हम हैदराबाद के पास गोलकुंडा के पुराने खंडहरों को देखने गये थे ? हमने उस विशाल क़िले पर चढ़कर देखा था कि नीचे पुराना शहर फैला हुआ है, जिसके महल और बाज़ार आज निरे खंडहर हो गये हैं।

इस तरह जब राजा लोग आपस में लड़ रहे थे और एक दूसरे को नष्ट कर रहे थे, तब भारत में ख़ामोश ताक़तें समन्वय का अनथक काम इसलिए कर रही थीं कि भारत के निवासी आपस में मेलजोल से रहें और एकजुज़ होकर अपनी शक्तियां तरक़्क़ी और बेहतरी के लिए लगावें। सदियों के बाद उनको काफ़ी कामयाबी हासिल हुई। लेकिन उनका काम पूरा नहीं होने पाया था कि एक उलट-फेर फिर हुई और जिस रास्ते से हम आगे बढ़े थे उसीपर कुछ दूर वापस चले आये। हमें आज फिर उसी रास्ते पर चलना है और तमाम अच्छाइयों के समन्वय के लिए काम करना है। लेकिन इस बार इस समन्वय की बुनियाद ज़्यादा मज़बूत लेनी होगी। इसका आधार आज़ादी और समाजी समता पर होना चाहिए और यह एक बेहतर संसार-व्यवस्था में ठीक बैठना चाहिए। यह समन्वय तभी टिकाऊ हो सकता है।

धर्म और संस्कृति के समन्वय की इस समस्या ने भारत के बेहतर दिमाग़ को सैकड़ों वर्षों तक मशग़ूल रक्खा। भारत का दिमाग़ इसमें इतना डूबा रहा कि राजनैतिक और समाजी आज़ादी भुला दी गई। और जब यूरोप बीसियों दिशाओं में तेज़ी के साथ आगे बढ़ता चला जा रहा था, तब भारत क़दम रोके खड़ा हुआ था और सिर्फ़ ज़िन्दगी गुज़ारता हुआ पिछड़ता जा रहा था।

मैं तुम्हें बता चुका हूं कि एक वक़्त था जब विदेशी मंडियों की बागडोर भारत के हाथ में थी। इसकी वजह यह थी कि रसायन में, रंगों के बनाने में और फौलाद पर पानी चढ़ाने में भारत ने बहुत तरक़्क़ी कर ली थी। इसके सिवा और भी बहुत-सी वजहें थीं। भारत के जहाज़ दूर-दूर देशों को उसका सौदागरी सामान ले जाते थे। जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, उससे बहुत पहले भारत के हाथ से यह चीज़ जाती रही थी। सोलहवीं सदी में नदी वापस पूर्व की तरफ़ फिर बहने लगी। शुरू में तो यह मामूली-सा झरना थी। लेकिन आगे चलकर यह बढ़ते-बढ़ते एक विशाल धारा बन गई।

: ७६ :

## दक्षिण भारत के राज्य

१४ जुलाई, १९३२

आओ, भारत पर फिर एक नज़र डालें और राज्यों व साम्राज्यों का बदलता हुआ नज़ारा देखें। ऐसा मालूम होता है, मानों हम कोई महान और ख़तम

न होनेवाला चल-चित्र देख रहे हैं, जिसमें एक के बाद दूसरी ख़ामोश तसवीरें[1] सामने आ रही हैं।

तुम्हें शायद ख़ब्ती सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ की बात याद होगी और यह भी याद होगा कि दिल्ली के साम्राज्य को तहस-नहस करने में वह किस तरह सफल हुआ। दक्षिण के बड़े सूबे अलग हो गये और वहां नये राज्य बन गये। इन राज्यों में विजयनगर का हिन्दू राज्य और गुलबर्गा की मुसलमानी सल्तनत मुख्य थीं। पूर्व में गौड़ का सूबा, जिसमें बंगाल और बिहार शामिल थे, एक मुसलमान शासक की मातहती में स्वाधीन हो गया।

मुहम्मद का उत्तराधिकारी, उसका भतीजा, फ़ीरोज़शाह हुआ। वह अपने चचा से ज़्यादा समझदार और परोपकारी था। लेकिन मज़हबी बैर-भाव अभी फैला हुआ था। फ़ीरोज़ एक कुशल शासक था और उसने अपने प्रशासन में बहुत-से सुधार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबों को तो फिर से न पा सका, पर साम्राज्य के बिखरने का जो सिलसिला शुरू हो गया था, उसे उसने ज़रूर रोक दिया। उसे नये-नये शहर, महल और मसजिदें बनाने का और बाग़-बगीचे डालने का ख़ास शौक़ था। दिल्ली के नज़दीक फ़ीरोज़ाबाद, और इलाहाबाद से कुछ दूर जौनपुर नगर उसीके बसाये हुए हैं। उसने जमना की एक बड़ी नहर भी बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतों की, जो टूट-फूट रही थीं, मरम्मत करवाई थी। उसे अपने इस काम पर बहुत गर्व था। वह अपनी बनवाई हुई नई इमारतों की, और मरम्मत कराई हुई पुरानी इमारतों की, एक लम्बी सूची छोड़ गया है।

फ़ीरोज़शाह की मां राजपूत थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बड़े सरदार की बेटी थी। कहते हैं कि उसके पिता ने पहले फ़ीरोज़ के बाप के साथ उसका विवाह करने से इन्कार कर दिया था। इसपर लड़ाई ठन गई। नैला के देश पर हमला हुआ और वह बर्बाद कर दिया गया। जब बीबी नैला को मालूम हुआ कि उसके कारण उसकी प्रजा पर मुसीबत आ रही है, तो वह बहुत घबराई और उसने तय किया कि अपनेको फ़ीरोज़शाह के पिता के हवाले करके लड़ाई ख़तम कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फ़ीरोज़शाह में राजपूती ख़ून था। तुम देखोगी कि मुसलमान शासकों और राजपूत स्त्रियों के बीच में ऐसे आपसी विवाह अक्सर होने लगे थे। इसकी वजह से एक राष्ट्रीयता की भावना के विकास में जरूर मदद मिली होगी।

फ़ीरोज़शाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद, १३८८ ई० में मर गया। फौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढांचा, जिसे उसने जोड़ रक्खा था, टुकड़े-टुकड़े हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और हर जगह छोटे-छोटे

[1] जब यह पुस्तक लिखी गई थी तबतक बोलती फिल्में नहीं बनी थीं।

शासकों की तूती बोलने लगी। गड़बड़ी और कमज़ोरी के इसी काल में, फ़ीरोज़शाह की मृत्यु के ठीक दस वर्ष बाद, तैमूर उत्तर से आ टूटा। दिल्ली को तो उसने क़रीब-क़रीब मार ही डाला। धीरे-धीरे यह शहर फिर पनपा और पचास वर्ष बाद एक सुलतान की मातहती में एक केन्द्रीय सरकार की राजधानी फिर बन गया। लेकिन यह छोटी-सी रियासत थी और दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी भारत के बड़े-बड़े राज्यों से उसका कोई मुक़ाबला नही था। यहां के सुलतान अफ़ग़ान थे। वे बड़े लीचड़ लोग थे; यहांतक कि उन्हींके अफ़ग़ानी अमीर-सरदार अन्त में उनसे उकता गये, और इतने ऊब गये कि उन्होंने एक विदेशी को अपने ऊपर राज करने के लिए बुलाया। यह विदेशी बाबर था। बाबर मंगोल था, जिसे अब हम भारत में बस जाने के बाद मुगल के नाम से पुकारते हैं। वह तैमूर की पीढ़ी का था और उसकी मां चंगेज़-खान के वंश की थी। उस समय वह क़ाबुल का शासक था। उसने भारत आने का बुलावा खुशी से मंजूर कर लिया। वास्तव में वह शायद बिना बुलावे के ही आने वाला था। दिल्ली के नज़दीक पानीपत के मैदान में १५२६ ई० में बाबर ने भारत का साम्राज्य फ़तह कर लिया। एक विशाल साम्राज्य फिर पैदा हुआ, जिसे भारत का मुग़ल साम्राज्य कहते हैं। दिल्ली को फिर बड़प्पन मिला और वह साम्राज्य की राजधानी बन गई। लेकिन इस बात पर विचार करने के पहले हमें भारत के दूसरे हिस्सों पर भी नज़र डालनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि इन डेढ़-सौ वर्षों में, जब दिल्ली का पतन हो रहा था, वहां क्या हो रहा था।

इस काल में भारत में छोटे-बड़े कई राज्य थे। नये बसाये हुए जौनपुर में मुसलमानों की एक छोटी-सी रियासत थी, जहां शर्क़ी सुल्तानों की हुकूमत थी। यह रियासत बड़ी या ताक़तवर नहीं थी, और राजनैतिक दृष्टि से भी उसका कोई महत्व नहीं था। लेकिन पन्द्रहवीं सदी में क़रीब सौ वर्ष तक वह संस्कृति और मज़हबी उदारता का बड़ा भारी केन्द्र रही। जौनपुर के मुसलमानी मदरसे उदारता के इन खयालों को फैला रहे थे और जौनपुर के एक शासक ने तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एक समन्वय क़ायम करने का जतन किया था, जिसका ज़िक्र में अपने पिछले पत्र में कर चुका हूँ। कला और बढ़िया इमारत बनाने को बढ़ावा दिया जाता था और इसी तरह हिन्दी और बंगाली जैसी देश की विकसित भाषाओं को भी। भारी मज़हबी बैर-भावों के बीच जौनपुर की यह छोटी-सी और चंदरोज़ा रियासत विद्या, संस्कृति और मज़हबी उदारता के आश्रय-स्थान के रूप में अलग खड़ी नज़र आती है।

पूर्व की तरफ़ ठेठ इलाहाबाद के नज़दीक तक फैला हुआ गौड़ों का विशाल राज्य था, जिसमें बिहार और बंगाल शामिल थे। गौड़ का नगर एक बन्दरगाह था, जिसका भारत के समुद्री किनारे के शहरों के साथ समुद्र के ज़रिये मिला हुआ

थी, लेकिन फिर तो जहाज़-पर-जहाज़ आने लगे और इन्होंने समुद्र-तट के गोआ जैसे कुछ शहरों पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। पर पुर्तगाली लोग भारत में कुछ सफल नहीं हो सके। वे देश के अन्दर कभी न घुस पाये; वैसे भारत पर समुद्र के रास्ते आकर हमला करनवाले पहले यूरोपीय यही थे। इनके बहुत दिन बाद फ़ान्सीसी और अंग्रेज़ आये। इस तरह समुद्री रास्ते खुल जाने पर भारत की समुद्रों में कमज़ोरी ज़ाहिर हो गई। दक्षिण भारत के पुराने राज्य कमज़ोर पड़ गये थे और उनका ध्यान अन्दर से होनेवाले ख़तरों की तरफ़ ही लगा हुआ था।

गुजरात के सुलतानों ने समुद्र पर भी पुर्तगालियों का मुक़ाबला किया। उन्होंने उस्मानी तुर्कों से गठ-बंधन करके पुर्तगाली जल-सेना को हरा दिया, लेकिन बाद में पुर्तगाली जीत गये और समुद्र पर उनका क़ब्ज़ा हो गया। उसी वक़्त दिल्ली के मुग़ल बादशाहों के डर ने गुजरात के सुलतानों को पुर्तगालियों से सुलह करने पर मजबूर कर दिया, लेकिन पुर्तगालियों ने उन्हें धोखा दिया।

दक्षिण भारत में, चौदहवीं सदी की शुरुआत में, दो बड़ी सल्तनतें उठ खड़ी हुई थीं। एक गुलबर्गा, जिसे बहमनी सल्तनत कहते थे, और दूसरी उसके दक्षिण में विजयनगर। बहमनी सल्तनत सारे महाराष्ट्र इलाके में और कर्नाटक के कुछ हिस्सों में फैली हुई थी। यह डेढ़-सौ वर्षों से ज़्यादा चली, लेकिन इसका इतिहास बहुत हेच है। जनता की बेहद मुसीबतों के साथ-साथ मज़हबी बैर-भाव, हिंसा, हत्या और सुलतान व अमीर-सरदारों के विलासों का ज़ोर था। सोलहवीं सदी की शुरुआत में अपनी घोर नालायकी की वजह से बहमनी सल्तनत ढह गई और उसके टुकड़े होकर पांच सल्तनतें बन गईं—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा, बीदर और बरार। इसी बीच विजयनगर राज्य को बने क़रीब २०० वर्ष हो चुके थे, और उस समय भी वह खूब अच्छी हालत में था। इन छह राज्यों के बीच अक्सर युद्ध हुआ करते थे और हरेक दक्षिण का मालिक बनने की कोशिश करता था। उनमें तरह-तरह के गठ-बंधन होते रहते थे,जो बार-बार बदलते रहते थे। कभी कोई मुसलमान-राज्य हिन्दू-राज्य से लड़ता था; कभी मुसलमान और हिन्दू राज्य मिलकर किसी दूसरे मुसलमान राज्य से लड़ते थे। यह संघर्ष निरे राजनैतिक थे और जब कभी कोई राज्य बहुत ज़्यादा ताक़तवर होता मालूम पड़ता, तो दूसरे राज्य उसके ख़िलाफ़ गठ-बंधन कर लेते थे। आख़िर विजयनगर की ताक़त और दौलत ने मुसलमान रियासतों को उसके ख़िलाफ़ एकजुट होने के लिए रुजू कर दिया और १५६५ ई० में, तालीकोटा के युद्ध में वे इसे पूरी तरह कुचलने में सफल हो गईं। विजयनगर का साम्राज्य ढाई-सौ वर्ष बाद ख़तम हो गया और यह विशाल और शानदार शहर बिलकुल नष्ट हो गया।

पर कुछ ही दिन बाद इन विजयी मित्र-राज्यों में फूट पड़ गई और वे आपस

में लड़ने लगे। और बहुत दिन न बीतने पाये थे कि उन सबपर दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य की छाया पड़ गई। इनके लिए पुर्तगाली एक और मुसीबत थे, जिन्होंने १५१० ई० में गोआ पर क़ब्ज़ा कर लिया था। यह बीजापुर रियासत में था। उनके पैर उखाड़ने की भरसक कोशिशों के बावजूद भी वे गोआ में डटे रहे और उनका नेता अलबुकर्क़, जिसे 'पूर्व के वाइसराय' का शानदार ख़िताब था, घिनौने ज़ुल्म पर उतर आया। पुर्तगालियों ने जनता का हत्याकांड कर डाला और औरतों और बच्चों को भी नहीं छोड़ा। तबसे आज तक पुर्तगाली गोआ में बराबर बने हुए हैं।[1]

दक्षिण के इन राज्यों में, ख़ासकर विजयनगर, गोलकुंडा और बीजापुर में, बड़ी सुन्दर इमारतें बनीं। गोलकुंडा तो अब खंडहर हो गया है; बीजापुर में अभी तक इनमें की बहुत-सी सुन्दर इमारतें मौजूद हैं; विजयनगर मिट्टी में मिला दिया गया और अब उसका नाम-निशान भी नही है। इसी ज़माने में हैदराबाद का शहर गोलकुंडा के नज़दीक बसाया गया। कहा जाता है कि बाद में दक्षिण के राजगीर और कारीगर उत्तर की तरफ़ चले गये और उन्होंने आगरा का ताजमहल बनाने में मदद दी।

एक दूसरे के मज़हबों के लिए आमतौर पर उदारता के होते हुए भी कभी-कभी कट्टरपन और मज़हबी बैर-भाव फूट पड़ते थे। युद्धों के साथ अक्सर भयंकर हत्याएं और बर्बादी हुआ करती थीं। फिर भी याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि बीजापुर की मुसलमान रियासत में हिन्दू घुड़सवार फ़ौज थी, और विजयनगर के हिन्दू राज्य में मुसलमान सिपाही थे। मालूम होता है कि उस समय काफ़ी ऊंचे दर्जे की सभ्यता थी। लेकिन यह सब धनवानों का खेल था; खेत में काम करने-वाला मज़दूर इससे बिलकुल अलग था। वह ग़रीब था, फिर भी जैसा हमेशा होता है, वह धनवानों के घोर विलास का बोझ बर्दाश्त करता था।

## : ७७ :

# विजयनगर

१५ जुलाई, १९३२

पिछले पत्र में दक्षिण के जिन राज्यों की चर्चा हमने की है, उनमें विजय-नगर का इतिहास सबसे लम्बा है। ऐसा हुआ कि बहुत-से विदेशी यात्री वहां आये और इस राज्य और शहर का हाल लिख गये हैं। निकोलो कोन्ती नाम का एक इटालवी सन् १४२० ई० में आया था। हिरात का अब्दुर्रज़्ज़ाक मध्य एशिया में ख़ान महान के दरबार से १४४३ ई० में आया था। पेईज़ नाम का एक पुर्तगाली

---

[1] दिसंबर १९६१ में भारतीय सेना ने गोआ को आज़ाद करा लिया है और गोआ और उसकी बस्तियों पर भारतीय गणराज्य का अधिकार हो गया है।

१५२२ ई० में इस शहर में आया, और इसी तरह और भी बहुत-से लोग आये। भारत का एक इतिहास भी है, जिसमें दक्षिण भारत की रियासतों का, ख़ासकर बीजापुर, का हाल है। यह इतिहास, जिस ज़माने की हम चर्चा कर रहे हैं, उससे थोड़े ही दिन बाद अकबर के ज़माने में, फ़रिश्ता ने फ़ारसी में लिखा था। उसी समय के लिखे गए इतिहासों में अक्सर पक्षपात की और बहुत बढ़ी-चढ़ी बातें भरी रहती हैं, लेकिन उनसे हालात समझने में मदद बहुत मिलती है। कश्मीर की 'राज-तरंगिणी' को छोड़कर मुसलमानों से पहले का कोई इतिहास नहीं मिलता। इसलिए फ़रिश्ता का इतिहास एक बिल्कुल नई चीज़ थी। इसके बाद औरों ने भी लिखा।

विदेशी यात्रियों ने विजयनगर के जो बयान लिखे हैं, उनसे इस शहर की सही और पक्षपात-रहित तस्वीर हमारे सामने आजाती है। इनसे हमें जितनी बातें मालूम होती हैं, उतनी उन कम्बख़्त युद्धों के बयानों से नहीं मालूम होतीं, जो अक्सर हुआ करते थे। इसलिए मैं तुम्हें कुछ वे बातें बताऊंगा, जो इन लोगों ने लिखी हैं।

विजयनगर की बुनियाद सन् १३३६ ई० के क़रीब पड़ी। यह शहर दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रदेश में था। चूंकि यह हिन्दू राज्य था, इसलिए यह स्वाभाविक था कि दक्षिण की मुसलमानी रियासतों से बहुत-से शरणार्थी वहां जा पहुंचे। यह तेज़ी से बढ़ने लगा। कुछ ही साल में इस राज्य ने दक्षिण में अपना सिक्का जमा लिया। और इसकी राजधानी पर उसकी दौलत और ख़ूबसूरती की वजह से लोगों का ध्यान खिंचने लगा। विजयनगर दक्षिण में सबसे ज़्यादा प्रभावशाली राज्य बन गया।

फ़रिश्ता ने इसके महान वैभव का ज़िक्र किया है, और १४०६ ई० में, जब गुल-बर्गा का एक मुसलमान बहमनी बादशाह विजयनगर की एक राजकुमारी से शादी करने वहां पहुंचा, तब राजधानी की क्या हालत थी, इसका बयान किया है। फ़रिश्ता लिखता है कि सड़क के ऊपर छह मील तक ज़री, मख़मल और इसी क़िस्म की क़ीमती चीज़ें बिछाई गई थीं। धन की यह कितनी भयंकर और शर्मनाक बर्बादी थी!

१४२० ई० में इटालवी निकोलो कोन्ती आया। उसने लिखा है कि शहर का घेरा साठ मील का था। यह विस्तार इतना विशाल इसलिए था कि इसमें बहुत-से बग़ीचे थे। कोन्ती की यह राय थी कि विजयनगर का शासक, जो राय कहलाता था, उस समय भारत का सबसे शक्तिशाली राजा था।

इसके बाद मध्य-एशिया से अब्दुर्रज़्ज़ाक आया। विजयनगर जाते हुए इसने मंगलूर के पास एक अद्भुत मन्दिर देखा, जो ख़ालिस पीतल को गलाकर ढाला गया था। वह १५ फ़ुट ऊंचा था और उसकी कुर्सी ३० फ़ुट लम्बी और ३०

फ़ुट चौड़ी थी। उत्तर की ओर आगे बेलूर में वह ऐसे ही एक दूसरे मंदिर को देखकर और भी हैरत में आ गया। उसने इस मंदिर का बयान करने की कोशिश नहीं की, क्योंकि उसे डर था कि अगर वह ऐसा करेगा तो लोग उसपर "बहुत बढ़ा-चढ़ा-कर कहने का इलज़ाम लगावेंगे।" इसके बाद वह विजयनगर पहुंचा और इसके बयान में तो वह अपने-आपको ही भूल गया है। उसने लिखा है—"यह शहर ऐसा है कि सारी दुनिया में इसकी बराबरी की जगह न तो आंखों ने देखी न कानों ने सुनी।" बाज़ारों के बारे में वह लिखता है—"हरेक बाज़ार के सिरे पर ऊंचे महराबों का सिलसिला और शानदार दालान हैं, लेकिन राजा का महल इन सबसे ऊंचा है।" "बाज़ार बहुत लम्बे-चौड़े हैं। . . . मीठी सुगन्ध के ताज़ा फूल इस शहर में हर वक़्त मिलते हैं और जीवन का आधार ही समझे जाते हैं, मानो इनके बिना लोग ज़िन्दा ही नहीं रह सकते। एक पेशे या दस्तकारी के व्यापारियों की दूकानें पास-पास हैं। जौहरी लोग अपने माणक, मोती, हीरे और पन्ने बाज़ार में खुले आम बेचते हैं।" अब्दुर्रज़्ज़ाक ने आगे चलकर लिखा है कि "इस मनोहर इलाक़े में, जिसमें राजा का महल है, बहुत-सी छोटी नदियां और धाराएं हैं, जो चमकदार और एक-समान कटे हुए पत्थरों की बनी नालियों में से होकर बह रही हैं। . . . यह देश इतना घना बसा हुआ है कि थोड़ी-सी जगह में इसका अन्दाज़ लिख सकना नामुमकिन है।" और पंद्रहवीं सदी के मध्य में आया हुआ मध्य एशिया का यह यात्री विजयनगर के वैभव की तारीफ़ के पुल बांधता हुआ, इसी तरह लिखता चला गया है।

यह खयाल हो सकता है कि अब्दुर्रज़्ज़ाक बहुत-से बड़े-बड़े शहरों से परिचित नहीं था, इसलिए जब उसने विजयनगर को देखा तो वह हक्का-बक्का रह गया। लेकिन इसके बाद आनेवाला यात्री काफ़ी सफ़र किया हुआ था। यह पेईज़ नामक पुर्तगाली १५२२ ई० में आया था। यह ठीक वही समय था जब इटली पर रिनैसां का प्रभाव पड़ रहा था और इटली के शहरों में सुन्दर इमारतें खड़ी हो रही थीं। पेईज़ को बहुत करके इटली के इन शहरों का पता था, इसलिए उसकी गवाही की बहुत क़ीमत है। उसने लिखा है कि विजयनगर का शहर "रोम के बराबर बड़ा है, देखने में बहुत सुन्दर मालूम होता है।" उसने इस शहर के अचम्भों का और अनगिनती सरोवरों, पानी के सोतों और फल के बग़ीचों की मोहनी का विस्तार के साथ बयान किया है। उसने लिखा है कि यह शहर "दुनिया भर में सबसे ज़्यादा भरा-पूरा है . . . क्योंकि इस शहर की हालत वैसी नहीं है, जैसी दूसरे शहरों की होती है, जहां अक्सर ज़रूरी चीज़ों की और रसद की कमी पड़ जाया करती है, क्योंकि यहां हरेक चीज़ की बहुतायत है।" राजमहल में इसने एक कमरा देखा था, जो "सारा हाथीदांत का बना हुआ था। कमरे की दीवारों पर ऊपर से नीचे तक और छत की कड़ियों के खम्भों पर सारे-के-सारे हाथी-दांत के गुलाब

और कमल बने हुए थे। और ये सब इतनी खूबसूरती से बनाये गए थे कि इनसे बेहतर बन ही नहीं सकते थे। यह इतना क़ीमती और सुन्दर है कि इस तरह का दूसरा कहीं भी मुश्किल से मिलेगा।"

पेईज़ ने विजयनगर के उस समय के राजा का भी वर्णन किया है। यह दक्षिण भारत के इतिहास का एक महान राजा हुआ और महान योद्धा, शत्रुओं पर दया दिखानेवाला, साहित्य का पोषक और लोकप्रिय व उदार शासक के रूप में उसकी कीर्ति दक्षिण में अभी तक बाक़ी है। इसका नाम कृष्णदेव राय था। इसने १५०९ से १५२९ ई० तक, बीस वर्ष राज्य किया। पेईज़ ने उसके क़द और शकल-सूरत और गोरे रंग का भी वर्णन किया है। "यह राजा इतना भय उपजानेवाला और सारे गुणों की खान है जितना कि होना सम्भव है। यह खुशमिज़ाज और बड़ा विनोदी है। यह विदेशियों की इज्ज़त करना चाहता है; उनका विनय से स्वागत करता है और, उनकी हालत चाहे जो हो, उनकी सारी घरू बातें पूछता है।" इस राजा की कई उपाधियां गिनाने के बाद पेईज़ लिखता है—"लेकिन सच तो यह है कि वह ऐसा बांका और सब गुणों की खान है कि जो कुछ उसके पास है, वह उसके जैसे आदमी के लिए कुछ भी नहीं है।"

वास्तव में कितनी ऊंची प्रशंसा है यह! विजयनगर का साम्राज्य इस समय सारे दक्षिण में और पूर्वी समुद्री किनारे पर फैला हुआ था। इसके अन्दर मैसूर, तिरुवांकुर और आजकल के मद्रास का सारा प्रान्त आ जाता था।

एक और भी चीज़ का मैं जिक्र करूंगा। १४०० ई० के क़रीब शहर में अच्छा पानी लाने के लिए बहुत बड़ी नहरें बनाई गई थीं। एक नदी सारी-की-सारी बांध से रोक दी गई थी और एक बड़ा तालाब बना दिया गया था। इसी जगह से १५ मील लम्बी नहर के ज़रिये, जो पहाड़ को काटकर बनाई गई थी, शहर को पानी जाता था।

विजयनगर ऐसा ही था। इसे अपनी दौलत और खूबसूरती पर गर्व था और अपनी ताक़त पर ज़रूरत से ज्यादा भरोसा था। किसी को यह ख़याल भी नहीं था कि इस शहर और साम्राज्य का अन्त इतना नज़दीक है। पेईज़ के आने के ४३ वर्ष बाद ही अचानक ख़तरा पैदा हो गया। दक्षिण की दूसरी रियासतों ने बैर-भाव से विजयनगर के ख़िलाफ़ एक गुट्ट बना लिया और इसे नष्ट करने का इरादा कर लिया। उस वक़्त भी विजयनगर बेवकूफों की तरह अपनी ताक़त के घमंड में रहा। पर जल्द ही उसका अन्त हो गया और इस अन्त की पूर्णता बड़ी ही भयानक थी।

जैसा मैंने तुम्हें बताया है, १५६५ ई० में रियासतों के इस गुट्ट ने विजय-नगर को हरा दिया। ज़बर्दस्त नर-हत्या हुई और उसके बाद यह विशाल नगर लूट

लिया गया। तमाम सुन्दर इमारतें, मंदिर और महल बर्बाद कर दिये गए। निहायत नफ़ीस पत्थर की नक्काशी और मूर्त्तियां चकनाचूर कर डाली गईं और जितनी भी चीज़ें जलाई जा सकती थीं, उनकी बड़ी-बड़ी होलियां जला दी गई। यह शहर यहांतक बर्बाद किया गया कि सिर्फ़ खंडहरों के ढेर बाक़ी रह गये। एक अंग्रेज़ इतिहासकार कहता है, "दुनिया के इतिहास में ऐसे शानदार शहर का सत्यानाश, और वह भी ऐसा अचानक, शायद कभी भी नहीं किया गया। वह शहर, जो एक दिन पूरी तरह खुशहाल, दौलतमंद और मेहनती आबादी से भरा हुआ था, दूसरे ही दिन, वहशियाना हत्याकांड के नज़ारों और सारे बयानों को फ़ीका करने-वाले भयंकर कारनामों के बीच, दूसरों के कब्ज़े में आया, लूटा गया और खंडहर बना दिया गया।"

: ७८ :

# मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य

१७ जुलाई, १९३२

हमने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों की तरफ़ इधर बहुत कम ध्यान दिया है और इनके बारे में लिखे हुए बहुत दिन हो गये। मैंने उलटकर देखा तो मुझे मालूम हुआ कि मैंने अपने ४६ नम्बर के पत्र में इनका हाल लिखा था। उस वक़्त से अबतक इकत्तीस पत्र हो गये और अब हम ७८वें नम्बर तक आ पहुंचे हैं। सब देशों को साथ-साथ लेना मुश्किल काम है।

आज से ठीक दो महीने पहले मैंने जो-कुछ तुम्हें लिखा था, वह तुम्हें याद है? क्या कम्बोडिया, अंगकोर, सुमात्रा और श्रीविजय याद हैं? क्या तुम्हें यह याद है कि हिंद-चीन के पुराने भारतीय उपनिवेश कई सौ वर्षों के दौरान में किस तरह बढ़कर एक बड़ा राज्य—काम्बोज का साम्राज्य के रूप में बन गये। और फिर क़ुदरत का चक्र चला तो उसने इस नगर और साम्राज्य को सख्ती से और एकदम खतम कर दिया। यह १३०० ई० के लगभग की बात है।

इस कम्बोजी साम्राज्य का लगभग समकालीन एक दूसरा बड़ा राज्य समुद्र के उस पार सुमात्रा के टापू में था। लेकिन श्रीविजय, साम्राज्य बनाने की दौड़ में कुछ देर बाद शामिल हुआ था और काम्बोज के बाद तक क़ायम रहा। इसका अन्त भी बहुत करके एकदम हुआ, लेकिन यह क़ुदरत का नहीं, बल्कि आदमी का काम था। तीन सौ वर्षों तक श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य फूला-फला। पूर्व के लगभग सारे टापुओं पर उसका अधिकार था और कुछ दिन तो उसने भारत, लंका और चीन में भी पैर रखने की जगह बना ली थी। यह व्यापारियों का साम्राज्य था और तिजा-रत इसका मुख्य काम था। लेकिन उसी समय जावा द्वीप के पूर्वी हिस्से में एक और

व्यापारी साम्राज्य उठ खड़ा हुआ। यह एक हिन्दू राज्य था, जिसने श्रीविजय के सामने सर झुकाने से इन्कार कर दिया।

नवीं सदी के शुरू से चार सौ वर्षों तक पूर्वी जावा के इस राज्य को श्रीविजय की बढ़ती हुई ताक़त का ख़तरा बना रहा। लेकिन वह अपनी स्वाधीनता क़ायम रखने में कामयाब रहा और साथ ही इसने इतनी बड़ी संख्या में पत्थर के सुन्दर मन्दिर बनवाये कि अचम्भा होता है। इन मन्दिरों में सबसे मशहूर बोरोबुदर के मन्दिर कहलाते हैं, जो अभी तक मौजूद हैं और जिन्हें देखने के लिए बहुत यात्री जाते हैं। श्रीविजय के राज्य में शामिल होने से बच जाने पर पूर्वी जावा ख़ुद सरज़ोर हो गया और अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के लिए उलटा एक खतरा बन गया। दोनों व्यापारिक राज्य थे और दोनों के जहाज़ व्यापार के लिए सागरों के पार जाते थे, इसलिए दोनों की आपस में अक्सर टक्कर होती रहती थी।

मेरा दिल चाहता है कि जावा और सुमात्रा की इस होड़ का जर्मनी और इंग्लैण्ड जैसी आजकल की शक्तियों में चलनेवाली होड़ से मुक़ाबला करूं। यह महसूस करके कि श्रीविजय को रोकने का और अपनी तिजारत को बढ़ाने का सिर्फ़ एक ही उपाय है कि अपनी जलसेना को मज़बूत किया जाय, जावा ने अपनी समुद्री-शक्ति ख़ूब बढ़ा ली। बड़े-बड़े जंगी बेड़े लड़ाई के लिए भेजे जाते थे, लेकिन वर्षों तक इनका मुक़ाबला दुश्मन से नहीं होता था। इस तरह जावा बढ़ता चला गया और दिन-दिन सरज़ोर होने लगा। तेरहवीं सदी के अन्त में मज्जापहित नामक शहर बसाया गया और यह जावा के बढ़ते हुए राज्य की राजधानी हो गया।

यह जावा राज्य इतना गुस्ताख़ और घमण्डी हो गया कि इसने ख़ान महान कुबलइ के दूतों का, जो ख़िराज लेने के लिए यहां भेजे गए थे, अपमान भी कर डाला। यही नहीं कि ख़िराज न दिया हो, बल्कि एक दूत के माथे पर अपमान करनेवाला सन्देश गोद दिया गया। मंगोल ख़ान के साथ इस तरह का खिलवाड़ करना बहुत ही ख़तरनाक और बेवक़ूफ़ी की बात थी। ऐसे ही अपमान के बदले में चंगेज़ के हाथों मध्य एशिया का विनाश हुआ था और बाद में हलाकू के हाथों बग़दाद का। फिर भी जावा के छोटे-से टापूवाले राज्य ने ऐसी जुर्रत की। लेकिन जावा की ख़ुश-क़िस्मती थी कि मंगोल लोग बहुत-कुछ ठंडे पड़ गये थे और उन्हें देश-विजय की कोई इच्छा नहीं रही थी। समुद्री लड़ाई भी उन्हें बहुत पसन्द न थी; वे तो ठोस ज़मीन पर अपनेको ज़्यादा बलवान समझते थे। फिर भी कुबलई ने जावा के अपराधी राजा को सज़ा देने के लिए फ़ौज़ भेजी। चीनियों ने जावानियों को हरा दिया और उनके राजा को मार डाला। लेकिन मालूम होता है उन्होंने ज़्यादा नुक़सान नहीं किया। चीनी असर से मंगोल कितने बदल गये थे!

देखा जाय तो वास्तव में इस चीनी हमले के नतीजे से जावा, जिसे अब हम

मज्जापहित साम्राज्य कहेंगे, अन्त में और भी ज़्यादा मज़बूत हो गया। इसकी वजह यह थी कि चीनियों ने जावा में बन्दूकों का इस्तेमाल जारी कर दिया और शायद इन बन्दूकों की ही वजह से मज्जापहित को आगे चलकर लड़ाइयों में कामयाबी हुई।

मज्जापहित का साम्राज्य फैलता गया। लेकिन यह कोई संयोग से या बेढंगेपन से नहीं हुआ। यह साम्राज्यशाही विस्तार था, जिसका संगठन राज्य करता था और जिसे एक कुशल थल व जल सेना पूरा करती थी। विस्तार के इस ज़माने के कुछ हिस्से में महारानी सुहिता यहां की शासक थी। मालूम होता है कि सरकार बहुत ही केन्द्रित और कारगर थी। पश्चिमी इतिहासकारों ने लिखा है कि कर लगाने की, चुंगी की, राहदारी की और लगान की प्रणाली बहुत ऊंचे दर्जे की थी। सरकार के अलग-अलग महकमों में से कुछ ये थे—उपनिवेश-विभाग, वाणिज्य विभाग, सार्वजनिक कल्याण और सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग, गृह-विभाग और युद्ध-विभाग। एक सबसे ऊंची अदालत थी, जिसमें दो अध्यक्ष-न्यायाधीश और सात न्यायाधीश हुआ करते थे। मालूम होता है ब्राह्मण पुरोहितों के हाथों में बहुत शक्ति थी, लेकिन कहने को राजा इनपर अंकुश रखता था।

ये विभाग और इनमें से कुछके नाम भी हमें कुछ हद तक कौटिल्य के अर्थशास्त्र की याद दिलाते हैं। लेकिन उपनिवेशों का विभाग नया था। राज्य के अन्दरूनी इन्तज़ाम से सम्बन्ध रखनेवाले गृह-विभाग का अधिकारी 'मन्त्री' कहलाता था। इससे ज़ाहिर होता है कि भारतीय परम्पराएं और संस्कृति इन टापुओं में दक्षिणी भारत के पल्लवों की पहली बस्ती बसने के १२०० वर्ष बाद तक क़ायम रहीं। यह तभी हो सकता था जब सम्पर्क बराबर बना रहा हो और इसमें शक नहीं कि इस तरह का सम्पर्क व्यापार के ज़रिये बना हुआ था।

चूंकि मज्जापहित एक व्यापारिक साम्राज्य था, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि निर्यात और आयात के व्यापारों की व्यवस्था सावधानी के साथ की जाती। निर्यात उस व्यापार को कहते हैं, जिसमें माल विदेशों को भेजा जाता है और आयात उस व्यापार को कहते हैं, जिसमें बाहर के देशों से अपने देश में माल आता है। यह व्यापार ख़ास तौर से भारत, चीन और उसके अपने उपनिवेशों से हुआ करता था। जब श्रीविजय से युद्ध ठना हुआ था, तब उसके साथ या उसके उपनिवेशों के साथ, शान्ति से व्यापार नहीं हो सकता था।

जावा का राज्य कई सौ वर्षों तक रहा, लेकिन मज्जापहित साम्राज्य का महान काल १३३५ से १३८० ई० तक, यानी केवल ४५ वर्ष का था। इसी ज़माने में, १३७७ ई० में श्रीविजय पर आखिरी तौर से क़ब्ज़ा हुआ और वह नष्ट कर दिया गया। अनाम, स्याम और काम्बोज के साथ मज्जापहित की सन्धियां थीं।

मज्जापहित की राजनगरी बहुत सुन्दर और खुशहाल थी। शहर के बीचों-बीच शिव का बहुत बड़ा मन्दिर था। इसके अलावा बहुत-सी शानदार इमारतें थीं। सच तो यह है कि मलेशिया के सारे भारतीय उपनिवेशों ने सुन्दर इमारतें बनाने में कमाल हासिल किया था। जावा में और भी बड़े-बड़े शहर और बन्दरगाह थे।

यह साम्राज्यशाही राज्य अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के बाद ज़्यादा दिन तक नहीं टिका। घरेलू लड़ाई शुरू हो गई और चीन से भी झगड़ा हो गया। नतीजा यह हुआ कि चीनी जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा जावा पर चढ़ आया। उपनिवेश धीरे-धीरे टूट-टूटकर अलग होते गये। १४२६ ई० में बड़ा भारी अकाल पड़ा और दो वर्ष बाद मज्जापहित साम्राज्य नहीं रह गया। फिर भी यह एक स्वाधीन राज्य की हैसियत से पचास वर्ष और चलता रहा। इसके बाद मलक्का के मुसलमान राज्य ने इस पर क़ब्ज़ा कर लिया।

इस तरह मलेशिया की पुरानी भारतीय बस्तियों से पैदा होनेवाले साम्राज्यों में से तीसरा साम्राज्य ख़तम हुआ। अपने छोटे-छोटे पत्रों में हमने बड़े-बड़े ज़मानों को निबटाया है। भारत के उपनिवेशी पहले-पहल ईसाई सन् की शुरुआत के क़रीब यहां आये थे और इस वक़्त हम पन्द्रहवीं सदी का ज़िक्र कर रहे हैं। यानी हमने इन उपनिवेशों के इतिहास के १४०० वर्षों का सिंहावलोकन कर लिया है। हमने जिन तीन साम्राज्यशाही राज्यों, यानी काम्बोज, श्रीविजय और मज्जापहित पर ख़ास तौर से ग़ौर किया है, उनमें से हरेक सैकड़ों वर्ष क़ायम रहा। इन लम्बे ज़मानों को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि इनसे इन राज्यों की पायेदारी और कुशलता का कुछ अन्दाज़ हो जाता है। सुन्दर इमारतों से उन्हें ख़ास प्रेम था और व्यापार उनका मुख्य धन्धा था। वे भारतीय संस्कृति की परम्परा क़ायम रखे हुए थे और इसमें उन्होंने चीनी संस्कृति के बहुत-से तत्त्वों को भी मिला कर एक-रस बना दिया था।

तुम्हें यह याद होगा कि जिन तीन भारतीय उपनिवेशों का मैंने ख़ासतौर पर ज़िक्र किया है, उनके अलावा और भी भारतीय बस्तियां थीं। लेकिन हम हरेक पर अलग-अलग ध्यान नहीं दे सकते; और न मैं दो पड़ौसी देशों, यानी बर्मा और स्याम, के बारे में ही कुछ ज़्यादा कह सकता हूं। इन दोनों देशों में भी बड़े शक्तिशाली राज्य बने और कला की हलचल ने खूब ज़ोर पकड़ा। दोनों में बौद्ध-धर्म फैला। बर्मा पर मंगोलों ने एक बार हमला किया था, लेकिन स्याम पर चीनियों ने कभी हमला नहीं किया। मगर बर्मा और स्याम दोनों अक्सर चीन को ख़िराज देते थे। यह इस क़िस्म की भेंट थीं, जैसी कोई विनयशील छोटा भाई बड़े भाई को पेश करे। इस ख़िराज के बदले छोटे भाई के पास चीन से क़ीमती तोहफ़े आते थे।

मंगोलों का हमला होने के पहले बर्मा की राजधानी पगान थी। यह शहर

उत्तरी बर्मा में था। यह शहर २०० वर्षों से ज़्यादा राजधानी रहा। कहते हैं कि यह शहर बड़ा सुन्दर था और अंगकोर के अलावा कोई दूसरा शहर इसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था। इसकी सबसे बढ़िया इमारत आनन्द मन्दिर थी, जो बौद्ध वास्तु-कला के दुनिया भर में सबसे सुन्दर नमूनों में गिनी जाती है। इसके अलावा और भी बहुत-सी शानदार इमारतें थीं। सच तो यह है कि आज पगान शहर के खंडहर-तक भी सुन्दर हैं। पगान की शान का ज़माना ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी तक था। इसके बाद कुछ दिन बर्मा में कुछ गड़बड़ और खलबली रही और उत्तरी बर्मा दक्षिणी बर्मा से अलग हो गया। सोलहवीं सदी में दक्षिण में एक बड़ा राजा पैदा हुआ और उसने बर्मा को फिर एक कर दिया। उसकी राजधानी पेगू में थी, जो दक्षिण में है।

मुझे उम्मीद है कि बर्मा और स्याम के इस थोड़े और अचानक ज़िक्र से तुम उलझन में न पड़ोगी। हम मलेशिया और इण्डोनेशिया के इतिहास के एक अध्याय के अन्त तक पहुंच गये हैं और मैं अपना सिंहावलोकन पूरा कर लेना चाहता हूं। अभी तक इन हिस्सों पर राजनैतिक और सांस्कृतिक जो भी मुख्य प्रभाव पड़े, उनका मूल भारत और चीन में था। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूं, एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी देशों, यानी बर्मा, स्याम और हिंद-चीन पर चीन का ज़्यादा प्रभाव पड़ा था। टापुओं और मलाया प्रायद्वीप पर भारत का ज़्यादा असर पड़ा था।

अब एक नया असर मैदान में आता है। यह अरबों का लाया हुआ था। बर्मा और स्याम तो इससे बच गये पर मलाया और टापू इस असर में आ गये और थोड़े ही दिनों में एक मुसलमानी साम्राज्य बनने लगा।

अरब व्यापारी इन टापुओं में हज़ार या अधिक वर्षों से आते थे और बसते गये थे, लेकिन इनका सारा ध्यान अपने धन्धे में ही रहता था, और ये हुकूमत में कोई दखल नहीं देते थे। चौदहवीं सदी में अरबी धर्म-प्रचारक अरब से यहां आये और उन्हें कामयाबी हुई, खास तौर से कुछ मुक़ामी शासकों को मुसलमान बनाने में।

इसी बीच राजनैतिक परिवर्तन शुरू हो गये थे। मज्जापहित फैल रहा था और श्रीविजय को कुचल रहा था। जब श्रीविजय का पतन हुआ तो बहुत-से शरणार्थी भागकर मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में जा बसे। वहां उन्होंने मलक्का शहर क़ायम किया। यह शहर और राज्य तेज़ी से बढ़े और १४०० ई० में ही मलक्का एक बड़ा शहर हो गया था। मज्जापहित के जावानियों को उनकी प्रजा के लोग पसन्द नहीं करते थे। जैसा आमतौर पर साम्राज्यवादियों का तरीक़ा होता है, ये लोग ज़ालिम थे, इसलिए बहुत-से लोगों ने मज्जापहित में रहने की बनिस्बत मलक्का के नये

राज्य में जाकर बसना बेहतर समझा। स्याम भी इस वक़्त कुछ ज़्यादा सरज़ोर हो रहा था। इसलिए मलक्का बहुत-से लोगों के लिए शरण की जगह बन गया। यहां मुसलमान और बौद्ध दोनों थे। यहां के शासक पहले तो बौद्ध थे, लेकिन बाद में उन्होंने इस्लाम क़बूल कर लिया।

मलक्का के नये राज्य को एक तरफ़ जावा से और दूसरी तरफ़ स्याम से खतरा था। इसने टापुओं की दूसरी छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों से दोस्ती और गठ-बन्धन करने की कोशिश की। इसने बचाव के लिए चीन से भी मदद मांगी। उस वक़्त मिंग लोग, जो मंगोलों को हरा चुके थे, चीन में राज कर रहे थे। यह मार्के की बात है कि मलेशिया की छोटी-छोटी सब मुसलमान रियासतों ने एक साथ ही बचाव के लिए चीन का मुंह ताका। इससे ज़ाहिर होता है कि इन्हें ताक़तवर दुश्मनों का कोई तुरन्त का खतरा रहा होगा।

मलेशिया के देशों के साथ चीन ने हमेशा से दोस्ताना, पर रौबदार अलगाव की नीति बरती। दूसरे देशों को जीतने की उसे ज़रा भी इच्छा नहीं थी। उसका खयाल था कि दूसरे देशों को जीतने से उसे कोई लाभ नहीं मिल सकता, लेकिन वह इन्हें अपनी सभ्यता सिखाने के लिए तैयार था। ऐसा लगता है कि मिंग सम्राट ने इस पुरानी नीति को बदलने का और इन देशों में ज़्यादा दिलचस्पी लेने का फ़ैसला किया। जान पड़ता है कि उसने जावा और स्याम की सरज़ोरी को पसंद नहीं किया। इसलिए इनको रोकने और दूसरों पर चीन की शक्ति का सिक्का जमाने के इरादे से उसने एक बड़ा जंगी-बेड़ा जल-सेनापति चेंग-हो की मातहती में भेजा। इस बेड़े में कई जहाज़ ४०० फुट लम्बाई के थे।

चेंग-हो कई बार आया-गया और उसने क़रीब-क़रीब सभी टापुओं—फ़िलिपाइन, जावा, सुमात्रा, मलाया प्रायद्वीप, वग़ैरा का दौरा किया। वह लंका तक भी जा पहुंचा और उसे जीतकर उसके राजा को चीन पकड़ ले गया। अपने आखिरी धावे में वह ईरान की खाड़ी तक पहुंच गया था। पन्द्रहवीं सदी की शुरुआत में चेंग-हो की इन यात्राओं का उन सब देशों पर ज़बरदस्त असर पड़ा, जहां-जहां वह गया था। हिन्दू मज्जापहित और बौद्ध स्याम को दबाने के लिए उसने जान-बूझकर इस्लाम को बढ़ावा दिया और मलक्का की रियासत उसके विशाल बेड़े की छत्र-छाया में बहुत मज़बूती से जम गई। इसमें शक नहीं कि चेंग-हो की नीयत केवल राजनैतिक थी और मज़हब से इसका कोई ताल्लुक़ न था। वह खुद तो बौद्ध था।

इस तरह मलक्का की रियासत मज्जापहित के विरोधियों की अगुआ बन गई। इसकी ताक़त बढ़ने लगी और इसने धीरे-धीरे जावा के उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया। १४७८ ई० में मज्जापहित शहर पर भी क़ब्ज़ा हो गया। फिर तो

इस्लाम दरबारों का और शहरों का मज़हब बन गया। लेकिन देहात में, भारत की तरह, पुराने विश्वास और कथाएं और रिवाज जारी रहे।

मलक्का का साम्राज्य श्रीविजय और मज्जापहित की तरह महान और बड़ी उम्र का हो सकता था, लेकिन इसे मौक़ा न मिला। इस बीच में पुर्तगाली आ धमके और कुछ वर्षों के अन्दर, १५११ ई० में, इसपर उनका क़ब्ज़ा हो गया। इस तरह चौथे की जगह पांचवें साम्राज्य ने ले ली और वह भी बहुत दिनों तक टिका न रहा। इतिहास में पहली बार पूर्वी समुद्रों में यूरोप सरज़ोर और हावी हो गया।

: ७९ :

# यूरोप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है

१९ जुलाई, १९३२

हमने अपना आख़िरी पत्र उस मौक़े पर ख़तम किया था, जब मलेशिया में पुर्तगाली नज़र आने लगे थे। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें कुछ दिन पहले बताया था कि समुद्र के रास्ते कैसे खोजे गए और पुर्तगाल और स्पेन के लोगों में सबसे पहले पूर्व पहुंचने के लिए कैसी दौड़-सी मची थी। पुर्तगाल पूर्व की तरफ़ गया और स्पेन पश्चिम की तरफ़। पुर्तगाल अफ़्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुंच गया। स्पेन ग़लती से अमेरिका से जा टकराया और बाद में दक्षिण अमेरिका का चक्कर काटकर मलेशिया पहुंचा। अब हम अपनी कुछ बातों के सिलसिले को जोड़कर मलेशिया की अपनी कहानी आगे बढ़ा सकते हैं।

शायद तुम्हें मालूम हो कि गरम मसाले (कालीमिर्च वग़ैरा) गर्म आबहवा में, यानी भूमध्य रेखा के आस-पास के देशों में पैदा होते हैं। यूरोप में मसाले बिलकुल नहीं पैदा होते। दक्षिण भारत और लंका में कुछ पैदा होते हैं, लेकिन ये मसाले ज़्यादातर मलेशिया के टापुओं से, जिन्हें मोलुक्का या मलक्का कहते हैं, आते हैं। इन टापुओं को असल में 'मसाले के टापू' कहते हैं। बहुत पुरान ज़माने से यूरोप में इन मसालों की बहुत मांग थी और वे बराबर भेजे जाते थे। यूरोप पहुंचते-पहुंचते इनकी क़ीमत बहुत बढ़ जाती थी। रोमनी ज़माने में काली मिर्च सोने के भाव बिकती थी। हालांकि मसाले इतने क़ीमती होते थे और पश्चिम में उनकी इतनी मांग थी, लेकिन यूरोप इनके मंगाने का ख़ुद कोई इन्तज़ाम नहीं करता था। बहुत दिनों तक मसाले का व्यापार भारतवासियों के हाथों में था। फिर अरबों के हाथों में आ गया। यह मसालों का ही खिचाव था, जिसने पुर्तगाल और स्पेन के लोगों को उलटी दिशाओं में बढ़ते चले जाने के लिए खींचा और अन्त में उन्हें मलेशिया में लाकर मिला दिया। पुर्तगाली इस खोज में आगे रहे, क्योंकि स्पेन के लोग पूर्व जाते हुए रास्ते में अमेरिका में धन्धे से लग गये और बहुत मुनाफ़े कमाते रहे।

वास्को-द-गामा उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ जब भारत पहुंचा, उसके थोड़े ही दिन बाद बहुत-से पुर्तगाली जहाज़ इसी रास्ते आये और पूर्व की तरफ़ आगे बढ़ गये। उन्हीं दिनों मसाले और दूसरी चीज़ों का व्यापार मलक्का के नये साम्राज्य के हाथ में था। इसलिए पुर्तगाली इस साम्राज्य से और सारे अरब व्यापारियों से टकरा गये। पुर्तगालियों के वाइसराय अलबुक़र्क़ ने १५११ ई० में मलक्का पर क़ब्ज़ा कर लिया और मुसलमानी तिजारत का ख़ातमा कर दिया। यूरोप का व्यापार अब पुर्तगालियों के हाथ में आ गया और यूरोप में इनकी राजधानी लिस्बन मसालों और दूसरे पूर्वी मालों को सारे यूरोप में भेजनेवाला बड़ा व्यापारी केन्द्र बन गई।

यह बात ध्यान में रखने लायक़ है कि अलबुक़र्क अरबों का तो बड़ा सख्त और ज़ालिम दुश्मन था। लेकिन वह पूर्व की दूसरी व्यापारी क़ौमों के साथ दोस्ती रखने की कोशिश करता था। ख़ासकर जितने चीनी उससे मिलते थे, उन सबके साथ वह ख़ासतौर पर बर्ताव करता था। इसका नतीजा यह हुआ कि पुर्तगालियों के बारे में चीन में बहुत अनुकूल समाचार पहुंचे। शायद अरबों से उसकी दुश्मनी की वजह यह थी कि अरब लोग पूर्वी व्यापार पर प्रभुत्व जमाये हुए थे।

इस बीच मसाले के टापुओं की तलाश जारी रही। मैगेलन, जिसने बाद में प्रशांत महासागर पार किया और दुनिया का चक्कर लगाया, उस जहाज़ी बेड़े में शामिल था, जिसने मलक्का खोज निकाला था। साठ वर्ष से ऊपर यूरोप के साथ मसाले के व्यापार में पुर्तगालियों का कोई बराबरी करनेवाला नहीं रहा। फिर १५६५ ई० में स्पेन से फ़िलीपाइन टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया और इस तरह पूर्वी समुद्र पर एक दूसरी यूरोपीय शक्ति का उदय हुआ। लेकिन स्पेन की वजह से पुर्तगालियों के व्यापार में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा, क्योंकि स्पेन के लोग स्वभाव से व्यापारी नहीं थे। ये लोग पूर्व को अपने सिपाही और धर्म-प्रचारक भेजते रहे। पुर्तगालियों का मसाले के व्यापार पर एकाधिकार हो गया। यहांतक कि ईरान और मिस्र को भी पुर्तगालियों के ही ज़रिये मसाले मंगवाने पड़ते थे। ये लोग किसी दूसरे को मसाले के टापुओं से सीधा व्यापार करने तक की इजाज़त नहीं देते थे। इसलिए पुर्तगाल मालामाल हो गया, लेकिन उसने उपनिवेश बसाने की कोई कोशिश नहीं की। तुम जानती हो कि पुर्तगाल छोटा-सा देश है और उसके यहां बाहर भेजने के लिए काफ़ी आदमी नहीं थे। इस छोटे-से देश ने १०० वर्षों तक, यानी सारी सोलहवीं सदी में, पूर्व में जो कुछ किया वह काफ़ी ताज्जुब की चीज़ है।

इस बीच स्पेनी लोग फ़िलिपाइन में जमे रहे और उनसे जितना पैसा खींच सकते थे खींचने की कोशिश करते रहे। ज़बर्दस्ती ख़िराज़ लेने के अलावा इनका कोई दूसरा काम नहीं था। पूर्वी समुद्र में टक्कर बचाने के लिए उन्होंने पुर्तगालियों से सुलह करली थी। स्पेन की सरकार फ़िलिपाइनवालों को स्पेनी अमेरिका से व्यापार

नहीं करने देती थी, क्योंकि उसे डर था कि मैक्सिको और पेरू का सोना और चांदी खिचकर पूर्व में चला जायगा। साल भर में सिर्फ़ एक जहाज़ आता-जाता था। इसको 'मनिल्ला गैलियों' कहते थे और तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी सालाना यात्रा की फ़िलिपाइन के स्पेनी लोग कितनी बेक़रारी के साथ बाट देखा करते होंगे। यह 'मनिल्ला गैलियों' २४० वर्ष तक अमेरिका और पूर्वी टापुओं के बीच प्रशांत महासागर पार करके आया-जाया करता था।

स्पेन और पुर्तगाल की इन सफलताओं से यूरोप में दूसरी क़ौमें डाह से जली जा रही थीं। जैसा कि हम आगे ज़िक्र करेंगे, उस वक़्त स्पेन यूरोप पर हावी था। इंग्लैंड अव्वल दर्जे की शक्ति नहीं था। निदरलैंड्स में, यानी हालैंड और बेल-जियम के कुछ हिस्से में, स्पेन की हुकूमत के ख़िलाफ़ विद्रोह हो गया था। अंग्रेज़ लोग स्पेन से डाह के कारण डच[1] लोगों से हमदर्दी रखते थे। इसलिए उन्होंने चुपके-चुपके हालैण्ड की मदद की। इनके कुछ नाविक खुले समुद्रों में जहाज़ों पर डाके मारते हुए घूमा करते थे और अमेरिका से आनेवाले ख़जाने से लदे स्पेनी जहाज़ों को पकड़ लेते थे। कुछ ज़ोखम-भरी लेकिन मुनाफ़ेवाली इस शिकारबाज़ी का सरदार सर फ्रांन्सिस ड्रेक था और वह इसे 'स्पेन के बादशाह की डाढ़ी झुलसाना' कहा करता था।

१५७७ ई० में ड्रेक पांच जहाज़ों को लेकर स्पेन के उपनिवेशों को लूटने के लिए निकला। लूट में तो वह कामयाब रहा, लेकिन उसके चार जहाज़ डूब गये। उसका सिर्फ एक जहाज़ 'गोल्डन हिन्द' प्रशांत महासागर पहुंचा और इसीसे ड्रेक उत्तमाशा अंतरीप होता हुआ इंग्लैंड वापस आया। इस तरह उसने सारी दुनिया का चक्कर लगा लिया। मैगेलन के 'वित्तोरिया' के बाद 'गोल्डन हिन्द' ही दूसरा जहाज़ था, जिसने पृथ्वी की परिक्रमा की। इस परिक्रमा में तीन वर्ष लगे थे।

स्पेन के बादशाह की डाढ़ी झुलसाना, बिना झगड़ा किये ज्यादा दिन जारी नहीं रह सका और इंग्लैण्ड और स्पेन के बीच बहुत जल्द युद्ध ठन गया। डच लोग तो स्पेन से पहले ही लड़ रहे थे। पुर्तगाल भी इस लड़ाई में फंस गया था, क्योंकि कुछ वर्षों से स्पेन और पुर्तगाल पर एक ही बादशाह राज कर रहा था। इंग्लैण्ड ने ज़बर्दस्त ख़ुश-क़िस्मती और मज़बूत इरादे से इस युद्ध में क़ामयाबी हासिल करके यूरोप को अचम्भे में डाल दिया। तुम्हें याद होगा कि स्पेन ने इंग्लैण्ड को जीतने के लिए जो 'अजय जंगी बेड़ा' भेजा था, वह ग़ारत हो गया था। लेकिन अभी तो हम पूर्व का ज़िक्र कर रहे हैं।

अंग्रेज़ों और डचों दोनों ने सुदूर-पूर्व के देशों पर धावा बोल दिया और स्पेनियों और पुर्तगालियों पर हमला किया। स्पेनवाले सब फ़िलीपाइन में जमा थे और उसकी आसानी से रक्षा कर सकते थे। लेकिन पुर्तगालियों को भारी नुकसान

---

[1] हालैण्ड के निवासी डच कहलाते हैं।

पहुंचा। उनका पूर्वी साम्राज्य लाल सागर से लगाकर मसाले के टापू मलक्का तक ६००० मीलों में फैला हुआ था। ये लोग ईरान की खाड़ी में अदन के पास, लंका में, और भारत के किनारे की कितनी ही जगहों में, और हां सारे पूर्वी टापुओं में और मलाया में, जमे हुए थे। धीरे-धीरे इनका पूर्वी साम्राज्य इनके हाथ से जाता रहा। शहर के बाद शहर और बस्ती के बाद बस्ती या तो डचों के या अंग्रेज़ों के पल्ले पड़े। मलक्का भी १६४१ ई० में जाता रहा। अगर बचीं तो भारत में और दूसरी जगह दो-चार छोटी-छोटी चौकियां। पश्चिमी भारत में गोआ इनमें मुख्य है और पुर्तगाली वहां अभी तक बने हुए हैं। कुछ वर्ष पहले कायम हुए पुर्तगाली गणराज्य का यह एक हिस्सा माना जाता है। अकबर ने पुर्तगालियों से गोआ छीनना चाहा था, लेकिन वह भी कामयाब नहीं हुआ।

इस तरह अब पुर्तगाल पूर्वी इतिहास से बाहर हो जाता है। इस छोटे-से देश ने बहुत ही बड़ा कौर अपने मुंह में रख लिया था। वह उसे निगल न सका, बल्कि निगलने की कोशिश में खुद ही अपना ज़ोर गवां बैठा। स्पेन फ़िलिपाइन में जमा रहा, लेकिन पूर्वी मामलों में अब उसका कोई हिस्सा नहीं रहा। पूर्व के क़ीमती व्यापार पर अब इंग्लैण्ड और हालैण्ड का प्रभुत्व हो गया। इन दोनों देशों ने इस काम के लिए दो व्यापारी कम्पनियां बनाकर पहले ही तैयार कर ली थीं। इंग्लैण्ड में रानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १६०० ई० में एक अधिकार-पत्र दिया था। दो वर्ष बाद डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी क़ायम हुई। ये दोनों कम्पनियां सिर्फ़ व्यापार के लिए थीं। हालांकि दोनों प्राइवेट कम्पनियां थीं, लेकिन इन्हें अक्सर सरकारी मदद मिलती थी। इनकी सबसे ज्यादा तिजारती दिलचस्पी मलेशिया के मसाले के व्यापार से थी। भारत उस वक़्त मुग़ल सम्राटों के मातहत एक शक्तिशाली देश था, जिसे नाराज़ करना ख़तरे से ख़ाली नहीं था।

डच और अंग्रेज़ अक्सर आपस में भी लड़ पड़ते थे। आख़िरकार अंग्रेज़ पूर्वी द्वीपों से हट गये और भारत पर ज्यादा ध्यान देने लगे। विशाल मुग़ल साम्राज्य उस वक़्त कमज़ोर पड़ रहा था। इसलिए हौसलेबाज़ विदेशियों को मौक़ा मिल गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह हौसलेबाज़ लोग इंग्लैण्ड और फ्रांस से आये और उन्होंने किस तरह साज़िश और लड़ाई के ज़रिये इस मिटते हुए साम्राज्य के हिस्सों पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की।

: ८० :

## चीन में शान्ति और समृद्धि का युग

२२ जुलाई, १९३२

प्यारी, बेटी, मुझे मालूम हुआ कि तुम बीमार थीं, और मैं नहीं जानता कि

अभी तक ठीक हुई हो या नहीं। जेल के अन्दर ख़बरों के पहुंचने में देर लग जाती है। मैं तुम्हारी मदद के लिए यहां से कुछ भी नहीं कर सकता। तुम्हें अपनी ख़बरदारी ख़ुद ही करनी पड़ेगी। लेकिन मैं तुम्हारी बहुत याद करता रहूंगा। अजीब बात है कि हम सब किस तरह बिखरे हुए हैं। तुम पूना में हो, मम्मी इलाहाबाद में बीमार है, और हममें से बाकी अलग-अलग जेलों में पड़े हैं!

कुछ दिनों से इन पत्रों के लिखने में मुझे कुछ दिक्कत मालूम होने लगी है। तुमसे बात-चीत करने का मन-बहलाव कायम रखना आसान नहीं था। मुझे ख़याल आता है कि तुम पूना में बीमार पड़ी हो और किसे मालूम मैं तुमको फिर कब देख सकूंगा। हमारे मिलने के पहले न जाने कितने महीने या वर्ष और बीत जायंगे और इस बीच तुम कितनी बड़ी हो जाओगी!

लेकिन बहुत ज़्यादा सोच-विचार करना, खासकर जेल में, अच्छा नहीं। मुझे अपनेको सम्हाल लेना चाहिए और थोड़ी देर के लिए आज को भूलकर बीती कल का ख़याल करना चाहिए।

हम लोग मलेशिया में थे और हमने वहां एक अजीब घटना घटते देखी। यूरोप एशिया में सरज़ोर होता जा रहा था। पुर्तगाली आये, फिर स्पेन के लोग आये और बाद में अंग्रेज़ और डच आये। लेकिन इन यूरोपियों की हलचलें बहुत दिनों तक मलेशिया और पूर्वी टापुओं के अन्दर ही सीमित रहीं। पश्चिम की तरफ़ मुग़लों की हुकूमत में शक्तिशाली भारत था। उत्तर में चीन था, जो अपनी हिफ़ाज़त अच्छी तरह कर सकता था। इसलिए भारत और चीन में यूरोपियों ने कोई दख़ल नहीं दिया।

मलेशिया से चीन सिर्फ़ एक कदम पर है। अब हमें वहां चलना चाहिए। युआन राजवंश, जिसे मंगोल क़ुबलइख़ां ने क़ायम किया था, ख़तम हो गया था। १३६८ ई० में लोगों ने बग़ावत करके बची-खुची मंगोल फ़ौजों को चीन की 'बड़ी दीवार' के उस पार खदेड़ दिया था। इस विद्रोह का नेता हांग-वू था, जो एक ग़रीब मज़दूर का लड़का था और जिसे कोई शिक्षा नहीं मिली थी। लेकिन ज़िन्दगी की बड़ी पाठशाला का वह बड़ा अच्छा विद्यार्थी था। यह बड़ा सफल नेता निकला और बाद में बड़ा अक्लमन्द शासक हुआ। सम्राट् होते हुए भी वह अहंकार और घमंड से फूल नहीं उठा, बल्कि सारी ज़िन्दगी उसने इस बात को याद रखा कि वह एक ग़रीब का लड़का है। इसने तीस वर्ष राज किया। लोग आज भी उसके शासन की याद इसलिए करते हैं कि उसने जन-साधारण की, जिनमें से वह उठा था, हालत सुधारने के लिए बराबर कोशिशें कीं। अन्त तक उसने अपनी शुरू की ज़िन्दगी की सादगी बनाये रखी।

हांग-वू नये मिंग राजवंश का पहला सम्राट् था। उसका पुत्र युंग-लो भी

बड़ा शासक हुआ है। वह १४०२ से १४४२ ई० तक सम्राट् रहा। लेकिन इन चीनी नामों से मैं तुम्हें परेशान न करूंगा। बहुत-से अच्छे शासक भी हुए, लेकिन, जैसा कि अक्सर होता है, बाद में पतन होने लगा। मगर हमें इन सम्राटों को भूलकर चीन के इतिहास के इस ज़माने पर ग़ौर करना चाहिए। यह बहुत ही रौशन ज़माना था और उसमें ख़ास मोहनी है। 'मिंग' के मानी ही 'रौशन' है। मिंग राजवंश २७६ वर्षों तक, यानी १३६८ से १६४४ ई० तक चला। चीन के तमाम राजवंशों में यह राजवंश सबसे ज़्यादा चीनी नमूने का कहा जा सकता है। इनके ज़माने में चीनियों को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौक़ा मिला। यह वह ज़माना था, जिसमें देश और विदेश, दोनों तरफ़ से शान्ति रही। विदेशी नीति में कोई सरज़ोरी नहीं थी और न साम्राज्य बढ़ाने की कोई कार्रवाई की गई। पास-पड़ौस के मुल्कों से दोस्ती थी। सिर्फ़ उत्तर में घुमक्कड़ तातारियों से कुछ ख़तरा था। बाक़ी की पूर्वी दुनिया के लिए चीन एक ऐसे बड़े भाई के समान था, जो चतुर, सुखी और सुसंस्कृत था; जिसे अपने ऊंचे दर्जे का खूब भान था; पर जो छोटे भाइयों की भलाई चाहता था और उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति सिखाने और उसमें हिस्सा देने के लिए तैयार था। और वे भी उसकी तरफ़ देखते थे। कुछ समय तक जापान ने भी चीन को अपने से ऊपर माना और शोगुन, जो जापान पर राज करता था, अपने को मिंग सम्राटों का मातहत कहता था। कोरिया से, सुमात्रा, जावा, वग़ैरा इण्डोनेशियाई टापुओं से और हिंदचीन से, ख़िराज वसूल होता था।

युंग-लो के राज्-काल में ही जल-सेनापति चेंग-हो की मातहती में वह बड़ा जंगी-बेड़ा मलेशिया पर चढ़ाई करने गया था। तीस वर्ष तक चेंग-हो सारे पूर्वी समुद्रों का चक्कर लगाता रहा और ईरान की खाड़ी तक पहुंच गया। टापू-राज्यों को डराने की यह साम्राज्यशाही कोशिश-जैसी नजर आती है। ज़ाहिरा तौर से देश-विजय का या किसी दूसरे फ़ायदे का कोई इरादा नहीं था। स्याम और मज्जा-पहित की बढ़ती हुई ताक़त की वजह से शायद युंग-लो ने यह चढ़ाई की हो। पर वजह चाहे जो रही हो, इस चढ़ाई के बहुत बड़े नतीज़े निकले। इसने मज्जापहित और स्याम की बाढ़ को रोक दिया; मलक्का के नये मुसलमानी राज्य को बढ़ावा दिया और चीनी संस्कृति को सारे इण्डोनेशिया में और पूर्व में फैला दिया।

चूंकि चीन और पड़ोसी देशों के बीच सुलह और दोस्ती थी, इसलिए घरेलू मामलों पर ज्यादा ध्यान दिया जा सकता था। शासन अच्छा था और टैक्सों को कम करके किसानों का बोझ हलका कर दिया गया था। सड़कों, नहरों, जलमार्गों और तालाबों की हालत सुधारी गई। फ़सल की ख़राबियों और अकालों का मुक़ाबला करने के लिए सार्वजनिक कोठार बनाये गए। सरकार ने काग़ज़ी नोट चलाये और इस तरह से साख बढ़ाकर व्यापार की तरक़्क़ी और माल की अदला-

बदली में सहूलियतें पहुंचाई। इन काग़ज़ी नोटों का खूब चलन था और ७० फीसदी टैक्स नोटों के रूप में अदा किये जा सकते थे।

इस ज़माने की संस्कृति का इतिहास और भी ज्यादा मार्के का है। चीनी लोग युगों से ज्यादा सुसंस्कृत और कला-प्रिय रहे हैं। मिंग-काल के अच्छे शासन से और कला को दिये जानेवाले बढ़ावे से जनता की प्रतिभा जाग उठी। शानदार इमारतें बनीं, सुन्दर चित्रकारी हुई और मिंग-युग के चीनी के बर्तन तरहदार शक्लों और सुन्दर कारीगरी के लिए मशहूर हैं। ये चित्रकारी उस महान चित्रकारी की टक्कर की थी, जो इटली में उन दिनों 'रिनैसां' की उमंग से पैदा हो रही थी।

पन्द्रहवीं सदी के अन्त में चीन दौलत, उद्योग-धंधों और सभ्यता में यूरोप से बहुत आगे था। सारे मिंग-काल में जितना आनन्द, और कला की जितनी हलचल चीन के लोगों में थी, उतनी यूरोप के किसी देश में या और कहीं भी नहीं थे। और याद रक्खो कि यह यूरोप के रिनैसां काल का ज़माना था।

कला के लिहाज़ से मिंग-काल की नामवरी की एक वजह यह भी है कि उस ज़माने की नफ़ीस कारीगरी के बहुत नमूने आज भी मिलते हैं। उस ज़माने की बड़ी-बड़ी यादगारें हैं; लकड़ी और हाथी-दांत और हरे पत्थर का नक़्क़ाशी का बारीक काम है; और कांसे के कलश और चीनी के बर्तन हैं। मिंग-काल के अन्त में ख़ाकों की बन्दिश ज़रूरत से ज़्यादा बोझिल हो गई और इसने नक़्क़ाशी और चित्रकारी की सूरत कुछ बिगाड़ दी।

इसी ज़माने में पुर्तगाली जहाज़ पहले-पहल चीन आये। वे १५१६ ई० में कैन्टन पहुंचे। अलबुक़र्क जिन चीनियों से मिलता था, उनसे अच्छा बर्ताव करने में बहुत सावधानी रखता था। और उसके पक्ष में चीन में बहुत अच्छी रिपोर्टें पहुंची थीं। इसलिए जब पुर्तगाली चीन पहुंचे तो उसका स्वागत किया गया। लेकिन कुछ ही दिनों में इन पुर्तगालियों ने कई तरह की बेजा हरकतें शुरू कर दीं और कई जगहों पर किले बना लिये। इस जंगलीपन ने चीनी सरकार को हैरत में डाल दिया। उसने जल्दबाज़ी की तो कोई कार्रवाई नहीं की, लेकिन अन्त में जाकर इस सारे झुंड को चीन से बाहर निकाल दिया। इसके बाद वे ज़्यादा शान्त और नम्र बन गये और १५५७ ई० में उन्होंने कैन्टन के नज़दीक बसने की इजाज़त हासिल कर ली।

पुर्तगालियों के साथ ईसाई मिशनरी आये। इनमें सेंट फ्रान्सिस ज़ेवियर का नाम बहुत मशहूर है। वह बहुत दिनों तक भारत में रहा और कितने ही मिशन कालेज उसके नाम पर अभी तक क़ायम हैं। वह जापान भी गया था। ज़मीन पर उतरने की इजाज़त मिलने के पहले ही एक चीनी बन्दरगाह पर उसकी मौत हो गई। चीनी लोग ईसाई मिशनरियों को बढ़ावा नहीं देते थे। पर दो जेज़ुयिट पादरियों

ने बौद्ध विद्यार्थियों का भेस बनाकर कई वर्षों तक चीनी भाषा सीखी। वे कनफ़्यूशियन मज़हब के बड़े विद्वान् हो गये और उन्होंने विज्ञानियों की हैसियत में भी नाम कमाया। इनमें से एक का नाम मैतिओ रिच्ची था। वह बड़ा क़ाबिल और प्रतिभाशाली विद्वान् था और इतना होशियार था कि उसने सम्राट् को भी अपने हाथ में कर लिया। बाद में उसने अपना नकली जामा उतार फेंका और उसके असर से चीन में ईसाइयत की हैसियत बहुत अच्छी हो गई।

डच लोग सत्रहवीं सदी के शुरू में मकाओ पहुंचे। उन लोगों ने व्यापार करने की इजाज़त मांगी, लेकिन उनके और पुर्तगालियों के बीच बहुत बैर था, इसलिए पुर्तगालियों ने चीनियों को उनके ख़िलाफ़ भड़काने की पूरी कोशिश की। उन्होंने चीनियों से कहा कि डच लोग ख़ूंख़्वार समुद्री-डाकू होते हैं। इसलिए चीनियों ने इजाज़त देने से इन्कार कर दिया। कुछ वर्ष बाद डचों ने जावा के अपने शहर बटाविया से एक बड़ा जंगी-बेड़ा मकाओ भेजा। उन्होंने बेवक़ूफ़ी से मकाओ पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा करने की कोशिश की, लेकिन चीनियों और पुर्तगालियों के मुक़ाबले में वे ठहर नहीं सके।

डचों के पीछे-पीछे अंग्रेज़ भी पहुंचे, लेकिन उन्हें भी कोई कामयाबी नहीं हासिल हुई। चीन के व्यापार में उनको मिंग-काल के ख़तम होने पर कुछ हिस्सा मिला।

मिंग-काल, दुनिया की तमाम अच्छी और बुरी चीज़ों की तरह, सत्रहवीं सदी के मध्य में ख़तम हो गया। तातारियों का छोटा-सा बादल उत्तर में उठा और इतना बढ़ता गया कि उसकी छाया चीन पर भी पड़ने लगी। तुम्हें 'किनों' या सुनहरे तातारियों की याद होगी। उन्होंने सुंगों को चीन के दक्षिण में भगा दिया था और बाद में वे ख़ुद मंगोलों द्वारा खदेड़ दिये गए। इन्हीं किनों का भाई-बन्द एक नया कबीला उत्तर चीन में, जहां आज मंचूरिया है, मैदान में आया। वे अपनेको मंचू कहते थे। यही मंचू लोग अन्त में मिंगो के उत्तराधिकारी हुए।

लेकिन अगर चीन आपस में लड़नेवाले बराबरी के गुटों में बंटा हुआ न होता तो मंचुओं को चीन जीतने में बड़ी दिक़्क़त पड़ती। चीन, भारत, वग़ैरा लगभग हर देश में विदेशी हमलों के कामयाब होने की वजह देश की कमज़ोरी और वहां के लोगों की अन्दरूनी फूट रही है। इसी तरह चीन में भी सारे देश में झगड़े-फिसाद रहते थे। शायद बाद के मिंग सम्राट् भ्रष्ट और नालायक थे या आर्थिक हालतें ऐसी थीं कि जिससे समाजी क्रान्ति हो जाय। मंचुओं के ख़िलाफ़ लड़ाई भी बड़ी मंहगी पड़ी और बड़ा भारी बोझ हो गई। सब जगहों पर बटमार-नेता पैदा हो गये और इनमें जो सबसे बड़ा था, वह तो कुछ दिनों सचमुच सम्राट् भी रहा। मंचुओं के ख़िलाफ़ मिंगों की सेना का नेता उनका सेनापति वू सान-क्वी था। वह इस मुश्किल

में पड़ गया कि बटमार सम्राट् और मंचुओं, इन दोनों में से किसे पसन्द करे। बड़ी बेवक़ूफ़ी करके या शायद गद्दारी की नीयत से, उसने बटमार के ख़िलाफ़ मंचुओं से मदद मांगी। मंचुओं ने बड़ी ख़ुशी के साथ मदद दी और हुआ यह कि वे पेकिंग में जम गये! वू सान-क्वी को जब यह भरोसा हो गया कि मिंगों का पक्ष लाचार हो चुका है, तो वह उन्हें छोड़ भागा और विदेशी हमलावर मंचुओं से जा मिला।

यह कोई अचम्भे की बात नहीं है कि वू सान-क्वी आज तक चीन में हिकारत की निगाह से देखा जाता है, और चीनी लोग इसे अपने देश के इतिहास में सबसे बड़ा देशद्रोही समझते हैं। देश की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी लेकर वह दुश्मन से जा मिला और इसने वास्तव में दक्षिणी सूबों को पराधीन बनाने में दुश्मनों की मदद की। इसका इनाम उसे यह मिला कि मंचुओं ने उसे उन्हीं सूबों का हाकिम बना दिया, जिन्हें उसने उनके लिए जीता था।

१६५० ई० में मंचुओं ने कैंन्टन नगर भी जीत लिया और चीन पूरी तरह फ़तह हो गया। उनकी जीत की वजह शायद यह भी थी कि वे चीनियों से अच्छे लड़ाके थे। शायद अमन और ख़ुशहाली के बहुत ही लम्बे समय ने चीनियों को फ़ौजी मामले में कमज़ोर बना दिया था। लेकिन मंचुओं की विजय की तेज़ चाल के और भी कारण थे। ख़ास तौर पर यह कि वे चीनियों को ख़ुश रखने में बड़ी होशियारी रखते थे। इससे पहले के ज़मानों में तातारियों के हमलों के साथ-साथ अक्सर ज़ुल्म और हत्याएं होती थीं। पर इस मौक़े पर चीनी अफ़सरों को मिलाने की हर तरह से कोशिश की गई और इन्हीं लोगों को फिर उनके ओहदों पर मुकर्रर कर दिया गया। इस तरह चीनी अफ़सर ऊंचे-से-ऊंचे ओहदों को सम्हाले हुए थे। शासन का पुराना तरीक़ा भी, जो मिंगों के ज़माने में चलता था, बदला नहीं गया। शासन-व्यवस्था वही नज़र आती थी, पर उसे ऊपर से हांकनेवाले हाथ बदल गये थे।

लेकिन दो बड़ी बातें बतलाती थीं कि चीनी लोग अब विदेशी हुकूमत के अधीन थे। महत्व के केन्द्रों में मंचू फ़ौजें तैनात कर दी गई थीं और लम्बी चोटी रखने का मंचू रिवाज चीनियों पर, उनकी अधीनता की निशानी के तौर पर लाद दिया गया था। हममें से ज़्यादातर लोग हमेशा से यही ख़याल करते आये हैं कि चीनियों के साथ लम्बी चोटियां जुड़ी हुई हैं। लेकिन असल में यह रिवाज चीनियों का बिलकुल नहीं था। यह ग़ुलामी का वैसा ही एक चिन्ह था जैसे बहुत-से चिन्ह आज कुछ भारतवासियों ने भी अपना लिये हैं, और वे उनके पीछे छिपी हुई शर्म और गिरावट को महसूस नहीं करते। अब चीनियों ने लम्बी चोटी रखना छोड़ दिया है।

इस तरह चीन का यह चमकदार मिंग-काल ख़तम हुआ। ताज्जुब होता है

कि लगभग तीन सदियों के अच्छे शासन के बाद यह इतनी तेज़ चाल से गिर क्यों गया। अगर यह सरकार इतनी ही अच्छी थी जितनी कि मानी जाती है, तो विद्रोह और अन्दरूनी झगड़े क्यों होते? मंचूरिया से आनेवाले विदेशी हमलावरों को क्यों नहीं रोका जा सका? शायद अख़ीर के दिनों में सरकार अत्याचारी हो गई। और यह भी हो सकता है कि माता-पिता की तरह ज़रूरत से ज्यादा लाड़ करने-वाली सरकार ने क़ौम को कमज़ोर बना दिया हो। लाड़-प्यार बच्चों और राष्ट्रों दोनों के लिए अच्छा नहीं होता।

यह भी अचम्भे की बात है कि संस्कृति के इतने ऊंचे दर्जे पर होता हुआ भी चीन उन दिनों विज्ञान, खोज वग़ैरा दूसरी दिशाओं में आगे क्यों नही बढ़ा। यूरोप की क़ौमें उससे बहुत पीछे थीं। फिर भी तुम देख सकती हो कि रिनैसां के ज़माने में जीवट और हौसला और खोज की भावनाएं उनमें उबल रही थीं। इन दोनों की तुलना की जाय तो एक तो अधेड़ उम्र के सुसंस्कृत आदमी की तरह था, जो बिना हलचल का जीवन पसन्द करता हो, हौसले के कारनामों मे जिसे लगन न हो और जो अपने ढर्रे मे गड़बड़ नहीं चाहता हो, और जो कला और प्राचीन पुस्तकों के पढ़ने में लगा रहता हो; और दूसरा एक नौजवान लड़के की तरह था, जो किसी हद तक अनगढ़ हो, लेकिन जिसमें जीवट और कौतूहल की भावना भरी हो और जो हर जगह हौसले के कारनामों की तलाश में रहता हो। चीन में महान सौन्दर्य है, लेकिन यह तीसरे पहर का या शाम का शान्त सौन्दर्य है।

: ८१ :

# जापान अपनेको बन्द कर लेता है

२३ जुलाई, १९३२

चीन से अब हम जापान भी जा सकते हे और रास्ते में ज़रा देर के लिए कोरिया में ठहर सकते हैं। मंगोलों ने कोरिया में अपना क़ब्ज़ा जमा ही रक्खा था। उन्होंने जापान पर भी हमला करने की कोशिश की, लेकिन कामयाबी नहीं मिली। कुबलइख़ां ने कई जंगी बेड़े जापान भेजे, लेकिन वे सब भगा दिये गए। मालूम होता है कि मंगोलों को समुद्र पर कभी भी सहूलियत महसूस नहीं हुई। वे तो स्वभाव से ज़मीन पर रहनेवाले लोग थे। टापू होने की वजह से जापान उनके हाथ नहीं आया।

मंगोलों के चीन से खदेड़ दिये जाने के थोड़े ही दिन बाद कोरिया म एक क्रान्ति हुई और वे शासक, जिन्होंने मंगोलों की आधीनता क़बूल कर ली थी, निकाल दिये

का नया शासक बना और उसने एक राजवंश क़ायम किया, जो ५०० वर्षों से ज़्यादा तक, यानी १३९२ ई० से अभी कुछ ही वर्ष पहले तक, रहा जबकि जापान ने कोरिया को अपने राज्य में मिला लिया। उस वक़्त सिओल को राजधानी बनाया गया था और अभी तक वही है। हम कोरिया के इतिहास के इन ४०० वर्षों पर गौर नहीं कर सकते। कोरिया, जो फिर चोसन कहलाने लगा था, क़रीब-क़रीब स्वाधीन मुल्क के तौर पर बना रहा, लेकिन था वह चीन की छत्रछाया में और अक्सर उसे ख़िराज भी देता था। जापान से कई युद्ध हुए और कुछ मौक़े पर कोरिया की जीत हुई, लेकिन आज दोनों का कोई मुक़ाबला नहीं। जापान एक बड़ा और शक्तिशाली साम्राज्य है और साम्राज्यशाही शक्तियों में जो बुराइयां पाई जाती हैं, वे सब उसमें मौजूद हैं। बेचारा कोरिया इस साम्राज्य का एक छोटा-सा टुकड़ा है, जिसका जापानी लोग शासन और शोषण करते हैं और जो कुछ बेकसी मगर बहादुरी के साथ, अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहा है। लेकिन यह तो हाल का इतिहास है और हम अभी बहुत पुराने ज़माने की चर्चा कर रहे हैं।

तुम्हें याद होगा कि जापान में, बारहवीं सदी के आख़िरी हिस्से में, शोगुन असली शासक हो गया था। सम्राट् तो गुड्डे की तरह था। पहली शोगुनशाही जिसे 'कामाकुरा शोगुनशाही' कहते हैं, क़रीब डेढ़ सौ वर्षों तक रही और उसने देश को कुशल शासन-व्यवस्था और शान्ति दी। उसके बाद हमेशा की तरह शासक राजवंश का पतन शुरू हुआ और इसके साथ बद-इन्तज़ामी, विलासी जीवन और गृह-युद्ध आये। सम्राट् में, जो अपने अधिकारों को काम में लाना चाहता था, और शोगुन में झगड़े हुए। सम्राट् नाकामयाब रहा और यही हाल शोगुनशाही का भी हुआ। १३१८ ई० में शोगुनों की एक नई शाखा ने अधिकार जमाया। यह 'अशी-कागा शोगुनशाही' थी जो २३५ वर्ष तक बनी रही। लेकिन यह मुठभेड़ और युद्ध का ज़माना था। यह क़रीब-क़रीब चीन के मिंगों का ज़माना था। एक शोगुन की बड़ी इच्छा थी कि मिंगों की मेहरबानी हासिल करे और वह इस हद तक गया कि उसने अपनेको मिंग सम्राट् का ताबेदार क़बूल कर लिया। जापानी इतिहास-लेखक जापान के इस अपमान पर बहुत नाराज़ हैं और इस आदमी को बुरी तरह लानत देते हैं।

इसलिए चीन के साथ ख़ूब दोस्ताना ताल्लुक़ थे और चीनी संस्कृति के बारे में, जो उस समय मिंगों की छत्रछाया में खिल रही थी, एक नई दिलचस्पी पैदा हो गई। चीन की हरेक चीज़—चित्रकला, कविता, वास्तुकला, दर्शन-शास्त्र और युद्ध-विज्ञान तक का अध्ययन किया जाता था और क़द्र की जाती थी। इस ज़माने में दो मशहूर इमारतें बनीं। एक 'किनकाकूजी' यानी सोने का दालान और दूसरी 'जिनकाकूजी' यानी चांदी का दालान।

कला के इस विकास और विलासी जीवन के साथ-साथ किसानों पर बहुत ज्यादा मुसीबत थी। उनपर टैक्सों का बहुत भारी बोझ था और गृह-युद्धों का सारा भार ज्यादातर उन्हींपर पड़ता था। हालत दिन-पर-दिन खराब होती गई; यहां-तक कि केन्द्रीय सरकार का कोई भी असर राजधानी के बाहर नहीं रह गया।

पुर्तगाली लोग १५४२ ई० में, इन लड़ाइयों के दौरान में, वहां पहुंचे। याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि जापान में पहले-पहल बारूद के हथियार ये ही लोग ले गये थे। यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है; क्योंकि चीनी लोग बहुत समय पहले से ही इन हथियारों को जानते थे और यूरोप को इनका ज्ञान मंगोलों की मारफ़त चीन से ही हासिल करना पड़ा था।

सौ वर्षों के गृह-युद्ध से जापान को अन्त में तीन व्यक्तियों ने बचाया। एक नोरबुनागाने जो 'दाइम्यो' या अमीर सरदार था, दूसरा हिदेयोशीने, जो किसान था और तीसरा तोकूगावा आयेयासू जो बड़े अमीर-सरदारों में गिना जाता था। सोलहवीं सदी के खतम होते-होते सारा जापान फिर एक सूत्र में बंध गया। किसान हिदेयोशी जापान के सबसे क़ाबिल राजनीतिज्ञों में गिना जाता है। लेकिन कहते हैं कि वह बहुत बदसूरत था—नाटे क़द का और गुट्टा और बन्दर जैसे चेहरेवाला।

जापान को एक सूत्र में बांधने के बाद इन लोगों की समझ में नहीं आया कि इतनी बड़ी फ़ौज का क्या किया जाय। इसलिए कोई दूसरा धन्धा न पाकर उन्होंने कोरिया पर धावा बोल दिया। लेकिन बहुत जल्द उनको पछताना पड़ा। कोरिया के लोगों ने जापान की जल-सेना को हरा दिया और दोनों देशों के बीच के जापान-सागर पर अधिकार कर लिया। इस काम में उन्हें एक नये क़िस्म के जहाज़ से बहुत मदद मिली, जिसकी छत कछुए की पीठ की तरह थी और जिसपर लोहे की चादरें जड़ी थीं। इन जहाज़ों को 'कच्छप नौका' कहते थे। ये जहाज़ इच्छानुसार आगे-पीछे खेये जा सकते थे। इन नावों ने जापान के जंगी-जहाज़ों को नष्ट कर दिया।

ऊपर लिखा तीसरा व्यक्ति तोकूगावा आयेयासू गृह-युद्ध से फ़ायदा उठाने में बहुत सफल रहा। यहांतक कि वह बड़ा मालदार हो गया और जापान के क़रीब सातवें हिस्से का मालिक हो गया। उसीने अपनी रियासत के बीचोंबीच यदो नामक शहर बसाया। यही शहर बाद में तोक्यो (टोकियो) हो गया। १६०३ ई० में आयेयासू शोगुन बन गया और इस तरह तीसरी और आखिरी शोगुनशाही, 'तोकूगावा शोगुनशाही', शुरू हुई जो २५० वर्ष से ज़्यादा क़ायम रही।

इस बीच पुर्तगालियों का व्यापार छोटे पैमाने पर चल रहा था। क़रीब ५० वर्षों तक कोई यूरोपीय उनके मुक़ाबले का नहीं था, क्योंकि स्पेनवाले १५९२ ई० में आये और डच और अंग्रेज़ इसके भी बाद आये। मालूम होता है कि सेंट फ़्रांसिस

ज़ेवियर ने १५४९ ई० में इस देश में ईसाई मज़हब की शुरुआत की । जेज़ुइट लोगों को प्रचार करने की इजाज़त थी और उनको बढ़ावा भी दिया जाता था । असल में इसकी वजह राजनैतिक थी, क्योंकि बौद्ध विहार साज़िशों के अड्डे समझे जाते थे । इस वजह से इन भिक्षुओं को दबाया जाता था और ईसाई मिशनरियों के साथ रियायत की जाती थी । लेकिन बहुत जल्द जापानियों ने महसूस कर लिया कि ये मिशनरी ख़तरनाक हैं । इसपर फ़ौरन ही उन्होंने अपनी नीति बदल दी और इनको बाहर निकालने की कोशिश करने लगे । १५८७ ई० में ईसाइयों के ख़िलाफ़ एक हुक्म-नामा निकाला गया, जिसमें यह ऐलान किया गया कि जो ईसाई मिशनरी बीस दिन के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा, उसे मौत की सज़ा दी जायगी । यह आज्ञा व्यापारियों के ख़िलाफ़ नहीं थी । उसमें यह बता दिया गया था कि ईसांई व्यापारी रह सकते और व्यापार कर सकते हैं, लेकिन अगर वे अपने जहाज़ में किसी मिशनरी को लायंगे तो जहाज़ और माल दोनों ज़ब्त कर लिये जायंगे । यह आज्ञा निरी राजनैतिक कारणों से ही जारी की गई थी । हिदेयोशी को ख़तरे की आशंका हुई । उसे लगा कि मुमकिन है ईसाई मिशनरी और उनके ज़रिये ईसाई बनाये हुए लोग राजनैतिक लिहाज़ से ख़तरनाक साबित हों । और उसका ख़याल ग़लत नहीं था ।

थोड़े ही दिनों बाद एक घटना ऐसी हुई, जिससे हिदेयोशी को पूरा यक़ीन हो गया कि उसका डर सही था और उसे बहुत ग़ुस्सा आया । तुम्हें याद होगा कि 'मनिल्ला गैलियों' जहाज़ साल में एक बार फ़िलिपाइन और स्पेनी-अमेरिका के बीच आया-जाया करता था । झंझावात ने एक बार इसे बहाकर जापानी किनारे पर ला पटका । स्पेनी कप्तान ने उस जगह के जापानियों को दुनिया का नक़्शा दिखाकर और ख़ास तौर से स्पेन के राजा का लम्बा-चौड़ा साम्राज्य बताकर उन्हें डराना चाहा । लोगों ने कप्तान से पूछा कि स्पेन ने इतना बड़ा साम्राज्य कैसे पाया । उसने जवाब दिया कि यह तो बड़ी आसान बात है । पहले ईसाई मिशनरी गये और जब वहां के बहुत-से लोग ईसाई बन गये तो फ़ौज भेजी गई कि नये ईसाइयों से मिलकर वह वहां की सरकार को उलट दे । जब इसकी ख़बर हिदेयोशी के पास पहुंची तो वह बहुत ख़ुश नहीं हुआ, बल्कि ईसाई मिशनरियों का कट्टर विरोधी हो गया । उसने 'मनिल्ला गैलियों' को तो जाने दिया, लेकिन कुछ मिशन-रियों और नये ईसाइयों को मरवा डाला ।

जब आयेयासू शोगुन हुआ तो वह विदेशियों से ज्यादा दोस्ती करने लगा । विदेशी व्यापार बढ़ाने में उसे ख़ास दिलचस्पी थी; ख़ासकर अपने बन्दरगाह येदो के साथ । लेकिन आयेयासू की मौत के बाद ईसाइयों पर अत्याचार फिर शुरू हो गया । उनके मिशनरी ज़बरदस्ती निकाल दिये गए और जो जापानी ईसाई हो

गये थे, उनको ईसाइयत छोड़ने पर मजबूर किया गया। जापानी लोग विदेशियों की राजनैतिक चालों से इतने डरे हुए थे कि व्यापार की नीति भी बदल दी गई। वे किसी भी तरह विदेशियों को देश से बाहर रखना चाहते थे।

जापानियों की इस प्रतिक्रिया को हम समझ सकते हैं। लेकिन अचम्भे की बात यह है कि जापानियों की निगाह इतनी तेज़ थी कि उन्होंने साम्राज्यवाद के भेड़िये को मज़हब की भेड़ की खाल में भी पहचान लिया, हालांकि यूरोपीयों से उनका कोई पाला नहीं पड़ा था। बाद के ज़माने में दूसरे देशों में अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों ने किस तरह मज़हब से बेजा फ़ायदा उठाया, इसे हम अच्छी तरह जानते हैं।

और अब इतिहास में एक निराली चीज़ शुरू हुई। यह थी जापान की दरवाज़ा-बन्दी। दूसरों से अलग रहने की और दूसरों को दूर रखने की नीति समझ-बूझकर अपनाई गई और एक बार अपनाने के बाद इसे अद्भुत ख़ूबी के साथ निभाया गया। अंग्रेज़ों ने जब यह देखा कि उन्हें पसन्द नहीं किया जाता, तो १६२३ ई० में जापान जाना बन्द कर दिया। साल भर बाद स्पेनियों को, जिन्हें सबसे ज़्यादा ख़तरनाक समझा जाता था, देश से निकाल दिया गया। यह क़ानून बना दिया गया कि व्यापार के लिए सिर्फ़ ग़ैर-ईसाई ही विदेश जा सकते हैं और वे भी फ़िलीपाइन नहीं जा सकते। अन्त में, क़रीब बारह वर्ष बाद, १६३६ ई० में, जापान को सील बन्द कर दिया गया। पुर्तगाली निकाल दिये गए; सारे जापानी, चाहे ईसाई हों या ग़ैर-ईसाई, किसी भी काम से विदेश जाने से रोक दिये गए; और विदेश में रहने-वाला कोई भी जापानी वापस जापान नहीं आ सकता था; अगर आता तो उसके लिए मौत की सज़ा थी ! सिर्फ़ कुछ डच लोग रह गये, पर उनको भी सख़्त हिदायत थी कि वे बन्दरगाहें न छोड़ें और न देश के अन्दर क़दम रक्खें। १६४१ ई० में ये डच भी नागासाकी बन्दरगाह के एक छोटे-से टापू में हटा दिये गए, जहां उन्हें बिलकुल क़ैदियों की तरह रक्खा गया। इस तरह सबसे पहले पुर्तगालियों के आने के ठीक निन्यानवें वर्ष बाद, जापान ने सारे विदेशी सम्पर्क तोड़ दिये और अपने को बंद कर लिया।

१६४० ई० में एक पुर्तगाली जहाज़ राजदूत-मंडल को लेकर आया, जिसने दुबारा व्यापार चालू करने की इजाज़त चाही। लेकिन उनकी कौन सुनता था। जापानियों ने राजदूतों को और जहाज़ के ज़्यादातर मल्लाहों को मार डाला और कुछ मल्लाहों को ज़िन्दा छोड़ दिया ताकि वे वापस जाकर ख़बर दे दें।

दो सौ वर्षों से ज़्यादा तक जापान का दुनिया से, और यहांतक कि अपने पड़ोसी चीन और कोरिया से भी, कतई सम्पर्क नहीं रहा। जापानी टापू में रहने-वाले कुछ डच और कभी-कभी आनेवाला कोई चीनी, जिनपर कड़ी नज़र रहती थी,

बस बाहरी दुनिया से जोड़नेवाली ये ही कड़ियां थीं। सारी दुनिया से यह अलगाव बड़ी असाधारण चीज़ है। लिखित इतिहास के किसी भी काल में, और किसी भी देश में, इस तरह की दूसरी मिसाल नही पाई जाती। रहस्यमय तिब्बत या मध्य अफ़्रीका भी अपने पड़ोसियों से काफ़ी राह-रस्म रखते थे। अपनेको सब तरफ़ से अलहदा कर लेना बहुत खतरनाक चीज़ होती है, व्यक्ति के लिए भी और राष्ट्र के लिए भी। लेकिन जापान इस खतरे को पार कर गया; उसके यहां अंदरूनी शान्ति रही और उसने अपने लम्बे युद्धों का नुक़सान पूरा कर लिया। और अन्त में जब १८५३ ई० में उसने अपना दरवाज़ा और अपनी खिड़कियां खोलीं तो एक और असाधारण काम करके दिखला दिया। वह तेज़ी के साथ आगे झपटा, उसने खोये हुए समय की पूर्ति कर ली, दौड़कर यूरोपीय क़ौमों को पकड़ लिया और उन्हींकी चालों से उन्हें मात दे दी।

इतिहास की कोरी रूप-रेखा कितनी नीरस होती है और उसे पार करनेवाली शकलें कितनी झीनी और बेजान नज़र आती हैं! फिर भी कभी-कभी जब हम पुराने ज़माने की लिखी हुई कोई पुस्तक पढ़ते हैं, तो मुर्दा अतीत में भी मानो ज़िन्दगी भर जाती है, और रंग-मंच मानो हमारे बिलकुल नज़दीक आ जाता है, और उसपर जीते जागते और प्रेम और नफ़रत करनेवाले मानव डोलने लगते हैं। इन दिनों मैंने पुराने जापान की एक आकर्षक महिला श्रीमती मुरासाकी के बारे में पढ़ा है, जिसे हुए सैकड़ों वर्ष गुज़र गये—जिन गृह-युद्धों का मैंने इस पत्र में ज़िक्र किया है, उनसे बहुत पहले की बात है। इसने जापान सम्राट् के दरबार में अपने जीवन का लम्बा बयान लिखा है। इस बयान के मज़ेदार पुटवाले और भीतरी भेदों व दरबारी तकल्लुफ़ों की चर्चा से भरे अंश जब मैंने पढ़े, तो श्रीमती मुरासाकी की मूर्ति मेरे सामने आ गई, और पुराने जापान के दरबार के सीमित पर कलामय जीवन का जीता-जागता चित्र मुझे नज़र आने लगा।

## : ८२ :
# यूरोप में खलबली

४ अगस्त, १९३२

कई दिन हो गये, मैंने तुम्हें पत्र नहीं लिखे; मुझे लिखे हुए क़रीब दो हफ़्ते तो ज़रूर हो गये होंगे। जेलखाने में भी, बाहरी दुनिया के समान ही, आदमी के चित्त की हालत बदलती रहती है। पिछले दिनों इन पत्रों के लिखने में, जिन्हें सिवाय मेरे और कोई नहीं देखता, मेरी तबीयत बिलकुल नहीं लगी। ये पत्र नत्थी करके रख दिये गए हैं और आज से महीनों या वर्षों बाद उस वक़्त तक पड़े रहेंगे जब शायद तुम उन्हें देख पाओगी, आज से महीनों और बरसों बाद! जब हम फिर

मिलेंगे और एक-दूसरे को अच्छी तरह देखेंगे और मुझे यह देखकर हैरत होगी कि तुम कितनी बढ़ गई हो और बदल गई हो! उस वक़्त हमारे सामने चर्चा के लिए बहुत-सी बातें और करने के लिए बहुत-से काम होंगे और तुम इन पत्रों पर कोई ध्यान नहीं दोगी। उस वक़्त तक इन पत्रों का अच्छा-ख़ासा ढेर लग जायगा और मेरे जेल-जीवन के कितने ही सौ घंटे इनमें बन्द हो चुके होंगे!

लेकिन फिर भी मैं इन पत्रों को जारी रखूंगा और लिखे हुए पत्रों के ढेर को बढ़ाता रहूंगा। शायद तुम्हें इनमें दिलचस्पी हो; मुझे तो दिलचस्पी है ही।

अब हमें एशिया पर आये कुछ समय हो गया है और हमने भारत में, मलेशिया में, चीन में और जापान में इसके इतिहास का सिलसिला पकड़ रक्खा है। हमने यूरोप को, ठीक उस वक़्त, जब वह जग रहा था और उसकी कहानी दिलचस्प हो रही थी, एकाएक छोड़ दिया था। वहां 'रिनैसां' यानी पुनर्जागरण हो रहा था, बल्कि यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि उसका नया जन्म हो रहा था, क्योंकि सोलहवीं सदी में जिस यूरोप का विकास हम देखते हैं वह किसी पुराने काल की हूबहू नक़ल नहीं थी। यह नई चीज़ थी या अगर पुरानी चीज़ भी थी तो कम-से-कम उसका ग़िलाफ़ बिलकुल नया था।

यूरोप में हर जगह खलबली और बेचैनी दिखाई देती थी और परकोटे में बन्द जगह फटकर बाहर निकल रही थी। सैकड़ों वर्षों से सामन्त-प्रथा पर ढाले गए एक समाजी और आर्थिक ढांचे ने सारे यूरोप को ढंक रखा था और उसे अपने शिकंजे में दबा रखा था। कुछ समय तक इस ख़ोल ने बढ़ोतरी को रोके रक्खा। लेकिन अब यह ख़ोल जगह-जगह तड़कने लगा था। कोलम्बस और वास्को-द-गामा और समुद्री रास्तों के पहले खोजी इस खोल को तोड़कर बाहर निकल पड़े और अमेरिका और पूर्व के देशों से आई हुई स्पेन और पुर्तगाल की अतुल दौलत ने यूरोप को चौंधिया दिया और परिवर्तन की गति तेज कर दी। यूरोप अपने तंग समुद्री दायरे से बाहर नज़र डालने लगा और उसका ख़याल दुनिया की तरफ़ दौड़ने लगा। संसारव्यापी व्यापार और हुकूमत की बड़ी-बड़ी सम्भावनाएं सामने खुल गईं। मध्यमवर्ग दिन-पर-दिन ज़्यादा ताक़तवर होने लगा और पश्चिमी यूरोप में सामन्त-प्रथा अधिकाधिक रुकावट बनने लगी।

सामन्त-प्रथा ज़माने के चलन से बाहर हो चुकी थी। बेहयाई के साथ किसान-वर्ग का शोषण इस प्रथा का असली तत्व था। इसके भीतर बेगार, बिना मजूरी का काम और ज़मींदार को दी जानेवाली तरह-तरह की ख़ास लागें और वसूलियां थीं और यह ज़मींदार ख़ुद ही न्यायाधीश भी होता था। किसानों की मुसीबतें इतनी ज़्यादा थीं कि, जैसा कि हमने देखा है, किसानों के दंगे और युद्ध अक्सर भड़क उठा करते थे। ये किसान-युद्ध बढ़ने लगे और जल्दी-जल्दी होने लगे और इनके

साथ-साथ यूरोप के बहुत-से हिस्सों में आर्थिक क्रान्ति हो गई, जिसने सामन्त-प्रथा की जगह मध्यम-वर्ग का राज क़ायम कर दिया। इस क्रान्ति को लानेवाले ये ही किसान-विद्रोह थे।

लेकिन यह ख़याल न करना कि य परिवर्तन फ़ौरन हो गये। इनमें बहुत दिन लगे और पचासों वर्षों तक यूरोप में गृह-युद्ध जारी रहा। इन युद्धों की वजह से वास्तव में यूरोप का बहुत बड़ा हिस्सा तबाह हो गया। ये सिर्फ़ किसानों के युद्ध नहीं थे, बल्कि जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिकों के मज़हबी युद्ध थे, आज़ादी के राष्ट्रीय युद्ध थे—जैसे कि निदरलैण्ड्स में हुए—और बादशाह के निरंकुश अधिकार के ख़िलाफ़ मध्यमवर्ग के विद्रोह थे। ये सब बातें बहुत चक्कर में डालनेवाली हैं। क्यों, है या नहीं? असल में ये हैं ही ऐसी चक्कर में डालनेवाली और पेचीदा। लेकिन अगर हम बड़ी-बड़ी घटनाओं और आन्दोलनों को नज़र में रखें तो इस घपले में से कुछ मतलब की बात निकाल सकते हैं।

याद रखने की पहली बात यह है कि किसान-वर्ग में बड़ी तकलीफ़ और मुसीबत फैली हुई थी, जिसके नतीजों से किसान-युद्ध हुए। याद रखने की दूसरी बात है मध्यमवर्ग का उदय और पैदावारवालों की बढ़ोतरी। चीज़ों के बनाने में मज़दूरों का उपयोग बढ़ा और व्यापार ज्यादा चेता। तीसरी बात याद रखने की यह है कि ईसाई-संघ सबसे बड़ा ज़मींदार था। उसका बहुत ज़बरदस्त निहित स्वार्थ था, इसलिए लाज़िमी तौर पर वह अपनी भलाई इसीमें समझता था कि सामन्तशाही क़ायम रहे। वह ऐसा कोई परिवर्तन नहीं चाहता था कि जिससे उसकी दौलत और जायदाद का बहुत बड़ा हिस्सा हाथ से निकल जाय। इसलिए जब रोम से मज़हबी विद्रोह उठा तो आर्थिक क्रान्ति के साथ उसका मेल मिल गया।

इस महान् आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ या उसके पीछे-पीछे समाज, मज़हब और राजनीति—हर दिशा में परिवर्तन होने लगे। अगर तुम सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के यूरोप पर दूर से और काफ़ी लम्बी-चौड़ी नज़र डालो तो तुम्हारी समझ में आ जायगा कि ये सारी हलचलें, आन्दोलन और परिवर्तन किस तरह आपस में गुंथे और जुड़े हुए थे। आमतौर पर इस ज़माने के तीन आन्दोलनों पर ज़ोर दिया जाता है—'रिनैसां' या पुनर्जागरण, 'रिफ़ार्मेशन' या सुधार, और 'रेवोल्यूशन' या क्रान्ति। लेकिन याद रखो कि इन सबसे पीछे आर्थिक मुसीबत और हलचल थी, जिसकी वजह से आर्थिक क्रान्ति पैदा हुई और सारे परिवर्तनों में यही सबसे ज्यादा महत्व का था।

'रिनैसां' असल में विद्या का पुनर्जन्म था, जिसमें कला, विज्ञान और साहित्य और यूरोपीय भाषाओं की तरक्की हुई। सुधार-आन्दोलन रोमन ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ विद्रोह था। वह ईसाई-संघ में फ़ैले हुए भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ जनता

का विद्रोह था; वह यूरोप के राजाओं का पोप के उन दावों के ख़िलाफ़ भी विद्रोह था कि वह उन सबके ऊपर है; और तीसरे वह ईसाई-संघ को अन्दर से सुधारने की एक कोशिश थी। क्रान्ति राजाओं पर अंकुश लगाने और उनके अधिकारों को सीमित करने के लिए मध्यमवर्ग की राजनैतिक लड़ाई थी।

इन सब आन्दोलनों के पीछे एक और कारण भी था—छपाई। तुम्हें याद होगा कि अरबों ने कागज़ बनाना चीनियों से सीखा था और यूरोप ने अरबों से सीखा। फिर भी सस्ता और काफ़ी मात्रा में काग़ज़ बनने में बहुत दिन लग गये। पन्द्रहवीं सदी के अन्त में यूरोप के अलग-अलग हिस्सों—हॉलैंड, इटली, इंग्लैंड, हंगरी, वग़ैरा, में किताबें छपने लग गई थीं। ख़याल करो कि काग़ज़ और छपाई का प्रचार होने के पहले दुनिया किस तरह की रही होगी। आज हम लोग काग़ज़ और पुस्तकों और छपाई के इतने आदी हो गये हैं कि इन चीज़ों से खाली दुनिया की कल्पना भी करना बहुत मुश्किल है। छपी हुई किताबों के बिना बहुत-से आदमियों को लिखना-पढ़ना तक भी सिखाना क़रीब-क़रीब नामुमकिन है। पुस्तकों को बड़ी मेहनत से हाथ से नक़ल करना पड़े और वे बहुत थोड़े लोगों तक पहुंच सकें, पढ़ाई ज्यादातर ज़बानी करनी पड़े और विद्यार्थियों को हर बात ज़बानी याद करनी पड़े, यह बात पुरानी क़िस्म के मक़तबों और पाठशालाओं में अभीतक पाई जाती है।

काग़ज़ और छपाई के चलन से बहुत बड़ा परिवर्तन पैदा हो गया। छपी हुई स्कूली और दूसरी किताबें प्रकाशित होने लगीं। बहुत जल्दी ही पढ़ने-लिखनेवालों की संख्या बढ़ गई। जितना ही लोग ज्यादा पढ़ते हैं, उतना ही ज्यादा सोचने लगते हैं (लेकिन यह बात विचारों से भरी पुस्तकों पर ही लागू होती है; आजकल जो ज्यादातर रद्दी किताबें निकल रही हैं, उनके बारे में नहीं)। और जितना ज्यादा आदमी सोचता है उतना ही ज्यादा वह मौजूदा हालतों की छान-बीन करता है और उनकी आलोचना करता है। इसका नतीजा अक्सर यह होता है कि मौजूदा व्यवस्था को लोग चुनौती देने लगते हैं। अज्ञान परिवर्तन से हमेशा डरता है। वह अनजानी बातों से डरता है, इसलिए लीक पर ही चलना पसंद करता है, चाहे उसमें उसे कितनी ही मुसीबत क्यों न हो। अपने अन्धेपन में वह गिरता-पड़ता आगे चला जाता है। लेकिन सही अध्ययन से ज्ञान की कुछ मात्रा हासिल हो जाती है और आंखें कुछ खुल जाती हैं।

काग़ज़ और छपाई के ज़रिये आंखों के इस तरह खुल जाने की वजह से ही उन तमाम बड़े आन्दोलनों को ज़बरदस्त मदद मिली, जिनका अभी हम ज़िक्र कर चुके हैं। पहले-पहल छपनेवाली पुस्तकों में बाइबिलें थीं और बहुत लोग, जिन्होंने अबतक बाइबिल का सिर्फ़ लातीनी मूल-पाठ सुना था और समझा न था, अब

विज्ञानी भी था। हमेशा प्रयोग करता था, हमेशा बातों की तह में पहुंचने की कोशिश करता था और यह जानने की फ़िक्र में रहता था कि किसी बात की असली वजह क्या है। वह उन महान् विज्ञानियो में गिना जाता है, जिन्होंने शुरू-शुरू में आधुनिक विज्ञान की बुनियाद डाली। उसने कहा है—"कृपालु प्रकृति इस बात की कोशिश में रहती है कि तुम दुनिया में हर जगह कुछ-न-कुछ सीखो।" उसने जो कुछ पढ़ा था, खुद ही पढ़ा था। तीस वर्ष की उम्र में उसने लातीनी भाषा और गणित का अध्ययन शुरू किया। वह एक बड़ा इंजीनियर भी हो गया और उसीने पहले-पहल इस बात का पता चलाया कि आदमी के शरीर में खून गर्दिश करता है। वह मनुष्य-शरीर की बनावट पर मोहित था। उसने कहा है—"बुरी आदतों और तंग विचार के असभ्य लोग मनुष्य-शरीर जैसे सुन्दर औजार और हड्डी-चमड़े के जटिल साधन के काबिल नहीं हैं। उन्हें तो खाना भरने और फिर उसे बाहर निकालने के लिए सिर्फ़ एक थैला चाहिए, क्योंकि वे अन्न-नली के सिवा और कुछ नहीं हैं!" वह खुद शाकाहारी था और जानवरों को बहुत प्यार करता था। उसका एक दस्तूर यह था कि वह बाज़ार में पिंजरा-बन्द चिड़ियों को खरीदकर उन्हें उसी वक़्त छोड़ देता था।

उड्डयन यानी हवा में उड़ने की कोशिश लिओनार्दो की कोशिशों में सबसे ज्यादा अद्भुत थी। उसे कामयाबी तो नहीं मिली, लेकिन कामयाबी के रास्ते में वह काफ़ी बढ़ गया था। उसके सिद्धान्तों और प्रयोगों को आगे बढ़ानेवाला उसके बाद कोई दूसरा नहीं हुआ। अगर उसके बाद उसीकी तरह के दो-तीन व्यक्ति और हो गये होते तो शायद आजकल का हवाई जहाज़ आज से दो या तीन सौ वर्ष पहले ही ईजाद हो चुका होता। यह अद्भुत और विचित्र आदमी १४५२ ई० में पैदा हुआ और १५१९ ई० में मरा। कहते हैं, उसका जीवन "प्रकृति के साथ सवाल-जवाब था।" वह हर वक़्त सवाल करता रहता और प्रयोगों के ज़रिये उनके हल निकालने की कोशिश में लगा रहता। भविष्य को पकड़ने की कोशिश में वह सदा आगे बढ़ता नज़र आता था।

मैंने फ्लोरेन्स के इन तीनों व्यक्तियों का ज़िक्र किया है, खासकर लिओनार्दो का, क्योंकि वह मेरा मन-भावता है। साजिशों से और ज़ालिम व दग़ाबाज़ शासकों से भरा हुआ, फ्लोरेन्स के गणराज्य का इतिहास कुछ ज्यादा भला और सिखानेवाला नहीं है। लेकिन फ्लोरेन्स को बहुत-सी बातों के लिए क्षमा किया जा सकता है; यहांतक कि हम उसके सूदखोरों को भी माफ़ कर सकते हैं! क्योंकि उसने बहुत सारे महापुरुष पैदा किये। उसके इन महान् सुपुत्रों का साया उसपर अभी तक है और जब कोई इस सुन्दर शहर की सड़कों पर होकर गुज़रता है या मध्य-

कालीन पुलों के नीचे से बहती हुई मनोहर आर्नो नदी को देखता है तो उसके ऊपर जादू-सा छा जाता है और गुज़रा ज़माना मूर्त और सजीव हो उठता है। दांन्ते सामने से निकलता है और उसकी प्यारी बीआत्रिस अपने पीछे फूलों की हलकी-सी सुगंध उड़ाती हुई गुज़र जाती है। लिओनार्दो तंग गलियों में टहलता हुआ दिखाई देता है—विचारों में डूबा हुआ, और जीवन व प्रकृति के रहस्यों का ध्यान करता हुआ।

इस तरह रिनैसां इटली में पन्द्रहवीं सदी में फला-फला और वहां से धीरे-धीरे दूसरे पश्चिमी देशों की तरफ़ फैल गया। महान् कलाकारों ने मूर्त्तियों और चित्रों में जान डालने की कोशिश की और यूरोप की चित्रशालाएं और संग्रहालय उनकी बनाई हुई तस्वीरों और मूर्त्तियों से भरे पड़े हैं। सोलहवीं सदी के अन्त में इटली में कला का उभार बैठने लगा। सत्रहवीं सदी में हॉलैण्ड में बड़े-बड़े चित्रकार पैदा हुए। इनमें रैम ब्रांन्त सबसे ज़्यादा मशहूर है। स्पेन में इसी समय वेलस्क्वेज़ हुआ। लेकिन अब मैं ज़्यादा नामों का ज़िक्र नहीं करूंगा। उनकी संख्या बहुत ज़्यादा है। अगर तुमको बड़े-बड़े उस्ताद चित्रकारों में दिलचस्पी हो तो चित्रशालाओं में जाकर उनकी रचनाओं को देखो। उनके नामों का कोई महत्व नहीं। जिस कला और सौन्दर्य को उन्होंने जन्म दिया, वही हमारे लिए एक सन्देश है।

इस काल में, यानी पंद्रहवीं से सत्रहवीं सदी तक, विज्ञान ने भी धीरे-धीरे आगे रास्ता तैयार किया और अपने लिए जगह बना ली। ईसाई-संघ से उसे सख्त लड़ाई करनी पड़ी, क्योंकि ईसाई-संघ यह नहीं मानता था कि लोग सोचें और प्रयोग करें। उसके ख़याल में तो विश्व का केन्द्र पृथ्वी थी और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाता था और तारे आसमान में अपनी जगह पर जड़े हुए थे। जो कोई इसके खिलाफ़ कहता, वह काफ़िर था और इन्क्विज़िशन उसे सज़ा दे सकती थी। इसपर भी कोपरनिकस नाम के एक पोलैण्डवासी ने इस विश्वास को चुनौती दी और साबित किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इस तरह उसने विश्व के बारे में आजकल के विचारों की बुनियाद रखी। इसका जीवन-काल १४७३ से १५४३ ई० था। किसी तरह वह अपने क्रान्तिकारी और क़ाफिरी मतों के लिए ईसाई-संघ के गुस्से से बच गया। पर उसके बाद जो हुए, उनकी क़िस्मत इतनी अच्छी नहीं थी। जिओर्दानो ब्रूनो नामक इटालवी को १६०० ई० में रोम में ईसाई-संघ ने इसलिए ज़िन्दा जलवा दिया कि वह इस बात पर ज़ोर देता था कि पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ़ घूमती है और तारे खुद भी सूर्य हैं। इसके समकालीन गैलीलियो को भी, जिसने दूरबीन ईजाद की थी, ईसाई-संघ ने धमकी दी थी। लेकिन वह ब्रूनो की तरह बहादुर नहीं था और उसने अपनी राय वापस ले लेने में

ही खर समझी। इसलिए उसने ईसाई-संघ के सामने क़बूल कर लिया कि उसने बेवक़ूफी से यह ग़लती की थी, और वास्तव में पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। फिर भी उसे प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिन जेलखाने में रहना पड़ा था।

सोलहवीं सदी के प्रमुख वैज्ञानिकों में हार्वी हुआ, जिसने पूरी तौर से यह साबित कर दिया कि खून गर्दिश करता है। सत्रहवी सदी में आइज़क न्यूटन हुआ, जिसका नाम संसार के सबसे महान वैज्ञानिकों में गिना जाता है और जो एक महान गणितज्ञ था। इसने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के नियम का, यानी इस बात का पता लगाया कि चीज़ें ज़मीन पर क्यों गिरती हैं। इस तरह उसने प्रकृति का एक और रहस्य खोल डाला।

इतनी बात, या इतनी थोड़ी-सी बात तो विज्ञान के बारे में हुई। इस काल में साहित्य भी आगे बढ़ा। सब जगह फैली हुई नई भावना ने तरुण यूरोपीय भाषाओं पर भी ज़बर्दस्त असर डाला। ये भाषाएं कुछ दिन से चल रही थीं और हमने देखा है कि इटली ने महान कवि भी पैदा किये थे। इंग्लैण्ड में चॉसर[1] हुआ। लेकिन लातीन, जो विद्वानों की और ईसाई-संघ की भाषा थी, इन सबपर हावी थी। ये गंवारू भाषाएं यानी 'वरनाक्यूलर' थीं और यह शब्द बहुत-से लोग अभी तक अजीब तौर पर भारतीय भाषाओं के लिए इस्तैमाल करते हैं। इन भाषाओं में लिखना शान के खिलाफ़ समझा जाता था। लेकिन नई भावना ने, काग़ज़ और छपाई ने, इन भाषाओं को बढ़ावा दिया। इटालवी भाषा पहले-पहल मैदान में आई, फिर फ़्रान्सीसी और अंग्रेज़ी और स्पेनी और सबसे आखिर में जर्मन। सोलहवीं सदी में फ़्रान्स के कुछ नौजवान लेखकों ने पक्का इरादा कर लिया कि लातीन में न लिखकर अपनी भाषा में ही लिखेंगे, अपनी ही 'गंवारू भाषा' की तरक्क़ी करेंगे ताकि वह अच्छे-से-अच्छे साहित्य का उपयुक्त माध्यम बन सके।

इस तरह यूरोप की भाषाओं ने प्रगति की और वे धनी और शक्तिशाली बनीं, और उनका आज का खरा रूप बना। मैं मशहूर लेखकों के ज्यादा नाम नहीं गिनाऊंगा, दो-चार का ही ज़िक्र करूंगा। इंग्लैंड में १५६४ से १६१६ ई० तक मशहूर नाटककार शेक्सपियर हुआ। उसके बाद ही सत्रहवीं सदी में 'पैरेडाइज़ लास्ट' का लेखक अन्धा कवि मिल्टन हुआ। फ्रांन्स में सत्रहवीं सदी में देकार्त नामक दार्शनिक और मॉलियर नामक नाटककार हुआ। मॉलियर ने पेरिस के बड़े सरकारी नाटक-घर कोमि फ्रांन्स्वाज़ की नींव डाली। स्पेन में शेक्सपियर का समकालीन सरवान्तेज़ हुआ, जिसने 'दॉन क्विक्सोत' नामक पुस्तक की रचना की।

[1] अंग्रेजी भाषा का आदि कवि।

एक और नाम का भी मैं जिक्र करूंगा, उसकी महानता के कारण नहीं बल्कि इसलिए कि वह मशहूर है। यह नाम मैकियावेली का है, जो फ़्लोरेन्स का रहने-वाला था। वह पद्रहवीं-सोलहवीं सदियों का मामूली राजनीतिज्ञ था, लेकिन उसने 'प्रिन्स' नाम की एक पुस्तक लिखी, जो बहुत मशहूर हुई। इस पुस्तक से उस जमाने के राजाओं और राजनीतिज्ञों के विचारों की झलक मिल जाती है। मैकियावेली ने लिखा है कि सरकार के लिए मज़हब की जरूरत है, इसलिए नहीं कि जनता को सदाचारी बनावे, बल्कि इसलिए कि उसपर हुकूमत करने में मदद मिले और उसे दबाकर रखा जा सके। शासक का यह कर्तव्य भी हो सकता है कि वह ऐसे मज़हब का समर्थन करे, जिसे वह झूठा समझता हो! मैकियावेली ने लिखा है: "राजा को जानना चाहिए कि एक ही साथ मनुष्य और पशु का, शेर और लोमड़ी का नाटक कैसे खेला जा सकता है। उसे न तो अपने वादे का पालन करना चाहिए और न वह कर ही सकता है, जबकि वैसा करने से उसका नुक़सान होता हो...। मैं साहस के साथ कह सकता हूं कि हमेशा ईमानदार होना बहुत हानिकर होता है; लेकिन इसके विपरीत, ख़ुदा-परस्त और दीनदार, दयावान और भक्त के स्वांग रचना लाभदायक है। नेकी के आडम्बर से ज्यादा फ़ायदेमंद और दूसरी चीज़ नहीं है।"

क्यों, कितनी बुरी बात है! जो राजा जितना ही ज्यादा बदमाश, उतना ही वह अच्छा! अगर औसत राजा के दिमाग़ की यूरोप में उस वक़्त यह हालत थी तो वहां बराबर झगड़े बने रहना कोई ताज्जुब की बात नहीं। लेकिन इतनी दूर जाने की क्या ज़रूरत है? आजकल की साम्राज्यवादी शक्तियां भी बहुत-कुछ मैकियावेली के राजा की तरह ही बर्ताव करती हैं। सदाचार के आडम्बर के नीचे लालच, जुल्म और बे-उसूलापन छिपे रहते हैं; सभ्यता के मुलायम दस्ताने में हैवान का खूनी पंजा छिपा रहता है।

: ८४ :

## प्रोटेस्टेण्टों का विद्रोह और किसानों का युद्ध

८ अगस्त, १९३२

पन्द्रहवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक के यरोप के बारे में कई पत्र मैं लिख चुका हूं। मध्य-युगों के गुज़रने, किसानों की महा मुसीबत, मध्यमवर्ग के उदय, और अमेरिका की और पूर्व जाने के समुद्री रास्तों की खोज, और यूरोप में कला, विज्ञान और भाषाओं की प्रगति के बारे में मैंने कुछ-न-कुछ तुमको बता दिया है। लेकिन तस्वीर की रूप-रेखा पूरी करने के लिए इस ज़माने की बावत अभी बहुत कुछ कहना बाक़ी है। ध्यान रहे कि मेरे दो आख़िरी पत्र, और वह पत्र जो मैं समुद्री

रोम के विरुद्ध बग़ावत

रास्तों के बारे में लिख चुका हूं, यह पत्र जो लिख रहा हूं, और शायद आगे लिखे जानेवाले और भी एक-दो पत्र ये सब यूरोप के इसी ज़माने से ताल्लुक रखते हैं। हालांकि मैं जुदा-जुदा आन्दोलनों और हलचलों के बारे में अलग-अलग लिख रहा हूं, लेकिन ये सब बातें क़रीब-क़रीब एक ही ज़माने में हुईं और एक दूसरी पर असर भी डालती रही।

'रिनैसां' के समय के पहले ही रोमन ईसाई-संघ के ढांचे में खड़खड़ाहट होने लगी थी। यूरोप के राजा और क़ौमें दोनों ईसाई-संघ के जुल्मों को महसूस करने लगे थे और कुछ बड़बड़ाने लगे थे और उनका विश्वास डगमगाने लगा था। तुम्हें याद होगा कि सम्राट फ़्रेडरिक द्वितीय की पोप से काफ़ी झड़प हुई थी और उसने ईसाइयत से छेक दिये जाने तक की भी कुछ परवाह न की थी। अविश्वास और इन लक्षणों से रोम चिढ़ गया और उसने इस नये कुफ़्र को कुचल देने का फ़ैसला कर लिया। इसी इरादे से 'इनक्विज़िशन' क़ायम की गई और सारे यूरोप में, उन सब आदमियों को, जिन्हें काफिर बतलाया जाता था, और उन सब औरतों को जिनपर डायनें होने का जुर्म लगाया जाता था, जला दिया गया। प्राहा के जॉन हस को चालबाज़ी से जला दिया गया; इसपर बोहेमिया में उसके अनुयायियों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। रोमन ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ विद्रोह की इस नई भावना को 'इनक्विज़िशन' के सारे आतंक भी दबा न सके। वह फैलती ही गई और इसमें शक़ नहीं कि इसके साथ किसानों का वह असन्तोष भी जुड़ गया, जो बड़े ज़मींदार ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ उनमें पैदा हो गया था। बहुत जगह राजाओं ने भी अपने स्वार्थ की ख़ातिर इस भावना को उकसाया। उनकी ईर्ष्या व लालचभरी आंखें, ईसाई-संघ की विशाल सम्पत्ति पर लगी हुई थीं। पुस्तकों व बाइबिलों की छपाई ने भीतर-ही-भीतर सुलगती हुई आग को और भी भड़काया।

सोलहवीं सदी की शुरूआत में, जर्मनी में, मार्टिन लूथर पैदा हुआ, जो आगे चलकर रोम के ख़िलाफ़ विद्रोह का एक महान नेता होनेवाला था। वह एक ईसाई पादरी था। एक बार जब वह रोम गया तो वहां ईसाई-संघ के भ्रष्टाचार और विलास ने उसके दिल को ग्लानि से भर दिया। यह मतभेद बढ़ता ही गया, यहांतक कि रोमन ईसाई-संघ के दो टुकड़े हो गये और पश्चिमी यूरोप, धर्म व राजनीति दोनों के मामलों में दो खेमों में बंट गया। पूर्वी यूरोप और रूस का पुराना कट्टर यूनानी ईसाई-संघ इस झगड़े से अलग ही रहा। जहांतक उसका ताल्लुक़ था वह ख़ुद रोम को ही सच्ची ईसाइयत से बहुत दूर समझता था।

इस तरह 'प्रोटेस्टेण्ट' विद्रोह शुरू हुआ। इसे प्रोटेस्टेण्ट इसलिए कहा गया कि यह रोमन ईसाई-संघ के कई कट्टर उसूलों का 'प्रोटेस्ट' यानी विरोध करता

था। तभीसे पश्चिमी यूरोप में ईसाइयत के दो मुख्य भाग हो गये हैं—रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट भी कितने ही फिरक़ों में बंटे हुए हैं। ईसाई-संघ के ख़िलाफ़ इस आन्दोलन को 'रिफ़ार्मेशन' कहते हैं। असल में ईसाई-संघ के भ्रष्टाचार और उसकी निरंकुश सत्ता, दोनों के ख़िलाफ़ जनता का विद्रोह था। इसके साथ ही बहुत-से राजा यह चाहते थे कि पोप का उनपर हुक्म चलाना हमेशा के लिए ख़तम हो जाय। वे अपने राजनैतिक मामलों में पोप की दस्तंदाज़ी से बहुत चिढ़े हुए थे। इसके अलावा रिफ़ार्मेशन का एक तीसरा पहलू भी था। और वह यह कि ईसाई-संघ के वफ़ादार अनयायी उसकी बुराइयों का भीतर से सुधार करने की कोशिश में थे।

शायद तुम्हें दो ईसाई-संघों—फ़्रांसिस्कन और डोमिनिकन—की याद होगी। सोलहवी सदी में, क़रीब-क़रीब उसी वक़्त, जब मार्टिन लूथर का बल बढ़ रहा था, लोयोला-निवासी इग्नेशियस नामक स्पेनी ने एक नया ईसाई-संघ कायम किया। उसने इसका नाम 'सोसायटी ऑफ जीज़स' (यीशु की समिति) रखा और इसके सदस्य जेज़ुइट कहलाये। इन जेज़ुइटों की चीन और पूर्व की यात्राओं का ज़िक्र मैं कर चुका हूं। यह 'जीज़स-संघ' एक बड़ी निराली जमात थी। रोमन ईसाई-संघ और पोप की कारगर सेवा के लिए पूरा वक़्त देनेवाले आदमी तैयार करना इसका मकसद था। वह बड़ी सख़्त तालीम देता था और इसमें वह इतना कामयाब हुआ कि उसने चर्च के बड़े ही मुस्तैद और वफादार सेवक पैदा किये। ये सेवक लोग ईसाई-संघ के इतने वफादार थे कि बिना कोई तर्क किये आंख मींचकर उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे और उन्होंने अपना सबकुछ उसीपर निछावर कर दिया था। ईसाई-संघ के हित के लिए वे ख़ुशी से अपनी क़ुरबानी देने को तैयार रहते थे। उनके बारे में सचमुच यह मशहूर था कि ईसाई-संघ की सेवा में वे भलाई-बुराई का बिलकुल विचार नहीं करते थे। ईसाई-संघ के हित में सबकुछ उचित था और माफ़ था।

यह निराली जमात रोमन ईसाई-संघ की सबसे बड़ी मददगार साबित हुई। इन लोगों ने न सिर्फ़ उसका नाम और संदेश ही दूर-दूर के देशों तक पहुंचाया, बल्कि यूरोप में उसका चरित्र भी ऊंचा उठा दिया। कुछ तो सुधार के अन्दरूनी आन्दोलन से, और ज्यादातर प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह के डर से, रोम में भ्रष्टाचार बहुत कम हो गया। इस तरह 'रिफ़ार्मेशन' ने ईसाई-संघ को दो हिस्सों में बांट दिया और साथ ही कुछ हद तक उसका अन्दरूनी सुधार भी कर दिया।

ज्यों-ज्यों प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह पनपा, यूरोप के कुछ राजा व बादशाहों ने एक दल की हिमायत की, कुछने दूसरे की। इसका मज़हबी भावनाओं से कोई वास्ता नहीं था। यह तो बहुत-कुछ कूटनीति का मामला था और इसके पीछे लाभ की

भावना थी। हैप्सबर्ग वंश का चार्ल्स पंचम उस समय पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् था। अपने पिता और दादा की शादी के परिणाम-स्वरूप, उसे संयोग से विरासत में एक बड़ा साम्राज्य मिल गया था, जिसमें आस्ट्रिया, जर्मनी (नाम मात्र को), स्पेन, नेपल्स और सिसली, निदरलैण्ड्स और स्पेनी अमेरिका शामिल थे। उन दिनों शादी के ज़रिये, अपनी रियासत का विस्तार करने का यह तरीक़ा यूरोप में अच्छा चल निकला था। इसी वजह से, खुद किसी क़ाबिल न होते हुए भी, चार्ल्स का आधे यूरोप पर राज करने का संयोग बन गया और कुछ दिन तो वह बहुत-बड़ा आदमी नज़र आने लगा था। उसने प्रोटेस्टेण्टों के ख़िलाफ़ पोप की मदद करने का फ़ैसला किया। 'रिफ़ार्मेशन' का ख़याल साम्राज्य के ख़याल से मेल नहीं खाता था। लेकिन बहुत-से छोटे-छोटे जर्मन राजाओं ने प्रोटेस्टेण्टों का साथ दिया और सारे जर्मनी में रोमन और लूथरन, दो फ़िसादी फ़िरक़े बन गये। इसका कुदरती नतीजा यह हुआ कि जर्मनी में गृह-युद्ध छिड़ गया।

इंग्लैण्ड में बहु-विवाहित बादशाह हेनरी अष्टम ने पोप के ख़िलाफ़ प्रोटेस्टेण्टों, का, या यों कहो कि खुद अपना, साथ दिया। उसकी ललचाई आंखें ईसाई-संघ की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, इसलिए रोम से सम्बन्ध तोड़कर उसने मठों और गिरजों की सारी उपजाऊ ज़मीनें ज़ब्त कर लीं। पोप से सम्बन्ध तोड़ने का एक निजी कारण यह भी था कि वह अपनी पत्नी को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री से शादी करना चाहता था।

फ़्रान्स में कुछ अजीब ही हालत थी। वहां बादशाह का प्रधान मंत्री मशहूर कार्डिनल रिशल्यू था और राज्य का असली शासक वही था। रिशल्यू ने फ़्रान्स को रोम और पोप के पक्ष में रक्खा और अपने यहां प्रोटेस्टेण्टों का खूब दमन किया। लेकिन राजनैतिक की साज़िशें ऐसी होती हैं कि उसीने जर्मनी में प्रोटेस्टेण्ट मत को बढ़ावा दिया ताकि जर्मनी में गृह-युद्ध हो जाय और वह कमज़ोर हो जाय और उसमें फूट पड़ जाय। फ्रान्स और जर्मनी की आपसी दुश्मनी यूरोप के इतिहास में एक अटूट धागे की तरह चली आ रही है।

लूथर सबसे बड़ा प्रोटेस्टेण्ट था और उसने रोम की सत्ता का विरोध किया। लेकिन यह ख़याल न कर लेना कि वह मजहब के मामले में उदार था। वह उतना ही कट्टर था जितना कि पोप जिससे, वह लड़ रहा था। इसलिए 'रिफ़ार्मेशन' से यूरोप में कोई मज़हबी आज़ादी नहीं आई। इसने एक नये ढंग के मज़हबी-दीवाने पैदा कर दिये—'प्यूरिटन'[1] और कैलविनिस्ट। कैलविन प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के बाद के नेताओं में से था। वह अच्छा संगठन करनेवाला था और कुछ दिनों तक

[1] १६ वीं और १७ वीं सदियों में इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेण्ट लोगों का एक समुदाय, जो सादगी पर ज़ोर देता था।

होने लगा कि कहीं ये ग़ुलाम-किसान बहुत आगे न बढ़ जायं और अपनी ग़ुलामी से छुटकारा न पा लें—(यह छोटी-सी बात काफ़ी थी), तो प्रोटेस्टेण्ट नेता उनको कुचलने के लिए राजाओं से मिल गये। जनता के दिन अभी बहुत दूर थे। नया युग, जो उदय हो रहा था, मध्यमवर्ग के लोगों का युग था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों की मुठभेड़ों और युद्धों के बीच, इस वर्ग को, अटल रूप से, सीढ़ी-दर-सीढ़ी ऊपर चढ़ता हुआ देखा जा सकता है।

जहां कहीं भी यह आगे बढ़ता हुआ मध्यमवर्ग काफ़ी मज़बूत था, वहां-वहां प्रोटेस्टेण्ट मत फैल गया। प्रोटेस्टेण्टों के भी कई वर्ग और फिरके थे। इंग्लैण्ड में बादशाह खुद ईसाई-संघ का प्रधान—'दीन-रक्षक' बन गया, और व्यवहार में ईसाई-संघ ख़तम हो गया और सरकार का बस एक महकमा बन गया। तबसे इंग्लैण्ड का ईसाई-संघ वैसा ही चला आ रहा है।

दूसरे मुल्कों में, ख़ास तौर से जर्मनी, स्वीज़रलैण्ड और निदरलैण्ड्स में, दूसरे फ़िरकों का महत्त्व बढ़ा। कैलविन मत ख़ूब फैला, क्योंकि वह मध्यमवर्ग के विकास से मेल खाता था। मज़हबी मामलों में कैलविन के मन में भयंकर वैर-भाव था। ग़ैर-ईसाइयों पर तरह-तरह के ज़ुल्म किये जाते थे और उनको जला दिया जाता था और दीनदारों पर कड़ा अनुशासन था। लेकिन व्यापार के मामलों में, उसका उपदेश बढ़ते हुए उद्योग-धंधों और व्यापार के ज़्यादा अनुकूल था, हालांकि रोमन उपदेश ऐसा नहीं था। व्यापार के मुनाफ़ों को बरकत दी जाती थी और लेन-देन को बढ़ावा दिया जाता था। इस तरह नये मध्यमवर्ग ने पुराने मज़हब का यह नया तर्जुमा अंगीकार कर लिया और वह बड़े मज़े से धन कमाने में जुट गया। उन्होंने सामन्त सरकारों के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई में जनता का उपयोग कर लिया था। अब, सरदारों पर विजय हासिल करने के बाद, उन्होंने जनता को धता बताई, या उसकी छाती पर चढ़ बैठे।

लेकिन अब भी मध्यमवर्ग को बहुत-सी रुकावटों का सामना करना बाक़ी था। अभी बादशाह उनके रास्ते का कांटा था। बादशाह ने सामन्तों से लड़ने में शहर के लोगों का साथ दिया था। अब सामन्तों के कमज़ोर हो जाने पर बादशाह की ताक़त बहुत बढ़ गई और मालूम होता था कि उसने मैदान मार लिया। उसके और मध्यमवर्गों के बीच खींचतान अभी शुरू नहीं हुई थी।

## : ८५ :

# सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के यूरोप में निरंकुशता

२६ अगस्त, १९३२

मैं फिर बड़ा लापरवाह हो गया। इन पत्रों को लिखे हुए मुझे बहुत दिन हो

गये हैं। यहां मुझसे न तो कोई जवाब तलब करनेवाला है और न कोई बढ़ावा ही देनेवाला है। इसीलिए मैं अक्सर ढीला पड़ जाता हूं और दूसरे कामों में लग जाता हूं। अगर हम साथ होते तो शायद यह बात न होती। क्यों ठीक है न? लेकिन अगर तुम और मैं एक दूसरे से बात-चीत कर सकते तो मुझे इन पत्रों के लिखने की ज़रूरत ही क्यों पड़ती?

पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें यूरोप के उस ज़माने का हाल लिखा था, जब वहां बड़ी उथल-पुथल थी और बड़ा परिवर्तन हो रहा था। उन पत्रों में सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के बड़े-बड़े परिवर्तनों का ज़िक्र किया गया था। ये परिवर्तन उस आर्थिक क्रांति के साथ या बाद में आये, जिसने मध्य-युगों का अन्त करके मध्यमवर्ग को ऊपर चढ़ा दिया था। आख़िरी पत्र में मैंने पश्चिमी यूरोप के ईसाई साम्राज्य के टूटने और दो फ़िरक़ों, प्रोटेस्टेण्ट और रोमन कैथलिक, में बंट जाने का ज़िक्र किया था। इन दोनों फ़िरक़ों की मज़हबी लड़ाई का ख़ास जंगी मैदान जर्मनी बना हुआ था, क्योंकि वहां दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर की जोड़ के थे। पश्चिमी यूरोप के दूसरे देश भी कुछ हद तक इस झगड़े में उलझे हुए थे। लेकिन इंग्लैण्ड यूरोप के इन मज़हबी लड़ाई-झगड़ों से अलग रहा। अपने बादशाह हेनरी अष्टम के राज में इस देश ने बिना किसी अन्दरूनी गड़बड़ के रोम से अपना नाता तोड़ लिया और अपना निजी ईसाई-संघ क़ायम कर लिया, जो कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट ईसाई-संघों के बीच का था। हेनरी मज़हब की कुछ भी परवाह नहीं करता था। उसे तो ईसाई-संघ की ज़मीनों की ज़रूरत थी; वह उसने लेलीं। वह दूसरी शादी करना चाहता था, सो वह भी उसने करली। इस तरह रिफ़ार्मेशन का सबसे बड़ा नतीजा यह हुआ कि राजा और बादशाह पोप की लगाम से बरी हो गये।

जिस वक़्त 'रिनैसां' और 'रिफ़ार्मेशन' के ये आन्दोलन और आर्थिक उथल-पुथल यूरोप के नक़शे को बदल रहे थे, उस वक़्त वहां राजनीति के पीछे की ज़मीन कैसी थी? सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में यूरोप का नक़शा किस तरह का था? इन दो सौ वर्षों में यूरोप का नक़शा सचमुच बदलता जा रहा था। इसलिए हमें सोलहवीं सदी के शुरू के नक़शे पर ग़ौर करना चाहिए।

दक्षिण-पूर्व में तुर्क लोग क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा जमाये हुए थे और उनका साम्राज्य हंगरी की तरफ़ बढ़ रहा था। दक्षिण-पश्चिमी कोने में अरबी विजेताओं के वंशज मुसलमान सरासीन ग्रैनेडा से खदेड़े जा चुके थे और फ़र्दिनेन्द व आइज़ा-बेला के जुड़वां शासन में स्पेन एक ईसाई शक्ति बनकर उठ चुका था। स्पेन में ईसाइयों और मुसलमानों की सदियों की मुठभेड़ ने, स्पेनवासियों को अपने कैथलिक मज़हब से, दिली जोश और कट्टरपन के साथ, चिपके रहने को मजबूर कर दिया था। स्पेन में ही भयंकर 'इनक्विज़िशन' कायम हुई। अमेरिका की खोज के जादू

और वहां से आनेवाली दौलत के असर से स्पेन यूरोप की राजनीति में सबसे आगे हिस्सा लेने लगा था ।

नक़शे पर फिर निगाह दौड़ाओ । इंग्लैण्ड और फ़ान्स लगभग वैसे ही थे जैसे कि आज हैं । नक़शे के बीच में एक साम्राज्य है, जो बहुत सी जर्मन रियासतों में बंटा हुआ है, जिनमें से हरेक क़रीब-क़रीब स्वाधीन थीं । राजाओं, ड्यूकों, पादरियों, निर्वाचकों, वग़ैरा के मातहत छोटी-छोटी रियासतों का यह अजीब जमघट था। इसमें ख़ास रियायतोंवाले कुछ शहर भी थे, और उत्तर के व्यापारी शहरों ने मिलकर एक संघ भी बना लिया था । फिर स्वीज़रलैंड का गणराज्य था, जो असल में तो स्वाधीन था, लेकिन अभी तक बाक़ायदा स्वाधीन माना नहीं गया था । वेनिस का गणराज्य और उत्तर इटली के और भी कई नगर गणराज्य थे । रोम के चारों ओर पोप की ज़मींदारी थी, जो पोप की रियासत कहलाती थी । इसके दक्षिण में नेपल्स और सिसली के राज्य थे । पूर्व में, जर्मन साम्राज्य और रूस के बीच में, पोलैंड था और हंगरी का बड़ा राज्य था, जिसपर उस्मानी तुर्कों की छाया पड़ रही थी। दूर-पूर्व में रूस था, जो 'सुनहरे क़बीले' के मंगोलों के चंगुल से निकलकर एक नया शक्तिशाली राज्य बन रहा था । उत्तर और पश्चिम में कुछ और भी देश थे ।

सोलहवीं सदी के शुरू में यूरोप का यह नक़शा था । १५२० ई० में चार्ल्स पंचम बादशाह हुआ । यह हैप्सबर्ग ख़ानदान का था और, जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, स्पेन, नेपल्स और सिसिली के राज्यों की और निदरलैण्ड्स की विरासत इसके हाथ लग गई । यह एक अजीब बात है कि कुछ बादशाहों की शादियों की वजह से यूरोप के बहुत-से देशों और क़ौमों के स्वामी ही बदल गये । करोड़ों जनता और बड़े-बड़े देश सिर्फ़ विरासत में मिल गये । कहीं-कहीं वे दहेजों में दिये गए । बम्बई का टापू इसी तरह इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय को उसकी पत्नी, ब्रैगेंज़ा (पुर्तगाल) की कैथरीन, के साथ दहेज में मिला था । इसलिए चतुराई के साथ शादियां करके हैप्सबर्गों ने एक साम्राज्य इकट्ठा कर लिया और चार्ल्स पंचम इसका अध्यक्ष हुआ। यह एक बहुत साधारण आदमी था और ख़ास तौर पर इसलिए मशहूर था कि वह ख़ूब खाता था । लेकिन उस वक़्त तो अपने बड़े साम्राज्य के कारण वह यूरोप में बड़ा भारी-भरकम जंच रहा था ।

जिस साल चार्ल्स सम्राट् हुआ, उसी साल सुलेमान उस्मानी साम्राज्य का अध्यक्ष हुआ । इसके ज़माने में यह साम्राज्य सभी ओर, और ख़ासकर पूर्वी यूरोप की ओर फैला। तुर्क लोग ठेठ वियेना के दरवाज़ों तक पहुंच गये, मगर इस सुन्दर पुराने शहर को जीतने में ज़रा-सी कसर रह गई । लेकिन हैप्सबर्ग सम्राट् उनके रोब में आ गया और उसने सुलेमान को ख़िराज देकर उससे पिंड छुड़ाना ही ठीक समझा । पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् का तुर्की के सुल्तान को ख़िराज

देना ज़रा ग़ौर करने की बात है। सुलेमान 'प्रतापी सुलेमान' के नाम से मशहूर है। उसने सम्राट् का खिताब अपने-आप ही ले लिया, क्योंकि वह अपने-आपको पूर्वी बिजैन्तीन सीज़रों का प्रतिनिधि समझता था।

सुलेमान के समय में क़ुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनाने का काम बड़े ज़ोरों से हुआ और बहुत-सी सुन्दर मसजिदें बनवाई गईं। इटली में कलाओं का जैसा पुनर्जीवन हो रहा था वैसा ही पूर्व में भी होता हुआ नज़र आ रहा था। कला की यह हलचल सिर्फ़ क़ुस्तुन्तुनिया में ही नहीं थी, बल्कि ईरान और मध्य-एशिया के खुरासान में भी बड़े सुन्दर चित्र बनाये जा रहे थे।

हम देख चुके हैं कि किस तरह उत्तर-पश्चिम से बाबर ने आकर भारत में एक नया राजवंश क़ायम किया। यह १५५६ ई० की बात है, जब चार्ल्स पंचम यूरोप में सम्राट् था और सुलेमान क़ुस्तुन्तुनिया में राज कर रहा था। बाबर और उसके गौरवशाली वंशजों के बारे में हमें आगे बहुत-कुछ कहना है। यहां तो सिर्फ़ यह बात ध्यान में रखने की है कि बाबर खुद रिनैसां के नमूने का राजा था, हालांकि वह उस वक़्त के यूरोपीय नमूनों से कहीं अच्छा था। था तो वह हौसलेबाज़, पर फ़िर भी वीर योद्धा था, जिसे साहित्य और कला का व्यसन था। उस समय इटली में भी ऐसे राजा थे जो इसी तरह के हौसलेबाज़ और साहित्य और कला के प्रेमी थे और जिनके छोटे-छोटे दरबारों में ऊपरी तड़क-भड़क थी। फ़्लोरेन्स का मेदिची वंश और बोर्जिया परिवार उस समय मशहूर थे। लेकिन इटली के ये राजा, और उस वक़्त यूरोप के भी ज़्यादातर राजा, मैकियावेली के सच्चे अनुयायी थे। ये भलाई-बुराई का विचार न करनेवाले, साज़िश करनेवाले और अत्याचारी थे, और अपने विरोधियों के लिए ज़हर का प्याला और क़ातिल का छुरा भी इस्तेमाल करते थे। शूरवीर बाबर की इस झुंड से तुलना करना वैसा ही अनुचित है, जैसा कि इनके टुच्चे राजदरबारों की दिल्ली या आगरे के मुग़ल सम्राटों—अकबर, शाहजहां, वग़ैरा—के दरबार से तुलना करना बेमेल है। कहा जाता है कि ये मुग़ल दरबार बड़े शानदार थे और शायद इतनी दौलत और शान-शौक़तवाले दरबार कभी रहे ही नहीं।

यूरोप का ज़िक्र करते-करते हम, अनजाने ही भारत की बातों को ले बैठे। लेकिन मैं तुम्हें यह जतलाना चाहता था कि यूरोपीय रिनैसां के समय भारत और दूसरे देशों में क्या हो रहा था। उस समय तुर्की, ईरान, मध्य एशिया और भारत में भी कला की हलचलें शुरू हो रही थीं। चीन में मिंग राजाओं का अमन-चैनवाला और खुशहाल ज़माना था जबकि कला की चीज़ों का उत्पादन बहुत ऊंचे दर्जे पर पहुंचा हुआ था। लेकिन रिनेसां-काल की यह सारी कला, शायद चीन को छोड़कर, बहुत-कुछ दरबारी कला थी। यह जनता की कला न थी। इटली में कुछ

महान् कलाकारों के बाद, जिनमें से कइयों के नाम मैं लिख चुका हूं, पिछले रिनैसां की कला बिल्कुल नीचे दर्जे की और मामूली बन गई।

इस तरह सोलहवीं सदी का यूरोप कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट राजाओं के बीच बंटा हुआ था। उस वक़्त राजाओं की गिनती थी, प्रजा की नहीं। इटली, आस्ट्रिया, फ़ान्स और स्पेन कैथलिक थे; जर्मनी आधा कैथलिक और आधा प्रोटेस्टेण्ट था; इंग्लैंड सिर्फ़ इसलिए प्रोटेस्टेण्ट था, कि उसके बादशाह की ऐसी मर्ज़ी थी। और चूंकि इंग्लैंड प्रोटेस्टेण्ट था, इसलिए आयर्लैण्ड के लिए कैथलिक बने रहने की यह काफ़ी वजह थी, क्योंकि इंग्लैंड उसे जीतने और सताने की कोशिश करता था। लेकिन यह कहना सिर्फ़ एक हद तक ही सही है कि प्रजा का मज़हब किसी गिनती में न था। अन्त में जाकर जनता के मज़हब का भी असर पड़ा और इसके कारण बहुत-सी लड़ाइयां और क्रान्तियां हुईं। मज़हबी पहलू को राजनैतिक या आर्थिक पहलुओं से अलग करना मुश्किल है। मेरे ख़याल से, मैं तुम्हें पहले ही यह बतला चुका हूं कि रोम के ख़िलाफ़ प्रोटेस्टेण्टों का विद्रोह ख़ास तौर पर वहीं हुआ, जहां नया व्यापा ी-वर्ग ज़ोर पकड़ रहा था। इससे हम समझ सकते हैं कि मज़हब और व्यापार के बीच कोई कड़ी थी। इसी तरह बहुत-से राजा लोग मज़हबी सुधारों से इसलिए डरते थे कि कहीं इसकी आड़ में अन्दरूनी क्रान्ति न फैल जाय और उनका तख़्ता न उलट दिया जाय। अगर कोई आदमी पोप की मज़हबी सत्ता के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने की हिम्मत कर सकता था तो फिर यह भी सम्भव था कि वह बादशाह या राजा की सत्ता को भी मानने से इन्कार कर दे। यह मत बादशाहों के लिए बड़ा ख़तरनाक था। वे अभी तक राजाओं के राज करने के दैवी अधिकार को ही पकड़े बैठे थे। प्रोटेस्टेण्ट राजा भी इसे छोड़ने के लिए तैयार न थे।

फिर भी, बावजूद रिफ़ार्मेशन के, यूरोप में बादशाहों का बोलबाला था और यूरोप में वे पूरे सत्ताधारी थे। पहले कभी वे इतने निरंकुश न थे, क्योंकि बड़े-बड़े सामन्ती अमीर-सरदार उनपर लगाम लगाते रहते थे और अक्सर उनकी सत्ता को भी मानने से इन्कार कर देते थे। व्यापारी और मध्यमवर्ग के लोग इन अमीर-सरदारों से ख़ुश न थे और न बादशाह ही इनको पसंद करता था। इसलिए व्यापारी वर्ग और किसान वर्ग की मदद से बादशाह ने सामन्ती अमीरों को कुचल दिया और ख़ुद पूरा सत्ताधारी बन बैठा। हालांकि मध्यमवर्ग ने अपनी शक्ति और अपना महत्त्व बहुत बढ़ा लिये थे, मगर अभी वह इतना ताक़तवर नहीं हुआ था कि बादशाह के कामों में दख़ल दे सके। लेकिन कुछ ही दिनों में मध्यमवर्ग बादशाह के बहुत-से कामों का विरोध करने लगे। ख़ासकर उन्होंने बार-बार लगाये जानेवाले भारी करों का और मज़हब में दख़ल देने का विरोध किया। बादशाह को ये बातें बिल्कुल अच्छी न लगीं। वह इस बात से चिढ़ गया कि इन लोगों ने उसके किसी

भी काम का विरोध करने की गुस्ताखी की। इसलिए उसने इनको जेलों में ठूंस दिया और दूसरी सज़ाएं भी दीं। उन दिनों मनमाने तौर पर लोगों को क़ैद कर दिया जाता था, जैसा कि आजकल भारत में हो रहा है, क्योंकि हम अंग्रेज़ सरकार के आगे सर झुकाने से इन्कार करते हैं। बादशाह व्यापार में भी दख़ल देता था। इससे हालत और भी बिगड़ती गई और बादशाह का विरोध ज़ोर पकड़ने लगा। बादशाहों की तानाशाही के ख़िलाफ़ मध्यमवर्ग की यह अधिकारों की लड़ाई सदियों तक चलती रही और इसे खतम हुए ज्यादा समय नहीं हुआ। कई बादशाहों के सिर उड़ा दिये जाने के बाद कहीं जाकर बादशाहों के दैवी अधिकार का ख़याल हमेशा के लिए दफ़न कर दिया गया, और बादशाहों की अकल ठिकाने लगा दी गई। कुछ देशों में यह जीत जल्दी हो गई और कुछ में देर से। आगे के पत्रों में हम इस लड़ाई के उतार-चढ़ाव का ज़िक्र करेंगे।

लेकिन सोलहवीं सदी के यूरोप में क़रीब-क़रीब सब जगह बादशाह की धाक थी—पूरे तौर पर नहीं, बल्कि क़रीब-क़रीब। तुम्हें याद होगा कि स्वीज़रलैण्ड के ग़रीब पहाड़ी किसानों ने हैप्सबर्ग के बादशाह को चुनौती देने की हिम्मत दिखलाई थी और अपनी आज़ादी हासिल कर ली थी। इस तरह निरंकुशता और तानाशाही के यूरोपीय सागर में स्वीज़रलैण्ड का छोटा-सा किसान गणराज्य एक टापू के समान था, जिसमें बादशाहों के लिए कोई जगह न थी।

जल्द ही एक दूसरे देश—निदरलैण्ड्स—में भी मामले ने तूल पकड़ा और जनता व मज़हब की आज़ादी की लड़ाई लड़ी गई और जीत ली गई। यह एक छोटा-सा देश है, लेकिन यह लड़ाई बड़ी ज़बर्दस्त थी, क्योंकि यह उस ज़माने में यूरोप की सबसे ज़बरदस्त शक्ति—स्पेन के ख़िलाफ़ लड़ी गई थी। इस तरह निदरलैण्ड्स ने यूरोप को रास्ता बतलाया। इसके बाद इंग्लैण्ड में भी जनता की आज़ादी के लिए एक लड़ाई हुई, जिसमें एक बादशाह को अपना सिर गवांना पड़ा और उस वक़्त की पार्लमेंट की जीत हुई। इस तरह निदरलैण्ड्स और इंग्लैण्ड ने निरंकुशता के ख़िलाफ़ मध्यमवर्ग की लड़ाई में सबसे आगे क़दम बढ़ाया। और चूंकि इन देशों में मध्यमवर्ग की जीत हुई, इसलिए नई हालतों का फ़ायदा उठाकर यह और देशों से आगे बढ़ गया। दोनों ने, आगे चलकर, शक्तिशाली जंगी बेड़े बनाये; दोनों ने दूर-दूर देशों से व्यापार क़ायम किया और दोनों ने एशिया में साम्राज्य की नींव रक्खी।

इन पत्रों में हमने अभी तक इंग्लैंड के बारे में ज्यादा नहीं लिखा है। लिखने के लिए कुछ था भी नहीं; क्योंकि इंग्लैंड यूरोप का कोई ज्यादा महत्ववाला देश नहीं था। लेकिन अब एक परिवर्तन आता है और, जैसा कि आगे बताया जायगा, इंग्लैंड बड़ी तेज़ी के साथ आगे बढ़ता है। हम 'मैग्नाकार्टा', पार्लमेण्ट की शुरुआत,

किसानों के झगड़ों और राजवंशों के आपसी युद्धों का ज़िक्र कर चुके हैं। इन युद्धों में बादशाहों के हाथों से खून और हत्याएं आम तौर पर काफ़ी हुई। सामन्ती अमीर-सरदारों की एक बहुत बड़ी संख्या लड़ाई के मैदानों में काम आई, जिससे उनका बल बहुत घट गया। टयूडरों का नया राजवंश गद्दी पर बैठा, जिन्होंने निरंकुश राजाओं का पार्ट खूब अदा किया। आठवां हेनरी टयूडर था और उसकी पुत्री एलिज़ाबेथ भी टयूडर थी।

सम्राट चार्ल्स पंचम के बाद साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये। स्पेन और निदरलैण्ड्स उसके पुत्र फ़िलिप द्वितीय के हिस्से में आये। उस वक़्त सबसे शक्तिशाली बादशाहत होने की वजह से स्पेन सारे यूरोप के ऊपर सिर उठाये हुए था। तुम्हें याद होगा कि पेरू और मैक्सिको उसके क़ब्ज़े में थे और अमेरिका से सोने की नदी उसके यहां बही चली आ रही थी। लेकिन कोलम्बस, कोर्तीज़ और पिज़ारो के बावजूद भी स्पेन नई हालतों से फ़ायदा नहीं उठा सका। व्यापार में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसे अगर परवाह थी तो ऐसे मज़हब की, जो बड़ा ही कट्टर और ज़ालिम था। सारे देश में इनक्विज़िशन की तूती बोलती थी और क़ाफ़िर कहे जानेवालों को भयंकर यातनाएं दी जाती थीं। समय-समय पर बड़े आम जलसे किये जाते थे और इन 'क़ाफ़िर' स्त्री-पुरुषों के झुंड-के-झुंड बादशाह, शाही खानदान, राजदूतों और हज़ारों मनुष्यों के सामने बड़ी-बड़ी चिताओं पर ज़िन्दा जला दिये जाते थे। ये सार्वजनिक अग्नि-कांड ईसाइयत के नियम कहलाते थे। ये बातें आज कितनी भयंकर और खूंखार मालूम पड़ती हैं। पर इस ज़माने का यूरोप का इतिहास मारकाट, दिल दहलानेवाले व वहशियाना ज़ुल्मों और मज़हबी कट्टरपन से इस क़दर भरा हुआ है कि उसपर विश्वास करना मुश्किल है।

स्पेन का साम्राज्य ज़्यादा दिनों तक न टिक सका। छोटे-से हालैण्ड की बहादुर लड़ाई ने उसे बिल्कुल हिला डाला। कुछ दिनों बाद, १५८८ ई० में, इंग्लैण्ड को जीतने की कोशिश बिल्कुल बेकार गई और स्पेन की फ़ौजों को ले जानेवाला 'अजय आर्मेडा' नामक जंगी बेड़ा इंग्लैंड तक पहुंच भी न सका। समुद्री तूफ़ान ने उसे तहस-नहस कर डाला। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है, क्योंकि 'आर्मेडा' की कमान करनेवाला व्यक्ति समुद्र या जहाज़ों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। वास्तव में उसने बादशाह फ़िलिप द्वितीय के पास जाकर "यह विनीत प्रार्थना भी की थी कि उसे इस ओहदे की ज़िम्मेदारी से बरी कर दिया जाय, क्योंकि उसे समुद्री लड़ाई की मोर्चा-बंदी का कुछ भी ज्ञान न था और न वह अच्छा नाविक ही था। लेकिन बादशाह ने जवाब दिया कि स्पेन के बेड़े का संचालन तो खुद खुदा करेगा!"

इस तरह धीरे-धीरे स्पेन का साम्राज्य भी ग़ायब होता गया। चार्ल्स पंचम के ज़माने में यह कहा जाता था कि उसके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। यही

कहावत आजकल के एक घमंडी और मद में चूर साम्राज्य के बारे में भी अक्सर दोहराई जाती है।

## : ८६ :
# निदरलैण्ड्स की आज़ादी की लड़ाई

२७ अगस्त, १९३२

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बतलाया था कि सोलहवीं सदी में क़रीब-क़रीब सारे यूरोप में बादशाह सबके ऊपर कितने हावी हो गये थे। इंग्लैण्ड में टयूडर थे और स्पेन और आस्ट्रिया में हैप्सबर्ग थे। रूस, जर्मनी और इटली के ज़्यादातर हिस्सों में निरंकुश एकतंत्री राजा थे। इस तरह का बादशाह, जो निजी हैसियत से एकतंत्री राज करता था और सारा साम्राज्य जिसकी बहुत-कुछ निजी जायदाद समझा जाता था, उसका नमूना शायद फ़्रान्स ही था। कार्डिनल रिशेल्यू नामक एक बड़े योग्य मंत्री ने फ़्रान्स और उसकी बादशाहत को मज़बूत बनाने में बड़ी मदद की। फ़्रान्स का हमेशा यह ख़याल रहा है कि उसकी मज़बूती और सुरक्षा जर्मनी की कमज़ोरी में है। इसलिए रिशेल्यू ने, जो ख़ुद एक कैथलिक पादरी था और फ़्रान्स में प्रोटेस्टेण्टों को बड़ी बेरहमी से कुचल रहा था, जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टों को उलटा उकसाया। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जर्मनी में अन्दरूनी लड़ाई-झगड़ा और अशान्ति बढ़े, जिससे वह कमज़ोर हो जाय। यह नीति सफल भी ख़ूब हुई। जैसा कि आगे ज़िक्र किया जायगा, जर्मनी में बहुत ही बुरा गृह-युद्ध हुआ, जिसने देश का सत्यानाश कर दिया।

फ़्रान्स में भी सत्रहवीं सदी के बीच में गृह-युद्ध हुआ, जो फ़्रान्स का युद्ध कहलाता है। लेकिन बादशाह ने अमीर-सरदारों और व्यापारियों दोनों को कुचल दिया। अमीर-सरदारों के हाथ में असली ताक़त तो रह ही नहीं गई थी, लेकिन अपनी तरफ़ मिलाये रखने के लिए बादशाह ने उन्हें बहुत-सी रियायतें दे दीं। उनको टैक्सों से क़रीब-क़रीब बरी कर दिया गया था। अमीर-सरदार वर्ग और पादरी वर्ग दोनों ही टैक्सों से बरी थे। टैक्सों का सारा बोझ आम जनता पर और ख़ासकर किसानों पर पड़ता था। इन ग़रीब दुखी अभागों को ऐंठकर जो धन इकट्ठा किया गया, उससे बड़े-बड़े आलीशान महल बनाये गए और बादशाह बड़े ठाट-बाट-वाले दरबार से घिरा रहता था। पेरिस के पास वर्साई तुमने देखा है, उसकी तुमको याद होगी। वहां के आलीशान महल, जिनको देखने के लिए आजकल लोग जाते हैं, सत्रहवीं सदी में फ़्रान्स के किसानों के ख़ून से बने थे। वर्साई एक निपट निरंकुश ग़ैर-ज़िम्मेदार राजाशाही का चिन्ह था, इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं है कि वर्साई फ़्रान्स की उस राज्यक्रान्ति का हरकारा बनी, जिसने सारी राजाशाही को

ही खतम कर दिया। लेकिन उन दिनों राज्य-क्रान्ति के दिन बहुत दूर थे। उस समय चौदहवां लुई बादशाह था, जो 'महान बादशाह' कहलाता था, और वह 'सूर्य' था, जिसके चारों तरफ़ उसके दरबार के ग्रह चक्कर लगाते रहते थे। उसने बहत्तर साल के बहुत ही लम्बे समय तक, यानी १६४३ से १७१५ ई० तक, राज किया और उसका प्रधान मंत्री माज़ारिन नामक एक दूसरा बड़ा कार्डिनल था। ऊपर-ऊपर तो बड़ा राग-रंग और विलास था और साहित्य, विज्ञान और कला पर शाही कृपा थी, लेकिन शान-शौक़त की इस झीनी चादर के नीचे बड़ी मुसीबत और तड़प थी। वह सुन्दर नक़ली बालों और गोटे के कफ़ों और नफ़ीस पोशाकों की दुनिया थी, लेकिन जिस शरीर पर ये चीज़ें पहनी जाती थीं, उसे शायद ही कभी नहलाया जाता था, और वह मैल और गन्दगी से भरा रहता था।

हम सबपर शान-शौक़त और तड़क-भड़क का बहुत बड़ा असर पड़ता है, इसलिए अगर अपने लम्बे राज में चौदहवें लुई ने यूरोप पर खूब प्रभाव डाला तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। वह बादशाहों में नमूना समझा जाता था और दूसरे उसकी नक़ल करने की कोशिश करते थे। लेकिन यह 'महान बादशाह' आखिर था क्या ? मशहूर अंग्रेज़-लेखक कार्लाइल ने लिखा है—"अपने चौदहवें लुई पर से बादशाहत का चोग़ा उतार दो तो सिवा एक भद्दी दो-जड़ों वाली मूली के, जिसमें बेढंगा सिर तराशा हुआ हो, और कुछ नहीं रहता।" यह बयान सख्त ज़रूर है, मगर शायद बहुत-से लोगों पर चाहे बादशाह हों या प्रजा—लागू होता है।

चौदहवें लुई का इतिहास हमको १७१५ ई० तक, यानी अठारहवीं सदी के शुरू तक ले आता है। इस बीच यूरोप के दूसरे मुल्कों में बहुत-कुछ हो गया था और इनमें से कुछ घटनाएं हमारे ध्यान देने लायक़ हैं।

निदरलैण्ड्स का स्पेन के खिलाफ़ विद्रोह का हाल मैं तुमको बतला चुका हूं। उनकी बहादुरी की लड़ाई अच्छी तरह ग़ौर करने लायक़ है। जे० एल० मोटले नामक एक अमरीकी ने आज़ादी की इस लड़ाई का मशहूर हाल लिखा है, और उसने इस इतिहास को बड़ा रोचक और लुभावना बना दिया है। साढ़े तीन सौ वर्ष पहले यूरोप के इस छोटे-से कोने में जो कुछ हुआ, उसके इस वर्णन से बढ़िया कोई उपन्यास मैं नहीं जानता। इस पुस्तक का नाम 'राइज़ ऑफ़ दि डच रिपब्लिक' है[1] और मैंने इसे जेल में पढ़ा है।

निदरलैण्ड्स में हॉलैण्ड और बेल्जियम दोनों शामिल हैं। इनका नाम ही

---

[1] यह पुस्तक हिन्दी में 'नरमेध' के नाम से 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित हो चुकी है।

यह बतलाता है कि ये नीची ज़मीन में हैं। हॉलैण्ड का अर्थ है 'धंसी हुई ज़मीन'। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से वास्तव में नीचे हैं और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकने के लिए विशाल समुद्री-बांध और दीवारें बनाई गई हैं। ऐसे देश के निवासी, जहां बराबर समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मजबूत समुद्र-यात्री होते हैं और जो लोग अक्सर समुद्र-यात्राएं करते रहते हैं वे तिजारती बन जाते हैं। इसलिए निदरलैण्ड्स के निवासी तिजारती हो गये। वे ऊनी कपड़ा और दूसरी चीज़ें तैयार करते थे और पूर्वी देशों के गरम मसाले भी उनके यहां पहुंचते थे। नतीजा यह हुआ कि ब्रसेल्स, घैन्त और खासकर ऐन्तवर्प जैसे मालदार और तिजारती शहर वहां खड़े हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशों से व्यापार बढ़ता गया वैसे-वैसे इन शहरों की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवीं सदी में ऐन्तवर्प यूरोप का तिजारती केन्द्र बन गया। कहते हैं कि उसकी मंडी में रोज़ पांच हज़ार व्यापारी इकट्ठे होकर आपस में सौदे किया करते थे; उसके बन्दर में एक साथ ढाई हज़ार जहाज़ लंगर डाले रहते थे। रोज़मर्रा लगभग पांच सौ जहाज़ वहां आते-जाते थे। इन्हीं व्यापारी वर्गों के हाथ में इन शहरों के शासन की बागडोर थी।

व्यापारियों की यह ठीक ऐसी जाति थी, जो 'रिफ़ार्मेशन' के नये मज़हबी विचारों की ओर खिंच सकती थी। यहांपर, और खासकर उत्तरी भागों में, प्रोटेस्टेण्ट मत फैलने लगा। विरासत के संयोग ने हैप्सबर्ग के चार्ल्स पंचम और उसके बाद उसके पुत्र फ़िलिप द्वितीय को निदरलैण्ड्स का शासक बना दिया। इन दोनों में से कोई भी किसी भी तरह की राजनैतिक या मज़हबी आज़ादी बर्दाश्त नहीं कर सकता था। फ़िलिप ने शहरों की रियायतों को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, जो दमन और अत्याचार के लिए बदनाम हो गया है। इनक्विज़िशन क़ायम हुई और एक 'खूनी परिषद्' बनाई गई, जिसने हज़ारों को ज़िन्दा जला दिया या फांसी पर लटका दिया।

यह एक बड़ी लम्बी कहानी है, जिसे मैं यहां बयान नहीं कर सकता। जैसे-जैसे स्पेन का अत्याचार बढ़ता गया, उससे टक्कर लेने की ताक़त भी लोगों में बढ़ती गई। उनमें प्रिन्स विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज, या 'खामोश विलियम' नामक एक ऐसा महान और बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुक़ाबला एल्वा का ड्यूक नहीं कर सकता था। १५६८ ई० में इनक्विज़िशन ने तो, कुछ गिने-चुने आदमियों को छोड़कर, निदरलैण्ड्स के सारे निवासियों को एक ही फैसले में काफ़िर क़रार देकर मौत की सजा दे डाली। यह हैरतभरा फ़ैसला इतिहास में बे-मिसाल है, जिसने तीन-चार लाइनों में ही तीस लाख आदमियों को सजा दे दी।

शुरू में तो यह लड़ाई निदरलैण्ड्स के अमीर-सरदारों और स्पेन के बादशाह

के बीच ही मालूम दी। दूसरे देशों में बादशाह और अमीर-सरदारों की जो लड़ाइयां चल रही थीं, क़रीब-क़रीब उन्हीं जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको कुचल डालने की कोशिश की और बहुत-से अमीर-सरदारों को ब्रसेल्स में फांसी के तख़्ते पर चढ़ना पड़ा। इन फांसी दिये जानेवालों में काउण्ट एग्मौन्त नामक एक लोकप्रिय और मशहूर अमीर-सरदार भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की तंगी हुई तो उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे जब व्यापारी-वर्ग की जेबों पर असर पड़ा तो वे लोग बिगड़ खड़े हुए। इसके साथ-साथ कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच भी लड़ाई चल रही थी।

स्पेन एक बड़ा ज़बर्दस्त राज्य था, जिसे अपने बड़प्पन का पूरा घमण्ड था; उधर निदरलैण्ड्स में सिर्फ़ व्यापारी लोगों और निकम्मे व फिज़ूल-ख़र्च अमीर-सरदारों के कुछ सूबे थे। दोनों का कोई मुकाबला न था। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मुश्किल हो गया। बार-बार कत्लेआम होते रहते थे; पूरी-की-पूरी आबादियां मौत के घाट उतार दी जाती थीं। मनुष्यों के प्राण हरने में एल्वा और उसके सेनापति चंग़ेज़खां और तैमूर की होड़ कर रहे थे। कभी तो वे इन मंगोलों से भी आगे बढ़ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के बिना-सीखे पुरुष और अक्सर स्त्रियां भी एल्वा के सीखे-सिखाये सैनिकों से जल और थल पर तब-तक लड़ते रहते थे जबतक कि भूख से लाचार न हो जाते। स्पेन की गुलामी की बनिस्बत अपनी प्यारी-से-प्यारी तमाम चीज़ों का सत्यानाश तक भी अच्छा समझकर हालैण्ड-निवासियों ने स्पेन की फ़ौजों को डुबाने व भगा देने के लिए समुद्री-बांध तोड़ डाले और उत्तरी सागर का पानी भीतर आने दिया। जैसे-जैसे लड़ाई गहरी होती गई वैसे-ही-वैसे उसमें निर्दयीपन भी आता गया और दोनों पक्ष हद से ज़्यादा बेरहम हो गये। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना है। इसे आख़िरी दम तक वीरता के साथ बचाने की कोशिश की गई, लेकिन अन्त वही हुआ—सदा की तरह स्पेन के हाथों क़त्लेआम और लूटपाट। अल्कमार पर भी घेरा डाला गया, लेकिन यह बांध तोड़कर बच गया। और लाइदन को जब दुश्मनों ने घेर लिया तो भूख और बीमारी से हज़ारों आदमी मर गये। लाइदन के पेड़ों में एक भी हरा पत्ता बाक़ी न रहा; लोगों ने सब खा डाले। घूरों पर जूठन के टकड़ों के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तों तक से छीना-झपटी करते, लेकिन फिर भी वे लड़े जाते थे, और शहर की दीवारों पर से सूखकर कांटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे, और स्पेनवालों से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर ज़िन्दा रहेंगे, लेकिन हार न मानेंगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाकी न रहेगा तो विश्वास रक्खो कि हममें से हरेक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को विदेशी अत्याचारी से अपनी स्त्रियों की, अपनी स्वतन्त्रता की और अपने मज़हब की रक्षा के लिए बचा

रक्खेगा। अगर ईश्वर भी क्रोध करके हमारे लिए विनाश का विधान कर दे और हमें किसी तरह की राहत न दे, तो भी हम तुम्हें भीतर घुसने से रोकने के लिए अपने-आपको हमेशा तैयार रक्खेंगे। जब हमारी आख़िरी घड़ी आ जायगी तो हम खुद अपने ही हाथों से शहर में आग लगा देंगे और पुरुष, स्त्रियां व बच्चे, सब एक साथ आग में चलकर मर जायंगे, लेकिन अपने घरों को हरगिज़ अपवित्र न होने देंगे और न अपनी स्वतंत्रता को रौंदा जाने देंगे।"

लाइदन के निवासियों में ऐसा जोश था। लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कहीं से सहायता की सूरत नज़र नहीं आती थी, वैसे ही उनकी निराशा भी बढ़ती जाती थी। आख़िर उन्होंने हालैण्ड की जागीरों के अपने दोस्तों को बाहर संदेश भेजा। इन जागीरों ने यह जबर्दस्त फ़ैसला किया कि लाइदन को शत्रुओं के हाथ में जाने देने से तो अच्छा है कि अपने प्यारे देश को पानी में डुबो दिया जाय। "खोये हुए देश से डूबा हुआ देश ही भला है।" और उन्होंने घोर संकट में पड़े हुए अपने साथी शहर को यह उत्तर भेजा—"ऐ लाइदन, हम तुझे संकट में छोड़ने की बनिस्बत यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरों से नष्ट हो जायं!"

आख़िरकार एक के बाद दूसरा समुद्री-बांध तोड़ दिया गया और हवा की मदद पाकर समुद्र का पानी भीतर घुस आया और उसके साथ हॉलैण्ड के जहाज़ भोजन और सहायता लेकर आ पहुंचे। और इस नये दुश्मन समुद्र से भयभीत होकर स्पेन के सैनिक सिर पर पांव रखकर भाग खड़े हुए। इस तरह लाइदन बच गया और उसके निवासियों की वीरता की यादगार में १५७५ ई० में लाइदन का विश्वविद्यालय क़ायम किया गया, जो आज तक मशहूर है।

वीरता की ऐसी कितनी ही कहानियां हैं, और दहलानेवाले हत्याकांडों की भी हैं। सुन्दर एण्टवर्प में बड़ा भयंकर हत्याकांड हुआ और लूटमार हुई, जिसमें आठ हज़ार आदमी मारे गये। इसे 'स्पेन का कोप' कहा गया था।

लेकिन इस महान लड़ाई में हॉलैण्ड ने ही ज़्यादातर हिस्सा लिया, निदरलैण्ड्स के दक्षिणी हिस्से ने नहीं। स्पेन के शासक घूंस और दबाव से निदरलैण्ड्स के बहुत-से अमीर सरदारों को अपनी तरफ़ मिला लेने में सफ़ल हो गये और उनके ज़रिये उन्हीं-के देशवासियों को कुचलवाया। उनको इस बात से बड़ी मदद मिली कि दक्षिण में प्रोटेस्टेण्टों से कैथलिकों की संख्या बहुत ज़्यादा थी। उन्होंने कैथलिकों को मिलाने की कोशिश की और कुछ हद तक वे सफल भी हो गये। और भला अमीर-सरदार! शर्म की बात है कि इन लोगों में से बहुत-से स्पेन के बादशाह की कृपा और अपने लिए धन-दौलत हासिल करने की ख़ातिर देश-द्रोह और धोखेबाज़ी में कितने नीचे गिर गये थे; देश भले ही जहन्नुम में चला जाय!

निदरलैण्ड्स की विधान-सभा में भाषण देते हुए विलियम ऑफ़ ऑरेन्ज ने कहा था—"निदरलैण्ड्स को कुचलने वाले निदरलैण्ड्स के ही लोग हैं। एल्वा का ड्यूक जिस बल की डींग मारता है, वह अगर तुम्हारा ही—निदरलैण्ड्स के शहरों का—दिया हुआ नहीं है, तो कहां से आया ? उसके जहाज़, रसद, धन, हथियार, सिपाही, ये सब कहां से आये ? निदरलैण्ड्स के लोगों के पास से।"

इस तरह, आख़िरकार, स्पेनवाले निदरलैण्ड्स के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने में कामयाब हुए, जो आज मोटे तौर पर बेल्जियम कहलाता है। लेकिन लाख कोशिश करने पर भी वे हॉलैण्ड को क़ाबू में न ला सके। ग़ौर करने की अजीब बात यह है कि लड़ाई के दौरान में, क़रीब-क़रीब उसके ख़तम होने तक, हॉलैण्ड ने स्पेन के फ़िलिप द्वितीय की अधीनता से कभी इन्कार नहीं किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके स्वतन्त्र अधिकारों को मंज़ूर कर लेता। लेकिन अन्त में उनको उससे नाता तोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। उन्होंने अपने महान् नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़, गणराज्य बनने के लिए मजबूर कर दिया। उस ज़माने की बादशाही परम्परा इतनी ज़बरदस्त थी।

हॉलैण्ड में यह लड़ाई कितने ही वर्षों तक चली। १६०९ ई० में कहीं जाकर हॉलैण्ड स्वाधीन हुआ। लेकिन निदरलैण्ड्स में असली लड़ाई १५६७ से १५८४ ई० तक हुई। स्पेन का फ़िलिप द्वितीय जब विलियम ऑफ आरेंज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के हाथों मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस ज़माने में यूरोप का नेक-चलन ऐसा था। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशें असफल हुईं। १५८४ ई० में छठवीं बार की कोशिश सफल हुई और यह महापुरुष—जो हॉलैण्ड भर में 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था—मारा गया; लेकिन उसका काम पूरा हो चुका था। बलिदान और कष्ट की भट्टी में ढलकर डच गणराज्य—हालैण्ड तैयार हो गया था। अत्याचारी और निरंकुश शासकों के ख़िलाफ़ खड़े होने से हरेक देश और क़ौम को लाभ होता है। इससे साधना मिलती है और बल बढ़ता है। बलशाली और अपने पांवों पर खड़ा रहनेवाला हालैण्ड बहुत जल्दी एक बड़ी समुद्री शक्ति बन गया और दूर-पूर्व तक फैल गया। बेलजियम, जो हॉलैण्ड से अलग हो गया था, स्पेन के ही क़ब्ज़े में रहा।

यूरोप की इस तस्वीर को पूरा करने के लिए अब हमें जर्मनी की तरफ़ देखना चाहिए। यहां १६१८ से १६४८ ई० तक एक भयंकर गृह-युद्ध चला, जो 'तीस साल का युद्ध' कहलाता है। यह युद्ध कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच हुआ

और जर्मनी के छोटे-छोटे राजा और निर्वाचक आपस में, और सम्राट् से, लड़े। और फ़्रान्स के कैथलिक बादशाह ने प्रोटेस्टेण्टों को शह दी, सिर्फ़ इसलिए कि यह गड़बड़ी और बढ़ जाय। अन्त में स्वीडन का बादशाह गुस्तावस अदोल्फ़स—जो 'उत्तर का सिंह' कहलाता था—चढ़कर आया और उसने सम्राट को हराकर प्रोटेस्टेण्टों को बचा लिया। लेकिन जर्मनी का सत्यानाश हो चुका था। पैसे के ग़ुलाम सिपाही लुटेरे बन गये थे। उन्होंने चारों तरफ़ लूट-खसोट मचा रक्खी थी। यहांतक कि फ़ौजों के सेनापति भी सिपाहियों की तनख़्वाह या ख़ूराक के लिए पैसा न रहने पर लूटमार करने लगे। और ख़याल करो कि यह सब लगातार तीस साल तक होता रहा! हत्याकांड, विनाश और लूटमार साल-दर-साल चलते रहे। ऐसी हालत में व्यापार बिलकुल नहीं हो सकता था, और न खेती-बाड़ी ही हो सकती थी। इसलिए दिन-पर-दिन खाने की चीज़ें कम होती गई और भुखमरी बढ़ने लगी। और इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि डाकू बढ़ने लगे और लूटमार ज़्यादा होने लगी। जर्मनी एक तरह से पेशेवर और पैसे के ग़ुलाम सिपाही पैदा करनेवाली जगह बन गया।

आख़िरकार यह लड़ाई ख़तम हुई—जबकि शायद लूटने के लिए कुछ भी बाक़ी न रहा! लेकिन जर्मनी को यह नुक़सान पूरा करने और अपनी हालत सुधारने में बहुत लम्बा वक़्त लगा। १६४८ ई० में वेस्ट-फ़ैलिया की सन्धि से इस गृह-युद्ध का अन्त हो गया। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् सिर्फ़ परछाईं और बिना अधिकारवाली छाया बन गया। फ़्रान्स ने एक बड़ा टुकड़ा, अल्सास, ले लिया, और उसे दो सौ वर्षों से ज़्यादा अपने कब्ज़े में रक्खा। बाद में उसे मजबूर होकर यह टुकड़ा फिर से नये जर्मनी को दे देना पड़ा। लेकिन १९१४-१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध के बाद फ़्रान्स ने इसे फिर ले लिया। इस तरह इस सन्धि से फ़्रान्स को फ़ायदा हुआ। लेकिन अब जर्मनी में एक दूसरी शक्ति पैदा हो गई, जो आगे चलकर फ़्रान्स के रास्ते का कांटा बनी। यह प्रशिया था, जिसपर हॉएनज़ोलर्न का घराना राज करता था।

वेस्ट-फ़लिया की सन्धि ने, आख़िरी तौर पर स्वीज़रलैण्ड और हालैण्ड के गणराज्यों को मान लिया।

मैंने तुम्हें युद्धों, हत्याकांडों, लूटमार और मज़हबी कट्टरपन की कैसी कहानी सुनाई है! लेकिन यही उस रिनैसां के बाद का यूरोप था, जबकि क्रिया-शक्ति फूट पड़ी थी और कला और साहित्य की हलचलें ज़ोर पकड़ रही थीं। मैंने यूरोप की तुलना एशिया के देशों से की है और उस नई ज़िन्दगी का ज़िक्र किया है जो उस वक़्त यूरोप में पैदा हो रही थी। इस नई ज़िन्दगी को मुश्किलें पार करके आगे बढ़ते हुए हरकोई देख सकता है। नये बालक और नई व्यवस्था का जन्म बड़ी

तकलीफ़ों के साथ हुआ करता है। जब नींव में आर्थिक खोखलापन हो तो उसके ऊपर के समाज और राजनीति दोनों डांवाडोल होने लगते हैं। यह तो ज़ाहिर है कि यूरोप में नया जीवन पैदा हो रहा था। लेकिन इसके चारों ओर कितना जंगली बर्ताव है! उस ज़माने का यह उसूल था कि "झूठ बोलने की विद्या ही राज करने की विद्या है।" उस वक़्त का सारा वातावरण ही धोखेबाज़ियों और साज़िशों, हत्या और ज़ुल्म के धुएं से घुट रहा था, और ताज्जुब तो यह होता है कि लोग इसे बर्दाश्त किस तरह करते थे!

: ८७ :

# इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया

२९ अगस्त, १९३२

अब हम कुछ वक़्त इंग्लैंड के इतिहास को देंगे। अभी तक हमने ज़्यादातर इसे दरगुज़र किया है, क्योंकि मध्य युगों में वहां कोई ऐसी दिलचस्पी की बात नहीं हुई। यह देश फ़ान्स और इटली से भी पिछड़ा हुआ था। हां, ऑक्सफॉर्ड विश्वविद्यालय बहुत पहले विद्या का केन्द्र मशहूर हो चुका था और कुछ दिन बाद केम्ब्रिज भी मशहूर हुआ। वाइक्लिफ़, जिसके बारे में मैं पहले लिख चुका हूं, ऑक्सफर्ड की ही देन था।

इंग्लैंड के शुरू के इतिहास में दिलचस्पी की मुख्य बात पार्लमेन्ट का विकास है। शुरू से ही अमीर-सरदारों की यह कोशिश थी कि बादशाह के अधिकारों को सीमित कर दिया जाय। १२१५ ई० में मैग्नाकार्टा बना। इसके कुछ दिन बाद पार्लमेण्ट की शुरुआत दिखलाई पड़ती है। शुरू-शुरू की ये बातें अधकचरी-सी थीं। बड़े-बड़े अमीर-सरदार और पादरी ही आगे चलकर लार्ड-सभा का रूप बन गये। लेकिन आखिरकार सबसे महत्व की जो चीज़ बनी, वह थी एक चुनी हुई परिषद्, जिसमें नाइट लोग छोटे-छोटे ज़मींदार और शहरों के कुछ प्रतिनिधि शामिल थे। यही चुनी हुई परिषद् विकसित होकर कामन्स सभा बन गई। ये दोनों परिषदें या सभाएं ज़मींदारों और धनवान लोगों की थीं। कामन्स-सभा के लोग भी कुछ धनवान ज़मींदारों और व्यापारियों के प्रतिनिधि थे।

कॉमन्स सभा के हाथ में कोई अधिकार नहीं था। वे लोग बादशाह के पास अर्ज़ियां भेजते थे और लोगों की शिकायतें पेश करते थे। धीरे-धीरे वे टैक्सों के मामले में भी दखल देने लगे। उनकी मर्ज़ी के बिना नये टैक्स लगाना या वसूल करना बहुत मुश्किल था; इसलिए बादशाह ने ऐसे टैक्स लगाने के बारे में उनकी मंज़ूरी लेने का रिवाज शुरू कर दिया। आमदनी व खर्च पर अधिकार हमेशा एक बड़ी ताक़त होती है, इसलिए पार्लमेण्ट और ख़ास कर कॉमन्स सभा का जैसे-जैसे

यह अधिकार बढ़ता गया वैसे-ही-वैसे उसका बल और मान भी बढ़ते गए। कॉमन्स सभा और बादशाह में अक्सर मतभेद होने लगा। लेकिन फिर भी पार्लमेण्ट एक बोदी चीज़ थी और ट्यूडर शासक, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूं, क़रीब-क़रीब निरंकुश राजा थे। लेकिन ट्यूडर लोग चालाक थे और वे पार्लमेण्ट से लड़ाई मोल लेना टाल जाते थे।

इंग्लैंड यूरोप की कट्टर मज़हबी लड़ाइयों से बचा रहा। मज़हबी झगड़ों, दंगे-फ़िसादों और कट्टरपन की बहुत ज़्यादती रही, और स्त्रियों की एक बड़ी संख्या ज़िन्दा जलाने की शर्मनाक कार्रवाई की गई, क्योंकि उन्हें डायनें समझा गया था। लेकिन यूरोप के मुक़ाबले में इंग्लैंड में फिर भी शान्ति रही। हैनरी अष्टम के साथ-साथ इंग्लैंड भी प्रोटेस्टेण्ट हो गया, यह माना गया। देश में बहुत-से कैथ-लिक ज़रूर थे, मगर बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट भी थे। लेकिन नया 'चर्च ऑव इंग्लैंड' यानी इंग्लैंड का ईसाई-संघ कुछ-कुछ इन दोनों के बीच का था; और हालांकि वह अपनेको प्रोटेस्टेण्ट कहता था मगर प्रोटेस्टेण्ट की बनिस्बत कैथलिक ज्यादा था, और सच पूछें तो वह राज्य का एक महकमा था, जिसका अध्यक्ष खुद बादशाह था। हां, रोम और पोप से रिश्ता बिल्कुल टूट चुका था और बहुत-से 'पोपलीला-विरोधी' दंगे हुए। महारानी एलिज़ाबेथ (यह आठवें हैनरी की पुत्री थी) के वक़्त में पूर्वी देशों के और अमेरिका के जो नये समुद्री-रास्ते खुले और व्यापार की नई-नई गुंजाइशें हुई उन्होंने बहुत-से लोगों को लुभाया। स्पेन और पुर्तगाल के जहाज़ियों की सफलता से मोहित होकर और दौलत हासिल करने के लालच से इंग्लैंड ने भी समुद्र का रास्ता पकड़ा। सर फ्रान्सिस ड्रेक वग़ैरा शुरू में समुद्री-डाकू बन गये और अमेरिका से आनेवाले स्पेन के जहाज़ों को लूटने लगे। इसके बाद ड्रेक ने दुनिया का चक्कर लगाने के लिए ज़बर्दस्त समुद्र-यात्रा की। सर वाल्टर रैले ने अतलांतिक सगार को पार करके उस देशके पूर्वी किनारे पर बस्ती डालने की कोशिश की, जिसे आज अमेरिका का संयुक्त राज्य कहते है। कुंवारी महारानी एलिज़ाबेथ के सम्मान में इसे वर्जिनिया[1] का नाम दिया गया। रैले ही पहला आदमी था, जो अमेरिका से तमाखू पीने का रिवाज यूरोप में लाया। इसके बाद स्पेनी आर्मेडा आया और इस घमंड-भरे धावे की पूरी नाकामयाबी ने इंग्लैंड का हौसला बहुत बढ़ा दिया। इन बातों का बादशाह और पार्लमेण्ट के झगड़े से कोई ताल्लुक नहीं है, सिवा इसके कि लोगों का ध्यान इन बातों में लग गया और विदेशी मामलों की तरफ़ बट गया। लेकिन ट्यूडरों के ज़माने में भी भीतर-ही-भीतर आग सुलग रही थी।

एलिज़ाबेथ का ज़माना इंग्लैंड के सबसे ज्यादा चमकदार ज़मानों में गिना जाता है। एलिज़ाबेथ एक महान् रानी थी और उसके समय में इंग्लैंड में कई महान

[1]अंग्रेज़ी में क्वांरी स्त्री को वर्जिन (Virgin) कहते हैं।

कर्मवीर पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी नाइटों से भी बढ़कर थे इस पीढ़ी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपीयर इन सबसे ऊंचा नज़र आता है। इसके नाटक आज वास्तव में सारे संसार में मशहूर हैं, हालांकि इसके खुद के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। यह उस प्रतिभाशाली मंडली में से एक था, जिसने अंग्रेज़ी भाषा के भंडार को बहुत-से बेशकीमती रत्नों से भर दिया है, जो हमारे दिल में खुशी भर देते हैं। एलिज़ाबेथ के ज़माने की छोटी-छोटी गीत-कविताओं में भी एक निराला रस है जो औरों में नहीं पाया जाता। बड़ी सीधी-सादी और मीठी-से-मीठी भाषा मे ये हर्ष से फुदकती चली जाती हैं और दैनिक जीवन की बातें अपने निराले ही ढंग से कहती हैं। इस ज़माने का ज़िक्र करते हुए लिटन स्ट्राची नामक एक अंग्रेज़ समालोचक ने लिखा है कि "एलिज़ाबेथ-काल की इस शानदार मंडली की ज़ोरदार और शानदार भावना ने इंग्लैंड को एक ही चमत्कारी पीढ़ी में नाटकों की ऐसी शानदार विरासत भेंट की है, जो दुनिया में आजतक बेजोड़ है।"

भारत में अकबर महान् की मृत्यु के ठीक दो वर्ष पहले,१६०३ ई० में, एलिज़ाबेथ की मृत्यु हुई। उसके बाद स्कॉटलैंड का मौजूदा बादशाह गद्दी पर बैठा, क्योंकि उत्तराधिकारियों की वंश-परम्परा में वही सबसे नज़दीकी था। वह जेम्स प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा और इस तरह इंग्लैंड और स्कॉटलैंड मिलकर एक राज्य बन गये। जिस चीज़ को इंग्लैंड खून-खराबी से न पा सका वही शान्ति के साथ हो गई। जेम्स प्रथम राजाओंके दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमेण्ट को पसन्द नहीं करता था। वह एलिज़ाबेथ की तरह होशियार भी नहीं था और जल्दी ही पार्लमेण्ट और उसके बीच झगड़ा पैदा हो गया। इसीके राज में इंग्लैंड के बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड़ गये और अमेरिका में बसने के लिए १६२० ई० में 'मेफ्लावर' नामक जहाज़ से रवाना हो गये। वे जेम्स प्रथम के निरंकुश तरीक़ों से सहमत नहीं थे, और इंग्लैंड के नये 'ईसाई-संघ को नापसन्द करते थे, क्योंकि वे उसे कम प्राटेस्टेण्ट समझते थे। इसलिए वे अपने घर और देश को छोड़कर अतलांतिक सागर के पार नई जंगली भूमि के लिए रवाना हो गये। वे उत्तरी किनारे की एक जगह पर उतरे, जिसे उन्होंने न्यू-प्लेमाउथ नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही उपनिवेशी वहां पहुंचे और धीरे-धीरे पूर्वी तट के सहारे-सहारे इन बस्तियों की तादाद बढ़ते-बढ़ते तेरह तक पहुंच गई। अन्त में ये उपनिवेश मिलकर अमेरिका का संयुक्त राज्य बन गये। लेकिन यह तो अभी बहुत आगे की बात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। १६२५ ई० में, इसके गद्दी पर बैठने के बाद, बहुत जल्दी झगड़ा ऊपर आ गया। इसलिए १६२८ ई० में पार्लमेण्ट ने उसको

एक "अधिकारों का प्रार्थनापत्र" पेश किया, जो इंग्लैंड के इतिहास मे एक मशहूर खरीता है। इस प्रार्थनापत्र में कहा गया था कि बादशाह पूरी तरह अपनी मर्ज़ी पर चलनेवाला शासक नहीं है और वह बहुत-सी बातें नही कर सकता। वह ग़ैर-कानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ़्तार करवा सकता है। वह सत्रहवीं सदी में भी वह बातें नहीं कर सकता था, जो आज बीसवी सदी में भारत का अंग्रेज़ वाइसराय कर सकता है—यानी आर्डिनेन्स जारी करना और उनके मातहत लोगों को जेल में डाल देना।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नही, तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमेण्ट को भंग कर दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट बुलानी पड़ी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उस पर लोग बहुत नाराज़ थे और नई पार्लमेण्ट तो उससे लड़ाई मोल लेने का मौक़ा ही ताक रही थी। दो साल बीते भी न थे कि १६४२ ई० में, गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ़ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत-से अमीर-सरदार और फ़ौज का बड़ा हिस्सा था, और दूसरी तरफ़ थी पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लंदन के नागरिक। कई वर्षों तक यह युद्ध खिचता रहा, और अन्त में पार्लमेण्ट की तरफ़ एक महान् नेता, ओलिवर क्रॉमवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा ज़बर्दस्त संगठन करनेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखनेवाला व्यक्ति था। कार्लाइल[1] ने क्रॉमवैल के बारे में लिखा है—"युद्ध के अंधकारमय ख़तरों में, युद्धक्षेत्र की विकट परिस्थितियों में, और उस समय जबकि सब निराश हो जाते थे, उसके भीतर आशा आग के खंभे की तरह चमकती थी।" क्रॉमवैल ने एक नई सेना तैयार की—इसके सिपाहियों को 'लौह शरीर'[2] कहते थे—और उसे अपने खुद के अनुशासन में बंधे जोश से भर दिया। पार्लमेण्ट की फ़ौज के 'प्यूरिटन्स'[3] ने चार्ल्स के 'कैवेलियर्स' (घुड़सवारों) का मुक़ाबला किया। अन्त में क्रॉमवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का क़ैदी हो गया।

---

[1] कार्लाइल अंग्रेजी भाषा का बहुत बड़ा इतिहासकार और निबन्ध-लेखक हो गया है। अपने समय के साहित्यिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारों पर उसका बड़ा भारी प्रभाव था। यह स्कॉटलैंड का रहनेवाला था। इसका समय सन् १७९५ से १८८१ ई० है। इसने 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' (फ्रांस की राज्य-क्रान्ति) नामक मशहूर पुस्तक लिखी है।

[2] Ironsides

[3] इंग्लैण्ड के ईसाई-संघ का एक सुधारक फिरक़ा।

कर्मवीर पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी नाइटों से भी बढ़कर थे इस पीढ़ी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपीयर इन सबसे ऊंचा नज़र आता है। इसके नाटक आज वास्तव में सारे संसार में मशहूर हैं, हालांकि इसके ख़ुद के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। यह उस प्रतिभाशाली मंडली में से एक था, जिसने अंग्रेज़ी भाषा के भंडार को बहुत-से बेशकीमती रत्नों से भर दिया है, जो हमारे दिल में ख़ुशी भर देते हैं। एलिज़ाबेथ के ज़माने की छोटी-छोटी गीत-कविताओं में भी एक निराला रस है जो औरों में नहीं पाया जाता। बड़ी सीधी-सादी और मीठी-से-मीठी भाषा में ये हर्ष से फुदकती चली जाती हैं और दैनिक जीवन की बातें अपने निराले ही ढंग से कहती हैं। इस ज़माने का ज़िक्र करते हुए लिटन स्ट्राची नामक एक अंग्रेज़ समालोचक ने लिखा है कि "एलिज़ाबेथ-काल की इस शानदार मंडली की ज़ोरदार और शानदार भावना ने इंग्लैंड को एक ही चमत्कारी पीढ़ी में नाटकों की ऐसी शानदार विरासत भेंट की है, जो दुनिया में आजतक बेजोड़ है।"

भारत में अकबर महान् की मृत्यु के ठीक दो वर्ष पहले, १६०३ ई० में, एलिज़ाबेथ की मृत्यु हुई। उसके बाद स्कॉटलैंड का मौजूदा बादशाह गद्दी पर बैठा, क्योंकि उत्तराधिकारियों की वंश-परम्परा में वही सबसे नज़दीकी था। वह जेम्स प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा और इस तरह इंग्लैंड और स्कॉटलैंड मिलकर एक राज्य बन गये। जिस चीज़ को इंग्लैंड ख़ून-ख़राबी से न पा सका वही शान्ति के साथ हो गई। जेम्स प्रथम राजाओंके दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमेण्ट को पसन्द नहीं करता था। वह एलिज़ाबेथ की तरह होशियार भी नहीं था और जल्दी ही पार्लमेण्ट और उसके बीच झगड़ा पैदा हो गया। इसीके राज में इंग्लैंड के बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड़ गये और अमेरिका में बसने के लिए १६२० ई० में 'मेफ्लावर' नामक जहाज़ से रवाना हो गये। वे जेम्स प्रथम के निरंकुश तरीक़ों से सहमत नहीं थे, और इंग्लैंड के नये 'ईसाई-संघ को नापसन्द करते थे, क्योंकि वे उसे कम प्राटेस्टेण्ट समझते थे। इसलिए वे अपने घर और देश को छोड़कर अतलांतिक सागर के पार नई जंगली भूमि के लिए रवाना हो गये। वे उत्तरी किनारे की एक जगह पर उतरे, जिसे उन्होंने न्यू-प्लेमाउथ नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही उपनिवेशी वहां पहुंचे और धीरे-धीरे पूर्वी तट के सहारे-सहारे इन बस्तियों की तादाद बढ़ते-बढ़ते तेरह तक पहुंच गई। अन्त में ये उपनिवेश मिलकर अमेरिका का संयुक्त राज्य बन गये। लेकिन यह तो अभी बहुत आगे की बात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। १६२५ ई० में, इसके गद्दी पर बैठने के बाद, बहुत जल्दी झगड़ा ऊपर आ गया। इसलिए १६२८ ई० में पार्लमेण्ट ने उसको

एक "अधिकारों का प्रार्थनापत्र" पेश किया, जो इंग्लैंड के इतिहास मे एक मशहूर खरीता है। इस प्रार्थनापत्र में कहा गया था कि बादशाह पूरी तरह अपनी मर्ज़ी पर चलनेवाला शासक नहीं है और वह बहुत-सी बातें नहीं कर सकता। वह ग़ैर-कानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ़्तार करवा सकता है। वह सत्रहवीं सदी में भी वह बातें नहीं कर सकता था, जो आज बीसवी सदी में भारत का अंग्रेज़ वाइसराय कर सकता है—यानी आर्डिनेन्स जारी करना और उनके मातहत लोगों को जेल में डाल देना।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नही, तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमेण्ट को भंग कर दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट बुलानी पड़ी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उस पर लोग बहुत नाराज़ थे और नई पार्लमेण्ट तो उससे लड़ाई मोल लेने का मौक़ा ही ताक रही थी। दो साल बीते भी न थे कि १६४२ ई० में, गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ़ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत-से अमीर-सरदार और फ़ौज का बड़ा हिस्सा था, और दूसरी तरफ़ थी पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लंदन के नागरिक। कई वर्षों तक यह युद्ध खिचता रहा, और अन्त में पार्लमेण्ट की तरफ़ एक महान् नेता, ओलिवर क्रॉमवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा ज़बर्दस्त संगठन करनेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखनेवाला व्यक्ति था। कार्लाइल[1] ने क्रॉमवैल के बारे में लिखा है—"युद्ध के अंधकारमय खतरों में, युद्धक्षेत्र की विकट परिस्थितियों में, और उस समय जबकि सब निराश हो जाते थे, उसके भीतर आशा आग के खंभे की तरह चमकती थी।" क्रॉमवैल ने एक नई सेना तैयार की—इसके सिपाहियों को 'लौह शरीर'[2] कहते थे—और उसे अपने खुद के अनुशासन में बंधे जोश से भर दिया। पार्लमेण्ट की फ़ौज के 'प्यूरिटन्स'[3] ने चार्ल्स के 'कैवेलियर्स' (घुड़सवारों) का मुक़ाबला किया। अन्त में क्रॉमवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का क़ैदी हो गया।

---

[1] कार्लाइल अंग्रेज़ी भाषा का बहुत बड़ा इतिहासकार और निबन्ध-लेखक हो गया है। अपने समय के साहित्यिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारों पर उसका बड़ा भारी प्रभाव था। यह स्कॉटलैंड का रहनेवाला था। इसका समय सन् १७९५ से १८८१ ई० है। इसने 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' (फ्रांस की राज्य-क्रान्ति) नामक मशहूर पुस्तक लिखी है।

[2] Ironsides

[3] इंग्लैण्ड के ईसाई-संघ का एक सुधारक फिरक़ा।

पार्लमेण्ट के बहुत-से सदस्य अब भी बादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवैल की नई सेना इस बात को सुनना भी नहीं चाहती थी और इस सेना के एक अफ़सर कर्नल प्राइड ने बेधड़क पार्लमेण्ट-भवन में घुसकर ऐसे सदस्यों को निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफ़ाई कहा जाता है। यह उपाय बड़ा सख्त था और वह पार्लमेण्ट का गौरव बढ़ानेवाला नहीं था। अगर पार्लमेण्ट ने बादशाह की निरंकुशता का विरोध किया तो यहां अब ख़ुद उसीकी सेना ऐसी शक्ति बन गई, जो उनके क़ानूनों की कुछ परवाह नहीं करती थी। क्रान्तियों का यही ढंग हुआ करता है।

कॉमन्स सभा के बचे हुए सदस्यों ने—जिन्हें 'रम्प[1] पार्लमेण्ट' का नाम दिया गया था—लार्ड सभा के विरोध करने पर भी चार्ल्स पर मुक़दमा चलाने का फ़ैसला कर लिया और उसे "ज़ालिम, देश-द्रोही, हत्यारा और देश का शत्रु" घोषित करके मौत की सज़ा दे दी। १६४७ ई० में इस आदमी का, जो उनका बादशाह रह चुका था और शासन करने के अपने दैवी अधिकार की बात करता था, लंदन के 'व्हाइट हॉल' में सिर उड़ा दिया गया।

बादशाह भी साधारण मनुष्यों की तरह ही मरते हैं। इतिहास बतलाता है कि वास्तव में इनमें से बहुतों की मौत हत्या से ही हुई है। निरंकुशता और बादशाहत गुप्त-हत्या और हत्या को जन्म देते हैं और इंग्लैण्ड के बादशाहों ने अबतक काफ़ी गुप्त-हत्याएं करवाई थीं। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने-आपको अदालत बना लेने की गुस्ताखी करना, बादशाह पर मुकदमा चलाना, उसे मौत की सज़ा देना और फिर उसका सिर उड़वा देना, एक बिल्कुल नई और हैरत में डालनेवाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अंग्रेज़ों ने, जो हमेशा से रूढ़िवादी और जल्दी परिवर्तन के विरोधी रहे हैं, इस तरह से यह मिसाल पेश कर दी कि एक ज़ालिम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा बर्ताव किया जाना चाहिए। लेकिन यह काम सारी अंग्रेज़ जाति का नहीं समझना चाहिए, जितना कि क्रॉमवैल के अनुयायी 'लौह-शरीरों' का।

इस घटना से यूरोप के बादशाहों, सीज़रों, राजाओं और राजाओं के छुटभइयों के दिल दहल गये। अगर आम लोग इतने गुस्ताख हो जायं और इंग्लैंड की मिसाल पर चलने लगें तो उनका क्या हाल होगा! अगर बस चलता तो इनमें से कितने ही इंग्लैंड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इंग्लैंड की बागडोर उन दिनों किसी निकम्मे बादशाह के हाथों में न थी। पहली बार इंग्लैंड एक गणराज्य बना था और उसकी रक्षा करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी सेना तैयार थी। क्रॉमवैल क़रीब-क़रीब तानाशाह (डिक्टेटर) था। वह 'लार्ड प्रोटैक्टर',

---

[1] बची-खुची।

यानी रक्षक सरदार कहलाता था। उसके कड़े और कुशल शासन में इंग्लैंड का बल बढ़ने लगा और उसके जहाज़ी बेड़ों ने हॉलैण्ड, फ़ान्स और स्पेन के बेड़ों को मार भगाया। पहली ही बार इंग्लैंड यूरोप की प्रधान समुद्री-शक्ति बन गया।

लेकिन इंग्लैंड का यह गणराज्य ज़्यादा दिन नहीं टिका। चार्ल्स प्रथम की मौत के बाद ग्यारह वर्ष भी न बीतने पाये कि १६५८ ई० में क्रॉमवैल की मृत्यु हो गई और दो वर्ष बाद गणराज्य का भी अन्त हो गया। चार्ल्स प्रथम का पुत्र, जिसने भागकर विदेशों में शरण ली थी, इंग्लैंड लौट आया। उसका स्वागत किया गया और चार्ल्स द्वितीय के नाम से उसे गद्दी पर बिठाया गया। यह दूसरा चार्ल्स एक कमीना और बदनाम व्यक्ति था और बादशाहत को वह सिर्फ़ मौज उड़ाने का साधन समझता था। लेकिन वह चतुर इतना था कि पार्लमेण्ट का ज़्यादा विरोध नहीं करता था। सच तो यह है कि उसे फ़ान्स के बादशाह से चोरी-छिपे धन मिलता था। क्रॉमवैल के समय में इंग्लैंड ने यूरोप में जो पद हासिल किया था, वह जाता रहा। यहांतक कि हॉलैण्ड का जहाज़ी-बेड़ा टेम्स नदी में घुसकर अंग्रेज़ी बेड़े को आग लगा गया।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसने फ़ौरन ही पार्लमेण्ट से झगड़ा ठान लिया। जेम्स दीनदार कैथलिक था और पोप की प्रभुता को इंग्लैण्ड में फिर से क़ायम करना चाहता था। लेकिन मज़हब के बारे में अंग्रेज़ लोगों के विचार चाहे जैसे रहे हों—और ये विचार काफ़ी धुंधले भी थे, लेकिन ज्यादातर लोग पोप और पोपलीला से बिल्कुल चिढ़े हुए थे। इस व्यापक भावना के ख़िलाफ़ जेम्स कुछ भी न कर सका। उलटे पार्लमेण्ट की नाराज़गी मोल लेने पर उसे जान बचाने के लिए फ़्रान्स भाग जाना पड़ा।

एक बार फिर पार्लमेण्ट ने बादशाह पर विजय पाई, लेकिन इस बार बिल-कुल शान्ति के साथ और बिना गृह-युद्ध के। देश बिना बादशाह का हो गया था। लेकिन अब इंग्लैण्ड दुबारा गणराज्य होनेवाला नहीं था। कहा जाता है कि अंग्रेज़ अपने ऊपर एक सरदार चाहता है। इससे भी ज़्यादा वह शाही शान-शौक़त और तड़क-भड़क से प्रेम करता है। इसलिए पार्लमेण्ट को एक नये बादशाह की तलाश हुई और वह उसे उस ऑरेंज राजवंश में मिल गया, जिसने, सौ वर्ष पहले, स्पेन के ख़िलाफ़ निदरलैण्ड्स की महान लड़ाई का नेतृत्व करने के लिए 'विलियम दि साइ-लैण्ट' दिया था। इस वक़्त ऑरेंज का शाहज़ादा एक दूसरा विलियम था, जिसने इंग्लैण्ड के राजवंश की मेरी से विवाह किया था। बस, विलियम और मेरी १६८८ ई० में इंग्लैण्ड के जुड़वां नरेश बना दिये गए। अब पार्लमेण्ट सर्वोपरि थी और पार्ल-मेण्ट में भेजे हुए प्रतिनिधियों के ज़रिये जनता के हाथ में अधिकार देनेवाली इंग्लैण्ड की राज्यक्रान्ति पूरी हो चुकी थी। उस दिन से आजतक किसी भी ब्रिटिश बादशाह

या बेगम की यह हिम्मत नहीं हुई है कि पार्लमेण्ट की सत्ता को चुनौती दे। लेकिन सीधे तौर पर विरोध करने या चुनौती देने के अलावा भी साज़िशें करने और असर डालने के सैकड़ों तरीक़े हो सकते हैं, और कई अंग्रेज़ बादशाहों ने इन उपायों का सहारा लिया है।

पार्लमेण्ट सर्वोपरि बन चुकी थी। लेकिन यह पार्लमेण्ट थी क्या? यह ख़याल न करना कि वह इंग्लैण्ड की जनता की प्रतिनिधि थी। वह तो उसके एक छोटे-से हिस्से की प्रतिनिधि थी। जैसा कि उसके नाम से ज़ाहिर होता है। लार्ड सभा तो लार्डों या बड़े-बड़े ज़मींदारों और पादरियों की प्रतिनिधि थी। कॉमन्स सभा भी ऐसे धनवान लोगों की सभा थी जोकि या तो ज़मीन-ज़ायदादों के मालिक थे या बड़े-बड़े व्यापारी। वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को था। आज से सौ वर्ष पहले तक इंग्लैण्ड में कितने ही 'जेबी निर्वाचन क्षेत्र' थे, यानी ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र जो वास्तव में कुछ लोगों की जेबों में ही रहते थे। सारे निर्वाचन-क्षेत्र में सदस्य को चुननेवाले सिर्फ़ एक या दो ही वोटर होते थे! कहा जाता है कि १७९३ ई० में कॉमन्स सभा के ३०६ मेम्बरों का चुनाव सिर्फ़ १६० व्यक्तियों ने किया था। ओल्डसारम नामक एक छोटे-से गांव से दो सदस्य पार्लमेण्ट में भेजे जाते थे। इससे तुमको पता लगेगा कि ज़्यादातर जनता को वोट देने का अधिकार न था और पार्लमेण्ट में उनका कोई प्रतिनिधि नहीं था। कॉमन्स सभा लोक-सभा होने का कोई दावा नहीं कर सकती थी। वह उन नये मध्यम वर्गों की भी प्रतिनिधि नहीं थी, जो नगरों में पैदा हो रहे थे। वह तो सिर्फ़ ज़मींदार वर्ग और कुछ धनी व्यापारियों की प्रतिनिधि थी। पार्लमेण्ट की सीटें बाक़ायदा बेची और ख़रीदी जाती थीं और रिश्वतख़ोरी का बाज़ार ख़ूब गर्म था। ये सब बातें सौ वर्ष पहले, यानी ठेठ १८३२ ई० तक होती थीं, जबकि बहुत आन्दोलन के बाद एक शासन-सुधार क़ानून पास हुआ और कुछ ज़्यादा लोगों को वोट देने का अधिकार मिला।

हम देखते हैं कि बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय का मतलब था मुट्ठी-भर धनवानों की विजय। असल में इंग्लैण्ड पर शासन करनेवाले यही मुट्ठी-भर ज़मींदार थे, जिनमें इक्के-दुक्के व्यापारी भी शामिल थे। बाक़ी के तमाम वर्गों का, जिनसे कि लगभग सारा राष्ट्र बना हुआ था, इसमें कोई भी हाथ नहीं था।

इसी तरह तुम्हें याद होगा कि स्पेन से बड़ी लड़ाई के बाद हॉलैण्ड का जो गणराज्य बना, वह भी धनवानों का ही गणराज्य था।

विलियम और मेरी के बाद मेरी की बहिन इंग्लैण्ड की महारानी हुई। १७१४ ई० में जब इसकी मृत्यु हुई कि तो यह दिक़्क़त फिर हुई आगे कौन बादशाह बनाया जाय। आख़िरकार पार्लमेण्ट को बादशाह चुनने के लिए जर्मनी जाना पड़ा। उन्होंने एक जर्मन को चुना, जो उस वक़्त हैनोवर का शासक था, और उसे इंग्लैण्ड

का जार्ज प्रथम बना दिया। शायद पार्लमेण्ट ने उसे इसलिए चुना कि वह भोंदू था और ज़रा भी चतुर न था, और एक बवक़ूफ़ बादशाह रखने में कम ख़तरा था बनिस्बत एक ऐसे चतुर बादशाह के, जो पार्लमेण्ट के कामों में टांग अड़ावे। जार्ज प्रथम अंग्रेज़ी तक न बोल सकता था; इंग्लैण्ड का बादशाह अंग्रेज़ी भाषा नहीं जानता था। उसका पुत्र भी, जो जार्ज द्वितीय हुआ, वह भी अंग्रेज़ी नहीं जानता था। इस तरह इंग्लैण्ड में 'हैनोवर का राजघराना' या हैनोवर राजवंश क़ायम हुआ, जो आजतक वहां राज कर रहा है।[1] इसे राज्य करना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि राज्य और शासन तो पार्लमेण्ट करती है।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच बहुत रगड़े-झगड़े हुए। आयर्लैण्ड की जीतने की कोशिशें और बग़ावतें और हत्याएं, एलिज़ाबेथ और जेम्स प्रथम के शासन-काल मे बराबर होती रहीं। आयर्लैण्ड के उत्तर में, अल्स्टर में जेम्स ने बहुत-सी ज़मीन-जायदाद ज़ब्त कर ली और स्कॉट-लैण्ड से प्रोटेस्टेण्टों को लाकर उस क्षेत्र में बसा दिया। तबसे ये प्रोटेस्टेण्ट उपनिवेशी वहीं रह रहे हैं और आयर्लैण्ड के दो टुकड़े हो गये हैं; आयरवासी और स्कॉटलैण्ड के उपनिवेशी या रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। दोनों के बीच में बड़ी कट्टर दुश्मनी रही है और इंग्लैण्ड ने तो इस फूट से फ़ायदा उठाया ही है। राज करनेवाले हमेशा से ही फूट डालकर शासन करने की नीति में विश्वास रखते हैं। आजकल भी आयर्लैण्ड के सामने सबसे बड़ी समस्या अल्स्टर की है।

इंग्लैण्ड के गृह-युद्ध के ज़माने में आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ों की बहुत हत्याएं हुईं। क्रॉमवैल ने बेरहमी के साथ इसका बदला आयरवासियों की हत्याएं करके निकाला। इस बात को आयरवासी आज तक बड़ी दुश्मनी के साथ याद करते हैं। इसके बाद और लड़ाइयां हुईं, समझौते हुए, सन्धियां हुईं, और अंग्रेज़ों ने इन्हें तोड़ भी डाला। आयर्लैण्ड की तड़प का यह इतिहास बड़ा लम्बा और दुखभरा है।

यह जानकर तुम्हें शायद दिलचस्पी होगी कि गुलिवर्स ट्रैवल्स[2] का लेखक जोनाथन स्विफ़्ट इसी ज़माने में, यानी १६६७ से १७४५ ई० में, हुआ था। इस मशहूर पुस्तक का बाल-साहित्य में बड़ा ऊंचा स्थान है, लेकिन वास्तव में वह

---

[1] सन् १९३९-४५ के दूसरे महायुद्ध में हैनोवर राजवंश का नाम बदलकर विन्डसर राजवंश रख दिया गया।

[2] 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' में डाक्टर गुलिवर की यात्राओं का बड़ा दिलचस्प बयान है। एक बार वह एक-एक इंच के मनुष्यों के देश में जा पहुंचा और दूसरी बार ५०-६० फुट लम्बे मनुष्यों के देश में।

उस ज़माने के इंग्लैण्ड पर एक तीखा व्यंग है। 'रॉबिन्सन क्रूसो'[१] का लेखक डेनियल डेफो भी स्विफ़्ट का समकालीन था।

: ८८ :

## बाबर

३ सितम्बर, १९३२

अब ज़रा भारत की तरफ़ लौट चलें। हमने यूरोप को काफ़ी समय दिया है और कई पत्रों में, उथल-पुथल, लड़ाई-झगड़ों और युद्धों की गहराई को जानने की और सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में वहां क्या हो रहा था, यह समझने की कोशिश की है। मैं नहीं जानता कि यूरोप के इस ज़माने के बारे में तुम्हारे क्या विचार हुए होंगे। तुम्हारे ख़याल चाहे जो कुछ हों, पर वे ज़रूर बहुत खिचड़ी होंगे, और इसमें ताज्जुब की भी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय यूरोप एक बड़ा अजीब और झमेलों से भरा देश था। लगातार और वहशियाना लड़ाइयां, मज़हबी कट्टरपन और अत्याचार, जिसकी मिसाल इतिहास में दूसरी जगह मिलनी मुश्किल है, बादशाहों की निरंकुशता और 'दैवी अधिकार', गिरा हुआ धनिक-वर्ग, और जनता का शर्मनाक शोषण। चीन इससे सदियों आगे बढ़ा हुआ मालूम होता था—वह एक सुसंस्कृत, कलाप्रिय , उदार और क़रीब-क़रीब अमन-चैन वाला देश था। फूट और गिरावट होते हुए भी भारत बहुत-सी बातों में चीन की बराबरी का दावा कर सकता था।

लेकिन इंग्लैण्ड का भी एक दूसरा और ख़ुशनुमा पहलू दिखाई पड़ रहा था। आधुनिक विज्ञान की शुरुआत नज़र आ रही थी और जनता की आज़ादी की भावना ज़ोर पकड़कर बादशाही सिंहासनों को डावांडोल कर रही थी। इनकी सतह के नीचे और इनकी व बहुत-सी दूसरी हलचलों की वजह थी पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के यूरोपीय देशों में व्यापार व उद्योगों का विकास। बड़े-बड़े शहर बस रहे थे, जो दूर देशों से व्यापार करनेवाले सौदागरों से भरे थे और कारीगरों की उद्योगों की हलचलों से गूंज रहे थे। सारे पश्चिमी यूरोप में 'शिल्प-संघ' यानी शिल्पकारों और कारीगरों के संघ बन रहे थे। ये ही व्यापारी और औद्योगिक वर्ग 'बुर्जुआ' यानी नया मध्यमवर्ग कहलाये। यह वर्ग बढ़ा तो सही, लेकिन इसके रास्ते में बहुत-सी राजनैतिक, सामाजी और मज़हबी रुकावटें आईं। राजनैतिक और

---

[१] 'राबिन्सन क्रूसो' अंग्रेज़ी की एक बड़ी मशहूर और दिलचस्प किताब है। इसमें एक मल्लाह की कहानी है, जिसने लगभग बीस वर्ष अकेले ही एक टापू पर बिताये थे और अपने लिए सब तरह की सहूलियतें इकट्ठा कर ली थीं।

समाजी व्यवस्था में सामन्तशाही के निशान अब भी बाक़ी थे। यह प्रथा बीते हुए युग की थी। वह इस ज़माने से मेल नहीं खाती थी और व्यापार और उद्योग में रुकावट भी डालती थी। सामन्त-सरदार तरह-तरह के टोल और टैक्स वसूल करते थे, जिनसे व्यापारी-वर्ग को झुंझलाहट पैदा होती थी। इसलिए मध्यमवर्ग ने सामन्ती-वर्ग से सत्ता छीनने की कोशिश शुरू की। बादशाह भी इन सामन्ती अमीर-सरदारों से नाराज़ था, क्योंकि ये लोग उसके अधिकारों में भी दखल देना चाहते थे। इसलिए इन सामन्ती-सरदारों के ख़िलाफ़ बादशाह और मध्यमवर्ग दोनों मिलकर एक हो गये और इन्होंने उनके असली दबदबे को मिटा दिया। नतीजा यह हुआ कि बादशाह और भी ज़्यादा शक्तिशाली और निरंकुश हो गया।

इसी तरह यह भी महसूस किया गया कि उन दिनों पश्चिमी यूरोप का मज़हबी संगठन और चालू मज़हबी विचार व व्यापार करने के ढंग भी व्यापार और उद्योग की तरक़्क़ी में रुकावट डाल रहे थे। खुद मज़हब भी बहुत-सी बातों में सामन्तशाही से जुड़ा हुआ था और, जैसाकि मैं तुमको बतला चुका हूं, ईसाई-संघ सबसे बड़ा सामन्ती ज़मींदार था। पिछले बहुत वर्षों से कितने ही व्यक्ति और गिरोह रोमन ईसाई-संघ की आलोचना करने और उसकी सत्ता को चुनौती देने के लिए पैदा होते रहे थे। लेकिन वे कुछ ज़्यादा परिवर्तन न ला सके। मगर अब सारा बढ़ता हुआ मध्यमवर्ग परिवर्तन चाहता था, इसलिए सुधार का आन्दोलन बड़ा ज़बर्दस्त बन गया।

ये सब परिवर्तन, और इनके अलावा कितने ही दूसरे परिवर्तन, जिनपर हम पहले एक साथ विचार कर चुके हैं, उस क्रान्ति के अलग-अलग पहलू और रुख थे, जिसने मध्यमवर्ग को सामने ला दिया। पश्चिमी यूरोप के सब देशों में करीब-क़रीब यही प्रक्रिया हुई होगी, लेकिन अलग-अलग देशों में वह अलग-अलग समय में हुई। इस समय और इसके बहुत दिन बाद तक भी, उद्योगों के लिहाज़ से पूर्वी यूरोप बहुत पिछड़ा हुआ था। इसलिए वहां कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

चीन और भारत में भी शिल्प-संघ थे और शिल्पकारों और कारीगरों की एक बड़ी भारी संख्या थी। उद्योग-धंधे यूरोप के मुकाबले में ही और बहुत-कुछ उससे भी ज़्यादा आगे बढ़े हुए थे। लेकिन अभी यहां विज्ञान का उतना विकास नहीं था जितना यूरोप में था और न यहां जनता की आज़ादी की यूरोप-जैसी उमंग थी। दोनों देशों में मज़हबी आज़ादी और नगरों, गांवों और संघों में मुक़ामी आज़ादी की पुरानी परम्पराएं चली आ रही थीं। बादशाह की शक्ति और निरंकुशता की लोगों को ज़रा भी परवाह न थी जबतक कि उनके मुक़ामी मामलों में दखल न दिया जाता हो। दोनों देशों ने एक समाजी संगठन बना लिया था, जो बहुत दिनों से टिका हुआ था और जो यूरोप के ऐसे किसी भी संगठन से ज़्यादा टिकाऊ

था। शायद इस संगठन के टिकाऊपन और मज़बूती ने ही विकास को रोक रक्खा था। हमने देखा है कि भारत में फूट और गिरावट का नतीजा अन्त में यह हुआ कि उत्तरी भाग पर मुग़ल बाबर ने क़ब्ज़ा कर लिया। मालूम होता है कि लोग आज़ादी के प्राचीन आर्य विचारों को बिल्कुल भूल गये थे और उनमें ताबेदारी की और किसी भी शासक की अधीनता क़बूल करने की आदत हो गई थी।[१] यहां तक कि देश में एक नई चेतना लेकर आनेवाले मुसलमान भी औरों की ही तरह पतित और खुशामदी हो गये।

इस तरह ताज़गी और क्रियाशक्ति के उन गुणों से भरा हुआ यूरोप, जिनकी पूर्वी दुनिया की पुरानी सभ्यताओं में कमी दिखाई देती थी, धीरे-धीरे इनसे आगे बढ़ता जा रहा था। उसके निवासी संसार के कोने-कोने में फैल रहे थे। व्यापार और धन के लालच ने उसके जहाज़ियों को अमेरिका और एशिया की ओर खींच लिया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में पुर्तगालियों ने मलक्का के अरब साम्राज्य का अन्त कर दिया था। उन्होंने भारत के किनारे-किनारे और पूर्वी समुद्रों में सब जगह अपनी चौकियां बना ली थीं। लेकिन जल्द ही मसाला-व्यापार पर उनके क़ब्ज़े को हॉलैण्ड, और इंग्लैण्ड इन दो नई शक्तियों ने चुनौती देना शुरू कर दिया। पुर्तगाली पूर्व से खदेड़ दिये गए और उनका पूर्वी साम्राज्य और व्यापार नष्ट हो गया। कुछ हद तक हॉलैण्ड ने पुर्तगाल की जगह ले ली और बहुत-से टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया। १६०० ई० में महारानी एलिज़ाबेथ ने लंदन के व्यापारियों की एक कम्पनी, 'ईस्ट इंडिया कम्पनी,' को भारत में तिजारत करने का फ़रमान दिया और दो साल बाद 'डच ईस्ट इंडियन कम्पनी' बनी। इस तरह यूरोप का एशिया को हड़पने का ज़माना शुरू होता है। बहुत दिनों तक तो यह मलाया और पूर्वी टापुओं तक ही सीमित रहा। मिंग राजाओं और सत्रहवीं सदी के बीच में आनेवाले मंचुओं के राज में चीन यूरोप के लिए बहुत बलवान था। जापान तो इतना आगे बढ़ गया कि उसने १६४१ ई० में सब विदेशियों को बाहर निकाल दिया और अपने देश को बाहरवालों के लिए बिल्कुल बन्द कर दिया। और भारत में क्या हुआ ? भारत की कहानी को हम बहुत पीछे छोड़ आये हैं, इसलिए अब इस कमी को पूरा करना चाहिए। जैसा कि हम देखेंगे, नये मुग़ल राजवंश के अधीन भारत एक शक्तिशाली राजाशाही बन गया था, और यूरोप के हमले का ज़रा भी खतरा या मौक़ा न था। लेकिन समुद्रों पर यूरोप का क़ब्ज़ा पहले ही हो चुका था।

इसलिए अब हम भारत की तरफ़ वापस आते हैं। यूरोप, चीन, जापान और मलेशिया में हम सत्रहवीं सदी के अन्त तक आ पहुंचे हैं, और अठारहवीं सदी

---

[१] **कोउ नृप होउ हमहि का हानी**
**चेरि छाड़ि अब होब कि रानी—तुलसीदास**

के किनारे पर हैं। लेकिन भारत में अभी तक हम सोलहवीं सदी के शुरू में ही हैं, जबकि बाबर यहां आया था।

१५२६ ई० में दिल्ली के बोदे और टुच्चे अफ़ग़ान सुलतान पर बाबर की विजय से भारत में एक नया एतिहासिक ज़माना और नया साम्राज्य—मुग़ल साम्राज्य शुरू होता है। बीच में थोड़े समय को छोड़कर यह १५२६ से १७०७ ई० तक, यानी १८१ वर्ष तक, रहा। ये वर्ष उसकी शक्ति और शान के थे, जबकि भारत के महान मुग़ल की कीर्त्ति सारे एशिया और यूरोप में फैल गई थी। इस राजवंश के छः बड़े शासक हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया और मराठों, सिखों, वग़ैरा ने उसमें से रियासतें बांट लीं। इनके बाद अंग्रेज़ आये, जिन्होंने केन्द्रीय सत्ता की टूट-फूट और देश में फैली हुई गड़बड़ से फ़ायदा उठाकर धीरे-धीरे अपनी हुकूमत जमा ली।

मैं बाबर के बारे में पहले ही कुछ कह चुका हूं। चंगेज़खां और तैमूर के वंश का होने की वजह से इसमें कुछ-कुछ उनका बड़प्पन और सैनिक योग्यता थे। लेकिन चंगेज़ के ज़माने से अबतक मंगोल बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा सुसंस्कृत और ख़ुशदिल व्यक्ति उस ज़माने में मिलना मुश्किल था। उसमें फिरका-परस्ती बिल्कुल न थी, न मज़हबी कट्टरपन था, और न उसने अपने पुरखों की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और खुद भी फ़ारसी का कवि था। वह फूलों और बागों से प्यार करता था और भारत की गर्मी में उसे अक्सर अपने देश मध्य एशिया की याद आ जाती थी। अपने संस्मरणों में उसने लिखा है—"फ़रग़ना में बनफ़शा के फूल बड़े प्यारे होते हैं; वहां तो गुलेलाला और गुलाब के ढेर हैं।"

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरक़न्द का शासक हुआ तब वह सिर्फ़ ग्यारह वर्ष का बच्चा था। यह काम आसान न था। उसके चारों तरफ़ दुश्मन थे। इसलिए जिस उम्र में छोटे लड़के और लड़कियां स्कूल जाते हैं, उस उम्र में उसे तलवार लेकर लड़ाई के मैदान में जाना पड़ा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे जीत लिया और अपनी तूफ़ानी ज़िन्दगी में उसे बहुत ख़तरों का सामना करना पड़ा। इसपर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। महत्वाकांक्षा उसे आगे हांकती रही। काबुल को जीतकर वह सिंध नदी पार करके भारत में आया। उसके साथ फ़ौज तो थोड़ी-सी थी, लेकिन उसके पास नई तोपें थीं, जो उन दिनों यूरोप और पश्चिमी एशिया में काम में लाई जा रही थीं। अफ़ग़ानों की जो बड़ी भारी फ़ौज उससे लड़ने आई वह इस छोटी-सी लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फौज और उसकी तोपों के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतों का अन्त नहीं हुआ और कितनी

ही बार उसके भाग्य का पलड़ा डांवाडोल हो गया था। एक बार जब वह बहुत खतरे में था तो उसके सेनापतियों ने उसे उत्तर की ओर वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह बड़ा जीवटवाला था और उसने कहा कि पीछे हटने से तो वह मौत का सामना करना अच्छा समझता है। शराब का प्याला उसे बहुत प्यारा था। लेकिन अपनी ज़िन्दगी में इस संकट के समय उसने शराब छोड़ देने का फैसला किया और अपने सब प्याले तोड़ डाले। संयोग से वह जीत गया और उसने शराब छोड़ने की अपनी क़सम को अन्त तक निभाया।

बाबर को भारत में आये चार वर्ष भी न बीते थे कि उसकी मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लड़ाई-झगड़ों में ही बीते और उसे ज़रा भी आराम न मिला। वह भारत के लिए एक अजनबी ही रहा और यहां के बारे में कुछ न जान सका। आगरे में उसने एक शानदार राजधानी की नींव डाली और क़ुस्तुन्तुनिया से एक मशहूर इमारत बनानेवाले को बुलाया। यह वह समय था जब शानदार सुलेमान क़ुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनवा रहा था। सीनन एक मशहूर उस्मानी शिल्पकार था। उसने अपने प्रिय शिष्य यूसुफ़ को भारत भेजा।

बाबर ने अपनी ज़िन्दगी की यादें लिखी हैं और इस मज़ेदार पुस्तक में इस व्यक्ति की गहरी झलकियां मिलती हैं। उसने भारत का और उसके जानवरों, फूलों, पेड़ों, फलों का वर्णन किया है, यहांतक कि मेढ़कों को भी नहीं छोड़ा है! वह अपने वतन के खरबूज़ों, अंगूरों और फूलों के लिए तरसता है। भारतवासियों के बारे में हद दर्जे की निराशा ज़ाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक़ तो उनके पक्ष में एक भी अच्छी बात नहीं है। शायद चार वर्षों तक लड़ाइयों में फंसे रहने की वजह से वह भारतवासियों को पहचान न सका और सुसंस्कृत वर्गों के लोग इस नये विजेता से दूर-दूर भी रहे। शायद एक नया आनेवाला दूसरे देश के निवासियों के जीवन, और उनकी सभ्यता में आसानी से घुलमिल नहीं सकता। कुछ भी हो, उसे न तो अफ़ग़ानों में—जो कुछ दिनों से भारत में राज कर रहे थे और न ज्यादातर भारतवासियों में ही कोई तारीफ़ की चीज़ नज़र आई। वह हर बात पर अच्छी तरह ग़ौर करनेवाला था और एक विदेशी की तरफ़दारी का ख़याल रखते हुए भी उसके बयानों से मालूम होता है कि उत्तर भारत की हालत उस वक़्त बहुत ख़राब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ बिल्कुल नहीं गया।

बाबर ने लिखा है—"हिन्दुस्तान का साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौड़ा, घना बसा हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की भी सीमाओं पर समुद्र है। उसके उत्तर में काबुल, ग़ज़नी और कन्धार हैं। सारे हिन्दुस्तान की राजधानी दिल्ली है।" यह बात ध्यान में रखने लायक़ है कि बाबर सारे भारत को एक देश

समझता था, हालांकि जब वह यहां आया था तब देश कई रियासतों में बंटा हुआ था। भारत की एकता की यह भावना इतिहास में शुरू से चली आ रही है।

भारत का विवरण देते हुए बाबर लिखता है:

"यह एक निराला और नफ़ीस मुल्क है। हमारे मुल्कों के मुक़ाबले में यह एक अलग ही दुनिया है। इसके पहाड़ और नदियां, इसके जंगल और मैदान, इसके जानवर और पौधे, इसके निवासी और उनकी भाषा, इसकी हवाएं और बरसातें, सब अलग ही तरह के हैं . . . सिंध को पार करते ही जो ज़मीन, पेड़, पत्थर, घुमक्कड़ क़बीले, और लोगों के ढंग और रस्म-रिवाज, दिखलाई पड़ते हैं वे ठेठ हिन्दुस्तान के ही हैं। यहांतक कि यहां के सांप भी दूसरी तरह के हैं। . . . हिन्दुस्तान के मेंढक ग़ौर करने लायक़ हैं। हालांकि ये उसी क़िस्म के हैं, जिस क़िस्म के हमारे यहां होते हैं, लेकिन ये पानी की सतह पर छः-सात गज़ तक दौड़ सकते हैं।"

इसके बाद वह भारत के जानवरों, फूलों, पेड़ों और फलों की एक सूची देता है। और फिर यहां के रहनेवालों का जिक्र करता है:

"मुल्क हिन्दुस्तान में आनन्द के कोई ऐसे साधन नहीं हैं, जिनके लिए इसकी तारीफ़ की जाय। यहां के निवासी सुरूप नहीं हैं। उन्हें मित्र-मंडली के आनन्द का, या दिल खोलकर एक दूसरे से मिलने का, या आपसी घरू बर्ताव का कुछ भी ज्ञान नहीं है। उनमें न तो प्रतिभा है, न दिमाग़ की सूझ-बूझ, न शिष्टाचार की नम्रता, न दया या सहानुभूति, न दस्तकारी के कामों की योजना बनाने और उनपर अमल करने की मौलिकता या यान्त्रिक आविष्कार-बुद्धि, न नक़शे और इमारतें बनाने का हुनर या ज्ञान। उनके यहां न तो अच्छे घोड़े हैं, न अच्छा मांस, न अंगूर और न ख़रबूज़े, न अच्छे फल, न बर्फ़, न ठंडा पानी, न बाज़ारों में अच्छा खाना और रोटी, न हम्माम, न मदरसे, न मोमबत्तियां, न मशालें, यहांतक कि शमादान भी नहीं हैं।"

इसपर यह पूछने को तबीयत हो उठती है कि आख़िर उनके यहां है क्या? मालूम होता है बाबर ने ये बातें उस वक़्त लिखी होंगी जब वह शायद बिल्कुल ऊब चुका होगा। बाबर आगे कहता है—

"हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि वह बहुत बड़ा मुल्क है और यहां सोना और चांदी बरसते हैं। . . . भारत में एक सुभीता यह भी है कि यहां हर पेशे और व्यापार के काम करनेवालों

की संख्या इतनी ज्यादा है कि उसका कोई अन्त ही नहीं। किसी काम या धंधे के लिए जब चाहो तब एक जमात तैयार है, जिनके यहां वही काम-धंधा युगों से, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है।"

बाबर की यादियों से मैंने कुछ लम्बे बयान यहां नक़ल किये हैं। ऐसी पुस्तकों से हमको किसी व्यक्ति का जितना ज्यादा अंदाज़ होता है, उतना उसके बारे में किसी बयान से नहीं।

१५३० ई० में ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे में एक मशहूर किस्सा है। उसका पुत्र हुमायूं बीमार पड़ा, और कहते हैं कि उसके प्रेम में बाबर ख़ुद अपना जीवन भेंट चढ़ाने के लिए तैयार हो गया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते हैं कि हुमायूं अच्छा हो गया और इस घटना के कुछ ही दिन बाद बाबर की मृत्यु हो गई।

बाबर की लाश को लोग काबुल ले गये और वहां उसी बाग में उसे दफ़नाया, जो बाबर को बहुत पसंद था। जिन फूलों के लिए वह तरसता था, अन्त में वह उन्हीं के पास चला गया।

## : ८९ :

## अकबर

४ सितम्बर, १९३२

अपनी सिपहसालारी और सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर भारत का बहुत-सा भाग जीत लिया था। उसने दिल्ली के अफ़ग़ान सुलतान को हरा दिया और बाद में इतिहास के एक मशहूर वीर, चित्तौड़ के रण-बांकुरे राणा सांगा, की नेतागिरी में लड़नेवाले राजपूतों को हराया, जो ज्यादा मुश्किल काम था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायूं के लिए छोड़ गया। हुमायूं बहुत सुसंस्कृत और विद्वान था, लेकिन अपने पिता की तरह सिपाही न था। उसके नये साम्राज्य में सब जगह गड़बड़ फैल गई और आखिर १५४० ई० में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, बिहार के शेरखां नामक अफ़ग़ान सरदार ने उसे हराकर भारत से बाहर निकाल दिया। इस तरह यह दूसरा महान मुग़ल इधर-उधर छिपता हुआ और बड़ी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी भाग-दौड़ की हालत में, राजपूताना के रेगिस्तान में, नवम्बर १५४२ ई० में, उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। रेगिस्तान में पैदा हुआ यह पुत्र आगे जाकर अकबर के नाम से मशहूर हुआ।

हुमायूं भागकर ईरान पहुंचा और वहां के बादशाह शाह तहमास्प ने उसे

## अकबर का साम्राज्य

काबुल
सिंधु नदी
दिल्ली
गंगा नदी
आगरा
पटना
इलाहाबाद
गुजरात
दिव
दमन
गोदावरी नदी
पुर्तगाली अधिकृत प्रदेश
गोवा
कालीकट
कोचीन
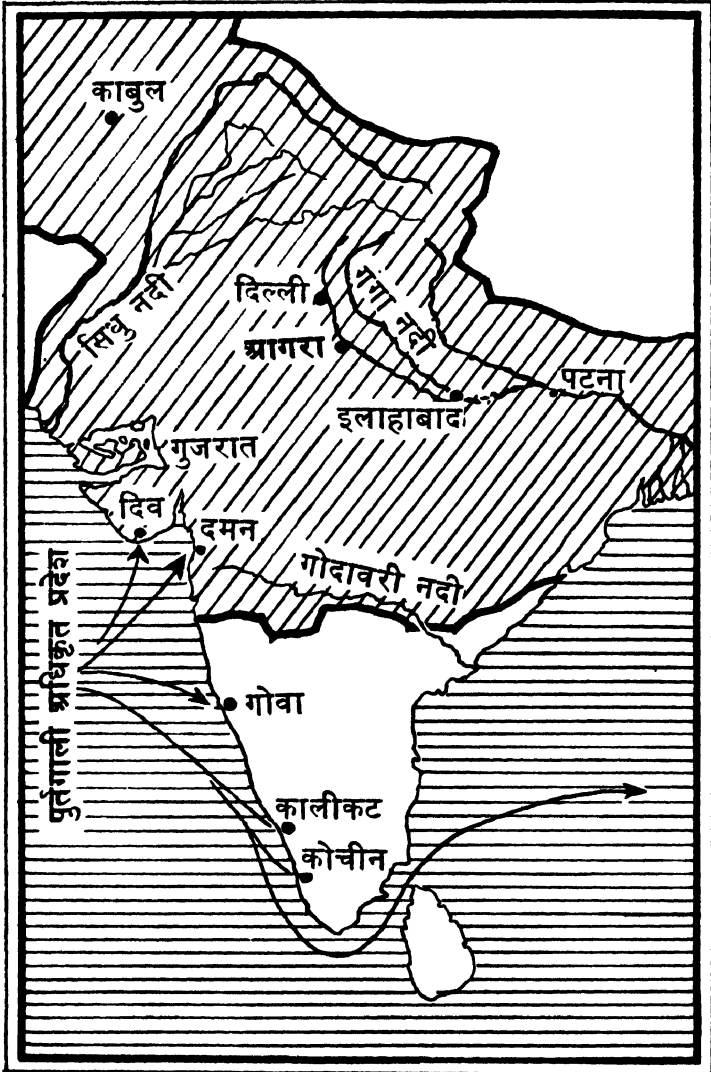
शरण दी। इस अर्से में उत्तरी भारत में शेरखां का दबदबा ख़ूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पांच वर्ष तक राज किया। इस थोड़े-से समय में ही उसने बतला दिया कि वह बहुत योग्य और कुशल व्यक्ति था। वह प्रतिभाशाली संगठक था, और उसका शासन क्रियाशील और कुशल था। अपने युद्धों के बीच भी उसने काश्तकारों पर टैक्स लगाने की एक नई और अच्छी मालगुज़ारी प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह रूखा और कठोर व्यक्ति था, लेकिन भारत के सारे अफ़ग़ान शासकों में, और बहुत-से दूसरे शासकों में भी, वह बेशक सबसे ज़्यादा क़ाबिल और अच्छा था। लेकिन जैसा कि अक्सर कुशल निरंकुश शासकों का हाल हुआ करता है, वह खुद ही अपने सारे शासन का कर्त्ता-धर्त्ता था, इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढांचा टुकड़े-टुकड़े हो गया।

हुमायूं ने इस गड़बड़ी से फ़ायदा उठाया और १५५६ ई० में वह एक सेना लेकर ईरान से लौटा। उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर आ बैठा। लेकिन वह ज़्यादा दिन के लिए नहीं। छः महीने बाद ही वह ज़ीने पर से गिरकर मर गया।

शेरशाह और हुमायूं के मकबरों का मुक़ाबला करने से एक दिलचस्प बात मालूम होती है। अफ़ग़ान शेरशाह का मक़बरा बिहार में सहसराम में है और यह इमारत उसीकी तरह रूखी, मज़बूत और शाही बनावट की है। हुमायूं का मक़बरा दिल्ली में है। यह एक निखारदार और सुडौल इमारत है। पत्थर की इन इमारतों से, साम्राज्य के लिए सोलहवीं सदी के इन दो विरोधियों के बारे में अच्छा अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

अकबर उस समय सिर्फ़ तेरह साल का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखां, जिसे खानबाबा भी कहते हैं, इसकी निगरानी और रक्षा करनेवाला था। लेकिन चार ही वर्षों में अकबर इस निगरानी से और दूसरे लोगों के इशारे पर चलने से तंग आ गया। उसने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली।

१५५६ ई० के शुरू से १६०५ई० के अन्त तक, यानी क़रीब पचास वर्ष तक, अकबर ने भारत पर राज किया। यह ज़माना यूरोप में निदरलैण्ड्स के विद्रोह का और इंग्लैण्ड में शेक्सपीयर का था। अकबर का नाम भारत के इतिहास में जगमगा रहा है और कभी-कभी कुछ बातों में वह हमें अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहले का एक बौद्ध सम्राट् और ईसा के बाद सोलहवीं सदी का एक मुसलमान सम्राट, दोनों एक ही ढंग से और क़रीब-क़रीब एक ही आवाज़ में बोल रहे हैं। ताज्जुब नहीं कि यह खुद भारत की ही आवाज़ हो, जो उसके दो महान पुत्रों के ज़रिये बोल रही हो। अशोक के

बारे में हम सिर्फ़ उतना ही जानते हैं जितना उसने ख़ुद पत्थरों पर तराशा हुआ छोड़ा है। लेकिन अकबर के बारे में हम बहुत-कुछ जानते हैं। उसके दरबार के दो समकालीन इतिहासकारों के लम्बे विवरण मिलते हैं। और जो विदेशी उससे मिलने आये थे—ख़ासकर जेज़ुइट लोग, जिन्होंने उसे ईसाई बनाने की ज़ोरदार कोशिश की थी—उन्होंने भी लम्बे-चौड़े बयान लिखे हैं।

यह बाबर की तीसरी पीढ़ी में था। लेकिन मुग़ल लोग अभी इस देश के लिए नये थे। वे विदेशी समझे जाते थे और उनका कब्ज़ा फ़ौजी ताक़त के बल पर था। अकबर के राज ने मुग़ल राजवंश की जड़ जमा दी और उसको यहीं की धरती का और पूरी तरह भारतीय नज़रियेवाला बना दिया। इसीके राज में यूरोप में 'महान् मुग़ल' का ख़िताब काम मे लाया जाने लगा। वह बहुत निरंकुश था और उसके हाथों मे बे-लगाम सत्ता थी। मालूम होता है कि उस वक़्त भारत में राजा के अधिकारों पर रोक-थाम लगाने की कोई हलकी-सी चर्चा तक नहीं थी। संयोग से अकबर एक बुद्धिमान स्वेच्छाचारी था और वह भारत के लोगों की भलाई के लिए जी-तोड़ कोशिश करता रहता था। एक तरह से वह भारतीय राष्ट्रीयता का जन्मदाता माना जा सकता है। ऐसे समय में, जबकि देश में राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था, और मज़हब लोगों को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने समझ-बूझकर, समान भारतीय राष्ट्रीयता के आदर्श को, फूट डालनेवाले मज़हबी दावों के ऊपर, रख दिया। वह अपनी कोशिश में पूरी तरह तो सफल नहीं हुआ, लेकिन यह अचंभे की बात है कि वह कितना आगे बढ़ गया और उसकी कोशिशों को कितनी ज़्यादा सफलता मिली।

लेकिन फिर भी अकबर को जो कुछ सफलता मिली, वह अकेले उसीकी, दूसरों की मदद के बिना, नहीं थी। जबतक कि ठीक समय न आ गया हो और आस-पास की हालतें मदद न करें तबतक कोई भी मनुष्य महान कामों में सफल नहीं हो सकता। महापुरुष ख़ुद अपना चौगिर्द तैयार करके ज़माने को जल्दी बदल सकता हैं। लेकिन महापुरुष ख़ुद भी तो ज़माने का और ज़माने के चौगिर्द का ही फल होता है। इसी तरह अकबर भी भारत के उस ज़माने का फल था।

पिछले एक पत्र में मैंने तुमको बतलाया था कि जिन दो संस्कृतियों और मज़हबों का इस देश में साथ आ पड़ा था, उन दोनों के समन्वय के लिए भारत में कैसी ख़ामोश ताक़तें काम कर रहीं थीं। मैंने तुमको भवन-निर्माण की नई शैली और भारतीय भाषाओं, ख़ासकर उर्दू या हिन्दुस्तानी, के विकास के बारे में लिखा था। और मैं तुमको रामानन्द, कबीर और गुरु नानक जैसे सुधारक और धर्म-गुरुओं के बारे में भी लिख चुका हूं, जिन्होंने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के एक-से पहलुओं पर ज़ोर देकर और उनके बहुत-से रीति-रस्म और आडम्बरों की निन्दा करके

दोनों को एक-दूसरे के नज़दीक लाने की कोशिश की थी। उस समय समन्वय की यह भावना चारों ओर फैली हुई थी। और अकबर के ऐसे दिमाग़ ने, जो हर बात को बारीकी से महसूस करता था और ग्रहण करता था, जब इस भावना को हज़म किया तो उसमें बहुत बड़ा जवाबी असर हुआ होगा। वास्तव में वह इस भावना का सबसे बड़ा व्याख्या करनेवाला बन गया।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुंचा होगा कि उसका बल और राष्ट्र का बल इसी समन्वय से बढ़ सकते हैं। वह एक बहुत बहादुर, लड़ाका और कुशल सेनानायक भी था। अशोक की तरह वह लड़ाइयों से नफ़रत नहीं करता था। लेकिन तलवार की विजय से वह स्नेह की विजय को ज़्यादा अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज़्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह पक्के इरादे के साथ हिन्दू सरदारों और हिन्दू जनता का स्नेह हासिल करने में जुट गया। उसने ग़ैर-मुस्लिमों से वसूल किया जानेवाला जज़िया और हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने ख़ुद अपना विवाह एक ऊंचे राजपूत घराने की लड़की से किया। बाद में उसने अपने पुत्र का विवाह भी एक राजपूत लड़की से किया। और उसने ऐसी मिली-जुली शादियों को बढ़ावा दिया। उसने अपने साम्राज्य के ऊंचे-से-ऊंचे ओहदों पर राजपूत सरदारों को मुक़र्रर किया। उसके सबसे बहादुर सिपहसालारों और सबसे योग्य वज़ीरों और सूबेदारों में कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनों के लिए काबुल का सूबेदार बनाकर भेजा था। देखा जाय तो राजपूतों को और अपनी हिन्दू-प्रजा को मनाने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ़ जाता था कि मुसलमान प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल वह हिन्दुओं की सद्भावना हासिल करने में सफल हुआ और उसकी नौकरी करने और उसे सम्मान देने के लिए चारों ओर से लगभग सभी राजपूत इकट्ठे होने लगे, सिवाय मेवाड़ के राणा प्रताप के जिसने कभी सिर नहीं झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाम के लिए भी अपना सम्राट् मानने से इन्कार कर दिया। लड़ाई के मैदान में हार जाने पर भी उसने अकबर का ताबेदार बनकर मौज-मज़े का विलासी जीवन बिताने की बनिस्बत जंगल में छिपते फिरना ज़्यादा पसन्द किया। ज़िन्दगी भर यह अभिमानी राजपूत दिल्ली के महान् सम्राट् से लड़ता रहा, और इसने उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया। अपने जीवन के आख़िरी दिनों में उसे कुछ सफलता भी मिली। इस रण-बांकुरे राजपूत की यादगार राजपूताना की एक बेशक़ीमती थाती है, और इसके नाम के साथ कितनी ही गाथाएं जुड़ गई हैं।

इस तरह अकबर ने राजपूतों को अपनी तरफ़ कर लिया और वह जनता

का प्यारा बन गया। वह पारसियों और उसके दरबार में आनेवाले जेजुइट पादरियों तक से अच्छा बर्ताव करता था। लेकिन उसकी इस उदारता और इस्लामी शरीआत के ख़िलाफ़ कुछ कार्रवाइयों से मुसलमान अमीर-सरदार उससे नाराज़ हो गये और उसके ख़िलाफ़ कई विद्रोह भी हुए।

मैंने अकबर की तुलना अशोक से की है। लेकिन इस तुलना से तुम कहीं भुलावे में न पड़ जाना। बहुत-सी बातों में वह अशोक से बिलकुल अलग तरह का था। वह बड़ी ऊंची उमंगोंवाला था, और अपने जीवन के अन्त समय तक वह अपना साम्राज्य बढ़ाने की धुन में चढ़ाइयां करता रहा। जेजुइट लोगों ने लिखा है—

"वह चौकस और पारखी दिमाग़वाला था; वह समझ-बूझ का पक्का, मामलों में दूरदर्शी और इन सबके अलावा दयालु, मिलनसार और उदार था। इन गुणों के साथ उसमें बड़े-बड़े जोखिम के कामों को उठाने और पूरा करने की हिम्मत भी थी...। वह बहुत-सी बातों में दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे में जानने का इच्छुक रहता था; उसे न सिर्फ़ सैनिक और राजनैतिक बातों का ही बल्कि बहुत-से कला-कौशल का भी गहरा ज्ञान था...। जो लोग उसकी जात पर हमला करते थे उनपर भी इस राजा की रहमदिली और नम्रता की रोशनी पड़ती रहती थी। उसे ग़ुस्सा बहुत ही कम आता था। अगर कभी आता था तो उसका आवेश भयंकर हो जाता था; लेकिन उसका यह ग़ुस्सा ज़्यादा देर टिकता न था।"

याद रहे कि यह बयान किसी चापलूस मुसाहिब का नहीं है, लेकिन दूसरे देश के रहनेवाले अजनबी का है, जिसे अकबर को ग़ौर से देखने के काफ़ी मौक़े मिलते थे।

शरीर में अकबर असाधारण बलवान और चुस्त था, और वह जंगली और ख़ूंख़ार जानवरों के शिकार से ज़्यादा और किसी चीज़ से प्रेम नहीं करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना बहादुर था कि उसे अपनी जान तक की बिलकुल परवाह न थी। उसकी अद्भुत शक्ति का अन्दाज़ा आगरे से अहमदाबाद की उस मशहूर कूच से लगाया जा सकता है, जो उसने नौ दिन में पूरी की थी। गुजरात में विद्रोह हो गया था और अकबर एक छोटी-सी सेना के साथ राजपूताना के रेगिस्तान को लांघकर साढ़े चार सौ मील की दूरी तय करके वहां जा धमका। यह एक असाधारण करतब था। यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है कि उस ज़माने में न तो रेलें थीं और न मोटरें।

लेकिन इन गुणों के अलावा महान पुरुषों में कुछ और भी होता है; उनमें कुछ चुम्बक जैसा आकर्षण होता है, जो लोगों को अपनी तरफ़ खींचता है। अकबर

में यह जिस्मानी आकर्षण-शक्ति और मोहनी बहुत ज़्यादा मिक़दार म थीं; जेज़ुइट लोगों के अदभुत विवरण के मुताबिक उसकी बस में करनेवाली आंखें "इस तरह झिलमिलाती थीं जिस तरह सूर्य की रोशनी में समुद्र।" फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है, अगर यह व्यक्ति हमको आज भी मोहता हो और उसका शाही व मर्दाना स्वरूप उन ढेरों लोगों से बहुत ऊंचा दिखलाई पड़ता हो, जो सिर्फ़ बादशाह हुए हैं ?

विजेता की हैसियत में अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बंगाल, उड़ीसा, कश्मीर, और सिंध अपने साम्राज्य में मिला लिये। मध्य भारत और दक्षिण भारत में भी उसकी जीत हुई और उसने ख़िराज वसूल किया। लेकिन मध्य-प्रांत की रानी दुर्गावती को हराना उसकी शान को नहीं बढ़ाता। दुर्गावती एक बहादुर और अच्छी शासक थी और उसने अकबर को कुछ नुकसान नहीं पहुंचाया था। लेकिन ऊंचा चढ़ने की हविस और साम्राज्य की लालसा इन छोटी-मोटी अड़चनों की बिलकुल परवाह नहीं करतीं। दक्षिण में भी उसकी सेनाएं अहमदनगर में राजा की जगह शासन करनेवाली मशहूर चांदबीबी से लड़ीं। इस महिला में बहादुरी और काबलियत थी और उसने लड़ाई में जो लोहा लिया उसका असर मुग़ल फ़ौज पर इतना पड़ा कि उन्होंने उसीके माफ़िक शर्तों पर सुलह मंजूर कर ली। बदक़िस्मती से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ नाराज़ सिपाहियों ने उसे मार डाला।

अकबर की फ़ौजों ने चित्तौड़ पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है। जयमल ने बड़ी वीरता से चित्तौड़ की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयंकर 'जौहर' व्रत फिर हुआ और चित्तौड़ जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारों तरफ़ बहुत-से काबिल नायब जमा कर लिये, जो उसके बड़े वफ़ादार थे। इनमें मुख्य फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल दो भाई थे, और एक था बीरबल, जिसके बारे में अनगिनती कहानियां आज तक प्रचलित हैं। अकबर का वित्तमंत्री था टोडरमल। इसीने लगान की सारी प्रणाली को बदला था। तुम्हें यह जानकर अचम्भा होगा कि उन दिनों ज़मींदारी प्रथा न थी और न ज़मींदार थे, न ताल्लुक़ेदार। राज्य ख़ुद किसानों या रैयतों से लगान वसूल करता था। यही आजकल रैयतवारी प्रणाली कहलाती है। आजकल के ज़मींदार अंग्रेज़ों के बनाये हुए हैं।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे अच्छे सेनापतियों में से था। अकबर के दरबार में एक और मशहूर आदमी था—महान गायक तानसेन, जिसे आज भारत के सारे गवैये अपना गुरु मानते हैं।

शुरू में अकबर की राजधानी आगरा थी, जहां उसने क़िला बनवाया। इसके बाद उसने आगरे से पन्द्रह मील दूर फ़तहपुर-सीकरी में एक नया शहर बसाया।

"जहांपनाह हरेक की रायें इकट्ठी करते थे, खासकर ऐसे लोगों की जो मुसलमान नहीं थे, और उनमें से जो कोई बात उनको पसन्द आती, उसे रख लेते और जो उनके मिज़ाज के ख़िलाफ़ होतीं और उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ जातीं उन सबको फेंक देते थे। शुरू बचपन से जवानी तक और जवानी से बुढ़ापे तक, जहांपनाह बिलकुल अलग-अलग तरह की हालतों में से और सब तरह के मज़हबों, दस्तूरों और फ़िरकेवाराना अक़ीदों में से गुजरे हैं, और जो कुछ किताबों में मिल सकता है उस सबको उन्होंने, छांटने के अपने ख़ास गुण से, इकट्ठा किया है, और तहक़ीक़ात की उस रूह से इकट्ठा किया है, जो हर इस्लामी उसूल के ख़िलाफ़ है। हर तरह उनके दिल के आईने पर किन्हीं मूल उसूलों की बुनियाद पर एक नक़शा खिंच गया है और उनपर जो-जो असर पड़े हैं, उन सबके नतीजे से उनके दिल में पत्थर की लकीर की तरह धीरे-धीरे यह यक़ीन जमता गया है कि सब मज़हबों में समझदार आदमी हैं और सब क़ौमों में परहेज़गार, सोचनेवाले और चमत्कारी ताक़तोंवाले आदमी हैं। अगर कोई सच्चा इल्म इस तरह हर जगह मिल सकता हो तो सचाई किसी एक ही मज़हब में कैसे बन्द हो सकती है ?..."

तुम्हें याद होगा कि इस ज़माने में यूरोप में मज़हबी मामलों में बड़ा ज़बर्दस्त बैर-भाव फैला हुआ था। स्पेन, निदरलैण्ड्स और दूसरे देशों में इनक्विज़िशन का दौर-दौरा था और कैथलिक और कैल्विनिस्ट दोनों एक दूसरे को बर्दाश्त करना घोर पाप समझते थे।

अकबर ने वर्षों तक सब मतों के आचार्यों से अपनी मज़हबी चर्चाएं और बहसें जारी रक्खीं, यहांतक कि अन्त में वे सब उकता गये और उन्होंने अकबर को अपने-अपने ख़ास मज़हब में मिला सकने की आशा छोड़ दी। जब हरेक मज़हब में सचाई का कुछ-न-कुछ अंश था तो वह उनमें से किसी एक को कैसे चुन सकता था ? जेज़ुइट लोगों के लिखे मुताबिक़ वह कहा करता था—"चूंकि हिन्दू लोग अपने सिद्धान्तों को ठीक मानते हैं और इसी तरह मुसलमान और ईसाई भी मानते हैं; तो फिर हम इनमें से किसको अपनावें ?" अकबर का सवाल बड़ा वाजिब था, लेकिन जेज़ुइट लोग इससे चिढ़ते थे और उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है—"इस बादशाह में हम उस नास्तिक की-सी आम ग़लती देखते हैं जो दलील को ईमान का दास बनाने से इन्कार करता है और जिस बात की गहराई को उसका कमज़ोर दिमाग़ न पा सके, उसे सच न मानता हुआ वह उन मामलों को अपने अधूरे फ़सले पर छोड़कर सन्तुष्ट हो जाता है, जो मानव-ज्ञान की सर्वोच्च सीमा से भी परे हैं।" अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज़्यादा नास्तिक हों उतना ही अच्छा !

अकबर का लक्ष्य क्या था, यह साफ़ नहीं मालूम पड़ता। क्या वह इस सवाल को ख़ाली राजनैतिक निगाह से देखता था ? सबके लिए एक-सी राष्ट्रीयता ढूंढ़

निकालने के इरादे से कहीं वह अलग-अलग मज़हबों को ज़बर्दस्ती एक ही रास्ते में तो नहीं डालना चाहता था ? या क्या उसकी नीयतों और उसकी तलाशों की जड़ में मज़हब था ? मैं नहीं जानता। लेकिन मेरा ख़याल इधर झुकता है कि वह मज़हबी सुधारक की बनिस्बत राजनीतिज्ञ ही ज़्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, उसने सचमुच एक नये मज़हब 'दीन इलाही' का ऐलान कर दिया, जिसका इमाम वह ख़ुद था। दूसरी बातों की तरह धार्मिक मामलों में भी उसके दबदबे को कोई चुनौती नही दे सकता था और दंडवत् क़दम-बोसी, वग़ैरा, नफ़रत पैदा करनेवाली ढेरों चीज़ें होती थीं। यह नया मज़हब चला नहीं । हुआ यह कि इसने मुसलमानों को चिढ़ा दिया।

अकबर सत्तावाद का तो पूरा निचोड़ था। फिर भी यह सोचना दिलचस्प है कि राजनैतिक उदार विचारों का उसपर क्या जवाबी असर हुआ होता। अगर मज़हबी विश्वास की स्वतन्त्रता मानी जाती थी तो जनता को ज़्यादा राजनैतिक आज़ादी क्यों नहीं ? विज्ञान की तरफ़ वह ज़रूर ख़ूब खिचा होता। बदकिस्मती से ये विचार, जिन्होंने उस समय यूरोप के कुछ लोगों को परेशान करना शुरू कर दिया था, उस समय के भारत में चालू नहीं हुए थे। छापेखानों का भी कोई उपयोग नज़र नहीं आता। इसलिए शिक्षा का दायरा बहुत छोटा था। यह जानकर तुमको सचमुच ताज्जुब होगा कि अकबर अनपढ़ था, यानी वह पढ़-लिख नहीं सकता था। लेकिन फिर भी वह उच्च शिक्षित था और किताबें पढ़वाकर सुनने का बड़ा भारी शौक़ीन था। उसकी आज्ञा से बहुत-सी संस्कृत पुस्तकों का फ़ारसी में अनुवाद किया गया था।

यह भी मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओं के सती होने की प्रथा को बन्द करने का हुक्म निकाला था और युद्ध-बन्दियों को ग़ुलाम बनाये जाने की भी मनाही कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, करीब पचास वर्ष राज करने के बाद, अक्तूबर, १६०५ ई० में अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरा के पास सिकन्दरे में एक ख़ूबसूरत मक़बरे में दफ़न की हुई है।

अकबर के शासनकाल में उत्तर भारत में और ज़्यादातर काशी में एक व्यक्ति हुआ, जिसका नाम संयुक्तप्रान्त[1] के हरेक देहाती की जबान पर है। वहां वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है, जितना अकबर या दूसरा कोई बादशाह नहीं हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है, जिन्होंने हिन्दी में रामचरित-मानस या रामायण लिखी है।

---

[1]आज का उत्तर प्रदेश

: ९० :

# भारत में मुग़ल साम्राज्य का पतन और अन्त

९ सितम्बर, १९३२

मेरी इच्छा होती है कि अकबर के बारे मे तुम्हें कुछ और बतलाऊं लेकिन इस इच्छा को दबाना पड़ेगा। मगर पुर्तगाली पादरियों के लेखों में से कुछ और बातें यहां देने के लोभ को मै नही रोक सकता। उनकी राय दरबारी मुसाहिबों की राय से बहुत ज़्यादा महत्व रखती है और यह बात भी ध्यान मे रखने की है कि जब अकबर ईसाई न बना तो उसकी तरफ़ से उनको बहुत निराशा भी हुई थी। फिर भी वे लिखते हैं, "वह वास्तव में एक महान बादशाह था; क्योंकि वह जानता था कि अच्छा शासक वही हो सकता है, जो अपनी प्रजा में एक-साथ फ़रमाबरदारी, इज़्ज़त, प्रेम और भय पैदा कर सके। यह बादशाह सबका प्यारा था, बड़े आदमियों पर सख़्त, छोटे आदमियों पर मेहरबान, और सब लोगों के साथ न्याय करनेवाला, चाहे वे ऊंच हों या नीच, पड़ौसी हों या अजनबी, ईसाई हों या मुसलमान या हिन्दू; इसलिए हरेक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसीके पक्ष में हैं।" जेजुइट लोग आगे कहते हैं—"अभी वह राजकीय मामलों में मशग़ूल है या अपनी प्रजा के लोगों को मुजरे दे रहा है, तो दूसरे ही क्षण वह ऊंटों के बाल कतरता हुआ या पत्थर फोड़ता हुआ या लकड़ी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नज़र आता था; और इन सब कामों को वह इतनी होशियारी से करता था मानो ख़ुद अपने ही ख़ास पेशे को कर रहा हो।" हालांकि वह एक शक्तिशाली और निरंकुश राजा था, लेकिन वह हाथ से काम करने को अपनी शान के ख़िलाफ़ नहीं समझता था, जैसा कि आजकल के कुछ लोग ख़याल करते हैं।

आगे चलकर यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोड़ा खाना खाता था और साल में सिर्फ़ तीन या चार महीने ही मांस खाता था...। सोने के लिए वह बड़ी मुश्किल से रात के तीन घंटे निकालता था...। उसकी याददाश्त ग़ज़ब की थी। उसके हजारों हाथी थे, लेकिन वह सबके नाम जानता था; अपने घोड़ों के, हिरनों के और कबूतरों तक के नाम भी उसे याद थे!" इस अद्भुत स्मरण-शक्ति के बारे में यक़ीन करना मुश्किल है, और शायद यह बयान कुछ बढ़ा-चढ़ाकर भी लिखा गया हो। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उसका दिमाग़ अद्भुत था। "हालांकि वह पढ़-लिख नहीं सकता था लेकिन अपनी बादशाहत में होने वाली तमाम बातें उसे मालूम रहती थीं।" और "उसकी ज्ञान हासिल करने की लगन" ऐसी थी कि वह "सब बातें एक साथ सीखने की कोशिश करता था, जैसे कोई भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही कौर में निगल जाना चाहता हो।"

ऐसा था यह अकबर। लेकिन वह पूरा निरंकुश था। और, हालांकि उसने प्रजा को बहुत हद तक सुरक्षित कर दिया था और किसानों पर से टैक्सों का बोझ भी हलका कर दिया था, लेकिन उसका दिमाग़ शिक्षा और सिखाई के ज़रिये जनता का स्तर ऊंचा उठाने की तरफ़ नहीं गया। वह युग हर जगह निरंकुशशाही का था, मगर दूसरे निरंकुश राजाओं के मुक़ाबले में बादशाह और इन्सान की हैसियत में अकबर सबसे ज़्यादा तेज़ी से चमकता है।

हालांकि अकबर बाबर की तीसरी पीढ़ी में था, लेकिन भारत में मुग़ल राजवंश की नींव डालनेवाला असल में यही था। चीन में कुबलइखां के युआन राजवंश की तरह, अकबर के बाद मुगल बादशाहों का राजवंश भारतीय बन गया। अकबर ने अपने साम्राज्य को मजबूत बनाने के लिए जो महान काम किया था, उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजवंश उसकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से ज़्यादा राज करता रहा।

अकबर के बाद तीन और क़ाबिल बादशाह हुए, लेकिन उनमे कोई असाधारण बात नहीं थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रों में राजगद्दी के लिए बड़ी गन्दी छीना-झपटी होती। महलों की साजिशें और उत्तराधिकार की लड़ाइयां होती थीं। पुत्रों का पिताओं से विद्रोह, भाइयों का भाइयों से विद्रोह, हत्याएं और रिश्तेदारों की आंखें फोड़ी जाना—मतलब यह कि निरंकुशता और स्वेच्छाचारी शासन के साथ चलनेवाली तमाम घिनौनी बातें होती थीं। शान-शौक़त और तड़क-भड़क तो ऐसी थीं कि उनकी बराबरी कहीं न थी। तुम्हें याद होगा कि यह वह ज़माना था जब फ्रान्स में चौदहवां लुई, जो 'सूर्य-जैसा राजा' कहलाता था, राज करता था और जिसने वर्साई बनवाया था और जिसका दरबार शान-शौक़त-वाला था। लेकिन महान मुग़लिया शान-शौक़त के सामने लुई की शान-शौक़त फ़ीकी पड़ जाती थी। शायद ये मुग़ल बादशाह उस जमाने के बादशाहों में सबसे ज़्यादा मालदार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और बीमारियां फैल जाती थीं और बेशुमार आदमियों का सफाया कर देते थे। जबकि दूसरी तरफ़ बादशाही दरबार विलास में डूबा रहता था।

अकबर के समय की मजहबी उदारता उसके पुत्र जहांगीर के राज में भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे मिटती गई और ईसाइयों और हिन्दुओं पर कुछ अत्याचार होने लगे। बाद में, औरंगज़ेब के राज में, मन्दिरों को तोड़कर, और बदनाम जज़िया टैक्स दुबारा जारी करके, हिन्दुओं को जानबूझकर सताने की कोशिश की गई। साम्राज्य की नींव की जो ईंटें अकबर ने इतनी मेहनत से जमाई थीं, वह इस तरह एक-एक करके खोद डाली गईं और साम्राज्य एकदम लड़खड़ा कर गिर पड़ा।

अकबर के बाद जहांगीर गद्दी पर बैठा जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की परम्परा को जारी रक्खा, लेकिन शायद उसे सरकारी कामों की बनिस्बत कला व चित्रकारी और बाग़ों व फूलों में ज़्यादा दिलचस्पी थी। उसके यहां बढ़िया चित्रशाला थी। वह हर साल कश्मीर जाता था और मेरे ख़याल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नामों के मशहूर बाग़ इसीने बनवाये थे। जहांगीर की बेगम—या यों कहो कि उसकी बहुत-सी बेगमों में एक—सुन्दरी नूरजहां थी, जिसके हाथों में सिंहासन के पीछे राज की असली बागडोर थी। [illegible] की कब्र पर ख़बसूरत इमारत जहांगीर के ही राज में बनी थी। जब कभी मैं आगरे जाता हूं तो वास्तुकला के इस रत्न को देखने की कोशिश करता हूं ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आंखों की प्यास बुझा सकूं।

जहांगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहां गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष, यानी १६२८ से १६५८ ई० तक शासन किया। यह फ्रान्स के चौदहवें लुई का समकालीन था और इसके राज में जहां मुग़लों की तड़क-भड़क सबसे ऊंची चोटी पर पहुंच गई, वहां उसकी गिरावट के बीज भी साफ़ नज़र आने लगे थे। बादशाह के बैठने के लिए अनमोल रत्नों से जड़ा हुआ मशहूर तख़्त-ताऊस बनाया गया। और फिर आगरे में जमना के किनारे वह सुन्दरता का सपना ताजमहल बना। शायद तुम जानती हो कि यह उसकी प्यारी बेग़म मुमताजमहल का मक़बरा है। शाहजहां ने बहुत-से ऐसे काम किये, जिनसे उसके नाम और उसकी इज्ज़त पर बट्टा लगता है। वह मजहब के मामले में उदार नहीं था और जब दक्षिण में और गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा तो उसने अकाल-पीड़ितों की राहत के लिए कुछ भी नहीं किया। उसकी प्रजा की इस कम्बख़्ती और ग़रीबी के मुक़ाबले में उसकी दौलत और शान घिनौनी दिखाई पड़ती हैं। फिर भी पत्थर और संगमरमर में उसने दिलकश सौंदर्य के जो चमत्कार छोड़े हैं, उनके लिए शायद उसकी बहुत-सी बातें माफ़ की जा सकती हैं। इसीके समय में मुग़ल वास्तुकला अपनी चोटी पर पहुंची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की विशाल जामा मस्जिद, और दिल्ली के महलों में दीवाने-आम और दीवाने-ख़ास बनवाये। इन इमारतों में ऊंचे दरजे की सादगी है; इनमें से कुछ तो बड़ी विशाल लेकिन सुघड़ और सुडौल हैं, और उनकी सुन्दरता परियों जैसी है।

लेकिन इस परियों-जैसी सुन्दरता के पीछे ग़रीबी की मारी हुई वह प्रजा थी, जो इन महलों की क़ीमत चुकाती थी और जिसके ज़्यादातर लोगों के पास रहने को मिट्टी के झोंपड़े भी न थे। बे-लगाम ज़ुल्मी शासन का बोलबाला था और सम्राट् या उसके बड़े नायब और सूबेदार अगर किसीसे नाख़ुश हो जाते तो उसे भयानक सज़ाएं दी जाती थीं। दरबार की साज़िशों में मैकियावैली के उसूलों का

दौर-दौरा था । अक़बर की रहमदिली, उदारता और अच्छी शासन-व्यवस्था बीती बातें हो गई थीं । हालतें गड़बड़ी की तरफ़ जा रही थीं ।

इसके बाद आखिरी महान मुग़ल औरंगज़ेब आया । उसने अपने शासन की शुरुआत अपने पिता को क़ैद में डालकर की । उसने १६५९ से १७०७ ई० तक अड़तालीस वर्ष राज किया । अपने दादा जहांगीर की तरह वह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न अपने पिता शाहजहां की तरह वास्तुकला से । वह कड़ी सादगी से रहनेवाला भगत था और कट्टर मज़हबी था और अपने मज़हब के सिवा दूसरे किसी मज़हब को बर्दाश्त नहीं करता था । दरबार की तड़क-भड़क तो क़ायम रही पर अपने व्यक्तिगत निजी जीवन में औरंगजेब सादा-मिजाज़ और संन्यासी जैसा था । उसने इरादा करके हिन्दुओं को सताने की नीति चलाई । इरादा करके ही उसने अक़बर की सबको राजी रखने की और समन्वय की नीति उलट दी । और जिस नींव पर अभी तक साम्राज्य टिका हुआ था, उसे इस तरह उखाड़ डाला । उसने हिंदुओं पर जज़िया टैक्स फिर लगा दिया; जहांतक हो सका हिन्दुओं से सब ओहदे छीन लिये; जिन राजपूत सरदारों ने अकबर के समय से इस राजवंश की सहायता की थी, उन्हींको नाराज़ करके राजपूतों से लड़ाई मोल ले ली । उसने हज़ारों हिन्दू मन्दिरों को तुड़वा डाला और इस तरह बहुत-सी सुन्दर पुरानी इमारतें धूल में मिला दीं । जहां एक तरफ़ दक्षिण में उसका साम्राज्य बढ़ रहा था, बीजापुर और गोलकुंडा उसके क़ब्ज़े में आ गये थे और दूर दक्षिण से उसे खिराज मिलने लगा था, वहां दूसरी तरफ इस साम्राज्य की नींव ढीली होकर दिन-पर-दिन कमज़ोर होती जा रही थी और चारों तरफ़ दुश्मन पैदा हो रहे थे । जज़िया के विरोध में हिन्दुओं की तरफ़ से जो अर्ज़ी उसे पेश की गई थी, उसमें लिखा था कि यह टैक्स "इन्साफ़ का विरोधी है; उसी तरह यह अच्छी नीति के दायरे में भी नहीं आता, क्योंकि यह देश को ग़रीब कर देगा; इसके अलावा यह एक बिल्कुल नई चीज़ है और हिन्दुस्तान के क़ानूनों को भंग करनेवाला है ।" साम्राज्य की जो हालत हो रही थी, उसके बारे में उसमें लिखा था—"जहांपनाह के राज में बहुत-से लोग साम्राज्य के खिलाफ़ हो गये हैं, जिसका लाज़िमी नतीजा यह होगा कि और भी हिस्से हाथ से निकल जायंगे क्योंकि सब जगह बेरोकटोक बरबादी और लूट-खसोट का बाज़ार गर्म हो रहा है । आपकी प्रजा पैरों तले रौंदी जाती है; आपके साम्राज्य का हरेक सूबा ग़रीब होता जा रहा है, आबादी कम हो रही है और कठिनाइयां बढ़ती जा रही हैं ।"

आम लोगों में फैली हुई यह तबाही उन भारी परिवर्तनों की भूमिका थी, जो अगले पचास-साठ वर्षों में भारत में होनेवाले थे । औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद महान मुग़ल साम्राज्य का एकदम और पूरी तरह पतन इन्हीं परिवर्तनों में से एक

था। महान परिवर्तनों और महान आन्दोलनों के पीछे हमेशा आर्थिक कारण हुआ करते हैं। हम देख चुके हैं कि यूरोप और चीन के बड़े-बड़े साम्राज्यों के पतन से पहले और साथ-साथ, आर्थिक पतन हुआ और बाद में क्रान्ति हुई। यही हाल भारत में हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यों का अन्त हुआ करता है, उसी तरह मुग़ल साम्राज्य का अन्त भी उसीकी अन्दरूनी कमज़ोरियों की वजह से हुआ। वह बिल्कुल तहस-नहस हो गया। लेकिन हिन्दुओं में विद्रोह की जो नई चेतना पैदा हो रही थी और जो औरंगज़ेब की नीति की वजह से उफ़ान पर आ गई थी, उसने इस अन्त को लाने की प्रक्रिया में बहुत मदद पहुंचाई। लेकिन एक तरह की यह मज़हबी हिन्दू राष्ट्रीयता औरंगज़ेब के राज से पहले ही जड़ पकड़ चुकी थी और सम्भव है कि कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरंगज़ेब इतना कट्टर और तास्सुबी हो गया हो। मराठे, सिक्ख वग़ैरा इस हिन्दू जागृति के भाले की नोक थे और, जैसा कि मैं अगले पत्र में लिखूंगा, मुग़ल साम्राज्य का तख्ता अन्त में इन्होंने ही उलट दिया। लेकिन विरासत में मिली इस जायदाद से वे कुछ लाभ न उठा सके। जबकि ये लोग लूट के माल के लिए आपस में लड़ रहे थे, अंग्रेज़ चुपचाप और चालाकी के साथ घुस आये और उसे हथिया बैठे।

तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि जब मुग़ल सम्राट् फ़ौज के साथ कूच करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था। वह एक बड़ी ज़बर्दस्त चीज़ होती थी, जिसका घेरा तीस मील और आबादी क़रीब पांच लाख होती थी! इस आबादी में सम्राट् के साथ चलनेवाली फ़ौज तो होती ही थी, लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर में लाखों दूसरे लोग और सैकड़ों बाज़ार होते थे। इन्हीं चलते-फिरते डेरों में उर्दू, यानी 'लश्कर' की भाषा, का विकास हुआ।

मुग़ल काल के बहुत-से छवि-चित्र अब भी मिलते हैं, जिनकी चित्रकला बड़ी बारीक़ और नफ़ीस है। सम्राटों की तसवीरों की तो एक पूरी चित्रशाला ही मिलती है। बाबर से लगाकर औरंगजेब तक तमाम बादशाहों के व्यक्तित्व को ये तसवीरें बड़ी खूबी के साथ प्रकट करती हैं।

मुग़ल सम्राट् दिन में कम-से-कम दो बार झरोखे में से लोगों को दर्शन दिया करते थे और अर्ज़ियां लिया करते थे। जब १९११ ई० में अंग्रेज़ सम्राट् जार्ज पंचम दिल्ली में ताजपोशी के दरबार के लिए भारत आये थे तो उनका भी मुजरा इसी तरह करवाया गया था। अंग्रेज़ लोग अपने-आपको मुग़लों का गद्दीनशीन समझते हैं और इसलिए वे तड़क-भड़क और बेहूदा प्रदर्शन में मुग़लों की नकल उतारने की कोशिश करते हैं। मैं तुमको बतला चुका हूं कि अंग्रेज़ बादशाह को मुग़ल बादशाहों का ख़िताब 'क़ैसरे हिन्द' तक दे दिया गया है। आज भी दुनिया भर में

इतनी शान-शौक़त और नुमायशी ठाट-बाट शायद और कहीं न मिले, जितना भारत में इंग्लैण्ड के वाइसराय के व्यक्तित्व के साथ लगा हुआ है।

मैंने तुम्हें अभी तक यह नहीं बताया है कि पिछले मुग़ल बादशाहों का विदेशियों के साथ कैसा ताल्लुक था। अकबर के दरबार में पुर्तगाली पादरियों पर ख़ास कृपा रहती थी और यूरोप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क था, वह पुर्तगालियों के ही ज़रिये से था। अकबर इनको यूरोप की सबसे ज़्यादा शक्तिशाली कौम समझता था, क्योंकि समुद्रों पर इनका क़ब्ज़ा था। अंग्रेज़ों का उस वक़्त पता भी न था। अकबर की गोआ लेने की बड़ी इच्छा थी और उसने उसपर हमला भी किया मगर सफलता न मिली। मुग़ल लोग समुद्र-यात्रा को पसंद नहीं करते थे और जहाज़ी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र बात है, क्योंकि उस ज़माने में पूर्व बंगाल में जहाज़ बनाने का काम ज़ोरों से चल रहा था। लेकिन ये जहाज़ ज़्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर हमला कर सकने की यह लाचारी मुग़ल साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। अब जहाज़ी शक्तियों का समय आ गया था।

जब अंग्रेज़ लोगों ने मुग़ल दरबार में आने की कोशिश की तो पुर्तगालियों को उनसे डाह हुई और उन्होंने जहांगीर के कान उनके ख़िलाफ़ भरने में कोई क़सर न उठा रक्खी। लेकिन इंग्लैण्ड के जेम्स प्रथम का राजदूत सर टामस रो १६१५ ई० में किसी तरह जहांगीर के दरबार में जा पहुंचा। उसने सम्राट् से बहुत-सी सहूलियतें हासिल कर लीं और ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की नींव जमा दी। इसी बीच अंग्रेज़ी बेड़े ने भारतीय समुद्र में पुर्तगाल के बड़ को हरा दिया। इंग्लैण्ड का सितारा आसमान में ऊंचा चढ़ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम में डूब रहा था। डचों और अंग्रेजों ने धीरे-धीरे पुर्तगालियों को पूर्वी समुद्रों से बाहर निकाल दिया और तुम्हें याद होगा कि मलक्का का बड़ा बन्दरगाह भी १६४१ ई० में डचों के हाथ आ गया था। १६२९ ई० में हुगली में शाहजहां और पुर्तगालियों के बीच युद्ध हुआ। पुर्तगाली बाक़ायदा ग़ुलामों का व्यापार करते थे और लोगों को ज़बर्दस्ती ईसाई बना रहे थे। पुर्तगाली बड़ी बहादुरी से लड़े, लेकिन मुग़लों ने हुगली पर क़ब्ज़ा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार के इन युद्धों से थक गया। उसने साम्राज्य की होड़ से पीछा छुड़ाया; लेकिन वह गोआ और दूसरी कई जगहों से चिपका रहा और आज भी इन जगहों पर उसका क़ब्ज़ा है।

इसी दौरान में अंग्रेज़ों ने मद्रास और सूरत के पास, भारत के समुद्र-तट के नगरों में, कारख़ाने खोल दिये। मद्रास की नींव भी उन्होंने ही १६३९ ई० में डाली। १६६२ ई० में इंग्लैण्ड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथरीन ऑफ़ ब्रैगैन्ज़ा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज में मिला। कुछ

दिनों बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरंगज़ेब के शासनकाल में हुई। पुर्तगालियों के ऊपर विजय के नशे में चूर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने यह सोचकर कि मुग़ल साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा है, १६८५ ई० में लड़ाई के ज़रिये भारत की और ज़्यादा ज़मीन पर कब्ज़ा करने की कोशिश की। लेकिन उसे नुक़सान उठाना पड़ा। इंग्लैण्ड से जंगी जहाज़ दौड़े हुए आये और औरंगजेब के राज्य में दो जगह, यानी पूर्व में बंगाल पर और पश्चिम में सूरत पर हमले किये गए। लेकिन अभी मुग़लों में उनको बुरी तरह हरा देने की ताक़त थी। अंग्रेजों ने इससे नसीहत ली और आगे के लिए वे बहुत सावधान हो गये। औरंगज़ेब की मृत्यु पर भी, जबकि मुग़ल-शक्ति लड़खड़ाती हुई दिखाई दे रही थी, वे बहुत वर्षों तक कोई बड़ा हमला करने से पहले आगा-पीछा सोचते रहे। १६९० ई० में जॉब चार्नौक ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस तरह मद्रास, बम्बई और कलकत्ता, इन तीनों शहरों की नींव अंग्रेज़ों के हाथों से डाली गई और शुरू-शुरू में ये शहर अंग्रेज़ों के ही उद्योग से बढ़े।

अब फ्रान्स ने भी भारत में क़दम रक्खा। एक फ्रान्सीसी व्यापारी कम्पनी बनी और १६६८ ई० में उसने सूरत में और कुछ दूसरी जगहों में कारख़ाने खोले। कुछ साल बाद उसने पांडिचेरी शहर ख़रीद लिया, जो पूर्वी तट पर सबसे बड़ा तिजारती बन्दरगाह बन गया।

१७०७ ई० में क़रीब नव्वे वर्ष की बड़ी उम्र में औरंगज़ेब की मृत्यु हुई। उसके छोड़े हुए बेशकीमती माल को, यानी भारत को, हथियाने के लिए लड़ाई-झगड़े का मैदान तैयार हो गया। एक तो ख़ुद उसीके निकम्मे वंशज और कुछ बड़े-बड़े सूबेदार थे; उधर मराठे और सिक्ख थे; दूसरी तरफ़ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग दांत लगाये हुए थे; और समुद्र पार के दो शक्तिशालीराष्ट्र अंग्रेज़ और फ्रान्सीसी थे। बेचारे भारतवासियों की चिन्ता किसे थी?

: ९१ :

# सिक्ख और मराठे

१२ सितम्बर, १९३२

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों में भारत एक अजीब पैबन्दकारी का नमूना बना रहा। सैरबीन की तरह उसके नज़ारे हर घड़ी बदलते रहते थे, पर वे कोई बहुत सुन्दर नहीं थे। ऐसा ज़माना लेभग्गुओं के या ऐसे लोगों के लिए बड़ा बढ़िया होता है, जो साधनों और उपायों की परवाह नहीं करते और मौक़े का फ़ायदा उठाने में न तो डरते हैं और न भले-बुरे का कुछ विचार करते हैं। इसलिए सारे भारत में इस तरह के मौक़ा-परस्त पैदा हो गये। इन मौक़ा-परस्तों में एक तो ख़ुद

भारत के ही रहनेवाले थे; दूसरे वे थे, जो उत्तर-पश्चिम की सीमाओं से आ रहे थे और तीसरे वे लोग थे जो अंग्रेज़ों और फ्रान्सीसीयों की तरह समुद्र-पार से आये थे। हरेक आदमी या गिरोह अपनी-अपनी चालें चलता था और बाक़ी सबको जहन्नुम में भेजने के लिए तैयार था। कभी-कभी दो मिलकर तीसरे को खतम कर देते थे; लेकिन बाद में ये दोनों आपस मे ही लड़ मरते थे। रियासतें हड़पने के लिए, जल्दी से मालदार बनने के लिए, और लूटमार करने के लिए, जी-तोड़ कोशिशें की जा रही थीं। लूट-मार ज़्यादातर खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी के साथ होती थी, लेकिन कभी-कभी व्यापार के झीने पर्दे में भी छिपकर होती थी। और इस सबके पीछे था खिसकता हुआ मुग़ल साम्राज्य, जो 'चेशायर की बिल्ली'[1] की तरह ऐसा ग़ायब हो रहा था कि उसकी मुस्कराहट भी बाक़ी न रही थी। बेचारे नाम के बादशाह को या तो पेन्शन दे दी जाती थी या वह दूसरों का क़ैदी हो जाता था।

लेकिन ये सब उथल-पुथल और हलचल और तोड़-मरोड़ उस क्रान्ति के बाहरी लक्षण थे, जो सतह के नीचे हो रही थी। पुरानी आर्थिक, व्यवस्था टूट रही थी; सामन्तशाही के दिन पूरे हो गये थे और वह खतम हो रही थी। ये चीज़ें देश की नई हालतों से मेल नहीं खाती थीं। यही सिलसिला हम यूरोप में देख चुके हैं और व्यापारी वर्ग की तरक़्क़ी भी देख चुके हैं, जिसे स्वेच्छाचारी शासकों ने रोक दिया था। सिर्फ़ इंग्लैण्ड में, और कुछ हद तक हालैण्ड में, बादशाहों को दबा दिया गया था। जिस समय औरंगजेब गद्दी पर बैठा, उस समय इंग्लैण्ड में वह थोड़े दिन का गणराज्य चल रहा था जो चार्ल्स प्रथम की फांसी के बाद बना था। और औरंगज़ेब के ही शासनकाल में जेम्स द्वितीय के भाग जाने से, और १६६८ ई० में पार्लमेण्ट की विजय से, इंग्लैण्ड की क्रान्ति पूरी हुई। इंग्लैण्ड में जो पार्लमेण्ट-जैसी एक आधी लोक-सत्तावाली परिषद् थी, उससे इस लड़ाई में बहुत मदद मिली। वह एक ऐसी चीज़ थी, जो सामन्त सरदारों के और बाद में बादशाह के खिलाफ़ खड़ी की जा सकती थी।

यूरोप के बहुत-से दूसरे देशों में और ही तरह की हालतें थीं। फ्रान्स में भी अभी तक महान् सम्राट् चौदहवां लुई था, जो औरंगज़ेब के लम्बे शासन-काल भर में उसका समकालीन रहा और उसके भी आठ वर्ष बाद मरा। वहां क़रीब-क़रीब अठारहवीं सदी के अन्त तक स्वेच्छाचारी शासन जारी रहा, जबकि फ्रान्स की इतिहास-प्रसिद्ध राज्य-क्रान्ति के रूप में ज़बर्दस्त विस्फोट हुआ। जर्मनी में, जैसा कि हम देख चुके हैं, सत्रहवीं सदी का ज़माना बड़ा भयानक था। इसी सदी में 'तीस साल का युद्ध' हुआ, जिसने देश के टुकड़े-टुकड़े करके उसका सत्यानाश कर दिया।

---

[1] 'एलिस इन दि वंडरलैंड' नाम की कहानी की पुस्तक में बयान की हुई एक कल्पित बिल्ली, जो सदा मुस्कराती रहती थी।

अठारहवीं सदी में भारत की हालत का मुक़ाबला कुछ-कुछ जर्मनी की उस हालत से किया जा सकता है, जो वहां तीस साल के युद्ध के ज़माने में थी। लेकिन यह मुक़ाबला ज़्यादा आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। दोनों देशों में आर्थिक ढांचा टूट रहा था और पुराने सामन्त वर्ग के लिए कोई जगह नहीं रही थी। हालांकि भारत में सामन्तशाही आख़िरी सांसें ले रही थी, लेकिन उसका अन्त बहुत दिनों तक नहीं हुआ। और क़रीब-क़रीब नष्ट होने पर भी उसका ऊपरी रूप बना ही रहा। असल में आज दिन भी भारत में और यूरोप के कुछ हिस्सों में सामन्तशाही के बहुत-से बचे-खुचे निशान बाक़ी हैं।

मुग़ल साम्राज्य इन्हीं आर्थिक परिवर्तनों के कारण भंग हुआ, लेकिन इस मौक़े से फ़ायदा उठाकर सत्ता छीनने के लिए कोई मध्यमवर्ग मौजूद न था। इंग्लैण्ड की तरह इन वर्गों का प्रतिनिधि-जैसा कोई संगठन या परिषद् भी न थे। हद दरजे के अत्याचारी शासन ने आम लोगों को बहुत-कुछ चापलूस बना दिया था और आज़ादी की जो कुछ भी पुरानी भावनाएं थीं, वे क़रीब-क़रीब भुलाई जा चुकी थीं। लेकिन, जैसा कि आगे चलकर इसी पत्र में ज़िक्र किया जायगा, कुछ-कुछ सामन्त वर्ग ने, कुछ-कुछ मध्यमवर्ग ने और कुछ-कुछ किसानों ने सत्ता छीनने की कोशिशें कीं और इनमें से कुछ कोशिशें सफलता के नज़दीक भी पहुंच गईं। ध्यान देने की ख़ास बात यह है कि सामन्तशाही के पतन, और मध्यमवर्ग के उदय के बीच मालूम होता है, अन्तर पड़ गया, क्योंकि मध्यमवर्ग में अभी सत्ता-ग्रहण करने की काफ़ी तैयारी नहीं थी। जब इस तरह का अन्तर पड़ जाता है तो ज़रूर गड़बड़ और उथल-पुथल होती है, जैसा कि जर्मनी में हुआ। यही हाल भारत में भी हुआ। छोटे-छोटे बादशाह और राजा देश पर अपना-अपना क़ब्ज़ा जमाने के लिए लड़ने लगे। लेकिन वे सब एक सड़ी हुई व्यवस्था के रूप थे, इसलिए उनकी नींव मज़बूत न थी। उनको एक नये ही वर्ग के लोगों से लड़ना पड़ा, जो इंग्लैण्ड के मध्यमवर्ग के नुमाइन्दे थे और जो उन्हीं दिनों अपने देश में विजय हासिल कर चुका था। इंग्लैण्ड का यह मध्यमवर्ग सामन्त वर्ग से ऊंची समाजी व्यवस्था का प्रतिनिधि था। वह उन नई हालतों से मेल खाता था, जो संसार में पैदा हो रही थीं; उसका संगठन ज़्यादा अच्छा और कारगर था; उसके पास ज़्यादा अच्छे हथियार और औज़ार थे, जिनके ज़रिये वह ज़्यादा कारगर तरीक़ों से लड़ सकता था; और समुद्र पर भी उसका अधिकार था। भारत के सामन्ती राजाओं का इस नई शक्ति के मुक़ाबले में ठहरना असम्भव था और इसके सामने वे एक-एक करके ख़तम होते गये।

इस पत्र की यह भूमिका काफ़ी लम्बी हो गई। अब हमको ज़रा पीछे चलना चाहिए। औरंगज़ेब के शासन के पिछले दिनों में जनता के जो विद्रोह हुए और हिन्दुओं में जो धार्मिक राष्ट्रीयता जागी, उनका ज़िक्र मैं अपने पिछले पत्र में भी

कर चुका हूं। अब मैं इस बारे में कुछ और बतलाऊंगा। मुग़ल साम्राज्य के अलग-अलग हिस्सों में कुछ-कुछ धार्मिक स्वरूपवाले जन-आन्दोलन शुरू होते दिखलाई पड़ने लगे थे। कुछ समय तक तो ये आन्दोलन शान्ति से चलते रहे; राजनीति से इनका कोई ताल्लुक न था। हिन्दी, मराठी, पंजाबी वग़ैरा देशी भाषाओं में गीत और भजन बने, जिनका खूब प्रचार हुआ और जिनसे जनता में चेतना पैदा हो गई। लोकप्रिय धर्म-प्रचारकों के पीछे बहुत-से पन्थ बन गये। आर्थिक परिस्थितियों के दबाव ने जल्द ही इन पन्थों का ध्यान राजनैतिक सवालों की तरफ़ खींचा। शासक वर्ग यानी मुग़ल साम्राज्य से रगड़े-झगड़े होने लगे। नतीजा यह हुआ कि पन्थ पर दमन हुआ। इस दमन ने शान्ति के रास्ते चलनेवाले पन्थ को सैनिक बिरादरी के रूप में बदल दिया। सिक्खों और दूसरे कई पन्थों का विकास इसी तरह हुआ। मराठों का इतिहास ज़्यादा उलझा हुआ है, लेकिन वहां भी यही दिखलाई पड़ता है कि धर्म और राष्ट्रीयता ने मिलकर मुग़लों के ख़िलाफ़ तलवार उठाई। मुग़ल साम्राज्य का नाश अंग्रेज़ों के हाथों से नहीं हुआ, बल्कि इन मज़हबी राष्ट्रीय आन्दोलनों और ख़ासकर मराठों की वजह से हुआ। इन आन्दोलनों को औरंगज़ेब की मज़हबी बैर की नीति से क़ुदरती तौर पर बल मिला। यह भी सम्भव है कि अपनी हुकूमत के ख़िलाफ़ इस बढ़ती हुई मज़हबी चेतना ने औरंगज़ेब को और भी ज़्यादा कट्टर व तास्सुबी बना दिया हो।

१६६९ ई० में ही मथुरा के जाट किसानों ने बलवा कर दिया। बार-बार उनको दबाया गया, लेकिन वे तीस साल से ऊपर तक, यानी औरंगज़ेब की मृत्यु तक, बार-बार सिर उठाते रहे। याद रहे कि मथुरा आगरे के बहुत नज़दीक है, यानी ये बलवे राजधानी के पास ही हुए थे। दूसरा बलवा सतनामियों ने किया, जो साधारण लोगों का एक हिन्दू पन्थ था। इसलिए यह भी ग़रीब आदमियों का बलवा था और अमीरों, हाकिमों, वग़ैरा के विद्रोहों से बिलकुल अलग तरह का था। उस समय का एक मुग़ल अमीर-सरदार इनके बारे में नफ़रत से लिखता है कि यह "ख़ून के प्यासे पाजी बाग़ियों का गिरोह था, जिसमें सुनार, बढ़ई, भंगी, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल थे।" उसकी राय में ऐसे 'नीच लोगों' को अपने से ऊंचे लोगों के ख़िलाफ़ बलवा करने में शर्म आनी चाहिए थी।

अब हम सिक्खों की तरफ़ आते हैं और उनके इतिहास का सिलसिला कुछ समय पहले से शुरू करेंगे। तुम्हें याद होगा कि मैंने गुरु नानक का ज़िक्र किया था। इनकी मृत्यु बाबर के भारत में आने के कुछ ही साल बाद हो गई। वह उन लोगों में से थे, जिन्होंने हिन्दू-धर्म और इस्लाम को एक ही मंच पर लाने की कोशिश की। इनके बाद तीन 'गुरु' और हुए, जो इन्हींकी तरह शान्तिप्रिय थे, और सिर्फ़ धर्म की बातों में ही दिलचस्पी रखते थे। अकबर ने चौथे गुरु को अमृतसर के तालाब

और स्वर्ण मन्दिर के लिए ज़मीन दी थी। तबसे अमृतसर सिक्ख धर्म का केन्द्र बन गया है।

इसके बाद पांचवें गुरु अर्जुनसिंह हुए, जिन्होंने ग्रन्थसाहब का संकलन किया। यह बानियों और भजनों का संग्रह है और सिक्खों का पवित्र ग्रन्थ माना जाता है। एक राजनैतिक अपराध के लिए जहांगीर ने अर्जुनसिंह को यन्त्रणाएं[1] देकर मरवा डाला। सिक्खों के इतिहास की घड़ी बस यहीं से बदल गई। गुरु के साथ अन्याय और बेरहमी के इस बर्ताव ने उनमें गुस्सा भर दिया और उन्होंने तलवारें उठा लीं। छठवें गुरु हरगोविंद के समय में वे एक सैनिक बिरादरी बन गये; और तबसे हुकूमत के साथ उनकी अक्सर मुठभेड़ होने लगी। गुरु हरगोविंद ख़ुद दस साल तक जहांगीर की क़ैद में रहे। नवें गुरु तेग़बहादुर औरंगज़ेब के ज़माने में हुए। औरंगज़ेब ने इनको इस्लाम क़बूल करने का हुक्म दिया और इन्कार करने पर इनको क़त्ल करवा डाला। दसवें और आख़िरी गुरु गोविन्दसिंह थे। उन्होंने सिक्खों को एक बलशाली सैनिक सम्प्रदाय बना दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य दिल्ली के बादशाह से लड़ना था। ये औरंगज़ेब की मृत्यु के एक साल बाद मरे। इनके बाद से अबतक कोई गुरु नहीं हुआ। कहते हैं कि गुरु के अधिकार अब सारे सिक्ख सम्प्रदाय में हैं, जो 'ख़ालसा' कहलाता है।

औरंगज़ेब की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद सिक्खों ने बग़ावत कर दी। इसे दबा तो दिया गया, लेकिन सिक्ख लोग अपना बल बढ़ाते रहे और पंजाब में अपनी हैसियत को मज़बूत बनाते रहे। आगे चलकर, इसी सदी के अन्त में, पंजाब में रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत पैदा होनेवाली थी।

ये सब बग़ावतें तो दिक़्क़त में डालनेवाली थी हीं, पर मुग़ल साम्राज्य को असली ख़तरा दक्षिण-पश्चिम में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति से था। शाहजहां के राज्य में ही शाहजी भोंसले नामक एक मराठा सरदार ने सर उठाया था। वह पहले तो अहमदनगर की रियासत में और बाद में बीजापुर रियासत में हाकिम रहा था। लेकिन मराठों का गौरव और मुग़ल साम्राज्य को थर्रा देनेवाला अगर कोई था तो वह इसका पुत्र शिवाजी था, जिसका जन्म १६२७ ई० में हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू कर दी और पूना के पास पहला क़िला जीत लिया। वह एक वीर सेना-नायक, छापामारों का आदर्श नेता और हौसलेबाज था। उसने बहादुर और मज़बूत पहाड़ियों का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया, जो उसपर जान देते थे। इनकी मदद से उसने बहुत से किलों पर कब्ज़ा

---

[1] यन्त्रणा—शरीर को भयंकर पीड़ा पहुंचाना—जैसे गर्म लोहे से दागना, भाले चुभोना, शिकंजे में कसना वग़ैरा।

कर लिया और औरंगज़ेब के सिपहसालारों को खूब परेशान किया। १६६५ ई० में उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहां अंग्रेज़ों का कारखाना था, और शहर को लूट लिया। बातों में आकर वह आगरे में औरंगज़ेब के दरबार में भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक स्वाधीन राजा का-सा बर्ताव नहीं किया गया तो उसे लगा कि उसे नीचा दिखाया गया है और उसका अपमान किया गया है। उसे वहां क़ैद कर लिया गया, लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगज़ेब ने उसे राजा का खिताब देकर अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई छेड़ दी। दक्षिण के मुग़ल हाकिम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी हिफ़ाज़त के लिए उसे धन देने लगे। यही वह इतिहास-प्रसिद्ध 'चौथ' यानी लगान का चौथा अंश, थी जिसे मराठे लोग जहां जाते वहीं वसूल करते थे। इस तरह मराठों की शक्ति तो बढ़ती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमज़ोर होता गया। १६७४ ई० में शिवाजी ने रायगढ़ में बड़ ठाट-बाट के साथ राजमुकुट पहना। १६८० ई० में, उसकी मृत्यु तक वह बराबर जीत-पर-जीत हासिल करता रहा।

तुम्हें मराठा प्रदेश के केन्द्र पूना शहर में रहते हुए कुछ समय हो गया है और तुम्हें मालूम हो गया होगा कि वहां के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते हैं और उसकी कितनी पूजा करते हैं। जिस धार्मिक राष्ट्रीय जागृति का ज़िक्र मैं अभी कर चुका हूं, उसका यह नमूना था। आर्थिक संकट और आम जनता की तबाही ने ज़मीन तैयार कर दी थी; और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठी सन्त कवियों ने अपनी कविताओं और भजनों से इसमें खाद डाल दी। इस तरह मराठों को जागृति और एकता हासिल हुई और ठीक उसी समय एक तेजस्वी सेनानी पैदा हो गया, जो उनका नेता बनकर जीत दिलानेवाला था।

शिवाजी के पुत्र संभाजी को मुग़लों ने यंत्रणाएं देकर मरवा डाला, लेकिन कुछ धक्कों के बाद मराठों की ताक़त फिर बढ़ने लगी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य हवा में ग़ायब होने लगा। सारे सूबेदार राजधानी से अपना ताल्लुक़ तोड़कर स्वाधीन बन बैठे। बंगाल अलग हो गया। यही हाल अवध और रुहेलखण्ड का हुआ। दक्षिण में वज़ीर आसफ़जाह ने एक राज्य क़ायम किया, जो आजकल रियासत हैदराबाद कहलाता है। मौजूदा निज़ाम आसफ़जाह का वंशज है। औरंगज़ेब के मरने के बाद सत्रह वर्ष के भीतर ही साम्राज्य क़रीब-क़रीब खतम हो गया। लेकिन दिल्ली और आगरा में, बिना साम्राज्यवाले नाम के कई बादशाह एक-के-बाद एक गद्दी पर बैठते रहे।

जैसे-जैसे साम्राज्य कमज़ोर होता गया वैसे-ही-वैसे मराठों की ताक़त बढ़ती गई। उनका प्रधान मंत्री, जो पेशवा कहलाता था, राजा पर हावी होकर असली

सत्ताधारी बन बैठा। पेशवाओं की गद्दी, जापान के शोगुनों की तरह, पुश्तैनी मानी जाने लगी और राजा पीछे ढकेल दिया गया। दिल्ली का सम्राट् इतना कमज़ोर हो गया कि उसने सारे दक्षिण में चौथ वसूल करने के मराठों के अधिकार को मंजूर कर लिया। पेशवा को इतने पर भी संतोष न हुआ और उसने गुजरात, मालवा और मध्य भारत पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। १७३७ ई० में उसकी फ़ौजें ठेठ दिल्ली के फाटक पर जा पहुंचीं। ऐसा मालूम होता था कि भारत पर सिर्फ़ मराठों का ही क़ब्ज़ा होनेवाला है। सारे देश में उनकी धाक थी। लेकिन १७३९ ई० में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ से अचानक एक हमला हुआ, जिसने ताक़त की तराज़ू का पलड़ा उलट दिया और उत्तर-भारत का नक़शा ही बदल दिया।

## : ९२ :
# भारत में अपने प्रतिद्वंद्वियों पर अंग्रेज़ों की विजय

१३ सितम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य की हालत बहुत ख़राब थी। असल में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के लिहाज़ से तो उसकी कोई हस्ती ही न थी। लेकिन दिल्ली और उत्तर भारत का इससे भी ज़्यादा पतन होनेवाला था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूं, भारत में उन दिनों ले-भग्गुओं का बोलबाला था। उत्तर-पश्चिम से एक लुटेरों के राजा ने अचानक आकर धावा बोल दिया और बहुत-सी ख़ून-ख़राबी और लूट-मार करके वह बेशुमार दौलत लेकर चम्पत हो गया। यह नादिरशाह था, जो ईरान का शाह बन बैठा था। वह शाहजहां के बनवाये हुए मशहूर तख़्त ताऊस को भी साथ ले गया। यह भयंकर आफ़त १७३९ ई० में आई और इसने उत्तर भारत को पस्त कर दिया। नादिरशाह ने अपने राज्य की सरहद ठेठ सिन्ध नदी तक बढ़ा ली। इस तरह अफ़ग़ानिस्तान भारत से अलग हो गया। महाभारत और गांधार के ज़माने से लगाकर भारत के सारे इतिहास में अफ़ग़ानिस्तान का भारत से नज़दीकी रिश्ता रहा था। लेकिन अब वह कटकर अलग जा पड़ा।

सत्रह वर्ष के भीतर ही दिल्ली पर एक और धावामार लुटेरा चढ़कर आया। यह अहमदशाह दुर्रानी था, जो अफ़ग़ानिस्तान में नादिरशाह का उत्तराधिकारी था। लेकिन इन हमलों के होते हुए भी मराठों की शक्ति लगातार बढ़ती ही गई; और १७५८ ई० में पंजाब पर भी इनका क़ब्ज़ा हो गया। उन्होंने इन सब जीते हुए हिस्सों पर कोई संगठित सरकार क़ायम करने की कोशिश नहीं की। वे तो अपनी मशहूर 'चौथ' वसूल कर लेते थे और राज्य का भार वहीं के लोगों पर छोड़ देते थे। इस प्रकार उनको एक तरह से दिल्ली का सारा साम्राज्य विरासत में मिल

# भारत में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की लड़ाइयां
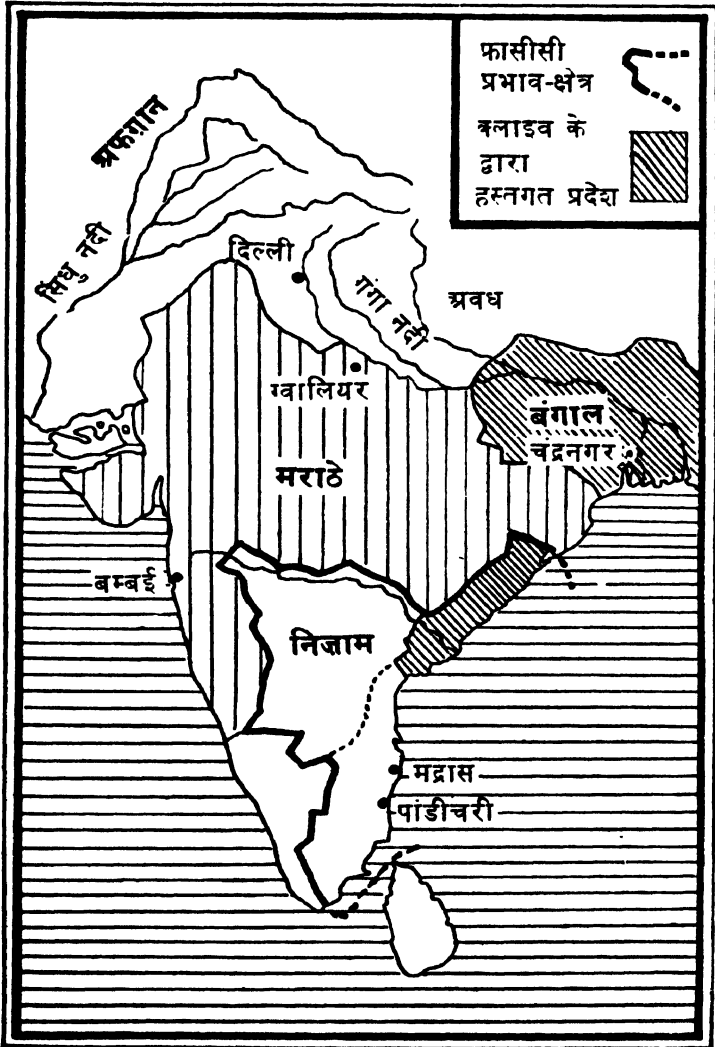
गया। लेकिन इसके बाद ही एक बड़ी रुकावट सामने आई । उत्तर-पश्चिम से दुर्रानी फिर चढ़ आया और उसने १७६१ ई० में पानीपत के पुराने जंगी मैदान में औरों की मदद से मराठों की एक बड़ी भारी फ़ौज को बुरी तरह हराया। अब दुर्रानी तमाम उत्तर-भारत का मालिक बन बैठा और उसे रोकनेवाली कोई शक्ति न थी। लेकिन विजय की इस घड़ी में उसे ख़ुद अपने ही आदमियों में झगड़े और विद्रोह का सामना करना पड़ा और वह अपने देश लौट गया।

कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होता था कि मराठों की हुकूमत के दिन पूरे हो गये और उनकी कोई गिनती न रही। जो बड़ा फल वे हासिल करना चाहते थे वह उनके हाथ से जाता रहा। लेकिन उन्होंने धीरे-धीरे अपनी हालत फिर सुधार ली और वे एक बार फिर भारत में सबसे ज़बर्दस्त अन्दरूनी ताक़त बन गये। मगर इसी अर्से में, जैसा कि मैं आगे बताऊंगा, इससे भी ज्यादा ज़बर्दस्त दूसरी शक्तियां प्रकट हुईं, जो कुछ पीढ़ियों तक के लिए भारत के भाग्य का निबटारा करनेवाली थीं। इसी समय में कई मराठे सरदार पैदा हो गये, जो पेशवा के मातहत समझे जाते थे। इनमें सबसे प्रमुख ग्वालियर का सिन्धिया था; बड़ौदा का गायकवाड़ और इन्दौर का होल्कर भी इन्हींमें से थे।

अब हमें दूसरी घटनाओं पर विचार करना चाहिए, जिनका ज़िक्र मैंने ऊपर किया है। दक्षिण भारत में इस ज़माने की सबसे बड़ी हक़ीक़त अंग्रेज़ों और फ़ान्सीसियों की लड़ाई है। अठारहवीं सदी में यूरोप में इंग्लैण्ड और फ़ान्स की अक्सर मुठभेड़ होती रहती थी और उनके प्रतिनिधि भारत में भी एक दूसरे से लड़ते थे। लेकिन कभी-कभी यूरोप में दोनों देशों में बाक़ायदा सुलह होने पर भी भारत में ये लड़ते रहते थे। दोनों तरफ़ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करनेवाले हौसलेबाज़ थे, जिनकी हद से ज्यादा कामना थी धन और शक्ति हासिल करना। इसलिए इनके बीच घोर प्रतियोगिता होना कुदरती बात थी। फ्रान्सीसियों में उस समय सबसे ज्यादा ज़ोरदार आदमी डूप्ले था और अंग्रेज़ों में क्लाइव। डूप्ले ने दो रियासतों के आपसी झगड़ों में दख़ल देने का फ़ायदेमन्द खेल शुरू किया; पहले तो वह अपने सिखाये हुए सिपाही किराये पर दे देता और बाद में रियासत हड़प जाता। फ्रान्सीसियों का प्रभाव बढ़ने लगा; लेकिन अंग्रेज़ों ने भी बहुत जल्दी उनके तरीक़ों को अपना लिया और उसे भी आगे बढ़ गये। भूखे गिद्धों की तरह दोनों गड़बड़ी की ताक में रहते थे और उस वक़्त ऐसी गड़बड़ काफ़ी मिल भी जाती थी। दक्षिण में जब कभी उत्तराधिकार के बारे में झगड़ा होता तो शायद अंग्रेज़ एक दावेदार की ओर फ़ान्सीसी दूसरे की तरफ़दारी करते दिखाई पड़ते थे। पन्द्रह साल के लड़ाई-झगड़े (१७४६-१७६१ ई०) के बाद इंग्लैण्ड ने फ़ान्स पर विजय पाई। भारत में अंग्रेज़ हौसलेबाज़ों को अपने देश की पूरी हिमायत थी;

लेकिन डूप्ले और उसके साथियों को फ्रान्स से ऐसी कोई सहायता नहीं मिली। यह ताज्जुब की बात नहीं है। भारत में रहनेवाली अंग्रेजों की पीठ पर ब्रिटिश व्यापारी लोग और ईस्ट इंडिया कम्पनी के हिस्सेदार दूसरे लोग थे, और वे पार्ल-मेण्ट और सरकार पर असर डाल सकते थे; लेकिन फ़ान्सीसियों के ऊपर उस वक़्त पन्द्रहवां लुई (महान् सम्राट् चौदहवें लुई का पोता और उत्तराधिकारी) था, जो मज़े के साथ सत्यानाश की ओर दौड़ रहा था। समुद्र पर अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े ने भी इसमें बहुत मदद पहुंचाई। अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी दोनों ही भारतीय सैनिकों को, जो सिपाही कहलाते थे, फ़ौजी तालीम देते थे; और चूंकि इन सिपाहियों के पास देशी फ़ौजों से अच्छे हथियार होते थे, और इनका अनुशासन भी उनसे अच्छा होता था, इसलिए इनकी बड़ी मांग रहती थी।

बस, अंग्रेज़ों ने भारत में फ्रान्सीसियों को हरा दिया और चन्द्रनगर व पांडि-चेरी के फ़ान्सीसी शहरों को बिल्कुल तहस-नहस कर डाला। यह बर्बादी ऐसी हुई कि दोनों जगह एक भी मकान साबत न बचा। इस समय से फ़्रांसीसियों का भारत की रंगभूमि से हटना होना जारी हो गया, हालांकि बाद में उन्हें पांडिचेरी और चन्द्र-नगर फिर मिल गये और आज भी उनके क़ब्ज़े में हैं, लेकिन इनका महत्व कुछ नहीं है।[1]

इस ज़माने में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों का जंगी-मैदान सिर्फ़ भारत ही न था। यूरोप के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहों में भी लड़े। कनाडा में भी अंग्रेज़ों की जीत हुई। लेकिन थोड़े दिन बाद ही इंग्लैण्ड अमेरिका के उपनिवेशों से हाथ धो बैठा और फ़्रांस ने इन उपनिवेशों को मदद देकर अंग्रेज़ों से अपना बदला चुकाया। लेकिन इन सब बातों के बारे में हम आगे के किसी पत्र में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

फ़्रांसीसियों को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेज़ों के रास्ते में और क्या रुकावटें रह गई थीं? पश्चिम में, मध्य-भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निज़ाम भी था। लेकिन उसकी ज्यादा बिसात नहीं थी। हां, दक्षिण में एक नया और शक्तिशाली दुश्मन हैदरअली था। वह पुराने विजयनगर साम्राज्य के बचे-खुचे टुकड़ों का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बंगाल सिराजुद्दौला नामक एक बिलकुल निकम्मे आदमी के मातहत था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक ख़याल-ही-ख़याल रह गया था। लेकिन काफ़ी मजेदार बात यह है कि १७५६ ई० तक, यानी नादिरशाह के हमले के बहुत बाद तक, जिसने केन्द्रीय सरकार की छाया तक मिटा दी थी, अंग्रेज़ लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के

[1] सन् १९५४ में भारत की ये फ्रांसीसी बस्तियां स्वतंत्र भारत और फ्रांस के आपसी सुलहनामे के अनुसार भारत के अधिकार में आ गई हैं।

चिन्ह-रूप से नज़राने भेंट करते रहे। तुम्हें याद होगा कि औरंगज़ेब के समय में एक बार बंगाल में अंग्रेज़ों ने सिर उठाने की कोशिश की थी। लेकिन वे बुरी तरह हारे थे और इस हार ने उनका दिमाग इतना ठंडा कर दिया था कि दुबारा हिम्मत करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालांकि उत्तर की हालत तो मानों किसी पक्के इरादेवाले आदमी को खुला न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नामक अंग्रेज़, जिसकी उसके देशवासी एक महान् साम्राज्य-निर्माता की तरह तारीफ़ करते हैं, ऐसा ही पक्के इरादेवाला आदमी था। अपनी जात से और अपने कारनामों से वह मिसाल पेश करता है कि साम्राज्य किस तरह खड़े किये जाते हैं। वह बड़ा दिलेर, हौसलेबाज़ और हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाज़ी और धोखेबाज़ी से भी नहीं चूकता था, बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अंग्रेजों की बहुत-सी कार्रवाइयों से चिढ़ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढ़कर आया और उसने कलकत्ते पर क़ब्ज़ा कर लिया। 'काल-कोठरी' की कही जानेवाली दुखद घटना, कहते हैं, इसी समय हुई थी। किस्सा यों बतलाया जाता है कि नवाब के हाकिमों ने बहुत-से अंग्रेज़ों को रात भर एक छोटी-सी और दम घोंटनेवाली कोठरी में बन्द कर दिया और उनमें बहुत-से आदमी दम घुटने से मर गये। यह हरकत बेशक जंगली और दिल दहलानेवाली है, लेकिन यह सारा किस्सा एक ऐसे आदमी के बयान पर निर्भर है जो ज़्यादा भरोसे के लायक नहीं माना जाता। इसलिए बहुत-से लोगों का खयाल है कि यह सारा किस्सा ज़्यादातर झूठा है और कम-से-कम बढ़ा-चढ़ाकर बनाया हुआ तो ज़रूर है।

नवाब ने कलकत्ते पर क़ब्ज़ा करके जो कामयाबी हासिल की उसका बदला क्लाइव ने ले लिया। लेकिन इसके लिए इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के वज़ीर मीर जाफ़र को गद्दारी करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज़, जिसका क़िस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर अपने ही ढंग से काम किया। जालसाज़ी और धोखेबाज़ी के ज़रिये रास्ता साफ़ करके क्लाइव ने १७५७ ई० में नवाब को पलासी की लड़ाई में हरा दिया। जैसी लड़ाइयां हुआ करती हैं, उनके मुक़ाबले में यह लड़ाई छोटी थी, और इसे तो क्लाइव ने असल में अपनी साज़िशों से, लड़ाई शुरू होने के पहले ही, क़रीब-क़रीब जीत लिया था। लेकिन पलासी की इस छोटी-सी लड़ाई का नतीजा बहुत बड़ा निकला। इसने बंगाल के भाग्य का फ़ैसला कर दिया। भारत में ब्रिटिश राज्य की शुरूआत अक्सर पलासी से ही मानी जाती है। छल-कपट और जालसाज़ी की इस गन्दी नींव पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की इमारत खड़ी हुई। लेकिन सब साम्राज्यों और साम्राज्य-निर्माताओं का क़रीब-क़रीब यही ढंग होता है।

भाग्यचक्र के इस अचानक परिवर्तन ने बंगाल के हौसलेबाज़ और लालची

अंग्रेज़ों का दिमाग आसमान पर चढ़ा दिया। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकनेवाला कोई न रहा। बस, क्लाइव की सरदारी में उन्होंने बंगाल के ख़जाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिलकुल ख़ाली कर डाला। क्लाइव ने क़रीब २५ लाख रुपये नक़द खुद अपनी नज़र किये और इतने पर भी संतोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की एक बड़ी क़ीमती जागीर भी हड़प कर ली! बाक़ी के सब अंग्रेजों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। दौलत के लिए बड़ी शर्मनाक छीना-झपटी मची और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों का लालच और असत्य तो सब मर्यादाओं को पार कर गया। अंग्रेज़ लोग बंगाल के नवाब-विधाता बन गये और अपनी मर्ज़ी के माफ़िक नवाबों को बदलने लगे। हरेक परिवर्तन के साथ घूस और भारी-भारी नज़राने चलते थे। शासन की ज़िम्मेदारी उनपर न थी, यह तो बेचारे बदलते हुए नवाब का काम था। उनका काम तो था जल्दी-से-जल्दी मालदार बन जाना।

कुछ वर्ष बाद, १७६४ ई० में, अंग्रेज़ों ने बक्सर में एक और लड़ाई जीती। इसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली के नाम के बादशाह ने भी उनकी मातहती कबूल करली। उन्होंने उसे पेंशन दे दी। अब बंगाल और बिहार में अंग्रेज़ों के प्रभुत्व को चुनौती देनेवाला कोई न रहा। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे, उससे उनको संतोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीक़े निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन अब वे उन ज़कातों को, जो देशी माल के व्यापारियों को देनी पड़ती थीं, दिये बिना ही व्यापार करने पर उतारू हो गये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अंग्रेज़ों की यह पहली चोट थी।

उत्तर भारत में अंग्रेज़ों की हैसियत अब ऐसी हो गई थी कि शक्ति और दौलत तो उनके हाथ में थी, लेकिन ज़िम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारी-लुटेरों को यह पता लगाने की ज़रूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार, बेईमानी के व्यापार, और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार में क्या फ़र्क है। ये वे दिन थे जब अंग्रेज़ लोग भारत से मालामाल होकर इंग्लैण्ड लौटते थे और 'नवाब' कहलाते थे। अगर तुमने थैकरे[1] का 'वैनिटी फेयर'' पढ़ा है तो उसमें आये हुए ऐसे ही एक घमंडी आदमी का तुमको ख़याल होगा।

राजनैतिक जोखिम और गड़बड़ें, वर्षा की कमी, और अंग्रेज़ों की हड़पने की नीति, इन सबका नतीजा यह हुआ कि १७७० ई० में बंगाल और बिहार में एक बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। कहा जाता है कि इन इलाकों की एक-तिहाई से ज्यादा आबादी ख़तम हो गई। इस दिल दहलानेवाली संख्या का ख़याल तो

---

[1] विलियम मेकपीस थैकरे—इंग्लैण्ड का मशहूर उपन्यासकार।

करो ! कितने लाख आदमी भूख से तड़प-तड़पकर मर गये ! इलाके-के-इलाके वीरान हो गये और वहां जंगल पैदा हो गये, जिन्होंने उपजाऊ खेतों और गांवों को ढक दिया। भूख से मरनेवालों की मदद के लिए किसीने कुछ नहीं किया। नवाब के पास न तो ताक़त थी, न सत्ता और न इरादा। ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास ताकत और सत्ता तो थी, लेकिन वे कोई ज़िम्मेदारी या इरादा महसूस नहीं करते थे। उनका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुज़ारी वसूल करना था और उन्होंने यह काम अपनी जेबें भरने के लिए इतनी क़ाबलियत और ख़ूबी के साथ किया कि तुम्हें ताज्जुब होगा कि भयंकर अकाल और एक-तिहाई आबादी के नाश के बावजूद भी उन्होंने बचे हुए लोगों से मालगुज़ारी की पूरी रक़म वसूल कर ली ! असल में उन्होंने तो मालगुज़ारी से भी ज़्यादा वसूली करली और सरकारी रिपोर्ट में कहा गया कि यह काम उन्होंने 'ज़ोर-ज़बर्दस्ती के साथ' किया। भयानक आफ़त से बचे हुए भूख से अधमरे और कम्बख़्त लोगों से जो यह ज़बर्दस्ती और ज़ुल्म के साथ वसूली की गई, उसके वहशीपन को पूरी तरह ख़याल में लाना भी मश्किल है।

बंगाल में और फ़्रांसीसियों पर विजय के बावजूद दक्षिण मे अंग्रेज़ों को बड़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ा। आख़िरी विजय मिलने से पहले उनको कई बार हारना और नीचा देखना पड़ा। मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था। वह एक कुशल और ख़ूंख़ार सेनानायक था और उसने अंग्रेज़ी फ़ौजों को बार-बार हराया। १७६९ ई० में उसने ठेठ मद्रास के किले के नीचे अपने माफ़िक सुलह की शर्तें लिखवा लीं। दस साल बाद उसे फिर बहुत हद तक सफलता मिली और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेज़ों की राह का कांटा बन गया। टीपू को पूरी तौर पर हराने में मैसूर के दो युद्ध और हुए और कई साल लग गये। फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पुरखा अंग्रेज़ों की छत्रछाया में राजा की गद्दी पर बिठलाया गया।

१७८२ ई० में दक्षिण में मराठों ने भी अंग्रेज़ों को हराया। उत्तर में ग्वालियर के सिन्धिया का दबदबा था और दिल्ली का बेचारा अभागा सम्राट् उसकी मुट्ठी में था।

इसी अर्से में इंग्लैण्ड से वॉरन हेस्टिंग्ज भेजा गया। वह यहां का पहला गवर्नर जनरल हुआ। ब्रिटिश पार्लमेंट अब भारत के मामलों में दिलचस्पी लेने लगी। हेस्टिंग्ज़ भारत के अंग्रेज़ शासकों में सबसे बड़ा माना जाता है, लेकिन उसके समय में भी सरकारी इन्तज़ाम बहुत भ्रष्ट और बुराइयों से भरा हुआ मशहूर था। हेस्टिंग्ज़ की बहुत-सा रुपया ऐंठने की कई मिसालें मशहूर हो चुकी हैं। जब हेस्टिंग्ज इंग्लैण्ड लौटा तो भारत के प्रशासन के बारे में पार्लमेंट के सामने उसपर

इल्ज़ाम लगाया गया, लेकिन बहुत दिन मुक़दमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया। इससे पहले पार्लमेंट ने क्लाइव की भी निन्दा की थी और इसपर उसने तो सच-मुच आत्महत्या ही कर ली। इस तरह इन लोगों की निन्दा करके या इनपर मुकदमे चलाकर इंग्लैण्ड ने अपने मन को समझा लिया, लेकिन दिल-ही-दिल में वह इनकी क़द्र करता था और इनकी नीति से फ़ायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था। क्लाइव और हेस्टिंग्ज की भले ही निन्दा की गई हो, लेकिन ये लोग साम्राज्य-निर्माताओं के नमूने हैं, और जबतक ग़ुलाम क़ौमों पर ज़बर्दस्ती साम्राज्य लादे जायंगे और उनको निचोड़ा जायगा, तबतक ऐसे लोग आगे आवेंगे और क़द्र हासिल करेंगे। शोषण के तरीक़े अलग-अलग युगों में भले ही बदलते रहें, लेकिन भावना वही रहती है। ब्रिटिश पार्लमेंट ने क्लाइव की निन्दा भले ही की हो, लेकिन इन लोगों ने लंदन के ह्वाइट हाल[1] में इंडिया ऑफिस[2] के सामने ही, उसकी एक मूर्त्ति खड़ी कर रक्खी है; इंडिया ऑफिस के भीतर उसकी आत्मा आज तक निवास करती है और भारत में अंग्रेज़ों की नीति को ढालती है।

हेस्टिंग्ज़ ने अंग्रेज़ों के अंगूठे के नीचे भारतीय राजाओं को कठपुतलियों की तरह रखने की नीति शुरू की। ऊपरी तड़क-भड़क व ख़ाली दिमाग़वाले जो ढेरों महाराजा और नवाब भारत के रंगमंच पर अकड़ते फिर रहे हैं और अपने-आपको नफ़रत की चीज़ बना रहे हैं, उसके लिए हमें हेस्टिंग्ज़ की कुछ दाद देनी चाहिए।

भारत में जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ा वैसे-ही-वैसे मराठों, अफ़ग़ानों, सिक्खों, बर्मियों, वग़ैराओं से बहुत-से युद्ध हुए। लेकिन इन युद्धों के बारे में निराली बात यह थी कि हालांकि ये इंग्लैण्ड के फ़ायदे के लिए लड़े जाते थे, लेकिन इनका ख़र्चा भारत के सिर पड़ता था। इंग्लैण्ड या इंग्लैण्ड के निवासियों पर कोई बोझ नहीं पड़ता था। वे तो मज़े से फ़ायदा उठाते रहते थे।

याद रहे कि भारत पर ईस्ट इंडिया कंपनी, जो एक व्यापारी कंपनी थी, राज कर रही थी। ब्रिटिश पार्लमेंट का क़ब्ज़ा बढ़ता जा रहा था, लेकिन भारत का भाग्य ज़्यादातर व्यापारी मौक़ा-परस्तों की एक मंडली के हाथों में था। शासन ज़्यादातर व्यापार था और व्यापार ज़्यादातर लूट था। इनके बीच में भेद की रेखा बड़ी बारीक थी। कंपनी अपने हिस्सेदारों को हर साल १०० फ़ी सदी, १५० फ़ी सदी, और २०० फी सदी से ऊपर ज़बर्दस्त मुनाफ़े बांटती थी। इसके अलावा भारत में उसके एजेंट अपने लिए अच्छी रक़में बना लेते थे, जैसा कि हम क्लाइव के मामले

---

[1] व्हाइट-हाल (White Hall) लन्दन का वह भाग है, जिसमें सरकारी दफ्तर हैं।

[2] इंडिया-ऑफिस—लंदन में भारत-सचिव का दफ़्तर।

में देख चुके हैं। कंपनी के कर्मचारी व्यापार के ठेके भी ले लेते थ और इस तरह बहुत जल्द बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। भारत में कंपनी की हुकूमत इस तरह की थी।

: ९३ :

# चीन का एक महान् मंचू शासक

१५ सितम्बर, १९३२

मैं बिलकुल घबरा गया हूं और मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूं। बड़ी भयानक ख़बर यह आई है कि बापू ने अनशन करके ज्ञान दे देने का इरादा कर लिया है। मेरी छोटी-सी दुनिया, जिसमें उन्होंने इतनी बड़ी जगह घेर रक्खी है, थरथरा रही है और लड़खड़ा रही है, और मुझे चारों तरफ़ अंधेरा और सुनसान नज़र आ रहा है। एक साल से ज़्यादा हुआ तब मैंने उनको उस जहाज़ के डेक पर खड़े हुए देखा था, जो उन्हें भारत से दूर पश्चिम को ले जा रहा था—उसके बाद नहीं देखा, और उनकी वह तसवीर रह-रहकर मेरी आंखों के आगे आ जाती है। क्या उन्हें अब मैं दुबारा नहीं देखूंगा ? जब मुझे शंका होगी और नेक सलाह की ज़रूरत होगी या जब मैं मुसीबत और रंज में होऊंगा और मुझे प्यार-भरी तसल्ली की ज़रूरत होगी तब मैं किसके पास जाऊंगा ? जब हमारा प्यारा सरदार, जिसने हमको प्रेरणा दी है और जो हमारा रहनुमा रहा है, चला जायगा तो हम सब क्या करेंगे ? हाय ! भारत एक बदक़िस्मत देश है, जो अपने महान पुरुषों को इस तरह मरने देता है; और भारत के लोग ग़ुलाम हैं और उनके दिमाग़ भी ग़ुलामों के से हैं, जो खुद आज़ादी को तो भूल बैठे हैं और ज़रा-ज़रा-सी न-कुछ बातों पर झगड़े-टंटे करते रहते हैं।

मेरी तबीयत लिखने को बिलकुल नहीं कर रही है और मैंने तो पत्रों के इस सिलसिले को ख़तम तक कर देने का विचार किया है। लेकिन यह एक बेवक़ूफ़ी की बात होगी। इस कोठरी में पड़ा-पड़ा मैं क्या कर सकता हूं, सिवाय इसके कि पढ़ूं, लिखूं और विचार करूं ? और जब मैं उकता जाता हूं और परेशान हो जाता हूं तो तुम्हारा ख़याल करने और तुमका पत्र लिखने से ज़्यादा तसल्ली मुझे और किस बात में मिल सकती है ? रंज और आंसू इस दुनिया में कोई अच्छे साथी नहीं हैं। बुद्ध ने कहा है कि "सागर में जितना पानी है, उससे भी ज़्यादा आंसू बह चुके हैं", और यह कमबख़्त दुनिया जबतक ठीक-ठिकाने पर आवेगी तबतक न मालूम कितने आंसू और बहाये जायंगे। हमारा कर्त्तव्य अभी तक हमारे सामने पड़ा है। एक बड़ा काम हमको अब भी बुला रहा है, और जबतक वह काम पूरा न हो जाय तबतक हमको या हमारे पीछे आनेवालों को चैन नहीं मिल सकता। इसलिए

मैंने अपने मामूली ढर्रे को जारी रखने का इरादा कर लिया है और मैं पहले की तरह ही तुमको पत्र लिखता रहूंगा।

मेरे आखिरी कुछ पत्र भारत के बारे में थे और जो बयान मैंने लिखा है उसका पिछला हिस्सा कुछ नसीहत देनेवाला नहीं है। भारत चारों खाने चित्त पड़ा था और हरेक लुटेरे और ले-भग्गू का वह शिकार हो रहा था। पूर्व में उसके महान भाई चीन की हालत इससे बहुत अच्छी थी और अब हमें चीन की तरफ़ ही चलना चाहिए।

तुम्हें याद होगा कि मैंने तुमको मिंग-काल के खुशहाल दिनों का हाल लिखा था और यह बतलाया था कि किस तरह उसमें खराबियां और फूट घुस गईं और चीन के उत्तरी पड़ौसी मंचुओं ने हमला करके उसे जीत लिया। १६५० ई० से आगे के वर्षों में सारे चीन में मंचू लोगों के क़दम मज़बूती के साथ जम गये। इस आधे-विदेशी राजवंश के मातहत चीन बहुत मज़बूत हो गया और दूसरों पर हमले तक करने लगा। मंचू लोग एक नई स्फूर्ति लेकर आये, और जहां एक ओर वे चीन के घरू मामलों में कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहां वे अपनी फालतू शक्ति को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ़ अपना साम्राज्य बढ़ाने में खर्च करते थे।

नया राजवंश शुरू-शुरू में अक्सर कुछ समर्थ शासक पैदा करता है और बाद में धीरे-धीरे नालायकों में उसका अन्त हो जाता है। इसी तरह मंचुओं में भी कुछ असाधारण योग्यतावाले और लायक शासक और राजनीतिज्ञ पैदा हुए। कांग-ही दूसरा सम्राट् हुआ। जब यह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ़ आठ वर्ष की थी। इकसठ वर्षों तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा, जो अपने ज़माने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बड़ा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास में उसने जो जगह हासिल की है, वह न तो इस वजह से है, और न उसकी सिपाहियाना बहादुरी की वजह से। उसका नाम इसलिए अमर हुआ है कि वह एक राजनीतिज्ञ था और साहित्य में खास रुचि लेता था। वह १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट् रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक वह फ्रान्स के महान सम्राट चौदहवें लुई का समकालीन रहा। इन दोनों ने बहुत ही लम्बे अर्से तक राज किया, और रेकार्ड क़ायम करने की इस दौड़ में बहत्तर वर्ष राज्य करके लुई ने बाज़ी मार ली। इन दोनों की तुलना एक दिलचस्प चीज़ है। लेकिन यह तुलना सब तरह से लुई को ही नीचा गिरानेवाली है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी कर्ज़ों का बोझ उसके सिर पर लादकर उसे बिलकुल कमज़ोर बना दिया। मज़हबी मामलों में भी वह उदार नहीं था। कांग-ही कन्फ्यूशियस का पक्का अनुयायी था, लेकिन वह दूसरे मज़हबों की तरफ़ उदार था। उसके राज में, और असल में पहले चार मंचू सम्राटों के राज में, मिंग-संस्कृति से कोई छेड़-छाड़ नहीं की गई। उसका ऊंचा

आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमें तरक्क़ी भी हुई। उद्योग-धंधे, कला-कौशल, साहित्य और शिक्षा उसी तरह फूलते-फलते रहे जैसा कि मिंगों के ज़माने में। चीनी मिट्टी के अद्‌भुत बरतनों का बनना जारी रहा। रंगीन छपाई का आविष्कार हुआ और तांबे पर नक्काशी का काम जेज़ुइट लोगों से सीखा गया।

मंचू शासकों की नीतिकुशलता और सफलता का भेद इस बात में था कि वे चीन की संस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। चीन के विचारों और संस्कृति को अपनाकर भी उन्होंने कम सभ्य मंचुओं की शक्ति और क्रियाशीलता को खोया नहीं। इस तरह से कांग-ही एक असाधारण और अजीब खिचड़ी था, यानी दर्शन और साहित्य को लगन के साथ अध्ययन करनेवाला, संस्कृति की हलचलों में डूबा हुआ, और साथ ही कुशल सेनानायक, जिसे मुल्क जीतने का ज़रा ज़्यादा शौक़ था। वह साहित्य और कला-कौशल का कोई नया शौकीन या दिखाऊ प्रेमी न था। उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाज़ा तुम उसके साहित्य से ताल्लुक रखनेवाले कामों में नीचे लिखी तीन रचनाओं से लगा सकती हो, जो उसकी सलाह से और ज़्यादातर ख़ुद उसीकी देखरेख में तैयार की गईं थीं।

तुम्हें याद होगा कि चीनी भाषा में चिन्ह हैं; शब्द नहीं। कांग-ही ने चीनी भाषा का एक कोश (डिक्शनरी) तैयार करवाया। यह एक ज़बर्दस्त ग्रंथ था जिसमें चालीस हज़ार से ज़्यादा चिन्ह थे और उनका इस्तेमाल बतलानेवाले कितने ही फ़िक़रे थे। आज तक भी उसकी जोड़ का कोई ग्रंथ नहीं है।

कांग-ही के उत्साह ने हमें जो एक और रचना दी, वह एक बड़ा भारी सचित्र विश्वकोश है, जो कई सौ जिल्दोंवाला एक अद्‌भुत ग्रंथ है। यह एक पूरा पुस्तकालय था; इसमें हरेक बात को लिया गया था, हरेक विषय पर विचार किया गया था। कांग-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रन्थ तांबे के ठप्पों से छापा गया।

महत्व की जिस तीसरी रचना का मैं यहां जिक्र करूंगा, वह थी सारे चीन के साहित्य का निचोड़, यानी ऐसा कोश, जिसमें शब्दों को और पुस्तकों के अंशों को जमा किया गया और उनका मुक़ाबला किया गया था। यह भी एक असाधारण काम था, क्योंकि इसके लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन ज़रूरी था। कवियों, इतिहास-लेखकों और निबन्ध-लेखकों की रचनाओं की पूरी-पूरी इबारतें इसमें दी गई थीं।

कांग-ही ने साहित्य के मैदान में और भी कितने ही काम किये। लेकिन किसीपर भी छाप डालने के लिए ये तीन ही काफ़ी हैं। इनमें से किसीकी भी टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रंथ मेरी निगाह में नहीं आता, सिवाय उस बड़ी 'ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' के, जिसे बनाने में कितने ही विद्वानों ने पचास वर्ष से ज़्यादा मेहनत की और जो अभी कुछ ही वर्ष हुए पूरी हुई है।

कांग-ही ईसाई मजहब और ईसाई मिशनरियों की तरफ़ काफ़ी झुका हुआ था। वह विदेशों के साथ व्यापार को बढ़ावा देता था और उसने चीन के सारे बन्दरगाह इसके लिए खोल दिये थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि यूरोप के लोग बदमाशी करते हैं और उनपर पाबन्दी लगाने की ज़रूरत है। उसे यह शक हो गया, जिसके लिए काफ़ी सबूत थे, कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारों के साम्राज्यवादियों के साथ साज़िशें कर रहे हैं। इससे उसे ईसाइयत की तरफ अपना उदार रवैया छोड़ देना पड़ा। बाद में कैन्टन के चीनी फ़ौजी अफ़सर से जो रिपोर्ट मिली, उससे उसके संदेह मज़बूत हो गये। इस रिपोर्ट में बतलाया गया था कि फिलिपाइन और जापान में, यूरोप की सरकारों और उनके सौदागरों और मिशनरियों के बीच में कितना नज़दीकी ताल्लुक़ था। इसलिए इस अफ़सर ने यह सिफ़ारिश की थी कि बाहरी हमलों और विदेशियों की साज़िशों से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पाबन्दी लगाई जाय और ईसाइयत के प्रचार को बन्द किया जाय।

यह रिपोर्ट १७१७ ई० में पेश की गई थी। पूर्वी देशों में विदेशियों की साज़िशों पर और उनकी उन नीयतों पर यह काफ़ी रोशनी डालती है, जिनकी वजह से इन देशों को विदेशी व्यापार और ईसाइयत के प्रचार पर पाबन्दी लगानी पड़ी। तुम्हें शायद याद होगा कि जापान में भी ऐसी ही घटना हुई थी, जिसकी वजह से इस देश को दूसरों के लिए बन्द कर दिया गया था। अक्सर यह कहा जाता है कि चीनी व दूसरे लोग पिछड़े हुए और जाहिल हैं और विदेशियों से नफ़रत करते हैं और उनकी तिजारत के रास्ते में दिक्कतें पैदा करते हैं। लेकिन सच तो यह है कि हमने इतिहास का जो सिंहावलोकन किया है, उससे यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि बहुत पुराने ज़माने से भारत, चीन व दूसरे देशों के बीच खूब आवा-जाई होती थी। विदेशियों या विदेशी व्यापार से नफ़रत करने का तो कोई सवाल ही न था। सच तो यह है कि बहुत वर्षों तक तो विदेशी मंडियों पर भारत का ही क़ब्ज़ा रहा। जब विदेशी व्यापारियों के रिसाले खुल्लम-खुल्ला पश्चिमी यूरोप की शक्तियों के साम्राज्य को बढ़ाने के काम में लाये जाने लगे, तभी जाकर पूर्व में उनको संदेह की नज़र से देखा जाने लगा।

कैन्टन के अफ़सर की रिपोर्ट को चीन की बड़ी राज्य परिषद् ने विचार करके मंजूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट् कांग-ही ने उसके मुताबिक कार्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियों के प्रचार पर सख़्त पाबन्दी लगाने के हुक्म जारी कर दिये।

अब मैं थोड़ी देर के लिए ख़ास चीन को छोड़कर तुम्हें एशिया के उत्तर की ओर, यानी साइबेरिया, ले जाना चाहता हूं और यह बतलाना चाहता हूं कि वहां

क्या हो रहा था। साइबेरिया का लम्बा-चौड़ा मैदान सुदूर-पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। मैं कह चुका हूं कि चीन का मंचू साम्राज्य बड़ा सरज़ोर था। इसमें मंचूरिया तो शामिल था ही, लेकिन यह मंगोलिया और उसके परे तक भी फैला हुआ था। सुनहरे कबीले के मंगोलों को बाहर निकालकर रूस भी एक मज़बूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व में साइबेरिया के मैदानों की तरफ़ बढ़ रहा था। ये दोनों साम्राज्य अब साइबेरिया में आकर मिलते हैं।

एशिया में मंगोलों का तेज़ी के साथ कमज़ोर होकर गिर जाना इतिहास की एक अजीब घटना है। ये लोग, जिनका डंका सारे एशिया और यूरोप में बजता था और जिन्होंने चंगेज़खां और उसके वंशजों के मातहत उस वक्त की दुनिया का ज़्यादातर हिस्सा जीत लिया था, बिलकुल भुला दिये गए। तैमूर के ज़माने में कुछ दिनों तक इन्होंने फिर सिर उठाया था, लेकिन उसका साम्राज्य उसीके साथ खतम हो गया। उसके बाद उसके वंश के कुछ लोग, जो तैमूरिया कहलाते थे, मध्य एशिया में हुकूमत करते रहे और हमको मालूम है कि उनके दरबारों में चित्रकला की एक मशहूर कलम का विकास हुआ। भारत में आनेवाला बाबर तैमूरिया था। लेकिन इन तैमूरिया शासकों के बावजूद रूस से लगाकर अपनी जन्मभूमि मंगोलिया तक सारे एशिया में मंगोल जाति गिरकर अपना सारा महत्व खो बैठी। उसने ऐसा क्यों किया, यह कोई नहीं बतला सकता। कुछ लोगों की राय है कि आबहवा का इसमें कुछ हाथ है, दूसरे लोगों की दूसरी राय है। जो कुछ भी हो, आज तो इन पुराने विजेताओं और हमलावरों पर खुद ही सब तरफ़ से हमले हो रहे हैं।

मंगोल साम्राज्य के तहस-नहस हो जाने के बाद क़रीब-क़रीब दो सौ वर्षों तक एशिया में होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवीं सदी के पिछले हिस्से में रूसियों ने ज़मीन के रास्ते चीन को राजदूत भेजे। उन्होंने मिंग सम्राटों से राजनयिक सम्बन्ध क़ायम करने की कोशिश की, लेकिन कामयाब नहीं हुए। थोड़े दिन बाद ही यरमक नामक एक रूसी डाकू ने क़ज़्ज़ाक़ों के एक दस्ते का नायक बनकर यूराल पहाड़ों को लांघा और सिबिर के छोटे-से राज्य को जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ लगातार आगे ही बढ़ते गये, यहांतक कि लगभग पचास वर्ष में वे प्रशांत महासागर तक पहुंच गये। जल्द ही आमूर की घाटी में उनकी चीनियों से मुठभेड़ हुई। दोनों में लड़ाई हुई, जिसमें रूसियों की हार हुई। १६८९ ई० में दोनों देशों में नरखिन्स की सन्धि हुई। सरहदें तय कर दी गईं और व्यापार के बारे में समझौता किया गया। यूरोप के एक देश के साथ चीनियों की यह पहली सन्धि थी। इस सन्धि से

रूस का आगे बढ़ना तो रुक गया, लेकिन कारखानों के व्यापार में बड़ी भारी तरक्क़ी हुई। उस जमाने में महान् पीतर रूस का ज़ार था और वह चीन से नज़दीकी ताल्लुक क़ायम करना बहुत चाहता था। उसने कांग-ही के पास दो बार राजदूत भेजे और बाद में चीन के दरबार में एक स्थायी राजदूत मुक़र्रर कर दिया।

चीन में तो बहुत पुराने ज़माने से ही विदेशी राजदूत आते रहते थे। शायद मैं किसी पत्र में ज़िक्र कर चुका हूं कि रोमन सम्राट् मार्क ऑरेलियो अन्तोनी ने ईसा के बाद दूसरी सदी में एक राजदूत-मंडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की बात है कि जब १६५६ ई० में हॉलैण्ड और रूस के राजदूत-मंडल चीन के दरबार में पहुंचे तो वहां उन्होंने महान् मुग़ल के राजदूत देखे। ये ज़रूर शाहजहां के भेजे हुए होंगे।

## : ९४ :

# चीनी सम्राट् का अंग्रेज बादशाह को पत्र

१६ सितम्बर, १९३२

मालूम होता है कि मंचू सम्राट् ग़ैर-मामूली तौर पर लम्बी उम्रवाले होते थे। कांग-ही का पोता चियन-लुंग चौथा सम्राट् हुआ। इसने भी १७३६ से १७९६ ई० तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अर्से तक राज किया। दूसरी बातों में भी यह अपने दादा के ही समान था। इसकी भी ख़ास दिलचस्पी दो बातों में थी, साहित्य के काम और साम्राज्य का विस्तार। इसने रक्षा करने लायक साहित्य के सब ग्रंथों की बड़ी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बड़ी तफसील के साथ इनका सूचीपत्र बनाया गया। इसके लिए सूचीपत्र शब्द मौज़ूं नहीं है, क्योंकि हरेक ग्रंथ के बारे में जितनी भी बातें मालूम हो सकीं, वे सब लिखी गईं और साथ ही उनपर आलोचना की टिप्पणियां भी जोड़ दी गईं। शाही पुस्तकालय का यह बड़ा तफसीली सूचीपत्र चार हिस्सों में था—प्राचीन ग्रन्थ यानी कन्फ्यूशियन मत के ग्रन्थ, इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इस जोड़ का ग्रंथ दुनिया में और कहीं नहीं है।

इसी ज़माने में चीनी उपन्यासों, छोटी कहानियों और नाटकों का विकास हुआ और ये बड़े ऊंचे दर्जे तक जा पहुंचे। यह बात ध्यान देने लायक़ है कि उन दिनों इंग्लैण्ड में भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनों और चीनी कला की दूसरी नफ़ीस चीज़ों की यूरोप में मांग थी और इनकी तिजारत का तांता बंध रहा था। चाय के व्यापार की शुरूआत और भी दिलचस्प है। यह प्रथम मंचू सम्राट् के ज़माने में शुरू हुआ। इंग्लैण्ड में चाय शायद चार्ल्स द्वितीय के ज़माने में पहुंची थी। अंग्रेज़ी के मशहूर डायरी-लेखक सेम्युएल पेपीज़ की डायरी में

चिन-लुंग का साम्राज्य १७३६ ई०
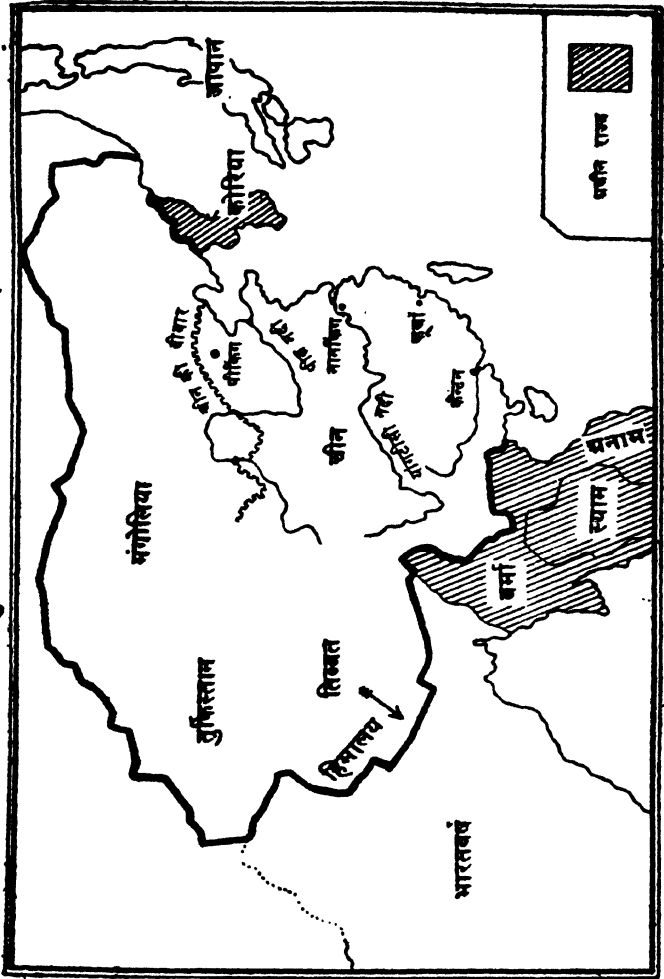
१६६० ई० में सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के बारे में एक इन्दिराज है। चाय के व्यापार में बड़ी जबर्दस्त तरक़्क़ी हुई और दो सौ वर्ष बाद, १८६० ई० में, अकेले फूचू नामक चीनी बन्दरगाह से, एक मौसम में, दस करोड़ पौंड चाय बाहर भेजी गई। बाद में दूसरी जगहों में भी चाय की खेती होने लगी, और जैसा कि तुमको मालूम है, आजकल भारत और लंका में चाय बहुतायत से पैदा होती है।

चियन-लुंग ने मध्य एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर क़ब्ज़ा करके अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, १७९० ई० में, नेपाल के गुरखों ने तिब्बत पर चढ़ाई की। इसपर चियन-लुंग ने न केवल गुरखों को तिब्बत से ही मार भगाया बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी साम्राज्य की ताबेदार रियासत बनने को मजबूर कर दिया। नेपाल पर यह विजय एक मार्के की सफलता है। चीन की फ़ौज का तिब्बत और फिर हिमालय को लांघना, और गुरखों जैसी लड़ाका क़ौम को, खास उन्हींके घर में हरा देना अचम्भे की बात है। सिर्फ़ बाईस वर्ष बाद, १८१४ ई० में ऐसी घटना हुई कि भारत के अंग्रेज़ों का नेपाल से झगड़ा हो गया। उन्होंने नेपाल को एक फ़ौज भेजी, लेकिन उसे बड़ी दिक्क़तों का सामना करना पड़ा, हालांकि उसे हिमालय नहीं लांघना पड़ा था।

चियन-लुंग के शासन के आखिरी वर्ष में यानी १७९६ ई० में जो साम्राज्य सीधा उसके क़ब्ज़े में था, उसमें, मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली ताबेदार रियासतें थीं कोरिया, अनाम, स्याम और बर्मा। लेकिन देश-विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बड़े खर्चीले खेल हैं। इनमें बड़ा भारी खर्चा होता है और टैक्सों का भार बढ़ता जाता है। यह भार सबसे ज़्यादा गरीबों पर ही पड़ता है। उस वक़्त आर्थिक परिवर्तन भी हो रहे थे, जिससे असन्तोष की आग और भी बढ़ी। देशभर में राज्य के खिलाफ़ गुप्त समितियां क़ायम हो गईं। इटली की तरह चीन भी गुप्त समितियों के लिए काफ़ी मशहूर रहा है। इनमें से कुछके नाम भी मज़ेदार थे, जैसे श्वेत-कमल समिति; दैवी-न्याय समिति; श्वेत-पंख समिति; स्वर्ग और पृथ्वी समिति।

इस दौरान में सब तरह की पाबन्दियों के होते हुए भी विदेशी व्यापार बढ़ रहा था। इन पाबन्दियों के कारण विदेशी व्यापारियों में बड़ा भारी असन्तोष था। व्यापार का सबसे बड़ा हिस्सा ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने कैंटन तक पैर फैला रक्खे थे, इसलिए पाबन्दियां सबसे ज़्यादा इसीको अखरती थीं। जैसाकि हम आगे के पत्रों में देखेंगे, यह ज़माना वह था, जबकि औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारी जानेवाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इंग्लैण्ड इसका

अगुआ बन रहा था। भाप का एंजिन ईजाद हो चुका था और नये तरीक़ों और मशीनों के इस्तेमाल से काम आसान हो रहा था और पैदावार बढ़ रही थी—ख़ासकर सूती माल की। यह जो फालतू माल बन रहा था, उसका बिकना भी ज़रूरी था, इसलिए नई-नई मण्डियां तलाश की जाती थीं। इंग्लैंड बड़ा ख़ुशक़िस्मत था कि ठीक इसी वक़्त भारत उसके क़ब्ज़े में था, जिससे वह यहां अपने माल को ज़बर्दस्ती बिकवाने का इंतज़ाम कर सकता था, जैसाकि उसने असल में किया भी। लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए १७९२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व में एक राजदूत-मंडल पेकिंग भेजा। उस समय जार्ज तृतीय इंग्लैंड का बादशाह था। चियन-लुंग ने राजदूतों को दरबार में मुलाक़ात के लिए बुलाया और दोनों ओर से नज़राने दिये-लिये गए। लेकिन सम्राट् ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियों में कुछ भी हेर-फेर करने से इन्कार कर दिया। चियन-लुंग ने जो जवाब तीसरे जार्ज को भेजा था, वह बड़ा मज़ेदार ख़रीता है और मैं उसमें से एक लम्बा हिस्सा यहां देता हूं। उसमें लिखा है :

"···ऐ बादशाह, तू बहुत-से समुद्रों की सीमाओं से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फ़ायदा उठाने की विनीत इच्छा से मज़बूर होकर तूने एक राजदूत-मंडल भेजा है, जो अदब के साथ तेरी अर्ज़ी लेकर आया है···। अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीज़ें भी सौग़ात में भेजी हैं। मैंने तेरी अर्ज़ी को पढ़ा है। जिन हार्दिक शब्दों में वह ढाला गया है उनसे तेरी आदर-भरी नम्रता ज़ाहिर होती है जो बहुत ज़्यादा तारीफ़ के लायक़ है।···

"सारी दुनिया पर राज करनेवाला होते हुए भी मेरी निगाह में सिर्फ़ एक ही लक्ष्य है, यानी बेदाग़ शासन क़ायम रखना और राज्य के कर्त्तव्यों को निभाना; अजीब और बेशक़ीमत चीजों से मुझे दिल-चस्पी नहीं है। मुझे···तेरे देश की बनी हुई चीज़ों की ज़रूरत नहीं है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओं का आदर करे और भविष्य में इससे भी ज्यादा भक्ति और वफ़ादारी दिखलावे, ताकि तू सदा हमारे सिंहासन की छत्रछाया में रहकर अपने देश के लिए आगे को अमन और ख़ुशहाली हासिल कर सके···।

"डर से कांपते हुए हुक्म बजा, और लापरवाही मत कर!"

तीसरे जार्ज और उसके मंत्रियों ने जब यह उत्तर पढ़ा होगा तो वे ज़रा सकते में आ गये होंगे। लेकिन ऊंची सभ्यता में जो पक्का विश्वास और शक्ति

का जो बड़प्पन इस जवाब में झलकता है, उनका आधार असल में टिकाऊ न था। मंचू सरकार मज़बूत दिखलाई पड़ती थी और लिन-लुंग के अधीन वह मज़बूत थी भी। लेकिन बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था उसकी नींव को खोखला कर रही थी। जिन गुप्त समितियों का मैंने ज़िक्र किया है, वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थीं। असली दिक़्क़त यह थी कि देश को इन नये आर्थिक परिवर्तनों के अनुकूल नहीं बनाया जा रहा था। दूसरी तरफ पश्चिम के देश इस नई व्यवस्था के अगुआ थे। वे बड़ी तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहे थे और दिन-पर-दिन मजबूत होते जाते थे। सम्राट चियन-लुंग ने इंग्लैंड के जार्ज तृतीय को जो बड़ा गर्वीला जवाब भेजा था उसके बाद सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इंग्लैंड और फ़्रांस ने चीन को नीचा दिखा दिया और उसके घमंड को धूल में मिला दिया।

लेकिन चीन के बारे का यह किस्सा तो मैं अपने दूसरे पत्र में बयान करूंगा। १७९६ ई० में, चियन-लुंग की मृत्यु पर हम अठारहवीं सदी के लगभग अन्त तक पहुंच जाते हैं। लेकिन इस सदी के ख़तम होने से पहले अमेरिका और यूरोप में बहुत-सी असाधारण घटनाएं हो चुकी थीं। असल में यूरोप में होनेवाले युद्धों और झगड़ों के ही कारण लगभग पच्चीस वर्ष तक चीन में यूरोप का दबाव कम रहा। इसलिए अगले पत्र में हम यूरोप की तरफ़ रुख़ करेंगे और अठारहवीं सदी के शुरू से कहानी का सिलसिला शुरू करेंगे और भारत तथा चीन की घटनाओं से उसका मेल मिलावेंगे।

लेकिन इस पत्र को समाप्त करने के पहले मैं पूर्व में रूस की प्रगति का हाल तुमको बतलाऊंगा। रूस और चीन के बीच १६८९ ई० की नरखिन्स्क की सन्धि के बाद करीब डेढ़-सौ वर्षों तक पूर्व में रूस का प्रभाव बढ़ता ही गया। १७२८ ई० में वितुस बेरिंग नामक एक डेनमार्क-निवासी कप्तान ने, जो रूस में नौकर था, एशिया और अमेरिका को अलग करनेवाले जलडमरूमध्य की खोज की। शायद तुम जानती हो कि यह डमरूमध्य आज भी उसके नाम पर बेरिंग का जल-डमरूमध्य कहलाता है। बेरिंग समुद्र को पार करके अलास्का जा पहुंचा और उसे उसने रूसी इलाका घोषित कर दिया। अलास्का समूरों[1] के लिए बहुत मशहूर है, और चूंकि समूरी खालों की चीन में बड़ी भारी मांग थी, इसलिए रूस और चीन के बीच समूरी खालों का एक ख़ास व्यापार क़ायम हो गया। अठारहवीं सदी के अन्त में समूरी खालों, वग़ैरा की मांग चीन में इस कदर बढ़ गई कि रूस इनको कानाडा की हडसन खाड़ी से इंग्लैंड के रास्ते मंगवाकर, साइबेरिया में बैकाल झील के पास

[1]समूर —अलास्का (उत्तरी अमेरिका) में एक लोमड़ी होती है, जिसके बाल बहुत मुलायम होते हैं। इसकी खाल के गुलूबन्द बनते हैं, जो बड़े क़ीमती होते हैं। अंग्रेजी में समूर के बालों को फर (Fur) कहते हैं।

कियाख्ता की समूरी खालों की बड़ी भारी मंडी को भेजने लगा। ये समूरी खालें कितनी ज़बर्दस्त यात्रा करके आती थीं !

ज़रा परिवर्तन के लिए यह पत्र इस तरह के मेरे ज़्यादातर पत्रों से छोटा है। मुझे उम्मीद है कि यह परिवर्तन तुम पसन्द करोगी।

## : ९५ :
# अठारहवीं सदी के यूरोप में विचारों की लड़ाई

१० सितम्बर, १९३२

अब हम वापस यूरोप की तरफ़ चलेंगे और उसके बदलते हुए भाग्य पर ग़ौर करेंगे। यह उन ज़बर्दस्त परिवर्तनों की शुरूआत का वक़्त है, जिनका असर संसार के इतिहास पर पड़ा। इन परिवर्तनों को समझने के लिए हमको भीतरी तहों में झांकना पड़ेगा और यह जानने की कोशिश करनी पड़ेगी कि लोगों के दिमाग़ में क्या-क्या बातें चक्कर लगा रही थीं। क्योंकि जो कुछ क्रिया हमको दिखलाई पड़ती है, वह विचारों और आवेशों, निजी भावनाओं और अन्ध-विश्वासों, उम्मीदों और दहशतों की गुत्थी का नतीजा होती है; और जबतक कि हम किसी क्रिया के साथ-साथ उसके कारणों पर विचार न करें तबतक अकेले उसे समझना मुश्किल हो जाता है। लेकिन यह आसान नहीं है, और अगर मैं इतिहास की ख़ास-ख़ास घटनाओं को ढालनेवाले इन कारणों और प्रेरक ताकतों पर ठीक तौर से लिखने लायक़ भी होऊं, तो भी मैं यह कभी न चाहूंगा कि इन पत्रों को और भी ज़्यादा नीरस और बोझिल बना दूं। मुझे डर रहता है कि कभी-कभी किसी विषय के बारे में, या किसी नज़रिये के बारे में अपने जोश में मैं ज़रूरत से ज़्यादा गहराई में न पहुंच जाऊं। लेकिन मैं लाचार हूं। तुम्हें यह बर्दाश्त करना पड़ेगा। फिर भी हम इन कारणों की ज़्यादा गहराई में नहीं जा सकते। लेकिन इनको छोड़ देना भी परले सिरे की बेवक़ूफ़ी होगी; और अगर हम ऐसा करें भी तो इतिहास की मोहनी और महत्व को नहीं देख पायेंगे।

सोलहवीं सदी में और सत्रहवीं सदी के पहले हिस्से में यूरोप में जो उथल-पुथल और हलचलें मचीं उनपर हमने विचार कर लिया है। सत्रहवीं सदी के बीच में वैस्टफैलिया की सन्धि हुई, (१६४८ ई०) जिससे उस भीषण 'तीस साला युद्ध' का अन्त हो गया। एक साल बाद ही इंग्लैण्ड का गृह-युद्ध ख़तम हो गया और चार्ल्स प्रथम का सिर उड़ा दिया गया। इसके बाद कुछ-कुछ शान्ति के दिन आये। यूरोप का महाद्वीप बिलकुल पस्त हो गया था। अमेरिका के और दूसरी जगहों के उपनिवेशों के साथ व्यापार से यूरोप में धन आने लगा, जिससे कुछ राहत मिली और वर्गों की आपसी तनातनी कम हुई।

इंग्लैण्ड में ऐसी बिना हिंसा की क्रांति हुई कि जिसने दूसरे जेम्स को निकाल बाहर किया और पार्लमेण्ट को विजयी बना दिया (१६८८ ई०)। असली लड़ाई तो पार्लमेण्ट ने चार्ल्स प्रथम के ख़िलाफ़ गृह-युद्ध में जीती थी। इस अहिंसक क्रांति ने तो ख़ाली उसी फ़ैसले पर मुहर लगा दी, जो चालीस साल पहले तलवार के ज़ोर से हासिल हुआ था।

इस तरह इंग्लैण्ड म बादशाह का महत्व कम हो गया। लेकिन यूरोप में, सिवाय स्वीज़रलैण्ड और हालैण्ड-जैसे कुछ छोटे-छोटे इलाकों के, हालत इससे उलटी थी। वहां तो अभी निरंकुश और मनमौजी राजाओं का बोलबाला था और फ़ान्स के महान बादशाह चौदहवें लुई को नमूना व आदर्श मानकर उसकी नक़ल की जाती थी। यूरोप में सत्रहवीं सदी क़रीब-क़रीब चौदहवें लुई की ही सदी थी। यूरोप के राजा लोग पूरी शान-शौक़त व दौलतमन्दी व बेवक़ूफ़ी के साथ निरंकुशता का खेल खेल रहे थे, आगे आनेवाले बुरे नतीजे की उनको कोई फ़िक्र न थी, और न वे इंग्लैण्ड के चार्ल्स प्रथम पर जो बीती उससे ही नसीहत लेना चाहते थे। उनका दावा था कि देश की सारी सत्ता और सारी दौलत उनकी ही है और देश तो मानो उनकी निजी जागीर है। चार सौ साल से ज़्यादा हुए तब हालैण्ड के इरैस्मस नामक एक विद्वान ने लिखा था :

> "बुद्धिमानों को तमाम चिड़ियों में एक ईगल ही बादशाह का नमूना नज़र आया है, जो न तो सुन्दर है, न मुरीला, न खाने लायक़, बल्कि मुर्दा-ख़ोर, भुक्खड़, सबकी घृणा का पात्र, सबकी लानत का पात्र, और नुक़सान पहुंचाने की बहुत बड़ी ताक़त रखनेवाला, बल्कि नुकसान पहुंचाने की इच्छा में सबसे बढ़कर है।"

आज बादशाहों का क़रीब-क़रीब लोप हो चुका है और जो बचे हैं, वे कुछ पुराने ज़मान के बचे-खुचे चिन्ह हैं, उनके हाथ में कुछ भी ताक़त नहीं है। अब हम उनको दरगुज़र कर सकते हैं। लेकिन उनकी जगह दूसरे और उनसे भी ज़्यादा ख़तरनाक आदमियों ने ले ली है और नये युग के इन लोहे, तेल, चांदी व सोने के साम्राज्यशाही बादशाहों का सही चिन्ह अब भी ईगल ही है।

यूरोप की बादशाहतें मज़बूत केन्द्रीय सत्तावाले राज्य बन गये। सरदार और आसामी के पुराने सामन्तशाही विचार ख़तम हो चुके थे, या हो रहे थे। देश एक इकाई और एक हस्ती है—यह नया ख़याल इसकी जगह ले रहा था। रिशेल्यू और मैज़ारिन नामक दो बहुत योग्य मंत्रियों के समय में फ़्रांस इसका अगुआ बना। इस तरह राष्ट्रीयता का और कुछ हद तक देशभक्ति का उदय हुआ। मज़हब जो अभी तक मनुष्यों के जीवन का सबसे ज़्यादा महत्ववाला तत्व

था, अब ओझल होने लगा और उसकी जगह नये विचारों ने ले ली, जैसा कि मैं इसी पत्र में आगे चलकर बतलाऊंगा।

सत्रहवीं सदी का इस वजह से और भी ज़्यादा महत्व है कि उसमें आधुनिक विज्ञान की नींव पड़ी और सारी दुनिया की हाट बन गई। इस विशाल नई हाट ने कुदरती तौर पर यूरोप की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को उलट दिया और इसके बाद यूरोप, एशिया और अमेरिका में जो कुछ भी हुआ वह तभी समझ में आ सकता है जब इस नई हाट को नज़र के सामने रक्खा जाय। बाद में विज्ञान की तरक़्क़ी हुई और इसने इस संसार-व्यापी हाट की मांग को पूरा करने के साधन पैदा कर दिये।

अठारहवीं सदी में उपनिवेश और साम्राज्य बढ़ाने की होड़ का, जो ख़ासकर इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच चली, नतीजा यह हुआ कि न सिर्फ़ यूरोप में ही बल्कि कनाडा और, जैसा कि मैं लिख चुका हूं, भारत में भी, युद्ध छिड़ गये। सदी के बीच में इन युद्धों के बाद फिर कुछ कम अशान्ति का ज़माना आया। यूरोप की ऊपरी सतह शान्त और वे-हलचल नज़र आने लगी। यूरोप के सारे शाही दरबार बहुत ही सभ्य, शाइस्ता और मंजे हुए भद्र पुरुषों और ये महिलाओं से भरे थे। लेकिन यह शान्ति सिर्फ़ ऊपरी सतह पर थी। भीतर-ही-भीतर खलबली मच रही थी और नये विचारों व भावनाओं से लोगों के दिमाग़ परेशान और उथल-पुथल हो रहे थे; और दरबारों की लुभावनी मंडली और ऊपर के वर्गों को छोड़कर, बाक़ी के ज्यादातर लोगों को बढ़ती हुई ग़रीबी की वजह से दिन-पर-दिन ज़्यादा मुसीबतें झेलनी पड़ रही थीं। इसलिए अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप में जो शान्ति नज़र आती थी वह बड़ी धोखा देनेवाली थी; वह तो आनेवाले तूफ़ान की सूचना देनेवाली थी। १७८९ ई० की १४वीं जुलाई को यूरोप की सबसे बड़ी बादशाहत की राजधानी पेरिस में तूफ़ान की शुरूआत हुई। इस तूफ़ान में यह बादशाहत और सैकड़ों ही दूसरे पुराने और काई-लगे रिवाज़ और रियायतें बह गये।

इस तूफ़ान की और बाद में होनेवाले परिवर्तन की तैयारी में फ़ान्स में, और कुछ-कुछ यूरोप के दूसरे देशों में भी, बहुत दिनों से नये विचारों के कारण हो चुकी थी। मध्य युगों के शुरू से अख़ीर तक यूरोप में मज़हब का ही सबसे ज्यादा बोलबाला था। बाद में, रिफार्मेशन के ज़माने में भी यही हालत रही। हरेक सवाल पर, चाहे वह राजनैतिक हो या आर्थिक, मज़हबी नज़रिये से विचार किया जाता था। मज़हब एक संगठित चीज़ था और उसका अर्थ था पोप और ईसाई-संघ के दूसरे ऊंचे अधिकारियों की मर्ज़ी। समाज का संगठन बहुत-कुछ ऐसा ही था, जैसा भारत में जातियों का। शुरू में जाति का मतलब था समाज का पेशों या क़ौमों के मुताबिक़ बंटवारा। मध्य युगों में समाज के बारे में लोगों के जो विचार

थे उनकी जड़ में पेशों के मुताबिक़ समाजी वर्गों की यही भावना थी। हरेक वर्ग में, भारत की हरेक जाति की तरह, बराबरी की भावना थी। लेकिन किन्हीं दो या ज्यादा जातियों के बीच में विषमता थी। समाज का सारा ढांचा ही इस विषमता की नींव पर खड़ा था और कोई इसपर ऐतराज़ करनेवाला न था। इस व्यवस्था से जिनको तकलीफ़ होती थी, उनसे कहा जाता था कि "इसका इनाम तुमको स्वर्ग में मिलेगा।" इस तरह मज़हब इस अन्यायी समाजी व्यवस्था को क़ायम रखने की कोशिश करता था और परलोक की बात करके लोगों का ध्यान इस तरफ़ से हटाने की कोशिश करता था। जो अमानतदारी का उसूल कहलाता है, उसका भी प्रचार करता था, यानी यह कि धनवान आदमी एक तरह से ग़रीबों का अमानतदार है; ज़मींदार अपनी ज़मीन को काश्तकर की 'अमानत' की तरह रखता है। एक बड़ी बेतुकी सूरत को समझने का ईसाई-संघ का यही तरीक़ा था। इससे धनवानों का तो कुछ बिगड़ता न था, पर ग़रीबों को कोई तसल्ली नहीं होती थी। भूखे पेट में भोजन की जगह स्यानपत की समझावनों से काम नहीं चल सकता।

कैथलिकों और प्रोटेस्टेण्टों के सख़्त मज़हबी युद्ध, कैथलिकों व कैलविन के अनुयाइयों, का मज़हबी वैर-भाव और इनक्विज़िशन, ये सब इस घोर मज़हबी और सम्प्रदायी नज़रिये के ही नतीजे थे। ज़रा इसका विचार तो करो! कहा जाता है कि यूरोप में ज्यादा करके प्यूरिटनों ने लाखों स्त्रियों को डायनें बतलाकर ज़िन्दा जला डाला। विज्ञान के नये विचारों को दबाया जाता था, क्योंकि ये ईसाई-संघ के नज़रिये से टक्कर खानेवाले समझे जाते थे। ज़िन्दगी के बारे में यह मत स्थिर और जड़ था; प्रगति का कोई सवाल ही न था।

हम देखते हैं कि सोलहवीं सदी से लगाकर आगे ये विचार धीरे-धीरे बदलते हुए दिखाई देते हैं। विज्ञान का उदय होता है और मज़हब का सबको जकड़नेवाला शिकंजा ढीला पड़ जाता है; राजनीति और अर्थशास्त्र मज़हब से अलग समझे जाते हैं। कहते हैं कि सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में बुद्धिवाद, यानी अंधविश्वास के मुक़ाबले में तर्क, बढ़ता है। यह माना जाता है कि मज़हबी उदारता की विजय वास्तव में अठारहवीं सदी ने ही क़ायम की। कुछ हदतक यह सही भी है। लेकिन इस विजय का असली मतलब यह था कि लोग अपने मज़हब को अब उतना महत्व नहीं देते थे जितना पहले दिया करते थे। यह उदारता क़रीब-क़रीब लापरवाही थी। जब लोगों में किसी बात के लिए बहुत ज्यादा जोश होता है तो उस बारे में सहनशील रहना उनके लिए दुश्वार होता है; लेकिन जब वे उस बात की परवाह नहीं करते सिर्फ़ तभी वे इनायत के साथ अपनी उदारता का ढिंढोरा पीटते हैं। उद्योगवाद और बड़ी मशीनों के प्रचार के साथ मज़हब की तरफ़ से लोग और भी ज्यादा लापरवाह हो गये। विज्ञान ने यूरोप की पुराने विश्वासों की जड़ें ही

खोखली कर दी; नये उद्योगों और नई अर्थ-व्यवस्था ने नये सवाल पैदा कर दिये, जिन्होंने लोगों का ध्यान खींच लिया। इस तरह यूरोप में लोगों ने मज़हबी विश्वासों और रूढ़ियों के सवालों पर एक दूसरे का सिर फोड़ने की आदत छोड़ दी (लेकिन पूरी तरह नहीं); इसके बजाय अब उनमें आर्थिक व समाजी मुद्दों पर सिर-फुटव्वल होने लगी।

यूरोप के इस मज़हबी ज़माने की तुलना आजकल के भारत से करना दिलचस्प भी है और नसीहत देनेवाला भी। तारीफ़ और मज़ाक दोनों में अक्सर यह कहा जाता है कि भारत तो मज़हबी और आध्यात्मिक देश है। उसका मुक़ाबला यूरोप से किया जाता है, जो बेदीन और विलासी जीवन को ज़रूरत से ज्यादा पसन्द करनेवाला कहा जाता है। जहांतक भारतीय नज़रिये पर मज़हब का रंग चढ़ा हुआ है, वहांतक तो वास्तव में यह "मजहबी" भारत सोलहवीं सदी के यूरोप से गैर-मामूली तौर पर मेल खाता है। अलबत्ता इस मुक़ाबले को बहुत ज्यादा नहीं बढ़ाया जा सकता। लेकिन यह ज़ाहिर है कि क्या तो हमारा मज़हबी विश्वास और रूढ़ियों पर ज़रूरत से ज्यादा ज़ोर देना, क्या राजनैतिक और आर्थिक सवालों को मज़हबी फ़िरक़ों के हितों से जोड़ना, क्या हमारे साम्प्रदायिक झगड़े और इसी तरह के सवाल, ये सब वैसी ही घटनाएं हैं जैसी मध्यकालीन यूरोप में हुई थीं। व्यावहारिक व जड़वादी यूरोप, और आध्यात्मिक व परलोकवादी पूर्व, इनका कोई सवाल ही नहीं है। पश्चिम और पूर्व के बीच यह फ़र्क़ इस बात में है कि पश्चिम तो अपनी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ उद्योग-प्रधान और मशीनों का खूब उपयोग करनेवाला प्रदेश है, और पूर्व में अभी उद्योग-धन्धे प्रारंभिक अवस्था में हैं और वह कृषि-प्रधान देश है।

यूरोप में मज़हबी उदारता और बुद्धिवाद का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। शुरू-शुरू में पुस्तकों से इसे ज्यादा मदद नहीं मिली, क्योंकि लोग ईसाइयत की खुल्लम-खुल्ला आलोचना करने से डरते थे। ऐसा करने का नतीजा था क़ैद या और कोई सजा। एक जर्मन दार्शनिक को प्रशिया से इसलिए निकाल दिया गया था कि उसने कनफ़्यूशियस की बहुत ज्यादा तारीफ़ कर दी थी। यह ईसाइयत का अपमान समझा गया था। लेकिन अठारहवीं सदी में, जबकि ये नये विचार ज्यादा साफ़ और व्यापक हो गये, तो इन विषयों के बारे में पुस्तकें निकलने लगीं। बुद्धिवाद व दूसरे विषयों पर उस समय का सबसे मशहूर लेखक वाल्तेयर नामक एक फ़्रान्सीसी था, जिसको क़ैद करके देश से निकाल दिया गया और जो अन्त में जिनेवा के पास फ़र्नी में जाकर रहा। जेल में उसे कागज़ और कलम-दवात नहीं दिये गए। इसलिए उसने पुस्तकों की लाइनों के बीच-बीच में सीसे के टुकड़ों से कविताएं लिखीं। बहुत थोड़ी उम्र में ही वह मशहूर हो गया। वास्तव में जब

उसकी असाधारण योग्यता ने लोगों का ध्यान खींचा तब वह सिर्फ दस ही साल का था। वाल्तेयर को अन्याय और कट्टरपन से सख्त नफ़रत थी और वह इनके खिलाफ़ बहुत लड़ा। उसकी मशहूर पुकार थी "इन बदनाम चीज़ों को नष्ट कर दो।"[1] वह बड़ी उम्र तक, यानी १६९४ से १७७८ ई० तक जिया और उसने बहुत सारी पुस्तकें लिखीं। चूंकि वह ईसाइयत की आलोचना करता था, इसलिए कट्टर ईसाई उससे सख्त नफ़रत करते थे। अपनी एक पुस्तक में उसने लिखा है कि "जो आदमी बिना जांच-पड़ताल किये किसी मज़हब को क़बूल कर लेता है, वह उस बैल के समान है जो अपने कन्धे पर जुआ रखवा लेता है।" लोगों को बुद्धिवाद और नये विचारों की तरफ़ झुकाने में वाल्तेयर की रचनाओं का बड़ा भारी असर पड़ा। फ़र्नी में उसका पुराना मकान अब भी बहुत लोगों के लिए एक तीर्थस्थान है।

एक और महान लेखक, जो वाल्तेयर का समकालीन लेकिन उम्र में उससे छोटा था, जीन जैके रूसो था। उसका जन्म जिनेवा में हुआ था और जिनेवा को उसपर बड़ा गर्व है। क्या तुमको वहांपर उसकी मूर्ति की याद है? धर्म और राजनीति पर रूसो के लेखों से बड़ा हो-हल्ला मच गया। लेकिन फिर भी उसके नये और बहुत कुछ निडर समाजी और राजनैतिक मतों ने बहुतों के दिमाग़ में नये विचारों और नये इरादों की आग सुलगा दी। उसके राजनैतिक विचार आज पुराने पड़ गये हैं, लेकिन उन्होंने फ़्रान्स के लोगों को महान् राज्य-क्रांति के लिए तैयार करने में ज़बर्दस्त हिस्सा लिया। रूसो ने राज्यक्रांति का प्रचार नहीं किया। शायद उसे किसी क्रान्ति की उम्मीद भी न थी। लेकिन उसकी पुस्तकों और उसके विचारों ने लोगों के दिमाग़ में ऐसा बीज ज़रूर बो दिया, जिसका फल क्रांति के रूप में प्रकट हुआ। इसकी सबसे मशहूर पुस्तक 'सोशल काण्ट्रैक्ट' यानी "समाजी मुआहिदा' है और वह इस मशहूर वाक्य से शुरू होती है (मैं याददाश्त से लिख रहा हूं): "मनुष्य जन्म से मुक्त है, लेकिन वह सब जगह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।"[2]

रूसो एक महान शिक्षा-शास्त्री भी था और उसके सुझाये हुए शिक्षा के बहुत से नये तरीक़े आजकल स्कूलों में बरते जाते हैं।

अठारहवीं सदी में फ्रान्स में वाल्तेयर और रूसो के अलावा और भी बहुत से नामी विचारक और लेखक हुए। मैं सिर्फ़ मान्तेस्क्यू[3] के नाम का ज़िक्र और

[1] Ecrasez I infame

[2] Man is born free, dut is everywhere in chains.

[3] **मान्तेस्क्यू—(१६८९-१७५५) फ्रान्स का प्रसिद्ध विचारक, तत्ववेत्ता और इतिहासकार। १७४८ ई० में इसकी मशहूर किताब 'Esprit des Lois' प्रकाशित हुई, जिससे उसके गहरे अध्ययन का पता लगता है। यह पुस्तक इतनी**

करूंगा जिसने कई पुस्तकें लिखीं। पेरिस में इसीके समय में एक विश्वकोश भी प्रकाशित हुआ, जो दिदरो कि और राजनैतिक व समाजी विषयों के दूसरे विद्वान् लेखकों के लेखों से भरा था। सच तो यह है कि फ़ान्स दार्शनिकों और विचारकों से भरा हुआ नज़र आता था। इतना ही नहीं, इनकी रचनाएं भी खूब पढ़ी जाती थीं और इन्हें यह सफलता हासिल हुई कि हज़ारों साधारण लोग इन्हींकी तरह सोचने-विचारने लगे और इनके मतों पर चर्चा करने लगे। इस तरह फ़ान्स में एक ऐसा ज़ोरदार लोकमत पैदा हो गया, जो मज़हबी वैर-भाव और राजनैतिक व समाजी रियायतों के खिलाफ़ था। लोगों पर स्वतन्त्रता की एक धुंधली इच्छा का भूत-सा सवार हो गया। लेकिन अजीब बात तो यह है कि न तो जनता ही और न दार्शनिक लोग ही बादशाह से पिंड छुड़ाना चाहते थे। उस समय गणराज्य की भावना आम नहीं थी, और जनता तो सिर्फ़ यही उम्मीद करती थी कि उसे अफ़लातून के बताये हुए दार्शनिक बादशाह से मिलता-जुलता एक आदर्श राजा मिले, जो उनकी तक़लीफ़ों को दूर करे और उनको इन्साफ़ और थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता दे दे। कम-से-कम दार्शनिकों ने ऐसा ही लिखा है। इस बारे में शक़ होने लगता है कि आखिर मुसीबतों की मारी जनता बादशाह को कितना चाहती थी !

इंग्लैण्ड में फ़ान्स की तरह राजनैतिक विचारों का कोई विकास नहीं हुआ। कहा जाता है कि अंग्रेज़ राजनैतिक जन्तु नहीं होता, लेकिन फ़ान्सीसी होता है। इसके अलावा १६८८ ई० की क्रान्ति ने भी तनाव कुछ कम कर दिया था। लेकिन कुछ वर्ग अब भी काफ़ी रियायतों का उपभोग कर रहे थे। नई आर्थिक घटनाओं ने, जिनका ज़िक्र जल्दी ही किसी अगले पत्र में करूंगा, और व्यापार और अमेरिका व भारत की उलझनों में अंग्रेज़ों का दिमाग़ लगा हुआ था। जब सामाजिक तनातनी बहुत बढ़ गई तो एक काम-चलाऊ समझौते ने जुदा होने के ख़तरे को दूर कर दिया। फ़ान्स में इस तरह के समझौते की गुंजाइश न थी, और इसी-लिए तख्ता उलट गया।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इंग्लैण्ड में आजकल के उपन्यास का विकास अठारहवीं सदी के बीच में हुआ। 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' और 'रॉबिन्सन क्रूसो' अठारहवीं सदी के शुरू में लिखे गए थे, जैसा कि मैं पहले ही बतला चुका हूं। इनके बाद असली उपन्यास निकले। इस वक़्त इंग्लैण्ड में पुस्तकें पढ़नेवालों की एक नई जनता सामने आई।

अठारहवीं सदी में ही गिबन नामक एक अंग्रेज़ ने अपना मशहूर ग्रन्थ[1]

---

**लोकप्रिय हुई कि उस जमाने में भी, १८ महीने के अन्दर उसके २२ संस्करण हो गये। उसके विचारों के कारण चर्च ने उसपर जबर्दस्त आक्रमण किया था।**

[1] Decline and Fall of the Roman Empire

लिखा। रोमन साम्राज्य का बयान करते समय अपने किसी पिछले पत्र में मैं गिबन और उसकी पुस्तक का ज़िक्र कर चुका हूं।

## : ९६ :
## महान् परिवर्तनों के पहले का यूरोप

२४ सितम्बर, १९३२

हमने अठारहवीं सदी में यूरोप के, और ख़ासकर फ़ान्स के, नर-नारियों के दिलों में ज़रा झांकने की कोशिश की है। यह सिर्फ़ एक झांकी ही रही है, जिसने हमको कुछ नये विचारों को पैदा होते हुए और पुराने विचारों से टक्कर लेते हुए दिखलाया है। अभी तक हम परदे के पीछे रहे हैं, लेकिन अब हम यूरोप के आम रंगमंच के खिलाड़ियों पर निगाह डालेंगे।

फ़ान्स में बूढ़ा चौदहवां लुई आखिरकार १७१५ ई० में मरने में क़ामयाब हो ही गया। वह कई पीढ़ियों को लांघकर जिन्दा रहा। और उसके बाद उसका पोता पंद्रहवां लुई के नाम से गद्दी पर बैठा। फिर उनसठ वर्ष का लम्बा शासन चला। इस तरह चौदहवें और पंद्रहवें लुई, फ्रान्स के इन दो एक के वाद दूसरे बादशाहों ने कुल १३१ वर्ष राज किया! बेशक यह दुनिया का एक रिकार्ड है। चीन के दो मंचू बादशाह कांग-ही और चियन-लुंग, हरेक ने साठ-साठ वर्ष राज किया, लेकिन ये एक सिलसिले से नहीं हुए और इन दोनों के बीच में एक तीसरे का भी राज रहा।

असाधारण लम्बाई के अलावा पंद्रहवें लुई का शासन-काल खास तौर पर घिनौने भ्रष्टाचार और साज़िशों के लिए मशहूर है। राज्य के सारे साधन बादशाह के ऐश-आराम के लिए इस्तेमाल होते थे। दरबारी लोग अपना उल्लू सीधा करने में लगे रहते थे, जिसमें अनाप-शनाप खर्च होता था। दरबार के जो स्त्री या पुरुष बादशाह को खुश कर लेते उनको मुफ़्त की जमींदारियां और फ़ालतू ओहदे बख्शे जाते थे, जिनका मतलब था बिना मेहनत की आमदनी। और इन सबका बोझ जनता पर बराबर बढ़ता जाता था। निरंकुशता, निकम्मापन और भ्रष्टाचार, बड़े मज़े से हाथ मिलाये हुए आगे बढ़ रहे थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है अगर सदी के खतम होते-न-होते वे अपने रास्ते के किनारे पर पहुंच गये और गहरी खाई में जा गिरे! ताज्जुब तो यह है कि रास्ता इतना लम्बा निकला और गिरावट इतनी देर बाद आई। पंद्रहवां लुई जनता के इन्साफ़ और बदले से बच गया। इनका सामना तो उसके उत्तराधिकारी सोलहवें लुई को १७७४ ई० में करना पड़ा।

निकम्मेपन और नीचपन के बावजूद भी पंद्रहवें लुई को राज्य में अपनी परम सत्ता के बारे में कोई संदेह न था। वह सबकुछ था और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ करने से रोकनेवाला कोई न था। पेरिस में १७७६ ई० में एक सभा के सामने बोलते हुए उसने जो शब्द कहे थे, वे सुनने लायक हैं :

> "राज्य-सत्ता पूरे तौर पर सिर्फ़ मेरे ही अपने में निवास करती है . . .। सिर्फ़ मुझको ही, बिना किसीका सहारा या मदद लिये, कानून बनाने का पूरा हक़ है। प्रजा के बन्दोबस्त का एकमात्र स्रोत मैं ही हूं; मैं ही उसका सबसे बड़ा रक्षक हूं। मेरी प्रजा की मुझसे अलहदा कोई हस्ती नहीं है; राष्ट्र के अधिकार और हित, जो कुछ लोगों के दावे के मुताबिक़ बादशाह से कोई अलग चीज़ हैं, वे ज़रूरी तौर पर मेरे ही अधिकार और हित हैं और मेरी ही मुट्ठी में रहते हैं।"

अठारहवीं सदी के ज़्यादातर समय में फ़ान्स का शासक इस तरह का था। कुछ दिनों तक तो यूरोप में उसका दबदबा मालूम होने लगा था। लेकिन बाद में दूसरे राजाओं और राष्ट्रों के ऊंचे हौसलों से उसकी टक्कर हुई और उसे हार माननी पड़ी। फ़ान्स के कुछ पुराने प्रतिद्वंद्वियों का भी यूरोप के रंगमंच पर कोई प्रमुख पार्ट न रहा। लेकिन उनकी जगह लेनेवाले और फ्रान्स की शक्ति को चुनौती देनेवाले दूसरे पैदा हो गये। थोड़े दिन की शाही शान-शौकत भुगतकर घमंडी स्पेन यूरोप में, और दूसरी जगहों में भी, नीचे गिर गया। लेकिन अमेरिका और फ़िलिपाइन टापुओं में बड़े-बड़े उपनिवेश अब भी उसके कब्जे में थे। आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग भी, जिन्होंने साम्राज्य के सिरमौर होने का और उसके ज़रिये यूरोप की नेतागिरी का ठेका-सा ले रक्खा था, अब पहले जैसे बड़े नहीं रह गये थे। आस्ट्रिया अब साम्राज्य की अगुआ रियासत नहीं थी; एक दूसरी रियासत प्रशिया आग बढ़ गई थी और आस्ट्रिया के बराबर महत्ववाली बन गई थी। आस्ट्रिया की राजगद्दी के उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुए और बहुत दिनों तक मेरिया थैरेसा नाम की एक महिला उसपर बैठी रही।

तुम्हें याद होगा कि १६४८ ई० की वैस्टफैलिया की सन्धि ने प्रशिया को यूरोप की एक महत्वशाली शक्ति बना दिया था। वहांपर हॉयनत्सालर्न का घराना राज कर रहा था और दूसरे जर्मन राजवंश, आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग घराने, की सत्ता को चुनौती दे रहा था। छियालीस वर्ष तक, यानी १७४० से १७८६ ई० तक, प्रशिया पर फ़ेडरिक ने राज किया, जो फ़ौजी क़ामयाबियों के कारण महान् कहलाता है। यूरोप के दूसरे राजाओं की तरह यह भी एक स्वेच्छाचारी राजा था, लेकिन उसने दार्शनिक का चोगा पहन लिया था और वाल्तेयर से दोस्ती करने की कोशिश की थी। उसने एक बलशाली फ़ौज तैयार कर ली थी और वह एक सफल सेनापति

था। वह अपने-आपको बुद्धिवादी कहता था और सुनते हैं कि वह कहा करता था कि "हरेक को यह छुट्टी रहनी चाहिए कि वह जिस तरह चाहे स्वर्ग में जाय।"

सत्रहवीं सदी से यूरोप में फ़ान्स की संस्कृति का बोलबाला रहा। अठारहवी सदी के बीच के समय में तो इसने और भी ज़ोर पकड़ा और वाल्तेयर को सारे यूरोप में ज़बर्दस्त शोहरत मिली। वास्तव में कुछ लोग तो इस सदी को 'वाल्तेयर की सदी' कहते हैं। यूरोप के तमाम राजदरबारों में, यहांतक कि पिछड़े हुए सेंट-पीटर्सबर्ग में भी, फ़ान्सीसी साहित्य पढ़ा जाता था। और सभ्य और शिक्षित लोग फ़ान्सीसी भाषा में लिखना और बोलना पसन्द करते थे। मसलन प्रशिया का फ़्रेडरिक महान क़रीब-क़रीब हमेशा फ़ान्सीसी भाषा में ही लिखता और बोलता था। उसने तो फ़ान्सीसी भाषा में कविता भी लिखने की कोशिश की और वाल्तेयर से प्रार्थना की कि उसे ठीक कर दे व निखार दे।

प्रशिया के पूर्व में रूस था, जो आगे आनेवाले ज़माने का भय बनना शुरू हो गया था। चीन के इतिहास की चर्चा करते वक़्त हम लिख चुके हैं कि किस तरह रूस साइबेरिया में फैलकर प्रशान्त महासागर तक जा पहुंचा और सागर पार करके अलास्का तक भी पहुंच गया। सत्रहवीं सदी के अन्त में रूस में महान् पीटर नामक ज़ोरदार शासक था। रूस में परंपरा से जो पुराने मंगोली रब्त-ज़ब्त और नज़रिये चले आ रहे थे, पीटर उनको खतम करना चाहता था। वह रूस का, आजकल की भाषा में, 'पश्चिमीकरण' चाहता यानी उसे पश्चिम जैसा सभ्य व उन्नत बनाना चाहता था। इसलिए उसने पुरानी परम्पराओं से भरी हुई पुरानी राजधानी मास्को को छोड़ दिया और अपने लिए एक नया शहर और नई राजधानी बसाई। यह उत्तर में नीवा नदी के किनारे और फिनलैंड की खाड़ी के मुहाने पर सेंटपीटर्स-बर्ग था। यह शहर सुनहरी गुम्बजदार छतों व गुम्बज़ोंवाले मास्को से बिल्कुल अलग तरह का था; वह ज़्यादातर पश्चिमी यूरोप के बड़े शहरों जैसा था। पीटर्सबर्ग पश्चिमीकरण का प्रतीक बन गया और रूस यूरोप की राजनीति में ज़्यादा हिस्सा लेने लगा। शायद तुम्हें मालूम होगा कि पीटर्सबर्ग नाम अब नहीं रहा है। पिछले बीस वर्षों में उसका नाम दो बार बदला है। पहली बार उसका नाम बदल कर पेत्रोग्राद किया गया और दूसरी बार लेनिनग्राद हुआ। आजकल यही नाम चालू है।

पीटर महान ने इस रूस में बहुत-से परिवर्तन किये। उनमें से एक का मैं यहांपर ज़िक्र करूंगा, जो तुम्हें दिलचस्प मालूम होगा। उसने स्त्रियों को घरों में बन्द रखने के रिवाज़ को, जिसे 'तरेम' कहते थे, और जो उन दिनों रूस में जारी था, ख़तम कर दिया। पीटर का ध्यान भारत की तरफ़ भी था और वह अन्त-र्राष्ट्रीय राजनीति में भारत के महत्व को समझता था। उसने अपने वसीयतनामे

में लिखा है: "याद रक्खो कि भारत का व्यापार सारी दुनिया का व्यापार है; और जो अकेला उसे मुट्ठी में रख सकता है, वही यूरोप का डिक्टेटर होगा।" भारत पर प्रभुत्व हासिल करने के बाद इंग्लैण्ड की शक्ति जिस तेज़ी से बढ़ी उससे पीटर के आखिरी शब्दों की सचाई साबित हो जाती है। भारत के शोषण से इंग्लैण्ड को गौरव और धन मिला, जिसने कई पीढ़ियों तक उसे संसार की सबसे बड़ी शक्ति बना दिया।

एक तरफ़ एशिया और आस्ट्रिया तथा दूसरी तरफ़ रूस के बीच में पोलैण्ड था। वह एक पिछड़ा हुआ देश था, जहां के किसान बहुत ग़रीब थे। वहां कोई व्यापार और उद्योग-धन्धे न थे और न बड़े-बड़े शहर थे। उसका संविधान भी अजीब-सा था, जिसमें बादशाह चुना हुआ होता था और सत्ता सामन्ती अमीरों के हाथों में रहती थी। जैसे-जैसे आसपास के देश ताक़तवर होते गये, पोलैण्ड कमज़ोर होता गया। प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया तीनों ही उसे हड़पना चाहते थे।

लेकिन वह पोलैण्ड का ही बादशाह था, जिसने १६८३ ई० में वियेना पर आखिरी हमला करनेवाले तुर्कों को मार भगाया था। उस्मानी तुर्क फिर सिर न उठा सके। उनकी जीवट ख़त्म हो चुकी थी और पलड़ा धीरे-धीरे पलट रहा था। आगे से वे अपना बचाव करने में ही रहे और धीरे-धीरे यूरोप में तुर्की साम्राज्य सिकुड़ने लगा। लेकिन जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, यानी अठारहवीं सदी के पहले हिस्से में, तुर्की दक्षिण-पूर्वी यूरोप एक शक्तिशाली देश था और उसका साम्राज्य बल्कान की रियासतों से लगाकर हंगरी के परे पोलैण्ड तक फैला हुआ था।

दक्षिण में इटली कई रियासतों में बंटा हुआ था और यूरोप की राजनीति में उसकी कोई गिनती न थी। पोप का पहलेवाला दबदबा नहीं रहा था और राजा और बादशाह उसकी इज्जत तो करते थे, लेकिन राजनैतिक मामलों में उसे कुछ पूछते भी न थे। धीरे-धीरे यूरोप में एक नया ढांचा, यानी बड़ी शक्तियों का ढांचा, पैदा हो रहा था। जैसाकि मैं बतला चुका हूं केन्द्रीय सत्तावाले राजशाही राज्य राष्ट्रीयता की भावना के विकास में मदद दे रहे थे। लोग अपने-अपने देशों का विचार एक निराले तरीक़े से करने लगे थे, जो आजकल तो बहुत फैल गया है। लेकिन इस ज़माने के पहले एक असाधारण बात थी। फ़्रांस, इंग्लैण्ड या ब्रिटैनिया, इतालिया और इसी तरह की दूसरी सूरतें प्रकट होने लगीं थीं। ये राष्ट्र के प्रतीक से मालूम होने लगे। कुछ दिन बाद उन्नीसवीं सदी में, ये शकलें लोगों के दिमाग़ में मूर्त्तिमान होने लगीं और उनके दिलों पर अजीब तौर से असर डालने लगीं। ये प्रतीक नई देवियां बन गये, जिनकी वेदी पर हरेक देश-भक्त को पूजा करनी पड़ती है और जिसके नाम पर और जिसके लिए देश-भक्त

लोग लड़ते हैं और एक दूसरे की हत्या करते हैं। तुम जानती हो कि 'भारत-माता' की भावना किस तरह हमारे दिलों को हिलाती है और किस तरह लोग इस पौराणिक और ख़याली मूरत के लिए ख़ुशी-ख़ुशी मुसीबतें झेलते हैं और मर मिटते हैं। दूसरे देशों के लोग भी अपनी मातृभूमि के लिए इसी तरह की भावना महसूस करते थे। लेकिन ये सब तो बाद की बातें हैं। अभी तो मैं तुमको यह बतलाना चाहता हूं कि अठारहवीं सदी में राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की इस भावना ने जड़ पकड़ी। फ़्रांसीसी दार्शनिकों ने इस प्रगति को बढ़ाया और फ़्रांस की महान राज्य-क्रांति ने इस भावना पर मुहर लगा दी।

ये राष्ट्र ही 'शक्तियां' थे। बादशाह आते-जाते रहते थे, लेकिन राष्ट्र बना रहता था। इन शक्तियों में से कुछ धीरे-धीरे दूसरी शक्तियों से ज्यादा महत्ववाली बन गईं। मसलन अठारहवीं सदी के शुरू में फ़्रांस, इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस साफ़ तौर पर 'बड़ी शक्तियां' थीं। स्पेन की तरह कुछ और भी शक्तियां कहने को बड़ी थीं, लेकिन उनका पतन हो रहा था।

इंग्लैण्ड बहुत तेज़ी के साथ दौलत में और महत्व में बढ़ रहा था। एलिज़ाबेथ के वक़्त तक वह यूरोप के लिहाज़ से कोई महत्व का देश न था और दुनिया के लिहाज़ से तो और भी कम महत्व का था। उसकी आबादी थोड़ी थी; शायद उस वक़्त वह साठ लाख से ज़्यादा न थी, जो आज लन्दन की आबादी से भी बहुत कम है। लेकिन प्यूरिटन क्रान्ति और बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय के बाद इंग्लैण्ड ने अपने-आपको नई परिस्थितियों के मुताबिक़ बना लिया और वह आगे बढ़ने लगा। स्पेन से पिंड छुड़ाने के बाद हालैण्ड ने भी ऐसा ही किया।

अठारहवीं सदी में अमेरिका और एशिया में उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी मची। इसमें यूरोप की कई शक्तियों ने हिस्सा लिया, मगर ख़ास होड़ सिर्फ़ इंग्लैण्ड और फ़्रांस इन दोनों में ही रही। इस दौड़ में, अमेरिका में भी और भारत में भी, इंग्लैण्ड बहुत आगे हो लिया था। पंद्रहवें लुई के निकम्मे शासन में होने के अलावा फ़्रांस, यूरोप की राजनीति में बहुत ज़्यादा उलझा हुआ था। १७५६ से १७६३ ई० तक यूरोप, कनाडा और भारत में भी इन दोनों शक्तियों में व औरों में इस बात का निपटारा करने के लिए युद्ध हुए कि किसका प्रभुत्व हो। यह युद्ध 'सात साल का युद्ध' कहलाता है। इसके एक टुकड़े को हम भारत में देख चुके हैं, जिसमें फ्रान्स की हार हुई थी। कनाडा में भी इंग्लैण्ड की विजय हुई। यूरोप में इंग्लैण्ड ने वह नीति बरती जिसके लिए वह मशहूर हो चुका है, यानी पैसा देकर अपनी ओर से दूसरों को लड़वाना। फ़्रेडरिक महान इंग्लैण्ड का साथी था।

इस सात साल के युद्ध का नतीजा इंग्लैण्ड के लिए बहुत फ़ायदेमन्द रहा।

भारत और कनाडा, दोनों ही देशों में उसका कोई भी यूरोपीय प्रतियोगी बाक़ी न रहा। समुद्रों पर भी उसकी नौ-सेना का दबदबा क़ायम हो गया। इस तरह इग्लैण्ड की ऐसी हैसियत हो गई कि वह अपने साम्राज्य को जमावे और बढ़ावे और संसार की एक बड़ी शक्ति बन जाय। प्रशिया का भी महत्व बढ़ा।

इस लड़ाई-झगड़े से यूरोप फिर पस्त हो गया और सारे महाद्वीप में फिर पहले से कुछ ज़्यादा शान्ति नज़र आने लगी। लेकिन यह शान्ति प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस को पोलैण्ड की रियासत हड़पने से न रोक सकी। पोलैण्ड की ऐसी हालत न थी कि इन शक्तियों से लड़ता, इसलिए ये तीनों भेड़िये उसपर टूट पड़े और इन्होंने बार-बार उसके हिस्से बांटकर पोलैण्ड के आज़ाद देश का अन्त कर दिया। सन् १७७२, १७९३ और १७९५ ई०, में तीन बार बंटवारे हुए। पहले बंटवारे के बाद पोलैण्ड के लोगों ने, जो पोल कहलाते हैं, अपने देश को सुधारने और मज़बूत बनाने के लिए ज़बर्दस्त कोशिश की। उन्होंने पार्लमेण्ट क़ायम की और वहां कला और साहित्य का उद्धार हुआ। लेकिन पोलैण्ड के चारों तरफ़ के निरंकुश राजाशाहों के मुंह खून लग चुका था और वे रुकनेवाले न थे। इसके अलावा पार्लमेण्टों से उनको नफ़रत थी। इसलिए पोलों की देश-भक्ति और महान् वीर कोसियस्को के नेतृत्व में बहादुरी के साथ लड़ाई के बावजूद, १७९५ ई० में यूरोप के नक्शे पर पोलैण्ड का निशान बाक़ी न रहा। उस वक्त पोलैण्ड तो मिट गया लेकिन पोलों ने अपनी देश-भक्ति को ज़िन्दा रक्खा और वे आज़ादी का सपना फिर भी देखते रहे। एक सौ तेईस वर्ष बाद उनका सपना सच्चा हुआ और यूरोप के महायुद्ध के बाद पोलैण्ड फिर एक स्वाधीन देश के रूप में प्रकट हुआ।

मैं लिख चुका हूं कि अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप में थोड़ा-बहुत अमन था। लेकिन वह ज़्यादा टिक न सका, क्योंकि वह ज़्यादातर ऊपरी सतह पर ही था। उस सदी में जो बहुत-सी घटनाएं हुईं उनको भी मैं बतला चुका हूं। लेकिन असल में अठारहवीं सदी तीन घटनाओं, यानी तीन क्रान्तियों, के लिए मशहूर है, और इन सौ वर्षों में यूरोप में और जो कुछ भी हुआ, वह इन तीन घटनाओं के सामने हेच मालूम होता है। ये तीनों क्रान्तियां इस सदी के आखिरी पच्चीस वर्षों में हुईं। ये क्रान्तियां तीन अलग-अलग क़िस्मों की थीं—राजनैतिक, उद्योगी और समाजी। राजनीतिक क्रान्ति अमेरिका में हुई। यह वहां के अंग्रेज़ी उपनिवेशों का विद्रोह था जिसका नतीजा यह हुआ कि 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका', यानी अमेरिका का संयुक्त राज्य, का स्वाधीन गणराज्य बना, जो हमारे आज के ज़माने में इतना शक्तिशाली होनेवाला था। उद्योगी क्रान्ति इंग्लैण्ड में शुरू हुई। वहां से पहले तो वह पश्चिम यूरोप के दूसरे देशों में फैली

और फिर दूसरी जगहों में। हालांकि यह क्रान्ति बिना किसी मारकाट के हुई, लेकिन बहुत दूर तक असर डालनेवाली थी और सारी दुनिया की ज़िन्दगी पर जितना इसका असर पड़ा उतना इससे पहले इतिहास में लिखी हुई किसी भी घटना का नहीं पड़ा। इसका नतीजा हुआ भाप और बड़ी मशीन और आख़िर में उद्योगवाद की उन अनगिनती शाखाओं का आना, जो आज हम अपने चारों तरफ़ देख रहे हैं। फ़ान्स की महान राज्य-क्रान्ति समाजी क्रान्ति थी, जिसने न केवल फ़ान्स की राजाशाही का ही अन्त कर दिया, बल्कि बहुत-सी रियायतों को भी ख़तम कर दिया और नये-नये वर्गों को आगे ला दिया। इन तीनों क्रान्तियों पर हम ज़रा खुलासा तौर पर अलग-अलग विचार करेंगे।

हम देख चुके हैं कि इन परिवर्तनों की शुरुआत से पहले यूरोप में राजाशाही का ज़ोर था। इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड में पार्लमेण्ट तो थीं, लेकिन उनकी बाग-डोर अमीरों और धनवानों के हाथ में थी। क़ानून बनाये जाते थे तो धनवानों के लिए और उनके माल, अधिकारों और रियायतों की हिफ़ाज़त के लिए। शिक्षा भी सिर्फ़ धनवान और रियायती वर्गों के लिए थी। असल में खुद सरकार ही इन वर्गों के लिए थी। उस ज़माने की एक सबसे बड़ी समस्या ग़रीबों की समस्या थी। हालांकि ऊपर के लोगों की हालत में कुछ सुधार हुआ, लेकिन ग़रीबों की मुसीबतें वैसी ही बनी रहीं, बल्कि ज्यादा बढ़ गईं।

अठारहवीं सदी भर में यूरोप के राष्ट्र गुलामों का बे-रहम और बे-दर्द व्यापार करते रहे। वैसे तो यूरोप में गुलामी ख़तम हो चुकी थी, हालांकि काश्तकारों की हालत, जिन्हें असामी कहते थे, ग़ुलामों से बेहतर न थी। लेकिन अमेरिका की खोज के बाद ग़ुलामों का पुराना व्यापार अपनी सबसे ज्यादा बे-रहम सूरत में फिर चेत गया। स्पेनियों और पुर्तगालियों ने इसकी इस तरह शुरुआत की कि वे अफ़्रीका के किनारों पर से हब्शियों को पकड़-पकड़कर अमेरिका ले जाने लगे और उनसे खेतों में काम लेने लगे। इस कमीने व्यापार में इंग्लैण्ड ने भी भरपूर हिस्सा लिया। जिन अफ़्रीकियों को जंगली जानवरों की तरह शिकार करके और पकड़कर और फिर ज़ंजीरों में कसकर अमेरिका को लादा जाता था, उनकी भयंकर तक़लीफ़ों का अन्दाज़ा लगाना तुम्हारे लिए, या किसीके लिए भी मुश्किल है। हजारों तो वहां पहुंचने से पहले ही चल बसते थे। इस दुनिया में जितने लोगों ने मुसीबतें झेली हैं, उनमें सबसे ज्यादा मुसीबतों का भार शायद हब्शियों पर ही पड़ा है। उन्नीसवीं सदी में ग़ुलामी की प्रथा क़ानूनन मिटा दी गई और इंग्लैण्ड इस बात में अगुआ रहा। अमेरिका में इस सवाल का निपटारा करने के लिए एक गृह-युद्ध हुआ। आज अमेरिका के संयुक्त राज्य में बसनेवाले करोड़ों हब्शी इन्हीं ग़ुलामों की सन्तान हैं।

मैं इस पत्र को यह बतलाकर अच्छे सुर में ख़तम करूंगा कि इस सदी में जर्मनी और आस्ट्रिया में संगीत का बड़ा भारी विकास हुआ। तुम जानती हो कि यूरोपीय संगीत में जर्मन लोग सबसे आगे हैं। इनमें से कुछ बड़े-बड़े संगीतज्ञों के नाम सत्रहवीं सदी में भी सामने आते हैं। दूसरे देशों की तरह ही यूरोप में भी संगीत क़रीब-क़रीब मज़हबी रस्मों का अंग था। धीरे-धीरे ये दोनों अलग होने लगे और संगीत खुद ही कला बन गया, जिसका मज़हब से कोई रिश्ता न रहा। मोत्सार्त (मोज़ार्ट) और बीथोवन—ये दो नाम अठारहवीं सदी में रोशन होते हैं। दोनों बाल-गन्धर्व थे; दोनों ही प्रतिभाशाली राग रचनेवाले थे। यह अजीब बात है कि बीथोवन, जो शायद पश्चिम का सबसे महान् राग रचनेवाला माना जाता है, बिलकुल बहरा हो गया था, और जिस अद्भुत संगीत की रचना उसने दूसरों के लिए की उसे वह खुद नहीं सुन सकता था। लेकिन उस संगीत को पकड़ने से पहले उसके हृदय ने ज़रूर उसे गाकर सुनाया होगा।

## : ९७ :
# बड़ी मशीन का आगमन

२६ सितम्बर, १९३२

अब हम उसकी चर्चा करेंगे जो उद्योगी क्रान्ति कहलाती है। इसकी शुरुआत इंग्लैण्ड में हुई, इसलिए इंग्लैण्ड में ही हम संक्षेप में इसपर ग़ौर करेंगे। मैं इसके लिए कोई ठीक सन् नहीं बतला सकता, क्योंकि यह परिवर्तन जादू की तरह किसी ख़ास साल में नहीं हुआ। लेकिन फिर भी वह काफ़ी तेज़ी के साथ हुआ और अठारहवीं सदी के बीच से लगाकर आगे के सौ वर्षों से कम में ही उसने जिंदगी की सूरत बदल दी। इन पत्रों में तुमने और मैंने, दोनों ने दुनिया की शुरुआत से लगाकर हज़ारों वर्षों के इतिहास के सिलसिले का सिंहावलोकन किया है और बहुत-से परिवर्तन हमारी निगाह में आये हैं। लेकिन ये सब परिवर्तन, जो कभी-कभी बहुत बड़े भी हुए, लोगों की ज़िन्दगी और रहन-सहन के ढंग को गहराई के साथ नहीं बदल सके। अगर सुक़रात या अशोक या जुलियस सीज़र भारत में अकबर के दरबार में अचानक चले आते, या अठारहवीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड या फ़्रान्स में पहुंच जाते, तो बहुत-से परिवर्तन उनकी नज़र में आते। इनमें से कुछ परिवर्तनों को वे पसन्द करते और कुछको नापसन्द। लेकिन सरसरी तौर पर, कम-से-कम बाहर से, वे दुनिया को पहचान लेते, क्योंकि विचारों में उन्हें बहुत फ़र्क़ नहीं मालूम होता। और जहांतक ऊपरी बातों से ताल्लुक़ है वे अपनेको बिलकुल अजनबी नहीं महसूस करते। अगर वे सफ़र करना चाहते तो घोड़े पर या घोड़ा-गाड़ी पर करते, जैसाकि

अपने ज़माने में किया करते थे; और सफ़र में वक़्त भी क़रीब-क़रीब उतना ही लगता ।

लेकिन इन तीनों में से एक भी अगर हमारे ज़माने की दुनिया में आ जाय तो उसे बड़ा ज़बरदस्त अचम्भा होगा । और यह अचम्भा बहुत करके उसके लिए दर्दभरा भी हो सकता है । वह देखेगा कि आजकल लोग तेज़-से-तेज़ घोड़े से भी ज़्यादा तेज़ी के साथ, या शायद कमान से छूटे हुए तीर से भी ज़्यादा तेज़ी के साथ, सफ़र करते हैं । रेल, स्टीमर, मोटर और हवाई-जहाज़ में वे अद्भुत तेज़ी के साथ सारी दुनिया में दौड़ते फिरते हैं । फिर उसकी दिलचस्पी तार, टेलीफोन, बेतार के तार, छापेखानों से प्रकाशित होनेवाली अनगिनती किताबों, अखबारों और सैकड़ों दूसरी चीज़ों में होगी, जो सब अठारहवी सदी और उसके बाद की उद्योगों की क्रान्ति के लाये हुए उद्योग के नये तरीकों के नतीजे हैं । सुक़रात या अशोक या जूलियस सीज़र इन नये तरीक़ों को पसन्द करेंगे या नापसन्द, यह मैं नहीं कह सकता, लेकिन इसमें शक नहीं कि वे उनको अपने जमाने के तरीक़ों से बिलकुल अलग तरह के पायेंगे ।

औद्योगिक क्रान्ति ने दुनिया को बड़ी मशीन दी । उसने मशीन-युग या यांत्रिक युग की शुरुआत की । पहले भी मशीनें ज़रूर थीं, लेकिन इतनी बड़ी नहीं, जितनी कि नई मशीनें । मशीन है क्या ? वह इन्सान को उसके काम में मदद देनेवाला बड़ा औजार है । आदमी औज़ार बनानेवाला जन्तु कहा जाता है और अपनी ज़िन्दगी के शुरू से वह औज़ार बनाता रहा है और उनको अच्छा बनाने की कोशिश करता रहा है । दूसरे जानवरों में, जिनमें से बहुत-से उससे ज्यादा ताकतवर थे, उसका प्रभुत्व गौजारों की ही वजह से कायम हुआ था । औजार उसके हाथ का ही बढ़ा हुआ रूप है; या उसे तीसरा हाथ भी कह सकते हैं । मशीन औजार का बढ़ा हुआ रूप है । औज़ार और मशीन ने मनुष्य को पशु-जगत से ऊपर उठा दिया । इन्होंने मनुष्य-समाज को प्रकृति की ग़ुलामी से छुड़ाया । औज़ार और मशीन की मदद से मनुष्य के लिए चीज़ें बनाना आसान हो गया । वह ज्यादा चीजें बनाने लगा और फिर भी उसे ज़्यादा फ़ुरसत रहने लगी । और इसका नतीजा यह हुआ कि सभ्यता की कलाओं में और विचारों व विज्ञान में प्रगति हुई ।

लेकिन बड़ी मशीन और उसके सब साथी निरी नरकतें ही नहीं साबित हुए । अगर इसने सभ्यता की तरक्क़ी में मदद दी है तो लड़ाई और बर्बादी के भयंकर हथियार ईजाद करके वहशीपन को बढ़ाने में भी मदद की है । अगर इसने चीज़ों की बहुतायत पैदा की है तो यह बहुतायत जनता के लिए नहीं बल्कि कुछ थोड़े से लोगों के लिए हुई है । इसने तो दौलतमंदों के ऐश-आराम और ग़रीबों की ग़रीबी के अन्तर को पहले से भी ज्यादा बढ़ा दिया है । यह मनुष्य का औज़ार और सेवक

होने के बजाय उसका स्वामी बनने का दावा करने लगी है। एक तरफ़ तो इसने सहयोग, संगठन, समय की पाबन्दी वग़ैरा गुण सिखाये हैं; दूसरी तरफ़ लाखों की ज़िन्दगी को एक ऐसा नीरस ढर्रा और ऐसा मशीनी बोझ बना दिया है, जिसमें ज़रा भी ख़ुशी और आज़ादी नहीं है।

लेकिन मशीन से जो बुराइयां पैदा हुई हैं, उनके लिए हम उस बेचारी को क्यों दोष दें ? दोष तो मनुष्य का है जिसने उसका दुरुपयोग किया है, और समाज का है, जिसने उससे पूरा फ़ायदा नहीं उठाया। यह तो ध्यान में भी नहीं आ सकता कि दुनिया या कोई देश, उद्योगी क्रान्ति से पहले के पुराने ज़माने को लौट जाय; और यह बात न तो ज़रूरी मालूम होती है, न बुद्धिमानी की कि हम लोग कुछ बुराइयों से छुटकारा पाने के लिए उद्योगवाद की लाई हुई बहुत सारी अच्छी चीज़ों को फेंक दें। चाहे जो हो, मशीन तो अब आ गई और बनी रहेगी। इसलिए हमारे सामने सवाल यही है कि उद्योगवाद की लाभकारी चीज़ों को रख लें और उसके साथ जो बुराइयां चिपक गई हैं, उनसे पिंड छुड़ायें। इससे पैदा होनेवाली दौलत से हमको फ़ायदा उठाना चाहिए, लेकिन इस बात का खयाल रखना चाहिए कि यह दौलत उन लोगों में बराबर बंट जाय जो उसे पैदा करते हैं।

इस पत्र में मेरा इरादा तुम्हें इंग्लैण्ड की उद्योगी क्रान्ति के बारे में कुछ बतलाने का था। लेकिन जैसी कि मेरी आदत है, मैं असली बात से अलग हट गया हूं और उद्योगवाद के नतीजों की चर्चा करने लगा हूं। मैंने तुम्हारे सामने वह समस्या रख दी है, जो आज लोगों को परेशान कर रही है। लेकिन यहांतक आ पहुंचने से पहले हमको पिछले कल की बातों से निबटना है; उद्योगवाद के नतीजों पर विचार करने से पहले हमको यह जांच करना है कि वह कब और कैसे आया। मैंने यह भूमिका इतनी लम्बी इसलिए की है कि तुमको इस क्रान्ति का महत्व महसूस करा सकूं। यह कोरी राजनैतिक क्रान्ति न थी, जिससे चोटी पर के बादशाह और शासक बदल गये हों। यह ऐसी क्रान्ति थी, जिसका असर सब वर्गों पर और असल में हर आदमी पर पड़ा। मशीन और उद्योगवाद की विजय का मतलब था मशीन पर क़ब्ज़ा रखनेवाले वर्गों की विजय। जैसा कि मैं बहुत पहले बता चुका हूं, राज वही वर्ग करता है, जो पैदावार के साधनों पर क़ब्ज़ा रखता है। पुराने ज़माने में उपज का सबसे बड़ा ज़रिया सिर्फ़ ज़मीन थी, इसलिए जो लोग ज़मीन के मालिक यानी ज़मींदार थे, उन्हींका बोलबाला था। सामन्तशाही के ज़माने में भी यही हाल रहा। इसके बाद जमीन के अलावा दूसरी तरह की दौलत सामने आई और ज़मींदार वर्ग के लोगों की सत्ता में पैदावार के नये साधनों के मालिकों का साझा हो गया और अब बड़ी मशीन आती है, जिससे उसपर क़ब्ज़ा रखनेवाले वर्ग कुदरती तौर पर आगे आ जाते हैं और मालिक बन बैठते हैं।

इन पत्रों के सिलसिले में मैं कई बार तुमको बतला चुका हूं कि शहरों के बुर्जुआ यानी मध्यमवर्गों का महत्व किस तरह बढ़ा और किस तरह वे सामन्ती अमीर-सरदारों से लड़ते रहे और कहीं-कहीं कुछ हदतक विजयी भी हुए। मैंने तुमको सामन्तशाही के पतन का हाल बतलाया है और शायद तुम्हारे दिल में यह ख़याल पैदा कर दिया है कि इस नये मध्यमवर्ग ने उसकी जगह ले ली। अगर ऐसा है तो मैं अपनी ग़लती सुधारना चाहता हूं, क्योंकि मध्यमवर्ग ने बहुत धीरे-धीरे तरक्की की और यह तरक्की उस ज़माने में नहीं हुई, जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। फ़्रान्स में राज्य-क्रान्ति ने और इंग्लैण्ड में इसी तरह की क्रान्ति के डर ने कहीं जाकर मध्यमवर्ग को ऊपर उठने का मौक़ा दिया। इंग्लैण्ड की १६८८ ई० की क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि पार्लमेण्ट की विजय हो गई, लेकिन तुम्हें याद होगा कि ख़ुद पार्लमेण्ट भी लोगों की एक छोटी-सी संख्या की, और ख़ासकर ज़मींदारों की, प्रतिनिधि थी। शहरों के कुछ बड़े-बड़े व्यापारी उसमें भले ही घुस जाते हों, लेकिन असल में व्यापारी वर्ग, यानी मध्यमवर्ग के लिए उसमें कोई जगह न थी।

इसलिए राजनैतिक सत्ता उन लोगों के हाथों में थी, जो ज़मींदारियों के मालिक थे। इंग्लैण्ड में ऐसा ही था और दूसरे देशों में तो और भी ज्यादा था। ज़मींदारी पिता से पुत्र को विरासत में मिलती थी। इसलिए राजनैतिक सत्ता ख़ुद भी एक मौरूसी रियायत बन गई। मैं इंग्लैण्ड के 'जेबी निर्वाचन क्षेत्रों' यानी पार्लमेण्ट में प्रतिनिधि भेजनेवाले ऐसे चुनाव-क्षेत्रों के बारे में पहले ही लिख चुका हूं, जिनमें सिर्फ़ कुछ गिने-चुने निर्वाचक होते थे। ये गिने-चुने निर्वाचक आमतौर पर किसीकी मुट्ठी में होते थे और इसलिए वह निर्वाचन-क्षेत्र उसकी जेब में समझा जाता था। ऐसे चुनाव लाज़मी और पर एक तमाशा होते थे; ख़ूब रिश्वतें चलती थीं और वोट व पार्लमेण्ट की सीटें बिकती थीं। बढ़ते हुए मध्यमवर्ग के कुछ मालदार लोग इस तरह से पार्लमेण्ट की सीट ख़रीद सकते थे। लेकिन जनता के लोग दोनों में से एक तरफ़ भी निगाह नहीं डाल सकते थे। उनको तो कोई मौरूसी रियायत या सत्ता मिलनी न थी, और ज़ाहिर है कि वे सत्ता ख़रीद भी नहीं सकते थे। इसलिए जब धनवान और रियायती लोग उनकी छाती पर बैठकर उन्हें चूसते थे तो वे कर ही क्या सकते थे ? पार्लमेण्ट में या पार्लमेण्ट के मेम्बरों के चुनाव में भी उनकी कोई आवाज़ न थी। सत्ताधारी लोग उनके बाहरी प्रदर्शनों तक से बहुत नाराज़ होते थे और इन्हें बलपूर्वक दबा दिया जाता था। वे बिखरे हुए, कमज़ोर और असहाय थे। लेकिन जब जुल्मों और मुसीबतों का प्याला भर गया तो वे क़ानून और व्यवस्था को भूलकर दंगा कर बैठे। इस तरह इंग्लैण्ड में अठारहवीं सदी में ग़ैर-क़ानूनी हरकतों का बहुत ज़ोर रहा। जनता की माली हालत आम तौर पर बहुत ख़राब थी। छोटे-छोटे काश्तकारों की ज़मीनें छीनकर और उन्हें ज़बरदस्ती बेदख़ल करके बड़े-बड़े जमींदार अपनी जागीरें बढ़ाने की कोशिशें कर रहे थे,

जिससे यह हालत और भी बुरी होती जा रही थी। गांवों की शामलाती ज़मीन भी हड़प ली जाती थी। ये सब बातें जनता की मुसीबतों को बढ़ानेवाली थीं। शासन में कोई आवाज़ न होने के कारण भी आम लोग नाराज़ थे और कुछ ज़्यादा स्वतन्त्रता के लिए दबीदबी-सी मांग करते थे।

फ़ान्स में तो हालत और भी ख़राब थी, जिसने वहां राज्य-क्रान्ति करा दी। इंग्लैण्ड में बादशाह का महत्व कुछ नहीं रहा था और सत्ता ज़्यादा लोगों के हाथ में आ गई थी। इसके अलावा इंग्लैण्ड में फ़ान्स की तरह के राजनैतिक विचारों का विकास नहीं हुआ था। इसलिए इंग्लैण्ड एक बड़े भारी विस्फोट से बच गया और वहां परिवर्तन ज़रा धीरे-धीरे हुए। इसी अर्से मे उद्योगवाद और नये आर्थिक ढांचे की वजह से ज़ल्दी-ज़ल्दी होनेवाले परिवर्तनों ने इस चाल को तेज़ कर दिया।

अठारहवी सदी में इंग्लैण्ड की राजनैनिक हालत का पिछवाड़ा यही था। खासकर विदेशी कारीगरों के आ बसने से इंग्लैण्ड घरेलू उद्योग-धंधों में बहुत आगे बढ़ गया। यूरोप के मजहबी युद्धों ने बहुत-से प्रोटेस्टेण्टों को अपने देश और घर छोड़कर इंग्लैण्ड में शरण लेने के लिए मजबूर किया। जिस समय स्पेनवाले निदरलैण्ड्स के विद्रोह को कुचलने की कोशिश कर रहे थे उस समय बहुत-से कारीगर निदरलैण्ड्स से भागकर इंग्लैण्ड आ गये। कहा जाता है कि इनमें से तीस हज़ार इंग्लैण्ड के पूर्वी भाग में बस गये और रानी एलिज़ाबेथ ने उनको इस शर्त पर वहां बसने की आज्ञा दी कि हरेक घर में एक अंग्रेज को काम सिखाने के लिए रक्खा जाय। इससे इंग्लैण्ड को अपने कपड़ा-उद्योग को बनाने में मदद मिली। जब यह उद्योग जम गया तो अंग्रेज़ों ने निदरलैण्ड्स के बने हुए कपड़े का इंग्लैण्ड में आना रोक दिया। उधर निदरलैण्ड्स अभी तक अपनी आज़ादी के भयानक युद्ध में फंसा हुआ था, जिससे उसके उद्योग-धंधों को नुक़सान पहुंच रहा था। नतीजा यह हुआ कि जहां पहले निदरलैण्ड्स के कपड़ों से भरे हुए जहाज़-के-जहाज़ इंग्लैण्ड जाया करते थे, वहां बहुत जल्दी न सिर्फ़ यह बन्द हो गया—बल्कि उल्टे अंग्रेज़ी कपड़े निदरलैण्ड्स की तरफ़ जाने लगे और इनकी मिक़दार बढ़ती ही गई।

इस तरह बेलजियम के वॉलून लोगों ने अंग्रेज़ों को कपड़ा बुनना सिखाया। बाद में फ़ान्स से प्रोटेस्टेण्ट शरणार्थी ह्यूजिनॉत आये और इन्होंने अंग्रेज़ों को रेशमी कपड़ा बुनना सिखाया। सत्रहवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप के बहुत-से होशियार कारीगर इग्लैण्ड चले आये और अंग्रेज़ों ने इनसे बहुत-से धन्धे सीखे, जैसे—काग़ज़, कांच, चाभी के खिलौने, और जेबी व दीवार की घड़ियां, बनाना।

इस तरह इंग्लैण्ड, जो अभी तक यूरोप का एक पिछड़ा हुआ देश था, महत्त्व में और दौलत में बढ़ने लगा। लन्दन की भी बढ़ोतरी हुई और वह सौदागरों और व्यापारियों की मालामाल होती हुई आबादीवाला काफी महत्व का बन्दरगाह बन

गया। एक दिलचस्प कहानी से हमको पता लगता है कि सत्रहवीं सदी के शुरू में ही लन्दन एक बड़ा भारी बन्दरगाह और व्यापार का केन्द्र था। इंग्लैण्ड का बादशाह जेम्स प्रथम, जो चार्ल्स प्रथम का—जिसका कि सिर उड़ा दिया गया था—पिता था, बादशाहों की निरंकुशता व दैवी अधिकार को पूरी तरह माननेवाला था। वह पार्लमेण्ट को और लन्दन के इन कल के छोकरे व्यापारियों को पसन्द नहीं करता था। और उसने ग़ुस्से में आकर लन्दन के नागरिकों को, अपनी राजधानी ऑक्सफोर्ड ले जाने की, धमकी दी। लन्दन के लॉर्ड मेयर पर इस धमकी का कुछ भी असर न हुआ और उसने कहा—"मुझे उम्मीद है कि हिज़ मैजेस्टी हमारे लिए टेम्स नदी तो छोड़ जाने की इनायत करेंगे!"

पार्लमेण्ट की मदद पर यही मालदार व्यापारी-वर्ग था और इसीने चार्ल्स प्रथम के साथ होनेवाली लड़ाई में उसे ख़ूब रुपया दिया था।

इंग्लैण्ड में जो ये सब उद्योग-धन्धे पैदा हुए वे घरेलू उद्योग या कुटीर-उद्योग कहलाते हैं। यानी कारीगर या दस्तकार लोग आम तौर पर अपने घरों में या छोटे-छोटे गिरोहों में काम करते थे। हरेक धन्धे के दस्तकारों की 'गिल्ड' या समितियां होती थीं, जो भारत की बहुत-सी जातियों से मिलती-जुलती थीं, लेकिन जिनमें इन जातियों का-सा मज़हबी तत्व नहीं होता था। दस्तकारियों के उस्ताद शागिर्द रखते थे और उनको अपने हुनर सिखलाते थे। जुलाहों के निजी करघे होते थे, कातनेवाले निजी चरख़े रखते थे। कताई का ख़ूब प्रचार था और यह धन्धा लड़कियां और औरतें फालतू वक़्त में करती थीं। कहीं-कहीं छोटे-छोटे कारखाने होते थे जहां बहुत-से करघे इकट्ठे कर लिये जाते थे और जुलाहे मिलकर काम करते थे। लेकिन हरेक बुनकर अपने करघे पर अलग ही काम करता था, और चाहे वह इस करघे पर अपने घर ही काम करता या दूसरे बुनकरों और उनके करघों के साथ किसी दूसरी जगह काम करता, इन दोनों बातों में कोई असली फ़र्क़ न था। यह छोटा कारख़ाना बड़ी मशीनोंवाले आधुनिक कारख़ानों से बिल्कुल अलग तरह का था।

उस ज़माने में उद्योग-धन्धों का यह घरेलू दर्जा सिर्फ़ इंग्लैण्ड में ही नहीं बल्कि दुनिया भर के हरेक देश में, जहां उद्योग-धन्धे होते थे, फूल-फल रहा था। मसलन भारत में ये घरेलू उद्योग-धन्धे बहुत उन्नत थे। इंग्लैण्ड में घरेलू उद्योग धन्धे क़रीब-क़रीब बिल्कुल ख़तम हो गये, लेकिन भारत में अब भी बहुत-से मौजूद हैं। भारत में बड़ी मशीन और घरेलू करघा दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, और इन दोनों का मिलान और फ़र्क़ देखा जा सकता है। तुम जानती हो कि हम जो कपड़ा पहनते हैं वह खादी है। यह हाथ-कता और हाथ-बुना है और इसलिए पूरी तरह भारत की कुटीरों व कच्ची झोपड़ियों में बना हुआ है।

नये मशीनी आविष्कारों ने इंग्लैण्ड के घरेलू उद्योग-धन्धों की काया ही पलट दी। मशीनें आदमी का काम दिन-पर-दिन ज्यादा करने लगीं और उनके ज़रिये कम मेहनत से ज्यादा माल पैदा करना आसान हो गया। ये आविष्कार अठारहवीं सदी के बीच में शुरू हुए और इनका ज़िक्र हम अगले पत्र में करेंगे।

मैंने थोड़े में अपने खादी-आन्दोलन का ज़िक्र किया है। इसके बारे में यहां मैं ज्यादा नहीं लिखना चाहता। लेकिन मैं तुमको बतला देना चाहता हूं कि यह आन्दोलन या चरखा बड़ी मशीन से मुक़ाबला करने के लिए नहीं है। बहुत-से लोग इस ग़लती में पड़ जाते हैं और यह ख़याल करने लगते हैं कि चरखे का अर्थ है मध्य-युगों को लौट जाना और मशीनों व उद्योगवाद के सब फलों को रद्दी समझकर फेंक देना। यह सब ग़लत है। हमारा आन्दोलन यक़ीनी तौर पर न तो उद्योगवाद के ही खिलाफ़ है और न मशीनों और कारखानों के। हम तो चाहते हैं कि भारत को सबसे अच्छी चीज़ें मिलें और जहांतक हो सके बहुत जल्दी मिलें। लेकिन भारत की मौजूदा हालत को, और खासकर अपने किसानों की भयंकर ग़रीबी को देखते हुए, हम उनसे अनुरोध करते हैं कि वे अपने फालतू समय में सूत कातें। इस तरह वे न सिर्फ़ कुछ हद तक अपनी हैसियत सुधारते हैं, बल्कि विदेशी कपड़े पर हमारी उस निर्भरता को भी कम करते हैं, जिसकी वजह से हमारे देश की इतनी दौलत बाहर जाती रहती है।

: ९८ :

## इंग्लैण्ड में उद्योगी क्रान्ति की शुरुआत

२२ सितम्बर, १९३२

अब मैं तुमको कुछ मशीनी आविष्कारों के बारे में बतलाना चाहता हूं, जिनकी वजह से पैदावार के तरीक़ों में बड़ा ज़बर्दस्त फ़र्क़ पड़ गया। आज हम उनको किसी मिल या कारखाने में देखते हैं तो वे हमको कुछ ज्यादा पेचीदा नहीं लगते। लेकिन पहले-पहल उनका विचार करना और उनको आविष्कार करना बड़ी मुश्किल बात थी। सबसे पहला आविष्कार १७३८ ई० में हुआ जब 'के' नामक एक अंग्रेज़ ने कपड़ा बुनने की सरकवां ढरकी बनाई। इस आविष्कार से पहले बुनकर के हाथ की ढरकी का धागा लम्बे फैले हुए ताने के तारों में धीरे-धीरे पिरोया जाता था। सरकवां ढरकी के ज़रिये यह काम बहुत जल्दी होने लगा, जिससे बुनकर दूना माल तैयार करने लगे। इसका मतलब यह हुआ कि अब बुनकर पहले से बहुत ज्यादा सूत काम में ला सकता था। सूत की इस बढ़ती हुई मांग को पूरा करने में कतवारियों को बड़ी दिक्क़त हुई और वे भी अपनी पैदावार बढ़ाने की कुछ तरकीब निकालने

की कोशिश करने लगे। १७६४ ई० में हारग्रीव्ज़ ने कातने की 'जेनी' का आविष्कार करके इस समस्या को कुछ-कुछ हल कर दिया। इसके बाद रिचर्ड आर्कराइट और दूसरे लोगों ने और-और आविष्कार किये; जल-शक्ति का और बाद में भाप-शक्ति का इस्तेमाल होने लगा। शुरू में ये सब आविष्कार सूती कपड़े के उद्योग में काम में लाये गए और सूती कपड़े के कारखाने या मिलें धड़ा-धड़ खड़े होने लगे। इसके बाद इन नये तरीक़ों को उपयोग में लानेवाला ऊनी कपड़ों का उद्योग था।

इसी अर्से में, १७६५ ई०में, जेम्स वाट ने भाप का इंजन बनाया। यह एक बड़ी भारी घटना थी और इसका नतीजा यह हुआ कि कारख़ानों को चलाने में भाप का इस्तेमाल होने लगा। इन नये कारख़ानों के लिए कोयले की ज़रूरत पड़ी, इसलिए कोयले के उद्योग की तरक़्क़ी हुई। कोयले के इस्तेमाल से लोहा गलाने के, यानी कच्चे लोहे को गलाकर शुद्ध धातु अलग करने के, नये तरीके ईजाद हुए। इसपर लोहे का उद्योग बड़ी तेज़ी से बढ़ने लगा। नये-नये कारख़ाने कोयले की खानों के पास बनाये जाने लगे, क्योंकि वहां कोयला सस्ता पड़ता था।

इस तरह इंग्लैण्ड में तीन नये उद्योगों—कपड़ा, लोहा और कोयला—का विकास हुआ और कोयले के क्षेत्रों और दूसरी माकूल जगहों में कारख़ाने खड़े होने लगे। इंग्लैण्ड की काया ही पलट गई। हरे-हरे ख़ुशनुमा देहात के बजाय अब बहुत-सी जगह पर ये कारख़ाने पैदा हो गये, जिनकी लम्बी-लम्बी चिमनियां धुआं उगलकर आस-पास अंधेरा करने लगीं! कोयलों के ऊंचे टीलों और कूड़े-कचरे के ढेरों से घिरे हुए ये कारख़ाने कुछ सुन्दर चीज़ें नहीं थी। इन कारख़ानों के पास बसनेवाले उद्योगी नगर भी कोई सुन्दर चीजें न थे। वे तो किसी तरह खड़े कर लिये गए थे, क्योंकि मिल-मालिकों का तो असली मक़सद था रुपया बनाते रहना। ये नगर भद्दे, बड़े और गन्दे थे, और भूखों मरते मजदूरों को मजबूरी से इन नगरों और कारख़ानों की बड़ी बुरी और तन्दुरुस्ती खराब करनेवाली हालतों में रहना पड़ता था।

तुम्हें याद होगा कि मैं लिख चुका हूं कि बड़े ज़मींदारों ने छोटे-छोटे काश्त-कारों को ज़बर्दस्ती बेदख़ल कर दिया था और बेकारी बढ़ी; इससे इंग्लैण्ड में दंगे हुए और ग़दर मच गया। शुरू-शुरू में इन नये उद्योगों ने हालत और भी ख़राब कर दी। खेती-बाड़ी को नुक़सान पहुंचा और बेकारी बढ़ने लगी। वास्तव में जैसे ही कोई नया आविष्कार होता, वैसे ही उसका नतीजा यह होता कि हाथ के काम की जगह मशीनें ले लेतीं। उसका फल यह होता था कि बहुत बार मज़दूर लोग नौकरी से निकाल दिये जाते थे, जिससे उनमें बहुत असन्तोष पैदा हो जाता था। इनमें से बहुत-से तो नई मशीनों से नफ़रत करने लगे और उनको तोड़ डालने की भी कोशिशें करने लगे। ये लोग 'मशीन-तोड़' कहलाने लगे।

यूरोप में मशीन-तोड़ी का एक लम्बा इतिहास है, जो सोलहवीं सदी से शुरू होता है, जबकि जर्मनी में एक मामूली मशीनी करघा ईजाद हुआ था-। इटली के एक पादरी की १५७९ ई० में लिखी गई एक पुरानी पुस्तक में इस करघे के बारे में लिखा है कि डैनज़िग की नगर-परिषद् ने "इस डर से कि यह आविष्कार सैकड़ों कारीगरों को दर-दर का भिखारी बना देगा, मशीन को नष्ट करवा दिया और आविष्कार करनेवाले को चुपचाप गला घोटकर या पानी में डुबोकर मरवा डाला !" इस आविष्कार करनेवाले का इस तरह झटपट सफ़ाया कर दिये जाने पर भी सत्रहवीं सदी में यह मशीन फिर प्रकट हुई और इसकी वजह से सारे यूरोप में दंगे-फिसाद हुए। इसके इस्तेमाल को रोकने के लिए कितनी ही जगह क़ानून बनाये गए और कहीं-कहीं तो बीच बाज़ार में सब लोगों के सामने इसमें आग लगाई गई। अगर यह मशीन जिस समय ईजाद हुई थी उसी समय इस्तेमाल में आ जाती तो सम्भव है इसके बाद दूसरे आविष्कार होते और मशीन-युग ज़रा जल्दी आ जाता। लेकिन सिर्फ़ यही बात कि इसका इस्तेमाल नहीं किया गया यह साबित करती है कि उस समय की हालतों में इसका वक़्त नहीं आया था। जब वक़्त आ गया तो इंग्लैण्ड में बहुत-से दंगे-फिसाद होने पर भी मशीन की सत्ता क़ायम हो गई। मज़दूरों की मशीन के लिए नाराज़गी कुदरती बात थी। लेकिन धीरे-धीरे वे जान गये कि दोष मशीन का नहीं, बल्कि उस तरीक़े का था, जिससे वह थोड़े-से लोगों के फ़ायदे के लिए काम में लाई जाती थी। लेकिन अब हमको इंग्लैण्ड में मशीन और कारख़ानों के विकास की तरफ़ लौटना चाहिए।

नये कारख़ाने बहुत-से कुटीर-उद्योगों और घरेलू काम करनेवालों को खा गये। इन घरेलू काम करनेवालों के लिए मशीन से होड़ करना सम्भव न था, इसलिए या तो उनको अपने पुराने हुनरों और धंधों को छोड़कर उन्हीं कारख़ानों में मज़दूरी तलाश करनी पड़ती थी, जिनसे वे नफ़रत करते थे, या बेकारों में शामिल होना पड़ता था। कुटीर-उद्योगों का विनाश एकदम तो नहीं हुआ, लेकिन हुआ काफ़ी तेज़ी के साथ। सदी के अन्त तक, यानी क़रीब १८०० ई० तक बहुत-से बड़े-बड़े कारख़ाने नज़र आने लगे। तीस साल बाद इंग्लैण्ड में स्टीफेन्सन के 'रॉकेट' नामक मशहूर इंजन के साथ भाप से चलनेवाली रेलें शुरू हुईं। इस तरह सारे देश में, और उद्योग-धन्धों व जीवन के लगभग सारे कामों में, मशीन दिन-पर-दिन आगे बढ़ती गईं।

यह दिलचस्प बात है कि सारे आविष्कार करनेवाले, जिनमें से बहुतों का ज़िक्र मैंने नहीं किया है, दस्तकारों के वर्ग में पैदा हुए थे। इसी वर्ग में से शुरू-शुरू के बहुत-से उद्योगी नेता निकले। लेकिन उनके आविष्कारों का, और इनकी वजह से पैदा होनेवाले कारख़ानों के ढंग का, नतीजा यह हुआ कि मालिक और मज़दूर

के बीच की खाई और भी ज़्यादा चौड़ी हो गई। कारखाने का मज़दूर मशीन का सिर्फ़ एक किर्रा बन गया और उन ज़बर्दस्त आर्थिक ताक़तों के हाथ में असहाय हो गया, जिनको वह समझ तक नहीं सकता था; उनपर क़ाबू पाना तो दूर रहा। दस्तकार और कारीगर को सबसे पहले खटका तो तभी हुआ था जब उन्हें पता लगा कि नये कारखाने उन लोगों से होड़ कर रहे हैं और चीज़ें इतनी सस्ती बनाकर बेच रहे हैं, जितनी सस्ती अपने सादे और आदिम औज़ारों से घर पर बनाकर बेचना उनके लिए सम्भव न था। कोई क़सूर न होते हुए भी उनको अपनी छोटी-छोटी दुकानें बन्द करनी पड़ीं। अगर वे अपने ही हुनर को नहीं चला सकते थे तो नये हुनर में सफल होना तो दूर की बात थी। बस, वे बेकारों की फ़ौज में शामिल हो गये और भूखों मरने लगे। अंग्रेज़ी कहावत है कि "भूख कारखानेदार का ड्रिल-सारजैण्ट[1] है", और इसी भूख ने आख़िर इन कारीगरों को नौकरी की तलाश में नये कारखानों के दरवाज़ों पर ला पटका। मालिकों ने उनकी तरफ़ ज़रा भी दया नहीं दिखाई। उन्होंने इन्हें काम तो दिया, लेकिन सिर्फ़ कौड़ी भर मज़दूरी पर, जिसके लिए इन कम्बख़्त मज़दूरों को कारखानों में अपना ख़ून पानी कर देना पड़ता था। औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक भी दम घोटनेवाली और गन्दी जगहों में, दिन रात पिसते थे। यहांतक कि उनमें से बहुत-से तो थकान के मारे ग़श खाकर गिर पड़ते थे। लोग कोयले की खानों के अन्दर ठेठ नीचे सारे-सारे दिन काम करते थे और महीनों तक उनको सूरज के दर्शन न होते थे।

लेकिन यह ख़याल न कर बैठना कि इन सबकी वजह मालिकों का ज़ुल्म ही थी। वे दिल से बेरहम कभी न थे; दोष तो उस प्रणाली का था। वे तो जिस तरह हो अपना व्यापार बढ़ाना चाहते थे और दुनिया की दूर-दूर की मंडियां दूसरे देशों से छीनना चाहते थे, और ऐसा करने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे। नये कारखानों के बनाने में और मशीनें ख़रीदने में बहुत रुपया ख़र्च होता है। यह रुपया तभी वापस मिलता है, जब कारखाना चालू हो जाय और उसका माल बाज़ार में बिकने लगे। इसलिए नये कारखाने बनाने के लिए इन कारखानों के मालिकों को किफ़ायत से चलना पड़ता था और जब माल बिककर रुपया आ भी जाता था तो भी वे नये-नये कारखाने डालते चले जाते थे। इंग्लैण्ड में जल्दी उद्योगीकरण होने से ये लोग दुनिया के दूसरे देशों से आगे बढ़े हुए थे और वे इससे फ़ायदा उठाना चाहते थे—और वास्तव में उन्होंने फ़ायदा उठाया भी। बस, अपना व्यापार बढ़ाने और ज़्यादा धन कमाने की बदहवास लालसा में वे उन बेचारे

---

[1] ड्रिल-सारजैण्ट यानी फ़ौज को ड्रिल क़वायद करानेवाला अफ़सर, जिसकी आज्ञा पर फ़ौज चलती है।

मज़दूरों का ख़ून चूसते थे, जिनकी मेहनत उनका दौलत पैदा करने का ज़रिया थी।

उद्योग-धन्धों की यह नई प्रणाली बलवानों के हाथों निर्बलों के शोषण के लिए ख़ास तौर पर अनुकूल थी। सारे इतिहास में हम बलवानों के हाथों निर्बलों को चूसा जाता देखते हैं। कारख़ानों की प्रणाली ने इसे और भी आसान कर दिया। क़ानून में तो ग़ुलामी नहीं थी, लेकिन सच तो यह है कि भूखों मरनेवाला मज़दूर, यानी कारख़ाने का मज़दूर ग़ुलाम, पुराने ज़माने के ग़ुलामों से किसी तरह अच्छी हालत में न था। क़ानून हमेशा मालिकों का ही साथ देता था। मज़हब भी उन्हीं-के पक्ष में था और ग़रीबों से कहता था कि इस जन्म में अपने फूटे भाग्य को बर्दाश्त करो और अगले जन्म में स्वर्गीय मुआवज़े की आशा करो। शासक वर्गों ने तो वास्तव में अपने सुभीते की फिलासफ़ी बना ली थी कि समाज के लिए ग़रीबों का होना ज़रूरी है और इसलिए कम मज़दूरी देना नेकी है। अगर अच्छी मज़दूरी दी जायगी तो ग़रीब लोग मौज उड़ाने की कोशिश करेंगे और कड़ी मेहनत न करेंगे। विचार करने का यह तरीक़ा बड़ा तसल्ली देनेवाला और फ़ायदेमन्द था। क्योंकि कार-ख़ानेदारों और दूसरे मालदार लोगों के दौलत बटोरने के स्वार्थ से यह बिल्कुल ठीक मेल खाता था।

इन ज़मानों का इतिहास बड़ा दिलचस्प और नसीहत देनेवाला है। इससे कितनी जानकारी हासिल होती है। हम देख सकते हैं कि अर्थशास्त्र पर और समाज पर पैदावार के इन मशीनी तरीक़ों का कितना ज़बर्दस्त असर पड़ता है। सारा समाजी तख़्ता ही उलट जाता है, नये-नये वर्ग आगे आते हैं और सत्ता हासिल करते जाते हैं; कारीगरों का वर्ग कारखानों का मज़दूरी कमानेवाला वर्ग बन जाता है। साथ-ही-साथ नई अर्थ-व्यवस्था से मज़हब और नीति के बारे में भी लोगों के विचार नये सांचे में ढल जाते हैं। मनुष्य-जाति के आम लोगों के यक़ीन उनके हितों या वर्ग-भावनाओं के साथ-साथ दौड़ते हैं, और जब क़ानून बनाने की ताक़त उनके हाथ में आ जाती है तो वे अपने हितों की हिफ़ाज़त के लिए क़ानून बनाने में ख़ूब सावधानी रखते हैं। अलबत्ता यह सब नेकी की, हर तरह की दिखावट के साथ किया जाता है, और हर तरह से भरोसा दिया जाता है कि क़ानून की तह में सिर्फ़ मनुष्य-जाति की भलाई करने का ही मकसद है। हम भारतवासियों को भारत के अंग्रेज़ वाइसरायों और दूसरे अफ़सरों की ऐसी दिखावटी नेक भावनाओं का काफ़ी तजुर्बा है। हमसे हमेशा कहा जाता है कि भारत की भलाई के लिए वे लोग कितनी मेहनत करते हैं। लेकिन दूसरी तरफ़ वे आर्डिनेन्सों और संगीनों के ज़ोर से हमपर राज करते हैं और हमारे देशवासियों के कलेजे का ख़ून चूसते हैं। हमारे जमींदार लोग कहते हैं कि वे काश्तकारों से कितनी मुहब्बत करते हैं, लेकिन उनको निचोड़ने और उनसे कसकर लगान वसूल करने में ज़रा भी नहीं हिचकते, यहांतक

कि उन बेचारों के पास सिवाय भुखमरे शरीरों के और कुछ नहीं छोड़ते। हमारे पूंजीपति और बड़े-बड़े मिल-मालिक मज़दूरों के लिए अपनी नेक-नीयती का भरोसा दिलाते हैं, लेकिन यह नेक-नीयत अच्छी मज़दूरी या मज़दूरों को ज़्यादा सहूलियतें देने में प्रकट नहीं होती। सारे मुनाफ़े नये-नये महल बनवाने में ख़र्च हो जाते हैं; मज़दूरों की कच्ची झोंपड़ियों को सुधारने में नहीं।

ताज्जुब है कि लोग अपने-आपको और दूसरों को किस क़दर धोखा देते हैं, अगर ऐसा करना उनके हित में हो। इसलिए हम अठारहवीं सदी और उसके बाद के अंग्रेज़ मालिकों को मज़दूरों की हालत सुधारने की सारी कोशिशों में अड़ंगा डालते हुए पाते हैं। उन्होंने कारख़ानों के बारे में क़ानून बना और मज़दूरों के लिए अच्छे मकान बनाने पर ऐतराज़ किया और यह मानने से इन्कार किया कि उनकी मुसीबतों के इन कारणों को दूर करना समाज का फ़र्ज़ है। वे तो यह सोचकर तसल्ली कर लेते थे कि सिर्फ़ निकम्मे लोग ही दुःख उठाते हैं। कुछ भी हो, वे तो मज़दूरों को अपने-जैसा आदमी भी नहीं समझते थे। उन्होंने 'मुक्त व्यापार'[१] की एक नई फिलासफ़ी बनाई, यानी वे चाहते थे कि अपने व्यापार में वे जो मन में आवे सो करें और सरकार उसमें कोई दख़ल न दे। उन्होंने दूसरे देशों से पहले चीज़ बनाने के कारख़ाने खोले थे, इसलिए वे उनसे आगे थे और अब तो वे सिर्फ़ यही चाहते थे कि रुपया कमाने के लिए उनको खुली छूट मिल जाय। मुक्त व्यापार का न्याय क़रीब-क़रीब एक दैवी मत बन गया, जिसमें यह माना जाता था कि इसमें हरेक को मौक़ा मिलता था, बशर्ते कि वह फ़ायदा उठा सके। आगे बढ़ने के लिए हरेक स्त्री और पुरुष को बाकी संसार से लड़ना पड़ता था और अगर इस लड़ाई में बहुत-से काम आ जाते थे तो इसमें हर्ज क्या था?

इन पत्रों के दौरान में मैं तुमको आदमी-आदमी के आपसी सहयोग की प्रगति के बारे में लिख चुका हूं, जो सभ्यता का आधार रहा था। लेकिन 'मुक्त व्यापार' के न्याय और नये पूंजीवाद ने जंगल का कानून[२] चालू कर दिया। कार्लाइल ने इसे 'शूकर-नीति'[३] नाम दिया है। जीवन और व्यापार का यह नया क़ानून किसने बनाया? मज़दूरों ने तो नहीं। उन बेचारों की तो सुनता ही कौन था। इसके बनाने-वाले तो ऊंचे वर्ग के सफल मिल-मालिक थे, जो इसे बेवक़ूफ़ी की भावना बताकर

[१] Laissez Faire

[२] **जंगल का कानून—बलवानों के द्वारा निर्बलों के नाश का नियम, जिसके अनुसार मनुष्य के सिवा संसार के सब प्राणी आचरण करते हैं। जंगल में छोटे जानवरों को बड़े जानवर मारकर खा जाते हैं और उनसे बड़े उनको मारकर खा जाते हैं।**

[३] 'Pig Philosophy'

अपनी सफलता में किसी तरह की दस्तंदाज़ी नहीं चाहते थे। बस, स्वतन्त्रता की और मिल्कियत के हक़ की दुहाई देकर वे इसका भी विरोध करते थे कि लोगों के निजी मकानों की क़ानून के ज़ोर से सफाई कराई जाय और माल में मिलावट करना रोका जाय।

मैंने अभी पूंजीपति शब्द का इस्तेमाल किया है। किसी-न-किसी रूप में पूंजीवाद बहुत दिनों से सब देशों में चला आ रहा था, यानी जमा किये हुए धन से उद्योग चलाये जाते थे। लेकिन बड़ी मशीन और उद्योगवाद के आने का नतीजा यह हुआ कि कारख़ानों में माल तैयार करने के लिए बहुत ज़्यादा रुपये की ज़रूरत पड़ने लगी। यह 'उद्योग की पूंजी' कहलाती थी और पूंजीवाद शब्द आजकल उस अर्थ-व्यवस्था के लिए काम में लाया जाता है, जो उद्योगी क्रान्ति के बाद पैदी हुई। इस व्यवस्था के अन्दर पूंजीपति, यानी पूंजी के मालिक, कारख़ानों के मालिक थे और उनसे मुनाफ़े कमाते थे। उद्योगीकरण के साथ-साथ पूजीवाद सारी दुनिया में फैल गया, सिवाय सोवियत रूस और शायद कुछ दूसरे देशों के। पूंजीवाद अपनी शुरुआत के दिनों से ही अमीर और ग़रीब के भेद पर ज़ोर देता रहा है। उद्योग-धन्धों के मशीनीकरण से माल की पैदावार बहुत ज़्यादा बढ़ गई और इसलिए दौलत भी ख़ूब पैदा होने लगी। लेकिन यह नई दौलत एक छोटी-सी जमात ही की जेब में जाती थी—यानी नये उद्योगों के मालिकों की जेबों मे। मज़दूर ग़रीब के ग़रीब ही बने रहे। इंग्लैण्ड में मज़दूरों की हालत बहुत ही धीरे-धीरे सुधरी, और वह भी ज़्यादातर भारत व दूसरे देशों की लूट की बदौलत, लेकिन उद्योगों के मुनाफ़े में मज़दूरों का हिस्सा बहुत कम था। उद्योगी क्रान्ति और पूजीवाद ने पैदावार की समस्या को हल कर दिया। लेकिन जो नई दौलत पैदा हुई, उसके बंटवारे की समस्या इनसे हल न हुई। धनवानों और धनहीनों की पुरानी कशमकश सिर्फ़ ज़ारी ही न रही, बल्कि और भी तीखी हो गई।

उद्योगी क्रान्ति अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में हुई। यह वही समय था जब अंग्रेज़ लोग भारत और कनाडा में लड़ रहे थे। यही 'सात साल की लड़ाई' का भी समय था। इन घटनाओं का एक दूसरी पर बहुत बड़ा असर पड़ा। ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके नौकर-चाकरों (तुम्हें क्लाइव का नाम याद होगा) ने प्लासी की लड़ाई के बाद जो बेशुमार रुपया भारत से लूटा उससे इन नये उद्योग-धन्धों को चालू करने में बड़ी मदद मिली। मैं इस पत्र में पहले लिख चुका हूं कि उद्योगीकरण शुरू-शुरू में बड़े ख़र्चे का काम है। इसमें जो रुपया फंस जाता है, कुछ दिन तक उससे कुछ फ़ायदा नहीं मिलता। अगर बहुत-सा धन हाथ में न आ जाय, चाहे कर्ज़ से या दूसरी तरह से, तो जबतक उद्योग चल न निकले और रुपया न पैदा करने लगे तबतक उसका नतीजा ग़रीबी और मुसीबत ही होता है। इंग्लैण्ड

का यह असाधारण सौभाग्य था कि ठीक जिस वक्त उसे अपने उद्योग-धन्धों और कारखानों को बढ़ाने के लिए रुपये की सबसे ज्यादा ज़रूरत हुई तभी भारत से उसे बेशुमार रुपया मिल गया।

इन नये कारखानों के बन जाने पर नई ज़रूरतें पैदा हुई। कारखानों की बनी हुई चीज़ें तैयार करने के लिए कच्चे माल की ज़रूरत हुई। मसलन, कपड़ा बनाने के लिए रूई की ज़रूरत पड़ी। इससे भी ज्यादा जरूरत थी नये-नये हाट-बाज़ारों की, जिनमें कारखानों में तैयार किया हुआ नया माल बेचा जा सके। कारखाने पहले खोलकर इंग्लैण्ड दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन इस पेशक़दमी के होते हुए भी उसे ऐसे हाट-बाज़ार मुश्किल से मिलते थे, जहां माल आसानी से बेचा जा सके। एक बार फिर भारत ने, अपनी मर्ज़ी के बिल्कुल खिलाफ़, इंग्लैण्ड की यह दिक्कत दूर कर दी। भारत में अंग्रेज़ों ने भारतीय उद्योग-धन्धों का सत्यानाश करने और भारत पर विलायती कपड़ा लादने के लिए सब तरह की चालबाज़ियों से काम लिया। इसका ज्यादा हाल में आगे बताऊंगा। यहां यह बात खास तौर पर ध्यान देने की है कि अंग्रेज़ों ने भारत पर जो क़ब्जा कर रक्खा था और उसे ज़बर्दस्ती अपनी योजनाओं में बिठा लिया था, इससे इंग्लैण्ड की उद्योगी क्रान्ति को कितनी मदद मिली।

उन्नीसवीं सदी में उद्योगवाद सारी दुनिया में फैल गया और पूंजीवादी उद्योग का दूसरे देशों में भी उसी मोटे ढंग से विकास हुआ, जो इंग्लैण्ड में निकाला गया था। पूजीवाद ने लाज़िमी तौर पर एक नये साम्राज्यवाद को जन्म दिया क्योंकि हर जगह तैयार माल बनाने के लिए कच्चे माल की और तैयार माल को बेचने के लिए हाट-बाज़ारों की मांग बढ़ने लगी। बाज़ार और कच्चा माल हासिल करने का सबसे आसान तरीक़ा यही था कि उस देश पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय। बस, ज्यादा शक्तिशाली देशों में नये उपनिवेशों के लिए आपस में जंगलियों जैसी छीना-झपटी होने लगी। इस मामले में भी भारत पर क़ब्ज़ा और समुद्री ताक़त, इन दोनों वजहों से इंग्लैण्ड फ़ायदे में था। लेकिन साम्राज्यवाद और उसके नतीजों के बारे में मुझे आगे चलकर कुछ कहना है।

उद्योगी क्रान्ति के आने से अंग्रेजी दुनिया पर लंकाशायर के बड़े-बड़े कपड़ा बनानेवालों, और लोहे के मालिकों और खानों के मालिकों का प्रभुत्व दिन-पर-दिन बढ़ता गया।

## ९९

# अमेरिका का इंग्लैण्ड से नाता तोड़ना

२ अक्तूबर, १९३२

अब हम अठारहवीं सदी की दूसरी बड़ी क्रान्ति पर विचार करेंगे—यानी
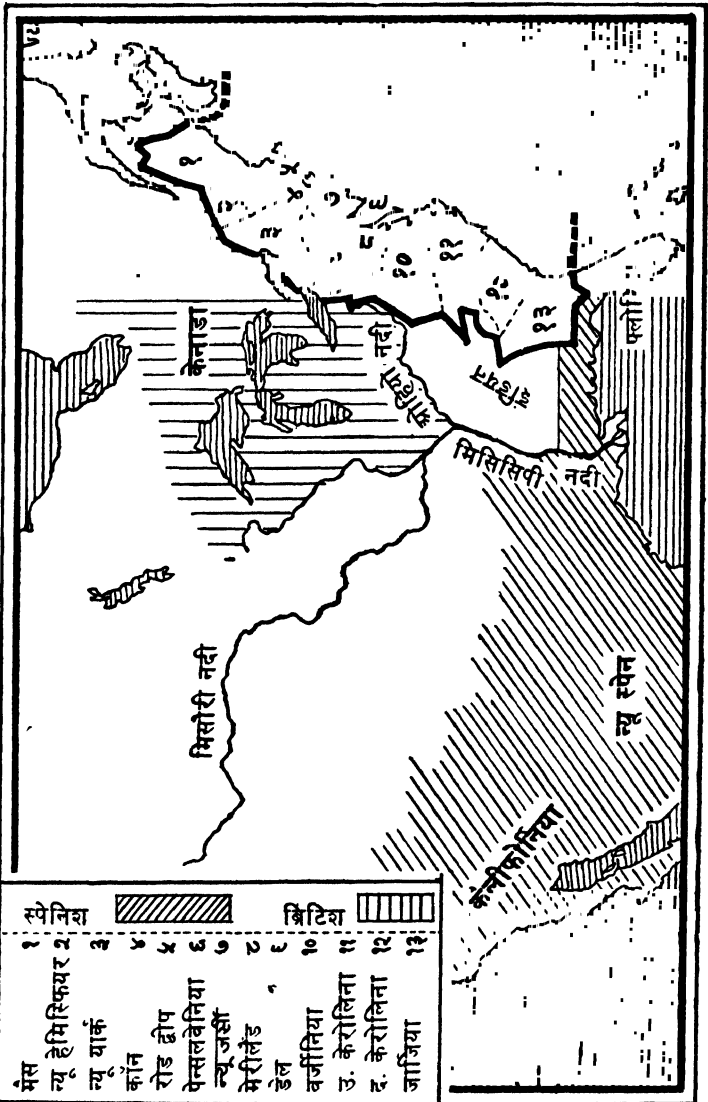
अमेरिकी उपनिवेशों का इंग्लैण्ड से विद्रोह। यह तो निरी राजनैतिक क्रान्ति थी, जो न तो उद्योगी क्रान्ति जैसे बुनियादी महत्व की थी, जिसपर हम विचार कर चुके हैं, और न फ़्रान्स की उस राज्य-क्रान्ति की तरह थी, जो इसके थोड़े ही दिनों बाद होनेवाली थी और जिसने यूरोप की समाजी नींव को ही हिला डाला। लेकिन फिर भी अमेरिका में होनेवाला यह राजनैतिक परिवर्तन महत्व का था और इससे बड़े-बड़े नतीज़े निकलनेवाले थे। उस वक़्त जो अमेरिकी उपनिवेश आज़ाद हो गये थे वे आज बढ़कर दुनिया का सबसे शक्तिशाली, सबसे मालदार और उद्योगों के लिहाज़ से सबसे ज़्यादा आगे बढ़ा हुआ देश बन गये हैं।

तुम्हें 'मे-फ्लावर' जहाज़ का नाम याद होगा, जो १६२० ई० मे प्रोटेस्टेण्टों का एक जत्था इंग्लैण्ड से अमेरिका ले गया था ? वे ज़ेम्स प्रथम की निरंकुशता को नापसन्द करते थे, और उसके मज़हब को भी। इसलिए ये लोग, जो तबसे 'पिल्ग्रिम-फ़ादर्स' (यात्रिक-पितागण) कहलाते हैं, इंग्लैण्ड की ज़मीन को हमेशा के लिए सलाम करके अतलांतिक समुद्र के पार एक नये अजनबी देश को चले गए। उनका इरादा वहां ऐसा उपनिवेश क़ायम करने का था, जिसमें उनको ज़्यादा आज़ादी रहे। वे उत्तर में उतरे और उस जगह का नाम उन्होंने न्यू-प्लाइमाउथ रक्खा। उत्तरी अमेरिका के समुद्री किनारे कें दूसरे हिस्सों में इनसे पहले भी उपनिवेशी लोग जा बसे थे। इनके बाद बहुत-से और लोग भी जा पहुंचे और पूर्वी किनारे पर उत्तर से लगाकर दक्षिण तक बहुत-से छोटे-छोटे उपनिवेश क़ायम हो गये। वहां कैथलिक उपनिवेश थे; इंग्लैण्ड से आये हुए 'कैवेलियर' अमीर-सरदारों के क़ायम किये हुए उपनिवेश थे; और 'क्वेकर'[1] उपनिवेश थे—पैनसिलवेनिया शहर का नाम पैन नामक क्वेकर नेता के ऊपर ही पड़ा है। वहां डच लोग भी बसते थे, जर्मनी व डेनमार्क के निवासी भी, और कुछ फ़्रान्सीसी भी। इनमें सभी देशों के निवासी मिले हुए थे, लेकिन सबसे ज़्यादा संख्या अंग्रेज़ उपनिवेशियों की थी। डचों ने एक शहर बसाया और उसका नाम न्यू-एमस्टर्डम रक्खा। बाद में जब यह अंग्रेज़ों के हाथ में आया तो उन्होंने इसका नाम बदलकर न्यू-यॉर्क कर दिया जो आजकल इतना मशहूर है।

अंग्रेज़ उपनिवेशी इंग्लैण्ड के बादशाह और पार्लमेण्ट को मानते रहे।

[1]सन् १६४९ ई० में विलियम फ़ॉक्स ने एक 'सोसाइटी आफ फ्रेण्ड्स' (मित्र-मण्डली) क़ायम की थी, जिसका उद्देश्य धर्म के 'ढकोसलों' को छोड़ देना और शान्ति स्थापित करना था। इन लोगों का मुंह-बोला नाम 'क्वेकर' पड़ गया। अमेरिका में इस सोसाइटी का संगठन विलियम पैन ने किया था। इन लोगों का ज़बर्दस्त अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक प्रभाव रहा है।

थे इसलिए वे बादशाह और पार्लमेण्ट को मानते रहे। बहुत-से लोगों ने अपने घर इसलिए छोड़े थे कि वे इंग्लैंड में अपनी हालात से बेजार थे और बादशाह या पार्लमेण्ट के बहुत-से कामों को नापसन्द करते थे। लेकिन उनसे नाता तोड़ने की इच्छा बिल्कुल न थी। दक्षिण के उपनिवेश, जिनमें कैवेलियर लोग और बादशाह के समर्थकों का ज़ोर था, इंग्लैण्ड से और भी ज़्यादा चिपके हुए थे। ये सब उपनिवेश अपनी-अपनी अलग-अलग ज़िन्दगी बिताते थे और एक-दूसरे से अलग तरह के थे। अठारहवीं सदी तक पूर्वी किनारे पर तेरह उपनिवेश थे, और ये सब इंग्लैण्ड के मातहत थे। उत्तर में कनाडा था और दक्षिण में स्पेन का इलाक़ा। इन तेरहों उपनिवेशों में जितनी डचों की या डेनमार्कवालों की या दूसरी बस्तियां थीं, वे सब इन्हींमें शामिल कर ली गई थीं और अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में थीं। लेकिन याद रहे कि ये सब उपनिवेश किनारे पर ही और किनारे के पास ही कुछ भीतर की तरफ़ थे। इनके परे पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक विशाल देश फैला हुआ था, जो आकार में इन तेरहों उपनिवेशों से क़रीब दस गुना बड़ा था। इन इलाक़ों में कोई यूरोपीय उपनिवेशी बसे हुए न थे। इनमें तो 'रेड इण्डियनों'[1] के जुदे-जुदे कबीले या राष्ट्र बसते थे, और ये उन्हींके क़ब्ज़े में थे। इनमें मुख्य 'आइरोकोइस' थे।

अठारहवीं सदी के बीच में, जैसा कि तुम्हें ख़याल होगा, इंग्लैण्ड और फ़्रान्स की संसार-व्यापी लड़ाई हुई। यह 'सात साल का युद्ध' (१७५६ से १७६३ ई० तक) कहलाता है जो सिर्फ़ यूरोप में ही नहीं, बल्कि भारत और कनाडा में भी लड़ा गया। इंग्लैण्ड की जीत हुई और फ़्रान्स को कनाडा उसके हवाले करना पड़ा। इस तरह अमेरिका से फ़्रान्स का पत्ता कट गया और उत्तरी अमेरिका के सारे उपनिवेश इंग्लैण्ड के क़ब्ज़े में आ गये। कनाडा के सिर्फ़ क्यूबेक प्रान्त में ही कुछ फ़्रान्सीसी लोगों की आबादी थी; बाक़ी उपनिवेशों में अंग्रेज़ ही ज़्यादा थे। अजीब बात है कि क्यूबेक अभी तक 'ऐंग्लो-सैक्सन'[2] आबादी से घिरा हुआ फ़्रान्सीसी भाषा और संस्कृति का एक टापू-सा है। क्यूबेक प्रान्त के सबसे बड़े शहर माण्ट्रील

---

[1] कोलम्बस जब हिन्दुस्तान की तलाश में निकला तो अमेरिका जा पहुंचा। वहां के निवासियों को देखकर उसने उनको हिन्दुस्तानी समझा और तभी से उनको 'इंडियन' कहा जाने लगा। लेकिन जब मालूम हुआ कि ये लोग हिन्दुस्तानी न थे तो उनका तांबे जैसा रंग होने के कारण 'रेड इंडियन' का नाम दे दिया गया। ये लोग अब भी थोड़ी-बहुत तादाद में उत्तरी अमेरिका में पाये जाते हैं।

[2] इंग्लैण्ड के निवासी ऐंग्लो-सैक्सन जाति के माने जाते हैं। कहते हैं कि पहले-पहल जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त से लोग यहां आकर बसे थे।

(मॉण्ट रायल का बिगड़ा हुआ रूप) में, मैं समझता हूं, फ्रान्सीसी भाषा बोलने-वाले इतने ज्यादा लोग हैं, जितने पेरिस के सिवा और किसी शहर में नहीं होंगे।

पिछले किसी पत्र में मैं ग़ुलामों के उस व्यापार का ज़िक्र कर चुका हूं जो यूरोप के देशों ने अफ़्रीका से हब्शी मज़दूर पकड़-पकड़कर अमेरिका भेजने के लिए चला रक्खा था। यह भयानक और हौलनाक़ व्यापार ज़्यादातर स्पेनियों, पुर्तगालियों और अंग्रेज़ों के हाथों में था। अमेरिका में मज़दूरों की ज़रूरत थी, ख़ासकर दक्षिणी राज्यों में, जहां तमाखू की खेती ख़ूब होने लगी थी। अमेरिका के मूल निवासी 'रेड-इण्डियन' कहलानेवाले लोग, घुमक्कड़ थे और एक जगह टिककर रहना पसन्द नहीं करते थे। इसके अलावा उन्होंने ग़ुलामों की हालत में काम करने से भी इन्कार किया। वे झुकनेवाले न थे; तबाह हो जाना उन्होंने बेहतर समझा, और बाद में वे तबाह हो भी गये। उनका क़रीब-क़रीब सफ़ाया कर दिया गया और नई हालतों में वे ज़िन्दा न रह सके। इन लोगों में से, जो किसी समय सारे महाद्वीप में बसे हुए थे, आज बहुत कम बाक़ी बचे हैं।

चूंकि रेड-इंडियन लोग तो खेतों में काम करने के लिए मजबूर नहीं किये जा सके, और मज़दूरों की बड़ी भारी ज़रूरत थी, इसलिए अफ्रीका के कम्बख़्त निवासियों को भयानक नर-आखेटों के ज़रिये पकड़ा जाता था, और जिस तरीक़े से उनको समुद्र पार भेजा जाता था, उसकी बेरहमी पर विश्वास करना मुश्किल है। ये अफ़रीकी हब्शी वर्जिनिया, कैरोलिना और जॉर्जिया के दक्षिणी राज्यों को भेजे जाते थे, जहां इनकी टोलियां बनाकर इनसे ज़्यादातर तमाखू की बड़ी-बड़ी बाड़ियों में काम लिया जाता था।

उत्तरी राज्यों में हालतें इससे जुदी थीं। 'मे-फ़्लावर' जहाज़ में आये हुए 'पिल्ग्रिम फादर्स' की पुरानी प्यूरिटन परम्पराएं अभी तक चल रही थीं। वहां छोटे-छोटे घने फ़ार्म थे, दक्षिण की तरह विशाल बाड़ियां न थीं। इन फार्मों में ग़ुलामों की या मज़दूरों की ज़्यादा संख्या की ज़रूरत न थी। चूंकि नई ज़मीन की कमी न थी, इसलिए हरेक आदमी की कोशिश यही रहती थी कि अपना निजी फ़ार्म रखकर ख़ुद-मुख़्तार बना रहे। इसलिए इन बसनेवालों में बराबरी की भावना बढ़ने लगी।

इस तरह हम इन उपनिवेशों में दो आर्थिक प्रणालियों का विकास देखते हैं; एक तो उत्तर में, जो छोटे-छोटे फ़ार्मों और बराबरी के कुछ विचारों पर टिकी हुई थी, और दूसरी दक्षिण में, जिसका आधार बड़ी-बड़ी बाड़ियां और ग़ुलामी था रेड-इंडियनों के लिए इन दोनों में से किसीमें भी जगह न थी। इसलिए ये लोग, जो इस देश के मूल निवासी थे, धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ़ खदेड़ दिये गए। रेड-

इंडियनों के आपसी झगड़ों और आपसी फूट ने इस सिलसिले को और भी आसान कर दिया।

इंग्लैण्ड के बादशाह और बहुत-से अंग्रेज़ जमींदारों का इन उपनिवेशों में, ख़ासकर दक्षिण में, बहुत रुपया फंसा हुआ था। वे इनसे जितना फ़ायदा हो सके, उठाने की कोशिश करते थे। सात साल के युद्ध के बाद अमेरिका के उपनिवेशों से रुपया वसूल करने के लिए ख़ास तौर पर कोशिश की गई। इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट, जिसमें जमींदारों की ही तूती बोलती थी, उपनिवेशों के शोषण को तैयार बैठी थी और उसने बादशाह का साथ दिया। टैक्स लगा दिये गए और व्यापार पर पाबन्दियां लगा दी गईं। तुम्हें याद होगा कि इसी समय में भारत में भी अंग्रेज़ों ने बंगाल की गहरी लूट शुरू कर दी थी और भारत के व्यापार के रास्ते में हर तरह की रुकावटें डाली गई थीं।

उपनिवेशियों ने इन पाबन्दियों और नये टैक्सों का विरोध किया, लेकिन सात साल के युद्ध में विजय के बाद ब्रिटिश सरकार को अपनी ताक़त का इतना भरोसा हो गया था कि उसने इनके विरोध की ज़रा भी परवाह न की। उधर इस सात साल के युद्ध से उपनिवेशियों ने भी बहुत-सी बातें सीख ली थीं। अलग-अलग उपनिवेशों या राज्यों के लोग आपस में मिले और एक दूसरे को जानने-पहचानने लगे। वे सिखाई हुई अंग्रेजी फौज़ों के साथ फ़्रान्सीसी फौजों के खिलाफ़ लड़ चुके थे और इस तरह लड़ने के तरीक़ों से और युद्ध के हौलनाक खेल से जानकार हो गये थे। इसलिए अपनी तरफ़ से ये उपनिवेशी भी ऐसी बात को सीधी तरह मानने के लिए तैयार न थे, जिसे वे अपने साथ अन्याय और ज़्यादती समझते थे।

१७७३ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय जबरन उनके सिर थोपनी चाही तो मामला क़ाबू से बाहर हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी में इंग्लैण्ड के बहुत-से मालदारों के हिस्से थे, जिससे वे उसकी कमाई में दिलचस्पी रखते थे। सरकार इन्हीं लोगों की मुट्ठी में थी, और शायद सरकार के मंत्रियों का खुद भी ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार में कुछ साझा था। इसलिए सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को अमेरिका चाय भेजने और वहां उसे बेचने की सहूलियत देकर व्यापार को मदद पहुंचाने की कोशिश की। लेकिन इससे उपनिवेशों के चाय के मुक़ामी व्यापार को धक्का पहुंचा और लोग बहुत नाराज़ हुए। इसलिए इस विदेशी चाय के बायकाट का फ़ैसला किया गया। दिसम्बर, १७७३ ई० में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय बोस्टन पर उतारी जाने लगी तो उसे रोका गया। कुछ उपनिवेशी रेड-इंडियनों का भेष बनाकर माल के जहाज़ों पर चढ़ गये और उन्होंने चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह काम खुल्लमखुल्ला और उनका समर्थन

करनेवाली एक भारी भीड़ के सामने किया गया। यह एक चुनौती थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि बाग़ी उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध ठन गया।

इतिहास की घटनाएं ठीक उसी तरह दुबारा कभी नहीं होतीं, फिर भी यह अजीब बात है कि कभी-कभी वे कितनी मिलती-जुलती होती हैं बोस्टन में १७७३ ई० में चाय के समुद्र में फेंके जाने की यह घटना बड़ी मशहूर हो गई है। यह 'बोस्टन टी-पार्टी' कहलाती है। ढाई साल हुए, जब बापू ने अपनी नमक की लड़ाई और दांडी की महान् यात्रा और नमक पर धावे शरू किये थे तो अमेरिका के बहुत-से लोगों को 'बोस्टन टी-पार्टी' का ख़याल आ गया था और वे इस नई 'साल्ट-पार्टी' का उससे मिलान करने लगे। लेकिन असल में इन दोनों में बहुत बड़ा फ़र्क़ था।

डेढ़ साल बाद, १७७५ ई० में, इंग्लैण्ड और उसके अमेरिकी उपनिवेशों के बीच युद्ध ठन गया। उपनिवेश किस बात के लिए लड़ाई लड़ रहे थे? आज़ादी के लिए नहीं, न इंग्लैण्ड से अलहदा होने के लिए, यहांतक कि जब लड़ाई शुरू हो गई और दोनों तरफ़ ख़ून बह चुका, तब भी उपनिवेशियों के नेता, इंग्लैण्ड के जार्ज तृतीय को 'मोस्ट ग्रेशस सॉवरेन'[1] कहते रहे और अपने-आपको उसकी वफ़ादार प्रजा मानते रहे। यह बात बड़ी दिलचस्प है, क्योंकि ऐसी बात तुम्हें अक्सर होती हुई दिखाई देगी। हॉलैण्ड में स्पेन का फिलिप द्वितीय बादशाह कहलाता था, हालांकि उसकी फ़ौजों के साथ भीषण लड़ाई छिड़ी हुई थी। बहुत वर्षों की लड़ाई के बाद कहीं जाकर हॉलैण्ड को मजबूर होकर अपनी स्वाधीनता की घोषणा करनी पड़ी। भारत में भी बहुत वर्षों तक शंका और हिचकिचाहट और उपनिवेशी स्वराज्य के ख़याल से खिलवाड़ करने के बाद, हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस ने, पहली जनवरी, १९३० ई० को पूर्ण स्वराज्य के हक़ में घोषणा की। अब भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो, मालूम होता है, स्वाधीनता के विचार से घबराते हैं और भारत में उपनिवेशी शासन की बातें करते हैं। लेकिन इतिहास हमको बतलाता है और हॉलैण्ड और अमेरिका की मिसालें ज़ाहिर कर देती हैं कि ऐसी लड़ाई का नतीजा सिर्फ़ स्वाधीनता ही हो सकता है।

१७७४ ई० में, उपनिवेशों और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ने से कुछ ही दिन पहले, वाशिंगटन ने कहा था कि उत्तरी अमरीका का कोई समझदार आदमी स्वाधीनता नहीं चाहता। और यही वाशिंगटन बाद में अमेरिका के गणराज्य का सबसे पहला राष्ट्रपति होनेवाला था! १७७४ ई० में युद्ध छिड़ जाने के बाद, उपनिवेशी

---

[1] 'महा कृपालु नरेश'—इंग्लैण्ड के बादशाह को सम्बोधन करने का पुराना तरीका।

कांग्रेस के छियालीस प्रमुख सदस्यों ने वफ़ादार प्रजा की हैसियत से बादशाह जार्ज तृतीय की ख़िदमत में सुलह की और 'खून बहना' रोकने की अर्जी भेजी। इंग्लैण्ड और उसकी अमेरिकी संतान के बीच दुबारा मेल-जोल और अच्छी भावना क़ायम करने की उनकी ज़ोरदार तमन्ना थी। वे तो सिर्फ़ किसी तरह की उपनिवेशी सरकार चाहते थे और वाशिंगटन के शब्दों में ऐलान करते थे कि कोई भी समझदार आदमी स्वाधीनता नहीं चाहता। यह 'ओलिव-ब्रांच-पिटीशन'[1] कहलाई।

लेकिन दो साल भी न बीतने पाये थे कि इस अर्जी पर दस्तख़त करनेवालों में से पच्चीस ने एक दूसरे ही ख़रीते पर दस्तख़त किये—वह थी 'स्वाधीनता की घोषणा।'

ज़ाहिर है कि उपनिवेशों ने कोई स्वाधीनता की ख़ातिर लड़ाई नहीं छेड़ी थी। उनकी शिकायतें तो टैक्सों और व्यापार पर पाबन्दियों के बारे में थी। वे लोग उनपर उनकी मर्ज़ी के खिलाफ़ टैक्स लगाने के पार्लमेण्ट के हक़ को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका मशहूर नारा यह था कि 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई टैक्स नहीं'[2], क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेण्ट में उनका कोई प्रतिनिधि न था।

इन उपनिवेशियों के पास कोई फ़ौज न थी, लेकिन एक विशाल देश ज़रूर था, जिसमें वे ज़रूरत पड़ने पर पीछे हटकर शरण ले सकते थे। उन्होंने एक फ़ौज तैयार की और आगे जाकर वाशिंगटन उनका प्रधान सेनापति हुआ। उनको कुछ सफलताएं भी मिलीं, और फ़्रान्स भी अपने पुराने दुश्मन इंग्लैण्ड से बदला निकालने का अच्छा मौक़ा देखकर उपनिवेशों से मिल गया। स्पेन ने भी इंग्लैण्ड के ख़िलाफ़ युद्ध का ऐलान कर दिया। अब इंग्लैण्ड का पासा हलका हो गया, लेकिन युद्ध बहुत वर्षों तक चलता रहा। १७७६ ई० में उपनिवेशों का मशहूर 'स्वाधीनता का घोषणा-पत्र'-निकला। १७८२ ई० में युद्ध ख़तम हो गया, और १७८३ ई० में लड़नेवाले देशों ने पेरिस के सुलहनामे पर दस्तख़त कर दिये।

इस तरह अमेरिका के ये तेरह उपनिवेश एक स्वाधीन गणराज्य बन गये, जिनको 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका' यानी अमेरिका का संयुक्त राज्य नाम दिया गया। लेकिन बहुत दिनों तक इन राज्यों में आपसी फूट बनी रही और हरेक राज्य अपने-आपको क़रीब-क़रीब स्वाधीन मानता रहा। सबकी समान राष्ट्रीयता की भावना बहुत धीरे-धीरे पैदा हुई। यह एक विशाल देश था, जो पश्चिम की तरफ़

---

[1] 'ओलिव-ब्रांच' यानी जैतून के पेड़ की डाली। यूरोप में जैतून का पेड़ शान्ति का चिह्न समझा जाता है। इसलिए जैतून के पेड़ की डाली पेश करने का मतलब होता है शान्ति का प्रस्ताव करना।

[2] no taxation without representation.

फैलता ही जा रहा था। आज की दुनिया का यह सबसे पहला बड़ा गणराज्य था—छोटा-सा स्वीज़रलैण्ड ही उस समय का दूसरा असली गणराज्य था। हालैण्ड गणराज्य ज़रूर था, लेकिन वह अमीर-वर्ग के हाथ में था। इंग्लैण्ड सिर्फ़ बादशाहत ही न था बल्कि वहां की पार्लमेण्ट एक छोटे-से धनवान ज़मींदार वर्ग के हाथों में थी। इसलिए यूनाइटेड स्टेट्स का गणराज्य एक नई तरह का देश था। यूरोप और एशिया के देशों की तरह उसका पुराना इतिहास कुछ नहीं था। सामन्तशाही का भी वहां कोई निशान न था, सिवाय दक्षिण में बागान प्रणाली और ग़ुलामी के। वहां पुश्तैनी अमीर-उमरा न थे। इसलिए मध्यमवर्ग की तरक्क़ी के रास्ते में कोई रुकावटें न थीं और वह तेज़ी के साथ बढ़ा। स्वाधीनता के युद्ध के समय वहां की आबादी चालीस लाख से भी कम थी। दो साल पहले, १९३० ई० में, यह १२ करोड़ ३० लाख के करीब थी।

जार्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य का पहला राष्ट्रपति हुआ। यह वर्जिनिया राज्य का एक बड़ा ज़मींदार था। इस ज़माने के और महापुरुष, जो गणराज्य की नींव डालनेवाले माने जाते हैं, टामस पेन, बेन्जामिन फ्रैंकलिन, पैट्रिक हैनरी, टामस जेफरसन[1], जान ऐडम्स[2], और जेम्स मैडीसन[3] हैं। बैन्जामिन फ्रैंकलिन तो ख़ास तौर पर नामी आदमी था और यह बड़ा भारी वैज्ञानिक था। बच्चों की पतंगें उड़ाकर इसने यह साबित कर दिया कि बादलों की कौंध और बिजली एक ही चीज़ हैं।

१७७६ ई० की गणराज्य की घोषणा में कहा गया था कि "जन्म से सब मनुष्य बराबर हैं।" अगर बारीकी से देखा जाय तो यह बयान पूरी तौर पर सही नहीं है, क्योंकि कुछ कमज़ोर होते हैं, कुछ बलवान, कुछ दूसरों से ज्यादा चतुर और समर्थ होते हैं। लेकिन इस बयान की तह में जो विचार है, वह बिल्कुल साफ़ और तारीफ़ के लायक है। उपनिवेशी लोग यूरोप के सामन्तशाही वर्ग-भेद से छुटकारा पाना चाहते थे। यह अकेली ही बहुत आगे बढ़ी हुई बात थी। शायद 'स्वाधीनता की घोषणा' की रचना करनेवालों में से बहुतों पर फ़्रान्स के वाल्तेयर व रूसो और इनके बाद होनेवाले अठारहवीं सदी के दार्शनिकों और विचारकों का असर पड़ा था।

"सब लोग जन्म से बराबर हैं"—लेकिन फिर भी बेचारा हब्शी था, एक

---

[1]जेफ़रसन (१७४३–१८२६); अमेरिका का तीसरा राष्ट्रपति।
[2]ऐडम्स (१७३५–१८२६); अमेरिका का दूसरा राष्ट्रपति।
[3]मैडीसन (१७५१–१८३६); अमेरिका का चौथा राष्ट्रपति।

ग़ुलाम, जिसे कोई हक़ न थे ! उसे कौन पूछता था ? संविधान में उसकी क्या जगह थी ? उसके लिए कोई जगह नहीं थी, और अभी तक भी नहीं हो पाई है। बहुत साल बाद उत्तर और दक्षिण के राज्यों में भीषण गृह-युद्ध हुआ, जिसके नतीजे से ग़ुलामी की प्रथा तोड़ दी गई। लेकिन हब्शियों की समस्या अमेरिका में अभी तक चली आती है।

: १०० :

# बास्तील का पतन

७ अक्तूबर, १९३२

हम बहुत थोड़े में अठारहवीं सदी की दो क्रान्तियों का बयान कर चुके हैं। इस पत्र में मैं तुमको तीसरी, यानी फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में कुछ बतलाऊंगा। तीनों क्रान्तियों में फ्रान्स की इस क्रान्ति ने सबसे ज्यादा हलचल पैदा की। इंग्लैण्ड में शुरू होनेवाली उद्योगी क्रान्ति आम तौर पर महत्वभरी थी, लेकिन वह धीरे-धीरे आई और ज्यादातर लोगों की तो वह निगाह में भी न आ सकी। उस समय उसका असली महत्व किसीने महसूस नहीं किया। लेकिन दूसरी तरफ़ फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति चकित यूरोप पर एकदम बिजली की तरह गिर पड़ी। यूरोप अभी तक बहुत-से स्वेच्छाचारी राजाओं और सम्राटों के मातहत था। पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की हस्ती मिट चुकी थी, लेकिन काग़जी तौर पर वह अब भी चल रहा था और उसके प्रेत की छाया अभी तक सारे यूरोप पर पड़ रही थी। बादशाहों व सम्राटों और दरबारों व राजमहलों की इस दुनिया में आम जनता की गहराई में से यह अद्भुत और डरावना जीव निकल पड़ा, जिसने सड़े हुए रिवाजों और रियायतों की ज़रा भी परवाह न की, और जिसने एक बादशाह को तख्त से उठा फेंका तो दूसरों की भी यही हालत कर डालने का खौफ़ पैदा कर दिया। फिर इसमें क्या ताज्जुब है, अगर यूरोप के बादशाह व रियायतोंवाले तमाम लोग उस जनता के इस विद्रोह के आगे थर्राने लगे, जिसे उन्होंने इतने दिनों तक नाचीज़ समझा और कुचला था ?

फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ी। लेकिन क्रान्तियां और ज्वालामुखी बिना सबब या बिना बहुत दिनों की तैयारी के अचानक नहीं फूट पड़ते। हम अचानक होनेवाले विस्फोट को देखकर ताज्जुब करते हैं; लेकिन ज़मीन की सतह के नीचे युगों तक बहुत-सी ताक़तें आपस में टकराया करती हैं और आगें सुलगा करती हैं। अन्त में ऊपर की पपड़ी उनको ज्यादा देर दबाकर नहीं रख सकती और ये ज्वालाएं आकाश तक उठनेवाली विकट लपटों के साथ फूट

पड़ती हैं और पिघला हुआ पत्थर पहाड़ से नीचे बहने लगता है। ठीक इसी तरह ये ताक़तें, जो अन्त में क्रान्ति की शक्ल में फूटती हैं, समाज की सतह के नीचे बरसों तक खेला करती हैं। पानी गरम करने पर उबलता है, लेकिन तुम जानती हो कि खूब गर्म होने के बाद ही उसमें उबाल आता है।

विचार और आर्थिक हालतें ही क्रान्तियां पैदा करते हैं। बेवक़ूफ़ सत्ताधारी लोग, जिन्हें अपने विचारों से मेल न खानेवाली कोई चीज़ नज़र नहीं आती, यह समझते हैं कि क्रान्तियां बेचैनी फैलानेवालों के सबब से होती हैं। बेचैनी फैलानेवाले वे लोग होते हैं, जो मौजूदा हालतों से नाराज़ होते हैं और परिवर्तन चाहते हैं और उसके लिए जतन करते हैं। क्रान्ति के हरेक ज़माने में इनकी बहुतायत होती है; वे तो खुद ही उस ज़माने की उथल-पुथल और बेचैनी का नतीजा होते हैं। लेकिन हज़ारों और लाखों आदमी खाली एक बेचैनी फैलानेवाले के इशारे पर ही नहीं नाचने लगते हैं। ज़्यादातर लोग सलामती को दुनिया में सबसे ज़्यादा चाहते हैं; जो कुछ उनके पास है उसे वे छिन जाने के खतरे में नहीं डालना चाहते, लेकिन जब आर्थिक हालतें ऐसी हो जाती हैं कि इनकी रोज़मर्रा की मुसीबतें बढ़ती जाती हैं और जीवन बर्दाश्त से बाहर का बोझ बन जाता है, तो कमज़ोर-से-कमज़ोर भी जोखिम उठाने के लिए तैयार हो जाते हैं। तभी जाकर बेचैनी फैलानेवाले की आवाज़ पर कान देते हैं, जो उनको उनकी मुसीबत से निकालने का रास्ता बतलाता हुआ मालूम होता है।

अपने बहुत-से पत्रों में मैंने जनता की मुसीबतों और किसानों के बलवों का ज़िक्र किया है। एशिया और यूरोप के हरेक देश में किसानों के ऐसे विद्रोह हुए हैं, जिनकी वजह से बहुत खून-खराबी और ज़ुल्मी दमन हुए हैं। किसानों को उनकी मुसीबतों ने क्रान्तिकारी कार्रवाइयों की ओर ज़बरदस्ती ढकेला, लेकिन आम तौर पर उनको अपने लक्ष्य का ठीक-ठीक भान नहीं था। विचारों के इस धुंधलेपन, विचारधारा के इस अभाव के सबब से उनकी कोशिशें अक्सर बेकार हो गईं। फ़ान्स की राज्यक्रान्ति में हम एक नई बात देखते हैं, कम-से-कम इतने बड़े पैमाने पर, और वह क्रान्ति करने की आर्थिक ढकेल के साथ विचारों का संगम। जहां ऐसा संगम होता है वहीं सच्ची क्रान्ति होती है, और सच्ची क्रान्ति जीवन और समाज की सारी रचना—राजनैतिक, समाजी, आर्थिक और मज़हबी—पर असर डालती है। अठारहवीं सदी के आखीरी वर्षों में हम फ़ान्स में ऐसा ही होता हुआ पाते हैं।

मैं तुमको फ़ान्स के बादशाहों के विलासी जीवन, निकम्मेपन व भ्रष्टाचार के बारे में, और आम जनता को पीसनेवाली ग़रीबी के बारे में पहले ही लिख चुका हूं। फ़ान्स की जनता के दिमाग़ में जो उथल-पुथल मच रही थी, उसका भी कुछ ज़िक्र मैं कर चुका हूं; और उन नये विचारों का भी, जिन्हें वाल्तेयर, रूसो और

मांतेस्क्यू और बहुत-से दूसरे लोगों ने चलाया था। इस तरह आर्थिक मुसीबत, और विचारधारा का निर्माण, ये दो प्रक्रियाएं साथ-साथ चल रही थीं और एक दूसरी पर असर व जवाबी असर डाल रही थीं। किसी क़ौम की विचारधारा को बनाने में बहुत समय लगता है, क्योंकि नये विचार धीरे-धीरे छन-छनकर लोगों के पास पहुंचते हैं, और पुरानी रूढ़ियों व रायों को त्यागने के लिए लोग तैयार नहीं होते। अक्सर ऐसा होता है कि जबतक कोई नई विचारधारा क़ायम हो, और लोग विचारों के नये मेल को आख़िर कबूल करने लगें, तबतक खुद वे विचार ही समय से कुछ पिछड़े रह जाते हैं। यह दिलचस्पी की बात है कि अठाहरवीं सदी के फ़ान्सीसी दार्शनिकों के विचारों का आधार यूरोप के उद्योगी युग से पहले का ज़माना था; और फिर भी क़रीब-फ़रीब ठीक उसी समय में इंग्लैण्ड में उद्योगी क्रान्ति शुरू हो रही थी, जो उद्योग-धन्धों को और जीवन को इस क़दर बदल रही थी कि वास्तव में वह बहुत-से नये फ़ान्सीसी मतों की नींव ही खोखली कर रही थी। उद्योगी क्रान्ति का विकास असल में बाद में हुआ और फ्रान्सीसी विचारक दरअसल यह अन्दाज़ न कर सके कि आगे क्या होनेवाला था। लेकिन फिर भी बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के आने के साथ-साथ उनके विचार, जिनपर फ़ान्स की राज्यक्रान्ति की विचारधारा बहुत हद तक टिकी हुई थी, कुछ ज़माने से पिछड़ गये थे।

कुछ भी हो, यह साफ़ है कि फ़ान्सीसी दार्शनिकों के इन विचारों और मतों का राज्यक्रान्ति पर बड़ा ज़बर्दस्त असर पड़ा। बलवों और विद्राहों के रूप में जनता की कार्रवाइयों की बहुत-सी मिसालें पहले हो चुकी थीं; अब जगी हुई जनता के आन्दोलन का, या यों कहिये कि समझ-बूझकर आगे बढ़नेवाली जनता के आन्दोलन की, निराली मिसाल सामने आई। फ़ान्स की इस महान् राज्यक्रान्ति का महत्व इसी सबब से है।

मैं बतला चुका हूं कि १७१५ ई० में पंद्रहवां लुई अपने पड़-दादा चौदहवें लुई का गद्दीनशीन हुआ और इसने उनसठ वर्षों तक राज किया। कहते हैं कि वह कहा करता था—'आप मरे जग प्रलय', और इसीके मुताबिक वह बर्ताव भी करता था। बड़े मज़े के साथ वह अपने देश को गहरे गड्ढे में गिरा रहा था। उसने इंग्लैण्ड की क्रान्ति और वहां के बादशाह का सिर उड़ा दिये जाने की घटना से भी कुछ सबक नहीं सीखा। उसके बाद, १७७४ ई० में उसका पोता सोलहवां लुई गद्दी पर बैठा, जो बड़ा बेवक़ूफ़ और काठ का उल्लू था। उसकी रानी मेरी एन्तोइनेत आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट् की बहन थी। यह भी बिलकुल बेवक़ूफ़ थी; लेकिन उसमें एक तरह की ज़िद का बल था, जिससे सोलहवां लुई पूरी तरह उसकी मुट्ठी में था। उसमें 'बादशाहों के दैवी अधिकार' का ख़याल लुई से भी ज़्यादा भरा हुआ था, और वह आम लोगों से नफ़रत करती थी। पति और पत्नी दोनों ही ने मिलकर

बादशाहत के ख़याल को लोगों के लिए नफ़रतभरा बनाने में कोई कसर न रक्खी। राज्यक्रान्ति शुरू होने के बाद तक भी फ़्रान्स के लोगों का दिमाग़ बादशाहत के बारे में साफ़ नहीं था, लेकिन लुई और मेरी एन्तोइनेत ने अपने कारनामों से और बेवक़ूफ़ियों से गणराज्य को लाज़िमी कर दिया। लेकिन इनसे ज्यादा बुद्धिमान लोग भी कुछ नहीं कर सकते थे। ठीक इसी तरह १९१७ ई० की रूसी राज्यक्रान्ति की शुरूआत के समय रूस के ज़ार और ज़ारीना ने अजीब बेवक़ूफ़ी का बर्ताव किया था। यह विचित्र बात है कि जैसे-जैसे संकट गहरा होता जाता है वैसे-ही-वैसे ये लोग और भी ज़्यादा बेवक़ूफ़ियां करते जाते हैं और इस तरह ख़ुद अपने ही विनाश का सामान तैयार करते हैं। एक प्रसिद्ध लातीनी कहावत इनपर ठीक तरह लागू होती है—"ईश्वर जिसका नाश करना चाहता है, उसको पहले दीवाना बना देता है" ठीक ऐसी ही कहावत संस्कृत में भी है—"विनाशकाले विपरीत बुद्धिः"।

लड़ाइयों की जीत बादशाहत और तानाशाही का अक्सर एक थूनी रही है। जब कभी देश में गड़बड़ पैदा होती है तो बादशाह या सरकारी गुट्ट, जनता का ध्यान उस तरफ़ से हटाने के लिए बाहर के देशों में फ़ौजी धावे मारने की ओर खिंचता है। लेकिन फ़्रान्स में इन फ़ौजी कारनामों का नतीजा बुरा हुआ था। सात साल के युद्ध में फ़्रान्स की हार हुई और इससे बादशाहत को धक्का पहुंचा। दिवालियापन की दिन-पर-दिन नौबत आ रही थी। अमेरिका के स्वाधीनता-युद्ध में फ़्रांस ने जो हिस्सा लिया, उसमें और रुपया ख़र्च हुआ। यह सब रुपया कहां से आता? अमीर-सरदारों व पादरियों को ख़ास रियायतें मिली हुई थीं। वे बहुत-से टैक्सों से बरी थे और अपनी रियायतों को ज़रा भी नहीं छोड़ना चाहते थे। लेकिन न सिर्फ़ कर्ज़े चुकाने के लिए, बल्कि दरबार की फ़िज़ूलख़र्ची के लिए भी, रुपया तो वसूल होना ही चाहिए था। जनता की या आम लोगों की कौन परवाह करता था? फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति पर लिखनेवाले थामस कार्लाइल नामक एक अंग्रेज़ लेखक ने इनका जो बयान किया है, वह मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूं। तुम देखोगी कि उसकी एक निराली शैली है, लेकिन वह अपनी कलम से बड़े असर डालनेवाले ख़ाके खींचता है—

"श्रमजीवियों की हालत फिर ख़राब हो रही है। दुर्भाग्य की बात है! क्योंकि इनकी संख्या दो-ढाई करोड़ है। जिनको हम एक तरह की धुंधली घनी एकता के हैवानी, लेकिन धुंधले, बहुत दूर के, गंवारू भीड़ जैसे लोंदे में इकट्ठा करके कमीन, या ज़्यादा मनुष्यता से, 'जनता' कहते हैं। सचमुच जनता; लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि अगर अपनी कल्पना पर ज़ोर डालकर आप इनके साथ-साथ सारे फ़्रान्स में, इनकी मिट्टी की मड़ैयों में, इनकी कोठरियों और झोंपड़ियों में, चलें, तो मालूम होगा कि जनता सिर्फ़ इकाइयों की बनी हुई है। इसकी हरेक

इकाई का अपना अलग-अलग दिल है और रंज हैं; वह अपनी ही खाल में खड़ा है, और अगर तुम उसे नोचोगे तो खून बहने लगेगा।"

यह बयान १७८९ ई० के फ़ान्स पर ही नहीं बल्कि १९३२ ई० के भारत पर कितनी अच्छी तरह फबता है ! क्या हममें से बहुत-से लोग भारत की 'जनता' को, बीसियों करोड़ किसानों और मज़दूरों को, एक ढेर में इकट्ठा करके उन्हें एक दुखी और बेढंगा जानवर नहीं समझते ? वे लोग बड़े लम्बे समय से बोझा ढोनेवाले जानवर ही रहे हैं, और अब भी हैं। हम उनके साथ 'सहानुभूति' दिखलाते हैं और उनकी भलाई करने की इनायतभरी बातें बनाते हैं। और फिर भी हम उनको अपनी ही तरह के व्यक्ति और मानव खयाल नहीं करते। यह खूब याद रखना चाहिए कि अपनी कच्ची झोंपड़ियों में वे अलग-अलग ज़िंदगी बिताते हैं और तुम-सबकी ही तरह भूख और सर्दी और तक़लीफ़ महसूस करते हैं। हमारे बहुत-से राजनीतिज्ञ, जो क़ानून के पंडित हैं, संविधानों वग़ैरा की बातें करते हैं, लेकिन उन इन्सानों को भूल जाते हैं, जिनके लिए संविधान और क़ानून बनाये जाते हैं। हमारे देश की करोड़ों कच्ची झोंपड़ियों और शहरों के गन्दे मोहल्लों के निवासियों की राजनीति का अर्थ है भूखों को भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान।

सोलहवें लुई के राज में फ्रान्स की यही हालत थी। उसके शासन-काल के ठीक शुरू में ही भुक्खड़ों के दंगे हुए। ये कई साल तक जारी रहे और फिर कुछ दिन शान्ति रही और बाद में फिर किसानों के बलवे हुए। दिज़ों में भोजन के लिए इसी तरह के एक दंगे के दौरान में वहां के गवर्नर ने भुखमरों से कहा—"घास उग आई है; खेतों में जाकर उसे चरो !" हज़ारों आदमी भीख मांगने का पेशा करने लगे। सरकारी तौर पर यह बतलाया गया था कि १७७७ ई० में फ़ान्स में ग्यारह लाख भिखमंगे थे। जब हम इस ग़रीबी और कम्बख्ती पर विचार करते हैं तो भारत की तसवीर किस तरह बरबस हमारे सामने आ जाती है !

किसान लोग सिर्फ़ भोजन के ही भूखे न थे, ज़मीन के भी भूखे थे। सामन्त प्रथा में अमीर सरदार ज़मीन के मालिक थे और उसकी आदमनी का ज्यादातर हिस्सा उन्हींकी जेबों में जाता था। किसानों के कोई सुलझे हुए विचार न थे, न उनका कोई ठीक लक्ष्य था। लेकिन वे ज़मीन पर अपनी मिल्कियत चाहते थे और उन्हें कुचलनेवाली इस सामन्तप्रथा से नफ़रत करते थे। सामन्तों से, पादरियों से और (भारत का फिर खयाल करो !) नमक-कर से उन्हें सख्त नफ़रत थी, जो खास तौर पर ग़रीबों पर पड़ता था।

किसानवर्ग की यही हालत थी, लेकिन फिर भी बादशाह और बेगम रुपये के लिए हल्ला मचाते थे। सरकार के पास खर्च के लिए ही रुपया न था, इसलिए क़र्ज़े बढ़ते चले जा रहे थे। मेरी एन्तोइनेत का उपनाम 'मदाम दैफ़िसित' यानी

'घाटा देवी' रख दिया गया। ज्यादा रुपया वसूलने का कोई ढंग नज़र न आता था। आख़िरकार लाचार होकर सोलहवें लुई ने मई, १७८९ ई० में, 'स्टेट्स जनरल' की बैठक बुलाई। इस सभा में अमीर-सरदार पादरी व साधारण लोग, इन तीन वर्गों के, जो राज्य की जागीरें कही जाती थीं, प्रतिनिधि होते थे। उसकी रचना ब्रिटिश पार्लमेण्ट से मिलती-जुलती थी, जिसमें अमीर-सरदारों व पादरियों का 'हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स' होता है और दूसरा 'हाउस ऑफ़ कामन्स' होता है। लेकिन इन दोनों में फ़र्क़ भी बहुत थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठकें कई सौ वर्षों से क़रीब-क़रीब कायदे से होती चली आई थीं, और अपनी परम्पराओं, नियमों व काम करने के तरीक़ों के साथ वह अच्छी तरह जम चुकी थी। 'स्टेट्स जनरल' की बैठकें बहुत ही कम होती थीं और उसकी कोई परम्पराएं नहीं थीं। दोनों संस्थाओं में ऊंचे वर्गों के ही प्रतिनिधि होते थे; ब्रिटिश 'हाउस ऑफ कामन्स' में तो 'स्टेट्स जनरल' से भी ज्यादा प्रतिनिधि थे। किसान वर्ग का प्रतिनिधि किसीमें भी नहीं होता था।

४ मई, १७८९ ई० को वर्साई में बादशाह ने 'स्टेट्स जनरल' का उद्घाटन किया। लेकिन जल्दी ही बादशाह को पछतावा होने लगा कि उसने इन तीनों जागीरों के प्रतिनिधियों को इकट्ठा क्यों बुलाया। तीसरी जागीर यानी 'कामन्स' या मध्यमवर्ग खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगे और इस बात पर ज़ोर देने लगे कि उनकी मरज़ी के बिना कोई टैक्स नहीं लगाया जा सकता। उनके सामने इंग्लैण्ड की मिसाल थी, जहां कामन्स सभा ने अपना यह हक़ कायम कर लिया था। अमेरिका की ताज़ी मिसाल भी उनके सामने थी। वे इस ग़लत-फ़हमी में थे कि इंग्लैण्ड आजाद मुल्क था। असल में यह एक धोखा था, क्योंकि इंग्लैण्ड पर अमीर-वर्ग और ज़मींदार-वर्गों का क़ब्ज़ा व शासन था। ख़ुद पार्लमेन्ट पर भी इनका इजारा था, क्योंकि वोट देने का अधिकार बहुत ही कम लोगों को था।

बहरहाल, तीसरी जागीर या 'कामन्स' ने जो कुछ भी ज़रा-सी हिम्मत दिखाई वही बादशाह लुई की बर्दाश्त से बाहर हो गई। उसने उनको सभा-भवन से बाहर निकलवा दिया। डिप्टी लोगों का वहां से चले जाने का कोई इरादा नहीं था। वे फ़ौरन ही नज़दीक़ के एक टैनिस कोर्ट पर इकट्ठे हुए और उन्होंने यह क़सम ली कि जबतक एक संविधान कायम न कर लेंगे तबतक न टलेंगे। यही 'टैनिस कोर्ट की शपथ' कहलाती है। इसके बाद वह ख़तरनाक घड़ी आई जब बादशाह ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी चाही और ख़ुद उसीके सिपाहियों ने उसका हुक्म मानने से इन्कार कर दिया। क्रान्ति में हमेशा नाज़ुक घड़ी तभी आती है जब फ़ौज, जो सरकार का ख़ास पाया होती है, भीड़ में अपने भाइयों पर गोलियां चलाने से इन्कार कर देती है। लुई ने घबराकर हार मान ली और इसके बाद उसने अपनी आदत की बेवक़ूफ़ी से, विदेशी सेनाओं को बुलाने की साज़िश की कि वे उसकी प्रजा पर गोलियां चलावें।

देने की कोई चर्चा न थी। क़रीब दो साल तक लोगों ने उसको और उसकी साज़िशों को बर्दाश्त किया और फ़ान्स ने बिना बादशाह के काम चलाने का फैसला तभी किया जब वह भागने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया।

लेकिन यह बाद की बात है। इस अर्से में 'स्टेट्स जनरल', राष्ट्रीय सभा बन गई और यह मान लिया गया कि बादशाह संविधान के मातहत चलनेवाला राजा है और उसके अधिकार सीमित हैं, यानी ऐसा राज जो सभा के कहने के मुताबिक़ चले। । लेकिन वह इस बात से नफ़रत करता था और मेरी एन्तोइनेत तो और भी ज्यादा नफ़रत करती थी। पैरिस के लोग भी उनसे कोई ज्यादा मोहब्बत नहीं करते थे और उनपर तरह-तरह की साज़िशें करने का शक भी करते थे। वर्साई, जहां बादशाह और रानी दरबार करते थे, पैरिस से इतनी दूर था कि राजधानी के लोग उनपर निगाह नहीं रख सकते थे। वर्साई की दावतों और विलास के क़िस्सों और अफ़वाहों ने भी पैरिस के भूखे लोगों को भड़का दिया। बस, बादशाह और रानी पैरिस की त्विल्री[1] में एक बहुत-ही अजीब जुलूस में ले जाये गए।

क्रान्ति की यह कहानी मैं अपने अगले पत्र में भी जारी रक्खूंगा।

## : १०१ :

## फ्रान्स की राज्यक्रान्ति

१० अक्तूबर, १९३२

फ़ान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में लिखने में मुझे ज़रा दिक्क़त मालूम होती है। इस सबब से नहीं कि उसके लिए मसाला कम है, बल्कि इसलिए कि मसाला बहुत ज्यादा है। यह क्रान्ति हैरत में डालनेवाले और सदा बदलते रहनेवाले एक नाटक की तरह थी, और ऐसी असाधारण घटनाओं से भरी हुई थी जो आज भी हमको मोह लेती हैं, सहमा देती हैं और थर्रा देती हैं। राजाओं और राजनीतिज्ञों की राजनीति कोठरियों और ख़ानगी कमरों में रहती हैं और उसपर रहस्य की चादर ढकी रहती है। बहुत-से पाप चुतराई के पर्दे में ढंक जाते हैं, और ऊंचे हौसलों व हविसों का आपसी रगड़ा-झगड़ा शिष्टाचार की भाषा में छिप जाता है। यहांतक कि जब इस रगड़े-झगड़े की वजह से युद्ध छिड़ जाता है, और इन लोगों की हविस व हौसले की ख़ातिर हज़ारों नौजवान मौत के मुंह में भेज दिये जाते हैं, तब भी ऐसी किन्हीं कमीनी नीयतों की चर्चा हमारे कानों को बुरी नहीं लगती। इसके बजाय हमसे तो ऐसे ऊंचे आदर्शों और महान हितों की बातें की जाती हैं, जो भारी-से-भारी क़ुर्बानी चाहते हैं।

---

[1] त्विलरी (Tuilleries)—पैरिस का राजमहल, जिसमें सोलहवें लुई को क़ैद किया गया था।

लेकिन क्रान्ति इससे बिलकुल अलग तरह की चीज़ है। उसका घर तो खेत, गली और बाज़ार में है और उसके तरीक़े भोंडे और गंवारू होते हैं। क्रान्ति करनेवालों को राजाओं और राजनीतिज्ञों जैसी शिक्षा नहीं मिली हुई होती। उनकी भाषा दरबारी और शिष्ट नहीं हुआ करती, जिसमें ढेरों साज़िशें और चालबाजियां छिपी रहती हों। उनमें कोई रहस्य की बात नहीं होती, न उनके दिमागों की दौड़ किसी परदे में ढकी रहती है; यहांतक कि उनके शरीरों पर भी ढकने को काफी कपड़ा नहीं होता। राज्यक्रान्ति में राजनीति ख़ाली राजाओं और पेशेवर राजनीतिज्ञों का खेल नहीं रह जाती। उसका ताल्लुक़ तो असलियतों से होता है और उनके पीछे होता है मनुष्य-स्वभाव और भूखे लोगों का ख़ाली पेट।

इसलिए १७८९ से १७९४ ई० तक के इन बदशगुन पांच वर्षों में हम फ़्रान्स में भूखी जनता के कारनामे देखते हैं। यही लोग डरपोक राजनीतिज्ञों को मजबूर करते हैं और उन्हींके हाथों से बादशाहत, सामन्तशाही और ईसाई-संघ की रियायतों का अन्त करवाते हैं। यही लोग खूंख़ार 'मदाम गिलोतीन'[1] को भेंट चढ़ाते हैं, और जिन लोगों ने इनको पहले कुचला है और जिन लोगों पर ये अपनी नई मिली हुई आज़ादी के ख़िलाफ़ साज़िशें करने का सन्देह करते हैं, उनसे बड़ी बेरहमी के साथ बदला लेते हैं। यही फटे-हाल और नंगे पैरोंवाले लोग, कामचलाऊ हथियार लेकर अपनी राज्यक्रान्ति की ख़ातिर लड़ने के लिए जंगी-मैदान की ओर दौड़ते हैं और अपने ख़िलाफ़ एक होकर आनेवाली यूरोप की सिखाई हुई फ़ौजों को पीछे खदेड़ देते हैं। फ़्रान्स के ये लोग अद्भुत काम कर दिखाते हैं। लेकिन जबर्दस्त तनाव और लड़ाई-झगड़े के कुछ ही साल बाद क्रान्ति की शक्ति बीत जाती है और वह अपने ही ख़िलाफ़ उलटकर ख़ुद अपनी ही सन्तान को खाने लगती है। और इसके बाद उलट-क्रान्ति होती है, जो क्रान्ति को हड़प कर जाती है और जिस आम जनता ने इतनी हिम्मत की थी और इतनी मुसीबतें झेलीं थीं, उसको दुबारा फिर 'ऊंचे' वर्गों के अधीन कर देती है। इस उलट-क्रान्ति में से तानाशाह और सम्राट् नेपोलियन का उदय होता है। लेकिन न तो यह उलट-क्रान्ति और न नेपोलियन, जनता को उसकी पुरानी जगह पर लौटा सके। क्रान्ति की बड़ी-बड़ी सफलताओं को कोई न मिटा सका; और उस दिन की प्यारी यादगार को, जब थोड़ी ही देर के लिए सही, सताये हुओं ने अपने जुये को उतार फेंका था, फ़्रान्सीसियों से, और वास्तव में यूरोप की दूसरी क़ौमों से, कोई न छीन सका।

क्रान्ति के शुरू के दिनों में बहुत-से दल और गिरोह प्रभुत्व के लिए लड़ रहे थे। एक तो बादशाह के हिमायती थे, जो सोलहवें लुई को पूरा स्वेच्छाचारी बादशाह बनाये

---

[1] Guillotine—मध्यकालीन यूरोप में अपराधियों के सिर उड़ाने के काम में आनेवाली एक मशीन।

रखने की थोथी आशा लगा रहे थे; दूसरे मद्धिम विचारोंवाले उदार लोग थे, जो संविधान चाहते थे और बादशाह को एक सीमित अधिकारोंवाला शासक बनाकर रखने को तैयार थे; तीसरे मद्धिम विचारोंवाले गणराज्यवादी थे, जो 'जिरोंद'[1] का दल कहलाते थे; चौथे गरम गणराज्यवादी थे, जो जैकोबिन[2] कहलाते थे, क्योंकि वे जैकोबिन कॉन्वेन्ट के भवन में अपनी सभाएं किया करते थे। मुख्य दल यही थे और इन सबमें और इनके अलावा भी, बहुत-से हौसलेबाज़ थे। इन सब दलों और व्यक्तियों के पीछे थी फ़ान्स की, और ख़ासकर पैरिस की जनता, जो अपनी ही जमात के कितने ही गुमनाम नेताओं के इशारों पर चलती थी। विदेशों में, और ख़ासकर इंग्लैण्ड में, वे प्रवासी फ़्रेंच अमीर-सरदार थे, जो क्रान्ति से मुंह छिपाकर भाग गये थे और लगातार उसके ख़िलाफ़ साज़िशें कर रहे थे। यूरोप के सारे शक्तिशाली राज्य क्रान्तिकारी फ्रान्स के ख़िलाफ़ एक जूट हो रहे थे। पार्लमेण्ट वाला लेकिन उच्चवर्ग की सत्तावाला इंग्लैण्ड, और यूरोप के बादशाह व सम्राट भी आम जनता के इस अद्भुत धड़ाके से बहुत डर गये थे और इसे कुचल डालने की कोशिश में थे।

बादशाहवादियों और बादशाह ने मिलकर साज़िश की, लेकिन इससे उन्होंने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारी। नैशनल असेम्बली में शुरू-शुरू में जिस दल का ज़ोर था वह मद्धिम उदार लोगों का था, जो कुछ-कुछ इंग्लैण्ड या अमेरिका की तरह का कोई संविधान चाहता था। उनका नेता था मिराबो।[3] लगभग दो वर्ष तक असेम्बली में इन्हींका ज़ोर रहा और क्रान्ति के शुरू के दिनों की सफलताओं के जोश में इन्होंने कितनी ही बहादुराना घोषणाएं कीं और कुछ महत्व के परिवर्तन भी किये। बास्तील के पतन के बीस दिन बाद, ४ अगस्त, १७८९ ई० को, असेम्बली में एक ऐसी घटना हुई, जिसका किसीको गुमान भी न था। असेम्बली में सामन्ती अधिकारों और ख़ास रियायतों के तोड़ दिये जाने के सवाल पर विचार हो रहा था। उस समय फ़ान्स की हवा में कुछ ऐसी तासीर थी, जो लोगों के दिमाग़ में चढ़ गई थी,

---

[1] Girondei—यह फ्रांस के एक प्रान्त का नाम है। जिरोंदे दल के नेता ज्यादातर इसी प्रान्त के निवासी थे।

[2] फ्रांस की राज्यक्रांति में भाग लेनेवाला एक शक्तिशाली राजनैतिक दल। ये लोग जेलियों की-सी टोपी पहनते थे, जो 'जैकोबिन कैप' के नाम से मशहूर हो गई और क्रान्ति का चिन्ह मानी जाने लगी। इस दल की स्थापना १७८९ ई० में वर्साई में हुई और रोब्सपीयरी की हार के बाद इसका अन्त हो गया।

[3] १७४९-१७९१ के बीच का एक फ्रेंच राजनीतिज्ञ (बादशाह का विरोधी); नैशनल असेम्बली का प्रधान (१७९१)।

यहांतक कि सामन्ती सरदार भी कुछ देर के लिए आज़ादी की नई शराब के नशे में मतवाले हो गये थे। बड़े-बड़े अमीर-सरदार और ईसाई-संघ के नेता असेम्बली के भवन में उठ खड़े हुए और अपने सामन्ती अधिकारों और ख़ास-रियायतों को छोड़ने में एक दूसरे से होड़ करने लगे। यह एक सच्चा और उदार संकेत था, हालांकि कुछ साल तक इसका ज्यादा असर न हुआ। रियायती वर्ग के दिल में ऐसी उदार भावनाएं कभी-कभी, लेकिन बहुत ही कम, उठती हैं; या शायद यह बात हो कि उसे यह महसूस होने लगता है कि ख़ास रियायतों का अन्त तो होनेवाला है ही, इसलिए बहती गंगा में हाथ धोने में ही भलाई है। थोड़े ही दिन हुए जबकि बापू ने छुआछूत को मिटाने के लिए अनशन किया था, तब भारत के सवर्ण हिन्दुओं ने इसी तरह का एक लासानी क़दम उठाया था और जादू की तरह सारे देश में सहानुभूति की लहर फैल गई थी। हिन्दुओं ने जिन ज़ंजीरों में अपने बहुत-से भाइयों को जकड़ रक्खा था वे कुछ हद तक टूट गईं और हज़ारों मंदिरों के दरवाज़े, जो युगों से अछूतों के लिए बन्द थे, उनके लिए खुल गये।

बस, क्रान्तिकारी फ़्रान्स की नैशनल असेम्बली ने जोश में आकर कम-से-कम प्रस्ताव तो पास कर ही दिया कि किसानों की ग़ुलामी और रियायतें और सामन्ती अदालतें और अमीर-सरदारों व पादरियों को टैक्स की छूट और उपाधियां भी, ये सब मिटा दी जायं। यह अजीब बात है कि बादशाह तो बना रहा, लेकिन अमीर-वर्ग की उपाधियां छिन गईं।

तब असेम्बली ने आगे चलकर मानव-अधिकारों की एक घोषणा मंजूर की। इस मशहूर घोषणा का विचार शायद अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा से लिया गया था। लेकिन अमेरिका की घोषणा छोटी-सी व सीधी-सादी है; फ़्रान्स की लम्बी और ज़रा पेचीदा है। मानव-अधिकार वे अधिकार थे जो मनुष्य को समानता, स्वतन्त्रता और सुख दिलानेवाले माने गये थे। उस समय मानव-अधिकारों की यह घोषणा बड़ी ही दिलेर और हिम्मतभरी मालूम होती थी, और बाद के लगभग सौ वर्षों तक यह यूरोप के उदारों और लोकतन्त्रियों का परवाना बनी रही। लेकिन फिर भी आज यह ज़माने के माफ़िक़ नहीं है, और हमारे समय की किसी भी समस्या को हल नहीं करती। लोगों को यह पता लगाने में बहुत दिन लगे कि सिर्फ़ क़ानून की रू से समानता और वोट देने का हक सच्ची समानता, या स्वतन्त्रता या सुख नहीं दिला सकते, और यह कि जिनके हाथ में सत्ता है, उनके पास उनका शोषण करने के और भी तरीक़े हैं। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति से अबतक राजनैतिक विचार बहुत आगे बढ़ गये हैं या बदल गये हैं; और शायद मानव-अधिकारों की घोषणा के उन लम्बे-चौड़े सिद्धान्तों को बहुत-से रूढ़िवादी भी आज मंजूर कर लेंगे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है, जैसा कि हम आसानी से देख सकते हैं, कि ये लोग सच्ची

समानता और स्वतन्त्रता देने को तैयार हैं। वास्तव में यह घोषणा निजी मिल्कियत को बचाती थी। बड़े-बड़े अमीर-सरदारों की और ईसाई-संघ की जागीरें सामन्ती हक़ों और रियायतों से ताल्लुक रखनेवाले दूसरे सबबों से ज़ब्त की गई थीं। लेकिन सम्पत्ति रखने का हक़ पवित्र और अटल माना गया था। तुम शायद जानती हो कि आजकल के प्रगतिशील राजनैतिक विचारों के मुताबिक़ निजी सम्पत्ति एक बुराई है जो, जहांतक हो सके, मिटा दी जानी चाहिए।

मानव-अधिकारों की घोषणा आज हमको शायद एक मामूली दस्तावेज़ मालूम पड़े। कल के दिलेर आदर्श अक्सर आज की एक मामूली-सी बात बन जाते हैं। लेकिन जिस समय इसका ऐलान किया गया था, उस समय इससे सारे यूरोप में खुशी की लहर दौड़ गई थी और तमाम पीड़ितों व रौंदे हुओं को इसमें बेहतर दिनों की काफ़ी आशा नज़र आने लगी थी। लेकिन बादशाह ने इसे पसंद नहीं किया; वह बदतमीज़ी से हैरत में आ गया और उसने इसपर मंजूरी देने से इन्कार कर दिया। वह अभी वर्साई में ही था। इसी समय हुआ यह कि पैरिस के लोगों की उपद्रवी भीड़, जिसके आगे स्त्रियां थीं, वर्साई के महलों पर चढ़ आईं और उसने बादशाह से न सिर्फ़ यह घोषणा ही मंजूर कराली, बल्कि उसे पैरिस चले जाने के लिए भी मजबूर कर दिया। जिस अजीब जुलूस का जिक्र मैंने पिछले पत्र के अन्त में किया है, वह यही था।

असेम्बली ने और भी बहुत-से उपयोगी सुधार किये। ईसाई-संघ की बड़ी लम्बी-चौड़ी मिल्कियत राज्य ने जब्त कर ली। फ़्रान्स का अस्सी इलाकों में नया बंटवारा किया गया और मेरा ख़याल है कि यह बंटवारा आज तक चालू है। पुरानी सामन्ती अदालतों की जगह अच्छी क़ानूनी अदालतें क़ायम की गईं। यह सब अच्छे के लिए था, लेकिन इससे कुछ ज़्यादा मतलब हल नहीं हुआ। इससे न तो ज़मीन के भूखे किसान-वर्ग का ज़्यादा फ़ायदा हुआ और न शहरों के मामूली लोगों का, जो रोटी के भूखे थे। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति की चाल रोक दी गई। जैसा मैं तुम्हें बतला चुका हूं, जनता किसान-वर्ग और शहरों के आम लोगों का असेम्बली में कोई प्रतिनिधि नहीं था। असेम्बली पर मध्यमवर्ग का क़ब्ज़ा था, जिसका नेता मिराबो था, और ज्योंही उन्हें महसूस हुआ कि उनका मतलब पूरा हो गया, त्योंही उन्होंने क्रान्ति को रोकने की भरसक कोशिश की। वे तो बादशाह लुई तक से सांठ-गांठ करने लगे और सूबों के किसानों को गोलियों से भूनने लगे। उनका नेता मिराबो तो वास्तव में बादशाह का गुप्त सलाहकार बन गया। जिस जनता ने बास्तील पर हमला करके उसपर क़ब्ज़ा कर लिया था और जो यह सोचने लगी थी कि इस तरह उसने अपनी ज़ंजीरें तोड़ डाली हैं, वही अब ताज्जुब के साथ देखने लगी कि क्या हो रहा है। उनकी आज़ादी अब भी उतनी

ही दूर मालूम होती थी जितनी पहले थी, और नई असेम्बली उनकी गर्दन पर इसी तरह सवार थी जिस तरह पुराने सरदार लोग।

असेम्बली में मात खाकर, क्रान्ति के केन्द्र पैरिस की जनता ने अपनी क्रान्तिकारी शक्ति के निकास का दूसरा रास्ता तलाश कर लिया। यह थी पैरिस की 'कम्यून' या म्यूनिसिपैलिटी। कम्यून ही नहीं बल्कि कम्यून को कई प्रतिनिधि भेजनेवाले शहर के हरेक हलके में एक जिंदा संस्था थी, जो जनता से सीधा सम्पर्क रखती थी। कम्यून, और खासकर हलके, क्रान्ति के झंडा-बरदार और उदार व मध्यमवर्गी असेम्बली के मुक़ाबलेदार बन गये।

इसी बीच बास्तील के पतन की साल-गिरह आ गई और १४ जुलाई को पैरिस के निवासियों ने बड़ा भारी जलसा मनाया। इसे 'फेडरेशन का जल्सा' कहा गया; और पैरिसवालों ने शहर को सजाने में दिल खोलकर मेहनत की, क्योंकि वे इस जलसे को अपना ही समझते थे।

१७९० और १७९१ ई० में क्रान्ति की ऐसी हालत थी। असेम्बली का सारा क्रान्तिकारी जोश ठंडा पड़ चुका था और वह सुधार करते-करते उकता गई थी; लेकिन पैरिस के लोग अभी तक क्रान्तिकारी जोश से खौल रहे थे, किसान-वर्ग अभी तक भूखों की तरह ज़मीन की तरफ़ ताक रहा था। यह हालत बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी; या तो क्रान्ति आगे बढ़ती या खतम हो जाती। उदारदली नेता मिराबो १७९१ ई० में मर गया। बादशाह से गुपचुप साज़िशें करते रहने पर भी वह लोकप्रिय था और उसने लोगों को रोक रक्खा था। २१ जून, १७९१ ई० को ऐसी घटना हुई, जिसने क्रान्ति की किस्मत का फैसला कर दिया। यह था बादशाह लुई और रानी मेरी एन्तोइनेत का भेष बदलकर भाग जाना। वे किसी तरह सरहद तक पहुंच भी गये। लेकिन वेर्दून के पास वेरनीस के कुछ किसानों ने उन्हें पहचान लिया और उन्हें रोककर फिर पेरिस भेज दिया।

जहांतक पैरिस के निवासियों का ताल्लुक़ था वहांतक बादशाह और रानी की इस हरकत ने उनकी क़िस्मत का फ़ैसला कर दिया। अब गणराज्य का विचार खूब ज़ोर पकड़ने लगा। लेकिन फिर भी असेम्बली और उस समय की सरकार इतनी उदार थी और जनता की भावनाओं से इतनी दूर थी कि जो लोग लुई को राजगद्दी से उतार देने की मांग करते थे उनको वे गोलियों से भूनती रही। क्रान्ति के महान नेता मारत के पीछे सत्ताधारी लोग बुरी तरह पड़ गये, क्योंकि उसने बादशाह की, भाग जाने के कारण, देशद्रोही कहकर उसकी निन्दा की थी। उसे पैरिस की जमींदोज नालियों में छिपना पड़ा, जिसकी वजह से उसे भयंकर चर्म-रोग हो गया।

ताज्जुब है कि फिर भी एक साल से ज़्यादा तक नाम के लिए लुई बादशाह

माना जाता रहा। सितम्बर, १७९१ ई० में नेशनल असेम्बली का काल पूरा हो गया और उसकी जगह लेजिस्लेटिव असेम्बली ने ले ली। यह भी उसीकी तरह मद्धिम विचारोंवाली थी और सिर्फ़ ऊंचे वर्गों की ही प्रतिनिधि थी। वह फ़ान्स के बढ़ते हुए जोश की प्रतिनिधि न थी। क्रान्ति का यह बुखार जनता में फैल गया और गरम प्रजातन्त्रवादी जैकोबिन लोगों की, जो जनता के ही लोग थे, ताक़त बढ़ने लगी।

उधर यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्र इन अजीब घटनाओं को चौकन्ने होकर देख रहे थे। थोड़े दिनों तक तो प्रशिया और आस्ट्रिया और रूस दूसरी जगह लूटमार में लगे रहे। वे पोलैण्ड के पुराने राज्य को ख़तम करने में लगे हुए थे; लेकिन फ़ान्स में घटनाएं बड़े जोरों से आगे बढ़ रही थीं और उनका ध्यान खींच रही थीं। १७९२ ई० में फ़ान्स का आस्ट्रिया और प्रशिया से युद्ध छिड़ गया। मैं तुम्हें यह बतला दूं कि आस्ट्रिया इन दिनों निदरलैण्ड्स के बेलजियमवाले हिस्से पर क़ब्ज़ा किये हुए था और उसकी सरहद फ़ान्स से लगी हुई थी। विदेशी फ़ौजें फ़ान्स के इलाके में घुस आई और उन्होंने फ्रान्स की फ़ौजों को हरा दिया। लोगों का यह ख़याल था, और जिसके लिए सबब भी था, कि बादशाह उनसे मिला हुआ है, और सारे बादशाहवादियों पर दगाबाज़ी का संदेह किया जाने लगा। जैसे-जैसे उनके चारों तरफ़ ख़तरे बढ़ने लगे वैसे-ही-वैसे पेरिस के लोग ज़्यादा-ज़्यादा भड़कने और घबराने लगे। उन्हें चारों तरफ़ भेदिये और देशद्रोही नज़र आने लगे। पैरिस की क्रान्तिकारी कम्यून ने इस संकट की घड़ी में आगे बढ़कर लाल झंडा फहरा दिया, और यह ज़ाहिर कर दिया कि राज-दरबार की गद्दारी के ख़िलाफ़ जनता ने फ़ौजी क़ानून यानी मार्शल-ला जारी कर दिया है। उसने १० अगस्त, १७९२ ई० को बादशाह के महल पर भी धावा बोल दिया। बादशाह ने अपने स्विस[1] अंग-रक्षकों के हाथों जनता पर गोलियां चलवा दीं। लेकिन जीत आखिर जनता की ही हुई और कम्यून ने असेम्बली को मजबूर किया कि बादशाह को गद्दी से उतारकर क़ैद करे।

सब लोग जानते हैं कि आज यह लाल झंडा सब जगह मजदूरों का, समाजवाद और साम्यवाद का, झंडा है। लेकिन पहले यह जनता के खिलाफ़ फ़ौजी क़ानून की घोषणा का सरकारी झंडा हुआ करता था। मेरा ख़याल है, लेकिन मैं यक़ीन के साथ नहीं कह सकता, कि पैरिस कम्यून ने जब इस झंडे का इस्तेमाल किया, तो जनता की ओर से उसका यही सबसे पहला इस्तेमाल था। और तभी से यह धीरे-धीरे मज़दूरों का झंडा बनता गया।

बादशाह को गद्दी से उतारना और क़ैद करना काफ़ी न था। स्विस अंग-

[1]स्विट्जरलैण्ड के निवासी स्विस कहलाते हैं।

रक्षकों की गोलियां चलाने व बहुतों को मार डालने की कार्रवाई से भड़के हुए और देश के दुश्मनों व भेदियों के ख़िलाफ़ डर व गुस्से से भरे हुए पैरिस के लोग, जिनपर सन्देह करते उनको पकड़-पकड़कर जेलों में ठूंसने लगे। गिरफ्तार लोगों में बहुत-से ज़रूर कसूरवार थे, लेकिन बहुत-से बेकसूर आदमियों को भी गिरफ़्तार करके जेलों में डाल दिया गया। कुछ दिन बाद लोगों पर एक भयंकर जुनून सवार हुआ। उन्होंने क़ैदियों को जेल से निकालकर उनपर झूठ-मूठ का मुक़दमा चलाया और उनमें से बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। ये 'सितम्बर की हत्याएं' कहलाती हैं और इनमें एक हज़ार से ज़्यादा आदमी मार डाले गये। पैरिस की उपद्रवी भीड़ को बड़े पैमाने पर ख़ून बहाने का यह पहला ही तजुर्बा था। ख़ून की प्यास बुझाने के लिए अभी तो और बहुत ख़ून बहना बाक़ी था!

सितम्बर में ही फ़्रांन्स की फ़ौजों को आस्ट्रिया और प्रशिया की हमलावर फ़ौजों पर पहली बार जीत मिली। यह जीत वाल्मी की छोटी-सी लड़ाई में मिली, जो छोटी तो थी लेकिन उसका नतीजा बहुत बड़ा निकला, क्योंकि उसने क्रांति को बचा लिया।

२१ सितम्बर, १७९२ ई० को नैशनल कन्वेन्शन बुलाया गया। यह असेम्बली की जगह लेनेवाली नई सभा थी। यह अपने पहले की दोनों असेम्बलियों से ज़्यादा आगे बढ़ी हुई थी। लेकिन कम्यून से फिर भी पिछड़ी हुई थी। कन्वेन्शन ने पहला काम यह किया कि गणराज्य की घोषणा कर दी। इसके बाद ही सोलहवें लुई का मुक़दमा हुआ; उसे मौत की सजा दी गई और २१ जनवरी, १७९३ ई० को उसे बादशाहत के पापों का बदला अपना सिर देकर चुकाना पड़ा। उसे गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया, यानी गिलोतीन से उसका सिर उड़ा दिया गया। फ़्रान्स की जनता अब अपना पीछे लौटने का रास्ता बन्द कर चुकी थी। उसने आख़िरी क़दम बढ़ा दिया था और यूरोप के बादशाहों और सम्राटों को चुनौती दे दी थी। वे लोग अब पीछे नहीं लौट सकते थे। बादशाह के ख़ून से सनी हुई गिलोतीन की सीढ़ियों पर से ही क्रान्ति के महान नेता दान्तों[1] ने जमा हुई भीड़ के सामने बोलते हुए इन दूसरे बादशाहों को अपनी ललकार सुनाई। उसने पुकारकर कहा—"यूरोप के बादशाह हमको चुनौती देना चाहेंगे; हम एक बादशाह का सिर उनके आगे फेंकते हैं!"

---

[1] **दान्तों—(१७५९–१७९४); फ़्रान्स का एक वकील और क्रान्तिकारी नेता। 'सितम्बर की हत्याओं' का हुक्म इसीने दिया था। रोबेसमीर ने इसे हटा दिया और इसको गिलोतीन पर चढ़ाकर मार डाला गया।**

: १०२ :

# क्रान्ति और उलट-क्रान्ति

१३ अक्तूबर, १९३२

बादशाह लुई मर चुका था, लेकिन उसकी मौत से पहले ही फ़्रान्स में अद्‌भुत परिवर्तन हो चुका था। उसके निवासियों का खून क्रान्ति की गर्मी से भभक रहा था; उनकी नसों मे सनसनी दौड़ रही थी और उनपर धधकते हुए जोश का भूत सवार था। गणराज्यवादी फ़्रान्स तलवार खींचे खड़ा था; बाक़ी का यूरोप—'बादशाही यूरोप'—उसके खिलाफ़ था। गणराज्यवादी फ़्रान्स इन बोदे बादशाहों और राजाओं को बतला देना चाहता था कि स्वतन्त्रता के सूरज की गर्मी पाकर देशभक्त लोग किस तरह लड़ सकते हैं। वे लोग केवल अपनी नई मिली हुई स्वतन्त्रता के लिए ही नहीं, बल्कि बादशाहों और अमीर-सरदारों के सताये हुए दूसरे सब लोगों की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने को तैयार थे। फ़्रान्स के लोगों ने यूरोप के राष्ट्रों को अपना संदेश भेजकर उनसे अनुरोध किया कि वे अपने शासकों के खिलाफ़ उठ खड़े हों, और यह घोषणा की कि वे लोग सब देशों की जनता के दोस्त और सब बादशाही सरकारों के दुश्मन हैं। उनकी पितृभूमि[1] फ़्रान्स स्वतन्त्रता की जननी बन गई, जिसकी वेदी पर बलिदान हो जाना आनन्द की बात थी और इस खूंखार जोश की घड़ी में उन्हें एक अद्‌भुत गीत मिल गया, जिसका स्वर उनके धधकते हुए भावों से मिला हुआ था और जिसने उन्हें खतरों की ज़रा भी परवाह न करते हुए और गीत गाते-गाते लड़ाई के मोर्चे की ओर दौड़ने के लिए और सब अड़चनों को लांघने के लिए उकसाया। यह रूज़े द लिल का राइन की फ़ौजों के लिए रचा हुआ युद्ध-गीत था, जो तबसे 'मार्सेलास'[2] कहलाता है, और आज भी फ़्रान्स का राष्ट्रीय गीत है। फ़्रान्सीसी भाषा के इस गीत का भावार्थ यह है :

**पितृभूमि के बच्चो, आओ !**
**गौरव का दिन आया है !**
**निष्ठुरता का खूनी झंडा,**
**अपने सिर पर छाया है !**
**सुनो खून के प्यासे सैनिक,**
**चारों ओर दहाड़ रहे।**
**गोदी के लालों, ललनाओं,**
**की हत्या को उमड़ रहे।**

---

[1] यूरोप के लोग देश को मातृभूमि के बजाय पितृभूमि कहते हैं।
[2] Marseillaise.

**सैन्य सजाओ ! ओ नागरिको !**
**कर में तलवारें खींचो !**
**इन सबके अपवित्र ख़ून से,**
**अपने खेतों को सींचो !**

वे लोग बादशाहों की बड़ी उम्र मनाने के निरर्थक गीत नहीं गाते थे। इसके बजाय वे मातृभूमि के पुनीत प्रेम और प्यारी स्वतन्त्रता के गाने गाते थे।

**ओ पितृभूमि के पुण्य प्रेम !**
**आगे बढ़ने की राह दिखा !**
**प्रतिहिंसा के प्यासे शस्त्रों**
**को तू रण में कर बल प्रदान !**
**प्रिय स्वतंत्रते ! तू समर बीच**
**निज रक्षक-जन के प्राण बचा।**

चीज़ों की ज़बर्दस्त तंगी थी। न तो काफी खाना था, न कपड़े, न जूते। यहां-तक कि हथियार भी न थे। कितनी ही जगहों के नागरिकों से फ़ौज के लिए बूट और जूते दे देने को कहा गया। देशभक्तों ने बहुत तरह की ऐसी चीज़ें खाना छोड़ दिया, जिनकी फौज के लिए ज़रूरत थी, और जिनकी कमी पड़ गई थी। कुछ लोग तो अक्सर उपवास भी करने लगे। चमड़ा, रसोई के बरतन, कढ़ाइयां, बाल्टियां, वगैरा, तरह-तरह की घरू काम की चीज़ें मांग ली गईं। पैरिस की गलियों में हज़ारों लुहारों के यहां हथौड़े चल रहे थे, क्योंकि सारी जनता, सारे नागरिक, नर-नारी, हथियार भी बनाने में मदद दे रहे थे। लोग बड़ी भारी तंगी उठा रहे थे; लेकिन इसकी क्या परवाह थी जब उनकी पितृभूमि फ़ान्स, सुन्दर फ़ान्स, फटे-हाल मगर आज़ादी का मुकुट पहने, ख़तरे में थी और दुश्मन उसके दरवाज़े पर खड़ा था ? बस, फ़ान्स के नौजवान उसे बचाने को दौड़े और भूख-प्यास की परवाह न करते हुए, विजय के लिए कूच करने लगे। कार्लाइल लिखता है, "ऐसा बहुत कम देखा जाता है कि राष्ट्र की सारी-की-सारी जनता में ज़रा-सा भी भरोसे का होना माना जा सके; सिवाय उन चीज़ों में जिन्हें वह खा सके या धर-उठा सके। जब कभी कोई भरोसा मिल जाता है तो उसका इतिहास जोश भरनेवाला और ध्यान देने के क़ाबिल बन जाता है।" एक महान उद्देश्य में यही भरोसा क्रान्ति के नर-नारियों में पैदा हुआ और याद रखने लायक़ दिनों में उन्होंने जो इतिहास रचा और जो कुर्बानियां बर्दाश्त कीं, उनमें अब भी हमें जोश दिलाने की और हमारे ख़ून की हरक़त तेज़ करने की पूरी ताक़त है।

नये रंगरूटों की इन क्रान्तिकारी फ़ौजों ने, पूरी तरह फ़ौजी तालीम न मिलने पर भी, फ़ान्स की धरती पर सब विदेशी फ़ौजों को मार भगाया और उसके बाद

निदरलैण्ड्स के दक्षिणी हिस्से (बलजियम, वग़ैरा) को भी आस्ट्रिया के चंगुल से छुड़ा दिया। हैप्सबर्गों ने हमेशा के लिए निदरलैण्ड्स छोड़ दिया और वे फिर वापस न आये। यूरोप की सिखाई हुई और पेशेवर फ़ौज इन क्रान्तिकारी रंगरूटों के मुकाबिले में न ठहर सकीं। सीखा हुआ सिपाही तनख़्वाह की ख़ातिर लड़ता था और बड़ी सावधानी से लड़ता था; क्रान्तिकारी रंगरूट एक आदर्श के लिए लड़ता था और विजय के लिए भारी-से-भारी जोखिम उठाने को तैयार था। सीखा हुआ सिपाही ढेर-का-ढेर सामान लादे धीरे-धीरे चलता था; रंगरूट के पास लादने को कुछ सामान न था और वह तेज़ी के साथ चलता था। यानी क्रान्तिकारी फ़ौज युद्ध में एक नया ही नमूना थी और उनके लड़ने का ढंग भी बिलकुल नया था। उन्होंने युद्ध-कला के पुराने तरीक़ों को बदल दिया और कुछ हद तक वे यूरोप में अगले सौ वर्षों की फ़ौजों के लिए नमूना बन गईं। लेकिन इन फ़ौजों का असली बल इनके जोश और हौसले मे था। इनका नारा, और असल में उस समय क्रान्ति का भी नारा, दान्तों के इस मशहूर वाक्य में आ जाता है: "पितृभूमि के दुश्मनों को परास्त करने के लिए हममें दिलेरी, और भी ज्यादा दिलेरी, हमेशा दिलेरी, चाहिए।"

युद्ध फैलने लगा। जल-सेना के सबब से इंग्लैण्ड एक ताक़तवर दुश्मन साबित हुआ। गणराज्यी फ़्रान्स ने बड़ी भारी थल-सेना बना ली थी, लेकिन समुद्र पर वह कमज़ोर था। इंग्लैण्ड ने फ़्रान्स के सारे बन्दरगाहों की नाकाबन्दी शुरू कर दी। फ़्रान्स से भागे हुए लोग इंग्लैण्ड से ही करोड़ों की संख्या में जाली 'असाइनेत्स' या फ़्रान्सीसी गणराज्य के नोट धड़ा-धड़ फ़्रान्स भेजने लगे। इस तरह उन्होंने फ़्रान्स की सिक्का-प्रणाली और अर्थ-व्यवस्था को बर्बाद करने की कोशिश की।

विदेशों के साथ यह युद्ध सबसे ज्यादा महत्ववाली चीज़ बन गया और राष्ट्र की सारी ताक़त उसमें ख़र्च होने लगी। ऐसे युद्ध क्रान्तियों के लिए ख़तरनाक हुआ करते हैं, क्योंकि ये समाजी समस्याओं से ध्यान हटाकर उसे विदेशी शत्रु से लड़ने की तरफ़ लगा देते हैं, जिससे क्रान्ति का असली उद्देश्य घपले में पड़ जाता है। क्रान्ति के जोश की जगह युद्ध का जोश ले लेता है। फ़्रान्स में ऐसा ही हुआ और जैसा कि हम देखेंगे, आख़िरी दर्जा फ़्रान्स का यह हुआ कि वहां एक ज़बर्दस्त जंगी सेनापति की तानाशाही क़ायम हो गई।

घरू झगड़े भी साथ-साथ चल रहे थे। फ़्रान्स के पश्चिम में वान्दे में, कुछ तो वहां के किसानों के नई फ़ौजों में भरती होने से इन्कार करने की वजह से और कुछ बादशाहवादी नेताओं और फ़्रान्स से भागे हुए लोगों की कोशिशों से, किसानों का जबर्दस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ। क्रान्ति को सम्भालनेवाले और चलानेवाले तो असल में पैरिस के शहरी लोग थे; किसान-वर्ग राजधानी में तेज़ी से होनेवाले

परिवर्तनों को और उनके महत्व को न समझ सके और पिछड़ गये। वान्दे का विद्रोह बड़ी बेरहमी के साथ दबा दिया गया। युद्ध में और ख़ासकर गृह-युद्ध में लोगों के हलके-से-हलके आवेग जाग उठते हैं और हमदर्दी तो दर-दर मारी फिरती है। लियों में क्रांति-विरोधी बलवा हुआ। इसे दबा दिया गया और किसीने यह प्रस्ताव किया कि सज़ा के तौर पर लियों का बड़ा शहर ही नष्ट कर दिया जाय! "लियों ने स्वतन्त्रता के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ा है; लियों अब नहीं बच सकता!" सौभाग्य से यह प्रस्ताव मंजूर नहीं किया गया, मगर फिर भी लियों को बड़ी मुसीबत झेलनी पड़ी।

इसी बीच में पैरिस में क्या हो रहा था? वहां किसका क़ब्ज़ा था? नई चुनी हुई कम्यून और उसके हलकों का शहर में अभी तक बोलबाला था। नैशनल कन्वेन्शन में शक्ति के लिए सारे गिरोहों में कशमकश चल रही थी, जिसमें ख़ास थे जिरोंदी यानी मद्धिम गणराज्यवादी और जैकोबिनी यानी गरम गणराज्यवादी। जैकोबिनी दल की जीत हुई और जून १७९३ ई० के शुरू में ही ज्यादातर जिरोंदी डिप्टी कन्वेन्शन से निकाल दिये गए। कन्वेन्शन ने अब सामन्ती हक़ों को हमेशा के लिए उठा देने की कार्रवाई की और जो जमीनें सामन्ती सरदारों के क़ब्जे में थीं, वे मुक़ामी कम्यूनों यानी म्युनिसिपैलिटियों को वापस लौटा दी गईं, यानी ये ज़मीनें जनता की सम्पत्ति हो गईं।

कन्वेन्शन ने, जिसमें अब जैकोबिनी लोगों की तूती बोलती थी, दो कमेटियां मुकर्रर कीं; एक तो सार्वजनिक कल्याण की और दूसरी सार्वजनिक बचाव की, और इनको लम्बे-चौड़े अधिकार दे दिये। ये कमेटियां—खासकर सार्वजनिक बचाव कमेटी, जल्दी ही बड़ी शक्तिशाली बन बैठीं और लोग इनसे खौफ़ खाने लगे। इन्होंने कन्वेन्शन को एक-एक कदम आगे हांकना शुरू किया, यहांतक कि क्रान्ति 'आतंक'[1] के गहरे गड्ढे में जा पड़ी। भय की छाया अभी तक हरेक के ऊपर पड़ी हुई थी; विदेशी दुश्मनों का भय, जो उनको चारों तरफ से घेरे हुए थे; भेदियों और देश-द्रोहियों का भय, जिनकी संख्या बहुत थी। भय लोगों को अन्धा और ख़तरनाक बना देता है, और लगातार सिर पर सवार रहनेवाले इस भय से मजबूर होकर सितम्बर, १७९३ ई० में कन्वेन्शन ने एक भयंकर कानून पास किया, जो 'संदेह-भाजनों का कानून' कहलाया। जिस किसीपर संदेह या शक होता उसकी ख़ैर न थी। और संदेह किये जाने से कौन बच सकता था? एक महीने बाद कन्वेन्शन के बाईस जिरोंदी डिप्टियों पर क्रान्ति की अदालत के सामने मुकदमा चलाया गया और उनको फौरन मौत की सजा दे दी गई।

---

[1] आतंक—क्रान्ति के बाद पैरिस में जो आतंक यानी दहशत का राज रहा, अंग्रेजी में उसे The Terror कहा जाता है।

इस तरह 'आतंक' का राज शुरू हुआ। मौत की सजा पाये हुए लोग हर रोज़ गिलोतीन पर ले जाये जाते थे; हर रोज़ इन कुर्बानी के बकरों से भरी हुई गाड़ियां, जिन्हें 'तम्ब्रिल' कहते थे, पैरिस की गलियों की रोड़ी पर चूं-चूं करती और लड़खड़ाती हुई जाती थीं और लोग इन अभागों को चिढ़ाते थे। कन्वेन्शन में भी शासक गुट्ट के ख़िलाफ़ बोलना ख़तरनाक था, क्योंकि इससे संदेह पैदा होता था और संदेह का नतीजा था मुक़दमा और गिलोतीन। कन्वेन्शन की बागडोर सार्वजनिक कल्याण और सार्वजनिक बचाव की कमेटियों के हाथों में थी। ये कमेटियां, जिनके हाथों में ज़िन्दगी और मौत का पूरा अधिकार था, अपने अधिकार दूसरों को नहीं बांटना चाहती थीं। इन्होंने पैरिस की कम्यून पर भी ऐतराज़ किया। असल में जो इनकी हां-में-हां नहीं मिलाते थे, उन सब पर इनको ऐतराज था। सत्ता में लोगों को भ्रष्ट कर देने की अजीब तासीर होती है। इसलिए इन कमेटियों ने उस कम्यून को कुचलना शुरू कर दिया, जो अपने हलक़ों समेत क्रान्ति की रीढ़ रही थी। पहले इन्होंने हलकों को कुचला और इन सहारों को काटकर फिर कम्यून को कुचल डाला। इस तरह क्रान्ति अक्सर अपने आपको ही खा जाती है। पैरिस के हरेक हिस्से के ये हलक़े जनता को चोटी के नेताओं से मिलानेवाली कड़ियां थे। ये वे नसें थीं, जिनमें होकर क्रान्ति का उसे बल और जीवन देनेवाला लाल ख़ून बहता था। १७९४ के शुरू में हलक़ों और कम्यून के कुचल दिये जाने का अर्थ था इस जीवन देनेवाले खून का रोक दिया जाना। अब से कन्वेन्शन और ये कमेटियां अपने ऊपर की सरकार का अंग बन गईं, जिनका जनता से कोई असली सम्पर्क न था और जो 'आतंक' के ज़रिये अपनी मर्ज़ी दूसरों पर लादती थीं—जैसा कि सब सत्ताधारियों का रवैया हुआ करता है। यह असली क्रान्तिकारी ज़माने के अन्त की शुरूआत थी। छः महीने तक यह 'आतंक' और जारी रहनेवाला था और क्रान्ति लस्टम-पस्टम चलनेवाली थी। लेकिन उसका अन्त तो दिखाई देने लगा था।

उथल-पुथल और परेशानी के इन दिनों में पैरिस और फ़्रान्स के नेता कौन थे? बहुत-से नाम सामने आते हैं। कैमिल देम्यूलां, जो १७८९ ई० में बास्तील के हमले का नेता था और जिसने दूसरे बहुत-से मौक़ों पर भी महत्व का हिस्सा लिया था। 'आतंक' के दिनों में नरमी की नीति का समर्थन करते हुए यह ख़ुद गिलोतीन का शिकार हुआ। कुछ ही दिन बाद इसकी युवा पत्नी लूसिल भी इसके क़दमों पर चली और उसने पति के बिना ज़िन्दा रहने से मौत को बेहतर समझा। कवि फैब्र दि इग्लैतीन और सरकारी वकील फोक्रिये तिनविल, जिससे सब भय खाते थे। मारत, क्रान्ति का शायद सबसे महान और काबिल आदमी, जिसे एक नौजवान लड़की शारलौत कॉरदे ने छुरा भोंककर मार डाला; दान्तों, जिसका ज़िक्र मैं पहले भी दो बार कर चुका हूं, जो दिलेर और शेरदिल था और बड़ा अच्छा व लोकप्रिय

भाषण देनेवाला था, लेकिन फिर भी उसका अन्त गिलोतीन पर हुआ; और इन सबसे ज़्यादा मशहूर रोबेसपीर, जैकोबिनी दल का नेता और 'आतंक' के दिनों में कन्वेन्शन का क़रीब-क़रीब तानाशाह। यह तो एक तरह से 'आतंक' की मूर्ति ही बन गया था और लोग इसका नाम लेते हुए थर्राते थे। लेकिन इस व्यक्ति की ईमानदारी और देशभक्ति के बारे में कोई उंगली नही उठा सकता; लोग इसे 'शुद्ध' यानी कभी भ्रष्ट न होनेवाला कहते थे। लेकिन जीवन में इतना सादगी-पसन्द होते हुए भी वह ज़रूरत से ज़्यादा अहंकारी था और शायद वह यह ख़याल करता था कि उससे मतभेद रखनेवाला हरेक आदमी गणराज्य व क्रान्ति का गद्दार है। क्रान्ति के बहुत-से बड़े-बड़े नेता, जो इसके साथी रह चुके थे, इसीके इशारे पर गिलोतीन के घाट उतार दिये गए; यहांतक कि वह कन्वेन्शन, जो भेड़ की तरह इसके पीछे-पीछे चल रहा था, आख़िर इसीके ख़िलाफ़ खड़ा हो गया। उन्होंने इसे ज़ालिम और अत्याचारी क़रार दिया और इसका व इसके अत्याचारों का अन्त कर दिया।

क्रान्ति के ये तमाम नेता नौजवान लोग थे; क्रान्तियां बुड्ढे आदमियों से नहीं हुआ करतीं। इन नेताओं मे बहुत-से भारी-भरकम जरूर थे, लेकिन इस महान नाटक में किसीका भी पार्ट, यहांतक कि रोबेसपीर का भी, ज़ोरदार न रहा। क्रान्ति के तथ्य के सामने ये हेच मालूम पड़ते हैं; क्योंकि इन लोगों ने न तो क्रान्ति पैदा की थी और न उसकी बागडोर ही इनके हाथों में थी। वह तो एक ऐसी कुदरती इन्सानी भूचाल था जैसे कि इतिहास में समय-समय पर हुआ करते हैं; और जिनको समाजी हालतें व वर्षों की लगातार मुसीबतें और अत्याचार धीरे-धीरे, लेकिन न लौटनेवाले रास्ते पर तैयार करते हैं।

यह न समझना कि कन्वेन्शन ने लड़ने-भिड़ने और गिलोतीन पर चढ़ाने के सिवा और कुछ न किया। सच्ची क्रान्ति से पैदा होनेवाली शक्ति हमेशा बहुत ज़ोरदार होती है। इसका बहुत-सा हिस्सा तो विदेशियों से युद्ध में खप गया था, लेकिन फिर भी बहुत-कुछ बच रहा था, और इसके ज़रिये काफी ठोस काम किया गया। ख़ासकर राष्ट्रीय शिक्षा का सारा तरीक़ा ही बदल दिया गया। मीट्रिक-प्रणाली, जिसे आज स्कूल के सब बच्चे सीखते हैं, इसी समय ज़ारी की गई थी और इसने तमाम बाटों को और लम्बाई व आयतन के तमाम नापों को आसान कर दिया। यह प्रणाली अब दुनिया के लगभग सारे सभ्य देशों में फैल गई है, लेकिन कट्टर-पन्थी इंग्लैण्ड अभी तक गजों, फ़र्लांगों, पाउंडों और हंडरवेटों वग़ैरा की पुरानी प्रणाली से चिपका हुआ है। हम भारतवासियों को सेरों और मनों वगैरा के अलावा इन पेचीदा लम्बाइयों और तोलों को भी बर्दाश्त करना पड़ता है।[1]

---

[1]अब स्वतंत्र भारत ने भी मीट्रिक-प्रणाली अपना ली है।

क़ायदे से, मीट्रिक प्रणाली का लाज़िमी नतीजा था कि गणराज्य का एक नया कैलेंडर भी बने ! यह २२ सितम्बर, १७९२ ई० से, यानी जिस दिन गणराज्य का ऐलान हुआ उस दिन से, शुरू किया गया। सात दिन के सप्ताह की जगह दस दिन का सप्ताह कर दिया गया और दसवां दिन छुट्टी का रक्खा गया। महीने तो बारह ही रहे, मगर उनके नाम बदल दिये गए। कवि फैब्र ने ऋतुओं के मुताबिक़ महीनों को बड़े प्यारे नाम दिये। बसन्त के तीन महीने 'जर्मिनल', 'फ्लोरेआल', 'प्रेरिआल' थे ; गरमी के महीने 'मेसिदोर,' 'थर्मिदोर', 'फ़्रयूक्तिदोर' थे; पतझड़ के महीने 'वान्देम्यार', 'ब्रयूमार', 'फ़्रिमार', रक्खे गये; सरदी के 'निवोज', 'प्ल्यू-विओज़', 'वान्तोज़', रक्खे गये। पर यह कैलेंडर गणराज्य के बाद ज्यादा दिन न टिका।

कुछ दिन ईसाइयत के खिलाफ एक जबर्दस्त आन्दोलन हुआ और 'विवेक'[1] की पूजा तजवीज की गई। 'सत्य' के मन्दिर बनाये गए। यह आन्दोलन प्रान्तों में बहुत जल्द फैल गया। १७९३ ई० के नवम्बर मे पैरिस के नोत्रदाम गिरजे मे 'स्वतन्त्रता' और 'विवेक' का बड़ा भारी उत्सव मनाया गया और एक सुन्दर स्त्री को देवी बनाया गया। लेकिन रोबेसपीर इन मामलों मे कट्टर था। उसने इस आन्दोलन को पसन्द नही किया। दान्तों ने भी नहीं किया। सार्वजनिक कल्याण की जैकोबिनी कमेटी भी इसके खिलाफ़ थी, इसलिए आन्दोलन के नेताओं को गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया। सत्ता और गिलोतीन के बीच में कोई ठहरने की जगह न थी। 'स्वतन्त्रता' और 'विवेक' उत्सव का तुर्की-बतुर्की जवाब देने के लिए रोबेसपीर ने 'सर्वोपरि सत्ता' के दूसरे जलसे का आयोजन किया। कन्वेन्शन के वोट से यह तय किया गया कि फ्रान्स एक 'सर्वोपरि सत्ता' में विश्वास करता है ! रोमन कैथलिक मत फिर पसन्द किया जाने लगा।

पैरिस के हलक़ों को और कम्यून को कुचल दिये जाने के बाद हालत बड़ी तेज़ी से बिगड़ रही थी। जैकोबिनी दल सबपर हावी हो रहा था; सरकार की बागडोर उनके हाथों में थी, लेकिन उसमें आपसी फूट फैल रही थी। 'स्वतन्त्रता' और 'विवेक' के उत्सव के अगुआ हीबर्त और उसके समर्थकों को गिलोतीन पर चढ़ाया जाना जैकोबिनी दल में फूट का पहला बड़ा सबब हुआ। इसके बाद फैब्र दि इंग्लैंतीन का नम्बर आया; और जब १७९४ ई० के शुरू में दान्तों, कैमिली, देम्यूलां, वग़ैरा ने रोबेसपीर के हाथों बेहद लोगों को गिलोतीन पर चढ़ाये जाने का विरोध किया, तो इनको भी मौत के घाट उतार दिया गया। अप्रैल, १७९४ ई० में दान्तों को फ़ुर्ती के साथ कत्ल कर दिया गया कि कहीं लोग दखल न डाल दें। इससे पैरिस की और प्रान्तों की जनता यह समझ गई कि क्रान्ति का अन्त हो चुका।

[1] विवेक (Reason)—भले-बुरे का, सत्य-असत्य का, ज्ञान।

क्रान्ति का एक शेर मारा गया और अब एक तंग-दिल गुट्ट का अधिकार हो गया। शत्रुओं से जो घिरा हुआ था और जनता से जिसका सम्पर्क टूट गया था, ऐसे इस गुट्ट को चारों तरफ़ दगाबाज़ी ही नज़र आने लगी, और 'आतंक' को ज़ोरदार बनाने के सिवा इसे अपने बचाव का कोई रास्ता न सूझा।

बस, आतंक का राज हो गया और गिलोतीन की तरफ़ जानेवाली तम्ब्रिल गाड़ियों में कुर्बानी के बकरों की संख्या पहले से भी ज़्यादा हो गई। जून में एक नया क़ानून पास किया गया जो 'बाइसवीं प्रेरिआल' का क़ानून कहलाता है और जिसमें झूठी ख़बरें उड़ाना, लोगों को लड़ाना या भड़काना, सदाचार की जड़ काटना, और जनता के ईमान को बिगाड़ना, वग़ैरा जुर्मों के लिए मौत की सज़ा तजवीज़ की गई थी। जो कोई भी रोबेसपीर और उसके हिमायतियों से मतभेद रखता, वही इस क़ानून के लम्बे-चौड़े जाल में पकड़ा जा सकता था। झुंड-के-झुंड लोगों पर एक साथ मुक़दमे चलाएं जाते थे और उन्हें सज़ाएं दे दी जाती थीं। एक बार तो डेढ़-सौ आदमियों पर एक साथ मामला चलाया गया, जिनमे सज़ाएं पाये हुए क़ैदी, बादशाहवादी, वग़ैरा, शामिल थे।

इस नये 'आतंक' का राज छियालिस दिन रहा। आख़िरकार नवीं थर्मिदोर, यानी २७ जुलाई १७९४ ई० को दबी हुई बिल्ली ने झपट्टा मारा। कन्वेन्शन अचानक रोबेसपीर और उसके समर्थकों के ख़िलाफ़ हो गया और 'ज़ालिम-मुर्दाबाद' के नारे लगाते हुए उन्होंने इन सबको गिरफ़्तार कर लिया और रोबेसपीर को तो बोलने तक नहीं दिया। दूसरे दिन तम्ब्रिल उसे भी उसी गिलोतीन पर ले गई, जहां वह बहुतों को भेज चुका था। इस तरह फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति का अन्त हो गया।

रोबेसपीर की मृत्यु के बाद उदारदली क्रान्ति शुरू हुई। अब उदारदली आगे आये और इन लोगों ने जैकोबिनी लोगों को सताना और उनपर आतंक जमाना शुरू किया। 'लाल आतंक' के बाद 'सफ़ेद आतंक' की बारी आई। पन्द्रह महीने बाद, अक्तूबर, १७९५ ई० में कन्वेन्शन टूट गया और पांच सदस्यों की एक 'डायरेक्टरी', सरकार बन गई। यह पूरी तरह मध्यमवर्ग की सरकार थी और इसने आम लोगों को दबाकर रखने की कोशिश की। इस डायरेक्टरी ने फ़्रान्स पर चार साल से ज़्यादा शासन किया, और अन्दरूनी झगड़ों के बाद भी गणराज्य की इतनी धाक और ताक़त थी कि वह देश के बाहर भी युद्धों में जीतती रही। उसके ख़िलाफ़ कुछ बग़ावतें भी हुईं, लेकिन वे सब दबा दी गईं। इसी तरह के एक विद्रोह को दबानेवाला गणराज्य की फ़ौज का एक नौजवान सेनानायक नैपोलियन बोनापार्ट था, जिसने पेरिस की भीड़ पर गोलियां चलाने की हिम्मत की और बहुतों को मार डाला। यह घटना 'छर्रों का झोंका' करके मशहूर है। जब ख़ुद गणराज्य की

पुरानी फ़ौज ही फ़ान्स की जनता को मारने के काम में लाई जा सकती थी, तो जाहिर है कि क्रान्ति की छाया तक भी बाक़ी न रही होगी।

बस, क्रान्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही आदर्शवादियों के मीठे सपनों का और ग़रीबों की आशाओं का भी अन्त हो गया। लेकिन फिर भी जो बातें वह हासिल करना चाहती थी, उनमें से बहुत-सी हासिल हो गई। कोई भी उलट-क्रान्ति अब किसानों की ग़ुलामी को वापस नहीं ला सकती थी, और बोर्बन बादशाह भी—बोर्बन फ़ान्स का एक राजवंश था—जब वापस आये तो उस ज़मीन को वापस न छीन सके जो किसान-वर्ग में बांट दी गई थी। खेत में या शहर में काम करनेवाले साधारण आदमी की हालत इतनी अच्छी हो गई कि जितनी पहले कभी नहीं रही थी। सच तो यह है कि 'आतंक' के दिनों में भी उसकी हालत क्रान्ति के पहले से बेहतर थी। 'आतंक' उसके ख़िलाफ़ न था। वह तो ऊंचे वर्गों के ख़िलाफ़ था; हालांकि आख़िरी वक़्त में कुछ ग़रीब लोगों को भी इससे तकलीफ़ें उठानी पड़ीं।

क्रान्ति धराशायी हो गई, लेकिन गणराज्य का ख़याल यूरोप भर में फैल गया और उसके साथ ही उन सिद्धान्तों का भी प्रचार हुआ, जिनका ऐलान 'मानव-अधिकारों की घोषणा' में किया गया था।

## : १०३ :
## हुकूमतों के ढंग

२७ अक्तूबर, १९३२

मैंने दो हफ़्तों से कुछ नहीं लिखा। कभी-कभी मैं सुस्त हो जाता हूं। यह ख़याल कि अब मेरी इस कहानी का अन्त नज़दीक आ रहा है, मुझे ज़रा रोक देता है। हम अठारहवीं सदी के अन्त तक तो पहुंच ही चुके हैं; अब उन्नीसवीं सदी के सौ वर्षों पर ग़ौर करना बाक़ी है। फिर हमें ठेठ आज तक पहुंचने में बीसवीं सदी के ठीक बत्तीस वर्ष रह जायंगे। लेकिन इन बचे हुए एक सौ बत्तीस वर्षों का बयान बड़ा लम्बा होगा। बहुत नजदीक होने के सबब से ये बहुत बड़े नज़र आते हैं और हमारे दिमाग़ों में भर जाते हैं, और पहले की घटनाओं से हमको ज्यादा भारी मालूम होते हैं। जो कुछ आज हम अपने चारों तरफ़ देखते हैं, उसके ज्यादातर हिस्से की जड़ें इन्हीं वर्षों के भीतर हैं, और वास्तव में पिछली सदी और उससे आगे की घटनाओं के घने जंगल में होकर तुमको ले जाना मेरे लिए आसान काम न होगा। शायद इससे मेरे जी चुराने की यही वजह हो! लेकिन मैं इस असमंजस में पड़ जाता हूं कि जब अन्त में मनुष्य-जाति की यह कहानी १९३२ ई० तक आ पहुंचेगी और भूत काल वर्तमान में मिलकर भविष्य की छाया के सामने ठहर जायगा, तब

मैं क्या करूंगा ? प्यारी बेटी, तब मैं तुमको क्या लिखूंगा ? उस वक़्त मेरे लिए क्या बहाना रहेगा कि मैं कलम लेकर बैठू और तुम्हारा ख़याल करूं, या कल्पना करूं कि तुम मेरे पास बैठकर बहुत-से सवाल पूछ रही हो, जिनका जवाब देने की मैं कोशिश करता हूं ?

फ़ान्स की राज्यक्रान्ति के बारे में मैं तीन पत्र लिख चुका हूं; फ़ान्स के इतिहास के थोड़े-से पांच वर्षों के बारे में तीन लम्बी चिट्ठियां हैं। युगों की इस यात्रा के दौरान में हमने सदियों को एक-एक डग में पूरा कर दिया है और महाद्वीपों पर सरसरी निगाह डाली है। लेकिन यहां फ़ान्स में, १७८९ से १७९४ ई० तक, हम काफ़ी देर ठहरे हैं; और फिर भी यह जानकर तुम्हें ताज्जुब होगा कि मैंने अपने बयान को छोटा करने की सख़्त कोशिश की है, क्योंकि मेरे दिमाग़ में यह विषय भरा हुआ था और मेरी कलम आगे दौड़ना चाहती थी। फ़ान्स की राज्यक्रान्ति इतिहास में महत्व रखती है। वह इतिहास के एक ज़माने का अन्त और दूसरे की शुरुआत बतलाती है। लेकिन उसका नाटक-जैसा रूप हमको और भी ज्यादा मोहता है और यह हम सबको बहुत-सी नसीहतें देती है। दुनिया में आज फिर उथल-पुथल हो रही है और हम लोग महान परिवर्तनों के दरवाज़े पर खड़े हैं। अपने देश में भी हम क्रान्ति के समय में रह रहे हैं, फिर यह क्रान्ति मारकाट से चाहे कितनी ही दूर क्यों न हो। इसलिए हम फ़ान्स की राज्य-क्रान्ति से और उस दूसरी महान क्रान्ति से, जो रूस में हमारे ही समय में हमारी आंखों के सामने हुई है, बहुत कुछ सीख सकते हैं। इन दोनों क्रान्तियों जैसी जनता की सच्ची क्रान्तियां जीवन की कठोर असलियतों पर बड़ी तेज़ रोशनी डालती हैं। बिजली की चमक की तरह वे सामने की सारी ज़मीन को, और ख़ासकर अंधेरी जगहों को, रौशन कर देती हैं। कम-से-कम कुछदेर के लिए अपना लक्ष्य बहुत साफ़ और अजीब तौर पर पास दिखाई देता है। दिल में विश्वास और शक्ति भर जाते हैं। शंका और हिचकिचाहट दूर हो जाती हैं। दूसरे नंबर की चीज़ पर समझौता करने का कोई सवाल नहीं रहता। क्रान्ति को बनानेवाले लोग तीर की तरह सीधे लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते हैं, दायें-बायें नहीं देखते; और जितनी सीधी और तेज़ उनकी नज़र होती है, उतनी ही क्रान्ति आगे बढ़ती है। लेकिन यह सिर्फ़ क्रान्ति के चढ़ाव के वक़्त में ही होता है जबकि उसके नेता पहाड़ की चोटी पर होते हैं और जनता पहाड़ की ढाल पर चढ़ती है। लेकिन अफ़सोस ! एक वक़्त ऐसा आता है जब उनको पहाड़ से उतरकर नीचे की अंधेरी घाटियों में भी आना पड़ता है। उस वक्त विश्वास मंदा पड़ जाता है और क्रिया-शक्ति कम हो जाती है।

१७७८ ई० में वाल्तेयर, जो क़रीब-क़रीब ज़िन्दगी भर देश-निकाले में रहा था, मरने के लिए पैरिस लौटा। उस समय वह चौरासी साल का था। पैरिस के

नौजवानों को सम्बोधन कर उसने कहा था—"नौजवान बड़े भाग्यशाली हैं; वे आगे महान बातें देखेंगे।" वास्तव में उन्होंने महान बातें देखीं और उनमें भाग लिया क्योंकि ग्यारह साल बाद ही क्रान्ति शुरू हो गई। वह जरूरत से ज्यादा इन्तज़ार कर चुकी थी। सत्रहवीं सदी में महान बादशाह चौदहवें लुई का कहना था कि "मैं ही सबसे बड़ा हूं;" अठारहवी सदी में उसके उत्तराधिकारी पन्द्रहवें लुई ने कहा—"मेरे बाद प्रलय हो जायगी"; और इस न्यौते के बाद सचमुच ही रेला आया, जो सोलहवें लुई और उसके साथियों को बहा ले गया। पाउडर लगे नक़ली बालों और रेशमी बिरजिसोंवाले अमीर-सरदारों के बजाय 'साक्यूलौत' यानी बिना बिरजिसवाले लोग आगे आये, और फ्रान्स का हरेक निवासी 'नागर' या 'नागरी' कहलाने लगा। नये गणराज्य का नारा था—"स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारा", जो सारे संसार को पुकार-पुकारकर सुनाया गया।

क्रान्ति के दिनों में 'आतंक' का ख़ूब ज़ोर रहा। क्रान्ति की ख़ास अदालत मुकर्रर किये जाने से लगाकर रोबेसपीर की मृत्यु तक के सोलह से भी कम महीनों में, लगभग चार हज़ार आदमी गिलोतीन पर चढ़ा दिये गए। यह एक बड़ी संख्या है, और जब यह ख़याल होता है कि कितने ही बेक़सूर आदमी गिलोतीन पर चढ़ा दिये गए होंगे तो दिल को बड़ा सदमा और रंज पहुंचता है। लेकिन फिर भी कुछ घटनाएं याद रखने लायक़ हैं, जिससे हम फ्रान्स के इस 'आतंक' को तसवीर में ठीक जगह बिठाकर देख सकें। गणराज्य चारों तरफ़ शत्रुओं, देश-द्रोहियों और भेदियों से घिरा हुआ था और गिलोतीन पर चढ़ाये जानेवालों में से बहुत-से लोग गणराज्य के खुल्लमखुल्ला विरोधी थे, जो उसके सत्यानाश की कार्रवाइयां कर रहे थे। 'आतंक' के आख़िरी दिनों में क़सूरवारों के साथ बेक़सूर भी पिस गये। जब दहशत सवार होती है तो आंखों पर पर्दा पड़ जाता है और तब क़सूरवार और बेक़सूर का भेद पहचानना मुश्किल हो जाता है। फ्रान्स के गणराज्य को एक नाज़ुक घड़ी में लाफ़ेअत[1] जैसे अपने बड़े-बड़े सेनापतियों के भी विरोध और दग़ाबाज़ी का सामना करना पड़ा, तब अगर नेता लोग घबरा गये हों और उन्होंने अन्धाधुन्ध इधर-उधर मार-काट करनी शुरू कर दी हो तो इसमें अचम्भा ही क्या है?

जैसा कि एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास में बतलाया है, यह बात भी ध्यान में रखने की है कि उस वक़्त इंग्लैण्ड, अमेरिका और दूसरे देशों में क्या हो रहा था। फ़ौजदारी कानून, ख़ासकर सम्पत्ति को बचाने के बारे में, वहशियाना

---

[1] लाफ़ेअत—(१७५७-१८३४); फ्रांसीसी सेनापति और राजनीतिज्ञ। यह अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ा था। १७८९ ई० में यह फ्रांस की राज्यक्रान्ति का नेता था, लेकिन १७९२ ई० में वहां से भाग गया। नैपोलियन के बाद यह फिर राष्ट्रीय फ़ौज का सेनापति हुआ।

था और छोटे-छोटे अपराधों के लिए लोग फ़ांसी पर चढ़ा दिये जाते थे। कहीं-कहीं अब भी सरकारी तौर पर लोगों को यंत्रणाएं दी जाती थीं। वेल्स ने लिखा है कि फ़ान्स में 'आतंक' के राज में जितने आदमी गिलोतीन पर चढ़ाये गए, उतने ही समय में इंग्लैण्ड और अमेरिका में इससे कहीं ज़्यादा आदमी इसी तरह फ़ांसी पर चढ़ा दिये गए थे।

उन दिनों जिस ख़ौफनाक बेरहमी व बेदर्दी के साथ गुलामों का शिकार किया जाता था उसका भी ख़याल करो। और युद्ध का और ख़ासकर आधुनिक युद्ध का ख़याल करो, जो हज़ारों नौजवानों को उठती जवानी में मटिया-मेट कर देता है। ज़रा और पास आकर अपने ही देश की तरफ़ देखो और हाल की घटनाओं पर विचार करो। तेरह साल हुए जब अमृतसर के जलियांवाला बाग में अप्रैल की एक शाम को, बसन्त के त्यौहार के दिन, सैकड़ों लोग मार डाले गए थे और हजारों बुरी तरह घायल कर दिये गए थे। और षड्यन्त्रों के ये सब मुक़दमे और ख़ास अदालतें और आर्डिनेन्स, लोगों को डराने और दबाने की कोशिशों के सिवा और क्या हैं? दमन और आतंक की तेज़ी हुकूमत की हौलदिली का नाप हुआ करती है। हरेक हुकूमत, चाहे वह प्रतिगामी हो या क्रान्तिवादी, विदेशी हो या स्वदेशी, आतंक का सहारा तब लेती है जब उसे ख़ुद अपनी ही हस्ती ख़तरे में मालूम पड़ती है। प्रतिगामी हुकूमत कुछ खास रियायतोंवाले लोगों की ओर से जनता के ख़िलाफ़ कार्रवाई करती है; क्रान्तिवादी हुकूमत जनता की तरफ़ से गिने-चुने ख़ास रियायतियों के ख़िलाफ़ करती है। क्रान्विवादी हुकमत ज़्यादा ख़री और ईमानदार होती है; वह अक्सर जालिम और कठोर तो होती है, लेकिन उसमें छल-कपट या धोखाधड़ी नहीं होते। प्रतिगामी हुकूमत धोखेबाज़ी की हवा में रहती है, क्योंकि वह जानती है कि अगर उसका भेद खुल गया तो वह टिक न सकेगी। वह स्वतन्त्रता की बातें करती है, और इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ लगाती है कि वह ख़ुद मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र है। वह इन्साफ की बात करती है, जिसका मतलब होता है मौजूदा व्यवस्था को क़ायम रखना, जिसके अन्दर वह पनपती है, हालांकि दूसरे लोग मरते हैं। तुर्रा यह कि वह कानून और व्यवस्था की दुहाई देती है, लेकिन इस फिकरे की आड़ में गोलियां चलाना, मारना, क़ैद करना, ज़बान बन्द करना, वग़ैरा, हरेक ग़ैरक़ानूनी और बेक़ायदा कार्रवाई करती है। 'क़ानून और व्यवस्था' के नाम पर हमारे सैकड़ों भाइयों को ख़ास अदालतों के सामने पेश करके मौत की सजा दे दी गई है। इसीके नाम पर ढाई साल पहले अप्रैल के महीने में एक दिन, पेशावर में मशीनगनों ने हमारे सैकड़ों बहादुर पठान देश-भाइयों को निहत्था होने पर भी भून डाला। और इसी 'क़ानून और व्यवस्था' की दुहाई देकर ब्रिटिश हवाई फ़ौज हमारे सरहदी गांवों में और इराक़ में बम बरसाती है और स्त्रियों, पुरुषों और छोटे-छोटे बच्चों को अन्धाधुन्ध मार डालती है या ज़िन्दगी भर के लिए अपा-

हिज कर देती है। लोग कहीं हवाई-जहाज़ की मार से बच न जायं, इसके लिए किसी शैतानी दिमाग़ ने 'देर से फटनेवाले बम' ईजाद किये हैं। जो गिरकर कोई नुक़सान नहीं पहुंचाते मालूम पड़ते और कुछ देर तक फटते नहीं है। गांवों के स्त्री-पुरुष, यह सोचकर कि ख़तरा निकल गया, अपने घरों को वापस लौट आते हैं और थोड़ी ही देर बाद बम फट जाते हैं, जिससे आदमियों का और सम्पत्ति का नाश हो जाता है।

करोड़ों के सिर पर रोज़मर्रा की भुखमरी की जो दशहत सवार रहती है उसका भी ख़याल करो। हम अपने चारों तरफ़ ग़रीबी देखने के आदी हो गये हैं। हम समझते हैं कि मज़दूर और किसान उजड्ड लोग हैं और वे तकलीफ़ ज़्यादा महसूस नहीं करते। अपनी आत्माओं की फटकार को ठंडी करने के लिए यह दलील कितनी फिज़ूल है! मुझे बिहार में झरिया की एक कोयले की खान में जाने की बात याद है, और ज़मीन की सतह के बहुत नीचे, कोयले के लम्बे-लम्बे काले और अंधेरे दालानों में स्त्रियों और पुरुषों को काम करते देखकर मुझे जो सदमा पहुंचा, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। लोग खानों में काम करनेवालों के लिए आठ घंटे के दिन की बातें करते हैं, लेकिन कुछ लोग इसका भी विरोध करते हैं और सोचते हैं कि उनसे और भी ज़्यादा काम लिया जाना चाहिए। जब मैं इस बहस को सुनता हूं या पढ़ता हूं तो मुझे अपनी उन ज़मीं-दोज़ अंधेरे तहख़ानों में जाने की बात याद आ जाती है, जहां आठ मिनिट भी मेरे लिए पहाड़ हो गये थे।

फ़्रान्स का 'आतंक' एक भयंकर चीज़ था। लेकिन फिर भी ग़रीबी और बेकारी के राजरोग के मुकाबले में वह मक्खी के डंक जैसा था। समाजी क्रान्ति का ख़र्चा, चाहे वह क्रान्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो, इन बुराइयों से कम होता है; और उस युद्ध के खर्चों से भी कम होता है, जो मौजूदा राजनैतिक और समाजी व्यवस्था में बार-बार हमारे सिर पर आता रहता है। फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति का आतंक बहुत बड़ा इसलिए दिखलाई पड़ता है कि बहुत-से ख़िताबधारी और अमीर-वर्ग के लोग उसके शिकार हुए। हम लोग इन ख़ास-रियायती वर्गों की इज्ज़त करने के इतने आदी हो गये हैं कि जब ये लोग मुसीबत में होते हैं तो हमारी सहानुभूति उनकी तरफ़ हो जाती है। दूसरों की तरह ही इनके साथ भी सहानुभूति रखना अच्छा है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इन लोगों की संख्या बिलकुल कम होती है। हम उनके भले की कामना कर सकते हैं। लेकिन जिनसे असली मतलब है, वे तो आम लोग होते हैं, और हम थोड़ों की ख़ातिर बहुतों को क़ुर्बान नहीं कर सकते। रूसो लिखता है—"जनता ही वास्तव में मनुष्य जाति है। जो जनता नहीं है वह इतनी छोटी चीज़ है कि उसे गिनने की भी तक़लीफ़ उठाने की ज़रूरत नहीं।"

इस पत्र में मैं तुमको नेपोलियन के बारे में लिखना चाहता था। लेकिन मेरा

दिमाग़ भटक गया और मेरी कलम दूसरी तरफ़ दौड़ गई और नेपोलियन पर ग़ौर करना अभी बाक़ी है। उसे हमारे दूसरे पत्र का इन्तज़ार करना पड़ेगा।

: १०४ :

# नेपोलियन

४ नवम्बर, १९३२

फ़ान्स की राज्यक्रान्ति में से नेपोलियन का उदय हुआ। जिस गणराज्यी फ़ान्स ने यूरोप के बादशाहों को चुनौती दी थी और उनसे लोहा लिया था, उसने इस नन्हे से कोर्सिका-निवासी के आगे घुटने टेक दिये। फ़ान्स में उस समय एक अजीब तरह की जंगली खूबसूरती थी। फ़ान्सीसी कवि बार्बिये ने फ़ान्स की तुलना एक जंगली जानवर—सिर उठाये हुए व चमकदार खालवाली एक शानदार और मनमौजी घोड़ी से, की है, जो खूबसूरत बदज़ात, ज़ीन, जोत और लगाम से ज़बर्दस्त भड़कनेवाली, जमीन पर पांव पटकनेवाली, और अपनी हिनहिनाहट से दुनिया को डरानेवाली थी। यह शानदार घोड़ी कोर्सिका के इस नौजवान को सवारी देने के लिए राज़ी हो गई और उसने इससे बड़े-बड़े अजीब करतब करवाये। लेकिन उसने इसे सधा भी लिया और इस जंगली, मनमौजी जानवर का सारा जंगलीपन और अल्हड़पन दूर कर दिया। और उसने इससे इतना फ़ायदा उठाया और इसे इतना थका दिया कि इसने उसे भी गिरा दिया और खुद भी गिर पड़ी।

तो नेपोलियन किस तरह का आदमी था? क्या वह संसार का कोई महान पुरुष था या, जैसा कि कहा जाता है, 'तक़दीर-देवी का पुत्र' या ज़बर्दस्त वीर था, जिसने इन्सानियत को बहुत-से बंधनों से छुटकारा दिलाने में मदद दी? या, जैसा कि एच० जी० वेल्स वग़ैरा कहते हैं, वह खाली एक हौसलेबाज़ था जिसने यूरोप को और उसकी सभ्यता को बड़ा भारी नुक़सान पहुंचाया? शायद इन दोनों बातों में सचाई है; या दोनों में सचाई का कुछ अंश है। हम सबमें अच्छाई और बुराई, बड़प्पन और छुटपन की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसी ही एक मिलावट था, लेकिन इस मिलावट में ऐसे साधारण गुण मिले हुए थे, जो हममें से बहुतों में न मिलेंगे। उसमें साहस था और आत्म-विश्वास था; कल्पना थी और अद्‌भुत क्रिया-शक्ति थी और बड़े ऊंचे हौसले थे। वह बहुत बड़ा सेनानायक था और पुराने ज़माने के सिकन्दर और चंगेज़ जैसे सेनानियों की टक्कर का युद्ध-कला का उस्ताद था। लेकिन वह हलकट था और स्वार्थी और घमंडी भी था। उसकी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी उमंग किसी आदर्श के पीछे दौड़ना नहीं थी, बल्कि खुद अपने लिए सत्ता की तलाश थी। उसने एक बार कहा था: "मेरी रखैल! सत्ता मेरी रखैल

योरप पर नैपोलियन की छाया

है ! इसे वश में करने के लिए मुझे इतनी दिक्क़त उठानी पड़ी है कि मैं न तो उसे किसीको छीनने दूंगा और न अपने साथ भोगने दूंगा !" वह क्रान्ति में से पैदा हुआ था लेकिन फिर भी वह एक विशाल साम्राज्य के सपने देखता था और सिकन्दर की जीतें उसके दिमाग़ में भर रही थीं। उसे यूरोप भी छोटा मालूम होता था। पूर्व उसे ललचा रहा था, ख़ासकर मिस्र और भारत। अपनी ज़िन्दगी के शुरू के दौर में, जब वह सत्ताइस साल का था, तब उसने कहा था : "महान साम्राज्य और ज़बर्दस्त परिवर्तन सिर्फ़ पूर्व में ही हुए हैं; उस पूर्व में जहां साठ करोड़ लोग बसते हैं। यूरोप तो एक छोटी-सी टेकरी है !"

नेपोलियन बोनापार्त का जन्म १७६९ ई० में कोर्सिका टापू में हुआ था जो फ़्रान्स के मातहत था। उसकी रगों में फ़्रान्स, कोर्सिका और इटली के ख़ून मिले हुए थे। उसने फ्रान्स के एक फ़ौजी स्कूल में तालीम पाई थी और राज्यक्रान्ति के समय में वह जैकोबिनी क्लब का सदस्य था। लेकिन शायद वह जैकोबिनी लोगों में अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नहीं कि वह उनके आदर्शों में विश्वास करता था। १७९३ ई० में तूलों में उसे पहली जीत हासिल हुई। इस जगह के मालदार लोगों ने इस डर से कि कहीं क्रान्ति के राज में उनकी सम्पत्ति न छिन जाय, सचमुच अंग्रेज़ों को बुला लिया और बाक़ी बचा हुआ फ़्रान्सीसी जंगी-बेड़ा उनके हवाले कर दिया। इस आफ़त ने और ऐसी ही दूसरी आफ़तों ने नई-उम्र के गणराज्य को ज़बर्दस्त धक्का पहुंचाया और हरेक फालतू आदमी को, और औरतों को भी, फौज में भर्ती होने का हुक्म दिया गया। नेपोलियन ने बागियों को पीस डाला और तूलों की लड़ाई में बड़ी उस्तादी के साथ हमला करके अंग्रेज़ों को हरा दिया। अब उसका सितारा बुलन्द होने लगा और चौबीस साल की उम्र में वह सेनापति बन गया। कुछ ही महीनों में जब रोबेसपीर गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया तो यह आफ़त में फंस गया, क्योंकि इसपर रोबेसपीर के दल का आदमी होने का संदेह किया गया। लेकिन सच तो यह है कि जिस दल में वह शामिल था उस दल का सिर्फ़ एक ही सदस्य था, और वह था खुद नेपोलियन ! इसके बाद डायरेक्टरी का राज आया और नेपोलियन ने साबित कर दिया कि जैकोबिनी होना तो दरकिनार वह तो उलट-क्रान्ति का नेता था और बिना किसी हिचकिचाहट के जनता को गोलियों से भून सकता था। यह १७९५ ई० का वही मशहूर 'छर्रों का झोंका' था, जिसका ज़िक्र मैं एक पिछले पत्र में कर चुका हूं। उस दिन नेपोलियन ने गणराज्य को घायल कर डाला। दस वर्षों के भीतर ही उसने गणराज्य का अन्त कर डाला और वह फ़्रान्स का सम्राट् बन बैठा।

१७९६ ई० में वह इटली की फ़ौज का सेनापति हो गया और इटली के उत्तरी हिस्से पर बड़ी चतुराई से धावा करके उसने सारे यूरोप को चकित कर

दिया। फ़ान्स की फ़ौजों में क्रान्ति का जोश अभी कुछ बाक़ी था। लेकिन वे फटेहाल थीं, और उनके पास न ठीक कपड़े थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटेहाल और पांवों में छाले पड़े हुए जत्थे को आल्प्स के पहाड़ों के ऊपर होकर ले गया और उनको आशा दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानों में पहुंचकर उनको खाना और आराम की चीज़ें सब मिलेंगी। दूसरी तरफ़ इटली के निवासियों को उसने आज़ादी का वचन दिया; वह उनको ज़ालिमों से छुड़ाने आ रहा था। लूट-खसोट के नज़ारे के साथ क्रान्तिवादी गपड़-सपड़ की यह कैसी विचित्र मिलावट थी! इस तरह उसने फ़ान्स और इटली दोनों के निवासियों की भावनाओं से बड़ी चालाकी के साथ फ़ायदा उठाया। चूंकि वह ख़ुद भी आधा इटालवी था, इसलिए उसका ख़ूब सिक्का जम गया। जैसे-जैसे उसे विजय मिलती गई, उसका रौब बढ़ने लगा और उसकी कीर्ति फैलने लगी। अपनी फ़ौज में भी वह बहुत-सी बातों में साधारण सिपाहियों के साथ तकलीफ़ें उठाता था और ख़तरे में उनके साथ रहता था; क्योंकि धावे में जहां कहीं सबसे ज़्यादा ख़तरा होता वहीं वह पहुंच जाता था। वह हमेशा सच्ची लियाकत की तलाश में रहता था और इसके लिए वह तुरन्त लड़ाई के मैदान ही में इनाम दे देता था। अपने सिपाहियों के लिए वह पिता—एक बहुत नौजवान पिता!—के समान था, जिसे वे प्यार से 'छोटा-सा कार्पोरल' कहते थे और 'तू' करके सम्बोधन करते थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात, जो बीस-पच्चीस साल का यह नवयुवक सेनापति फ़ान्सीसी सिपाहियों का प्राणप्यारा बन गया हो?

तमाम उत्तरी इटली को विजय करके, आस्ट्रिया को हराकर, और वेनिस के पुराने गणराज्य का अन्त करके और वहां बड़ी भद्दी साम्राज्यशाही सुलह करके वह एक महान विजयी वीर बनकर पैरिस लौटा। फ़ान्स में उसका दबदबा क़ायम होना शुरू हो ही गया था। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सत्ता हथियाने का ठीक वक़्त नहीं आया है, इसलिए उसने एक फ़ौज लेकर मिस्र जाने का ढंग रचा। जवानी से ही पूर्व की यह पुकार उसके दिल में उठ रही थी और अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक लम्बे-चौड़े साम्राज्य के सपने उसके दिमाग़ में चक्कर लगाने लगे होंगे। भूमध्यसागर में अंग्रेज़ी जंगी-बेड़े से किसी तरह बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया जा पहुंचा।

मिस्र उन दिनों तुर्कों के उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और मिस्र में असली राज ममलूकों[1] का था, जो सिर्फ़ नाम

---

[1]ममलूक—तुर्कों के सुल्तान अयूब के शरीर-रक्षक ग़ुलाम, जो उसकी मृत्यु (१२५१) के बाद १५१७ ई० तक मिस्र में राज करते रहे। सुल्तान सलीम प्रथम ने इनको निकाल बाहर कर दिया था, लेकिन अठारहवीं सदी में इन्होंने फिर

के लिए तुर्की के सुलतान के मातहत थे। क्रान्तियों और आविष्कारों ने यूरोप को भले ही हिला डाला हो, लेकिन ये ममलूक अभी तक मध्य-युगों का ही ढंग अपनाये हुए थे। कहते हैं कि जब नेपोलियन क़ाहिरा पहुंचा तो एक ममलूक सूरमा रेशम के भड़कीले कपड़े और दमिश्क का जिरह-बख़्तर (कवच) पहने घोड़े पर सवार होकर फ़ान्स की फ़ौज के सामने आया और उसके नेता को द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारा! उस बेचारे पर गोलियों की बौछार की गई। इसके बाद जल्द ही नेपोलियन ने 'पिरैमिड्स की लड़ाई' जीती। वह नाटक जैसे हाव-भाव बहुत पसन्द करता था। एक पिरैमिड के नीचे अपनी फ़ौज के सामने घोड़े पर खड़े होकर उसने कहा—"सिपाहियो! देखो, चालीस सदियां तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही हैं!"

नेपोलियन थल-युद्ध का उस्ताद था और वह जीतता ही गया। लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला। वह जल-युद्ध लड़ना नहीं जानता था और शायद उसके पास योग्य समुद्री-सेनानायक भी नहीं थे। ठीक उन्हीं दिनों भूमध्यसागर में इंग्लैण्ड के जंगी-बेड़े की कमान एक ग़ैर-मामूली प्रतिभावाले आदमी के हाथों में थी। वह होरेशियो नेल्सन[1] था। नेल्सन बड़ी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह में घुस आया और नील नदी की लड़ाई में उसने फ़ान्स के जंगी बेड़े को तबाह कर दिया। इस तरह परदेश में नेपोलियन फ़ान्स से बिछुड़ गया। वह तो किसी तरह चुपचाप बचकर निकल भागा और फ़ान्स पहुंच गया, लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फ़ौज' को क़ुर्बान कर दिया।

इन जीतों में और कुछ फ़ौजी नामवरी के बावजूद पूर्वी देशों का यह ज़बर्दस्त धावा असफल रहा। लेकिन दिलचस्पी की यह बात ध्यान में रखने लायक़ है कि नेपोलियन अपने साथ विशेषज्ञों, विद्वानों और प्रोफ़ेसरों की भीड़-की-भीड़, बहुत-सी किताबों और तरह-तरह के औज़ारों के साथ, मिस्र देश को ले गया था। इस 'इन्स्टीट्यूट' मण्डली में रोज़ चर्चाएं होती थीं, जिनमें नेपोलियन भी बराबरी की हैसियत से भाग लेता था। इन विशेषज्ञों ने विज्ञान की खोजों का बहुत-सा अच्छा काम किया। यूनानी लिपि और मिस्र की चित्र-लिपि के दो भेद—इन तीन लिपियों में खुदा हुआ एक शिलालेख मिलने से तसवीरी लिखावट की पुरानी पहेली हल हो गई। यूनानी लिपि की सहायता से दूसरी दोनों लिपियों को पढ़ लिया गया। यह भी

---

**अधिकार प्राप्त कर लिया। १७९८ ई० में नेपोलियन ने इन्हें हराया और १८११ ई० में सुल्तान मुहम्मद अली ने इनका अन्त कर दिया।**

**[1]नेल्सन (१७५८-१८०५)—इंग्लैण्ड का बड़ा प्रसिद्ध और योग्य नौ-सेनापति। इसने कई समुद्री लड़ाइयां जीतीं थीं और इंग्लैण्ड का समुद्री गौरव बढ़ाया। यह ट्राफलगर के युद्ध में मारा गया।**

दिलचस्प बात है कि स्वेज़ पर नहर काटने की एक तजवीज़ में नेपोलियन ने भी बहुत दिलचस्पी दिखलाई थी।

जब नेपोलियन मिस्र में था तो उसने ईरान के शाह और दक्षिण भारत के टीपू सुलतान के साथ कुछ बातचीत चलाई थी। लेकिन इनका फल कुछ न निकला क्योंकि उसके पास समुद्री ताक़त बिलकुल न थी। अन्त में समुद्री ताकत ने ही नेपोलियन को पछाड़ दिया और उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड को ज़बर्दस्त बनाने-वाली समुद्री भी ताक़त ही थी।

मिस्र से जब नेपोलियन लौटा तो फ़्रान्स की हालत बहुत खराब हो रही थी। डायरेक्टरी बदनाम और लोगों को नापसन्द हो चुकी थी, इसलिए हरेक की आखें नेपोलियन की तरफ़ लगी हुई थीं। वह तो सत्ता हथियाने को तैयार ही बैठा था। नवंबर, १७९९ ई० में, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नेपोलियन ने अपने भाई ल्यूशन की सहायता से असेम्बली को ज़बर्दस्ती भंग कर दिया, और उस समय के जिस संविधान के मातहत डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी, उसका अन्त कर दिया। इस ज़बर्दस्ती के राजनैतिक धड़ाके[1] से, नैपोलियन ने हालत को क़ाबू में कर लिया। वह ऐसा इसलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमें भरोसा रखते थे। क्रान्ति का तो बहुत दिन पहले ही दिवाला निकल चुका था; लोकतंत्र का भी अब लोप हो रहा था और एक लोकप्रिय सेनापति का डंका बज रहा था। एक नये संविधान का मसविदा बनाया गया, जिसमें तीन 'कौंसल' (यह शब्द प्राचीन रोम से लिया गया था) रक्खे गये, लेकिन इन तीनों में प्रधान नेपोलियन था, जिसे पूरे अधिकार थे। वह 'प्रथम कौंसल' कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया। संविधान पर चर्चा के दौरान में किसीने यह सुझाव दिया कि एक ऐसा राष्ट्रपति होना चाहिए, जिसके हाथ में कोई असली सत्ता न हो और जिसका मुख्य काम काग़ज़पत्रों पर हस्ताक्षर करना हो और जो रस्मी तौर पर गणराज्य का प्रतिनिधि माना जाय, जैसे आजकल संवैधानिक बादशाह होते हैं या फ़्रान्स का राष्ट्रपति है। मगर नेपोलियन तो सत्ता चाहता था, सिर्फ़ शाही पोशाक नहीं। उसे ऐसे शाही लेकिन बिना सत्तावाले राष्ट्रपति की कोई दरकार नहीं थी। उसने कहा—"इस मोटे सूअर को दूर करो!"

यह संविधान, जिसमें नेपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था, जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज्यादा वोटरों ने उसे लगभग एक राय से मान लिया। इस तरह फ़्रान्स की जनता ने इस झूठी आशा

---

[1] इसे फ्रान्सीसी भाषा में 'कू देता' (Coup d'etat) कहते हैं, और यह पद अंग्रेजी भाषा में भी प्रयोग किया जाता है।

में कि वह उन्हें स्वतन्त्रता और सुख दिलायेगा, खुद ही सारी सत्ता नेपोलियन को भेंट कर दी।

लेकिन हम नेपोलियन के जीवन-इतिहास की सारी बातें नहीं लिख सकते। वह तो और सत्ता की दिन-पर-दिन बढ़ती हुई भूख से भरा पड़ा है। 'राजनैतिक धड़ाके' के बाद पहली ही रात को, जबकि नया संविधान बनने और मंज़ूर होने भी न पाया था, उसने क़ानूनी ज़ाब्ते का मसविदा बनाने के लिए दो कमेटियां मुकर्रर कर दीं। उसकी तानाशाही का यह पहला काम था। लम्बे वादविवाद के बाद, जिसमें नेपोलियन भी शामिल होता था, यह जाब्ता १८०४ ई० में आखिरी तौर पर मंज़ूर कर लिया गया। यह 'नेपोलियन कोड' नेपोलियन का क़ानूनी ज़ाब्ता कहलाया। क्रान्ति के विचारों या आज के पैमानों के लिहाज़ से यह क़ानून कुछ आगे बढ़ा हुआ नहीं था। लेकिन यह उस समय की हालतों से ज़रूर आगे बढ़ा हुआ था और सौ साल तक कई बातों में यह सारे यूरोप के लिए क़रीब-क़रीब नमूना बना रहा। नेपोलियन ने और भी कई तरह से प्रशासन में सादगी और मुस्तैदी पैदा की। वह हरेक काम में दखल देता था और छोटी-छोटी बातों को याद रखने की उसमें अज़ीब शक्ति थी। अपनी अद्‌भुत कार्यशक्ति और जीवट से वह साथियों और मंत्रियों को थका डालता था। उस समय का उसका एक सहयोगी उसके बारे में लिखता है : "अपनी ढंग से चलनेवाली समझ-बूझ के साथ राज करता हुआ, प्रशासन करता हुआ और मोल-तोल करता हुआ, वह दिन में अठारह घंटे काम करता है। जितना शासन दूसरे बादशाहों ने सौ वर्षों में किया होगा उससे ज़्यादा इसने तीन वर्षों में कर लिया है।" यह बात ज़रूर बढ़ाकर कही गई है, लेकिन यह सही है कि अकबर की तरह नेपोलियन की भी याद्‌दाश्त असाधारण थी और उसका दिमाग़ पूरी तरह ढंग से चलनेवाला था। वह अपने बारे में कहता था : "जब मैं किसी बात को दिमाग़ से हटाना चाहता हूं तो उसकी दराज़ बन्द कर देता हूं और दूसरी दराज़ खोल देता हूं। इन दराज़ों में रखी हुई चीज़ें कभी गड़बड़ नहीं होने पातीं और न वे मुझे परेशान करती हैं। मैं जब सोना चाहता हूं सब दराज़ें बन्द कर देता हूं और सो जाता हूं।" वास्तव में यह देखा गया था कि लड़ाई होती रहती थी और वह जमीन पर लेट जाता था और आधा घंटे के क़रीब सो लेता था, और उसके बाद उठकर फिर लम्बे समय के लिए लगन के साथ काम में जुट जाता था।

वह दस वर्ष के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था। सत्ता के ज़ीने की दूसरी सीढ़ी तीन साल बाद, १८०२ ई० में आई, जब उसने अपने-आपको उम्र भर के लिए कौंसल बनवा लिया और उसके अधिकार बढ़ा दिये गए। गणराज्य का अन्त हो चुका था, और वह सब तरह से राजा बन गया था, हालांकि नाम के लिए राजा नहीं कहलाता था। और फिर जैसा कि होना ही था, उसने १८०४ ई० में जनता की

राय लेकर अपने-आपको सम्राट् ऐलान कर दिया। फ़्रान्स में वह ही सर्वेसर्वा था, लेकिन फिर भी इसमें और पुराने ज़माने के निरंकुश राजाओं में बहुत फ़र्क था। वह परम्परा और दैवी अधिकार को अपनी सत्ता का आधार नहीं बना सकता था। उसे तो अपनी सत्ता अपनी मुस्तैदी और जनता में अपनी लोकप्रियता के आधार पर रखनी थी। और वह भी ख़ासकर किसानों में लोकप्रियता के आधार पर, जो हमेशा से उसके सबसे ज़्यादा हिमायती रहे थे क्योंकि वे जानते थे, कि इसीने उनकी ज़मीनों को छिनने नहीं दिया था। नेपोलियन ने एक बार कहा था : "मैं गोल कमरों में बैठनेवालों और बकवास करनेवालों की राय की क्या परवाह करता हूं ! मैं तो सिर्फ़ एक ही राय को मानता हूं, जो किसानों की राय है।" लेकिन लगभग लगातार चलनेवाले युद्धों के लिए अपने बेटों को भेंट देते-देते अन्त में किसान लोग भी तंग आ गये। जब यह सहारा छिन गया तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खड़ा किया था, वह लड़खड़ाने लगा।

दस वर्ष तक वह सम्राट् रहा और इन वर्षों में वह मार्के की चढ़ाइयां करता हुआ, और याद रखने लायक़ लड़ाइयां जीतता हुआ यूरोप के सारे महाद्वीप में दौड़ता फिरा। सारा यूरोप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा था जैसा उसके पहले और बाद में आजतक किसीका न हुआ। मारेंगो (यह लड़ाई १८०० ई० में हुई, जब उसने अपनी फौज के साथ स्वीज़रलैण्ड की बरफ़ से ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया), उल्म, आस्तरलित्स, यैना, ईलू, फ़्रीदलैंद, वाग्रम वग़ैरा, उसकी ज़मीन पर जीती हुई मशहूर लड़ाइयों के नाम हैं। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस वग़ैरा, सब उसके सामने भरभराकर गिर पड़े। स्पेन, इटली, निदरलैण्ड्स, राइन का कान्फेडरेशन कहलानेवाला जर्मनी का बड़ा हिस्सा, पोलैंड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत हो गये। पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य, जो बहुत दिनों से नाम के लिए रह गया था, अब बिल्कुल ख़तम हो गया।

यूरोप की बड़ी शक्तियों में से सिर्फ़ इंग्लैण्ड ही आफ़त से बच गया। इंग्लैण्ड को उसी समुद्र ने बचाया, जो नेपोलियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा। और समुद्र की दी हुई हिफ़ाज़त के सबब से इंग्लैण्ड उसका सबसे ज़बर्दस्त और कट्टर दुश्मन बन गया। मैं बतला चुका हूं कि किस तरह नेपोलियन की ज़िन्दगी के शुरू में ही नेल्सन ने नील नदी की लड़ाई में उसके जंगी बेड़े को तबाह कर दिया था। २१ अक्तूबर, १८०५ ई० को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर ट्रैफल्गर अन्तरीप के पास नेल्सन ने फ्रान्स और स्पेन के शामिल जंगी बेड़े पर और भी ज़बर्दस्त विजय हासिल की। इसी समुद्री लड़ाई के शुरू होने के पहले नेल्सन ने अपने बेड़े को यह मशहूर संदेश दिया था : "इंग्लैण्ड को आशा है कि हरेक आदमी अपना फ़र्ज़ अदा

करेगा।" नेल्सन तो विजय की घड़ी में मारा गया। लेकिन इस विजय ने, जिसे अंग्रेज़ लोग बड़े अभिमान से याद करते हैं और जिसकी यादगार लंदन के ट्रैफल्गर स्क्वायर में नेल्सन-मीनार के रूप में बनी हुई है, नेपोलियन के इंग्लैण्ड पर धावा बोलने के सपने को नष्ट कर दिया।

नेपोलियन ने यूरोप महाद्वीप के सारे बन्दरगाहों को इंग्लैण्ड के लिए रोक देने का हुक्म निकालकर इसका बदला लिया। इंग्लैण्ड का किसी तरह की भी आवा-जाई की मनाही कर दी गई और 'बनियों के राष्ट्र' इंग्लैड को इस तरह क़ाबू में लाने का इरादा किया गया। उधर इंग्लैड ने इन बन्दरगाहों की नाकाबन्दी कर दी और नेपोलियन के साम्राज्य व अमेरिका वग़ैरा दूसरे देशों के बीच होनेवाले व्यापार को रोक दिया। यूरोप में लगातार साज़िशें करके और नेपोलियन के दुश्मनों को और तटस्थ (ग़ैर-तरफदार राज्यों को दिल खोलकर सोना बांटकर इंग्लैंड ने नेपोलियन से लड़ाई लड़ी। इस काम में उसे यूरोप के कई बड़े-बड़े मालदार घरानों से, ख़ासकर रॉथ्सचाइल्ड घराने से बड़ी मदद मिली।

इंग्लैंड ने नैपोलियन के खिलाफ़ एक और भी तरीक़ा काम में लिया, जो प्रचार का था। हमला करने का यह नया ही ढंग था, लेकिन तबसे यह बहुत आम हो गया है। फ़ान्स के, और खासकर नेपोलियन के खिलाफ़ अख़बारों में आन्दोलन शुरू किया गया। तरह-तरह के लेख, पुस्तिकाएं, समाचार-पत्रिकाएं, नये सम्राट् का मखौल उड़ानेवाले कार्टून, और झूठी बातों से भरी हुई बनावटी संस्मरण लंदन से जारी होते थे और चोरी-छिपे फ्रान्स में दाख़िल कर दिये जाते थे। अख़बारों के ज़रिये झूठी बातों का प्रचार आजकल के युद्धों का बाक़ायदा अंग बन गया है। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध के दौरान में, युद्ध में भाग लेनेवाले सब देशों की सरकारों ने बड़ी बेहयाई के साथ अजीब-से-अजीब झूठी बातें फैलाईं और मालूम होता है इनको गढ़ने और प्रचार करने की कला में इंग्लैंड आसानी से सबसे आगे रहा। उसे तो नेपोलियन के समय से अबतक एक सदी की लम्बी तालीम भी मिल चुकी थी। हम भारत के लोग अच्छी तरह जानते हैं कि किस तरह हमारे देश के बारे में सच्ची बातें दबा दी जाती हैं और यहां इंग्लैड में ऐसी झूठी बातों का प्रचार किया जाता है कि देखकर हैरत होती है!

: १०५ :

## नेपोलियन का कुछ और हाल

६ नवम्बर, १९३२

पिछले पत्र में हमने नेपोलियन की कहानी जहां छोड़ी है, वहीं से सिलसिला जारी रखना चाहिए।

नेपोलियन जहां कही गया वही वह अपने साथ फ़ान्स की राज्यक्रान्ति की कुछ बातें लेता गया और और जिन देशों को उसने जीता वहां लोग उसके आने से नाखुश नही हुए। वे लोग अपने बोदे और आधे सामन्ती शासकों से तंग आगये थे, जो उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नेपोलियन को बहुत मदद मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, सामंतशाही उसके सामने टूटकर गिरने लगी। जर्मनी में तो खासतौर पर सामंतशाही का सफ़ाया हो गया। स्पेन में उसने इनक्विजिशन का अन्त कर दिया। लेकिन राष्ट्रीयता की जिस भावना को उसने अनजान में पैदा किया था, वही उलटकर उसके पीछे पड़ गई और अन्त में इसीने उसे परास्त कर दिया। वह पुराने बादशाहों और सम्राटों को नीचा दिखा सकता था, लेकिन अपने खिलाफ़ भड़के हुए सारे राष्ट्र को नहीं। इस तरह स्पेन के लोग खिलाफ़ उठ खड़े हुए और वर्षों तक उसकी शक्ति और उसके साधनों को निचोड़ते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वॉन स्तीअन के नामक एक बड़े देशभक्त के झंडे के नीचे संगठित हो गये। यह नेपोलियन का कट्टर दुश्मन बन गया। जर्मनी में मुक्ति का संग्राम हुआ। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसे खुद नेपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री-शक्ति से मेल करके उसके पतन का सबब बन गई। लेकिन किसी भी सूरत में यह मुश्किल था कि सारा यूरोप तानाशाह को बर्दाश्त कर लेता, या शायद खुद नेपोलियन की ही बात सही थी, जो उसने बाद में कही थी: "मेरे पतन का दोष मेरे सिवा किसीपर नहीं है। मै खुद ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन रहा हूं, और जो गाज मुझपर गिरी उसका कारण भी मै खुद ही हूं।"

इस अद्भुत प्रतिभावाले व्यक्ति में कमजोरियां भी बहुत ही अनोखी थीं। उसमें हमेशा कुछ नई नवाबी का ठाठ रहा और उसके दिल में यह अजीब लालसा रही कि पुराने और बोदे बादशाह और सम्राट् उससे बराबरी का बर्ताव करें। उसने अपने भाई-बहनों को बड़े भद्दे तरीक़े से बढ़ाया, हालांकि वे बिलकुल नालायक़ थे। ल्यूशन ही एक लायक भाई था, जिसने १७९९ ई० के राजनैतिक धड़ाके के दौरान में एक संकट की घड़ी में नेपोलियन की सहायता की थी, लेकिन बाद मे वह खटपट हो जाने के कारण इटली में जाकर बस गया। दूसरे भाइयों को, जो घमंडी और बेबकूफ थे, नेपोलियन ने कहीं का राजा और कहीं का शासक बना दिया। अपने कुटुम्ब को आगे बढ़ाने की उसमें एक अजीब और बेहूदा धुन थी। जब उसपर मुसीबत पड़ी तो इनमें से क़रीब-क़रीब सबने उसे धोखा दिया और उससे किनाराकशी की। नेपोलियन को अपना राजवंश कायम करने की भी बड़ी चाह थी। अपने जीवन के शुरू में, इटली पर चढ़ाई करने और नामी होने से पहले ही उसने जोज़ेफ़ीन दे बोहार्नाई नामक एक सुन्दर लेकिन चंचल औरत से विवाह कर लिया था। जब उससे कोई संतान न हुई तो नेपोलियन को बड़ी निराशा हुई, क्योंकि उसके दिल में तो राजवंश चलाने की लालसा थी। बस उसने

जोज़ेफीन को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री से विवाह करने का इरादा कर लिया, हालां-कि जोज़ेफ़ीन से वह प्रेम करता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्रांड-डचैस से विवाह करने की थी, लेकिन ज़ार ने इसकी इजाजत नहीं दी। नेपोलियन भले ही लगभग सारे यूरोप का स्वामी हो, लेकिन रूस के शाही खानदान में विवाह का ऊंचा हौसला करना ज़ार की राय में कुछ गुस्ताख़ी की बात थी ! तब नेपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट् को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइसी का विवाह उसके साथ करदे। उसकी कोख से एक लड़का पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ़ और मूर्ख थी और उसे बिलकुल नहीं चाहती थी और नेपोलियन के लिए वह बहुत बुरी पत्नी साबित हुई। जब नेपोलियन पर आफ़त आई तो वह उसे छोड़कर भाग गई और उसे बिलकुल ही भूल गई।

बड़े अचम्भे की बात है कि यह व्यक्ति जो कई बातों में अपनी पीढ़ी के लोगों से बहुत ऊंचा था, बादशाहत के पुराने विचारों से पैदा होनेवाली थोथी तड़क-भड़क का शिकार हो गया ! और फिर भी बहुत बार, वह क्रान्ति की-सी बातें करता था और इन बोदे बादशाहों का मखौल उड़ाया करता था। उसने क्रान्ति और नई व्यवस्था से जान-बूझकर पीठ मोड़ ली थी; पुरानी व्यवस्था न तो उसके अनुकूल थी और न उसे अपनाने के लिए तैयार थी। इसलिए इन दोनों के बीच उसका पतन हो गया।

धीरे-धीरे फ़ौजी नामवरी की इस ज़िन्दगी का दुखभरा अन्त होता है, जो होना ही था। ख़ुद उसके ही कुछ मंत्री दग़ाबाज हो जाते हैं और उसके खिलाफ़ साजिशें क़रते हैं; तैलीरैंद रूस के ज़ार से मिलकर साज़िश करता है और फ़्यूशे इंग्लैंड से मिलकर। नेपोलियन उनकी दग़ाबाज़ी पकड़ लेता है, लेकिन फिर भी, ताज्जुब है कि उनकी सिर्फ़ लानत-मलामत करके उन्हें मंत्रियों के पद पर रहने देता है ! बर्नादोत नामक एक सेनापति उसके खिलाफ़ हो जाता है और उसका कट्टर दुश्मन बन जाता है। माता और भाई ल्यूशन के सिवा उसके कुटुम्ब के सारे लोग बद-माशियां करते चले जाते हैं और उसकी जड़ भी काटते रहते हैं। फ़्रान्स में भी बेचैनी बढ़ती चली जाती है और उसकी तानाशाही बड़ी कठोर और बेदर्द हो जाती है और कितने ही लोग बिना मुक़दमे के जेलों में डाल दिये जाते हैं। उसका सितारा साफ़तौर पर नीचे गिरता हुआ मालूम होता है और तालाब को सूखता देख कर बहुत-सी मछलियां उसे छोड़ जाती हैं। उम्र ज्यादा न होने पर भी वह शरीर से और दिमाग़ से कमज़ोर होता जाता है। ठेठ लड़ाई के बीच में कभी-कभी उसके पेट में वायु गोले का दर्द उठ खड़ा होता है। सत्ता भी उसे भ्रष्ट कर देती है। पुरानी चतुराई तो उसमें मौजूद है, लेकिन अब उसकी चाल भारी पड़ जाती है। वह अक्सर

आगा-पीछा सोचने में रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फ़ौजें भी पहले से ज्यादा भारी-भरकम हो गई हैं।

१८१२ ई० में एक ज़बर्दस्त फ़ौज के साथ वह रूस पर चढ़ाई करने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालों को हरा देता है और बिना ज्यादा लड़ाई के आगे बढ़ता चला जाता है। रूस की फ़ौजें लगातार पीछे हटती चली जाती हैं और लड़ने के लिए सामने नहीं आतीं। नेपोलियन की 'ग्रान्ड आर्मी' उनकी बेकार तलाश करती-करती अन्त में मॉस्को पहुंच जाती है। ज़ार तो घुटने टेकने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन दो व्यक्ति, एक तो फ़ान्सी-बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना सहयोगी और सेनापति, और दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियों का नेता बैरन वॉन स्तीन जिसे नेपोलियन ने बाग़ी ऐलान कर दिया था, ज़ार को ऐसा करने से रोक देते हैं। रूसी लोग दुश्मन को धुएं से भगा देने के लिए अपने प्यारे मॉस्को शहर में ही आग लगा देते हैं। जब मॉस्को के जलने की खबर सेंटपीटर्सबर्ग पहुंचती है तो स्तीन, जो उस वक्त खाना खा रहा था, अपना शराब का प्याला उठाकर कहता है: "इससे तीन-चार बार पहले भी मैं अपना सामान गंवा चुका हूं। हमें ऐसी चीज़ों को फेंक देने का अभ्यासी बन जाना चाहिए। चकि हमें मरना तो है ही, इसलिए हमको बहादुरी दिखानी चाहिए!"

सर्दी का मौसम शुरू हो रहा है। नेपोलियन जलते हुए मॉस्को को छोड़कर फ़ान्स लौटने का फैसला करता है। 'ग्रान्ड आर्मी' बर्फ़ में होकर थकी-मांदी धीरे-धीरे वापस घिसटती है। उधर रूस के क़ज्ज़ाक, जो बराबर उसके दोनों ओर व पीछे-पीछे लगे हुए हैं, उसपर हमले करते हैं और छापे मारते हैं और पिछड़ जाने-वालों को मौत के घाट उतार देते हैं। कड़ी सरदी और क़ज्ज़ाक, दोनों मिलकर हज़ारों जानें ले लेते हैं और 'ग्रान्ड आर्मी' भूतों का-सा जुलूस बन जाती है, जिसमें सब लोग पैदल, फटेहाल, पावों में छाले पड़े हुए और ठंड से गले हुए, थकावट से लड़खड़ाते हुए चलते हैं। अपने गोलन्दाज़ों के साथ नेपोलियन को भी पैदल चलना पड़ता है। यह यात्रा बड़ी भयंकर और दिल तोड़नेवाली साबित होती है और वह ज़बर्दस्त फ़ौज कम होती-होती अन्त में क़रीब-क़रीब ग़ायब हो जाती है। सिर्फ़ मुट्ठी-भर लोग वापस लौट पाते हैं।

रूस की यह चढ़ाई ज़बर्दस्त चोट साबित हुई। इसने फ़ान्स की जन-शक्ति को खतम कर दिया और उससे भी ज्यादा यह हुआ कि इससे नेपोलियन पर बुढ़ापा छा गया; चिन्ताओं ने उसे पस्त कर दिया और वह लड़ाई-झगड़ों से ऊब गया। लेकिन फिर भी उसे चैन से नहीं बैठने दिया गया। दुश्मनों ने उसे घेर लिया और हालांकि अभी तक वह फतह हासिल करनेवाला चतुर सेनानायक था, लेकिन

फंदा अब धीरे-धीरे कसने लगा। तैलीरंद की साज़िशें बढ़ने लगीं और नेपोलियन के कुछ भरोसेदार मार्शल तक भी उसके ख़िलाफ़ हो गये। अन्त मे उकताकर और तंग आकर नेपोलियन ने अप्रेल, १८१४ ई० में गद्दी छोड़ दी।

नेपोलियन के रास्ते से हटते ही यूरोपीय शक्तियों की एक बड़ी कांग्रेस यूरोप का नया नकशा तय करने के लिए वियेना में की गई। नेपोलियन को भूमध्य सागर के एक छोटे-से टापू एल्बा में भेज दिया गया। बोर्बन राजवंश का एक और लुई, जो गिलोतीन पर मारे गये लुई का भाई था, जहां कहीं छिपा पड़ा था वहीं से निकालकर लाया गया और अठारहवें लुई के नाम से फ़ान्स की राजगद्दी पर बिठाया गया। इस तरह बोर्बन फिर वापस आगये और उनके साथ बहुत-सी पुरानी जालिमशाही भी वापस आगई। बास्तील के पतन से लगातार अबतक पच्चीस वर्ष के सारे दिलेर कारनामों का बस यह अन्त हुआ! वियेना में बादशाह लोग और उनके मंत्री लोग आपस में बहसें करते और लड़ते-झगड़ते थे, और जब इन बातों से फुरसत पाते तो मौज उड़ाते थे। उन्होंने अब आराम की सांस ली। एक बड़ी भारी दहशत दूर हो गई थी और वे लोग खुलकर सांस ले सकते थे। नेपोलियन के साथ ग़द्दारी करनेवाला देश-द्रोही तैलीरंद बादशाहों और मन्त्रियों की इस भीड़ में बड़ा लोकप्रिय था और कांग्रेस में उसने बड़ा भारी भाग लिया। कांग्रेस में एक दूसरा मशहूर कूटनीतिज्ञ मैतरनिख था, जो आस्ट्रिया का पर-राष्ट्र-मंत्री था।

एक वर्ष से कम समय में ही नेपोलियन तो एल्बा से तंग आगया और फ़ान्स बोर्बनों से। वह किसी तरह एक छोटी-सी नाव में वहां से भाग निकला और २६ फ़रवरी, १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर कॅन्स नामक जगह में किनारे पर आ लगा। किसानों ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया। उसके ख़िलाफ़ भेजी गई फ़ौजों ने जब अपने पुराने सेनापति 'पेतित कार्पोरल' को देखा तो उन्होंने सम्राट् ज़िन्दाबाद' का नारा लगाया और उससे मिल गईं। बस, वह पैरिस पहुंचा और बोर्बन बादशाह जान बचाकर भाग गया। लेकिन यूरोप की बाक़ी सब राजधानियों में दहशत और घबड़ाहट फैल गई। वियेना में, जहां कांग्रेस अभी तक लस्टम-पस्टम चल रही थी, नाच-गान और दावतें एकदम बन्द हो गये। सबके ऊपर आनेवाले इस ख़तरे से सारे बादशाह और मंत्री अपने आपसी झगड़ों-टंटों को भूल गये और उनका सारा ध्यान नेपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के एक ही काम की तरफ़ लग गया। बस सारे यूरोप ने उसके ऊपर धावा बोल दिया। लेकिन फ़ान्स तो लड़ाइयों से उकता गया था। और नेपोलियन, जो अभी छियालीस वर्ष का ही था, और जिसे उसकी स्त्री मेरी लुइ तक छोड़ भाग गई थी, अब एक थका हुआ बूढ़ा था। कुछ लड़ाइयों में उसकी जीत हुई, लेकिन अन्त में, फ़ान्स में उतरने के ठीक सौ

दिन बाद, वेलिंगटन[1] और ब्लूख़ार[2] के मातहत अंग्रेज़ी और प्रशियाई फ़ौजों ने ब्रसेल्स नगर के पास वाटरलू में उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है। वाटरलू की लड़ाई में दोनों तरफ़ करारा मुकाबला था और यह बतलाना कठिन था कि जीत किसकी होगी। नेपोलियन की क़िस्मत बुरी निकली। उसके लिए इस लड़ाई में विजय हासिल करना बहुत सम्भव था, लेकिन अगर वह जीत भी जाता तो कुछ दिन बाद उसे सारे संगठित यूरोप के आगे घुटने टेकने पड़ते। अब चूंकि वह हार चुका था, इसलिए उसके बहुत-से मददगारों ने उसके खिलाफ होकर अपनी जानें बचानी चाहीं। अब लड़ना बेकार था, इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड़ दी और फ्रान्स के एक बन्दरगाह में पड़े हुए एक अंग्रेज़ी जहाज़ पर जाकर अपने-आपको यह कहकर उसके कप्तान के हवाले कर दिया कि वह शान्ति के साथ इंग्लैंड में रहना चाहता है।

लेकिन अगर वह इंग्लैण्ड या यूरोप से उदार और भद्र बर्ताव की उम्मीद रखता था, तो यह उसकी भूल थी। ये उससे बहुत ज़्यादा डरे हुए थे और एल्बा से उसके निकल भागने से वे खूब समझ गये थे कि उसे बहुत दूर और कड़े पहरे में रक्खा जाना ज़रूरी है। इसलिए उसके विरोध करने पर भी उसे क़ैदी क़रार दिया गया और कुछ साथियों के साथ दक्षिण अतलांतिक महासागर के सुदूर टापू सेंट हेलेना में भेज दिया गया। वह 'यूरोप का क़ैदी' माना गया और कई राष्ट्रों ने सेन्ट हेलेना में उसपर निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन उसपर निगरानी रखने की पूरी ज़िम्मेदारी असल में इंग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग उस सुदूर टापू में भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-ख़ासी फौज रक्खी गई। उस समय वहां के रूसी कमिश्नर काउन्ट बालमेन ने सेंन्ट हेलेना की इस एकान्त चट्टान के बारे में लिखा है कि यह "संसार की वह जगह है, जो सबसे ज़्यादा उदास, सबसे ज़्यादा अलग, सबसे ज़्यादा पहुंच से बाहर, बचाव के लिए सबसे ज़्यादा आसान, हमले के लिए सबसे ज़्यादा मुश्किल, और सबसे कम माफ़िक आनेवाली ··· है।" इस टापू का अंग्रेज़ गवर्नर एक बिलकुल उजड्ड और जंगली व्यक्ति था और वह नेपोलियन के साथ बड़ा गन्दा बर्ताव करता था। उसे टापू के

---

**[1]ड्यूक आफ़ वेलिंगटन (१७६९–१८५२)। यह हिन्दुस्तान के गवर्नर लार्ड वैलजली का छोटा भाई आर्थर वैलज़ली था, जिसने उस ज़माने में हिन्दुस्तान में भी कई लड़ाइयां जीती थीं। १८२८ ई० में यह इंग्लैण्ड का प्राइम मिनिस्टर भी रहा था।**

**[2]प्रशिया का सेनापति (१७४२–१८१९)। इसने फ्रान्स में कई बार नेपोलियन को हराया था। इसकी मदद के बिना वेलिंगटन के लिए वाटरलू का युद्ध जीतना असम्भव था।**

सबसे ज्यादा खराब हिस्से में एक बहुत बुरे मकान में रक्खा गया और उसपर व उसके साथियों पर तरह-तरह की खिजानेवाली पाबन्दियां लगा दी गई। कभी-कभी तो उसे पेट भर के अच्छा खाना भी नहीं मिलता था। उसे यूरोप में रहनेवाले मित्रों से पत्र-व्यवहार नहीं करने दिया जाता था, यहांतक कि अपने नन्हे पुत्र से भी नहीं, जिसे अपनी सत्ता के दिनों में उसने रोम के बादशाह की उपाधि दी थी। पत्र-व्यवहार तो क्या, उसके पुत्र की खबर तक उसके पास नहीं पहुंचने दी जाती थी।

यह अचम्भे की बात है कि नेपोलियन के साथ कैसा कमीना बर्ताव किया गया! लेकिन सेन्ट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ़ अपनी सरकार का औज़ार था, और मालूम होता है कि अंग्रेज़ सरकार की जान-बूझकर यह नीति थी कि क़ैदी के साथ बुरा बर्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। यूरोप की दूसरी शक्तियां इससे सहमत थीं। नेपोलियन की माता बूढ़ी होने पर भी सेंन्ट हेलेना में अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी, लेकिन इन बड़ी शक्तियों ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता! नेपोलियन के साथ जो कमीना बर्ताव किया गया, वह उस ख़ौफ़ का माप था, जो अभी तक यूरोप में उसके नाम से फैला हुआ था, हालांकि उसके पैर काट दिये गए थे और वह एक बहुत दूर के टापू में बेबस होकर पड़ा था।

साढ़े पांच वर्ष तक उसने सेन्ट हेलेना में यह ज़िन्दा मौत बर्दाश्त की। छोटी-सी चट्टान के उस टापू में पिंजरा-बन्द होकर और रोज़ कमीनी ज़िल्लतें उठाकर, ज़बर्दस्त जीवट और ऊंचे हौसलेवाले इस व्यक्ति ने जो तकलीफ़ें उठाई होंगी, उनकी कल्पना करना मुश्किल नहीं है।

नेपोलियन मई, १८२१ ई० में मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की नफ़रत उसके पीछे पड़ी रही और उसके लिए एक बहुत बुरी क़ब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे नेपोलियन के साथ किये गए बुरे बर्ताव और अत्याचार की ख़बर जैसे ही यूरोप पहुंची (उन दिनों ख़बरें बहुत देर में पहुंचा करती थीं) वैसे ही उसके खिलाफ़ इंग्लैण्ड समेत बहुत-से देशों में शोर मच गया। इंग्लैण्ड का पर-राष्ट्रमंत्री केसलरे, जो इस बुरे बर्ताव के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार था, इस वजह से, और अपनी कठोर घरू-नीति की वजह से बहुत बदनाम हो गया। उसे इसका इतना पछतावा हुआ कि उसने आत्महत्या कर ली।

महान और ग़ैर-मामूली, व्यक्तियों को आंकना मुश्किल होता है; और कोई शक नहीं है कि नेपोलियन अपनी तरह का एक महान और अनोखा व्यक्ति था। वह एक बवंडर जैसा था, मानो कुदरत का कोई ज़ोर हो। विचारों और कल्पनाओं से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शों और बेगरज़ी भावनाओं के मूल्यों की क़दर नहीं करता था। वह लोगों को कीर्त्ति और दौलत देकर वश में करने की

और उनपर अपना असर डालने की कोशिश करता था। इसलिए जब कीर्त्ति और सत्ता का यह भंडार खाली हो गया, तो जिन लोगों को उसने बढ़ाया था उन्हींको अपना बनाये रखने के लिए उसके पास कोई आदर्श व इरादे नहीं रहे। इसलिए बहुत-से उसे कमीनेपन के साथ दग़ा दे गये। मज़हब को तो वह ग़रीबों और दुखियों को उनकी कम्बख़्ती पर तसल्ली देनेवाला एक ज़रिया समझता था। ईसाइयत के बारे में उसने एक बार कहा था, "मैं ऐसे मज़हब को कैसे क़बूल कर सकता हूं जो सुक़रात और अफ़लातून की निन्दा करता है।" जब वह मिस्र में था, उसने इस्लाम की तरफ़ रुझान इसीलिए दिखलाया था कि उसके विचार से शायद ऐसा करने से वहां वह लोकप्रिय हो जाय। वह निपट ग़ैर-मज़हबी था, लेकिन फिर भी मजहब को बढ़ावा देता था। क्योंकि वह इसे उस समय की समाजी व्यवस्था की थूनी समझता था। वह कहता था, "मज़हब ने स्वर्ग के साथ बराबरी की भावना का विचार जोड़ रक्खा है, जो ग़रीबों को धनवानों की हत्या करने से रोकता है। मज़हब का वही उपयोग है, जो चेचक के टीके का। वह चमत्कारों के लिए हमारी रुचि को खूराक देता है और हमें नीम-हकीमों से बचाता है . . .। संपत्ति की असमानता से ही समाज टिकता है और सम्पत्ति की असमानता बिना मज़हब के ठहर नहीं सकती थी। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका पड़ोसी ज़ायकेदार भोजनों की दावत उड़ा रहा है, उसे तसल्ली देनेवाली एक बात तो है आसमानी सत्ता में विश्वास और दूसरा यह विश्वास कि परलोक में माल का बटवारा दूसरे ही ढंग से होगा।" सुनते हैं, अपनी ताक़त के घमंड में उसने कहा था—"अगर आकाश हमारे ऊपर गिरने लगे तो हम उसे अपने भालों की नोकों पर रोक लेंगे।"

उसमें महान व्यक्तियों की-सी आकर्षण-शक्ति थी और उसने बहुत-से लोगों की वफ़ादार दोस्ती हासिल कर ली थी। अकबर की तरह उसकी निगाह में आकर्षण था। एक बार उसने कहा था—"मैंने तलवार बहुत कम खींची है। मैंने लड़ाइयां अपनी आंखों से जीती हैं, हथियारों से नहीं।" जिस आदमी ने सारे यूरोप को युद्ध में फंसा दिया, उसके मुंह से ये शब्द विचित्र मालूम होते हैं! बाद में, जबकि वह देश-निकाले में था, उसने कहा था कि ज़ोर-ज़बर्दस्ती करना कोई इलाज नहीं है और मनुष्य की आत्मा तलवार से भी ज़ोरदार है। उसने कहा था—"तुम जानते हो, मुझे सबसे ज़्यादा अचंभा किस बात पर होता? इस बात पर कि किसी चीज़ का संगठन ज़बर्दस्ती के ज़ोर पर नहीं किया जा सकता। दुनिया में सिर्फ़ दो ही ताक़तें हैं—एक तो आत्मा और दूसरी तलवार। बहुत दूर चलकर आत्मा सदा तलवार पर विजय हासिल करेगी।" लेकिन बहुत दूर जाना उसके लिए नहीं बदा था। वह तो जल्दी में था, और अपनी जिन्दगी के शुरू में ही उसने तलवार का रास्ता चुन लिया था; तलवार से ही उसने विजय पाई और तलवार ही उसके

में राज करना नहीं लिखा था। नेपोलियन की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद वह जवानी में ही वियेना में मर गया।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग़ में तब आये जब वह देश-निकाले में था और जब उसकी अक़्ल ठिकाने आ गई थी। या शायद उसने आगे के लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के दिनों में वह इतना ज्यादा क्रियाशील आदमी था कि उसे दार्शनिक बनने की फुरसत नहीं थी। वह तो सत्ता की वेदी पर पूजा करता था; उसका सच्चा और अकेला प्रेम सत्ता से था और वह उससे भोंडे तौर पर नहीं बल्कि एक कलाकार की तरह प्रेम करता था। उसने कहा था—"मैं सत्ता से प्रेम करता हूं, हां, प्रेम करता हूं, लेकिन उस तरह जैसे एक कलाकार करता है; जैसे फिड्ल[1] बजानेवाला अपनी फिड्ल से करता है ताकि उसमें से चमत्कारी राग, स्वर और स्वर-लहरियां पैदा करे।" लेकिन बहुत ज़्यादा सत्ता की लालसा खतरनाक होती है और जो व्यक्ति या राष्ट्र इसके पीछे पड़ते हैं, उनका कभी-न-कभी पतन और नाश हो ही जाता है। बस नेपोलियन का भी अन्त हो गया, और यह अच्छा ही हुआ।

इधर फ़्रान्स में बोर्बन राज कर रहे थे। लेकिन यह कहा जाता है कि बोर्बनों ने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातों को भूले। नेपोलियन के मरने के नौ साल बाद फ़्रान्स उनसे तंग आ गया और उसने उन्हें उखाड़ फेंका। एक दूसरी राजशाही क़ायम हुई और नेपोलियन की यादगार पर इज्ज़त ज़ाहिर करने के लिए उसकी मूर्ति, जो वान्दोम मीनार के ऊपर से हटा दी गई थी, फिर वहीं रखदी गई। नेपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढ़ापे में अन्धी हो गई थी, कहा—"सम्राट् एक बार फिर पेरिस लौट आया है।"

: १०६ :

# संसार का सिंहावलोकन

१९ नवम्बर, १९३२

इस तरह नेपोलियन दुनिया के रंगमंच से, जिसपर वह इतने दिनों से हावी हो रहा था, बिदा हुआ। इस बात को एक सदी से ज़्यादा वक़्त हो चुका है, और बहुत-से पुराने विवाद ठंडे पड़ चुके हैं। लेकिन, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, नेपोलियन के बारे में अभी तक लोगों में बड़ा मतभेद है। अगर वह किसी दूसरे ज्यादा शान्ति के ज़माने में पैदा हुआ होता तो एक नामी सेनापति

---

[1] सारंगी की तरह का एक बाजा, जिसे वायोलीन भी कहते हैं।

से ज़्यादा कुछ न होता, और वह लोगों की नज़र में आये बिना ही चल बसा होता। लेकिन क्रान्ति और परिवर्तन ने उसे आगे बढ़ने का मौक़ा दिया, और उसने भी इससे पूरा लाभ उठाया। उसके पतन से और यूरोपीय राजनीति के मैदान से हट जाने से यूरोपवासियों को बड़ी राहत मिली होगी, क्योंकि वे लोग युद्धों से उकता गये थे। पूरी एक पीढ़ी से उन्होंने सच्ची शान्ति के दर्शन नहीं किये थे, और वे उसके लिए तरस रहे थे। वर्षों से उसके नाम से थर्राते रहने-वाले बादशाहों और राजाओं को तो इससे जितनी राहत मिली होगी, उतनी किसी दूसरे को नहीं।

हमने फ़ान्स और यूरोप में बहुत वक़्त लगा दिया और अब हम उन्नीसवीं सदी में काफ़ी दूर तक आगे बढ़ आये हैं। आओ, अब हम दुनिया पर एक सरसरी नज़र डालें और देखें कि नेपोलियन के पतन के समय उसकी क्या हालत थी।

तुम्हें याद होगा कि यूरोप में पुराने बादशाह और उनके मन्त्री वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हुए थे। नेपोलियन का हौवा दूर हो गया था, और अब ये लोग अपना वही पुराना खेल खेल सकते थे और लाखों आदमियों के भाग्यों का अपनी मर्ज़ी के माफ़िक फ़ैसला कर सकते थे। न तो उन्हें इसकी कुछ परवाह थी कि लोग क्या चाहते हैं और न इस बात की कि कुदरती तौर पर और भाषा के लिहाज़ से किसी देश की सीमाएं क्या थीं। रूस का ज़ार, इंग्लैण्ड (प्रतिनिधि केसलरे), आस्ट्रिया (प्रतिनिधि मैतरनिख़) और प्रशिया, इस कांग्रेस में मुख्य शक्तियां थीं। और हां, चतुर, हाज़िर-जवाब और लोकप्रिय तैलीरेन्द भी, जो एक समय नेपोलियन का मंत्री रह चुका था, और अब फ़ान्स के बोर्बन बादशाह का मंत्री था। इन लोगों ने नाचों और दावतों से मिली फ़ुरसत में यूरोप के उस नक़शे को फिर नये सिरे से बदल डाला, जिसे नेपोलियन ने इतना बदल दिया था।

अठारहवां बोर्बन लुई फिर फ़्रान्स की गद्दी पर थोप दिया गया। स्पेन में इन्क्विज़िशन फिर से जारी कर दी गई। वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे हुए बाद-शाह गणराज्यों को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए उन्होंने हॉलैण्ड के पुराने डच गणराज्य को फिर से क़ायम नहीं किया। इसके बजाय उन्होंने हॉलैण्ड और बेल-जियम को मिलाकर निदरलैण्ड्स नामक राज्य बना दिया। पोलैण्ड की फिर कोई अपनी अलग हस्ती न रही; प्रशिया, आस्ट्रिया, और ख़ासकर रूस, उसे हड़प गये। वेनिस और उत्तरी इटली आस्ट्रिया को मिल गये। स्वीज़रलैण्ड और रिवेयरा के बीच का एक टुकड़ा फ़ान्स का, और एक टुकड़ा इटली का मिलाकर सार्डीनिया की रियासत बना दी गई। मध्य यूरोप में एक अजीब और धुंधला-सा जर्मन महा-संघ था, लेकिन प्रशिया और आस्ट्रिया ही उसकी दो प्रधान शक्तियां बनी रहीं। इनके अलावा और भी परिवर्तन हुए। इस तरह वियेना कांग्रेस के अक्लमंदों ने

यह व्यवस्था दी कि लोगों को उनकी मर्जी के खिलाफ़ जबर्दस्ती इधर-उधर बांट दिया, उन्हें ऐसी भाषा को बोलनें के लिए मजबूर किया, जो उनकी अपनी न थी, और इस तरह आमतौर पर भविष्य के झगड़ों और युद्धों के बीज बो दिये।

१८१४-१५ ई० की वियेना कांग्रेस का ख़ास विषय था बादशाहों की हैसियत को एकदम मज़बूत बनाना। फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति से वे बेहद दहल गये थे, इसलिए अब यह बेवक़ूफ़ी का ख्याल बना बैठे कि इन नये क्रान्तिकारी विचारों का फैलना रोक सकेंगे। रूस के ज़ार, आस्ट्रिया के सम्राट् और प्रशिया के बादशाह ने तो अपनी और दूसरे बादशाहों की हैसियत बचाने के लिए 'पवित्र मित्र-मंडल' नाम का एक गुट्ट तक बना लिया था। बिलकुल ऐसा मालूम होने लगा मानो हम फिर चौदहवें और पंद्रहवें लुई के ज़माने में पहुंच गये हैं। सारे यूरोप में, यहां-तक कि इंग्लैण्ड तक में, तमाम उदार विचारों को दबाया जाने लगा। यूरोप के प्रगतिशील विचारों के लोगों को यह देखकर कितनी निराशा हुई होगी कि फ़्रान्स की राज्यक्रान्ति की सख़्त तड़पन फ़िज़ूल गई!

यूरोप के पूर्व में तुर्की बहुत कमज़ोर हो गया था। वह धीरे-धीरे गिरावट की ओर जा रहा था। कहने को तो मिस्र तुर्की साम्राज्य में था, लेकिन असल में वह था आधा-स्वाधीन। १८२१ ई० में यूनान ने तुर्की शासन के खिलाफ़ विद्रोह किया और आठ वर्ष के युद्ध के बाद इंग्लैण्ड, फ़्रान्स और रूस की सहायता से आज़ादी हासिल करली। इसी युद्ध में अंग्रेज़ कवि बायरन यूनान की तरफ़ से एक स्वयं-सेवक की तरह लड़ता हुआ मारा गया था। उसने यूनान के बारे में कुछ बहुत ही सुन्दर कविताएं लिखी हैं, जिन्हें शायद तुम जानती भी हो।

यहां मैं दो राजनैतिक परिवर्तनों का भी ज़िक्र कर दूं, जो १८३० ई० में यूरोप में हुए। बोर्बन बादशाहों के दमन और अत्याचारों से तंग आकर फ़्रान्स ने उन्हें फिर निकाल बाहर किया। लेकिन गणराज्य के बजाय एक दूसरा बादशाह बिठा दिया गया। यह था लूई फ़िलिप, जिसने कुछ अच्छा, और किसी हद तक एक संवैधानिक बादशाह की तरह, बर्ताव किया। उसने १८४८ ई० तक किसी तरह राज चलाया और फिर एक दूसरा व पहले से भी ज्यादा बड़ा विस्फोट हो गया। बेलजियम में भी १८३० ई० में विद्रोह हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि बेलजियम और हॉलैण्ड अलग-अलग हो गये। यूरोप की बड़ी-बड़ी शक्तियां तो गणराज्य प्रणाली की ज़बर्दस्त विरोधी थीं ही, इसलिए उन्होंने एक जर्मन राजकुमार को बेलजियम की भेंट किया और उसे वहां का बादशाह बना दिया। एक और जर्मन राजकुमार यूनान का बादशाह बना दिया गया। मालूम होता है कि जर्मनी की ढेर सारी रियासतों में ऐसे राजकुमारों की हमेशा बहुतायत रहती

थी, जो किसी गद्दी के खाली होते ही मिल जाते थे। तुम्हें याद होगा कि इंग्लैण्ड का मौजूदा राजवंश जर्मनी की ही एक छोटी-सी रियासत हैनोवर से आया हुआ है।

१८३० ई० का साल यूरोप में व दूसरी कई जगहों—जर्मनी और इटली और ख़ासकर पोलैण्ड—में विद्रोहों का था। लेकिन बादशाहों ने इन विद्रोहों को कुचल दिया। पोलैण्ड में रूसियों ने बड़ी बेरहमी से दमन किया, यहांतक कि पोली भाषा का इस्तेमाल भी रोक दिया। १८३० ई० का यह साल, एक तरह से १८४८ ई० की भूमिका था और, जैसाकि आगे चलकर हम देखेंगे, यूरोप में यह वर्ष क्रान्ति का था।

इतना तो हुआ यूरोप के बारे में। अतलांतिक महासागर के उस पार संयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ़ फैल रहा था। वह यूरोप की आपसी लाग-डाटों और युद्धों से बहुत दूर था और उसके पास बेहद फालतू जमीन थी, इसलिए वह बड़ी तेज़ी से तरक़्क़ी करता हुआ यूरोप की बराबरी में आता जा रहा था। उधर दक्षिण अमेरिका में भी बड़े परिवर्तन हुए। सीधी तरह तो नहीं लेकिन हिरा-फिराकर ये नेपोलियन की वजह से हुए। जब नेपोलियन ने स्पेन जीता और अपने एक भाई को वहां की गद्दी पर बिठाया, तो दक्षिण अमेरिका के स्पेनी उपनिवेशों ने विद्रोह कर दिया। विचित्र बात है कि स्पेनी राजवंश के लिए अमेरिका के इन स्पेनी उपनिवेशों की वफादारी ही उनकी स्वाधीनता का सबब बनी। लेकिन यह तो एक उसी वक़्त का बहाना था। चाहे कुछ देर बाद ही सही, लेकिन उपनिवेशों का स्पेन से ज़रूर नाता टूटता; क्योंकि दक्षिण अमेरिका में सब जगह स्वाधीनता की भावना ज़ोर पकड़ रही थी। दक्षिण अमेरिका की स्वाधीनता का बड़ा नायक था साइमन बोलिवर जो 'देशोद्धारक' के नाम से मशहूर है। दक्षिण अमेरिका के बोलिविया गणराज्य का नाम उसीके नाम पर रखा गया है। इस तरह जब नेपोलियन का पतन हुआ तब स्पेनी अमेरिका स्पेन से कट चुका था और अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहा था। नेपोलियन के बिदा हो जाने से इस लड़ाई में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा और यह स्पेन की नई सरकार के ख़िलाफ़ कई वर्षों तक चलती रही। यूरोप के कुछ बादशाह अमेरिकी उपनिवेशों के क्रान्तिकारियों को दबाने में अपने दोस्त स्पेन के बादशाह की मदद करना चाहते थे। लेकिन संयुक्त राज्य ने इस तरह के दख़ल को बिलकुल रोक दिया। उस समय मुनरो संयुक्त राज्य का राष्ट्रपति था। उसने यूरोपीय शक्तियों को साफ़-साफ़ कह दिया कि अगर उन्होंने उत्तर या दक्षिण अमेरिका की किसी भी जगह टांग अड़ाई तो उन्हें संयुक्त राज्य से लोहा लेना पड़ेगा। इस धमकी ने यूरोपीय शक्तियों को डरा दिया और तबसे वे दक्षिण अमेरिका से बहुत-कुछ अलग

ही रही हैं। यूरोप को दी गई मुनरो की यह धमकी 'मुनरो सिद्धान्त'[१] के नाम से मशहूर है। इसने दक्षिण अमेरिका के नये गणराज्यों को बहुत वर्षों तक लालची यूरोप के चंगुल से बचाये रक्खा और उन्हें विकास करने का मौक़ा दिया। यूरोप से तो उनकी अच्छी तरह रक्षा हो गई, लेकिन रक्षा करनेवाले—संयुक्त राज्य–से उनको बचानेवाला कोई न था। आज उनपर संयुक्त राज्य का ही दबदबा है, और छोटे-छोटे गणराज्यों में बहुत-से तो बिलकुल उसीकी मुट्ठी में हैं।

ब्राज़ील का विशाल देश पुर्तगाल का उपनिवेश था। स्पेन के अमेरिकी उपनिवेश जिस समय स्वाधीन हुए लगभग उसी वक़्त यह भी स्वाधीन हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि १८३० ई० के आस-पास सारा दक्षिण अमेरिका यूरोप के पंजे से निकल गया। उत्तरी अमेरिका में अलबत्ता कनाडा अंग्रेज़ों का उपनिवेश था।

अब हम एशिया की तरफ़ आते हैं। इस समय अंग्रेज़ भारत में पूरी तरह सबसे ज़बर्दस्त शक्ति बन गये थे। जिस वक़्त यूरोप में नेपोलियनी युद्धों का घमासान चल रहा था, अंग्रेज़ों ने इधर अपनी हैसियत को मज़बूत बना लिया और जावा पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। मैसूर का टीपू सुलतान परास्त किया जा चुका था, और १८१९ ई० में मराठों की सत्ता भी बिलकुल उखाड़ फेंकी गई थी। हां, पंजाब में रणजीतसिंह के अधीन एक सिख रियासत थी। सारे भारत में अंग्रेज़ घुस-पैठ कर रहे थे और फैलते जा रहे थे। पूर्व में असम मिला लिया गया था, और अराकान—बर्मा–भी अगला निवाला बननेवाला था।

जबकि इधर भारत में अंग्रेज़ बढ़ रहे थे, उधर मध्य-एशिया में एक दूसरी यूरोपीय शक्ति—रूस आगे बढ़ रहा था। पूर्व में प्रशान्त महासागर तक और चीन तक तो वह पहुंच ही चुका था। अब यह मध्य-एशिया की छोटी-छोटी रियासतों को कुचलता हुआ ठेठ अफ़ग़ानिस्तान की सीमा तक आ गया था। भारत के अंग्रेज़ इस रूसी दैत्य को अपनी तरफ़ आता देख इतने डर गये कि घबराहट में, बिना रत्ती भर हीले-बहाने के ही, अफ़ग़ानिस्तान से युद्ध छेड़ बैठे। लेकिन इसमें उनको बुरी तरह मुंह की खानी पड़ी।

चीन में मंचुओं का राज था। व्यापार और मज़हब के नाम से आनेवाले विदेशियों की नीयत पर सन्देह करने की काफ़ी वजह होने से वे इन्हें रोकने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन विदेशी लोग चीन के दरवाज़े पर चिल्लाते-पुकारते और गड़बड़ी मचाते ही रहे, और अफ़ीम के व्यापार को ख़ासतौर पर बढ़ावा

---

[१] Munroe Doctrine.

देते रहे। ईस्ट इंडिया कम्पनी को ब्रिटिश-चीन के व्यापार का ठेका मिला हुआ था। चीनी सम्राट् ने चीन में अफ़ीम का आना रोक दिया, लेकिन चोरी-छिपे उसका आयात जारी रहा और विदेशी लोग इस तरह अफ़ीम का ग़ैरक़ानूनी व्यापार करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड से युद्ध छिड़ गया, जिसे 'अफ़ीम का युद्ध' ठीक ही कहा जाता है, और अन्त में अंग्रेज़ों ने चीन के लोगों को अफ़ीम खरीदने के लिए मजबूर कर दिया।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें बतलाया था कि १६३४ ई० में जापान ने अपने-आपको बिल्क़ुल बन्द कर लिया था। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक भी इस देश का दरवाज़ा सब विदेशियों के लिए बन्द था। लेकिन इसके बन्द परकोटे के अन्दर पुरानी शोगुनशाही कमज़ोर हो रही थी और नई हालतें पैदा हो रही थीं, जो पुरानी प्रणाली का एकदम खातमा करनेवाली थीं। दक्षिण-पूर्व एशिया के सुदूर दक्षिण में यूरोपीय शक्तियां ज़मीनों को हड़प करती जा रही थीं। फ़िलीपाइन द्वीप-समूह पर अभीतक स्पेनियों का क़ब्ज़ा बना हुआ था। अंग्रेज़ों और डचों ने पुर्तगालियों को वहां से मार भगाया था। वियेना की कांग्रेस के बाद डचों को जावा व दूसरे टापू वापस मिल गये। अंग्रेज़ सिंगापुर और मलाया प्रायद्वीप की तरफ़ फैलते जा रहे थे। अनाम, स्याम और बर्मा अभी तक स्वाधीन थे, हालांकि वे मौक़े-मौक़े पर चीन को खिराज दिया करते थे। मोटे तौर पर वाटरलू-युद्ध से १८३० ई० तक के पन्द्रह वर्षों के बीच दुनिया की राजनैतिक दशा इस तरह की थी। यूरोप साफ़ तौर पर दुनिया का मालिक बनता जा रहा था; और खुद यूरोप में पीछे लौटने की क्रिया ज़ोर पकड़ रही थी। सम्राटों और बादशाहों का, और इंग्लैण्ड की दकियानूसी पार्लमेण्ट तक का, यह खयाल बन गया था कि उन्होंने उदार विचारों को बिलकुल कुचल दिया है। उन्होंने इन विचारों को डिब्बे में बन्द कर देने की कोशिश की। लेकिन वे असफल ही रहे, और रह-रहकर विद्रोह होने लगे।

राजनैतिक परिवर्तन सारे क्षेत्र पर छाये हुए मालूम देते थे। लेकिन इनसे भी कहीं ज्यादा भारी बात थी उत्पादन, वितरण और आवागमन के तरीक़ों में क्रान्ति, जिसकी शुरुआत इंग्लैण्ड की उद्योगी क्रान्ति के साथ हुई। चुपचाप, लेकिन बिना किसी रोक-टोक के, यह क्रान्ति यूरोप और उत्तरी अमेरिका में फैल रही थी और करोड़ों मनुष्यों के नज़रियों और ढंगों को, और जुदा-जुदा वर्गों के आपसी सम्बन्धों को बदल रही थी। मशीनों की खटाखट में से नये-नये विचार निकलते जा रहे थे और एक नई दुनिया तैयार हो रही थी। यूरोप दिन-पर-दिन ज्यादा कार्य-कुशल और संग-दिल—ज्यादा लोभी, साम्राज्यवादी और बेदर्द बनता जा रहा था। नेपोलियन की आत्मा इसमें घर कर गई मालूम

होती थी। लेकिन यूरोप में भी ऐसे विचार पैदा हो रहे थे, जो आगे जाकर साम्राज्यवाद से टक्कर लेनेवाले और उसे उखाड़ फेंकनेवाले थे।

इस युग का साहित्य, काव्य और संगीत भी ऐसा है, जो चित्त को मोहित करता है। लेकिन मैं अपनी कलम को अब ज़्यादा दौड़ने न दूंगा। आज के लिए इसने काफ़ी काम कर लिया है।

## : १०७ :

## महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष

२२ नवम्बर, १९३२

नेपोलियन का पतन १८१४ ई० में हुआ; अगले साल वह एल्बा से लौटा और फिर उसकी हार हुई; लेकिन उसका सारा ढांचा १८१४ ई० में ही ढह चुका था। इसके ठीक सौ वर्ष बाद, १९१४ ई० में, महायुद्ध शुरू हुआ, जो लगभग सारी दुनिया में फैल गया और अपने चार वर्षों के समय में इसने ज़बर्दस्त तबाही और तकलीफ़ें पहुंचाईं। सौ वर्ष के इस काल पर हमें कुछ विस्तार के साथ विचार करना है। इस काल के शुरू में दुनिया की जैसी हालत थी, उसकी कुछ मोटी-मोटी बात मैं तुम्हें अपने पिछले पत्र में बतला चुका हूं। मैं समझता हूं कि अपने लिए यह मुनासिब होगा कि अलग-अलग देशों में इस सदी के अलग-अलग टुकड़ों की जांच करने से पहले कुल मिलाकर पूरी सदी पर एक निगाह डाल ली जाय। इस तरह शायद हमें इन सौ वर्षों की ख़ास-ख़ास हलचलों का ज़्यादा अच्छा ज्ञान हो जाय, और तब हम सारे दृश्य की सब चीज़ों को एक साथ देख सकें।

तुम्हें अपने-आप ही नज़र आ जायगा कि १८१४ से १९१४ ई० तक के ये सौ वर्ष ज़्यादातर उन्नीसवीं सदी में पड़े हैं। इसलिए अगर हम इन वर्षों को उन्नीसवीं सदी कहकर पुकारें तो कोई हर्ज नहीं है, हालांकि यह बिलकुल सही तो नहीं होगा।

उन्नीसवीं सदी एक दिलकश ज़माना है। लेकिन हमारे लिए उसका अध्ययन कोई आसान काम नहीं है। यह सामने फैला हुआ एक लम्बा-चौड़ा दृश्य है, एक बड़ा चित्र है, और चूंकि हम उसके इतने नज़दीक हैं, इसलिए वह हमें पहले की सदियों की बनिस्बत ज़्यादा बड़ा और ज़्यादा घना मालूम होता है। जब हम इस सदी को गूंथनेवाले हज़ारों धागों को सुलझाने की कोशिश करते हैं, तो इसका बड़ापन और इसकी पेचीदगी कभी-कभी तो हमको चकरा देती है।

यह सदी चमत्कारी मशीनी उन्नति की थी। औद्योगिक क्रान्ति के पीछे-पीछे मशीनी क्रान्ति आई, और मशीनें मनुष्य के जीवन में दिन-पर-दिन ज्यादा ज़रूरी होती गईं। मशीनों ने उससे बहुत ज्यादा काम कर दिखाया, जितना मनुष्य ने पहले किया था। उनसे मनुष्य के काम की मशक्क़त दूर हो गई, क़ुदरती ताक़तों पर उसका आसरा कम हुआ और उसके लिए दौलत पैदा होने लगी। विज्ञान ने बहुत ज्यादा सहायता दी और आवा-जाई व माल-ढुलाई के साधनों की रफ़्तार तेज़-पर-तेज़ होती चली गई। रेलगाड़ी आई और उसने घोड़ा-गाड़ियों की जगह ले ली; भाप के जहाज़ों ने हवा से चलनेवाले जहाज़ों की जगह ले ली, और उसके बाद आया ज़बर्दस्त और शानदार समुद्री जहाज़, जो एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को तेज़ रफ़्तार से और बिना नागा किये जाने आने लगा। इस सदी के अन्त में अपने-आप चलनेवाली गाड़ियां आईं और मोटरकारें तमाम दुनिया में फैल गईं। और सबके बाद आया हवाई जहाज़। इसी समय मनुष्य एक नये चमत्कार—बिजली—को काबू में करके अपने काम में लेने लगा और तार व टेलीफोन प्रकट हुए। इन बातों ने दुनिया का रूप बहुत बदल दिया। जैसे-जैसे संचार के साधनों का विकास हुआ और लोग दिन-पर-दिन ज्यादा तेज़ रफ़्तार से यात्रा करने लगे वैसे-ही-वैसे दुनिया सिकुड़ती हुई और छोटी होती हुई मालूम पड़ने लगी। आज तो हम इन सबके आदी हो गये हैं और इनपर ध्यान ही नहीं देते। लेकिन पुरानी बातों में ये सब सुधार और परिवर्तन हमारे इस जगत में नये आये हैं; ये सब पिछले सौ वर्षों में ही आये हैं।

साथ ही यह सदी यूरोप की, या यों कहो कि पश्चिमी यूरोप की, और खासकर इंग्लैण्ड की, सदी थी। औद्योगिक और मशीनी क्रान्तियां वहीं शुरू हुईं और आगे बढ़ीं, और इनके सबब से पश्चिमी यूरोप दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ गया। समुद्री शक्ति और उद्योग-धन्धों में इंग्लैण्ड सबसे आगे था; लेकिन पश्चिमी यूरोप के दूसरे देश धीरे-धीरे इसकी बराबरी पर आ पहुंचे। इस नई मशीनी सभ्यता के सहारे अमेरिका का संयुक्त राज्य भी आगे बढ़ चला और रेलों ने उसे पश्चिम की तरफ़ प्रशान्त महासागर तक पहुंचा दिया, और इस तरह इस विशाल देश को एक राष्ट्र बना दिया। यह अपनी ही समस्याओं में और अपना विस्तार करने में इतना ज्यादा फंसा हुआ था कि यूरोप व बाकी दुनिया की झंझटों की तरफ़ ध्यान देने की उसे फ़ुरसत ही न थी। लेकिन यूरोप के किसी भी तरह के दखल का विरोध करने और रोकने की उसमें काफ़ी ताक़त थी। 'मुनरो सिद्धान्त' ने, जिसके बारे में मैं तुम्हें अपने पिछले पत्र में लिख चुका हूं, दक्षिण अमेरिका के गणराज्यों को यूरोप की लालची निगाहों से बचा लिया। इन गणराज्यों की नींव स्पेनियों और पुर्तगालियों ने डाली थी, इसलिए ये लातीनी गणराज्य कहलाते हैं। ये दोनों देश, और इटली व फ़्रान्स, लातीनी राष्ट्र कहलाते

हैं। दूसरी तरफ़ यूरोप के उत्तरी देश टयूटानी हैं; इंग्लैण्ड टयूटनों[1] की ऐंग्लो सेक्सन शाखा है। संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग शुरू में इसी ऐंग्लो-सेक्सन नस्ल के थे, लेकिन बाद में तो सभी तरह के परदेसी वहां जा पहुंचे।

औद्योगिक और मशीनी मैदान में बाक़ी दुनिया पिछड़ी हुई थी और पश्चिम की नई मशीनी सभ्यता से होड़ नहीं कर सकती थी। पुराने कुटीर उद्योगों की बनिस्बत यूरोप के नये मशीन-उद्योगों से माल कहीं ज़्यादा तेज़ी के साथ और ज़्यादा बहुतायत से पैदा होने लगा। लेकिन इस माल को तैयार करने के लिए कच्चे माल की ज़रूरत थी, जो पश्चिमी यूरोप में नहीं मिलता था। साथ ही जब माल तैयार होता था, तो उसे बेचना भी ज़रूरी था, और इसलिए उसकी बिक्री के लिए हाट-बाज़ार ज़रूरी थे। इसलिए पश्चिमी यूरोप ऐसे मुल्कों की तलाश करने लगा तो उसे कच्चा माल दे सकें और उनका तैयार माल ख़रीद सकें। एशिया और अफ़्रीका कमज़ोर थे, इसलिए यूरोप उनपर भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ा। अपनी समुद्री-शक्ति और उद्योग-धन्धों में पहल के कारण इंग्लैण्ड साम्राज्य की दौड़ में सहज ही सबसे आगे रहा।

तुम्हें याद होगा कि गर्म मसाले और अपनी ज़रूरत की दूसरी चीज़ें खरीदने के लिए यूरोपवाले पहले-पहल भारत और पूर्व-एशिया में पहुंचे थे। इस तरह पूर्व का माल यूरोप में आया और साथ ही पूर्व के करघों का बना हुआ तरह-तरह का कपड़ा पश्चिम में पहुंचा। लेकिन अब मशीन के विकास से यह सिलसिला उलटा हो गया। पश्चिमी यूरोप का सस्ता माल पूर्व में पहुंचने लगा और अंग्रेज़ी माल की बिक्री को बढ़ावा देने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इरादा करके भारत के कुटीर उद्योगों की हत्या कर डाली।

यूरोप बड़े लम्बे-चौड़े एशिया पर जमकर बैठ गया। उत्तर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सारे महाद्वीप पर रूसी साम्राज्य पसर गया। दक्षिण में इंग्लैण्ड लूट के सबसे बड़े माल भारत पर मज़बूत शिकंजा जमाये बैठा था। पश्चिम में तुर्की साम्राज्य तीन-तेरह हुआ जा रहा था, और तुर्की का हवाला 'यूरोप का मरीज' कह कर दिया जाता था। नाम के स्वाधीन ईरान पर इंग्लैण्ड और रूस हावी थे। स्याम के एक छोटे-से टुकड़े को छोड़कर सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया—बर्मा, हिंदचीन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फ़िलीपाइन वगैरा—को यूरोप निगल चुका था। सुदूर पूर्व में यूरोप की सभी शक्तियां चीन को कुतर रही थीं और उससे एक के बाद दूसरी रियायतें ज़बर्दस्ती ऐंठी जा रही थीं।

---

[1] जर्मनी की एक प्राचीन आदि-वासी क़ौम।

सिर्फ़ जापान तना हुआ खड़ा रहा और बराबरी की हैसियत से यूरोप से मुक़ाबले में डटा रहा। वह अपने अलगाव से बाहर निकल आया था और उसने अद्भुत तेज़ी के साथ अपनेको नई हालतों के मुताबिक ढाल लिया था।

मिस्र के सिवा बाक़ी अफ़्रीका बहुत पिछड़ा हुआ था। वह यूरोप का कोई ज़ोरदार मुक़ाबला नहीं कर सकता था, इसलिए यूरोप की शक्तियां साम्राज्य की अंधी दौड़ में इसपर टूट पड़ीं, और इस विशाल महाद्वीप को बांट-कर खा गईं। इंग्लैण्ड ने मिस्र पर कब्ज़ा कर लिया, क्योंकि यह भारत के रास्ते में था, और फिर तो भारत पर कब्ज़ा जमाये रखने की लालसा ब्रिटिश नीति पर हावी हो गई। १८६९ ई० में स्वेज़ नहर खोली गई। इससे यूरोप और भारत के बीच का रास्ता बहुत छोटा हो गया। इस नहर के सबब से इंग्लैण्ड के लिए मिस्र की क़ीमत और भी बढ़ गई, क्योंकि वह नहर में गड़बड़ कर सकता था और इस तरह भारत के समुद्री-रास्ते पर उसका अधिकार था।

इस तरह, मशीनी क्रान्ति के नतीजे से सारी दुनिया में पूंजीवादी सभ्यता फल गई और यूरोप का दबदबा हर जगह क़ायम हो गया। इसलिए इस सदी को साम्राज्यवाद की सदी भी कह सकते हैं। लेकिन यह नया साम्राज्यवादी युग रोम और चीन, भारत और अरब, और मंगोलों की पुरानी साम्राज्यशाही से बहुत अलग ढंग का था। यह तो नये ढंग का साम्राज्य था, जो कच्चे माल और हाट-बाज़ारों का भूखा था। नया साम्राज्यवाद नये उद्योगवाद का बच्चा था। कहा जाता था कि "झण्डे के पीछे-पीछे व्यापार चलता है", और अक्सर करके बाइबिल के पीछे-पीछे झण्डा चल रहा था। मज़हब, विज्ञान, स्वदेश-प्रेम, सभी को एक ही उद्देश्य के लिए भ्रष्ट किया जा रहा था, यानी दुनिया की ज़्यादा कमज़ोर और उद्योगों के मैदान में ज़्यादा पिछड़ी हुई जातियों का शोषण करना ताकि बड़ी-बड़ी मशीनों के स्वामी और उद्योग-धन्धों के सरदार मालदार होते चले जायं। सत्य और प्रेम के नाम की दुहाई देनेवाला ईसाई मिशनरी अक्सर साम्राज्यवाद की चौकी का काम करता था, और अगर कहीं उसका कुछ बिगड़ जाता, तो उसका देश इसीको वहां की ज़मीन हड़पने का और ज़बर्दस्ती रियायतें ऐंठने का बहाना बना लेता था।

उद्योग और सभ्यता के पूंजीवादी संगठन से इस तरह के साम्राज्यवाद का पैदा होना लाज़िमी था। पूंजीवाद ने ही राष्ट्रीयता की भावना को गहरा किया, और इसलिए इस सदी को तुम राष्ट्रीयता की सदी भी कह सकती हो। यह राष्ट्रीयता सिर्फ़ स्वदेश-प्रेम ही नहीं थी, बल्कि दूसरे सब देशों से नफ़रत करनेवाली थी। अपनी ज़मीन के टुकड़े की शान के गीत गाने और दूसरों की हिक़ारत से निन्दा करने का यही नतीजा हो सकता था कि जुदा-जुदा देशों में

आपसी झगड़े और लड़ाइयां हों। यूरोप के देशों की उद्योगी और साम्राज्यवादी होड़ ने हालत को और भी बिगाड़ दिया। १८१४-१५ ई० की वियेना की कांग्रेस ने यूरोप का जो नक़शा तय किया था वह भी एक और खिजानेवाला कारण था। इस नक़शे में कुछ क़ौमों को दबा दिया गया था और उन्हें ज़बर्दस्ती दूसरी क़ौमों की हुकूमत के नीचे रख दिया गया था। एक राष्ट्र के रूप में पोलैण्ड की हस्ती नहीं रही थी। आस्ट्रिया-हंगरी ठोक-पीटकर बनाया हुआ साम्राज्य था, जिसमें तरह-तरह की कौमें रहती थीं, जो एक दूसरे से दिली नफ़रत रखती थीं। दक्षिण-पूर्व यूरोप के तुर्की साम्राज्य के बलकानी देशों में बहुत-सी ग़ैर-तुर्की कौमें थीं। इटली के टुकड़े करके बहुत-सी रियासतों में बांट दिया गया था, और उसका एक हिस्सा आस्ट्रिया के अधीन था। यूरोप के इस नक़शे को बदल डालने के लिए युद्धों और क्रान्तियों के ज़रिये बार-बार कोशिशें की गईं। अपने पिछले पत्र में मैंने इनमें से कुछका ज़िक्र किया है, जो वियेना के फ़ैसले के फ़ौरन ही बाद हुए थे। इस सदी के पिछले हिस्से में इटली ने अपने उत्तरी भाग से आस्ट्रिया का और मध्य-भाग से पोप का जुआ उतार फैंका और वह एक संगठित राष्ट्र बन गया। इसके थोड़े ही दिनों बाद प्रशिया के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण हुआ। जर्मनी ने फ़्रान्स को हराया और नीचा दिखाया और उसकी सरहद के दो प्रान्त आलसस और लारेन छीन लिये, और उसी दिन से वह बदला चुकाने के सपने देखने लगा। पचास वर्ष के भीतर-ही-भीतर खूनी और भयंकर बदला लिया जाने-वाला था।

दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ा हुआ होने की वजह से इंग्लैण्ड यूरोपीय देशों में सबसे ज्यादा भाग्यशाली था। सारी बढ़िया चीज़ें उसके क़ब्ज़े में थीं और वह उस समय की हालत से खूब राज़ी था। भारत नये ढंग के साम्राज्य का नमूना था और ऐसा दौलतमंद देश था कि जिसके शोषण से सोने की नदी लगातार इंग्लैण्ड को बहती रहती थी। भारत पर इंग्लैण्ड की इस हुकूमत को दूसरे सब साम्राज्य बनानेवाले डाह की नज़र से देखते थे। वे दूसरी जगहों में भारत के नमूने का साम्राज्य बनाने की सोचने लगे। फ़्रांसिसी तो किसी हद तक सफल भी हो गये; जर्मनी ज़रा देर से मैदान में आया, और उसके लिए अब कुछ भी नहीं बचा था। इस तरह दुनिया भर में इन यूरोपीय "महाशक्तियों" के बीच राज-नैतिक तनाव पैदा हो गया। हरेक शक्ति ज्यादा-से-ज्यादा देशों को हड़प जाने की कोशिश में थी, और इसी उधेड़-बुन में लगी हुई एक शक्ति दूसरी शक्ति से टक्कर खा जाती थी। ख़ासकर इंग्लैण्ड और रूस के बीच तो बराबर तना-तनी बनी रहती थी, क्योंकि इंग्लैण्ड के भारतीय साम्राज्य को मध्य-एशिया की ओर से रूस का ख़तरा मालूम पड़ता था। इसलिए इंग्लैण्ड हमेशा रूस को मात देने की कोशिश करता रहता था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में, जब रूस ने तुर्की को

हराकर कुस्तुन्तुनिया पर दांत लगाये, तो इंग्लैण्ड तुर्की की मदद के लिए मैदान में उतर आया और उसने रूस को पीछे खदेड़ दिया। तुर्की से कोई ख़ास प्रेम की वज़ह से इंग्लैण्ड ने ऐसा किया हो सो बात नहीं, बल्कि रूस का डर और भारत से हाथ धो बैठने का अन्देशा ही इसकी वजह थी।

जर्मनी, फ़ान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका धीरे-धीरे इंग्लैण्ड के बराबर आ पहुंचे, इसलिए उद्योगों में इंग्लैण्ड सबसे आगे रहने की हैसियत दिन-पर-दिन घटती गई। इस सदी के आखिरी दिनों में मामला तूल पकड़ने लगा था। यूरोप की इन शक्तियों के ऊंचे हौसलों को पूरा करने के लिए दुनिया बहुत छोटी थी। ये शक्तियां आपस में एक दूसरी से डरती थीं और नफ़रत व डाह करती थीं, और इसी डर और नफ़रत ने उन्हें अपनी फ़ौजों और जंगी-जहाजों की संख्या बढ़ाने के लिए मज़बूर किया। विनाश के इन साधनों के लिए बड़ी सरगर्मी से होड़ शुरू हुई। दूसरे मुल्कों से लड़ने के लिए अलग-अलग देशों में एक दूसरे से गठ-बंधन होने लगे और अन्त में यूरोप में दो तरह के गठ-बन्धन आमने-सामने खड़े हो गये—एक का मुखिया था फ्रान्स, जिसमें इंग्लैण्ड भी गुप्त रूप से शामिल था, और दूसरे का मुखिया बना जर्मनी। यूरोप एक फ़ौजी छावनी बन गया था। उद्योग-धन्धों, व्यापार और हथियारों में दिन-पर-दिन भयंकर लाग-डांट बढ़ती जा रही थी। हरेक पश्चिमी देश में धीरे-धीरे तंग राष्ट्रीयता की भावना जगाई जा रही थी, ताकि जनता को गुमराह करके उसमें पड़ौसी देशों के ख़िलाफ़ नफ़रत पैदा की जा सके और इस तरह उसे युद्ध के लिए तैयार रक्खा जा सके।

इस तरह अन्धी राष्ट्रीयता यूरोप पर हावी होने लगी। यह अजीब बात थी, क्योंकि आवा-जाई के साधनों की बढ़ती हुई रफ्तार अलग-अलग देशों को एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक ले आई थी और लोग भी बहुत ज़्यादा संख्या में जाने-आने लगे थे। ख़याल तो यह था कि जैसे-जैसे लोग अपने पड़ोसियों को ज़्यादा पहचानते जायंगे, उनकी तरफ़दारी कम होती जायगी और तंग ख़यालों के बजाय उनका नज़रिया चौड़ा हो जायगा। कुछ हद तक ऐसा हुआ ज़रूर, लेकिन इस नये उद्योगी पूंजीवाद में समाज का समूचा ढांचा ही ऐसा था कि उसने राष्ट्र-राष्ट्र, वर्ग-वर्ग और मनुष्य-मनुष्य में आपसी झगड़ा पैदा कर दिया।

पूर्व में भी राष्ट्रीयता बढ़ी। यहां इसका स्वरूप हुआ उन विदेशियों का डटकर मुक़ाबला करना, जो देश पर अधिकार जमाये हुए थे और उसका शोषण कर रहे थे। शुरू में पूर्वी देशों के बचे-खुचे पुराने सामन्तों ने विदेशी सत्ता का मुक़ाबला किया, क्योंकि उन्हें अपनी हैसियत छिन जाने का अन्देशा था। वे असफल रहे जैसा कि होना लाजिमी था। अब एक तरह के मज़हबी नज़रिये में रंगी हुई राष्ट्रीयता उठी। धीरे-धीरे यह मज़हबी रंग ग़ायब हो गया और पश्चिमी ढंग

की राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। जापान विदेशी हुकूमत से तो बच गया, लेकिन वहां एक ज़ोरदार आधी-सामन्ती राष्ट्रीयता को बढ़ावा दिया गया।

एशिया ने तो शुरू से ही यूरोपीय हमलों का डटकर मुकाबला शुरू कर दिया था। लेकिन जब उसे पता लगा कि यूरोपीय फ़ौजों के हथियार बहुत शक्ति-वाले और कारगर हैं, तो यह मुक़ाबला ठंडा पड़ गया। विज्ञान के विकास और मशीनी तरक्की ने इन यूरोपीय फ़ौजों को पूर्व की उस समय की फ़ौजों से बहुत ज्यादा शक्तिशाली बना दिया था। इसलिए पूर्वी देश उनके सामने अपनेको बिल-कुल बेबस महसूस करने लगे और उन्होंने निराश होकर यूरोप के सामने सिर झुका दिया। कुछ लोगों का कहना है कि पूर्व आत्मा पर ज़ोर देता है और पश्चिम दुनिया की चीजों पर। इस तरह का कथन बहुत भ्रम में डालनेवाला है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में, जिस समय यरोप हमलावर बनकर आया, उस समय पूर्व और पश्चिम का असली फ़र्क़ था पूर्व की मध्यकालीन हालत और पश्चिम की उद्योगी व मशीनी प्रगति। भारत और दूसरे पूर्वी देश शुरू-शुरू में सिर्फ़ यूरोप की फ़ौजी होशियारी से ही नहीं, बल्कि विज्ञान और उद्योगों में उसकी प्रगति से भी चौंधिया गये थे। इस सबके नतीजे से वे अपने-आपको फ़ौजी और उद्योगों के मामलों में गिरा हुआ महसूस करने लगे। लेकिन यह सबकुछ होते हुए भी राष्ट्रीयता पनपी और साथ ही विदेशी हमलों का विरोध करने और विदेशियों को निकाल बाहर करने की इच्छा ने भी ज़ोर पकड़ा। बीसवीं सदी के शुरू में ही एक घटना ऐसी घटी, जिसका एशिया के दिमाग़ पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। यह थी जापान का ज़ार-शाही रूस को हराना। छोटे-से जापान ने यूरोप की एक सबसे बड़ी और सबसे ज़बर्दस्त शक्ति को हरा दिया, इस बात ने बहुत लोगों को अचम्भे में डाल दिया; और पूर्व के लिए तो यह अचम्भा बहुत ही ख़ुशी का था। जापान को अब विदेशी हमलावरी के ख़िलाफ़ लड़नेवाला एशिया का प्रतिनिधि माना जाने लगा, और उस समय तो वह सारे एशिया में बहुत लोकप्रिय हो गया। पर वास्तव में जापान एशिया का ऐसा कुछ प्रतिनिधि था नहीं; वह तो यूरोप की किसी भी शक्ति की तरह सिर्फ़ अपने ही स्वार्थ के लिए लड़ा था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब जापान की जीतों की ख़बरें आती थीं, तो मुझमें कितना जोश भर जाता था। उस वक़्त मैं लगभग तुम्हारी ही उम्र का था।

इस तरह, जैसे-जैसे यूरोप का साम्राज्यवाद ज्यादा हमलावर होता गया, वैसे-ही-वैसे पूर्व में उसका जवाब देने और विरोध करने के लिए राष्ट्रीयता बढ़ती गई। पश्चिम में अरब राष्ट्रों से लेकर सुदूर पूर्व में मंगोली राष्ट्रों तक, तमाम एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन खड़े होने लगे। शुरू में ये फूंक-फूंककर और मद्धिम चाल से आगे बढ़े और फिर अपनी मांगों में दिन-पर-दिन परले दर्जे के सरगर्म

होते गये। भारत में ये राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म और बालपन के दिन थे। एशिया का विद्रोह शुरू हो चुका था।

उन्नीसवीं सदी का हमारा सिंहावलोकन अभी पूरा होने को बहुत बाक़ी है। लेकिन यह पत्र काफ़ी लम्बा हो गया है, इसलिए ख़तम होना चाहिए।

## : १०८ :
# उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें

२४ नवम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी को ख़ासियत देनेवाले कुछ लक्षणों का और बड़ी-बड़ी मशीनों के आविष्कार होने के बाद पश्चिमी यूरोप के सिर पर सवार उद्योगों के पूंजीवाद से पैदा हुई बहुत-सी बातों का हाल बताया था। इन सबमें पश्चिमी यूरोप आगे क्यों बढ़ गया, इसका एक सबब था उसके पास कोयले और कच्चे लोहे की खानों का होना। बड़ी-बड़ी मशीनों के बनाने और चलाने के लिए कोयला और लोहा बहुत ज़रूरी था।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता को पैदा किया। वैसे तो राष्ट्रीयता कोई नई चीज़ नहीं थी। यह पहले भी मौजूद थी, लेकिन अब ज्यादा सरगर्म और तंग होती गई। इसने एक ही साथ लोगों को एक डोरे में बांधा भी और जुदा-जुदा भी किया; एक ही राष्ट्रीय इकाई में रहने-वाले आपस में एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक आगये, लेकिन साथ ही उन लोगों से और भी ज़्यादा दूर और अलग होते गये, जो दूसरी राष्ट्रीय इकाई में रहते थे। एक तरफ़ हरेक मुल्क में देशभक्ति बढ़ी, तो दूसरी तरफ़ उसके साथ ही विदेशियों को नापसन्द किया जाने लगा और उनपर सन्देह किया जाने लगा। यूरोप के उद्योग-धन्धों में आगे बढ़े हुए देश एक दूसरे को शिकारी जानवरों की तरह घूर रहे थे। इंग्लैण्ड को लूट का माल सबसे ज़्यादा मिल गया था, इसलिए वह ज़रूर उससे चिपका रहना चाहता था। लेकिन दूसरे देशों के, ख़ासकर जर्मनी के, विचार से इंग्लैण्ड को हर जगह ज़रूरत से ज़्यादा मिला हुआ था। इसलिए टकराहट बढ़ते-बढ़ते अन्त में खुली लड़ाई की नौबत आ गई। उद्योगी पूंजीवाद का सारा ढांचा और उससे पैदा होनेवाले साम्राज्यवाद का नतीजा यही टकराहट और मुठभेड़ होता है। इनके भीतर ऐसी परस्पर-विरोधी बातें रहती हैं, जिनका आपस में कभी मेल ही नहीं हो सकता, क्योंकि उनका आधार होते हैं टक्कर, होड़ और शोषण। इस तरह पूर्व में साम्राज्यवाद ने जिस राष्ट्रीयता को पैदा किया, वही उसकी कट्टर दुश्मन बन गई।

लेकिन इन विरोधी बातों के बावजूद भी पूंजीवादी सभ्यता ने बहुत-से काम के सबक़ सिखाये। इसने संगठन का पाठ पढ़ाया, क्योंकि बड़ी-बड़ी मशीनें और बड़े पैमाने के उद्योग तभी चल सकते हैं जब पहले उनका खूब अच्छी तरह संगठन कर लिया जाय। इसने बड़े-बड़े कारोबारों में आपसी सहयोग करना सिखाया। इसने कार्य-कुशलता और वक्त की पाबन्दी सिखाई।

इन गुणों के बिना बड़े कारखाने या रेलें चलाना सम्भव नहीं है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि ये गुण खास पश्चिमी हैं और पूर्व में इनका अभाव है। लेकिन बहुत-सी दूसरी बातों की तरह इसमें भी पूर्व और पश्चिम का कोई सवाल नहीं है। इन गुणों का विकास उद्योगवाद की वजह से हुआ है; और क्योंकि पश्चिम का औद्योगीकरण हो गया है, इसलिए उसे ये गुण मिल गये हैं; उधर पूर्व अभीतक ज्यादातर कृषि-प्रधान है, उद्योग-प्रधान नहीं, इसलिए उसमें इनका अभाव है।

उद्योगी पूंजीवाद ने एक और महान सेवा की। इसने यह सिखाया कि मशीनी उत्पादन से यानी बड़ी-बड़ी मशीनों और कोयले और भाप की सहायता से दौलत किस तरह पैदा की जा सकती है। इससे उस पुराने अन्देशे की भी जड़ कट गई कि दुनिया में सब ज़रूरतें पूरी करने के साधन काफ़ी नहीं हैं और इसलिए ग़रीबों की बहुत बड़ी संख्या हरदम बनी रहेगी। विज्ञान और मशीनों की मदद से दुनिया की आबादी के लिए काफ़ी खाना और कपड़ा और ज़रूरत की हरेक चीज़ तैयार की जा सकती है। इस तरह उत्पादन की समस्या कम-से-कम ख़याली तौर पर तो हल हो गई, लेकिन वह बस यहीं ठहर गई। दौलत तो बेशक बहुतायत से होने लगी, लेकिन फिर भी ग़रीब ग़रीब ही बने रहे, बल्कि और भी ज्यादा ग़रीब हो गये। यूरोपीय राज में तो पूर्वी और अफ़्रीकी देशों में एकदम नंगा और बेहया शोषण हो रहा था। वहां के अभागे निवासियों की परवाह करनेवाला कोई न था। लेकिन पश्चिमी यूरोप में भी ग़रीबी बनी ही रही और दिन-पर-दिन ज्यादा ज़ाहिर होती गई। कुछ समय के लिए तो बाकी दुनिया के शोषण से पश्चिमी यूरोप में खूब दौलत आई। इस दौलत का ज्यादा हिस्सा उच्च वर्ग के कुछेक मालदार लोगों के पास रहा; हां, उसका थोड़ा-सा हिस्सा निचुड़कर ग़रीब वर्गों के पास भी पहुंच गया, और उनके रहन-सहन का स्तर कुछ ऊंचा हो गया। आबादी भी बहुत ज्यादा बढ़ी।

लेकिन यह दौलत और रहन-सहन के स्तर में यह उन्नति, एशिया, अफ़्रीका और बिना उद्योग-धन्धोंवाले देशों के शोषित लोगों को मारकर आई। इस शोषण ने और दौलत की नदी ने कुछ अर्से के लिए पूंजीवादी प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातों को ढंक दिया। फिर भी धनवानों और ग़रीबों के बीच का फ़र्क़ बढ़ता गया;

वे एक-दूसरे से और भी दूर हो गये। ये दोनों दो अलग-अलग कौमें हो गईं, दो अलग-अलग राष्ट्र बन गये। उन्नीसवीं सदी के एक महान अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ बेन्जामिन डिसरैली ने इनका बयान इस तरह किया है :

> "ये दो राष्ट्र, जिनमें कोई आपसी सम्पर्क नही है, कोई सहानुभूति नहीं है; जो एक दूसरे की आदतों, विचारों और भावनाओं से ऐसे अपरिचित हैं, मानो वे अलग-अलग भू-खण्डों के रहनेवाले हों या अलग-अलग ग्रहों के निवासी हों; जो अलग-अलग तरह के व्यवहारों से बने हैं, जिनका पोषण अलग-अलग तरह के भोजन से हुआ है, जिनके आचार-व्यवहार के ढंग अलग-अलग हैं, और जिनका शासन भी एकसे क़ानूनों से नहीं होता . . . मालदार और ग़रीब !"

उद्योग-धन्धों की नई हालतें मज़दूरों की एक बड़ी संख्या को बड़े कारखानों में लाई, और इस तरह क़ारख़ाने के मज़दूरों का एक नया वर्ग पैदा हुआ। ये लोग किसानों और खेत पर काम करनेवाले मज़दूरों से बहुत-सी बातों में जुदा थे। किसान को बहुत-कुछ मौसमों और वर्षा के आसरे रहना पड़ता है। ये बातें उसके वश में नहीं हैं, और इसलिए वह सोचने लगता है कि उसकी मुसीबत और ग़रीबी दैवी कारणों से है। वह अन्धविश्वासी हो जाता है, आर्थिक कारणों का विचार नहीं करता, एक नीरस और निराश जीवन बिताने लगता है और अपने-आपको एक ऐसे निर्दयी भाग्य के भरोसे छोड़ देता है, जिसे वह बदल नहीं सकता। लेकिन कारख़ाने का मज़दूर मशीनों पर, इन्सान की बनाई हुई चीज़ पर, काम करता है; मौसमों और वर्षा की परवाह किये बिना वह माल तैयार करता रहता है; वह दौलत पैदा करता है, लेकिन वह देखता है कि इस दौलत का बड़ा हिस्सा दूसरों के पास चला जाता है और वह ग़रीब-का-ग़रीब ही बना रहता है। कुछ हद तक वह आर्थिक नियमों को भी काम करते हुए देखता है। इसलिए वह दैवी कारणों का विचार नहीं करता और किसान की तरह अन्ध-विश्वासी नहीं होता। अपनी ग़रीबी के लिए वह देवी-देवताओं को दोष नहीं देता; वह दोषी ठहराता है समाज को या समाजिक व्यवस्था को, और ख़ासकर कारख़ाने के पूंजीपति मालिक को, जो उसकी मज़दूरी के मुनाफ़े का इतना बड़ा हिस्सा हज़म कर जाता है। वह वर्ग-चेतन बन जाता है; उसे कई तरह के वर्ग दिखाई देने लगते हैं, और वह देखता है कि ऊंचे वर्ग उसके वर्ग को नोच-नोचकर खा रहे हैं। इसका नतीजा होता है बेज़ारी और विद्रोह। बेज़ारी की शुरुआती शिकायतें धुंधली और धीमी होती हैं; शुरू के बलवे अन्धे, विचार-हीन और कमज़ोर होते हैं और सरकार उन्हें आसानी से कुचल देती है। क्योंकि वह भी तो अब बड़े कारख़ानों और उनकी शाखाओं को चलानेवाले मध्यमवर्ग के हितों की ही पूरी प्रतिनिधि होती है। लेकिन पेट की आग

को ज़्यादा दिनों तक दबाकर नहीं रक्खा जा सकता, और जल्द ही ग़रीब मज़दूर को अपने साथियों की एकता में ताक़त का एक नया भंडार मिल जाता है। इसलिए मज़दूरों को बचाने और उनके अधिकारों की लड़ाई के वास्ते ट्रेड यूनियनें (मज़दूर संघ) बनती हैं। शुरू में ये खुफ़िया तौर पर काम करती हैं, क्योंकि सरकार मज़दूरों को अपना संगठन भी नहीं करने देना चाहती। यह दिन-पर-दिन ज़ाहिर होता जाता है कि सरकार पूरी तरह से एक वर्ग की सरकार है, और हर तरह से उसी वर्ग की हिफ़ाज़त करने पर तुली होती है, जिसकी वह प्रतिनिधि होती है। क़ानून भी उसी वर्ग के लिए बनाये जाते हैं। धीरे-धीरे मज़दूर मज़बूती हासिल करते जाते हैं और उनकी ट्रेड-यूनियनें ताक़तवर संगठन बनती जाती हैं। अलग-अलग किस्म के मज़दूर देखते हैं कि सत्ताधारी शोषक-वर्ग के खिलाफ़ उनके हित असल में एक ही हैं। इसलिए अलग-अलग ट्रेड-यूनियनें आपस में सहयोग कर लेती हैं और एक देश के कामगारों का एक संगठित समुदाय बन जाता है। इससे अगला क़दम है अलग-अलग देशों के मज़दूरों का आपस में मिल जाना, क्योंकि वे भी यह महसूस करते हैं कि उनके भी हित एक ही हैं और सबका एक ही दुश्मन है। इस तरह 'दुनिया के मज़दूरों एक हो जाओ' का नारा उठता है, और मज़दूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन क़ायम होते हैं। इस बीच पूंजीवादी उद्योग भी आगे बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है। इस तरह जहां कहीं भी उद्योगी पूंजीवाद फूलता-फलता है, वहीं मज़दूर-वर्ग पूंजीवाद के मुक़ाबले में खड़ा हो जाता है।

मैं बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ गया हूं और अब मुझे पीछे लौटना चाहिए। लेकिन उन्नीसवीं सदी की यह दुनिया, बहुत-सी परस्पर-विरोधी झुकावों का जंजाल है, जिन सबको नज़र में रखना मुश्किल है। मैं सोचता हूं कि पूंजीवाद और साम्राज्य-वाद और राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता और दौलत और ग़रीबी की इस अजीब खिचड़ी से तुम क्या समझोगी ? लेकिन जीवन खुद ही एक अजीब खिचड़ी है। यह जैसा भी है, वैसा ही इसे मानना चाहिए और समझना चाहिए, और तब सुधारना चाहिए।

बेमेल बातों के इस जंजाल ने यूरोप और अमरीका के बहुत-से लोगों को सोच में डाल दिया। सदी की शुरुआत में नेपोलियन के पतन के बाद किसी यूरोपीय देश में स्वतन्त्रता का नाम भी नहीं था। कुछ देशों में तो बादशाहों का निरंकुश शासन था, और इंग्लैण्ड जैसे कुछ देशों में छोटे-से अमीर वर्ग और मालदार वर्ग के हाथों में हुकूमत थी। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूं, उदार तत्वों का हर जगह दमन किया जा रहा था। लेकिन इसपर भी अमेरिका और फ़ान्स की राज्य-क्रान्तियों ने उदार विचारकों को लोकतंत्र और राजनैतिक स्वतन्त्रता के विचारों का बोध करा दिया था, और वे उनकी क़द्र करने लगे थे। वास्तव में लोकतंत्र ही

राज्य की और जनता की सब बुराइयों और तक़लीफ़ों का अकेला इलाज समझा जाने लगा। लोकतंत्री आदर्श यह था कि कोई ख़ास रियायतें न हों; राज्य हरेक व्यक्ति को राजनैतिक और समाजी हैसियत से बराबर हैसियत का समझकर बर्ताव करे। यह ठीक है कि लोग कई बातों में एक-दूसरे से बहुत फ़र्क़ रखते हैं; कुछ लोग दूसरों की बनिस्बत ज़्यादा मज़बूत होते हैं, कुछ ज़्यादा बुद्धिमान और कुछ कम स्वार्थी होते हैं। लेकिन लोकतंत्र में विश्वास रखनेवालों का कहना था कि मनुष्यों में चाहे जो फ़र्क़ हों, उनका राजनैतिक दर्जा एक ही रहना चाहिए और इसे वह हरेक को वोट का हक देकर कायम करना चाहते थे। आगे बढ़े हुए विचारक और उदार विचारोंवाले लोग लोकतंत्र की ख़ूबियों में दिली विश्वास रखते थे, और उसे कायम करने के लिए सिर तोड़ कोशिशें करते थे। पुरातन-पंथी और प्रतिगामी लोगों ने उनका विरोध किया, जिससे हर जगह ज़बर्दस्त खींच-तान शुरू हो गई। कुछ देशों में क्रान्तियां भी हो गईं। वोट का अधिकार बढ़ाने, यानी पार्लमेण्ट के सदस्यों को चुनने का अधिकार कुछ ज़्यादा लोगों को दिये जाने से पहले इंग्लैण्ड भी गृह-युद्ध के किनारे ही खड़ा था। लेकिन धीरे-धीरे ज्यादातर जगहों में लोकतंत्र की विजय हुई, और इस सदी के अन्त तक पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में ज़्यादातर लोगों को कम-से-कम वोट का अधिकार तो मिल ही गया। लोकतंत्र उन्नीसवीं सदी का एक महान आदर्श रहा है, यहांतक कि इस सदी को लोकतंत्र की सदी भी कहा जा सकता है। अन्त में लोकतंत्र की जीत हुई, लेकिन जब यह अन्त आया तो लोगों का इसपर से विश्वास ही उठने लगा। उन्होंने देखा कि यह ग़रीबी और मुसीबतों और पूंजीवादी प्रणाली की बहुत-सी परस्पर-विरोधी बातों को ख़तम करने में नाक़ामयाब रही। भूखे आदमी को वोट का अधिकार मिलने से क्या फ़ायदा हुआ? और अगर उसका वोट या उसकी सेवाएं एक समय के भोजन की क़ीमत में खरीदी जा सकती थीं तो उसे मिली हुई स्वतन्त्रता का क्या नाप था? इसलिए लोकतंत्र बदनाम हो गया या यों कहना ठीक होगा कि राजनैतिक लोकतंत्र लोगों की निगाह में गिर गया। लेकिन यह बात उन्नीसवीं सदी के दायरे से बाहर की है।

लोकतंत्र का ताल्लुक स्वतन्त्रता के राजनैतिक पहलू के साथ था। निरं-कुशता व दूसरी स्वेच्छाचारी हुकूमतों के ख़िलाफ़ यह एक उलटी-क्रिया थी। उस समय पैदा होनेवाली उद्योगी समस्याओं का या ग़रीबी का या वर्ग-संघर्ष का इसके पास कोई हल नहीं था। इस आशा से कि व्यक्ति निजी हितों को ध्यान में रखकर अपनेको हर तरह से सुधारने की कोशिश करेगा और इस तरह समाज तरक़्क़ी करेगा, इसने हरेक व्यक्ति को अपने रुझान के अनुसार काम करने की ख़याली आजादी पर ज़ोर दिया। यह दख़ल न देने की नीति थी, जिसके बारे में, मैं शायद अपने किसी पहले पत्र में लिख चुका हूं। लेकिन व्यक्ति की आज़ादी का मत

चला नहीं, क्योंकि जिस आदमी को मज़दूरी पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता हो, उसका आज़ाद रहना बहुत दूर की बात है।

उद्योगी पूंजीवाद की प्रणाली में बड़ी भारी दिक़्क़त यह पैदा हुई कि जो लोग काम करते और इस तरह समाज की सेवा करते थे, उन्हें बहुत कम मज़दूरी मिलती थी; सारा मुनाफ़ा मिलता था उन दूसरे लोगों को जो बिल्कुल काम नहीं करते थे। इस तरह मुनाफ़ों का मेहनत से नाता तोड़ दिया गया। इसका नतीजा एक तरफ़ तो हुआ मेहनतकशों का पतन और ग़रीबी, और दूसरी तरफ़ ऐसे वर्ग का जन्म, जो उद्योग में किसी तरह का काम किये बिना, या उसकी दौलत में किसी तरह की तरक़्क़ी किये बिना ही, उसके आसरे जीता था या यों कहो कि उसका ख़ून चूसकर पनपता था। यह ऐसा था जैसे कि एक तो किसान-वर्ग, जो खेत पर काम करता है, और दूसरा ज़मींदार, जो ख़ुद खेत पर काम किये बिना ही किसानों की मेहनत का फ़ायदा उठाता है। मेहनत के फल का यह बंटवारा बिल्कुल अन्यायपूर्ण था; अन्याय को सदियों से सताये हुए किसान ने तो महसूस नहीं किया था, लेकिन मज़दूर ने महसूस किया, और बहुत नापसन्द किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, उनकी यह नाराज़गी बढ़ती चली गई। पश्चिम के सभी उद्योग-प्रधान देशों में ये फ़र्क़ साफ़ नज़र आने लगे और विचारवान व लगनवाले लोग इस उलझन को सुलझाने की कोशिश करने लगे। इस तरह वह विचारधारा पैदा हुई, जिसे समाजवाद कहा जाता है, जो पूंजीवाद की उपज है और उसका दुश्मन भी है, और जो शायद किसी दिन उसको उखाड़कर उसकी जगह ले लेगा। इंग्लैण्ड में तो इसने मद्धिम रूप ले लिया, लेकिन फ़ान्स और ज़र्मनी में यह ज़्यादा क्रान्तिकारी था। संयुक्त राज्य अमेरिका में उसके विस्तार के मुक़ाबले में आबादी कम होने की वजह से बढ़ोतरी की काफ़ी गुंजाइश थी, इसलिए पूंजीवाद ने पश्चिमी यूरोप में जो अन्याय किये और जो मुसीबतें ढाईं वे उस हद तक अमेरिका में बहुत दिनों तक दिखाई नहीं दिये।

उन्नीसवीं सदी के बीच में जर्मनी में एक व्यक्ति पैदा हुआ, जो आगे चलकर समाजवाद का पैग़म्बर और समाजवाद के उस रूप का जनक माना जानेवाला था जो साम्यवाद कहलाता है। उसका नाम था कार्ल मार्क्स। वह सिर्फ़ धुंधले विचारोंवाला दार्शनिक या इल्मी सिद्धान्तों की चर्चा करनेवाला प्रोफ़ेसर नहीं था। वह एक व्यावहारिक दार्शनिक था और उसका तरीक़ा था विज्ञान की तकनीक को राजनैतिक व आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में लगाकर दुनिया के दुखों का इलाज खोज निकालना। उसका कहना था—"अबतक फ़िलासफ़ी का काम सिर्फ़ संसार की व्याख्या करना रहा है; साम्यवादी फ़िलासफ़ी का लक्ष्य होना चाहिए दुनिया को बदल देना।" ऐंजेल्स नामक एक दूसरे व्यक्ति के सहयोग से उसने 'साम्यवादी

घोषणापत्र'[1] निकाला, जिसमें उसकी फ़िलासफ़ी की रूप-रेखा दी गई थी। बाद में उसने जर्मन भाषा में एक मोटी पुस्तक 'पूंजी'[2] लिखी, जिसमें उसने वैज्ञानिक ढंग से दुनिया के इतिहास की आलोचना की और यह बताया कि समाज का विकास किस दिशा में हो रहा है और इस प्रक्रिया की रफ़्तार किस तरह बढ़ाई जा सकती हैं। यहां में मार्क्स की फ़िलासफ़ी समझाने की कोशिश नहीं करूंगा। लेकिन तुम्हें यह जरूर याद रखना चाहिए कि मार्क्स के इस महाग्रंथ का साम्यवाद के विकास पर ज़बर्दस्त असर पड़ा और आज यह साम्यवादी रूस की 'बाइबिल' बन गया है।

दूसरी मशहूर पुस्तक, जो इस सदी के बीच के लगभग इंग्लैण्ड में निकली, और जिसने बड़ी ख़लबली पैदा कर दी, डार्विन की '[illegible]'[3] थी। डार्विन प्रकृतिशास्त्री था, यानी वह प्रकृति (क़ुदरत) के, और ख़ासकर वनस्पतियों व जीव-जन्तुओं के, निरीक्षण व अध्ययन में लगा रहता था। बहुत-से नमूनों की मदद से उसने यह बतलाया कि प्रकृति में वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं का विकास कैसे हुआ, प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया से किस तरह एक वर्ग दूसरे में बदल गया और किस तरह जीवों के सरल रूप धीरे-धीरे ज़्यादा पेचीदा बन गये। इस तरह का वैज्ञानिक तर्क संसार की और जीव-जन्तुओं व मनुष्य की सृष्टि के बारे में कुछ मज़हबी उपदेशों के बिल्कुल ख़िलाफ़ पड़ता था। इसलिए उस समय वज्ञानिकों और इन उपदेशों में विश्वास रखनेवालों के बीच एक बड़ा वाद-विवाद पैदा हो गया। तथ्यों के बारे में असली झगड़ा इतना नहीं था, जितना सारी ज़िन्दगी की तरफ़ रुख के बारे में। तंग मज़हबी रुख़ ज़्यादातर भय, जादू-टोना और अन्ध-विश्वास का था। तर्क को बढ़ावा नही दिया जाता था और लोगों से कहा जाता था कि जो कुछ उन्हें बतलाया जाय, उसीमें विश्वास करें, यह सवाल न करें कि ऐसा क्यों होता है। बहुत-से विषय पवित्रता और दीनदारी के रहस्यवादी गिलाफ में लपेट दिये गए थे और उन्हें खोलने या छूने की मनाही थी। विज्ञान की भावना व तरीक़े इससे बिल्कुल जुदा थे। विज्ञान तो हरेक चीज़ की खोज करना चाहता था, किसी बात को बिना किसी न-नु-नच के मानने के लिए तैयार नहीं था, न किसी विषय की मानी हुई पवित्रता से डरकर भागनेवाला था। वह हरेक बात की गहराई में जाता था, अन्ध-विश्वासों को दूर भगाता था और सिर्फ उन्हीं बातों में विश्वास करता था, जो प्रयोग या तर्क से साबित की जा सकती हों।

पत्थर बने हुए इस मज़हबी रुख़ के साथ लड़ाई में विज्ञान की भावना की जीत हुई। इन बातों पर विचार करनेवाले ज़्यादातर लोग पहले ही, शायद अठारहवीं

---

[1] Communist Manifesto by Marx and Engels.
[2] Das Capital. [3] Origin of Species—"प्राणिवर्ग की उत्पत्ति"

सदी से ही, बुद्धिवादी हो गये थे। तुम्हें याद होगा कि क्रांति से पहले फ़ान्स में दार्शनिक विचारों की लहर का मैंने तुमसे ज़िक्र किया था। लेकिन अब यह परिवर्तन समाज के अन्दर और भी गहरा पहुंच गया। औसत दर्जे के पढ़े-लिखे आदमी पर भी अब विज्ञान की प्रगति का असर पड़ने लगा। वह शायद इस विषय पर बहुत गहराई से विचार नहीं करता था और न विज्ञान के बारे में उसकी ज्यादा जानकारी ही थी। लेकिन फिर भी वह अपने सामने खुलनेवाले आविष्कारों और खोजों के हजूम से चकित हुए बिना न रह सका। रेल, बिजली, तार, टेलीफ़ोन, ग्रामोफ़ोन और ऐसी ही बहुत-सी चीज़ें एक के बाद दूसरी निकलती रहीं और ये सब विज्ञान के तरीकों की ही सन्तानें थी। इनका विज्ञान की कामयाबियों के रूप में उत्साह से स्वागत किया गया। लोगों ने देखा कि विज्ञान ने सिर्फ़ मनुष्य का ज्ञान ही नहीं बढ़ाया बल्कि प्रकृति पर मनुष्य का काबू भी बढ़ा दिया। इसमें ताज्जुब की कोई बात नही कि अन्त में विज्ञान की जीत हुई और लोगों ने इस सारी शक्तियोंवाले नये देवता के सामने भक्ति-भाव से सिर झुका दिया। उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक बिल्कुल निचन्त हो गये और अपनेको अफ़लातून समझने लगे और उन्होंने अपनी पक्की रायें बना लीं। पचास वर्ष पहले के उन दिनों से अब तक विज्ञान ने बड़ी भारी प्रगति कर ली है, लेकिन आज का रुख, उन्नीसवीं सदी के उस निचन्ती व अफ़लातूनी रुख से बहुत जुदा है। आज का सच्चा विज्ञानी महसूस करता है कि ज्ञान का महासागर बहुत लम्बा-चौड़ा और असीम है, और हालांकि वह इसे पार करने की कोशिश में है, फिर भी वह पहले के वैज्ञानिकों की बनिस्बत कम घमंडी और कम हठी है।

उन्नीसवीं सदी का दूसरा मार्के का पहलू था पश्चिम में लोक-शिक्षा की भारी प्रगति। शासक वर्गों के बहुत-से लोगों ने इसका बड़े ज़ोरों से विरोध किया। उनका कहना था कि इससे आम लोग अपनी हालत से बेज़ार हो जायंगे, और राजद्रोही, गुस्ताख व अ-ईसाई बन जायंगे! इस दलील के मुताबिक ईसाइयत का अर्थ है अज्ञान, और मालदारों व सत्ताधारियों का हुक्म राज़ी-राज़ी बजाना। लेकिन इस विरोध के बावजूद प्राइमरी स्कूल खोले गये और लोक-शिक्षा का फैलाव हुआ। उन्नीसवीं सदी की दूसरी बहुत-सी ख़ास बातों की तरह यह भी नये उद्योगवाद का ही एक नतीजा था। क्योंकि बड़े-बड़े कारख़ानों और बड़ी मशीनों के लिए उद्योगी कुशलता की ज़रूरत थी और यह सिर्फ़ शिक्षा से ही पैदा की जा सकती थी। उस ज़माने के समाज को सब तरह के कारीगर मज़दूरों की सख्त ज़रूरत थी; उसकी यह ज़रूरत लोक-शिक्षा से पूरी हुई।

प्रारम्भिक शिक्षा के इस चौ-तरफ़ा फैलाव ने पढ़े-लिखे लोगों का एक बहुत बड़ा वर्ग पैदा कर दिया। ये शिक्षित तो नहीं कहे जा सकते थे, लेकिन पढ़-लिख

सकते थे, और इस तरह अख़बार पढ़ने की आदत चल पड़ी। सस्ते अख़बार निकले और उनका बड़ा भारी प्रचार हुआ। लोगों के दिमाग़ों पर ये ज़बर्दस्त असर डालने लगे। यह असर ऐसा हुआ कि अक्सर लोगों में ग़लतफ़हमियां फैला देते थे और उनकी भावनाओं को किसी पड़ोसी देश के खिलाफ़ उभाड़ देते थे, जिससे युद्ध ठन जाता था। लेकिन कुछ भी हो, 'प्रेस' यानी 'अख़बारी-वर्ग' पक्के तौर पर ऐसी शक्ति बन गया, जिसे दर-गुज़र नहीं किया जा सकता था।

जो कुछ मैंने इस पत्र में लिखा है, वह ज़्यादातर यूरोप पर, और ख़ासकर पश्चिमी यूरोप पर, लागू होता है। कुछ हद तक उत्तरी अमेरिका पर भी लागू होता है। दुनिया के बाक़ी हिस्से और जापान व अफ्रीका को छोड़कर तमाम एशिया, और यूरोप की नीति को चुपचाप देखनेवाले और उसकी मार को सहनेवाले एजेण्ट रह गये। जैसा कि मैं कह चुका हूं, उन्नीसवीं सदी यूरोप की सदी थी। सारी तसवीर यूरोप से ही भरी हुई दिखाई देती थी; यूरोप दुनिया के रंगमंच के बीच में खड़ा हुआ था। पुराने ज़माने में ऐसे भी लम्बे-लम्बे अरसे हो चुके हैं, जबकि यूरोप पर एशिया का दबदबा था। ऐसे भी ज़माने थे जब मिस्र, ईरान, भारत, चीन, यूनान, रोम या अरब में सभ्यता और उन्नति के केन्द्र थे। मगर पुरानी सभ्यताओं की जान निकल गई और वे पथरा गईं और उनके सिर्फ़ निशान बाक़ी रह गये। परिवर्तन और उन्नति के जानदार तत्व उनमें से निकल गये और जान दूसरे मुल्कों में चली गई। अब यूरोप की बारी थी; और यूरोप इसलिए और भी ज़्यादा हावी हो गया कि आवा-जाई के साधनों की प्रगति ने दुनिया के सब हिस्सों में आसानी से और बहुत जल्दी पहुंचना सम्भव कर दिया था।

उन्नीसवीं सदी ने यूरोपीय सभ्यता को फलते-फूलते देखा। इसे मध्यम-वर्गी (बुर्जुआ) सभ्यता कहा जाता है, क्योंकि उद्योगी पूंजीवाद से पैदा हुआ मध्यमवर्ग ही इसपर हावी था। मैं तुम्हें इस सभ्यता की बहुत-सी परस्पर-विरोधी और खराब बातें बतला चुका हूं। हम भारत और पूर्व के निवासियों ने ख़ास तौर पर इन खराबियों को देखा और उनकी मार सही। लेकिन कोई भी देश या क़ौम महानता के दर्जे पर नहीं पहुंच सकती, जबतक कि उसमें महानता का थोड़ा-बहुत माद्दा न हो। पश्चिमी यूरोप में वह माद्दा था। यूरोप की शान आख़िर उसकी फ़ौजी ताक़त पर इतनी टिकी हुई नहीं थी, जितनी उन गुणों पर, जिन्होंने कि उसे महान बनाया। यहां सब जगह जान और जानदारी और रचना-शक्ति की बहुतायत थी। बड़े-बड़े कवि, लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, संगीतज्ञ, इंजीनियर और कर्मवीर वहां पैदा हुए। और इसमें कोई शक नहीं कि पश्चिमी यूरोप में एक अदना आदमी की हालत भी इतनी अच्छी थी, जितनी पहले कभी नहीं रही। लन्दन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क आदि राजधानियां दिन-पर-दिन

बढ़ते गये; उनकी इमारतें दिन-पर-दिन ऊंची होती गई, विलास बढ़ता गया, और विज्ञान ने मनुष्य की कड़ी मेहनत और मशक्कत को कम करनेवाले और जीवन का सुख व आनन्द बढ़ानेवाले हजारों तरीके ढूढ़ निकाले। आसूदा लोगों के जीवन में मिठास और संस्कृति आ गई और वे कुछ हाल-मस्त मग़रूर और नाजुक-मिज़ाज बन गये। यह सभ्यता की एक सुहावनी तिपहरी या शाम जैसी मालूम होती है।

इस तरह उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में यूरोप की खुशनुमा और खुश-हाल शकल बन गई थी, और कम-से-कम ऊपर से ऐसा मालूम होता था कि यह मधुर संस्कृति और सभ्यता क़ायम रहेगी और सफलता-पर-सफलता हासिल करती जायगी। लेकिन अगर कोई इसकी सतह के नीचे झांककर देखता तो उसे एक अजीब हलचल और बहुत-से बदनुमा नजारे दिखाई देते। क्योंकि, बहुत करके यह खुशहाल संस्कृति सिर्फ़ यूरोप के ऊंचे वर्गों के ही लिए थी और बहुत-से देशों और बहुत-सी क़ौमों के शोषण पर टिकी हुई थी। तुम्हें इसमें कुछ परस्पर-विरोधी बातें, जिनका ज़िक्र मैंने किया था, और राष्ट्रीय वैर-भाव व साम्राज्यवाद की कठोर व ज़ालिम शकल दिखाई देगी। तब तुम्हारा उन्नीसवीं सदी की इस सभ्यता के टिकाऊपन में या जादू में इतना विश्वास न रहेगा। इसका ऊपरी शरीर तो काफ़ी सुन्दर था, लेकिन इसके भीतर एक नासूर था; इसकी सेहत और प्रगति की तो बड़ी चर्चा थी, लेकिन इस मध्यमवर्गी सभ्यता के मर्म-स्थानों में दीमक लग गई थी।

और १९१४ ई० में एकदम भड़ाका हुआ। सवा चार वर्ष की लड़ाई के बाद यूरोप उसमें से बच ज़रूर निकला, लेकिन ऐसे भयंकर घावों के साथ, जो अभी तक भरे नहीं हैं। लेकिन इस बारे में मैं तुम्हें फिर बताऊंगा।

: १०९ :

# भारत में युद्ध और विद्रोह

२७ नवम्बर, १९३२

हमने उन्नीसवी सदी का काफ़ी लम्बा सिंहावलोकन किया है। आओ, अब हम दुनिया के कुछ हिस्सों पर ज्यादा बारीक़ी से गौर करें। हम भारत से शुरू करेंगे।

कुछ समय पहले मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेज़ों ने भारत में किस तरह अपने मुकाबलेदारों पर विजय पाई। नेपोलियनी युद्धों के दिनों में फ्रान्सीसी यहां से पूरी तरह उखाड़ फेंके गये थे। मराठों, मैसूर के टीपू सुल्तान और पंजाब के सिक्खों ने अंग्रेज़ों को कुछ समय तक तो रोके रक्खा, लेकिन वे ज्यादा दिनों तक उनका मुकाबला नहीं कर सके। ज़ाहिर है कि अंग्रेजी सबसे ज्यादा ताक़तवार और हरबे-हथियारों से

भारत १८५७ की क्रान्ति के समय

अंग्रेजी अधिकार में
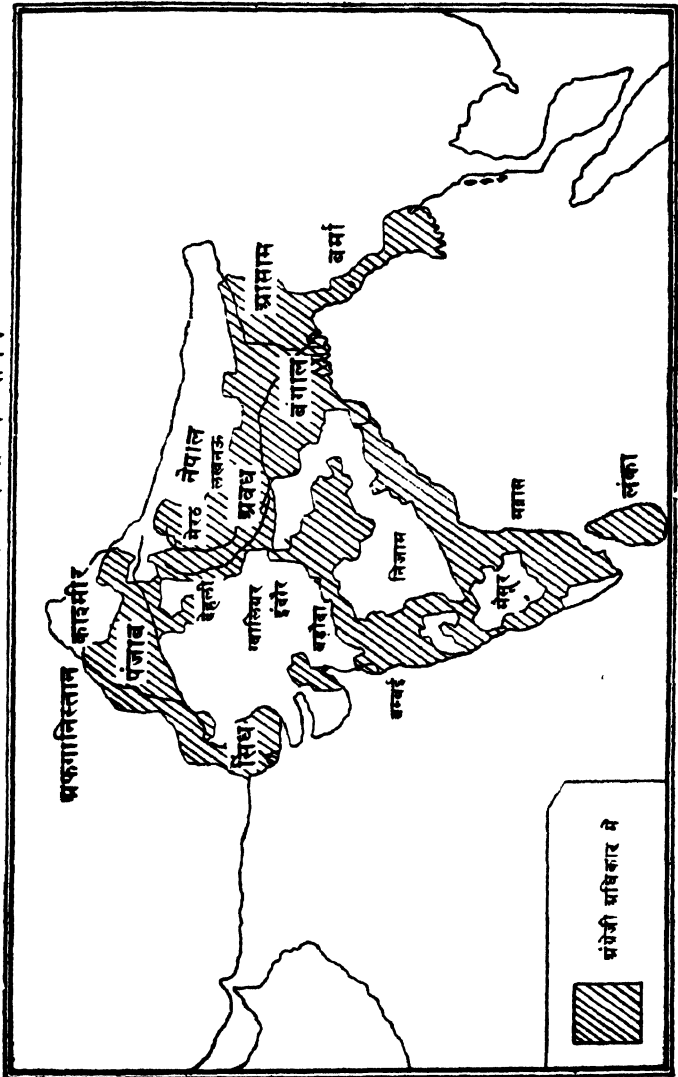
लैस शक्ति थे। उनके हथियार बढ़िया थे, उनका संगठन बढ़िया था, और इन सबके ऊपर उनकी समुद्री शक्ति थी, जिसका वे सहारा ले सकते थे। अगर वे हार भी जाते, जैसा कि अक्सर होता था, तो भी उन्हें उखाड़ा नहीं जा सकता था, क्योंकि समुद्री रास्तों पर उनका कब्ज़ा होने की वजह से वे दूसरे साधनों की मदद ले सकते थे। लेकिन देशी ताकतों के लिए तो हार का अक्सर मतलब था पूरी तबाही, जिसका कोई इलाज नहीं हो सकता था। अंग्रेज़ सिर्फ़ ज़्यादा समान से लैस लड़ाके और अच्छी संगठन-शक्ति वाले ही न थे, बल्कि वे अपने मुक़ामी मुक़ाबलेदारों से कहीं ज्यादा चालाक भी थे, और उनकी आपसी दुश्मनियों से पूरा फ़ायदा उठाते रहते थे इसलिए अंग्रेज़ों की ताक़त होनहार की तरह बढ़ती गई और एक-एक करके सब मुक़ाबलेदार पछाड़ दिये गए। एक को पछाड़ने में अक्सर दूसरों की भी मदद ली गई और फिर इनकी भी बारी आ गई। ताज्जुब की बात है कि भारत के ये सामन्ती सरदार उस समय ज़रा भी दूरन्देश न थे। बाहरी दुश्मन के ख़िलाफ़ आपस में मिलकर एक हो जाने का उन्होंने ख़याल तक नहीं किया। हरेक अकेले हाथों लड़ता था और हार जाता था, और यही उसका माजना था।

जैसे-जैसे अंग्रेज़ों की ताक़त बढ़ती गई, वह दिन-पर-दिन ज़्यादा हमलावर और सरकश होती गई। वह किसी बहाने से, या बिना किसी बहाने के ही युद्ध छेड़ने लगी। ऐसे बहुत-से युद्ध हुए। उन सबका हाल लिखकर मैं तुम्हें उकताना नहीं चाहता। युद्ध कोई सुहावने विषय नहीं है, और इन्हें इतिहास में ज़रूरत से बहुत ज़्यादा महत्व दे दिया गया है। लेकिन अगर मैं उनके बारे में थोड़ा-बहुत भी न कहूं तो तसवीर अधूरी रह जायगी।

मैसूर के हैदरअली और अंग्रेज़ों के बीच हुए दो युद्धों का हाल मैं तुम्हें पहले बता चुका हूं। इनमें हैदरअली बहुत हद तक सफल रहा। उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेज़ों का कट्टर दुश्मन था। उसे ख़तम करने के लिए दो और युद्ध हुए, एक १७९० से १७९२ ई० तक और दूसरा १७९९ ई० में। टीपू लड़ता हुआ मारा गया। मैसूर शहर के पास अब भी तुम उसकी पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम के खण्डहर देख सकती हो, जहां वह दफ़नाया गया था।

अब अंग्रेज़ों की सत्ता को चुनौती देनेवाले मराठे बाक़ी रह गये। पश्चिम में पेशवा था, और ग्वालियर का सिन्धिया, इन्दौर का होल्कर व कुछ दूसरे सरदार भी थे लेकिन दो बड़े मराठे राजनितिज्ञों की मृत्यु—ग्वालियर के महादजी सिन्धिया की १७९४ ई० में और पेशवा के मंत्री नाना फड़नवीस की १८०० ई० में—के बाद मराठों की ताक़त तहस-नहस हो गई। फिर भी मराठों ने बहुत-सी टक्करें लीं और १८१९ ई० में आख़िरी हार के पहले, उन्होंने अंग्रेज़ों को कई बार हराया मराठे सरदार एक-एक करके हरा दिये गए; हरेक सरदार दूसरे को मदद न

पहुंचाकर उसका पतन देखता रहा। सिन्धिया और होल्कर अंग्रेज़ों की प्रभुता कबूल करके मातहती शासक बन गये। बड़ौदा के गायकवाड़ ने तो पहले ही विदेशी शक्ति के साथ समझौता कर लिया था।

मराठों का हाल ख़तम करने से पहले मैं एक नाम का ज़िक्र कर देना चाहता हूं, जो मध्य-भारत में काफ़ी मशहूर हो चुका है। यह नाम है अहिल्याबाई का, जो १७६५ से १७९५ ई० तक यानी तीस वर्ष तक, इन्दौर की रानी थी। जिस समय वह गद्दी पर बैठी, वह तीस वर्ष की नौजवान विधवा थी, और अपने राज्य के प्रशासन में वह बड़ी ख़ूबी से सफल रही। अलबत्ता उसने पर्दा कभी नहीं किया। मराठों ने कभी पर्दे को नहीं माना। वह ख़ुद राज्य का कारोबार देखती थी, खुले दरबार में बैठती थी, और उसने इन्दौर को एक छोटे-से गांव से बढ़ाकर मालदार शहर बना दिया। उसने युद्धों को टाला, शान्ति क़ायम रक्खी, और अपने राज्य को ऐसे समय में ख़ुशहाल बनाया, जबकि भारत का ज़्यादातर हिस्सा उथल-पुथल की हालत में था। इसलिए यह ताज्जुब की बात नहीं है कि आज भी वह मध्य-भारत में सती की तरह पूजी जाती है।

आख़िरी मराठा-युद्ध से कुछ ही पहले, १८१४ से १८१६ ई० तक, अंग्रेज़ों का नेपाल से एक युद्ध हुआ था। पहाड़ी इलाक़े में उन्हें बड़ी दिक़्क़तें उठानी पड़ीं, लेकिन आख़िर में उनकी जीत हुई और देहरादून का यह ज़िला, जहांपर जेल में बैठा हुआ मैं यह लिख रहा हूं, और कुमायूं और नैनीताल, अंग्रेज़ी हुकूमत में आ गये। तुम्हें शायद याद होगा कि चीन के बारे में एक पत्र में मैंने तुम्हें चीन की फ़ौज के अद्भूत कारनामों का हाल लिखा था कि वह तिब्बत को लांघकर हिमालय के ऊपर होकर चली आई और गुरखों को उन्हींके घर, नेपाल, में हरा गई। यह घटन ब्रिटिश-नेपाल युद्ध से सिर्फ़ बाईस बरस पहले की है। तबसे नेपाल ने बाक़ायदा चीन की अधीनता कबूल कर ली, लेकिन मेरा ख़याल है कि अब वह बात नहीं है। नेपाल एक निराला देश है, जो बहुत पिछड़ा हुआ और बाक़ी दुनिया से बहुत कटा हुआ है। लेकिन फिर भी उसकी जगह बड़ी सुहावनी है और यह कुदरती दौलत का भंडार है। कश्मीर और हैदराबाद की तरह यह मातहती राज्य नहीं है। यह स्वाधीन राज्य कहलाता है, लेकिन अंग्रेज़ इस बात की सावधानी रखते हैं कि इसकी स्वाधीनता सीमा के अन्दर ही रहे और नेपाल के बहादुर और रण-बांके लोग—गुरखे—भारत की अंग्रेज़ी फौज़ों में भरती किये जाते हैं और उनका इस्तेमाल भारतवासियों को दबाये रखने के लिए किया जाता है।

पूर्व में बर्मा ठेठ असम तक फैल गया था। इसलिए लगातार आगे बढ़नेवाले अंग्रेज़ों से उसकी टक्कर होना लाज़िमी था। बर्मा से तीन युद्ध हुए, और हर बार अंग्रेज़ उसका कोई-न-कोई इलाक़ा छीनते गये। १८२४-२६ ई० में होनेवाले

पहले युद्ध का नतीजा हुआ असम का अंग्रेज़ों की अधीनता में आना। १८५२ ई० के दूसरे युद्ध में दक्षिणी बर्मा क़ब्ज़े में किया गया। उत्तरी बर्मा, जिसकी राजधानी मांडले के पास आवा में थी, समुद्र से बिलकुल दूर कर दिया गया, और इस तरह कट जाने पर अंग्रेज़ों की मुट्ठी में आ गया। १८८५ ई० में, बर्मा से तीसरा और आखिरी युद्ध हुआ, और सारे देश पर अंग्रेजों ने अपना क़ब्ज़ा करके उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। लेकिन फ़र्ज़ी तौरपर बर्मा चीन का ताबेदार था और बराबर चीन को ख़िराज भेजता रहता था। ध्यान देने की अनोखी बात यह है कि बर्मा को साम्राज्य में शामिल करते वक्त अंग्रेज लोग चीन भेजे जानेवाले इस ख़िराज को जारी रखने के लिए रज़ामन्द हो गये। इससे ज़ाहिर होता है कि १८८५ ई० में भी वे चीन की ताक़त से काफ़ी घबराते थे, हालांकि चीन अपनी अन्दरूनी मुसीबतों में ऐसा फंसा हुआ था कि वह अपने ताबेदार बर्मा पर हमला होते वक़्त उसकी मदद न कर सका। अंग्रेज़ों ने १८८५ ई० के बाद एक बार तो चीन को यह ख़िराज दिया और फिर बन्द कर दिया।

बर्मा के युद्ध हमें १८८५ ई० तक ले आये हैं। मैं इन सबको एक साथ लेना चाहता था। लेकिन अब हमें दुबारा उत्तरी भारत की तरफ़, और इसी सदी के शुरू के भाग में, चलना चाहिए। पंजाब में रणजीतसिंह के मातहत एक महान सिख राज्य क़ायम हो गया था। सदी के शुरू में ही रणजीतसिंह अमृतसर का स्वामी हुआ, और १८२७ ई० के क़रीब तमाम पंजाब और कश्मीर का मालिक बन गया। १८३९ ई० में उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद ही सिख राज्य कमज़ोर हो गया और टूटने लगा। सिख लोग इस पुरानी कहावत की मिसाल पेश करते हैं कि "मुसीबत में आदमी ऊंचा उठता है, और सफलता मिलने के बाद गिर जाता है"। जब तक सिख एक अल्पसंख्यक गिरोह थे, जो जान बचाने के लिए भागा फिरते थे, तब-तक पिछले मुग़ल बादशाहों के लिए भी उन्हें दबाना मुमकिन नहीं हुआ। लेकिन राजनैतिक सफलता मिलते ही उनकी इस सफलता की बुनियाद कमज़ोर पड़ गई। सिखों और अंग्रेज़ों के बीच दो युद्ध हुए, पहला १८४५-४६ ई० में और दूसरा १८४८-४९ ई० में। दूसरे युद्ध में अंग्रेज़ों की चिलियांवाला में करारी हार हुई। लेकिन अन्त में अंग्रेज़ पूरी तौर पर जीत गए और पंजाब अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया। क्योंकि तुम कश्मीरी हो, इसलिए तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि अंग्रेज़ों ने कश्मीर को जम्मू के एक राजा गुलाबसिंह को पिचहत्तर लाख रुपये में बेचा था। गुलाबसिंह के लिए यह बढ़िया सौदा था! इस सौदे में बेचारे कश्मीरियों की तो कुछ पूछ ही नहीं थी। कश्मीर अब अंग्रेज़ों की एक मातहत रियासत है और वहां के मौजूदा महाराजा इसी गुलाबसिंह के वंशज हैं।

पंजाब के उत्तर की ओर, बल्कि उत्तर-पश्चिम की ओर, अफ़ग़ानिस्तान

था, और अफ़ग़ानिस्तान के नज़दीक ही दूसरी ओर को था रूस। मध्य-एशिया में रूसी साम्राज्य के विस्तार ने अंग्रेज़ों का दिल दहला दिया। उन्हें डर था कि रूस कहीं भारत पर हमला न कर बैठे। क़रीब-क़रीब उन्नीसवीं सदी भर में 'रूसी ख़तरे' की चर्चा रही। १८३९ ई० के करीब भारत के अंग्रेजों ने अफ़ग़ानिस्तान की तरफ़ से रत्तीभर भी छेड़-छाड़ हुए बिना उसपर हमला कर दिया। उस वक़्त अफ़ग़ानिस्तान की सरहद ब्रिटिश भारत से दूर थी, और पंजाब का स्वाधीन सिख राज्य बीच में पड़ता था। लेकिन फिर भी सिखों को अपना दोस्त बनाकर अंग्रेज़ों ने क़ाबुल पर धावा बोल दिया। लेकिन अफ़ग़ानों ने भी मार्के का बदला लिया। बहुतेरी बातों में अफ़ग़ान लोग चाहे कितने ही पिछड़े हुए हों, लेकिन उन्हें अपनी आज़ादी से प्रेम है, और उसकी हिफ़ाज़त के लिए वे अख़ीर दम तक लड़ने को तैयार रहते हैं। और इसीलिए अफ़ग़ानिस्तान किसी भी हमलावर विदेशी फ़ौज के लिए हमेशा 'बर्रों का छत्ता' बना रहा है। हालांकि अंग्रेज़ों ने क़ाबुल पर और अफ़ग़ानिस्तान के कई हिस्सों पर क़ब्ज़ा कर लिया था, लेकिन अचानक चारों तरफ़ विद्रोह भड़क उठे, अंग्रेज़ वापस खदेड़ दिये गए और सारी-की-सारी अंग्रेज़ी फ़ौज तहस-नहस हो गई। बाद में इस हार का बदला लेने के लिए एक और ब्रिटिश हमला हुआ। अंग्रेज़ों ने क़ाबुल पर कब्ज़ा करके, शहर के बड़े सायबानदार बाज़ार को बारूद से उड़ा दिया, और अंग्रेज़ी सिपाहियों ने शहर के बहुत-से हिस्सों में लूटमार की और आग लगा दी। लेकिन यह साफ़ ज़ाहिर हो गया कि अंग्रेज़ों के लिए बराबर युद्ध किये बिना अफ़ग़ानिस्तान पर क़ब्ज़ा बनाये रखना आसान नहीं था। इसलिए वे वहां से वापस लौट आये।

क़रीब चालीस वर्ष बाद, १८७८ ई० में, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर या शासक ने रूस से दोस्ती कर ली तो अंग्रेज़ फिर घबराये। बहुत हद तक इतिहास दोहराया गया। एक दूसरा युद्ध हुआ, अंग्रेजों ने इस देश पर हमला किया और उनकी जीत होती हुई दिखाई दे रही थी कि इतने ही में अफ़ग़ानों ने ब्रिटिश राजदूत और उसके दल को मौत के घाट उतार दिया और अंग्रेज़ी फ़ौज को हरा दिया। अंग्रेज़ों ने इसका थोड़ा-बहुत बदला ले लिया और फिर इस 'बर्र के छत्ते' से दूर हट गये। इसके बहुत वर्षों बाद तक अफ़ग़ानिस्तान की अज़ीब हैसियत थी। अंग्रेज़ उसके अमीर को दूसरे विदेशों के साथ सीधा सम्बन्ध तो रखने नहीं देते थे, लेकिन साथ ही उसे हर साल बहुत बड़ी रक़म भी देते थे। तेरह वर्ष हुए, १९१९ ई० में, तीसरा अफ़ग़ान युद्ध हुआ, जिसके नतीज़े से अफ़ग़ानिस्तान पूरी तरह स्वाधीन हो गया। लेकिन जिस ज़माने की हम इस समय चर्चा कर रहे हैं, यह बात उसके दायरे से बाहर है।

और भी कई छोटे-छोटे युद्ध हुए। इनमें से एक युद्ध, जो बहुत ही बे-ग़ैरती

था, १८४३ ई० में सिन्ध पर थोपा गया। वहां के ब्रिटिश एजेण्ट ने सिन्धियों को खूब धमकाया और झगड़ा मोल लेने के लिए उकसाया और फिर उन्हें कुचल कर प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया। और इस कारगुज़ारी के लिए अंग्रेज़ी अफ़सरों को ऊपरी मुनाफ़े के तौर पर इनाम का रुपया भी बांटा गया। एजेण्ट (सर चार्ल्स नेपियर) के हिस्से की रक़म थी क़रीब सात लाख रुपये! ऐसी हालत में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि उस ज़माने के भारत में बे-उसूले और हौसलेबाज़ अंग्रेज़ खिंचे चले आते थे।

१८५६ ई० में अवध भी मिला लिया गया। इस समय अवध के शासन की हालत बहुत ही बुरी थी। कुछ समय से यहां का शासन नवाब-वज़ीर कहे जाने-वाले लोगों के हाथों में था। शुरू में दिल्ली के मुग़ल बादशाह ने नवाब-वज़ीर को अवध में अपना नायब मुकर्रर किया था। लेकिन मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद अवध स्वाधीन हो गया। पर ज़्यादा दिन के लिए नहीं। पिछले नवाब-वज़ीर बिलकुल निकम्मे और हलके थे, और अगर वे कुछ भलाई करना भी चाहते थे, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दस्तन्दाज़ी की वजह से कर नहीं सकते थे। उनके हाथ में कोई असली अधिकार बाक़ी नहीं रह गया था और अंग्रेज़ों को अवध के अन्दरूनी शासन में कोई दिलचस्पी नहीं थी। बस, अवध टूक-टूक हो गया, और जैसा कि होना ही था, अंग्रेज़ी राज्य का हिस्सा बन गया।

युद्धों और राज्यों पर कब्ज़े किये जाने की मैं काफ़ी ही नहीं, शायद काफ़ी से भी ज़्यादा चर्चा कर चुका हूं। लेकिन ये सब एक बड़ी प्रक्रिया के ऊपरी संकेत थे, जो हो रही थी और जो रुक नहीं सकती थी। अंग्रेज़ जिस समय भारत में आये, यहां की पुरानी अर्थ-व्यवस्था का टूटना शुरू हो चुका था। सामन्तशाही की दीवारें तड़कने लगी थीं। अगर उस समय विदेशी न भी आये होते तो भी सामन्ती व्यवस्था इस देश में ज़्यादा दिन टिकनेवाली न थी। यूरोप की तरह यहां भी धीरे-धीरे कोई नई व्यवस्था इसकी जगह ले लेती, जिसमें नये उत्पादक वर्गों के हाथों में ज़्यादा सत्ता होती। लेकिन यह परिवर्तन होने से पहले ही, जबकि दरार ही पड़ी थी, अंग्रेज़ आ पहुंचे और बिना किसी ख़ास दिक़्क़त के इस दरार में घुस पड़े। भारत में जिन राजाओं से वे लड़े और जिन्हें उन्होंने हराया, वे बीते हुए और अस्त होते हुए ज़माने की चीज़ें थीं। उनके सामने कोई ठोस भविष्य नहीं था। इस तरह इन परिस्थितियों में, अंग्रेज़ों को सफल होना ही था। उन्होंने भारत में सामन्ती व्यवस्था का अन्त जल्दी ला दिया। लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह अजीब बात है कि उन्होंने ऊपरी तौर से इसे सहारा लगाने की कोशिश की और इस तरह भारत को नई व्यवस्था की तरफ़ बढ़ने में रुकावटें डालीं।

इस तरह अंग्रेज़ भारत में इतिहास की एक ऐसी प्रक्रिया के कर्त्ता बन गये, जो सामन्ती भारत को नये ढंग के उद्योगी पूंजीवादी राज्य में बदल देनेवाली

थी। खुद अंग्रेज़ों ने इस बात को नहीं महसूस किया; और इसमें कोई शक नहीं कि वे सब राजा लोग भी, जो इनसे लड़े थे, इस बारे में कुछ नहीं जानते थे। काल के गाल में पड़ी हुई कोई भी व्यवस्था ज़माने की चेतावनियों को बहुत कम देख पाती है, बहुत कम महसूस करती है कि उसका उद्देश्य और काम पूरा हो चुका है, और इसलिए महाबली घटनाचक्र के हाथों बेइज्ज़ती से खदेड़े जाने के पहले ही उसे शराफ़त के साथ हट जाना चाहिए। इतिहास की नसीहत को भी वह बहुत कम समझ पाती है, और इस बात को भी बहुत कम महसूस करती है कि दुनिया उसे, किसीके शब्दों में, 'इतिहास के कूड़ा-दान' पर छोड़ती हुई आगे बढ़ती चली जा रही है। इसी तरह भारत की सामन्ती व्यवस्था ने इन सब बातों को नहीं समझा और व्यर्थ ही अंग्रेज़ों से लड़ती रही। इसी तरह आज भारत में और पूर्व के दूसरे देशों में जमे हुए अंग्रेज़ भी यह नहीं समझते कि उनके दिन बीत चुके हैं, उनके साम्राज्य के दिन बीत चुके हैं, और दुनिया ब्रिटिश साम्राज्य पर ज़रा भी तरस न खाती हुई उसे 'इतिहास के कूड़ादान' में फेंकती हुई आगे बढ़ती जा रही है।

लेकिन भारत में चालू सामन्ती व्यवस्था ने उस वक़्त, जबकि अंग्रेज़ लोग भारत में पैर पसार रहे थे, एक बार फिर सत्ता हासिल करने का और विदेशियों को निकाल बाहर करने का आख़िरी जतन किया। यह था १८५७ का महान विद्रोह। देश भर में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बड़ा असन्तोष और गुस्सा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति थी रुपया बटोरना और इसके सिवा कुछ नहीं करना। इस नीति ने उसके बहुत-से अफसरों की बेख़बरी और लुटेरेपन के साथ मिलकर चारों तरफ़ घोर तबाही मचा दी। यहांतक कि अंग्रेज़ों की भारतीय फ़ौज़ पर भी इसका असर पड़ा और कई छोटी-छोटी बग़ावतें हुईं। कितने ही सामन्ती सरदार और उनके वंशज अपने इन नये स्वामियों से कुदरती तौर पर सख्त नाराज़ थे। इसलिए खुफ़िया तरीके से एक ज़बर्दस्त विद्रोह का संगठन किया गया। यह संगठन खासतौर से उत्तर प्रदेश के आस-पास और मध्य भारत में फैल गया, लेकिन, भारतवासी क्या करते हैं और क्या सोचते हैं, इस बारे में भारत के अंग्रेज़ इतने अन्धे रहते हैं कि सरकार को इसका गुमान तक नहीं हुआ। मालूम होता है कि कई जगहों पर एक ही साथ विद्रोह छिड़ने की तारीख मुक़र्रर की गई थी। लेकिन मेरठ की भारतीय फ़ौज की कुछ टुकड़ियों ने बहुत जल्दबाज़ी करके १० मई १८५७ ई० को ग़दर कर दिया। इस अधपके विस्फोट ने विद्रोह के नेताओं के कार्यक्रम को गड़बड़ कर दिया, क्योंकि इससे सरकार चौकन्ना हो गई। फिर भी यह विद्रोह तमाम उत्तर प्रदेश और दिल्ली में और मध्य भारत व बिहार के कुछ हिस्सों में फैल गया। यह सिर्फ़ फ़ौजी विद्रोह नहीं था, बल्कि इन प्रदेशों में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ एक आम सार्वजनिक बग़ावत थी। महान मुग़लों के सिलसिले

के आखिरी मुग़ल कमज़ोर, बूढ़े और शायर बहादुरशाह को कुछ लोगों ने सम्राट् ऐलान कर दिया। इस विद्रोह ने बढ़कर नफ़रत के पात्र विदेशी के खिलाफ़ भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का रूप ले लिया, लेकिन यह स्वाधीनता उसी पुराने सामन्ती ढंग की थी, जिसके सरताज निरंकुश सम्राट् हुआ करते थे। आम लोगों के लिए इसमें कोई आज़ादी न थी। लेकिन फिर भी वह बहुत बड़ी संख्या में इसमें शामिल हो गये, क्योंकि एक तो वे अंग्रेजों के आने को ही अपनी तबाही और ग़रीबी का सबब समझते थे, और दूसरे कई जगहों में उनपर बड़े-बड़े ज़मींदारों का क़ाबू था। मजहबी अदावतों ने भी लोगों को उकसाया। इस संग्राम में हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ने पूरा हिस्सा लिया।

कई महीनों तक उत्तर व मध्यभारत में अंग्रेज़ी राज मानो कच्चे धागे के सहारे लटका रहा। लेकिन विद्रोह की क़िस्मत का फ़ैसला खुद भारतवासियों ने ही कर दिया। सिखों और गोरखों ने अंग्रेज़ों को मदद दी। दक्षिण में निज़ाम, उत्तर में सिन्धिया, और दूसरी कई रियासतें भी उनके साथ हो गईं। इन सब विमुखताओं के अलावा भी, खुद विद्रोह में ही असफलता के बीज मौजूद थे। वह उस सामन्ती व्यवस्था के लिए लड़ रहा था, जिसके दिन बीत चुके थे; इसमें अच्छे नेताओं का अभाव था; इसका संगठन ठीक ढंग से नहीं हुआ था, और हर वक़्त आपसी कलह होती रहती थी। कुछ विद्रोहियों ने अंग्रेज़ों की बेरहमी से हत्याएं करके भी अपने पक्ष पर कलंक लगा दिया। इस जंगली बर्ताव ने कुदरती तौर पर भारत के अंग्रेज़ों को कमर कसकर खड़ा कर दिया और उन्होंने उसी ढंग से, बल्कि उससे भी सैकड़ों-हज़ारों गुना ज़्यादा, बदला ले लिया। कहा जाता है कि कानपुर में पेशवा के वंशज नानासाहब ने सुरक्षा का वादा करके भी दग़ा करके अंग्रेज़ पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की हत्या का हुक्म दे दिया। इस घटना से अंग्रेज़ बहुत ज़्यादा गुस्से में भर गये। इस भयानक दुर्घटना की याद दिलाने-वाला कानपुर में एक यादगार कुआ है।

दूर-दूर की कई जगहों पर अंग्रेज़ों को फ़िसादी भीड़ों ने घेर लिया। कभी-कभी तो उनके साथ अच्छा बर्ताव किया गया, लेकिन बहुत बार खराब। ज़बर्दस्त कठिनाइयां होते हुए भी वे खूब लड़े और बहादुरी से लड़े। अंग्रेज़ों के साहस और सहन-शक्ति की एक निराली मिसाल लखनऊ का घेरा है, जिसके साथ आउटरम और हेवलॉक के नाम जुड़े हुए हैं। १८५७ ई० में दिल्ली के घेरे ने और पतन ने विद्रोह का पासा ही पलट दिया। इसके बाद और कई महीनों तक अंग्रेज़ विद्रोह को कुचलते रहे। ऐसा करने में उन्होंने हर जगह दहशत फैला दी। बहुत बड़ी संख्या में लोगों को बड़ी बेदर्दी के साथ गोलियों से मार दिया गया, बहुत-से लोगों की तोप के मुंह धज्जियां बिखेर दी गईं और हज़ारों को सड़क के किनारे के पेड़ों पर फांसी चढ़ा दिया गया। कहा जाता है कि नील नामक

एक अंग्रेज़ सेनापति इलाहाबाद से कानपुर तक रास्ते-भर आदमियों को फांसी पर लटकाता हुआ चला गया, यहांतक कि सड़क के किनारों का एक भी पेड़ ऐसा न बचा, जो फांसी का झूला न बना दिया गया हो। हरे-भरे गांव जड़-मूल से नष्ट कर दिये गए। यह सब एक बहुत ही भयानक और दर्दनाक क़िस्सा है और मुझमें इस सारे कड़वे सत्य का बखान करने की हिम्मत नहीं है। अगर नानासाहब ने जंगलीपन और दग़ाबाज़ी का बर्ताव किया, तो कितने ही अंग्रेज़ अफ़सर जंगलीपन में उससे सैकड़ों गुना आगे बढ़ गये। अगर अफ़सरों और नेताओं के अभाव में बाग़ी सिपाहियों के गिरोह बेरहम और नागवार करतूतों के दोषी ठहरते हैं, तो अपने अफ़सरों के मातहत सीखे हुए अंग्रेज़ सिपाही बेरहमी और जंगलीपन में उनसे कहीं आगे बढ़ गये थे। मैं दोनों की तुलना नहीं करना चाहता। दोनों ही तरफ़ की बातें अफ़सोस के क़ाबिल हैं। लेकिन हमारे एक-तरफ़ा इतिहास में भारतवासियों की दग़ाबाज़ी और बेरहमी का तो ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर बखान किया गया है, लेकिन दूसरी तरफ़ का ज़िक्र तक नहीं किया गया है। यह भी याद रखने की बात है कि एक संगठित सरकार फ़िसादी भीड़ की तरह बर्ताव करने लगे, तो उसकी बेरहमी के मुक़ाबले में फ़िसादी भीड़ की बेरहमी कुछ भी नहीं है। अगर आज भी तुम अपने प्रान्त के गांवों में घूमो, तो तुम्हें ऐसे लोग मिलेंगे, जिन्हें उन ज़ुल्मों की तसवीर खड़ी करनेवाली और भयानक याद अभी तक बनी हुई है, जो विद्रोह को कुचलने में उनपर ढाये गए।

इस विद्रोह की दिल दहलानेवाली बातों, और उसके दमन के बीच, एक नाम सामने आता है, जो काली पृष्ठ-भूमि पर चमकता है। यह नाम है बीस साल की बाल-विधवा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का, जो मर्दों का बाना पहनकर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ अपनी प्रजा की नेता बनकर मैदान में निकल आई। उसके जोश, उसकी लियाक़त और उसके बेधड़क साहस की बहुत-सी कहानियां कही जाती हैं। यहांतक कि जिस अंग्रेज़ सेनापति ने उसका मुक़ाबला किया था, उसने भी उसे बाग़ी नेताओं में "सबसे श्रेष्ठ और सबसे बहादुर" कहा है। वह लड़ती हुई मैदान में काम आई।

१८५७-५८ ई० का विद्रोह सामन्ती भारत की आख़िरी टिमटिमाहट थी। इसने बहुत-सी बातों का अन्त कर दिया। इसने महान मुग़लवंश का सिल-सिला ख़तम कर दिया, क्योंकि बहादुरशाह के दोनों पुत्रों और एक पोते को हडसन नामक एक अंग्रेज़ अफ़सर ने दिल्ली ले जाते वक्त बिना किसी वजह या उत्तेजना के, बड़ी बेदर्दी के साथ गोलियों से उड़ा दिया। इस तरह ज़लील होकर तैमूर, बाबर और अकबर के वंश का सिलसिला ख़तम हो गया।

विद्रोह ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का भी अन्त कर

दिया। शासन की बागडोर ब्रिटिश सरकार ने सीधी अपने हाथ में ले ली और अंग्रेज़ी गवर्नर-जनरल अब 'वाइसराय' के रूप में खिला। उन्नीस वर्ष बाद, १८७७ ई० में, इंग्लैण्ड की रानी ने, बिज़ैन्तीन साम्राज्य और सीज़रों की पुरानी उपाधि के भारतीय रूप 'क़ैसरे हिन्द' की उपाधि ले ली। मुग़ल राजवंश अब ख़तम हो गया था। लेकिन निरंकुशता की भावना ही नहीं बल्कि उसके चिन्ह भी बाक़ी रह गये, और इंग्लैण्ड में एक दूसरा महान मुग़ल बैठ गया।

## : ११० :

# भारतीय कारीगर की रोजी छिन जाती है

१ दिसम्बर, १९३२

भारत में उन्नीसवीं सदी के युद्धों का हाल हम ख़तम कर चुके। मुझे इससे ख़ुशी है। अब हम इस समय की दूसरी बड़ी-बड़ी घटनाओं पर विचार कर सकते हैं। लेकिन यह याद रखना कि इंग्लैण्ड को फ़ायदा पहुंचानेवाले ये युद्ध भारत के ही ख़र्चे पर लड़े गये थे। अंग्रेज़ों ने भारतवासियों को जीतने का ख़र्चा उन्हीं-से वसूलने का तरीक़ा बड़ी सफलता के साथ बरता। अपने पड़ौसी बर्मियों और अफ़ग़ानों से भारतवासियों का कोई झगड़ा नहीं था, लेकिन इन्हें जीते जाने की क़ीमत भी उन्होंने अपनी जानें और अपना माल देकर चुकाई। इन युद्धों ने कुछ हद तक भारत को ग़रीब बना दिया, क्योंकि युद्ध का मतलब ही है दौलत का नाश। जैसा कि हम सिन्ध के मामले में देख चुके हैं, युद्ध का मतलब जीतनेवालों को लूट का माल मिलना भी है। ऐसे ही व दूसरे कारणों से पैदा हुई ग़रीबी के बावजूद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के ख़जाने में सोने और चांदी की नदी बहती रही, जिससे कि उसके हिस्सेदारों को भारी मुनाफ़े मिलते रहें।

मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें बतला चुका हूं कि भारत में अंग्रेज़ी सत्ता की शुरूआत के दिन उन क़िस्मत आज़मानेवाले व्यापारियों के दिन थे, जिन्होंने यहां तिजारत और लूटमार की अंधाधुंधी मचा रक्खी थी। इस तरह ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके कारिन्दे भारत की बेशुमार जमा दौलत ले गये। इसके बदले में भारत को वास्तव में कुछ भी नहीं मिला। मामूली तिजारत में कुछ आपसी देन-लेन हुआ करता है। लेकिन अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में, पलासी की लड़ाई के बाद से, सारी दौलत एक ही तरफ़—इंग्लैण्ड—को जाने लगी। इस तरह भारत की पुरानी सम्पत्ति का ज्यादा हिस्सा छिन गया, और इसने परिवर्तन के गाढ़े समय में इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास में मदद पहुंचाई। भारत में तिजारत और नंगी-लूट पर टिका हुआ यह पहला ब्रिटिश काल मोटे तौर पर, अठारहवीं सदी के अन्त के साथ ख़तम हुआ।

अंग्रेज़ी राज का दूसरा काल सारी उन्नीसवीं सदी है, जिसमें भारत, इंग्लैण्ड के कारखानों को भेजे जानेवाले कच्चे माल का एक ज़बर्दस्त भंडार और वहां के तैयार माल की बिक्री के लिए एक हाट-बाज़ार बन गया। यह सब भारत की प्रगति और उसके आर्थिक विकास का ख़ून करके किया गया था। इस सदी के पहले भाग में भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था, जो एक व्यापारिक कम्पनी थी और जो रुपया पैदा करने के उद्देश्य से क़ायम हुई थी। लेकिन बाद में ब्रिटिश पार्लमेण्ट भारतीय मामलों पर दिन-पर-दिन ज्यादा ध्यान देने लगी। अन्त में, जैसा कि हमने पिछले पत्र में देखा है, १८५७-५८ ई० के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत के राज को सीधा अपने हाथ में ले लिया। लेकिन इससे बुनियादी नीति में कोई बड़ा फ़र्क नहीं पड़ा, क्योंकि सरकार उसी वर्ग की प्रतिनिधि थी, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मालिक था।

भारत और इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों के बीच साफ़ टक्कर थी। चूंकि सारी सत्ता इंग्लैण्ड के हाथ में थी, इसलिए इस टक्कर का फैसला हमेशा इंग्लैण्ड के ही हक़ में होता था। इंग्लैण्ड के उद्योगीकरण से पहले ही एक मशहूर अंग्रेज़ लेखक ने भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज के नुकसान पहुंचानेवाले नतीजों की तरफ़ इशारा कर दिया था। यह व्यक्ति था एडम स्मिथ, जिसे राजनीतिक अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। 'वैल्थ ऑफ् नेशन्स'—यानी 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' नामक अपनी मशहूर किताब में, जो १७७६ ई० में ही प्रकाशित हो गई थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ज़िक्र करते हुए, वह कहता है —

> "चाहे किसी भी देश के लिए हो, ऐसी सरकार, जो सिर्फ़ व्यापारियों की कम्पनी से ही बनी हो, सबसे बुरी सरकार होती है।... राजा होने के नाते तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इसीमें है कि उसके भारतीय उपनिवेश को भेजा जानेवाला यूरोपीय माल वहां सस्ते-से-सस्ता बिके और वहां से लाया हुआ माल यहां महंगा-से-महंगा बिके। लेकिन व्यापारी की हैसियत से उसका हित इससे बिलकुल उलटी बात में है। राजा के नाते तो उसके हित बिलकुल वही होने चाहिए, जो उसके राज के देश के हैं। लेकिन व्यापारियों की हैसियत से उसका हित उस देश के हितों से बिलकुल उलटा है।"

मैं तुम्हें बता चुका हूं कि जब अंग्रेज़ भारत में आये, उस समय यहां की पुरानी सामन्ती व्यवस्था नष्ट हो रही थी। मुग़ल साम्राज्य के पतन ने भारत के कई हिस्सों में राजनैतिक हंगामा व गड़बड़ी पैदा कर दिये थे। लेकिन फिर भी, जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है—"अठारहवीं सदी में भारत एक बड़ा उद्योग-प्रधान और साथ ही बड़ा कृषि-प्रधान देश था,

और भारतीय करघों का माल एशिया और यूरोप के बाज़ारों में बिकता था।" अपने इसी पत्र-व्यवहार में मैं तुम्हें बतला चुका हूं कि प्राचीन काल में विदेशी बाज़ारों पर भारत का क़ब्ज़ा था। मिस्र की चार हज़ार वर्ष पुरानी मोमियाइयां बढ़िया भारतीय मलमल में लपेटी हुई मिली हैं। भारतीय कारीगरों की दस्त-कारी पूर्व में और पश्चिम में मशहूर थी। देश का राजनैतिक पतन होने पर भी यहां के कारीगर अपने हाथ के हुनर को भूले नहीं थे। अंग्रेज़ और दूसरे विदेशी व्यापारी, जो भारत में तिजारत की तलाश में आते थे, यहांपर विदेशी माल बेचने के लिए नहीं, बल्कि यहां की बनी हुई बढ़िया और नफ़ीस चीज़ें ख़रीद-कर यूरोप में खूब मुनाफ़े पर बेचने के लिए ले जाने को आते थे। इस तरह शुरू में अंग्रेज़ व्यापारी यहां के कच्चे माल से नहीं, बल्कि यहां के तैयार माल से खिंचकर यहां आये थे। यहां हुकूमत हासिल करने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के बने सूती, ऊनी, रेशमी और ज़री के माल का बड़ा लाभदायक व्यापार करती थी। कपड़े के उद्योग में, यानी सूती, रेशमी और ऊनी माल बनाने में इस देश की कला ख़ास तौर पर ऊंचे दरजे को पहुंच गई थी। रमेशचन्द्र दत्त के शब्दों में— "बुनाई लोगों का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई लाखों स्त्रियों का धन्धा था।" भारत के बने हुए कपड़े इंग्लैण्ड और यूरोप के दूसरे हिस्सों को, और चीन, जापान, बर्मा, अरब, फ़्रांस और अफ़्रीका के कुछ हिस्सों को भेजे जाते थे।

क्लाइव ने बंगाल के शहर मुर्शिदाबाद का, १७५७ ई० के समय का, बयान करते हुए लिखा है कि "यह नगर लन्दन के समान लम्बा-चौड़ा, घनी आबादी-वाला और मालदार है। लेकिन फ़र्क़ यह है कि इस शहर में ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके पास लन्दन के मुक़ाबले में बहुत ही ज़्यादा सम्पत्ति है।" यह पलासी की लड़ाई के साल की बात है जब अंग्रेज़ों ने अपने क़दम बंगाल में पूरी तरह जमा लिये थे। राजनैतिक गिरावट के इस क्षण में भी बंगाल मालदार था और बहुत-से उद्योग-धन्धों से भरा-पूरा था और दुनिया के कई हिस्सों में अपना बढ़िया कपड़ा भेजता रहता था। ढाका शहर अपनी नफ़ीस मलमलों के लिए ख़ास तौर पर मशहूर था और इन मलमलों का विदेशी व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

मतलब यह कि इस ज़माने का भारत निरे कृषि-प्रधान और देहाती दर्जे से बहुत ऊंचा बढ़ा हुआ था। यह ठीक है कि यह देश ज़्यादातर कृषि-प्रधान था, अब भी है, और आगे भी बहुत दिनों तक रहेगा। लेकिन उस समय यहां देहाती-जीवन और खेती के साथ-साथ नागरिक जीवन का भी विकास हो चुका था। इन नगरों में कारीगर और दस्तकार जमा होते थे। और सामूहिक रूप से माल तैयार करते थे, यानी छोटे-छोटे कारख़ाने थे, जिनमें सौ या सौ से ज़्यादा कारी-गर काम करते थे। अलबत्ता इन कारख़ानों का मुक़ाबला बाद में आनेवाले मशीन

युग के बड़े-बड़े कारखानों से नहीं किया जा सकता। लेकिन उद्योगवाद के आने से पहले पश्चिमी यूरोप में, और खासकर निदरलैण्ड्स में, इस तरह के बहुत-से छोटे-छोटे कारखाने थे।

भारत इस समय परिवर्तनों की अवस्था में था। यह माल तैयार करनेवाला देश था और शहरों में एक मध्यम-वर्ग तैयार हो रहा था। इन कारखानों के मालिक पूंजीपति थे, जो कारीगरों को कच्चा माल देकर उनसे माल तैयार करवाते थे। इसमें शक नही कि समय आने पर ये लोग भी इतने शक्तिशाली हो जाते कि यूरोप की तरह सामन्ती वर्ग को हटाकर उसकी जगह ले लेते। लेकिन ठीक इसी समय अंग्रेज़ बीच में आ कूदे और नतीजा यह हुआ कि भारत के उद्योग-धन्धों को सख़्त चोट लगी।

शुरू-शुरू में तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय उद्योग-धन्धों को बढ़ावा दिया, क्योंकि इनसे वे पैसा पैदा करते थे। विदेशों में भारतीय माल की बिक्री से इंग्लैण्ड में सोना-चांदी आते थे। लेकिन इंग्लैण्ड के कारख़ानेदार इस होड़ को पसन्द नही करते थे, इसलिए अठारहवीं सदी के शुरू में उन्होंने अपनी सरकार को इंग्लैण्ड में आनेवाले भारतीय माल पर चुंगी लगाने पर आमादा कर दिया। कुछ भारतीय चीज़ों का इंग्लैण्ड में आना बिलकुल रोक दिया गया, और मेरे ख़याल से भारत के बने कुछ कपड़ों को पहनकर निकलना जुर्म तक क़रार दे दिया गया था। वे लोग अपने बायकाट पर क़ानून की मदद से अमल करा सकते थे। और यहां भारत में इन दिनों अंग्रेज़ी कपड़े के बायकाट की चर्चा ही किसी-को जेल पहुंचा देने के लिए काफ़ी है! भारतीय माल के बायकाट की इंग्लैण्ड की यह नीति इतने ही तक रहती तो भी ज़्यादा नुक़सान की बात न थी, क्योंकि भारत के लिए और भी बहुत हाट-बाज़ार थे, लेकिन उस समय संयोग से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मारफ़त इंग्लैण्ड का भारत के बहुत बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा था, इसलिए उसने अब इरादा करके भारतीय उद्योगों का गला घोंटकर ब्रिटिश उद्योगों को आगे बढ़ाने की नीति शुरू की। अब अंग्रेज़ी माल बिना किसी चुंगी के भारत में आने लगा। यहां के दस्तकारों और कारीगरों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारख़ानों में काम करने के लिए तरह-तरह से सताया और मजबूर किया गया। यहां तक कि कितनी ही रवानगी चुंगियां, जो माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर चुकानी पड़ती थीं, लगाकर भारत के अन्दरूनी व्यापार के हाथ-पैर काट दिये गए।

भारत का कपड़े का उद्योग इतने अच्छे ढंग का था कि इंग्लैण्ड का बढ़ता हुआ मशीन उद्योग भी उससे बाज़ी न ले सका और उसकी रक्षा करने के लिए भारतीय माल पर अस्सी फ़ीसदी के क़रीब चुंगी लगानी पड़ी। शुरू उन्नीसवीं सदी में भारत

के कुछ रेशमी और सूती कपड़े इंग्लैण्ड के बाज़ार में, वहां के बने माल से बहुत सस्ते दामों में बिका करते थे। लेकिन जब भारत में हुकूमत करनेवाली शक्ति, इंग्लैण्ड, भारतीय उद्योगों को कुचल डालने पर तुला हुआ था, तो यह हालत ज़्यादा दिन नहीं रह सकती थी। फिर भारत के कुटीर-उद्योगों से बना हुआ माल, बढ़ते हुए मशीनी उद्योग से किसी भी हालत में ज़्यादा दिन मुक़ाबला नहीं कर सकता था। मशीनी उद्योग भारी मिक़दार में माल तैयार करने का बड़ा कारगर तरीक़ा है, और इसलिए वह माल कुटीर-उद्योगों के माल से कहीं ज़्यादा सस्ता पड़ता है। लेकिन इंग्लैण्ड ने ज़बर्दस्ती भारतीय उद्योगों का ख़ातमा करने में जल्दी की, और भारत को मौक़ा नहीं दिया कि वह धीरे-धीरे अपने-आपको बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ बना ले।

इस तरह भारत, जो सैकड़ों वर्षों तक पूर्वी 'दुनिया का लंकाशायर' रहा था, और जो अठारहवीं सदी में यूरोप को बड़े पैमाने पर सूती माल देता रहता था, अब माल तैयार करनेवाले देश की हैसियत खो बैठा और ब्रिटिश माल का महज़ ग्राहक रह गया। मामूली हिसाब से मशीन भारत में आती ही, लेकिन ऐसा नहीं हुआ, बल्कि मशीन से बना हुआ माल बाहर से आया। भारत से विदेशों को माल ले जाने और बदले में सोना और चांदी लाने की जो धारा बह रही थी, उसका रुख़ उलटा हो गया। अब विदेशी माल भारत में आने लगा, और यहां के सोना-चांदी बाहर जाने लगे।

इस हमले का सबसे पहला शिकार हुआ भारत का कपड़ा उद्योग। और जैसे-जैसे इंग्लैण्ड में मशीनी उद्योग की तरक्क़ी होती गई वैसे-ही-वैसे भारत के दूसरे उद्योग भी कपड़ा-उद्योग की राह जाने लगे। आम तौर पर किसी भी देश की सरकार का यह फ़र्ज़ होता है कि वह उस देश के उद्योगों की रक्षा करे और उन्हें बढ़ावा दे। मगर रक्षा और बढ़ावा तो दूर, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगों से टक्कर लेनेवाले हरेक भारतीय उद्योग को कुचल दिया। भारत में जहाज बनाने का काम चौपट हो गया, धातुकार लोग अपना कारोबार न चला सके और कांच और काग़ज़ बनाने का धन्धा भी धीरे-धीरे कम हो गया।

शुरू में विदेशी माल बन्दरगाहोंवाले शहरों में और उन्हींके आस-पास के अन्दरूनी हिस्सों में पहुंचता था। जैसे-जैसे सड़कें और रेलें बनती गईं, विदेशी माल दिन-पर-दिन देश में अन्दर पहुंचता गया, यहांतक कि इसने गांवों से भी कारीगरों को निकाल बाहर किया। स्वेज़ नहर का सीधा रास्ता निकल आने से इंग्लैण्ड भारत के और भी नज़दीक हो गया। इसलिए अंग्रेज़ी माल यहां अब और भी सस्ता पड़ने लगा। इस तरह मशीनों का विदेशी माल दिन-पर-दिन ज़्यादा आने लगा, और दूर-दूर के गांवों तक में पहुंचने लगा। उन्नीसवीं सदी भर यह

धन्धे भी ग़ायब होने लगे। धुनाई, रंगाई और छींट-छपाई के काम कम होते गये, हाथ-कताई बन्द हो गई और लाखों घरों से चरखा उठ गया। इसका अर्थ यह हुआ कि किसान-वर्ग की आमदनी का अतिरिक्त साधन जाता रहा, क्योंकि किसान को कुनबे के लोगों की कताई से खेती की आमदनी के अलावा ऊपर की आमदनी में मदद मिलती थी। मशीनी उद्योग के शुरू होने पर यही सब कुछ पश्चिमी यूरोप में भी हुआ था। लेकिन वहां परिवर्तन अपने-आप हुआ और अगर एक व्यवस्था का अन्त हुआ तो उसी समय दूसरी नई व्यवस्था का जन्म भी हो गया। लेकिन भारत में यह परिवर्तन ज़ोर-ज़बदस्ती से हुआ। माल तैयार करनेवाले कुटीर-उद्योगों की पुरानी व्यवस्था मार डाली गई, लेकिन नई व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ; ब्रिटिश उद्योगों के फ़ायदे की खातिर अंग्रेज़ सत्ताधारियों ने ऐसा होने ही नहीं दिया।

हम देख चुके हैं कि जिस समय अंग्रेज़ों ने यहां हुकूमत हासिल की, उस समय भारत माल तैयार करनेवाला खुशहाल देश था। क़ुदरती तौर से तो दूसरी मंज़िल यही होनी चाहिए थी कि देश को उद्योगोंवाला बनाया जाता और बड़ी-बड़ी मशीनें चालू की जातीं। लेकिन ब्रिटिश नीति के सबब से भारत आगे बढ़ने के बजाय पीछे चला गया। वह तो अब माल तैयार करनेवाला देश तक भी न रहा, और पहले से भी ज्यादा कृषि-प्रधान हो गया।

इस तरह बेरोज़गार कारीगरों और दूसरे लोगों की इतनी बड़ी संख्या का बोझ बेचारी अकेली खेती के सिर आ पड़ा। धरती पर ज़बर्दस्त बोझा पड़ गया, और फिर भी यह बराबर बढ़ता ही गया। भारत की ग़रीबी की समस्या की यही बुनियाद है और यही आधार है। हमारी ज़्यादातर तकलीफें इसी नीति के नतीजे हैं। और जबतक यह बुनियादी समस्या हल नहीं हो जाती, तबतक भारतीय किसान वर्ग की और ग्राम-वासियों की ग़रीबी और मुसीबतों का अन्त नहीं हो सकता।

बहुत ज़्यादा लोगों के पास खेती के सिवा और कोई दूसरा पेशा न होने और ज़मीन के सहारे ही लटके होने के कारण, उन्होंने अपने खेतों और अपने कब्ज़े की ज़मीनों को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट डाला। गुज़ारे के लिए और ज़्यादा ज़मीन थी ही नहीं। ज़मीन का छोटा-सा टुकड़ा, जो हर किसान-कुनबे के पल्ले पड़ा, इतना छोटा था कि उससे उसका अच्छी तरह गुज़ारा नहीं हो सकता था। सुकाल के दिनों में भी ग़रीबी और आधा-पेट भोजन की हालत उनके सामने खड़ी रहती थी। और अक्सर करके तो अकाल की ही हालत रहती थी। इन लोगों को मौसमों, कुदरत की ताकतों और बरसाती हवाओं की दया के ही आसरे रहना पड़ता था। अकाल पड़ते, भयंकर बीमारियां फैलती और ये लाखों को उठा ले

जाते। ये लोग गांव के सूदखोर बनिये के पास पहुंचकर उससे रुपया उधार लेते थे, और इनका क़र्ज़ दिन-पर-दिन बढ़ता जाता और उसकी अदायगी की आशा और सम्भावना दूर होती जाती, और जीवन एक कमर-तोड़ भार बन जाता। भारत की आबादी के बहुत बड़े हिस्से की, उन्नीसवीं सदी में, अंग्रेज़ों के राज में यह हालत हो गई !

## : १११ :
## भारत के गांव, किसान और ज़मींदार

२ दिसम्बर, १९३२

मैंने अपने पिछले पत्र में भारत में बरती गई अंग्रेज़ों की उस नीति का हाल बताया था, जिसका नतीजा हुआ यहां के कुटीर-उद्योग-धंधों की मौत और कारीगरों का खेती और गांवों की ओर खदेड़ा जाना। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, भारत की सबसे बड़ी समस्या है धरती पर इतने ज़्यादा ऐसे लोगों का बहुत ज़्यादा दबाव या भार पड़ना, जिनके पास और कोई धन्धा नहीं है। भारत की ग़रीबी का सबसे बड़ा कारण यही है। अगर ये लोग धरती से हटाकर दौलत पैदा करने वाले दूसरे पेशों में लगा दिये जा सकें तो वे न सिर्फ़ देश की दौलत को बढ़ायेंगे, बल्कि धरती पर दबाव बहुत कम हो जायगा और खेती भी चमक उठेगी।

अक्सर यह कहा जाता है कि धरती पर यह ज़रूरत से ज़्यादा दबाव भारत की आबादी में बढ़ोतरी की वजह से है, न कि अंग्रेज़ों की नीति के सबब से। लेकिन यह दलील सही नहीं है। यह सच है कि भारत की आबादी पिछले सौ वर्षों में बढ़ गई है, लेकिन और भी तो बहुत-से देशों की आबादी बढ़ी है। वास्तव में यूरोप में, और ख़ासकर इंग्लैण्ड, बेलजियम, हॉलैण्ड और जर्मनी में, इस बढ़ोतरी का अनुपात बहुत ज़्यादा रहा है। किसी देश की या सारे संसार की आबादी की बढ़ोतरी और उसके गुज़ारे का, और जब ज़रूरत हो तब इस बढ़ोतरी को रोकने का, सवाल बड़े महत्व का है। मैं इस जगह इस सवाल को नहीं छेड़ना चाहता, क्योंकि इससे दूसरे मुद्दों में उलझन पैदा हो सकती है। लेकिन यह मैं ज़रूर साफ़ कर देना चाहता हूं कि भारत में धरती पर दबाव पड़ने का असली कारण खेती के सिवा दूसरे पेशों की कमी होना है, न कि आबादी में बढ़ोतरी होना। भारत की मौजूदा आबादी के लिए शायद आसानी से गुंजाइश हो सकती है, और वह फूल-फल भी सकती है, बशर्ते कि दूसरे पेशे और उद्योग खुले हुए हों। हो सकता है कि आगे चलकर हमें आबादी की बढ़ोतरी के सवाल पर विचार करना पड़े।

आओ, अब हम भारत में ब्रिटिश नीति के दूसरे पहलुओं की जांच करें। पहले हम गांवों में चलेंगे।

मैंने अक्सर तुम्हें भारत की ग्राम-पंचायतों के बारे मे लिखा है और यह बताया है कि किस तरह हमलों और परिवर्तनों के बीच भी उन्होंने अपनी हस्ती को क़ायम रक्खा। अभी क़रीब सौ वर्ष पहले, १८३० ई० में, भारत के अंग्रेज़ गवर्नर सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने इन ग्राम-पंचायतों का इस तरह बयान किया था—

> "ग्राम-पंचायतें छोटे-छोटे गणराज्य हैं; अपनी ज़रूरत की क़रीब-क़रीब हरेक चीज़ उनमें मौजूद है; और बाहरी सम्बन्धों से वे हर तरह स्वाधीन हैं। ऐसा मालूम होता है कि जहां कोई दूसरी चीज़ नहीं ठहर पाती, उनकी हस्ती क़ायम रहती है। ग्राम-पंचायतों का यह संघ, जिसमे हरेक पंचायत खुद एक अलग छोटे-से राज्य के समान है, उनके सुख-शान्ति से रहने में, और उन्हें आज़ादी व स्वाधीनता से रहने में, बहुत हद तक सहायक होता है।"

वह बयान इस पुरानी गांव-प्रणाली की बड़ाई करनेवाला है। गांवों की हालत का यह एक बिलकुल काव्यमय वर्णन है। इसमें कोई शक नहीं कि स्थानीय आज़ादी और स्वाधीनता, जो गांवों को हासिल थीं, अच्छी चीज़ें थीं, और इनके सिवा और भी कई अच्छी बातें थीं। लेकिन साथ ही हमें इस प्रणाली के दोषों को भी नही भुला देना चाहिए। सारी दुनिया से विलग, अपने ही आसरे गांव का जीवन बिताना किसी प्रगति में सहायक नहीं हो सकता था। बड़ी-बड़ी और उनसे बड़ी-बड़ी इकाइयों के आपसी सहयोग मे ही उन्नति और प्रगति है। जितना ही ज़्यादा कोई व्यक्ति या समुदाय अपने ही हाल में मस्त रहता है, उतना ही ज़्यादा उसके अहंकारी, स्वार्थी और तंगदिल होते जाने का अन्देशा रहता है। शहरों के निवासियों के मुक़ाबले में गांवों के लोग अक्सर तंगदिल और अन्ध-विश्वासी होते हैं। इसलिए ग्राम-संस्थाएं अपनी तमाम अच्छाइयों को रखते हुए भी, प्रगति के केन्द्र नहीं बन सकती थीं। बल्कि वे किसी हद तक ठेठ पुरानी और पिछड़ी हुई थीं। दस्तकारियों और उद्योग-धन्धे तो नगरों में ही फूलते-फलते थे। हां, बुनकर बहुत बड़ी संख्या में गांवों में ज़रूर फैले हुए थे।

ग्राम-समुदाय एक दूसरे से ज़्यादा सम्पर्क रखे बिना ही अपना अलग जीवन क्यों बिताते थे, इसका असली कारण था आवा-जाई के साधनों का अभाव। गांवों को एक दूसरे से जोड़नेवाली अच्छी सड़कें थीं ही नहीं। वास्तव में अच्छी सड़कों के इस अभाव ने ही देश की केन्द्रीय सरकार के लिए गांवों के मामलों में बहुत ज़्यादा दखल देना कठिन बना दिया था। बड़ी नदियों के किनारों के. या आस-पास के क़स्बों और गांवों के बीच तो नावों के ज़रिये आवा-जाई हो सकती थी। लेकिन ऐसी बड़ी नदियां भी तो नहीं थीं, जो इस तरह का साधन बन सकतीं। आवा-जाई के आसान साधनों की इस कमी ने अन्दरूनी व्यापार में भी रुकावट डाली।

बहुत वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का उद्देश्य सिर्फ़ रुपया कमाना और अपने हिस्सेदारों में मुनाफ़ा बांटना ही रहा। सड़कों पर वह बहुत कम ख़र्च करती थी और शिक्षा, सफ़ाई व अस्पतालों वग़ैरा पर तो बिल्कुल ही नहीं। लेकिन बाद में जब अंग्रेजों ने कच्चा माल ख़रीदने और अंग्रेज़ी मशीनों का बना माल बेचने पर अपना सारा ध्यान लगाया, तब आवा-जाई के साधनों के बारे में उन्होंने दूसरी नीति अपनाई। बढ़ते हुए विदेशी व्यापार की ज़रूरतें पूरी करने के लिए भारत के समुद्र-तट पर नये-नये शहर पैदा हो गये। ये शहर, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और बाद में करांची, विदेशों को भेजने के लिए रुई वग़ैरा कच्चा माल जमा करते और मशीनों का बना विदेशी माल, ख़ासकर इंग्लैण्ड से आया हुआ, भारत में वितरण और बिक्री के लिए मंगाते थे। पश्चिम में जो लिवरपूल, मैन्चेस्टर, बरमिंघम, शेफील्ड, जैसे बड़े-बड़े उद्योगी शहर बढ़ रहे थे, उनमें व इस नये शहरों में बहुत फ़र्क़ था। यूरोपीय शहर माल तैयार करने के बड़े-बड़े कारख़ानों वाले उत्पादक केन्द्र थे और इस माल को बाहर भेजने के लिए बन्दरगाह थे। इधर भारत के ये नये शहर कुछ भी उत्पादन नहीं करते थे। वे तो सिर्फ विदेशी तिजारत के गोदाम और विदेशी राज के चिह्न थे।

मैं अभी बता आया हूं कि अंग्रेज़ों की नीति के कारण भारत दिन-पर-दिन देहाती बनता जा रहा था और लोग शहरों को छोड़-छोड़कर गांवों की ओर धरती की तरफ़ जा रहे थे। इसके बावजूद और इस सिलसिले पर बिना कुछ असर डाले, समुद्र के किनारे ये नये शहर पैदा हो गये। ये शहर गांवों को नहीं, बल्कि छोटे शहरों और क़स्बों को मिटाकर पैदा हुए थे। देहातीकरण का आम सिलसिला चलता ही रहा।

कच्चे माल को इकट्ठा करने और विदेशी सामान के वितरण में मदद देने के लिए समुद्र के किनारे के इन नये शहरों को देश के अन्दरूनी हिस्सों से जोड़ा जाना ज़रूरी था। राजधानियों और प्रान्तों के प्रशासन-केन्द्रों के रूप में कुछ दूसरे शहर भी खड़े हो गये। इस तरह आवा-जाई के अच्छे साधनों की ज़रूरत बहुत बढ़ गई। अब सड़कें बनाई गईं, और बाद में रेलें भी। सबसे पहला रेलमार्ग १८५३ ई० में बम्बई में डाला गया।

भारतीय उद्योग-धन्धों के नाश से पैदा होनेवाली बदलती हुई हालतों के अनुकूल ढलने में पुराने ग्राम-समुदायों को बड़ी कठिनाई हुई। लेकिन जब अच्छी सड़कें व रेलमार्ग और ज़्यादा बने, और सारे देश में फैल गये, तब अन्त में गावों की पुरानी व्यवस्था भी, जो इतने अर्से से टिकी हुई थी, टूटकर ख़तम हो गई। जब दुनिया उनके यहां पहुंचकर दरवाज़े खटखटाने लगी, तो गांवों के छोटे-छोटे

गणराज्य उससे विलग होकर न रह सके। एक गांव में चीज़ों की क़ीमतों का असर फ़ौरन ही दूसरे गांवों की क़ीमतों पर पड़ने लगा, क्योंकि अब एक गांव से दूसरे को चीज़ें आसानी से भेजी जा सकती थीं। वास्तव में, जैसे-जैसे दुनिया में सब जगह आवा-जाई के साधन बढ़ते गये, वैसे ही संयुक्त राज्य अमेरिका या कनाडा के गेहूं की क़ीमत का असर भारत के गेहूं की क़ीमत पर पड़ने लगा। इस तरह ज़ोरदार घटना-चक्र ने भारतीय ग्राम-प्रणाली को खींचकर अन्तर्राष्ट्रीय क़ीमतों के दायरे में ला पटका। गांवों की पुरानी अर्थ-व्यवस्था टूक-टूक हो गई, और जब किसानों पर एक नई व्यवस्था जबर्दस्ती लाद दी गई, तो वे अचम्भा करते ही रह गये। अब यह किसान-वर्ग अपने गांवों की हाट के बजाय दुनिया के हाट-बाजार के लिए अनाज व दूसरा सामान तैयार करने लगा। वह संसार-व्यापी उत्पादन और क़ीमतों के भंवर में फंस गया और दिन-पर-दिन ज़्यादा डूबता गया। पहले ज़मानों में फसल बिगड़ जाने पर भारत में अकाल पड़ते थे, और न तो लोगों के पास जमा किया हुआ कुछ होता था और न कोई ऐसे अच्छे साधन थे जिनसे देश के दूसरे भागों से अनाज मंगवाया जा सकता। इस तरह भोजन के अकाल पड़ते थे। लेकिन अब एक अजीब बात हुई। अब लोग बहुतायत के बीच या अनाज उपलब्ध होने पर भी भूखे मरने लगे। अगर अकाल के इलाके में अनाज उपलब्ध न हो तो रेलगाड़ियों या जल्दी के दूसरे साधनों के ज़रिये दूसरी जगहों से लाया जा सकता था। अनाज तो मौजूद था, लेकिन उसे खरीदने के लिए पैसा नहीं था। इस तरह अब अकाल पैसे का था, अनाज का नहीं। इससे भी ज़्यादा अजीब बात यह थी कि, जैसा मन्दी के पिछले तीन वर्षों में हमने देखा है, कभी-कभी फसल का बहुत ज़्यादा होना ही किसान-वर्ग की मुसीबत का कारण बन जाता था।

इस तरह पुरानी ग्राम-व्यवस्था खतम हो गई, और पंचायतों की हस्ती मिट गई। लेकिन हमें इसके लिए कोई ज़्यादा अफ़सोस करने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि इस प्रणाली के दिन बीत चुके थे और यह आजकल की हालतों से मेल नहीं खाती थी। लेकिन यहां भी यह प्रणाली तो टूट गई, लेकिन नई हालतों से मेल खानेवाली कोई नई ग्राम-व्यवस्था पैदा नहीं हुई। दुबारा तामीर और नये जन्म का यह काम अब भी हमारे करने के लिए बाक़ी है।

अभी तक हमने ज़मीन व किसानों पर ब्रिटिश नीति के अप्रत्यक्ष नतीजों का विचार किया है। अब हमको ईस्ट इण्डिया कम्पनी की असली नीति पर, यानी उस नीति पर, विचार करना है, जिसका किसान पर और धरती से ताल्लुक़ रखने-वाले सभी लोगों पर, सीधा असर पड़ा। मुझे डर है कि तुम्हारे लिए यह एक पेचीदा और ज़रा रूखा विषय होगा। लेकिन हमारा देश इन ग़रीब किसानों से भरा पड़ा है, इसलिए हमें यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि उनकी क्या तकलीफ़ें

हैं और किस तरह हम उसकी सेवा कर सकते हैं और उनकी बुरी हालत को सुधार सकते हैं।

हम लोग ज़मींदारों, ताल्लुक़ेदारों और उनके असामियों के बारे में सुना करते हैं। असामी भी कई तरह के होते हैं, और असामियों के भी असामी होते हैं। मैं इन सबकी पेचीदगियों में तुम्हें नहीं ले जाना चाहता। मोटे तौर पर आजकल के ज़मींदार बिचौलिये हैं, यानी उनका दर्ज़ा सरकार और काश्तकारों के बीच में है। काश्तकार उनका असामी है और वह उन्हें धरती के इस्तेमाल के बदले लगान देता है, क्योंकि धरती ज़मींदार की मिलकियत समझी जाती है। ज़मींदार इस लगान का कुछ हिस्सा मालगुज़ारी के रूप में अपनी ज़मीन के टैक्स के तौर पर सरकार को अदा करता है। इस तरह जमीन की उपज तीन हिस्सों में बंट जाती है; एक हिस्सा ज़मींदार को मिलता है, दूसरा सरकार को जाता है, और तीसरा जो बचता है, असामी-काश्तकार के पल्ले पड़ता है। यह ख़याल न करना कि ये हिस्से सब बराबर-बराबर होते होंगे। किसान खेत पर काम करता है, और यह उसीकी मेहनत, जुताई, बुआई और दर्जनों तरह की दूसरी कार्रवाइयों का नतीजा है कि ज़मीन से कुछ पैदा होता है। ज़ाहिर है कि अपनी मेहनत का फल उसे मिलना चाहिए। राज्य के सारे समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से हरेक व्यक्ति के फ़ायदे के लिए बहुत-से ज़रूरी काम पूरे करने होते हैं। सरकार का काम है कि सारे बच्चों की शिक्षा का इन्तजाम करे, अच्छी सड़कें और आवा-जाई के दूसरे साधन बनावे, अस्पताल और सफाई की सेवाएं रक्खे, बाग-बगीचे और अजायबघर और बहुत-सी दूसरी बातों का इन्तज़ाम करे। इसके लिए उसे रुपयों की ज़रूरत होती है, और इसलिए यह मुनासिब ही है कि ज़मीन की पैदावार में से वह एक हिस्सा ले ले। वह हिस्सा कितना होना चाहिए, यह सवाल दूसरा है। किसान जो कुछ राज्य को देता है, वह तो असल में सड़कों, शिक्षा, सार्वजनिक सफ़ाई, वग़ैरा, सरकारी सेवाओं के रूप में उसे वापस मिल जाता है या मिल जाना चाहिए। आजकल भारत की सरकार विदेशी है, और इसलिए हम उसे पसन्द नहीं करते। ठीक तरह से संगठित और आज़ाद देश में तो जनता ही राज्य होती है।

इस तरह ज़मीन की पैदावार के दो हिस्सों से तो हम निबट चुके—एक हिस्सा काश्तकार का और दूसरा राज्य का। तीसरा, जैसाकि हम देख चुके हैं, ज़मींदार या बिचौलिये को मिलता है। इसको पाने या इसका हक़दार होने के लिए वह क्या करता है? बिलकुल कुछ भी नहीं, या असल में कुछ भी नहीं। पैदावार के काम में बिना किसी तरह की मदद पहुंचाये ही वह पैदावार का एक बड़ा हिस्सा—अपना लगान—ले लेता है। इस तरह वह बग्घी का पांचवा पहिया हो जाता है, जो न सिर्फ़ ग़ैर-ज़रूरी ही है, बल्कि एक रुकावट और ज़मीन पर बोझ भी है। और

ज़ाहिर है कि जो व्यक्ति इस ग़ैर-ज़रूरी बोझ से सबसे ज़्यादा तकलीफ़ उठाता है वह है बेचारा काश्तकार, जिसे अपनी कमाई का हिस्सा निकालकर देना पड़ता है। यही कारण है कि बहुत-से लोगों का ख़याल है कि ज़मींदार या ताल्लुक़ेदार बिलकुल ग़ैर-ज़रूरी बिचौलिया है, और ज़मींदारी एक बुरी प्रथा है, इसलिए बदल दी जानी चाहिए, जिससे कि यह बिचौलिया उड़ जाय। इस समय यह ज़मींदारी प्रथा ख़ासकर भारत के तीन प्रान्तों में, यानी बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त में, जारी है।

दूसरे प्रान्तों में काश्तकार अपना लगान आमतौर पर सीधा राज्य को अदा करते हैं, कोई बिचौलिये वहां नहीं हैं। कभी-कभी ये लोग भू-स्वामी किसान कहलाते हैं; कहीं-कहीं, जैसे पंजाब में, उन्हें ज़मींदार कहा जाता है, लेकिन ये संयुक्त-प्रान्त, बंगाल और बिहार के बड़े-बड़े ज़मींदारों से जुदा होते हैं।

इस लम्बी-चौड़ी व्याख्या के बाद अब मैं तुम्हें बताना चाहता हूं कि बंगाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त में पनपनेवाली यह ज़मींदारी प्रथा, जिसके बारे में हम इन दिनों इतना सुनते रहते हैं, भारत में एक बिलकुल नई चीज़ है। यह अंग्रेज़ों की पैदा की हुई है। उनके आने से पहले इसकी हस्ती नहीं थी।

पुराने ज़माने में इस तरह के कोई ज़मीदार, ताल्लुक़ेदार या बिचौलिये नहीं होते थे। काश्तकार अपनी पैदावार का एक हिस्सा सीधा राज्य को देते रहते थे। कभी-कभी ग्राम-पंचायत गांव के काश्तकारों की तरफ़ से यह काम कर देती थी। अकबर के ज़माने में उसके नामी वित्त-मंत्री राजा टोडरमल ने बड़ी सावधानी से ज़मीन की पैमाइश करवाई थी। सरकार या राज्य काश्तकार से पैदावार का तीसरा हिस्सा लेता था, जिसे काश्तकार चाहता तो नक़दी में भी अदा कर सकता था। आम-तौर पर करों का बोझ ज़्यादा नहीं था और वे बहुत धीरे-धीरे बढ़ाये गए थे। इसके बाद मुग़ल साम्राज्य के पतन का ज़माना आया। केन्द्रीय शासन कमज़ोर हो गया और करों की वसूली ठीक-ठीक नहीं हो सकी। तब वसूली का एक नया तरीक़ा पैदा हुआ। लगान वसूल करनेवाले तनख्वाह पर नहीं, बल्कि एजेण्ट के तौर पर नियुक्त किये गए, जो वसूल हुई रक़म का दसवां हिस्सा अपने लिए रख सकते थे। इन्हें माल-गुज़ार, या कभी-कभी ज़मींदार या ताल्लुक़ेदार कहा जाता था; लेकिन ख़याल रहे कि इन शब्दों का तब वह अर्थ नहीं होता था, जो आज किया जाता है।

जैसे-जैसे केन्द्रीय शासन ढीला पड़ता गया, यह प्रथा भी दिन-पर-दिन बिगड़ती गई। हालत यहांतक पहुंची कि हर इलाके की मालगुज़ारी का नीलाम होने लगा और सबसे ऊंची बोली लगानेवाले को यह काम मिलने लगा। इसका अर्थ यह था कि जिसे यह काम मिलता, उसको बदनसीब काश्तकार से जितना चाहें उतना रुपया ऐंठने की खुली छूट रहती थी, और अपनी इस छूट का वह भर-

पूर फ़ायदा उठाता था। धीरे-धीरे ये मालगुज़ार मौरूसी होने लगे, क्योंकि सरकार इतनी कमज़ोर हो गई थी कि इन्हें हटा न सकी।

वास्तव में पहले-पहल बंगाल में ईस्ट इंडिया कम्पनी की मानी जानेवाली क़ानूनी हैसियत मुग़ल बादशाह की तरफ़ से काम करनेवाले मालगुज़ार की थी। १७६५ ई० में कम्पनी को दिये गए 'दीवानी' के पट्टे का यही मतलब था। इस तरह कम्पनी दिल्ली के मुग़ल बादशाह की दीवान-जैसी बन गई। लेकिन यह सब धोखा था। १७५७ ई० की पलासी की लड़ाई के बाद बंगाल में अंग्रेज़ों की ही तूती बोलती थी; बेचारे मुग़ल सम्राट् के पास कहीं भी नाम को या बिल्कुल अधिकार नहीं रहा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके अफ़सर बेहद लालची थे। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूं, इन लोगों ने बंगाल का ख़ज़ाना खाली कर डाला, और जहां कहीं भी मौक़ा लगता पैसे पर ज़बर्दस्ती पंजा मारने में न चूकते थे। उन्होंने बंगाल और बिहार को निचोड़ डालने और ज़्यादा-से-ज़्यादा लगान वसूल करने की कोशिश की। उन्होंने छोटे-छोटे मालगुज़ार पैदा किये और लगान की मांग बहुत बुरी तरह बढ़ा दी। ज़मीन का लगान थोड़े ही दिनों में दुगुना हो गया और बड़ी बेदर्दी से वसूल किया जाने लगा और अगर कोई वक़्त पर लगान अदा न करता तो फ़ौरन बेदख़ल कर दिया जाता था। मालगुज़ार अपनी तरफ़ से यह बेरहमी और लालची लुटेरापन काश्तकारों पर ढाते; उनपर भारी-से-भारी लगान लगा दिया जाता, और उनके पट्टे छीन लिये जाते। पलासी की लड़ाई के बाद बारह वर्षों में यानी दीवानी की सनद दिये जाने के चार वर्षों में ही, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से, और साथ ही वर्षा न होने से, बंगाल और बिहार में ऐसा भयंकर अकाल पड़ा कि उसमें कुल आबादी का एक-तिहाई हिस्सा मर-खप गया। १७६९-७० ई० के इस अकाल की चर्चा मैं एक पिछले पत्र में कर चुका हूं, और यह भी बता चुका हूं कि इस अकाल के होते हुए भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगान की पाई-पाई वसूल करके छोड़ी। इस बारे में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफ़सरों की अनोखी मुस्तैदी का ज़िक्र खास तौर पर किये जाने के लायक़ है। बीसियों लाख पुरुष, स्त्री और बच्चे मर गये, पर उन्होंने लाशों तक से रुपया वसूल कर लिया, ताकि इंग्लैण्ड के मालदारों को भारी-से-भारी मुनाफ़े बांटे जा सकें।

इस तरह अगले बीस या कुछ अधिक वर्षों तक यही सिलसिला चलता रहा। अकाल होने पर भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी रुपया ऐंठती रही और उसने बंगाल के सुन्दर प्रान्त को तबाह कर दिया गया। बड़े-बड़े मालगुज़ार तक भिखारी हो गये, और सिर्फ़ इसीसे इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि मुसीबत के मारे काश्तकारों की क्या दुर्गति हुई होगी। हालत इतनी ख़राब हो गई कि ख़ुद ईस्ट

इण्डिया कम्पनी को चेतना पड़ा, और उसे सुधारने की कोशिश करनी पड़ी। उस समय का गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस, जो खुद इंग्लैण्ड का एक बड़ा ज़मींदार था, भारत में अंग्रेज़ी ढंग के ज़मींदार पैदा करना चाहता था। पिछले कुछ अर्से से मालगुज़ार लोग ज़मींदारों की ही तरह बर्ताव कर रहे थे। कार्नवालिस ने इनके साथ समझौता करके इन्हें ज़मींदार ही मान लिया। नतीजा यह हुआ कि पहली बार भारत को यह नया बिचौलिया मिला, और बेचारे काश्तकार महज़ असामी रह गये। अंग्रेज़ों ने इन ज़मींदारों से अपना सीधा सम्बन्ध रक्खा और उन्हें अपने असामियों के साथ मनमानी करने को खुला छोड़ दिया। ज़मींदार की लालची लूट से बेचारे किसान को बचाने का कोई उपाय न था।

बंगाल और बिहार के ज़मींदारों के साथ १७९३ ई० में कार्नवालिस ने जो बन्दोबस्त किया था, वह 'दायमी बन्दोबस्त' कहलाता है। 'बन्दोबस्त' शब्द का अर्थ है हरेक ज़मींदार सरकार को जो लगान दे, उसकी रक़म तय किया जाना। बंगाल और बिहार के लिए यह बन्दोबस्त स्थायी या हमेशा के लिए कर दिया गया। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। बाद में जब उत्तर-पश्चिम में अवध और आगरा तक अंग्रेज़ी राज्य बढ़ गया, तब उनकी नीति बदल गई। फिर ज़मींदारों के साथ बंगाल की तरह स्थायी बन्दोबस्त न करके, अस्थायी यानी थोड़े समय का बन्दोबस्त किया गया। यह अस्थायी बन्दोबस्त समय-समय पर, आमतौर पर हर तीसवें साल, दुरुस्त किया जाता था और लगान की रक़म फिर नये सिरे से तय की जाती थी। वैसे हर बन्दोबस्त में यह रक़म बढ़ती ही जाती थी।

दक्षिण में मद्रास में और उसके आस-पास ज़मींदारी प्रथा चालू नहीं थी। वहां मौरूसी काश्तकारी थी और इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सीधा किसानों से बन्दोबस्त कर लिया। लेकिन वहां और हर जगह, कम्पनी के अफ़सरों की न बुझने-वाली हविस ने लगान की रक़में बहुत ऊंची तय कर दीं और उन्हें बड़ी बेरहमी से ऐंठा गया। न देने पर फ़ौरन बेदख़ली थी; लेकिन बेचारा किसान कहां जाता? धरती पर ज़रूरत से ज़्यादा दबाव होने की वजह से हमेशा उसकी मांग रहती थी; इसलिए भूखों मरते आदमी किन्हीं भी शर्तों पर उसे लेने को तैयार रहते थे। जब मुसीबतें झेलते-झेलते किसान और ज़्यादा बर्दाश्त न कर सकते तो अक्सर लड़ाई-झगड़े और किसानी दंगे हो जाया करते थे।

उन्नीसवीं सदी के बीच में बंगाल में एक नया अत्याचार शुरू हुआ। कुछ अंग्रेज़ नील का व्यापार करने की गरज़ से ज़मींदार बन बैठे। उन्होंने अपने असा-मियों से नील की खेती के बारे में बड़ी सख़्त शर्तें कीं। उन्हें अपनी जोतों के कुछ नियत हिस्से में नील की खेती के लिए, और फिर उसे प्लाण्टर्स कहानेवाले अंग्रेज़ ज़मींदारों के हाथ एक बंधी दर पर बेचने के लिए मजबूर किया गया। यह प्रथा बागान

(प्लाण्टेशन) प्रथा कहलाती है। असामियों पर लादी गई शर्तें इतनी सख़्त थीं कि उनके लिए उनको पूरा करना बहुत मुश्किल था। तब बागानियों की मदद के लिए अंग्रेज़ सरकार आ पहुंची और उसने बेचारे किसानों से इन शर्तों के मुताबिक़ ज़बर्दस्ती नील की खेती कराने के लिए ख़ास क़ानून बना दिये। इन क़ानूनों और इनके मातहत सज़ाओं के ज़रिये नील की खेती करनेवाले असामी कुछ बातों में इन बागानियों के चाकर और ग़ुलाम हो गये। नील के कारख़ानों के कारिन्दे उनको डराते-धमकाते रहते थे, क्योंकि सरकार का सहारा पाकर ये अंग्रेज़ या भारतीय क़ारिन्दे अपने-आपको बिल्कुल सुरक्षित समझते थे। अक्सर, जब नील की क़ीमत गिर जाती, तब काश्तकार को चावल या कोई दूसरी फसल बोने में ज्यादा फ़ायदा रहता, लेकिन उसे ऐसा नहीं करने दिया जाता था। काश्तकार के लिए सख़्त मुसीबत और तबाही थी। अन्त में इन ज़ुल्मों से बेहद तंग आकर कीड़े ने भी करवट बदली। किसान वर्ग बागानियों के ख़िलाफ़ उठ खड़ा हुआ और उन्होंने एक कारख़ाने को लूट लिया। लेकिन वे कुचलकर दबा दिये गए।

इस पत्र में मैंने कुछ विस्तार के साथ उन्नीसवीं सदी के किसानों की हालत की एक तसवीर तुम्हें दिखाने की कोशिश की है। मैंने यह समझाने की कोशिश की है कि किस तरह भारतीय किसान की बुरी हालत बिगड़ती चली गई; किस तरह उसके सम्पर्क में आनेवाले हर आदमी ने उसे निचोड़ा; क्या लगान वसूल करनेवाले ने, क्या ज़मींदार ने, क्या बनिये ने, क्या बागानी और उसके कारिन्दों ने और क्या सबसे बड़े बनिये ख़ुद अंग्रेज़ सरकार ने—चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मार्फ़त, चाहे सीधी तौर पर। क्योंकि इस सारे शोषण की जड़ में थी अंग्रेज़ों की वह नीति जो वे भारत में जान-बूझकर बरत रहे थे। कुटीर-उद्योगों का, उनकी जगह दूसरे उद्योग जारी करने की कोशिश किये बिना ही, उजाड़ दिया जाना; बेरोज़गार कारीगर को गांव में खदेड़ दिया जाना जिसकी वजह से ज़मीन पर ज़रूरत से ज्यादा दबाव पड़ना; ज़मींदारी; नील की खेती की बागान प्रथा; ज़मीन पर भारी टैक्स जिसकी वजह से कसकर लगान लगाया जाना और बेरहमी से वसूल किया जाना; किसानों को सूदख़ोर बनियों के पास जाने के लिए मजबूर करना, जिनके फौलादी पंजे से वे कभी न निकल सकें; वक़्त पर लगान या मालगुज़ारी अदा न कर सकने की हालत में बेशुमार बेदख़लियां; और इन सबके ऊपर पुलिस के सिपाही का, लगान वसूलनेवाले का और ज़मींदार और कारख़ाने के कारिन्दों का हमेशा अत्याचार जिसने किसानों की रही सही जान और आत्मा को भी नष्ट जैसी कर दिया। इस सबका नतीजा न टलनेवाली दुर्दशा और ज़बर्दस्त आफ़त के सिवा और क्या हो सकता था?

भयंकर अकाल पड़े, जिनसे लाखों की आबादी मौत के मुंह में चली गई।

और अजीब बात तो यह कि जब गल्ले की कमी थी और लोग उसके बिना भूखों मर रहे थे, उसी समय गेहूं और दूसरे अनाज मालदार व्यापारियों के मुनाफ़े के लिए देश के बाहर भेजे जा रहे थे। लेकिन वास्तव में दुःख की बात अनाज की कमी की नहीं थी, क्योंकि अनाज तो रेल के ज़रिये देश के दूसरे हिस्सों से भी मंगाया जा सकता था, बल्कि ख़रीदने के साधनों के अभाव की थी। १८६१ ई० में उत्तर भारत में, ख़ासकर हमारे प्रान्त में, भारी अकाल पड़ा, और कहा जाता है कि उस अकालवाले इलाक़े की ८½ फ़ीसदी आबादी मौत की भेंट हुई। पन्द्रह साल बाद, १८७६ ई० में, और दो वर्ष तक, एक और भयानक अकाल उत्तर, मध्य व दक्षिण भारत में पड़ा। संयुक्त प्रान्त की फिर सबसे ज़्यादा तबाही हुई और साथ ही मध्यभारत और पंजाब के कुछ हिस्सों की भी। क़रीब-क़रीब एक करोड़ आदमी काल के गाल में चले गये! बीस वर्ष बाद, १८९६ ई० में, लगभग इसी अभागे इलाक़े में, एक और भयंकर अकाल पड़ा, जैसा भारत के इतिहास में पहले कभी नहीं पड़ा था। भयंकर मार ने उत्तर व मध्य-भारत की कमर तोड़ दी और उसे बिल्कुल पस्त कर दिया। १९०० ई० में फिर एक और अकाल पड़ा।

इस छोटे-से पैरा में मैंने तुम्हें चालीस साल के अन्दर होनेवाले चार ज़बर्दस्त अकालों का हाल बताया है। इस दर्दनाक कहानी में जो भयानक मुसीबतें और दिल दहलानेवाली बातें भरी हुई हैं, उन्हें न तो मैं बयान कर सकता हूं, न तुम महसूस कर सकती हो। असल बात यह है कि शायद मैं यह चाहता भी नहीं कि तुम यह महसूस करो, क्योंकि इससे गुस्सा व कड़वाहट पैदा होंगे, और मैं नहीं चाहता कि इस छोटी-सी उम्र में तुम्हारे मन में कड़वाहट पैदा हो।

तुमने उस दिलेर अंग्रेज़ फ्लोरेन्स नाइटिंगेल का नाम सुना है, जिसने पहले-पहल युद्ध में घायलों की सेवा का कारगर संगठन किया था। बहुत पहले ही, १८७८ ई० में, उसने लिखा था—"हमारे पूर्वी साम्राज्य का किसान पूर्व में, नहीं-नहीं शायद सारी दुनिया में, सबसे ज़्यादा दर्दभरा नज़ारा है।" "हमारे क़ानूनों के नतीजों" की चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि "इन्होंने दुनिया के सबसे ज़्यादा उपजाऊ मुल्क में, और बहुत-सी ऐसी जगहों पर जहां अकाल नाम की कोई चीज़ ही नहीं है, एक पीस डालनेवाली, राज-रोग के समान आधी-भुखमरी की हालत" पैदा कर दी।

हमारे किसानों की धंसी हुई आंखों में शिकार किये जानेवाले जानवर जैसा डर झलकता है और मायूसी झलकती है। यह सच है कि इससे ज़्यादा दर्द-भरा नज़ारा कोई दूसरा नहीं हो सकता। हमारा किसान-वर्ग इतने वर्षों से कितना बोझ उठाता चला आ रहा है! और हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि हममें से जो थोड़े-बहुत ख़ुशहाल हो पाये हैं, उन्होंने तो इस बोझ को कुछ बढ़ाया है। क्या

विदेशी और क्या भारतवासी, सभी लोगों ने सदियों से सताये हुए इस किसान का शोषण करने की कोशिश की है, और सभी इसकी पीठ पर सवारी गांठे बैठे हैं। ऐसी हालत में उसकी कमर टूट रही हो तो इसमें ताज्जुब क्या है ?

लेकिन, अन्त में बहुत दिन बाद, किसान को आशा की एक झलक दिखाई दी, अच्छे दिन आने और बोझा हलका होने की धीमी-सी आवाज़ उसके कानों में सुनाई दी। एक छोटा-सा व्यक्ति आया, जिसने उसकी आंखों में आंखें मिलाईं, उसके मुरझाये हुए दिल की तह तक पहुंचकर उसकी लम्बी पीड़ा को महसूस किया। इसकी नज़र में जादू था, छूने में आग थी, आवाज़ में सहानुभूति थी और दिल में एक जलन थी, और छलकता हुआ प्रेम था और जान निछावर करनेवाली वफ़ादारी थी। और जब किसानों ने, मज़दूरों ने, और उन सबने, जो पैरों तले रौंदे जा रहे थे, उसे देखा और उसकी आवाज़ सुनी, तो उनके मुर्दा दिलों में चेतना जाग उठी और वे खुशी से भर उठे ; उनमें एक नई आशा का उदय हुआ और वे हर्ष के मारे चिल्ला उठे—"महात्मा गांधी की जय", और अपने कष्टों की घाटी से बाहर निकलने के लिए चल खड़े हुए। लेकिन जो पुरानी चक्की इतने दिनों तक इन्हें पीस रही थी, वह उन्हें आसानी से छोड़नेवाली नहीं थी। वह फिर चली, और उन्हें कुचलने के लिए उसने नये हथियार, नये क़ानून और आर्डिनेन्स निकाले, और जकड़ने के लिए नई ज़जीरें तैयार कीं। और आगे ?—यह मेरे क़िस्से या इतिहास का भाग नहीं है। यह अभी आगे आनेवाले 'कल' की बात है और जब वह 'कल' 'आज' हो जायगा, तब हम सबकुछ जान जायंगे। क्या इसमें किसीको शक है ?

: ११२ :

## ब्रिटेन ने भारत पर राज कैसे किया ?

५ दिसम्बर, १९३२

उन्नीसवीं सदी के भारत के बारे में तुम्हें मैं तीन लम्बे पत्र लिख चुका हूं। यह एक लम्बी कहानी है और लम्बी छटपटाहट है, और अगर मैं इसे छोटी कर दूं, तो मुझे डर है कि तुम्हारे लिए उसका समझना और भी ज़्यादा मुश्किल हो जायगा। दूसरे देशों या ज़मानों की बनिस्बत मैं भारत के इतिहास के इस ज़माने पर शायद ज़्यादा ज़ोर दे रहा हूं। यह कोई अनोखी बात नहीं है। भारतवासी होने के नाते मेरी इसमें ज़्यादा दिलचस्पी है, और इसके बारे में ज़्यादा जानकारी होने की वजह से, मैं अच्छी तरह लिख भी सकता हूं। इसके अलावा यह ज़माना हमारे लिए ऐतिहासिक दिलचस्पी से बहुत ज़्यादा महत्व रखता है। जिस आधुनिक भारत को आज हम पाते हैं, वह उन्नीसवीं सदी की इसी छटपटाहट में बना

हुआ और गढ़ा हुआ है। इस समय भारत जैसा है, उसे अगर हमें समझना है, तो हमें उन कारणों को भी ज़रूर समझना होगा, जिन्होंने इसे बनाया या बिगाड़ा है। तभी हम समझदारी के साथ सेवा कर सकेंगे और तभी यह जान सकेंगे कि हमें क्या करना चाहिए और कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए।

भारत के इतिहास के इस काल का बयान अभी मैंने खतम नहीं किया है। अभी तो मुझे बहुत-कुछ कहना है। इन पत्रों में मैं इसके एक या ज्यादा पहलुओं को लूंगा और उसके बारे में कुछ बताने की कोशिश करूंगा। हरेक पहलू पर मैं अलग-अलग चर्चा करूंगा, ताकि उसे समझने में आसानी हो। अलबत्ता तुम देखोगी कि जिन प्रगतियों और परिवर्तनों का ज़िक्र मैं कर चुका हूं और जिनकी चर्चा इस पत्र में और अगले पत्रों में करूंगा, वे सब कम-बढ़ एक ही साथ हुए हैं एक का दूसरे पर असर पड़ा है और इन्हीं दोनों ने उन्नीसवीं सदी के भारत को जन्म दिया है।

भारत में अंग्रेज़ों की इन करतूतों और काली करतूतों का हाल पढ़कर कभी-कभी तो तुम उनकी बरती हुई नीति पर और उससे पैदा हुई आम तबाही पर ग़ुस्सा करने लगोगी। लेकिन जो कुछ हुआ उसमें क़ुसूर किसका था ? क्या यह सब हमारी ही कमज़ोरी और ना-जानकारी का नतीजा नहीं था ? कमज़ोरी और बेवक़ूफ़ी हमेशा अत्याचारी शासन को न्यौता देनेवाले हुआ करते हैं। अगर अंग्रेज़ हमारी आपसी फूट से फ़ायदा उठा सकते हैं, तो यह हमारी ही ग़लती है कि हम आपस में झगड़ते हैं। जुदा-जुदा दलों की खुदगर्ज़ी का सहारा लेकर अगर वे हममें फूट डाल सकते हैं और यूं हमें कमजोर बना सकते हैं, तो ऐसा होने देना खुद इस बात की निशानी है कि अंग्रेज़ हमसे ऊंचे हैं। इसलिए, अगर तुम्हें नाराज होना हो तो इस कमज़ोरी और आपसी लड़ाई पर नाराज़ होना, क्योंकि ये ही चीज़ें हमारी मुसीबतों के लिए ज़िम्मेदार हैं।

हम लोग अंग्रेज़ों के अत्याचार की बात करते हैं। लेकिन असल में यह अत्याचार है किसका ? कौन इससे फ़ायदा उठाता है ? सारी अंग्रेज़ जाति नहीं, क्योंकि खुद उस जाति में लाखों बदनसीब और सताये हुए लोग हैं। और भारत-वासियों के कई छोटे-छोटे दल और वर्ग ऐसे हैं, जिन्होंने भारत के ब्रिटिश शोषण से कुछ-न-कुछ फ़ायदा उठाया है। तब हम भेद कहां करें ? वास्तव में यह सवाल व्यक्तियों का नहीं प्रणाली का है। हम एक भारी-भरकम मशीन के नीचे दबे रहे हैं, जिसने भारत के लाखों-करोड़ों को निचोड़ा और कुचला है। यह मशीन है उद्योगी पूंजीवाद से पैदा हुए नये साम्राज्यवाद की। इस शोषण का मुनाफ़ा ज्यादातर इंग्लैण्ड को जाता है, लेकिन इंग्लैण्ड में उसका लगभग सारा मुनाफ़ा कुछ खास वर्गों को ही पहुंचता है। इसी तरह इस शोषण के मुनाफ़े का कुछ हिस्सा

भारत में भी रहता है, और कुछ वर्ग उससे फ़ायदा उठाते हैं। इसलिए हमारा व्यक्तियों से या सारी अंग्रेज़-जाति से नाराज़ होना बेवक़ूफ़ी है। अगर कोई प्रणाली ग़लत है और हमें नुक़सान पहुंचाती है, तो उसीको बदलना चाहिए। इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उस प्रणाली को कौन चलाता है, और अक्सर भले आदमी भी किसी बुरी प्रणाली में पड़कर लाचार हो जाते हैं। दुनिया भर की नेकनीयती से भी कोई बालू और पत्थर को अच्छे भोजन में नहीं बदल सकता, चाहे जितना कोई उन्हें पकावे। मेरे ख़याल से यही बात साम्राज्यवाद और पूंजीवाद पर भी लागू होती है। इनमें सुधार हो नहीं सकता; इनका अकेला असली सुधार है इनको जड़ से उखाड़ फेंकना। लेकिन यह मेरी अपनी राय है। कुछ लोग इससे मतभेद रखते हैं। तुम्हें किसी बात को ज्यों-का-त्यों मान लेने की ज़रूरत नहीं। जब समय आयगा, तुम अपने-आप अपने नतीजे निकाल सकोगी। लेकिन एक बात से ज्यादातर लोग सहमत हैं कि जो चीज़ ख़राब है, वह प्रणाली है, और इसलिए व्यक्तियों से खीझना बेकार है। अगर हम कोई परिवर्तन चाहते हैं, तो हमें इस प्रणाली पर हमला करके उसे बदल डालना चाहिए। इस प्रणाली के कुछ बुरे नतीजे हम भारत में देख चुके हैं। जब हम चीन, मिस्र और बहुत-से दूसरे देशों का विचार करते हैं, तो वहां भी हम उसी प्रणाली को, पूंजीवादी साम्राज्यवाद की उसी मशीन को, काम करते हुए और लोगों का शोषण करते हुए देखते हैं।

अब हम अपनी कहानी पर आते हैं। मैं तुम्हें बता चुका हूं कि जिस समय अंग्रेज़ भारत में आये, यहां के कुटीर-उद्योगों की हालत बहुत ऊंचे दर्जे पर थी। उत्पादन के तरीक़ों की क़ुदरती प्रगति के साथ, अगर उसमें बाहरी दख़ल न होता, तो सम्भव था कि कभी-न-कभी भारत में भी मशीनों का उद्योग आ जाता। लोहा और कोयला इस देश में मौजूद थे, और जैसा कि हम इंग्लैण्ड में देख चुके हैं, इन चीज़ों ने नये उद्योगवाद को बहुत मदद पहुंचाई और वास्तव में कुछ हद तक उसे पैदा किया। अन्त में यही भारत में भी हुआ होता। राजनैतिक हालतों में गड़बड़ी के सबब से शायद इसमें कुछ देर लग जाती। लेकिन इसी बीच अंग्रेज़ों ने टांग अड़ा दी। ये लोग ऐसे देश और ऐसी कौम के प्रतिनिधि थे, जिसने अपने यहां के पुराने तरीक़ों को बदलकर बड़ी मशीन के नये उत्पादन को अपना लिया था। इससे यह ख़याल किया जा सकता था कि ये लोग भारत में भी इसी तरह का परिवर्तन पसन्द करेंगे और यहां जिस वर्ग के लोगों के ज़रिये इस तरह का परिवर्तन पैदा होने की सम्भावना हो उसे बढ़ावा भी देंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया। बल्कि उन्होंने वास्तव में इससे बिलकुल उलटा ही किया। भारत को अपना होनेवाला मुकाबलेदार मानकर उन्होंने उसके उद्योगों को नष्ट कर डाला और मशीनों के उद्योग को सचमुच चलने ही नहीं दिया।

इस तरह हम भारत में एक निराली हालत पाते हैं। हम देखते हैं कि इस समय यूरोप में सबसे आगे बढ़े हुए ये अंग्रेज़ भारत में सबसे ज़्यादा पिछड़े हुए और दक़ियानूसी वर्गों के साथ गठ-बन्धन कर रहे हैं। वे मरते हुए सामन्ती वर्ग को टेका देकर खड़ा कर रहे हैं; ज़मींदार पैदा कर रहे हैं; सैकड़ों अधीन देशी राजाओं को उनकी आधी-सामन्ती रियासतों में सहारा दे रहे हैं। वे भारत में जान-बूझकर सामन्तशाही को मज़बूत बना रहे हैं। ये ही अंग्रेज़ यूरोप में मध्यम-वर्ग की उस क्रांति के अगुआ थे, जिसने उनकी पार्लमेण्ट को अधिकार दिलाया था; ये ही उस उद्योगी क्रांति में भी अगुआ थे, जिसके नतीजे से संसार में उद्योगी पूंजीवाद जारी हुआ। इन बातों में अगुआ होने के कारण ही वे अपने मुकाबलेदारों से कहीं आगे बढ़ गये और एक लम्बा-चौड़ा साम्राज्य क़ायम कर पाये।

अंग्रेज़ों ने भारत में इस तरह का व्यवहार क्यों किया, यह समझना मुश्किल नहीं है। पूंजीवाद की सारी बुनियाद गर्दन-मार होड़ और शोषण पर है, और साम्राज्यवाद इससे आगे के दर्जे का नाम है। इसलिए हाथ में सत्ता होने से अंग्रेज़ों ने अपने असली मुकाबलेदारों की हत्या कर डाली, और दूसरे मुकाबले-दारों की बढ़ोतरी को जान-बूझकर रोक दिया। जनता से मेल बढ़ा सकना उनके लिए सम्भव नही था, क्योंकि भारत में उनके रहने का सारा प्रयोजन ही जनता का शोषण करना था। शोषकों व शोषितों के हित कभी एक नहीं हो सकते। इसलिए उन्होंने—अंग्रेज़ों ने—भारत में तबतक मौजूद सामन्तशाही के बचे-खुचे टुकड़ों का सहारा लिया। जब अंग्रेज़ यहां आये तभी इन लोगों में असली ताक़त कुछ भी बाक़ी नहीं थी; लेकिन इन्हें सहारा देकर खड़ा किया गया और देश की लूट का कुछ हिस्सा इन्हें दिया जाने लगा। लेकिन ऐसे वर्ग को, जिसकी उपयोगिता पहले ही ख़तम हो चुकी थी, इस तरह का सहारा कुछ ही समय के लिए राहत पहुंचा सकता था; सहारे के हटते ही या तो वे ज़रूर धराशायी हो जाते या फिर अपनेको नई हालतों के अनुकूल बना लेते। अंग्रेज़ों की कृपा के आसरे इस तरह की कुछ नहीं तो सात सौ छोटी-बड़ी देशी रियासतें थीं। इन बड़ी रिया-सतों में से हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर, बड़ौदा, ग्वालियर, वग़ैरा, कुछको तुम जानती हो। लेकिन यह विचित्र बात है कि इन रियासतों के ज़्यादातर देशी नरेश पुराने सामन्ती सरदारों के वंशज नहीं हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कि ज़्यादातर बड़े ज़मींदारों की कोई बहुत प्राचीन परम्पराएं नहीं हैं। हां, उदयपुर का महा-राणा, जो सूर्यवंशी राजपूतों में सबसे बड़ा माना जाता है, ज़रूर एक ऐसा राजा है, जो अपनी वंशावली का पिछला सम्बन्ध इतिहास शुरू होने से पहले के एक धुंधले ज़माने के साथ जोड़ सकता है। जापान का राजा मिकादो ही शायद एक ऐसा मौजूदा व्यक्ति है, जो इस बात में उसकी बराबरी कर सकता है।

अंग्रेज़ी राज ने मज़हबी बैर-भावों को भी बढ़ावा दिया। यह बात कुछ अजीब-सी मालूम होती है, क्योंकि अंग्रेज़ लोग ईसाइयत का दावा करते थे, फिर भी उनके आने से भारत में हिन्दू-धर्म और इस्लाम और भी ज़्यादा कट्टर बन गये। कुछ हद तक यह प्रतिक्रिया लाज़िमी भी थी, क्योंकि विदेशी हमले से अपनी रक्षा करने के लिए किसी देश के मज़हब और संस्कृति कठोर बनने लगते हैं। इसी तरह से मुसलमानों के हमलों के बाद हिन्दू-धर्म में कट्टरपन आगया, और जात-पांत का भेद बढ़ गया। अब हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों ही में इस ढंग की प्रतिक्रिया हो गई। लेकिन इसके अलावा भी, ब्रिटिश सरकार ने दोनों मज़हबों के कट्टरपन्थी तत्वों को, सचमुच जानबूझकर और अनजान में, दोनों तरह से मदद पहुंचाई। अंग्रेज़ों को मज़हब में या मज़हब बदलने के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वे तो हर तरह रुपया पैदा करना चाहते थे। मज़हबी मामलों में किसी तरह की दस्तन्दाज़ी करने से डरते थे, कि कही लोग ग़ुस्से में आकर उनके खिलाफ़ खड़े न हो जायं। इसलिए दस्तन्दाज़ी का शुबहा तक न होने देने के लिए वे यहांतक आगे बढ़ गये कि देश के मज़हबों को, या यों कहो कि मज़हबों के ऊपरी रूप को सचमुच बचाने व मदद देने लगे। इसका नतीजा अक्सर यह हुआ कि यह ऊपरी रूप तो बना रहा, लेकिन भीतर कुछ न रहा।

कट्टर-पन्थियों की नाराज़गी के इस डर से मुधारों के मामले में भी सरकार इन्हीं लोगों का पक्ष लेने लगी। इस तरह सुधार का काम रुक गया। विदेशी सरकार के लिए कोई सामाजिक सुधार करना बहुत कठिन होता है; क्योंकि वह जो कुछ भी परिवर्तन करना चाहेगी, उसीका लोग विरोध करेंगे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-शास्त्र कई बातों में परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे; यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों में यह प्रगति बहुत धीमी रही। खुद हिन्दू-शास्त्र में ज़्यादातर रिवाज ही हैं, और रिवाज हमेशा बदलते और पैदा होते रहते हैं। हिन्दू-शास्त्र का यह लचीलापन अंग्रेज़ी राज में ग़ायब हो गया और उसकी जगह घोर कट्टर-पंथियों की सलाह से बनाये गए कठोर क़ानूनी ज़ाब्तों ने ले ली। इस तरह हिन्दू-समाज की वह धीमी प्रगति भी अब रुक गई। मुसलमान तो नई हालतों से और भी ज्यादा नाराज़ हुए और वे कूप-मंडूक बन गये।

सती-प्रथा को, जिसमें हिन्दू विधवा अपने पति की चिता पर जल जाती थी, मिटाने के लिए अंग्रेज़ अपनेको बहुत ज्यादा नेकनामी देते हैं। कुछ हद तक वे इसके हक़दार हैं भी, लेकिन सच तो यह है कि सरकार ने सिर्फ़ तभी क़दम उठाया जब राजा राममोहन राय के नेतृत्व में भारतीय सुधारकों ने इस प्रथा के खिलाफ़ बरसों आन्दोलन किया। इससे पहले दूसरे राजाओं ने भी, और खासकर मराठों ने, इसे बन्द कर दिया था। गोआ में वहां के पुर्तगाली शासक

अलबुक़र्क ने इस प्रथा को उठा दिया था। अंग्रेज़ों ने जो इस प्रथा को बन्द किया वह भारतवासियों के आन्दोलन और ईसाई पादरियों की कोशिशों का नतीजा था। जहांतक मुझे याद है, मज़हबी महत्त्व का सिर्फ यही एक सुधार है, जो ब्रिटिश सरकार ने किया है।

इस तरह अंग्रेज़ों ने देश के सब पिछड़े हुए और दक़ियानूसी वर्गों के साथ गठ-बन्धन कर लिया और उन्होंने यह कोशिश की कि भारत उनके उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करनेवाला बिलकुल कृषि-प्रधान देश बन जाय। भारत में कारखाने तरक्क़ी न पा सकें, इसलिए उन्होने यह किया कि भारत में मशीनों की आमद पर चुंगी लगा दी ! दूसरे देशों ने अपने उद्योग-धन्धों को खूब बढ़ावा दिया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, जापान ने उद्योगीकरण की सरपट दौड़ लगाई। लेकिन भारत में ब्रिटिश सरकार ने उसकी मनाही कर दी। मशीनों पर इस चुंगी के कारण, जोकि १८६० ई० तक हटाई नहीं गई थी, भारत में कारखाना खोलने का खर्च, यहांपर मज़दूरी कहीं ज्यादा सस्ती होने पर भी, इंग्लैण्ड से चौगुना पड़ता था। रुकावटें डालने की यह नीति प्रगति में देर भले ही कर सकती थी, घटनाओं के लाजिमी बहाव को नहीं रोक सकती थी। सदी के बीच के क़रीब भारत में मशीन का उद्योग बढ़ने लगा। बंगाल में अंग्रेज़ी पूंजी से पटसन का उद्योग शुरू हुआ। रेशों के निकलने से उद्योगों की तरक्क़ी में सहायता मिली और १८८०ई०में बम्बई और अहमदाबाद में कपड़े की मिलें खुलीं, जिनमे ज्यादातर भारतीय पूंजी लगी थी। इसके बाद खनिज उद्योगों की बारी आई। धीरे-धीरे होनेवाला यह उद्योगीकरण कपड़े की मिलों के सिवा, ज्यादातर अंग्रेज़ी पूंजी से हो रहा था। और यह सबकुछ हो रहा था सरकारी नीति के बावजूद भी। सरकार तो दखल न देने की नीति की दुहाई देती थी और कहती थी कि घटनाओं को अपने ढंग पर चलने दिया जाय और निजी तौर पर शुरू किये जानेवाले उद्योगों में दखल न दिया जाय। जब अठारहवीं और शुरू-उन्नीसवीं सदियों में भारतीय व्यापार ब्रिटिश व्यापार का मुक़ाबलेदार था, तब तो ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैण्ड में उसमें दखल देकर और उसपर भारी चुंगियां और पाबन्दियां लगाकर उसे कुचल दिया। और सबकुछ क़ाबू कर लेने के बाद वह अपनी दखल न देने की नीति की बात कर सकती थी ! लेकिन असली बात तो यह है कि इस मामले में केवल उदासीन हों ऐसी बात नहीं थी। बल्कि उन्होंने तो कई भारतीय उद्योगों को, खासकर बम्बई और अहमदाबाद के बढ़ते हुए कपड़ा-उद्योग को, सचमुच पनपने ही नहीं दिया। इन भारतीय मिलों के उत्पादन पर एक तरह का टैक्स या चुंगी लगाई गई, जिसे कपास पर उत्पादन-चुंगी का नाम दिया गया। इसका उद्देश्य था लंकाशायर के बने अंग्रेजी कपड़े को भारतीय कपड़े का मुक़ाबला करने में मदद पहुंचाना। क़रीब-क़रीब सभी देश अपने उद्योगों की रक्षा के लिए या

आमदनी बढ़ाने की ग़रज़ से विदेशी माल पर चुंगी लगाते हैं। लेकिन भारत में अंग्रेज़ों ने एक बहुत ही अनोखी और निराली बात की। उन्होंने ख़ुद भारतीय माल पर ही चुंगी लगा दी ! ज़बर्दस्त आन्दोलन होने पर भी, कपास पर यह चुंगी कुछ साल पहले तक जारी रही।

इस तरह सरकार की अडंगा-नीति के बावजूद भी भारत में धीरे-धीरे आधुनिक उद्योग-धन्धों की उन्नति होती गई। भारत के मालदार वर्ग उद्योगों के विकास के लिए दिन-पर-दिन ज्यादा पुकार मचाते रहे। जहांतक मेरा ख़याल है, १९०५ ई० में कहीं जाकर सरकार ने एक 'वाणिज्य और उद्योग विभाग' क़ायम किया। लेकिन फिर भी, महायुद्ध छिड़ने से पहले तक, इस दिशा में उसने कुछ नहीं किया। औद्योगिक हालत की इस उन्नति ने शहरों के कारखानों में काम करनेवाले औद्योगिक मज़दूरों का एक वर्ग पैदा कर दिया। जमीन पर पड़नेवाला दबाव, जिसकी चर्चा मैं कर चुका हूं, और देहाती इलाकों की अकाल-जैसी हालत, इन दोनों ने मिलकर बहुत-से गांववालों को इन कारख़ानों में और बंगाल और असम में बढ़नेवाले बड़े-बड़े बागानों में ला पटका। इस दबाव की वजह से बहुत-से लोग दूसरे देशों का प्रवास करने को राजी हो गये, क्योंकि वहां उन्हें ज़्यादा मज़दूरी मिलने की आशा दिलाई गई थी। ज़्यादातर प्रवासी दक्षिण अफ़्रीका, फ़िजी, मॉरिशस और लंका गये। लेकिन इस परिवर्तन से मज़दूरों का कोई फ़ायदा नहीं हुआ। कुछ देशों में इन प्रवासी भारतीयों के साथ बिलकुल ग़ुलामों का-सा बर्ताव किया गया। असम के चाय-बागानों के मज़दूरों की हालत भी कुछ बहुत अच्छी न थी। बाद में हिम्मत हारकर और निराश होकर बहुतों ने चाय-बागानों को छोड़कर फिर अपने गांवों को लौट जाना चाहा। लेकिन अपने गांवों में भी उन्हें किसीने नहीं अपनाया, क्योंकि उनके लिए अब कोई ज़मीन बाक़ी नहीं रही थी।

कारख़ानों के मज़दूरों को जल्दी ही मालूम हो गया कि थोड़ी-सी ज़्यादा मज़दूरी मिलने से उनका कुछ भला नहीं हुआ। शहर में हरेक चीज़ की क़ीमत ज़्यादा देनी होती थी, और शहरों का सारा रहन-सहन ही बहुत ज़्यादा ख़र्चीला था। रहने की जो जगहें उन्हें मिलती थीं, वे गन्दी, सीली, अंधेरी और तंदुरुस्ती को बिगाड़नेवाली तंग कोठरियां होती थीं। जिन हालतों में उन्हें काम करना पड़ता था, वे भी बुरी थीं। गांवों में उन्हें अक्सर भूखों मरना पड़ता था, लेकिन धूप और ताज़ी हवा तो भरपूर मिल जाती थी। लेकिन कारख़ाने के मज़दूर के लिए न तो ताज़ी हवा थी, न काफ़ी धूप। उनकी मज़दूरी इतनी नहीं होती थी जो शहरी रहन-सहन के बढ़े हुए ख़र्चे को पूरा कर सके ! स्त्रियों और बच्चों तक को बहुत घण्टों तक काम करना पड़ता था। गोदी के बच्चोंवाली माताएं अपने बच्चों को अफ़ीम खिलाने लगीं, जिससे कि वे उनके काम में रुकावट न

डालें। उद्योगों के मज़दूरों को जिन हालतों में काम करना पड़ता था, वे ऐसी दुखदाई थीं। वे बहुत ही दुखी थे, और उनमें असंतोष बढ़ रहा था। कभी-कभी निराशा से लाचार होकर वे हड़ताल भी कर देते थे। लेकिन वे बहुत ही बोदे और कमज़ोर थे, इसलिए उनके पूंजीपति मालिक, जिनकी पीठ पर अक्सर सरकार का हाथ रहता था, आसानी से उन्हें कुचल देते थे। बहुत धीरे-धीरे और कड़ुवे अनुभवों के बाद उन्होंने सम्मिलित कार्रवाई का महत्व समझा। तब उन्होंने ट्रेड यूनियनें या मज़दूर-संघ बनाये।

यह न समझना कि यह बयान पिछली हालतों का है। मज़दूरों की हालत में इधर कुछ सुधार ज़रूर हुआ है, बेचारे मज़दूरों के बचाव के नाम पर कुछ क़ानून भी बनाये गए हैं; लेकिन आज भी अगर तुम कानपुर या बम्बई या कुछ दूसरी जगहों पर, जहां कारख़ाने हैं, जाकर देखो तो इन मज़दूरों के घरों को देखकर तुम्हारा दिल दहल जायगा।

अपने इस पत्र में और दूसरे पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें भारत में अंग्रेज़ों का और भारत में अंग्रेज़ी राज का हाल लिखा है। यह सरकार किस तरह की थी और कैसे चलती थी ? शुरू में ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी, लेकिन उसकी पीठ पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट थी। १८५८ ई० के महान् विद्रोह के बाद ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने सीधा शासन सम्भाल लिया, और उसके बाद इंग्लैण्ड का बादशाह, या यूं कहो कि बेगम, क्योंकि उस समय वहां मलिका राज करती थी, क़ैसरे-हिन्द बन गया। भारत में सबके ऊपर गवर्नर-जनरल था, जो वायसराय भी कहलाता था, और उसके नीचे अफ़सरों के दल-के-दल थे। भारत, जैसाकि बहुत-कुछ अब भी है, बड़े-बड़े प्रान्तों और देशी रियासतों में बांट दिया गया था। देशी नरेशों की रियासतें मानी तो जाती थीं आधी-स्वाधीन, लेकिन वास्तव में वे पूरी तरह अंग्रेज़ों के अधीन थीं। हरेक बड़ी रियासत में एक अंग्रेज़ अफ़सर रहता था, जो रेज़िडेण्ट कहलाता था और जो शासन पर सरसरी निगाहबानी करता था। अन्दरूनी सुधारों में उसे कोई दिलचस्पी न थी, और उसे इससे कोई मतलब न था कि रियासत का शासन कितना ख़राब या दक़ियानूसी है। उसकी दिलचस्पी तो सिर्फ़ इस बात में थी कि रियासत में ब्रिटिश सत्ता को किस तरह ज़्यादा-से-ज़्यादा मज़बूत बनाया जाय।

भारत का क़रीब एक-तिहाई हिस्सा इन रियासतों में बंटा हुआ था। बाक़ी का दो-तिहाई हिस्सा सीधा ब्रिटिश सरकार के अधीन था। इसलिए यह दो-तिहाई हिस्सा ब्रिटिश भारत कहलाता था। ब्रिटिश भारत के सब ऊंचे अफ़सर अंग्रेज़ होते थे। हां, उन्नीसवीं सदी के अन्त में कुछेक भारतवासी इन ओहदों तक पहुंच गये। लेकिन फिर भी तमाम सत्ता और अधिकार अंग्रेज़ों के ही हाथ

में रहे, और अभी भी हैं। फ़ौजी अफ़सरों को छोड़कर बाक़ी के ये सब ऊंचे अफ़सर इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। इस तरह भारत के सारे शासन की बागडोर इसी आई० सी० एस० सेवा के हाथों में थी। एक-दूसरे को मुकर्रर करनेवाले और अपने कामों के लिए जनता के कोई जवाबदार न होनेवाले अफ़सरों की ऐसी सरकार नौकरशाही कहलाती है।

इस आई० सी० एस० के बारे में हम बहुत-कुछ सुनते रहते हैं। इन लोगों का एक निराला दल बन गया है। कुछ बातों में वे बड़े मुस्तैद होते थे। वे शासन की व्यवस्था करते थे, ब्रिटिश हुकूमत को मज़बूत बनाते थे, और उसी सिलसिले में ख़ुद भी उससे ख़ूब फ़ायदा उठाते थे। ब्रिटिश-राज को जमाने में और टैक्स वसूल करने में सहायता देनेवाले सब सरकारी विभाग बड़ी होशियारी के साथ संगठित किये गए थे। दूसरे विभागों पर ध्यान नहीं जाता था। आई० सी० एस० के अफ़सरों को न तो जनता मुकर्रर करती थी और न वे उसके जवाबदार थे, इसलिए वे उन दूसरे विभागों पर कोई ध्यान नहीं देते थे, जिनका जनता से सबसे ज्यादा ताल्लुक था। जैसा ।क ऐसी हालतों में होना लाज़िमी था, ये लोग मग़रूर और ढीठ हो गये और लोकमत को तुच्छ समझने लगे। अपने तंग और हद-बन्द नज़रिये की वजह से ये लोग अपने-आपको दुनिया में सबसे ज्यादा अक़्लमन्द समझने लगे। उनके लिए भारत के हित का अर्थ था सबसे पहले अपनी नौकरशाही का हित। उन्होंने एक किस्म का आपसी तारीफ़ों का गुट्ट बना लिया और वे हमेशा एक-दूसरे की तारीफ़ें करते रहते थे। बेलगाम सत्ता और अधिकार का यही लाज़िमी नतीजा हुआ करता है, इसलिए ये इण्डियन सिविल सर्विस-वाले ही भारत के असली मालिक थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट इतनी दूर थी कि इनके कामों में दख़ल दे नहीं सकती थी, और देखा जाय तो उसे दख़ल देने का कोई मौक़ा भी न था, क्योंकि ये लोग उसके हितों को और ब्रिटिश उद्योग के हितों को साधते रहते थे। जहां तक भारतीय जनता के हितों का प्रश्न था, उनके बारे में उनपर कुछ ज्यादा असर डालने का कोई रास्ता न था। वे इतने चिड़चिड़े हो गये थे कि अपनी मामूली-से-मामूली आलोचना को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

फिर भी इण्डियन सिविल सर्विस में कुछ भले, ईमानदार और क़ाबिल लोग भी हुए हैं। लेकिन वे न तो उस नीति के बहाव को बदल सकते थे और न उस धार का रुख़ पलट सकते थे, जो भारत को अपने साथ खींचे लिये जा रही थी। आख़िर ये आई० सी० एस० वाले इंग्लैण्ड के उन औद्योगिक और आर्थिक हितों के एजेंण्ट ही तो थे, जिनका ख़ास प्रयोजन था भारत का शोषण करना।

जहां-जहां इसके अपने और ब्रिटिश उद्योग के हितों का मामला था, वहां तो भारत की यह नौकरशाही हुकूमत मुस्तैद बन गई। लेकिन शिक्षा, सफ़ाई और

अस्पतालों पर और एक मजबूत व प्रगतिशील राष्ट्र बनानेवाली दूसरी बहुत-सी कार्रवाइयों पर ध्यान नहीं दिया गया। वर्षों तक इन बातों का ख़याल तक नहीं किया गया। पुरानी गांव-पाठशालाएं ख़तम हो गईं। फिर कहीं धीरे-धीरे और बड़ी बेदिली से कुछ शुरुआत की गई। शिक्षा की शुरुआत भी उन्होंने अपनी ख़ुद की गरज़ से ही की थी। तमाम ओहदों पर तो अंग्रेज़ लोग भरे हुए थे, लेकिन ज़ाहिर है कि छोटे ओहदों को और क्लर्कों यानी दफ्तर के बाबुओं की जगहों को वे नहीं भर सकते थे। बाबुओं की ज़रूरत थी, सो इन बाबुओं को तैयार करने के लिए ही शुरू में अंग्रेज़ों ने स्कूल और कालेज खोले। तभी से, भारत में शिक्षा की ख़ास मंशा यही रही है; और इस शिक्षा से तैयार हुए ज़्यादातर लोग सिर्फ़ बाबू ही बनने के लायक हैं। लेकिन बाबुओं की संख्या जल्दी ही सरकारी व दूसरे दफ़्तरों की मांग से ज़्यादा बढ़ने लगी। बहुतों को नौकरी नहीं मिली, और इस तरह इन पढ़े-लिखे बेकारों का एक नया वर्ग बन गया।

इस नई अंग्रेज़ी शिक्षा में बंगाल सबसे आगे बढ़ गया और इसलिए शुरू में ज़्यादातर बाबुओं की भरती बंगालियों में से हुई। १८५७ ई० में तीन विश्व-विद्यालय कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में खोले गए। ध्यान देने लायक एक बात यह है कि मुसलमानों ने इस नई शिक्षा को दिल से नहीं अपनाया। इसलिए बाबू-गिरी और सरकारी नौकरियों की इस दौड़ में वे पिछड़ गये। बाद में यही उनकी शिकायतों का एक सबब बन गया।

एक और ध्यान देने लायक बात यह है कि जब सरकार ने शिक्षा की शुरू-आत की तो लड़कियों को बिलकुल भुला दिया गया। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है। जो शिक्षा दी जा रही थी, उसकी मंशा थी बाबू लोग तैयार करना, और सिर्फ़ मर्द-बाबुओं की ही ज़रूरत थी, और पिछड़े हुए सामाजिक रिवाजों की वजह से उस समय सिर्फ़ मर्द ही मिलते थे। इसलिए लड़कियों की तरफ़ बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया और बहुत वर्षों के बाद जाकर कहीं उनके लिए छोटी-सी शुरू-आत की गई।

## : ११३ :
# भारत की नई चेतना

७ दिसम्बर, १९३२

भारत में अंग्रेज़ी राज की नींव जिस तरह जमी और जिस नीति ने भारत की जनता में ग़रीबी और मुसीबत पैदा कर दी, यह मैं तुम्हें बतला चुका हूं। देश में शान्ति ज़रूर आई और बाकायदा शासन भी आया और मुग़ल साम्राज्य

के टूटने से पैदा हुई गड़बड़ी के बाद ये दोनों ही बातें अच्छी हुईं। चोर-डाकुओं के संगठित दलों को दबा दिया गया। लेकिन खेतों और कारख़ानों में काम करने-वाले किसानों और मज़दूरों के लिए इस शान्ति और व्यवस्था का कोई मूल्य न था, क्योंकि अब वे नई हुकूमत की भारी चक्की में पीसे जा रहे थे। लेकिन मैं तुम्हें एक बार याद दिलाऊंगा कि किसी देश पर या क़ौम पर—इंग्लैण्ड पर या अंग्रेज़ों पर, नाराज़ होना ठीक नहीं है; क्योंकि वे भी हमारी ही तरह परि-स्थितियों के शिकार थे। इतिहास के अध्ययन ने हमें बताया है कि जीवन अक्सर बड़ा निर्दयी और कठोर होता है। इसपर तैश में आना या लोगों पर ख़ाली दोष लगाना बेवक़ूफ़ी है, और उससे कुछ नहीं बनता। बुद्धिमानी इसीमें है कि ग़रीबी, मुसीबत और शोषण के कारणों को समझने की और उन्हें दूर करने की कोशिश की जाय। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं और घटना-क्रम की दौड़ में पिछड़ जाते हैं, तो लाज़िमी तौर पर मुसीबतें भुगतनी पड़ती हैं। भारत इसी तरह पिछड़ गया। वह एक तरह से पथरा-सा गया, उसका समाज पुरानी लकीर का फ़कीर बन गया, और उसकी सामाजिक व्यवस्था बेताक़त और बेजान हो गई और बहाव रुक जाने से गन्दी होने लगी। ऐसी हालत में भारत को मुसीबतें झेलनी पड़ीं तो उसमें अचम्भे की बात नहीं है। संयोग से अंग्रेज़ इन मुसीबतों के निमित्त बन गये। अगर वे यहां न होते, तो शायद कोई दूसरे लोग इसी तरह का बर्ताव करते।

लेकिन अंग्रेज़ों ने भारत को एक बड़ा फ़ायदा ज़रूर पहुंचाया। उनकी नई और ज़ोरदार ज़िन्दगी की टक्कर ने ही भारत को हिला दिया और उसमें राज-नैतिक एकता और राष्ट्रीयता पैदा कर दी। हालांकि यह धक्का दुखदाई था, लेकिन हमारे प्राचीन देश और क़ौम में नई ज़िन्दगी पैदा करने के लिए शायद इसकी ज़रूरत भी थी। बाबू लोग तैयार करने के इरादे से दी जानेवाली अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतवासियों को पश्चिम में चालू विचारों के सम्पर्क में भी ला दिया। इससे अब अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों का एक नया वर्ग बनने लगा। ये लोग हालांकि संख्या में कम और जनता से अलग से थे, लेकिन फिर आगे चलकर नये राष्ट्रीय आन्दोलनों की रहनुमाई करनेवाले थे। ये लोग शुरू में तो इंग्लैण्ड के, और स्वतन्त्रता के बारे में अंग्रेज़ी विचारों के बड़े क़द्रदान थे। उन दिनों इंग्लैण्ड में लोग स्वतंत्रता और लोकतन्त्र के बारे में बड़ी चर्चाएं कर रहे थे। लेकिन ये सब बातें बे-सिर-पैर की थीं, और यहां भारत में इंग्लैण्ड के सिर्फ़ अपने फ़ायदे के लिए अत्याचारी राज कर रहा था। लेकिन फिर भी कुछ अच्छी उम्मीदें लेकर यह आशा की जाती थी कि ठीक वक़्त आ जाने पर इंग्लैण्ड भारत को आज़ादी प्रदान कर देगा।

भारत पर पश्चिमी विचारों की टक्कर का कुछ असर हिन्दू-धर्म पर भी पड़ा। जनता पर तो कोई असर नहीं हुआ बल्कि, जैसा कि मैं पहले तुम्हें बता चुका हूं,

सरकार की नीति ने तो जानकर कट्टरपंथियों को ही मदद पहुंचाई। लेकिन सरकारी नौकरों और पेशेवर लोगों का जो नया मध्यमवर्ग बन रहा था, उनपर इसका असर हुआ। उन्नीसवीं सदी के शुरू में ही बंगाल में हिन्दू-धर्म को पश्चिमी ढंग पर सुधारने का कुछ जतन किया गया था। इसमें शक नहीं कि पुराने ज़माने में हिन्दू-धर्म में अनगिनती सुधारक हो चुके हैं, जिनमें से कुछका ज़िक्र तो मैं इन पत्रों में कर चुका हूं। लेकिन इस नये जतन पर तो साफ़-साफ़ ईसाइयत का और पश्चिमी विचारों का असर था। इस जतन के करनेवाले थे एक महान् व्यक्ति और बड़े विद्वान राजा राममोहन राय, जिनके नाम का ज़िक्र सती-प्रथा के सिलसिले में आ चुका है। उन्हें संस्कृत, अरबी और कई दूसरी भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, और उन्होंने जुदा-जुदा मज़हबों का गहरा अध्ययन किया था। वे मज़हबी रीतियों और पूजा वग़ैरा के विरोधी थे और समाज-सुधार व स्त्री-शिक्षा के हिमायती थे। उन्होंने जो समाज क़ायम किया, वह ब्रह्मसमाज कहलाया। जहांतक संख्या का ताल्लुक है, यह एक छोटी-सी संस्था थी, और अब भी वैसी ही है, और इसका दायरा बंगाल के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही रहा है। लेकिन बंगाल के जीवन पर इसका ज़बर्दस्त असर पड़ा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिवार इसका अनुयायी बन गया और कविवर रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर बहुत वर्षों तक इस समाज के आधार और स्तम्भ रहे। इसके एक और प्रमुख सदस्य थे केशवचन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से में एक और मज़हबी सुधार-आन्दोलन चला। यह पंजाब में शुरू हुआ और स्वामी दयानन्द सरस्वती इसकी नींव डालनेवाले थे। उन्होंने आर्यसमाज नाम का एक दूसरा समाज क़ायम किया। इसने भी हिन्दू-धर्म में पीछे से पैदा हुई बहुत-सी रूढ़ियों का खण्डन किया और जात-पात के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ा। इस समाज की पुकार थी, "वेदों की शरण में आओ।" हालांकि यह एक सुधार-आन्दोलन था, जिसपर साफ़ तौर से इस्लामी व ईसाई विचारों का असर पड़ा था, लेकिन असर में यह एक सरज़ोर लड़ाकू आन्दोलन था। और विचित्र बात यह हुई कि आर्यसमाज, जो शायद हिन्दुओं के बहुत-से सम्प्रदायों में इस्लाम के सबसे ज्यादा नज़दीक पहुंचता था, इस्लाम का मुक़ाबला करनेवाला दुश्मन बन गया। यह अपना बचाव करनेवाले व एक गतिहीन हिन्दू-धर्म को सरगर्मी से अपना प्रचार करनेवाला मज़हब बना देने की कोशिश थी। इसका इरादा हिन्दू-धर्म में जान डालने का था। राष्ट्रीयता का पुट दे देने से इस आन्दोलन को कुछ बल मिल गया। वास्तव में इस आन्दोलन के रूप में हिन्दू राष्ट्रीयता अपना सिर ऊंचा कर रही थी। और चूंकि यह हिन्दू राष्ट्रीयता थी, इस वास्ते इसके लिए भारतीय राष्ट्रीयता बन जाना कठिन हो गया।

ब्रह्म-समाज की बनिस्बत आर्यसमाज का कहीं अधिक व्यापक प्रचार था,

खासकर पंजाब में। लेकिन इसके दायरे में ज्यादातर मध्यम-वर्ग के ही लोग थे। आर्य-समाज ने शिक्षा के मैदान में बहुत बड़ा काम किया है, और लड़कों व लड़कियों दोनों ही के लिए स्कूल और कालेज खोले हैं।

इस सदी में धर्म में निष्ठा रखनेवाले एक और नामी व्यक्ति हुए— रामकृष्ण परमहंस। ये उन दूसरों जैसे बिल्कुल नहीं थे, जिनका इस पत्र में मैंने ज़िक्र किया है। उन्होंने सुधार के लिए किसी खंडन-मंडन करनेवाले समाज की स्थापना नहीं की। उन्होंने सेवा पर ज़ोर दिया, और 'रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के कई भागों में निर्बलों व ग़रीबों की सेवा की यह परम्परा आज भी चला रहे हैं। रामकृष्ण के एक मशहूर शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए हैं, जिन्होंने व्याख्यान देने के बड़े मोहक और ज़ोरदार ढंग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह राष्ट्रीयता किसी तरह भी इस्लामी-विरोधी या दूसरों की विरोधी नहीं थी, न आर्य-समाज की तंग राष्ट्रीयता की तरह की थी। फिर भी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता ही थी और इसका आधार हिन्दू-धर्म व हिन्दू-संस्कृति ही थी।

इस तरह यह एक दिलचस्प बात मालूम होती है कि उन्नीसवीं सदी में भारत में राष्ट्रीयता की शुरू की लहरों का रूप मज़हबी और हिन्दू था। इस हिन्दू राष्ट्र-वाद में मुसलमान लाज़िमी तौर पर कोई हिस्सा नहीं ले सकते थे। वे अलग ही रहे। अंग्रेज़ी शिक्षा से अपनेको दूर रखने के कारण नये विचारों का उनपर कम असर हुआ और उनमें दिमाग़ी हलचल बहुत ही कम थी। कई दशाब्दियों बाद उन्होंने अपने तंग दायरे से बाहर निकलना शुरू किया, और तब हिन्दुओं की तरह उनकी राष्ट्रीयता ने इस्लामी जामा पहन लिया। वे इस्लामी परम्पराओं व संस्कृति की तरफ़ मुड़कर देखने लगे और उन्हें यह डर हो गया कि हिन्दुओं के बहुमत के कारण कहीं वे इन्हें खो न बैठें। लेकिन मुसलमानों का यह आन्दोलन बहुत दिन बाद, सदी के अन्त में, ज़ाहिर हुआ।

हिन्दू-धर्म और इस्लाम के इन सुधारक और प्रगतिशील आन्दोलनों के बारे में एक और मज़ेदार बात यह है कि इन्होंने अपने पुराने मज़हबी विचारों और दस्तूरों को, जहांतक हो सका, पश्चिम से आनेवाले नये वैज्ञानिक व राजनैतिक विचारों के मुताबिक ढालने की कोशिश की। न तो वे निडर होकर इन पुराने विचारों और दस्तूरों को चुनौती देने को और उन्हें कसौटी पर कसने को तैयार थे, न वे विज्ञान की दुनिया को और अपने चारों तरफ के और राजनैतिक व सामाजिक विचारों को दरगुज़र कर सकते थे। इसलिए उन्होंने यह साबित करने की कोशिश करके दोनों का मेल मिलाने का जतन किया, कि तमाम आधुनिक विचारों और प्रगति का मूल उनके मज़हबों की पुरानी पवित्र पुस्तकों में मिल सकता है। यह जतन लाज़िमी तौर पर विफल होना ही था। इसने लोगों को सही विचार करने से रोक

दिया। साहस के साथ विचार करने और दुनिया को बदलनेवाले नई ताकतों व विचारों को समझने के बजाय वे प्राचीन दस्तूरों और परम्पराओं के बोझ से दब गये थे। आगे देखने और आगे बढ़ने के बजाय वे हर वक़्त लुक-छिपकर पीछे की तरफ़ ताक़ते थे। अगर कोई अपनी गर्दन हमेशा मोड़े रहे और पीछे की तरफ़ देखता रहे, तो वह आसानी से आगे नहीं बढ़ सकता।

शहरों में धीरे-धीरे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों का वर्ग बढ़ गया, और साथ-ही-साथ वकीलों, डाक्टरों, वग़ैरा पेशेवर लोगों का, और सौदागरों व व्यापारियों का एक नया मध्यम वर्ग पैदा हो गया। पहले भी एक मध्यम-वर्ग था, लेकिन उसे अंग्रेज़ों की शुरू की नीति ने बहुत-कुछ कुचल दिया था। यह नया मध्यम-वर्ग अंग्रेज़ी-राज का सीधा नतीजा था; एक तरह से ये इस राज के टुकड़-खोर थे। जनता की लूट में से इन लोगों को भी थोड़ा-सा हिस्सा मिल जाता था; अंग्रेज़ शासक-वर्ग की रकाबियों भरी मेज़ से गिरी हुई जूठन के कुछ टुकड़े ये लोग उठा लेते थे। इस वर्ग में थे देश के अंग्रेज़ी प्रशासन में सहायता देनेवाले छोटे-छोटे अहलकार; अदालतों की क़ानूनी कारंवाइयों में मदद देनेवाले और मुकद्दमेबाजी से मालदार बननेवाले वकील-बैरिस्टर; और इंग्लैण्ड के व्यापार व उद्योग के आढ़तिये सौदागर, जो अपने मुनाफ़े या दलाली के लिए अंग्रेज़ी माल बेचते थे।

इस नये मध्यम-वर्ग के इन लोगों में ज़्यादातर हिन्दू थे। इसकी एक वजह तो यह थी कि मुसलमानों की बनिस्बत इनकी माली हालत कुछ बेहतर थी, और दूसरी यह थी कि इन लोगों ने अंग्रेज़ी शिक्षा को अपना लिया, जो सरकारी नौकरियों में और पेशों में घुसने का एक परवाना थी। मुसलमान आमतौर पर ज़्यादा ग़रीब थे। अंग्रेज़ों के हाथों यहां के उद्योग-धन्धों की बर्बादी के कारण जिन बुनकरों की रोज़ी जाती रही थी, उनमें ज्यादातर मुसलमान जुलाहे थे। बंगाल में, जहां की मुस्लिम आबादी भारत के दूसरे सब प्रान्तों से ज़्यादा है, ये लोग ग़रीब काश्तकार और छोटे-छोटे भूमिया थे। ज़मींदार आमतौर पर हिन्दू थे; इसी तरह गांव का बनिया भी हिन्दू होता था, जो लोगों को सूद पर रुपया उधार देता था, और गांव का दूकानदार होता था। इस तरह ज़मींदार और महाजन दोनों ही काश्तकार को सताने और निचोड़ने की हैसियत में थे और अपनी इस हैसियत का वे पूरा फ़ायदा उठाते थे। इस तथ्य को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम तनाज़े की जड़ इसीमें है।

इसी तरह ऊंची जातियों के हिन्दू, खासकर दक्षिण में, दलित कही जानेवाली जातियों का, जो ज्यादातर खेतों पर काम करती थीं, शोषण करते थे। पिछले दिनों, और खासकर बापू के उपवास के बाद से, दलित जातियों की यह समस्या बहुत ज़ोरों से हमारे सामने है। छुआछूत पर आज चारों तरफ़ से हमले हो रहे

हैं और सैकड़ों मन्दिर व दूसरे स्थान अछूतों के लिए खोल दिये गए हैं। लेकिन असली बुनियादी सवाल तो आर्थिक शोषण का है, और जबतक यह दूर नहीं होता, तबतक दलित जातियां दलित ही रहेंगी। अछूत लोग खेतिहर चाकर रहे हैं, जिन्हें ज़मीन का मालिक नहीं बनने दिया जाता था। उन्हें और भी कितने ही हक़ नहीं हैं।

हालांकि सारा भारत और उसकी जनता दिन-पर-दिन ग़रीब होते गये, फिर भी नये मध्यम-वर्ग के मुट्ठी भर लोग कुछ हद तक ख़ुशहाल हो गये, क्योंकि देश के शोषण में इनको भी हिस्सा मिलता था। वकील-बैरिस्टरों व दूसरे पेशेवर लोगों व साहूकारों ने कुछ धन जमा कर लिया। इस धन को वे कारोबार में लगाना चाहते थे, ताकि उनको सूद की आमदनी होती रहे। वहुतों ने ग़रीबों के शिकार ज़मींदारों से ज़मीन ख़रीद ली और ख़ुद उसके मालिक बन गये। दूसरे लोग अंग्रेज़ी उद्योगों की अद्भुत सफलता देखकर भारत में भी कारख़ानों में रुपया लगाने की सोचने लगे। इस तरह भारतीय पूंजी इन बड़ी मशीनों के कारख़ानों में लगी और एक नया भारतीय उद्योगी पूंजीपति वर्ग पैदा होने लगा। यह हुआ क़रीब पचास साल पहले, यानी १८८० ई० के बाद।

जितने ये मध्यम-वर्गी लोग बढ़ते गए, उतनी ही उनकी हविस भी बढ़ती गई। उनकी इच्छा अब आगे-आगे बढ़ने की, ज़्यादा रुपया पैदा करने की, सरकारी नौकरियों में ज़्यादा जगहें पाने की, और कारख़ाने खोलने के लिए ज़्यादा सहूलियतें हासिल करने की होती गई। उन्होंने अंग्रेज़ों को अपने हर रास्ते में रुकावटें डालते हुए पाया। सब ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर अंग्रेज़ों ने अपना ठेका जमा रक्खा था और तमाम उद्योग-धन्धे उन्हींके फ़ायदे के लिए चलाये जा रहे थे। इसलिए उन्होंने हलचल मचाई और नये राष्ट्रीय आन्दोलन की यहीं से शुरूआत हुई। १८५७ ई० के विद्रोह और उसके बेरहमी से दमन के बाद लोगों की कमर ऐसी टूट गई कि उनके लिए कोई भी हल्ला-गुल्ला या सरगर्म आन्दोलन करना कठिन हो गया। फिर से कुछ जान आने में उन्हें बहुत वर्ष लग गये।

लेकिन राष्ट्रीय भावनाएं जल्दी ही फैलने लगीं और बंगाल इसमें सबसे आगे क़दम उठा रहा था। बंगाल में नई-नई पुस्तकें निकलने लगीं, जिनका बंगला साहित्य पर और साथ ही बंगाल में राष्ट्रीयता के विकास पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। हमारा मशहूर राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' बंकिमचन्द्र चटर्जी की ऐसी ही एक बंगला पुस्तक 'आनन्द मठ' से लिया गया है। 'नील दर्पण' नामक एक बंगला कविता ने भी बड़ी हलचल पैदा कर दी थी। इसमें नील की खेती की बागान-प्रथा से, जिसका कुछ हाल मैं तुम्हें बता चुका हूं, बंगाल के किसानों की तबाही का बड़ा ही दर्दभरा वर्णन किया गया था।

इसी बीच भारतीय पूंजीपतियों की शक्ति भी बढ़ रही थी, और वे हाथ-

पैर फैलाने के लिए ज्यादा जगह मांग रहे थे। आखिरकार, १८८५ ई० में नये मध्यम-वर्ग के इन तरह-तरह के तत्वों ने मिलकर अपने दावे की हिमायत के लिए एक संगठन बनाने का फ़ैसला किया। इस तरह १८८५ ई० में हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस की नींव पड़ी। जैसा कि तुम और भारत का बच्चा-बच्चा अच्छी तरह जानता है, यह संगठन पिछले वर्षों में बहुत बड़ा और ताक़तवर बन गया है। इसने जनता के हितों को हाथ में लिया, और कुछ हद तक यह उनकी हिमायती बन गई। इसने भारत में अंग्रेज़ी राज के आधार को ही ग़लत क़रार दिया और उसके खिलाफ़ जनता के बड़े-बड़े आन्दोलनों की रहनुमाई की। इसने स्वाधीनता का झंडा उठाया और यह आज़ादी के लिए मर्दानगी के साथ लड़ी। लेकिन यह सबकुछ बाद का इतिहास है। कांग्रेस जब पहले-पहल क़ायम हुई, तब एक बहुत ही नरम और फूंक-फूंककर कदम रखनेवाली संस्था थी, जो अंग्रेज़ों के लिए अपनी वफ़ादारी का इक़रार करती थी और छोटे-छोटे सुधारों के लिए बड़ी आजिज़ी से मागें पेश करती थी। उस समय यह मध्यम-वर्ग के कुछ आसूदा लोगों की प्रतिनिधि थी, ग़रीब मध्यम-वर्ग तक के लोग इसमें शामिल नहीं थे। जनता का, यानी किसानों और मज़दूरों का तो इससे कोई ताल्लुक़ ही नहीं था। यह खासकर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्गों की वकील थी, और इसकी सारी कार्रवाई हमारी सौतेली-भाषा अंग्रज़ी में होती थी। इसकी मांगें ज़मींदारों, भारतीय पूंजीपतियों और नौकरियों की तलाश में रहनेवाले पढ़े-लिखे बेकारों की मांगें होती थीं। जनता को पीस डालनेवाली ग़रीबी पर या जनता की ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। इसने नौकरियों के 'भारतीयकरण' की, यानी सरकारी नौकरियों में अंग्रेज़ों के बजाय भारतवासियों को ज्यादा जगहें दी जाने की मांग की। इसने यह न देखा कि भारत की जो कुछ खराबी है, वह उस मशीन में है, जो जनता का शोषण करती है; और इसलिए इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह मशीन किसके हाथों में है—भारतवासियों के या विदेशियों के। कांग्रेस की दूसरी शिकायतें फ़ौज और सिविल सर्विस के अंग्रेज़ी अफ़सरों के ज़बर्दस्त खर्चों के बारे में, और भारत से इंग्लैण्ड को जानेवाले सोने-चांदी के 'नाली' के बारे में, थी।

यह खयाल न करना कि शुरू में कांग्रेस कितनी नरम थी, यह बताकर मैं उसकी आलोचना कर रहा हूं या उसके महत्व को कम करने की कोशिश कर रहा हूं। मेरा यह मतलब नहीं है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि उन दिनों की कांग्रेस ने और उसके नेताओं ने बहुत बड़ा काम किया था। भारतीय राजनीति के कठोर तथ्यों ने इसे धीरे-धीरे, और बहुत-कुछ बिना मर्जी के, दिन-पर-दिन ज्यादा ग़र्म नीति अपनाने के लिए मज़बूर किया। लेकिन अपने शुरू के दिनों में वह जैसी थी उसके अलावा और कुछ हो भी नहीं सकती थी। उन दिनों इसके संस्थापकों को आगे क़दम बढ़ाने के लिए बड़ी हिम्मत की ज़रूरत थी। आज जब भीड़-की-भीड़

हमारे साथ है और इसके लिए हमारी तारीफ़ करती है, तब बहादुरी के साथ आज़ादी की बातें करना बड़ा आसान है। लेकिन किसी बड़े प्रयत्न में अगुवा बनना बड़ा कठिन है।

पहली कांग्रेस १८८५ ई० में बम्बई में हुई। बंगाल के उमेशचन्द्र बनर्जी इसके पहले अध्यक्ष थे। उन शुरू दिनों के दूसरे नामी व्यक्तियों के नाम हैं : सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी और फ़ीरोज़शाह मेहता। लेकिन इन सबके ऊपर नज़र आनेवाला नाम है दादाभाई नौरोजी का, जो 'भारत के वृद्ध पितामह कहलाये और जिन्होंने सबसे पहले भारत के लक्ष्य के लिए 'स्वराज्य' शब्द का इस्तेमाल किया। एक नाम मैं और बताऊंगा, क्योंकि कांग्रेस के पुराने सेनानियों में से आज एक वही ज़िन्दा हैं और उन्हें तुम अच्छी तरह जानती हो। वह हैं पण्डित मदन-मोहन मालवीय'[1]। पचास वर्ष से भी ज़्यादा समय से वह भारत के हित के लिए जूझ रहे हैं, और बुढ़ापे व चिन्ताओं से जर्जर हो जाने पर भी अपनी जवानी के सपने को सच्चा बनाने के काम में अभी तक जुटे हुए हैं।

इस तरह कांग्रेस साल-दर-साल आगे बढ़ती गई, और मज़बूती हासिल करती गई। इससे पहले के दिनों की हिन्दू राष्ट्रीयता की तरह इसका नजरिया तंग नहीं था। फिर भी यह बहुत-कुछ हिन्दू ही थी। कुछ मुसलमान नेता इसमें शामिल हुए, और इसके अध्यक्ष तक बने, लेकिन कुल मिलाकर मुसलमान इससे दूर ही रहे। उस समय के एक बड़े मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खां थे। उन्होंने देखा कि शिक्षा की कमी ने, खासकर आधुनिक शिक्षा की कमी ने, मुसलमानों का बहुत नुक़सान किया है, और उन्हें पिछड़ा हुआ रक्खा है। इसलिए उन्होंने यह महसूस किया कि राजनीति में टांग अड़ाने से पहले मुसलमानों को इस शिक्षा के लिए रज़ामन्द करना चाहिए और अपनी सारी ताक़त इसीपर लगानी चाहिए। इसलिए उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी, सरकार के साथ सहयोग किया और अलीगढ़ में एक बढ़िया कालेज कायम किया, जो अब विश्वविद्यालय बन गया है। मुसलमानों की बहुत बड़ी संख्या ने सर सैयद की राय मानकर अपनेको कांग्रेस से अलग रक्खा। लेकिन उनकी छोटी-सी संख्या हमेशा कांग्रेस के साथ रही। यह याद रहे कि जब मैं बड़ी संख्या या छोटी संख्या की चर्चा करता हूं तो उससे मेरा मतलब ऊंचे मध्यम-वर्ग के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दुओं और मुसलमानों की बड़ी-संख्या या छोटी संख्या से होता है। हिन्दू जनता और मुसलमान जनता, दोनों ही का कांग्रेस से कोई वास्ता न था, और उन दिनों इनमें से बहुतों ने तो इसका नाम तक न सुना था। नीचे के मध्यम वर्गों तक पर उस समय इसका कोई असर नहीं हुआ था।

---

[1]पंडित मदनमोहन मालवीय का देहान्त १९४६ ई० में हो गया।

कांग्रेस बढ़ी, लेकिन कांग्रेस से भी तेज़ रफ़्तार से राष्ट्रीयता के विचार और आज़ादी की चाह बढ़ी। कांग्रेस की पहुंच का दायरा लाज़िमीतौर पर छोटा था, क्योंकि इस दायरे में सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग ही शामिल थे। कुछ हद तक इसने अलग-अलग प्रान्तों को एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक लाने में और एकसा नज़रिया बनाने में मदद दी। लेकिन जनता में इसकी पैठ गहरी न होने के कारण इसकी ताक़त कुछ नहीं थी। एक पिछले पत्र में मैंने तुमसे एक घटना का ज़िक्र किया है, जिसने एशिया भर में भारी हलचल मचा दी थी। यह १९०४–५ ई० में छोटे-से जापान की भारी-भरकम रूस पर विजय थी। दूसरे एशियाई देशों के साथ-साथ भारत पर भी इसकी गहरी छाप पड़ी, यानी यहां के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे मध्यम-वर्गों पर असर पड़ा और उनका आत्म-विश्वास बढ़ गया। अगर यूरोप के एक सबसे ज़्यादा शक्तिशाली देश के ख़िलाफ़ जापान सफल हो सकता है तो भारत क्यों नहीं हो सकता ? बहुत अर्से से भारत के लोग अंग्रेज़ों के सामने छोटेपन की भावना के शिकार हो रहे थे। अंग्रेज़ों की लम्बी हुकूमत ने, और १८५७ के विद्रोह के वहशियाना दमन ने, उनकी हिम्मत पस्त कर दी थी। हथियार न रखने का क़ानून बनाकर उन्हें हथियार रखने से रोक दिया गया था। भारत में होनेवाली हरेक बात उन्हें यह याद दिलाती थी कि वे एक पराधीन जाति हैं, एक हीन जाति हैं। उन्हें दी जानेवाली शिक्षा तक भी उनमें हीनता की यही भावना भरती थी। बिगड़े हुए और झूठे इतिहास के ज़रिये उन्हें पढ़ाया जाता था कि भारत ऐसी भूमि है जहांसदा से अराजकता फैली रही है, और हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे का गला काटते रहे हैं और अन्त में अंग्रेज़ों ने ही आकर इस देश को इस बदनसीब बुरी हालत से छुटकारा दिलाया, और इसे अमन व खुशहाली दी। तथ्यों की और इतिहास की कोई परवाह न करके, यूरोप के लोग यह समझते और ढिंढोरा पीटते रहते थे कि सारा-का-सारा एशिया वास्तव में एक पिछड़ा हुआ महाद्वीप है, और इसलिए इसे यूरोपीय लोगों की ही हुकूमत में रहना चाहिए।

इसलिए जापान की विजय ने एशियावालों के लिए ताज़गी देनेवाली ज़बर्दस्त दवा का काम किया। भारत में हमारे बहुत-से लोगों में हीनता की जो भावना घर किये हुए थी, वह इससे कम हुई। राष्ट्रीयता के विचार, ख़ासकर बंगाल और महाराष्ट्र में, चारों तरफ़ फैलने लगे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने बंगाल को जड़ से हिला दिया और देश भर में हलचल मचा दी। सरकार ने बंगाल के बड़े प्रान्त को (जिसमें उस समय बिहार भी शामिल था) दो हिस्सों में बांट दिया, जिनमें एक हिस्सा पूर्वी बंगाल था। बंगाल के मध्यम-वर्ग की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता ने इसपर नाराज़ी ज़ाहिर की। उसे डर था कि अंग्रेज़ बंगाल के इस तरह टुकड़े करके उसे कमज़ोर करना चाहते हैं। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या ज़्यादा थी, इसलिए इस बंटवारे से हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी उठ खड़ा हुआ। बंगाल भर में

एक ज़बर्दस्त ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। ज़्यादातर ज़मींदार और भारतीय पूंजीपति भी इसमें शामिल हो गये। सबसे पहले उसी समय 'स्वदेशी' का नारा उठाया गया और इसके साथ ही ब्रिटिश माल के बायकाट का भी, जिससे भारतीय उद्योग और पूंजी को अलबत्ता सहायता मिली। कुछ हद तक जनता में भी यह आन्दोलन फैल गया, और हिन्दू-धर्म से भी इसने कुछ प्रेरणा ली। इसके साथ-साथ बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसा की विचार-धारा भी पैदा हुई और भारतीय राजनीति में पहली बार 'बम' सामने आया। बंगाल में आन्दोलन के एक नामी नेता अरविन्द घोष थे। वह अभी भी मौजूद हैं, लेकिन बहुत वर्षों से फ़्रान्सीसी भारत के पाण्डीचेरी शहर में आध्यात्मिक जीवन बिता रहे हैं।[1]

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में भी इस समय भारी खलबली फैली हुई थी, और हिन्दू-धर्म के ही रंग में रंगी हुई जोशीली राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। वहां बालगंगाधर तिलक नामक एक महान नेता हुए, जो भारतभर में लोकमान्य करके मशहूर हैं। तिलक एक बड़े विद्वान थे; वह पूर्व की पुरानी परिपाटियों के भी उतने ही जानकार थे, जितने पश्चिम की नई परिपाटियों के; वह बड़े भारी [illegible] थे; लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि वह जनता के एक महान नेता थे। कांग्रेस के नेताओं की पहुंच अभी सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों तक ही थी; जनता उन्हें नहीं जानती थी। लेकिन तिलक नये भारत के पहले राजनैतिक नेता हुए, जो जनता तक पहुंचे और जिन्होंने उससे बल हासिल किया। उनके व्यक्तित्व से मज़बूती और न दबनेवाली दिलेरी का एक नया बल पैदा हुआ जिसने बंगाल में राष्ट्रीयता और बलिदान की नई भावना से जुड़कर भारतीय राजनीति की शकल ही बदल दी।

१९०६, १९०७ और १९०८ ई० के इन हलचल-भरे दिनों में कांग्रेस क्या कर रही थी? राष्ट्रीय भावना की जागृति के इस समय में कांग्रेस के नेता राष्ट्र की रहनुमाई करने के बजाय, पीछे लटक रहे थे। उन्हें एक ठंडी किस्म की राजनीति की आदत हो गई थी, जिसमें जनता का दख़ल नहीं था। बंगाल का धधकता हुआ जोश उन्हें पसन्द नहीं था और न उन्हें महाराष्ट्र की वह नई और न झुकनेवाली नीति ही भाती थी जो तिलक के रूप में खड़ी थी। 'स्वदेशी'-आन्दोलन को तो उन्होंने सराहा, लेकिन ब्रिटिश माल के बायकाट से वे हिचकते थे। कांग्रेस में अब दो दल हो गये—एक तिलक और कुछ बंगाली नेताओं के नीचे गरम दल, और दूसरा कांग्रेस के पुराने नेताओं का नरम दल। लेकिन नरम दल के सबसे बड़े नेता एक नवयुवक गोपालकृष्ण गोखले थे, जो बड़े क़ाबिल व्यक्ति थे और जिन्होंने अपना जीवन सेवा के लिए अर्पित कर दिया था। गोखले भी महाराष्ट्रीय थे। अपने-अपने दलों

[1]महर्षि अरविन्द की मृत्यु दिसंबर, १९५० में हो गई।

को लेकर तिलक और गोखले एक दूसरे के सामने डटकर खड़े हो गये। इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि १९०७ ई० में कांग्रेस के दो टुकड़े हो गये और उसमें फूट पड़ गई। नरम दलवालों का कांग्रेस पर अधिकार बना रहा, गरम दलवाले निकाल बाहर किये गए। नरम दलवाले जीत तो गये, लेकिन देश में अपनी लोकप्रियता खोकर, क्योंकि तिलक का दल ही जनता में बहुत ज्यादा लोकप्रिय था। कांग्रेस कमज़ोर हो गई, और कुछ वर्षों तक उसका प्रभाव नाम को रह गया।

और इन वर्षों में सरकार का क्या हाल था? बढ़ती हुई भारतीय राष्ट्रीयता ने उसमें क्या प्रतिक्रिया पैदा की? सरकारों के पास, किसी ऐसी दलील या मांग का, जिसे वह पसन्द नहीं करतीं, जवाब देने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा हुआ करता है—डंडे का इस्तेमाल। बस, सरकार दमन पर उतर आई। उसने लोगों को जेलों में भरना शुरू किया, प्रेस-क़ानूनों से अखबारों पर लगाम लगा दी गई और हरेक ऐसे आदमी के पीछे, जिसे कि वह पसन्द नहीं करती थी, खुफ़िया पुलिस और जासूसों के दल-के-दल लगा दिये। उसी समय से सी० आई० डी० के आदमी भारत के बड़े-बड़े राजनैतिक नेताओं के हर दम के साथी बने हुए हैं। बंगाल के बहुत-से नेताओं को क़ैद की सज़ा दी गई। सबसे अधिक मार्के का मुक़दमा लोकमान्य तिलक का था, जिन्हें छै वर्ष की क़ैद की सजा दी गई थी, और जिन्होंने माण्डले जेल में अपनी क़ैद के दिनों में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ[1] लिखा था। लाला लाजपतराय को भी देश-निकाला देकर बर्मा भेज दिया गया।

लेकिन दमन से बंगाल को कुचलने में सफलता नहीं मिली। इसलिए कम-से-कम कुछ लोगों को तसल्ली देने के लिए झट-पट प्रशासन-सुधार का एक क़दम उठाया गया। उस समय की नीति, जो कि बाद में भी रही और आज भी है, राष्ट्रवादी दलों में फूट डालने की थी। यानी नरम दलवालों को बढ़ावा देना और मिलाना, और गरम दलवालों को कुचल देना। १९०८ ई० में मार्ले-मिन्टो-सुधारों के नाम से मशहूर नये सुधारों का ऐलान किया गया। इनसे नरम दलवालों को मिलाने में सफलता हुई और वे इन सुधारों को पाकर खुश हो गये। नेताओं के जेल में होने के कारण गरम दलवालों के हौसले टूट गये और राष्ट्रीय आन्दोलन कमज़ोर पड़ गया। लेकिन बंगाल में बंग-भंग के खिलाफ़ आन्दोलन जारी रहा और अन्त में सफल हुआ। १९११ ई० में ब्रिटिश सरकार ने बंग-भंग को फिर उलट दिया। इस विजय ने बंगालियों में नया साहस पैदा कर दिया। लेकिन १९०७ का आन्दोलन ठंडा पड़ चुका था, और भारत फिर राजनैतिक उदासीनता में जा पड़ा।

---

[1] गीता-रहस्य—तिलक ने यह ग्रन्थ मराठी में लिखा था, परन्तु इसका हिन्दी में तथा भारत की दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद हो गया है। इस ग्रन्थ में गीता के ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, नैतिक, आदि पहलुओं पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है।

१९११ ई० में ही यह ऐलान किया गया कि दिल्ली भारत की नई राजधानी होगी। दिल्ली—बहुत-से साम्राज्यों की राजधानी और बहुत-से साम्राज्यों की क़ब्र !

१९१४ ई० में, जिस समय यूरोप में महायुद्ध शुरू हुआ और सौ वर्ष का ज़माना खतम हुआ, भारत की हालत इस तरह की थी। महायुद्ध का भारत पर भी ज़बर्दस्त असर पड़ा, लेकिन उसके बारे में मैं आगे कुछ कहूंगा।

आखिरकार उन्नीसवीं सदी के भारत का हाल मैंने खतम कर ही दिया। मैं अब तुमको आज से अठारह साल पहले तक ले आया हूं। अब हम भारत को छोड़कर अगले पत्र में चीन चलेंगे, और दूसरे ढंग के साम्राज्यशाही शोषण की जांच करेंगे।

: ११४ :

# ब्रिटेन का चीन पर ज़बर्दस्ती अफ़ीम लादना

१४ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हें काफ़ी विस्तार के साथ भारत में हुए औद्योगिक व मशीनी क्रान्तियों का असर समझाया है और यह भी बताया है कि नये साम्राज्यवाद ने भारत में किस तरह काम किया। भारतवासी होने के नाते मैं तरफ़दार हूं, इसलिए मुझे डर है कि मैं तरफ़दारी की नज़र से देखे बिना नहीं रह सकता। लेकिन मैंने यही कोशिश की है, और मैं चाहता हूं कि तुम भी यही कोशिश करो कि इन सवालों पर, तथ्यों की सही जांच करनेवाले वैज्ञानिक की तरह, विचार किया जाय, मामले के पक्ष को साबित करने पर तुले हुए राष्ट्रवादी की तरह नहीं। राष्ट्रीयता अपनी जगह पर अच्छी चीज है, लेकिन वह बेवफ़ा दोस्त है और खतरनाक इतिहासकार है। कितनी ही घटनाओं के बारे में वह हमें अन्धा बना देती है, और कई बार सचाई को तोड़-मरोड़ देती है, खासकर जब उससे हमारा या हमारे देश का ताल्लुक़ हो। इसलिए हाल के भारतीय इतिहास पर विचार करते समय हमें सावधान रहना होगा; वरना कहीं ऐसा न हो जाय कि हम अपनी तमाम आफ़तों का दोष अंग्रेजों के सिर मढ़ने लगें।

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज उद्योगपतियों और पूंजीपतियों ने भारत का किस तरह शोषण किया, यह देख चुकने के बाद अब हम एशिया के दूसरे बड़े देश, भारत के पुराने दोस्त और राष्ट्रों में प्राचीन, चीन की तरफ़ चलते हैं। यहां हम पश्चिमवालों को एक दूसरे ही ढंग का शोषण करते पायेंगे। भारत की तरह चीन किसी यूरोपीय देश का उपनिवेश या अधीन-राज्य नहीं बना। उन्नीसवीं

## ब्रिटेन और चीन

पेकिंग
तितसिन
कोरिया
पीत नदी
नानकिंग
शांघाई
निंग्पो
हैंग्काऊ
यांग्सी नदी
फूचू
अमॉय
कैंटन
हांगकांग
इंडो-चायना
ब्रिटिश घुसपैठ के
मुख्य प्रदेश
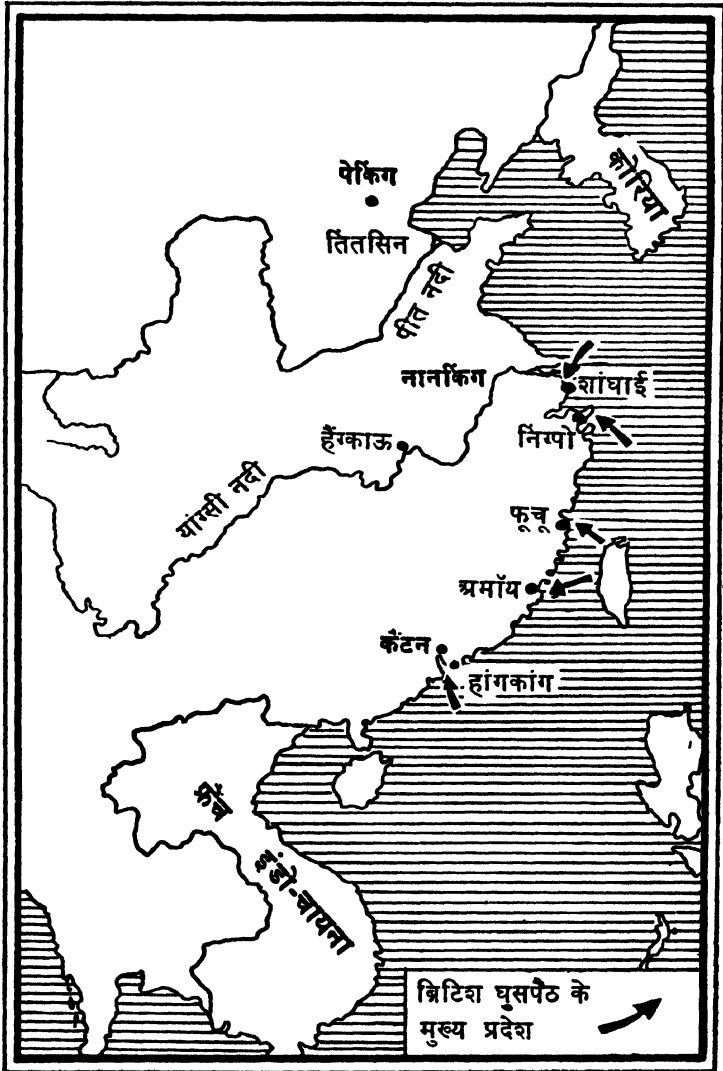
सदी के क़रीब बीच तक, वहां का केन्द्रीय शासन अपने देश को एक सूत्र में बांधे रखने के लिए काफ़ी ताक़तवर था, इसलिए वह इससे बच गया। जैसा कि हम देख आये हैं, भारत इससे सौ साल से भी ज्यादा पहले, मुग़ल साम्राज्य के अन्त के साथ ही टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। चीन उन्नीसवीं सदी में कमज़ोर तो हो गया, लेकिन फिर भी वह अन्त तक जमा रहा, और विदेशी शक्तियों की आपसी जलन ने उन्हें चीन की कमज़ोरी से बहुत ज्यादा फ़ायदा नहीं उठाने दिया।

चीन के बारे में आखिरी पत्र (पत्र-संख्या ९४) में मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेजों ने चीन के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए क्या-क्या कोशिशें कीं। इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज तृतीय के पत्र के उत्तर में मंचू-सम्राट् शियन-लुंग ने, जो बड़ा ऊंचा और कृपा दिखानेवाला पत्र लिखा था, उसका एक लम्बा हिस्सा मैंने तुम्हें बताया था। यह १७९२ ई० की बात है। यह वर्ष तुम्हें यूरोप के उस समय के तूफ़ानी दिनों की याद दिलायेगा—यह फ़ान्सीसी क्रान्ति का ज़माना था। इसके बाद ही नेपोलियन और उसके युद्ध आये। इस पूरे ज़माने में इंग्लैण्ड को दम मारने को भी फ़ुरसत न थी, वह जान हथेली पर लेकर नेपोलियन से लड़ रहा था। इस तरह नेपोलियन का अन्त होने तक और जान में जान आने तक चीन में अपना व्यापार बढ़ाने का इंग्लैण्ड के सामने सवाल ही न था। इसके फ़ौरन बाद, १८१६ ई० में, एक दूसरा ब्रिटिश राजदूत-मंडल चीन को भेजा गया। लेकिन दरबारी अदब-कायदे पूरा करने के बारे में कुछ दिक्कत पड़ने की वजह से चीनी सम्राट् ने ब्रिटिश राजदूत लार्ड एमहर्स्ट से मुलाक़ात करना नामंजूर कर दिया, और उसे वापस चले जाने का हुक्म दिया। इस कायदे का नाम 'कोतो' था, जो ज़मीन पर लेटकर दण्डवत् करने के समान था। शायद तुमने 'को-तोइंग' शब्द सुना होगा।

इसलिए यह बात यहीं खतम हो गई। इसी बीच एक नया व्यापार, यानी अफ़ीम का व्यापार, तेज़ी से बढ़ रहा था। इसे नया व्यापार कहना तो शयद ठीक न होगा, क्योंकि अफ़ीम पहले-पहल पन्द्रहवीं सदी में ही भारत से चीन पहुंच चुकी थी। पुराने ज़माने में भारत ने चीन को बहुत-सी अच्छी चीज़ें भेजी थीं। पर भारत ने जितनी चीजें भेजीं, उनमें अफ़ीम वास्तव में एक बुरी चीज थी। लेकिन यह व्यापार बहुत थोड़ा था। उन्नीसवीं सदी में यूरोपीय लोगों की वजह से, खासकर ब्रिटिश व्यापार की ठेकेदार ईस्ट इंडिया कम्पनी की वजह से, यह बढ़ने लगा। कहा जाता है कि पूर्व में डच लोग मलेरिया से बचने के लिए तम्बाकू के साथ अफ़ीम मिलाकर पिया करते थे। इन्हींकी मार्फत चीन में भी तम्बाकू की तरह अफ़ीम पीने का रिवाज पहुंचा, लेकिन उससे भी ज्यादा नुकसान पहुंचाने-वाले रूप में, क्योंकि यहां सिर्फ अफीम पी जाने लगी। चीनी सरकार इस आदत

को छुड़ाना चाहती थी, क्योंकि लोगों पर इसका बुरा असर पड़ रहा था, और अफ़ीम का व्यापार देश का बहुत-सा धन बाहर खींचे ले जा रहा था।

१८०० ई० में चीनी सरकार ने एक शाही फ़रमान जारी करके अपने देश में किसी भी काम के लिए अफ़ीम का आना रोक दिया। लेकिन इस व्यापार से विदेशियों को बड़ा फायदा होता था। इसलिए वे चोरी-छिपे अफ़ीम लाते रहे, और चीनी अहलकारों को रिश्वतें देकर अपना काम बनाते रहे। इसपर चीन-सरकार ने यह नियम बना दिया कि उसका कोई भी अहलकार विदेशी व्यापारियों से न मिलने पाये। किसी भी विदेशी को चीनी या मंचू भाषा सिखाने पर भी सख़्त सज़ाएं लगा दी गईं। लेकिन इन सबका कोई नतीजा नहीं निकला। अफ़ीम का व्यापार चलता ही रहा और रिश्वत और भ्रष्टाचार का बाजार गर्म हो गया। १८३४ ई० के बाद, जब ब्रिटिश सरकार नें ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ठेका छीन-कर तमाम अंग्रेज़ों के लिए यह व्यापार खोल दिया, तब तो वास्तव में हालत और भी ख़राब हो गई।

चोरी-छिपे ग़ैरकानूनी तौर पर अफ़ीम का लाया जाना एकदम बढ़ गया। तब आख़िरकार चीन-सरकार ने इसे रोकने के लिए सख़्त कार्रवाई करने का फ़ैसला किया। इस काम के लिए एक ईमानदार आदमी चुना गया। चोरी से आनेवाली इस अफ़ीम की रोक के लिए लिन-सी-हो को स्पेशल कमिश्नर मुकर्रर किया गया और उसने फ़ौरन ही तेज़ी और मुस्तैदी के साथ कार्रवाई की। वह दक्षिण के कैंटन नगर पहुंचा, जो इस ग़ैर-कानूनी व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र था, और वहां के तमाम विदेशी व्यापारियों को हुक्म दिया कि जितनी भी अफ़ीम उनके पास हो वह सब उसे सौंप दें। शुरू में तो उन्होंने इस हुक्म को मानने से इन्कार कर दिया। इसपर लिन ने इसके लिए उन्हें मजबूर किया। उसने उन्हें उनकी फ़ैक्टरियों में बन्द कर दिया, उनके चीनी मज़दूरों और नौकरों से उनका काम छुड़वा दिया और बाहर से उनके पास रसद जाना रोक दिया। इस सख़्ती और मुस्तैदी का नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापारियों ने घुटने टेक दिये और अफ़ीम की बीस हजार पेटियां निकालकर उसके सामने धर दीं। अफ़ीम के इस भारी ढेर को, जो चोरी से भेजने के लिए ही इकट्ठा किया गया था, लिन ने नष्ट करवा दिया। उसने विदेशी व्यापारियों से यह भी कह दिया कि जब-तक जहाज़ का कप्तान अफीम न लाने का वचन न दे देगा, तबतक कोई जहाज कैंटन में घुसने न पायेगा। अगर कोई इस वचन को तोड़ेगा तो चीनी सरकार जहाज़ और उसके सारे माल को ज़ब्त कर लेगी। लिन काम को पूरी तरह करने-वाला आदमी था। उसने सौंपे हुए काम को अच्छी तरह कर दिखाया, लेकिन उसने यह नहीं सोचा कि इसके नतीजे चीन के लिए कितनी मुश्किल पैदा करनेवाले थे।

नतीजे ये हुए कि इंग्लैण्ड के साथ लड़ाई छिड़ गई, जिसमें चीन की हार हुई, उसे बेइज़्ज़ती की सुलह करनी पड़ी, और वही अफ़ीम, जिसे चीन की सरकार रोकना चाहती थी, ज़बर्दस्ती चीन के हलक़ में ठूंसी गई। अफ़ीम चीन के लिए अच्छी चीज़ थी या बुरी, इस बात से कोई वास्ता न था। चीन की सरकार क्या चाहती थी, इससे भी कोई ज़्यादा सरोकार न था। असली बात यह थी कि अफीम के इस ग़ैरक़ानूनी व्यापार से अंग्रेज़ व्यापारियों को बड़ा भारी मुनाफ़ा होता था, और ब्रिटेन अपनी इस आमदनी का मारा जाना सहने को तैयार न था। कमिश्नर लिन ने जो अफ़ीम नष्ट करवादी थी, उसमें सबसे ज़्यादा अंग्रेज़ व्यापारियों की थी। इसलिए राष्ट्रीय इज़्ज़त के नाम पर अंग्रेज़ों ने १८४० ई० में चीन से युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध को 'अफ़ीम का युद्ध' नाम दिया जाना ठीक ही है, क्योंकि यह चीन पर अफ़ीम लादने के हक़ के लिए लड़ा और जीता गया था।

कैंटन व दूसरी जगहों की नाकेबन्दी करनेवाले ब्रिटिश जंगी-बेड़े के खिलाफ़ चीन का कुछ बस न चल सका। दो वर्ष बाद उसे हार माननी पड़ी, और १८४२ ई० में नानकिंग का सुलहनामा हुआ, जिसके मुताबिक़ पांच बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए, जिसका उस समय मतलब था खासकर अफ़ीम का व्यापार, खोल दिये गए। ये पांच बन्दरगाह थे कैंटन-शांघाई, अमॉय, निंगपो, और फ्यूचू। इन्हें 'सुलहनामे के बन्दरगाह' कहा जाता था। कैन्टन के पास के हांग-कांग टापू पर भी अंग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर लिया, और जो अफ़ीम नष्ट करदी गई थी उसके हर्जाने के तौर पर और चीन पर जो युद्ध ज़बर्दस्ती डाला गया था, उसके खर्चे के रूप में उन्होंने चीन से भारी रक़म ऐंठी।

इस तरह इंग्लैण्ड ने अफ़ीम की जीत हासिल की। चीन के सम्राट् ने इंग्लैण्ड की मलिका विक्टोरिया से, चीन पर जबर्दस्ती लादे गए अफ़ीम के व्यापार के भयंकर नतीजों का बहुत नर्मी के साथ ज़िक्र करते हुए, खुद अपील की। लेकिन मलिका की तरफ़ से कोई उत्तर न मिला। ठीक पचास वर्ष पहले इसी सम्राट् के पुरखे शियन-लुंग ने इंग्लैण्ड के बादशाह के नाम इससे बिलकुल दूसरे ही ढंग का पत्र लिखा था!

पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ चीन के बखेड़ों की यह शुरूआत थी। उसकी अलहदगी का अन्त हो गया। उसे विदेशी व्यापार मंज़ूर करना पड़ा, और साथ ही मंजूर करने पड़े ईसाई मिशनरी। इन ईसाई मिशनरियों ने साम्राज्यवाद की हरावल के रूप में चीन में बड़ा महत्व का काम किया। बाद में चीन पर जो-जो मुसीबतें आईं, उनका एक-न-एक कारण ये मिशनरी ही थे। इनका बर्ताव बड़ा गुस्ताखीभरा और ग़ुस्सा दिलानेवाला होता था, लेकिन चीनी अदालतों में उनपर मुक़दमा नहीं चलाया जा सकता था। नये सुलहनामे

के अनुसार पश्चिमी विदेशियों पर चीनी क़ानून और चीनी न्याय लागू नहीं हो सकता था। उनपर उन्हींकी अदालतों में मुक़दमा चल सकता था। यह 'बाह्य राज्य-क्षेत्र' हक़ कहा जाता था, जो अब भी मौजूद है, और जिसका बहुत विरोध किया जाता है। मिशनरियों ने जिन चीनियों को ईसाई बनाया, वे भी अब इस 'बाह्य राज्य क्षेत्र' की खास रियायतों की मांग करने लगे। वे किसी भी तरह इसके हक़दार न थे; लेकिन इससे क्या होता था, क्योंकि एक ताक़तवर साम्राज्यशाही राष्ट्र का प्रतिनिधि वह बड़ा मिशनरी उनकी पीठ पर था। इस तरह एक गांव को दूसरे गांव के खिलाफ़ लड़वा दिया जाता; और जब गांववालों व दूसरे लोगों के धीरज की सीमा टूट जाती और वे मिलकर किसी मिशनरी पर टूट पड़ते और कभी-कभी उसकी हत्या भी कर देते, तब उसकी पीठ पर रहने वाली साम्राज्यवाशाही शक्ति आ धमकती, और कसकर बदला लेती। यूरोपीय शक्तियों के लिए चीन म उनके मिशनरियों की हत्याओं से बढ़कर फ़ायदेमन्द घटनाएं और कोई नहीं हुई, क्योंकि हरेक ऐसी हत्या को वे खास रियायतें मांगन और ऐंठ लेने का सबब बना लेते थे।

चीन में एक सबसे भयंकर और खूनी बलवा खड़ा करनेवाला भी एक नया ईसाई ही था। यह ताइपिंग का बलवा के नाम से मशहूर है, जो १८५० ई० के लगभग हूंग-सिन-च्वान नामक एक आधे-पागल ने शुरू किया था। इस मज़हबी दीवाने को अनोखी सफलता मिली। वह "मूर्ति-पूजकों को मारो" का जंगी नारा लगाता हुआ सब तरफ़ गया और अनगिनती आदमी मारे गये। इस बलवे ने आधे से भी ज्यादा चीन को तबाह कर दिया, और बारह साल या इसीके क़रीब समय में अन्दाज़न दो करोड़ आदमी इसके कारण मौत के मुंह में चले गये। अलबत्ता इस बलवे और उसके साथ होनेवाले हत्याकाण्डों के लिए ईसाई मिशनरियों को या विदेशी शक्तियों को ज़िम्मेदार ठहराना ठीक नहीं है। शुरू-शुरू में तो मिशनरियों ने शायद इसकी खैर मनाई, लेकिन बाद में उन्हींने यह कह दिया कि हूंग से उनका कोई सरोकार नहीं है। लेकिन चीनी सरकार हमेशा यह विश्वास करती रही कि इसके जिम्मेदार मिशनरी लोग ही हैं। इस विश्वास से हम समझ सकते हैं कि ईसाई मिशनरियों की करतूतों से उस समय चीनी लोग कितने नाराज़ थे, और बाद में भी रहे। उनके लिए मिशनरी कोई मज़हब या नेकनीयती का दूत बनकर नहीं आया था, बल्कि साम्राज्यवाद का एजेण्ट था। जैसा कि किसी अंग्रेज़ लेखक ने कहा भी है—"चीनवालों के दिमाग़ में घटनाओं का यह सिलसिला बना हुआ है कि पहले मिशनरियों का आना, फिर जंगी जहाज़ों का पहुंचना, और उसके बाद ज़मीन हड़पना।" ये बातें ध्यान में रखनी चाहिए, क्योंकि चीन के बखेड़ों में मिशनरी बहुत बार सामने आता रहता है।

जो अभी तक इतने महान और शक्तिशाली थे, भाग्य-चक्र के इस अचानक परिवर्तन पर ज़रूर ही चकित रह गये होंगे। उन्होंने शायद यह नहीं देखा कि उनके पतन की ख़ास वजह उनके ही अतीत में समाई हुई थी; उन्होंने पश्चिम की औद्योगिक प्रगति को और चीन की अर्थ-व्यवस्था पर पड़नेवाले उसके सत्यानाशी नतीजों को अच्छी तरह नहीं समझा। 'बर्बर' विदेशियों के अपने यहां ज़बर्दस्ती घुस आने पर उन्हें बहुत गुस्सा आया। उस वक़्त के सम्राट् ने विदेशियों के इस घुस आने का ज़िक्र करते हुए एक मज़ेदार पुराने चीनी मुहाविरे का इस्तेमाल किया। उसने कहा कि मैं किसी आदमी को अपने बिस्तर के पास ख़र्राटे न लेने दूंगा! हालांकि प्राचीन ग्रंथों के ज्ञान और विनोद से मुसीबत के समय गंभीर विश्वास और खूब धीरज की शिक्षा मिलती थी, लेकिन विदेशियों को पीछे हटने के लिए वे काफ़ी नहीं थे।

नानकिंग की सुलह ने ब्रिटेन के लिए चीन के दरवाजे खोल दिये। लेकिन यह नहीं हो सकता था कि सारे मोटे-मोटे निवाले अकेला ब्रिटेन ही हड़प कर जाय। फ़ान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका भी आ धमके और उन्होंने भी चीन के साथ व्यापारी सुलहनामे किये। चीन लाचार था और उसपर की जानेवाली यह ज़ोर-ज़बर्दस्ती उसके दिल में विदेशियों के लिए कोई प्रेम और आदर पैदा न कर सकी। अपने यहां इन 'बर्बरों' की मौजूदगी पर ही उसे बहुत गुस्सा था। इधर विदेशियों की भूख बुझना भी अभी बहुत दूर की बात थी। चीन के शोषण की उनकी भूख बढ़ ही रही थी। ब्रिटेन फिर इसमें अगुआ बना।

विदेशियों के लिए यह बड़ा अच्छा मौक़ा था, क्योंकि चीन ताइपिंग के बलवे में उलझा होने के कारण कोई विरोध नहीं कर सकता था। इसलिए अब अंग्रेज युद्ध का कोई बहाना ढूंढ़ने लगे। १८५६ ई० में कैंटन के चीनी वाइसराय ने एक जहाज़ के चीनी मल्लाहों को समुद्री डकैती के अपराध में गिरफ़्तार कर लिया। यह जहाज़ चीनियों का था और इस मामले से विदेशियों का कोई सरोकार न था। लेकिन हांग-कांग-सरकार के दिये हुए परवाने की वजह से उसपर ब्रिटिश झण्डा फहराया हुआ था। इत्तफ़ाक़ की बात यह थी कि उस समय तक इस परवाने की मियाद भी ख़तम हो चुकी थी। लेकिन फिर भी, नदी-किनारे के मेमने और भेड़िये के क़िस्से की तरह, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इसीको युद्ध का बहाना बना लिया।

इंग्लैण्ड से चीन को फ़ौजें भेजी गईं। ठीक इन्हीं दिनों भारत में १८५७ का विद्रोह शुरू हो गया, और इसलिए इन सब फ़ौजों को भारत भेज दिया गया। विद्रोह के दबाये जाने तक चीन के युद्ध को इन्तज़ार करना पड़ा। १८५८ ई० में यह दूसरा चीन-युद्ध शुरू हुआ। इसी बीच फ़ान्स ने भी इस युद्ध में शरीक होने का

एक बहाना ढूंढ़ निकाला; क्योंकि चीन में किसी जगह कोई फ़ान्सीसी मिशनरी मार डाला गया था। इस तरह अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी चीनियों पर टूट पड़े, जो उस समय ताइपिंग के बलवे में उलझे हुए थे। ब्रिटिश और फ़ान्सीसी सरकारों ने रूस और अमेरिका को भी इस युद्ध में शामिल होने को उकसाया, लेकिन वे राज़ी न हुए। मगर लूट में हिस्सा बंटाने को वे बिलकुल तैयार थे! असल में कोई लड़ाई हुई ही नहीं, और इन चारों शक्तियों न चीन के साथ नई सन्धि करके ज़्यादा-से-ज़्यादा रिआयतें ऐंठ लीं। विदेशी व्यापार के लिए और ज़्यादा बन्दरगाह खुल गये।

लेकिन चीन के इस दूसरे युद्ध का क़िस्सा अभी खतम नहीं हुआ है। इस नाटक का अभी एक और अंक खेला जाना बाक़ी था, जिसका अन्त और भी ज़्यादा दुखदाई हुआ। जब सन्धियां की जाती हैं तो दस्तूर के मुताबिक़ उससे ताल्लुक़ रखनेवाली सरकारों को उन्हें पक्का या सही करना होता है। यह तय पाया था कि एक वर्ष के अन्दर पेकिंग शहर में इन नई सन्धियों को पक्का कर दिया जाय। जब इसका समय आया तो रूसी राजदूत तो खुश्की के रास्ते सीधा पेकिंग पहुंच गया। बाक़ी तीनों समुद्री-रास्ते से आये और उन्होंने अपनी नावों को पीहो नदी में होकर पेकिंग तक लाना चाहा। उन दिनों इस शहर को ताइपिंग के बलवाइयों से खतरा था और नदी पर क़िलेबन्दी की हुई थी। इसलिए चीन सरकार ने ब्रिटिश, फ़ान्स और अमेरिका के राजदूतों से नदी के रास्ते न आकर ज़रा उत्तर की तरफ होकर खुश्की के रास्ते आने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना कुछ बेज़ा न थी। अमेरिकी राजदूत तो इसपर राजी हो गया; लेकिन ब्रिटिश और फ़ान्सीसी राजदूत नहीं हुए। क़िलेबन्दी होते हुए भी उन्होंने ज़बर्दस्ती नदी में होकर आने की कोशिश की। इसपर चीनियों ने उनपर गोलियां चला दीं और भारी नुक़सान के साथ उन्हें वापस लौटने को मज़बूर किया।

मग़रूर और मदान्ध सरकारें, जो अपने सफ़र का रास्ता बदलने की चीन-सरकार की प्रार्थना तक सुनने को तैयार न थीं, इसे बर्दाश्त न कर सकीं। बदला लेने के लिए और ज़्यादा फ़ौजें बुला भेजी गईं। १८६० ई० में उन्होंने पेकिंग के प्राचीन नगर पर धावा बोल दिया, और अपना बदला बर्बादी, लूट और नगर की सबसे ज़्यादा अदभुत इमारत को जलाने के रूप में निकाला। यह इमारत शाही ग्रीष्म महल, यून-मिंग-यून थी, जो शीयन-लुंग के शासन-काल में पूरी हुई थी। इस महल में साहित्य और कला के अनमोल रत्न भरे हुए थे, जो चीन की सबसे सुन्दर चीज़ें थीं। कांसे की बड़ी सुन्दर मूर्तियां, चीनी मिट्टी के अद्भुत बढ़िया बर्तन, दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तकें, चित्र और हर तरह के विचित्र नमूने और हुनर के काम, जिनके लिए चीन एक हज़ार वर्ष से मशहूर था, इसमें रक्खे हुए थे। जाहिल

और हूश अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी सिपाहियों ने इन बेशक़ीमती चीज़ों को लूटा और कई दिनों तक जलती रहनेवाली भयंकर होलियों में झोंककर ख़ाक कर दिया ! ऐसी हालत में हजारों वर्षों की संस्कृति के धनी चीनियों ने अगर इस वहशीपन पर अपने दिलों में दर्द महसूस किया और इन तोड़-फोड़ करनेवालों को सिर्फ़ हत्याएं करनेवाले व बर्बाद करनेवाले जाहिल जंगली समझा तो इसमें क्या ताज्जुब है ? इससे उन्हें हूणों, मंगोलों और पुराने ज़माने के दूसरे बहुत-से जंगली तबाहकारों की फिर याद हो आई होगी।

लेकिन विदेशी 'बर्बरों' को इस बात की क्या परवाह थी कि चीनी उनके बारे में क्या सोचते हैं। अपने जंगी-जहाज़ों और नये ढंग के लड़ाई के हथियारों के बीच वे अपनेको सुरक्षित समझते थे। अगर सैकड़ों वर्षों में जमा की गई बहुमूल्य और दुर्लभ चीजें नष्ट हो गई, तो उन्हें इससे क्या मतलब था ? चीन की कला और संस्कृति की उन्हें परवाह ही क्या थी ? उनके शब्दों में तो—

"चाहे कुछ भी हो, हमारे पास बड़ी तोप है, और उनके पास नहीं है।"

## : ११५ :
# चीन पर मुसीबतें

२४ दिसम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि किस तरह १८६० ई० में अंग्रेजों और फ़ान्सीसियों ने पेकिंग के अद्‌भुत ग्रीष्म-भवन को तहस-नहस कर दिया। कहा जाता है कि चीनियों ने सुलह के झण्डे को नहीं माना, इसलिए उसकी सज़ा के तौर पर यह किया गया था। यह सच हो सकता है कि कुछ चीनी फ़ौजें इस तरह के अपराध की दोषी रही हों, लेकिन अंग्रेज़ों और फ़ान्सीसियों ने जान-बूझकर जो वहशीपन बताया, वह तो किसीकी समझ में आ ही नहीं सकता। कुछ नादान सिपाहियों का यह काम नहीं था, बल्कि ज़िम्मेदार अफ़सरों ने ही यह सबकुछ करवाया था। ऐसी बातें क्यों होती हैं ? अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी सभ्य और सुसंस्कृत क़ौमें हैं, और कई बातों में आधुनिक सभ्यता की अगुआ हैं। और फिर भी ये लोग जो निजी जीवन में बड़े भले और दूसरों का ख़याल रखनेवाले होते हैं, सार्वजनिक व्यवहार में और दूसरी क़ौमों के साथ लड़ाई में अपनी सारी सभ्यता और भलमनसाहत भूल जाते हैं। व्यक्तियों के आपसी व्यवहार में और राष्ट्रों के आपसी बर्ताव में एक बड़ा अजीब भेद मालूम होता है। बच्चों, लड़कों और लड़कियों को ज्यादा स्वार्थी न बनने, दूसरों का ख़याल रखने और अच्छा बर्ताव करने की शिक्षा दी जाती है। हमारी सारी शिक्षा का इरादा हमें यही

सबक़ सिखाना होता है, और कुछ हद तक हम यह सीखते भी हैं। पर जब युद्ध आते हैं, तो हम अपना पुराना सबक़ भूल जाते हैं और हमारे भीतर छिपा हुआ जानवर बाहर आ जाता है। इस तरह भले आदमी जानवरों की तरह बर्ताव करने लगते हैं।

एक ही बिरादरी के दो राष्ट्र भी, जैसे जर्मनी और फ़ान्स जब एक-दूसरे से लड़ते हैं, तब भी ऐसा ही होता है। लेकिन जब जुदा-जुदा नस्लों के बीच लड़ाई होती है, एशिया और अफ़ीका की नस्लों और क़ौमों के साथ यूरोपीय लोगों का मुक़ाबला होता है, तब हालत इससे भी बुरी हो जाती है। अलग-अलग नस्लें एक-दूसरी से परिचित नहीं होतीं, क्योंकि वे एक-दूसरी के लिए बन्द किताब की तरह होती हैं। और जहां अज्ञान है, वहां आपसी हमदर्दी नहीं होती। नस्लों की आपसी नफ़रत और दुश्मनी बढ़ती जाती हैं, और जब दो नस्लों के बीच लड़ाई छिड़ती है तब वह सिर्फ़ राजनैतिक युद्ध नहीं होता, बल्कि उससे कहीं बदतर नस्लों का युद्ध बन जाता है। इससे किसी हद तक यह समझ में आ जाता है कि १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह में जो दिल दहलानेवाली बातें हुई, और एशिया व अफ़ीका में हुकूमतें करनेवाली यूरोपीय शक्तियों ने जो जुल्म और वहशीपन किये, उनका क्या सबब था।

यह सब बहुत दुखभरा और बेहूदा नज़र आता है। लेकिन जहां एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र पर, एक क़ौम की दूसरी क़ौम पर और एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर हुकूमत होती है, वहां बेचैनी, रगड़, और विद्रोह, और शोषित राष्ट्र, क़ौम या वर्ग का अपने शोषक से पीछा छुड़ाने की कोशिश, होना लाज़िमी है। आज के हमारे समाज का आधार यही एक दूसरे का शोषण है। इसीको पूंजीवाद कहते हैं और इसीसे साम्राज्यवाद पैदा हुआ।

उन्नीसवीं सदी के बड़े-बड़े कल-कारखानों ने और उद्योगों की उन्नति ने पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों को और संयुक्त राज्य अमेरिका को मालदार और शक्तिशाली बना दिया था। वे समझने लग थे कि वे ही दुनिया के मालिक हैं, और दूसरी नस्लें उनसे बहुत हीन हैं और इसलिए उन्हें उनके लिए रास्ता छोड़ देना चाहिए। कुदरत की ताकतों पर कुछ काबू हो जाने की वजह से वे दूसरों के लिए मग़रूर और घमंडी हो गये। वे इस बात को भूल गये कि सभ्य आदमी को कुदरत पर ही नहीं बल्कि खुद अपने पर भी क़ाबू करना चाहिए। इसलिए हम देखते हैं कि इस उन्नीसवीं सदी में वे प्रगतिशील नस्लें, जो बहुत बातों में दूसरी नस्लों से आगे थीं, अक्सर ऐसे बर्ताव कर बैठती थीं, जो पिछड़े हुए जंगली आदमी को भी शरमा दें। इससे तुमको यूरोपीय नस्लों का एशिया और

अफ़्रीका में न सिर्फ़ पिछली सदी का, बल्कि आज का भी, बर्ताव समझने में शायद मदद मिलेगी।

यह खयाल न कर बैठना कि मैं अपने लोगों से या दूसरी नस्लों से यूरोपीय नस्लों की यह तुलना अपनी अच्छाई बताने की ग़रज़ से कर रहा हूं। हर्गिज़ नहीं। हम सबमें काले धब्बे मौजूद हैं; बल्कि हमारे कुछ धब्बे तो काफ़ी बुरे हैं; वरना हम जितने नीचे गिर गये हैं, उतने न गिरते।

अब हम चीन वापस चलेंगे। ग्रीष्म-महल को नष्ट करके अंग्रेज़ और फ़ान्सीसी अपनी ज़बर्दस्त ताक़त जतला चुके थे। इसके बाद उन्होंने चीन को पुरानी सन्धियों को पक्की करने के लिए मजबूर किया और उससे नई-नई रियायतें ऐंठ लीं। इन सन्धियों के मुताबिक़ चीन-सरकार को शंघाई में विदेशी अफ़सरों की मातहती में अपना एक तटकर विभाग बनाना पड़ा। इसका नाम रक्खा गया 'इम्पीरियल मैरिटाइम कस्टम्स' यानी शाही समुद्री तटकर।

इस बीच ताइपिंग का बलवा, जिसने चीन को कमज़ोर करके विदेशी ताक़तों को पैर फैलाने का मौक़ा दिया था, चल ही रहा था। आख़िरकार १८६४ ई० में चीनी गवर्नर ली-हुंग-चाग ने, जो चीन का एक प्रमुख राजनीतिज्ञ हो गया है, इसको पूरी तरह दबा दिया।

जब इंग्लैण्ड और फ़ान्स चीन पर इस तरह आतंक जमाकर उससे खास अधिकार और रियायतें ऐंठ रहे थे, उत्तर में रूस ने बिना ज्यादा खून-खराबी के ही एक मार्के की कामयाबी हासिल करली। कुछ ही वर्ष पहले क़ुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा जमाने के भूखे रूस ने यूरोप में तुर्की पर हमला किया था। इंग्लैण्ड और फ़ान्स दोनों ही रूस की बढ़ती हुई ताक़त से डरते थे, इसलिए वे तुर्कों से जा मिले और १८५४-५६ ई० को क्रीमियन युद्ध में उन्होंने रूस को हरा दिया। पश्चिम में हार खाकर रूस ने पूर्व पर नज़र डालनी शुरू की और उसे बड़ी क़ामयाबी मिली। बिना लड़ाई के उपायों से चीन को फुसलाया गया कि वह ब्लादीवोस्तोक के शहर व बन्दरगाह को समुद्र से लगे हुए उत्तर-पूर्वी प्रान्त समेत रूस के हवाले कर दे। रूस की इस कामयाबी की नामवरी एक नौजवान रूसी अफ़सर मुरावीफ़ को है। इस तरह तीन साल के युद्ध और पागलपन भरी बर्बादी के बाद भी इंग्लैण्ड और फ़ान्स जितना फ़ायदा न उठा सके, उससे कहीं बहुत ज़्यादा रूस ने दोस्ताना तरीक़ों से हासिल कर लिया।

१८६० ई० में हालत इस तरह की थी। मंचूवंश का महान चीनी साम्राज्य, जिसका फैलाव और दबदबा अठारहवीं सदी के अन्त तक लगभग आधे एशिया पर छा गया था, अब दीन-हीन हो गया था। सुदूर यूरोप की पश्चिमी शक्तियों ने उसे हरा दिया था, नीचा दिखा दिया था। दूसरे अन्दरूनी झगड़े-फिसादों ने

साम्राज्य को क़रीब-क़रीब उलट दिया था। इन सब बातों ने चीन को जड़ से हिला दिया। ज़ाहिर था कि हालत अच्छी नहीं थी, इसलिए नई हालतों का और विदेशी ख़तरे का सामना करने के लिए देश के दुबारा संगठन का कुछ प्रयत्न किया गया। इसलिए १८६० ई० के वर्ष को, जबकि चीन ने विदेशियों के हमलों का मुक़ाबिला करने की तैयारी की, नये युग की शुरूआत समझनी चाहिए। चीन का पड़ौसी जापान भी इस समय इसी तरह की तैयारी में लगा हुआ था। इसलिए यह भी उसके लिए मिसाल बन गया। चीन की बनिस्बत जापान को कहीं ज्यादा सफलता मिली, लेकिन कुछ देर के लिए चीन भी विदेशी शक्तियों को रोके रहा।

चीन के एक हमदर्द दोस्त बर्लिङ्गम नामक अमेरिका-निवासी के साथ एक चीनी प्रतिनिधि-मण्डल संधिवाले राष्ट्रों के यहां भेजा गया और इसने चीन के लिए पहले से कुछ अच्छी शर्तें हासिल करने में सफलता हासिल की। १८६८ ई० में चीन और अमेरिका के बीच एक नई सन्धि हुई, और इसकी दिलचस्प बात यह है कि इसमें चीन सरकार ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर मेहरबानी और रियायत के तौर पर अपने यहां के मज़दूरों को अमेरिका ले जाया जाना मंज़ूर कर लिया। संयुक्तराज्य अमेरिका अपने पश्चिमी प्रशांत राज्यों को, ख़ासकर कैलिफ़ोर्निया को बढ़ाने में लगा हुआ था और वहां मज़दूरों की बहुत कमी थी। इसलिए उसने चीनी मज़दूरों को अपने यहां मंगवाया। लेकिन यह एक नये झगड़े का सबब बन गया। अमेरिकी लोग सस्ते चीनी मज़दूरों का विरोध करने लगे, इससे दोनों सरकारों के बीच तनातनी शुरू हो गई। बाद में अमेरिकी सरकार ने चीनी मज़दूरों का आना बन्द कर दिया। इस अपमानजनक बर्ताव पर चीनी जनता में बहुत नाराज़ी फैली और उन्होंने अमेरिकी माल का बायकाट कर दिया। लेकिन यह सब एक लम्बा क़िस्सा है, जो हमें बीसवीं सदी में पहुंचा देता है। हमें उसमें जाने की ज़रूरत नहीं।

ताइपिंग का बलवा अभी दब भी न पाया था कि मंचू-शासकों के ख़िलाफ़ एक और विद्रोह उठ खड़ा हुआ। यह ख़ास चीन में नहीं, बल्कि सुदूर पश्चिम में, एशिया के बीच में, तुर्किस्तान में हुआ था। यहां की ज्यादातर आबादी मुसलमानों की थी, इसलिए १८६३ ई० में यहां के मुस्लिम क़बीलों ने, जिनका नेता याक़ूबबेग था, विद्रोह करके चीनी अधिकारियों को निकाल बाहर किया। यह मुक़ामी विद्रोह दो कारणों से हमारे लिए दिलचस्प है। रूस ने चीन का कुछ इलाका हड़प करके इससे कुछ फ़ायदा उठाने की कोशिश की। वास्तव में जब कभी चीन मुसीबत में फंसा होता तभी यूरोपीय शक्तियों की यही ख़ूब सधी-सधाई चालबाज़ी होती थी। लेकिन, यह देखकर सबको बड़ा ताज्जुब हुआ कि इस बार चीन ने रूस की कार्रवाई को मानने से इन्कार कर दिया और आख़िर-

कार हड़प की हुई ज़मीन उगलवा ली। इसकी वजह थी चीनी सेनापति त्सो-त्सुंग-तांग का मध्य-एशिया में याक़ूबबेग के खिलाफ़ अनोखा मोर्चा। इस सेनापति ने बड़े इतमीनान के साथ मामले को शुरू किया। बाग़ियों तक पहुंचने के पहले वह साल-पर-साल बिताता हुआ, धीरे-धीरे अपनी फ़ौज आगे बढ़ाता रहा। दो बार तो उसने अपनी फ़ौज को इतने दिनों तक एक जगह ठहराये रक्खा कि उसने अपने खाने के लिए अनाज बोकर फ़सल भी काट ली! फ़ौज के लिए रसद की समस्या हमेशा कठिन रहती है, और गोबी के रेगिस्तान को पार करते वक़्त तो यह भयानक हो गई होगी। इसलिए सेनापति त्सो ने इसे निराले ढंग से हल कर लिया। इसके बाद उसने याक़ूबबेग को हरा दिया और विद्रोह का अन्त कर दिया। कहा जाता है कि काशगर, तुरफ़ान और यारकन्द में उसकी चढ़ाई भयानक और फ़ौजी लिहाज़ से अद्‌भुत है।

मध्य-एशिया में रूस के साथ सन्तोष के लायक़ फ़ैसला कर लेने के बाद चीनी सरकार को जल्दी ही अपने दूर तक फैले हुए, लेकिन टूक-टूक होनेवाले राज्य के दूसरे हिस्से में झगड़े का सामना करना पड़ा। यह झगड़ा चीन की मातहत रियासत अनाम में हुआ। फ्रान्स का इसपर बहुत दिनों से दांत था और चीन और फ्रान्स के बीच लड़ाई छिड़ गई। इस बार फिर सबको ताज्जुब हुआ कि चीन ने अच्छा लोहा लिया और फ्रान्स से ज़रा भी नहीं दबा। १८८५ ई० में सन्तोष के लायक़ सन्धि हो गई।

चीन में इस नई मज़बूती के चिन्हों से साम्राज्यवादी शक्तियों पर गहरी छाप पड़ी। ऐसा मालूम होने लगा कि चीन अपनी १८६० ई० और इसके पहले की कमज़ोरी को दूर करके पनप रहा था। सुधारों की चर्चा चली और बहुत-से लोग यह समझने लगे कि चीन अपनी नाज़ुक हालत को पार कर गया है। इसी कारण, १८८६ ई० में इंग्लैण्ड ने बर्मा को अपने साम्राज्य में मिलाते वक़्त चीन को हर दसवें साल दस्तूर के मुताबिक़ खिराज भेजने का वादा कर लिया।

लेकिन चीन की नाज़ुक हालत सुधरने में अभी बहुत कसर थी। अभी उसकी क़िस्मत में बहुत बेइज्ज़ती, मुसीबतें और टूट-फूट बदी थीं। उसके अन्दर की ख़राबी सिर्फ़ उसकी फ़ौज या जंगी बेड़े की कमज़ोरी नहीं थी, बल्कि कोई बहुत गहरी चीज़ थी। उसका सारा सामाजिक व आर्थिक ढांचा चूर-चूर हो रहा था। मैं बतला चुका हूं कि उन्नीसवीं सदी के शुरू में, जब मंचू-शासकों के ख़िलाफ़ गुप्त समितियां बन रही थीं, चीन की हालत बहुत ख़राब थी। विदेशी व्यापार ने और उद्योगोंवाले देशों के सम्पर्क के असर ने हालत को और बिगाड़ दिया था। १८६० ई० के बाद चीन में जो मज़बूती दिखाई दी, उसके पीछे असलियत कुछ नहीं थी। कुछ उत्साही अफ़सरों ने, ख़ासकर ली हुंग-चांग ने, इधर-उधर कुछ

मुकामी सुधार किये । लेकिन ये सुधार न तो समस्या की जड़ तक पहुंच सके, न चीन को कमज़ोर बनानेवाले रोग का इलाज ही कर सके ।

इन वर्षों में चीन में जो ऊपरी मज़बूती दिखाई दी, उसकी ख़ास वजह यह थी कि शासन की लगाम एक ज़ोरदार शासक के हाथ में थी । यह थी एक अनोखी महिला, सम्राज्ञी राजमाता त्ज़ू-सी । जिस समय शासन की बागडोर उसके हाथों में आई, उस समय उसकी उम्र सिर्फ़ २६ साल की थी, क्योंकि नाम के लिए सम्राट् उसका दूध-मुंहा पुत्र था । सैंतालीस वर्ष तक उसने बड़ी मर्दानगी के साथ चीन पर शासन किया । उसने चुन-चुनकर मुस्तैद अफ़सर मुक़र्रर किये, और उनपर अपनी मर्दानगी की कुछ छाप लगा दी । इन बातों की व इस महिला की ही वजह से चीन ने इसनी बहादुरना मज़बती दिखाई, जितनी वह बहुत वर्षों से नहीं दिखा सका था ।

लेकिन इसी अर्से में संकड़े समुद्र के उस पार जापान चमत्कार दिखा रहा था और ऐसा बदल रहा था कि ब-पहचान हुआ जा रहा था । इसलिए आओ अब हम जापान चलें ।

: ११६ :

## जापान तेज़ी से आगे दौड़ता है

२७ दिसम्बर, १९३२

जापान का हाल लिखे मुझे बहुत दिन हो गये हैं । पांच महीने हुए मैंने तुम्हें (पत्र सं० ८१ में) बताया था कि सत्रहवीं सदी में इस देश ने कैसे विचित्र ढंग से अपने-आपको चारों तरफ़ से बन्द कर लिया था । १६४१ ई० से लेकर २०० वर्षों से ज्यादा तक, जापानी लोग बाक़ी दुनिया से बिलकुल अलग होकर रहे । इन २०० वर्षों ने यूरोप, एशिया और अमेरिका और अफ़्रीका तक में बड़े-बड़े परिवर्तन देखे । इस ज़माने में जो हलचल पैदा करनेवाली घटनाएं हुईं, उनमें से कुछका हाल मैं तुम्हें बता ही चुका हूं । लेकिन इस एकान्तवासी राष्ट्र में इन घटनाओं की कोई ख़बर नहीं पहुंची; जापान की पुरातन-युगी सामन्ती हवा को छेड़नेवाला कोई झोंका बाहरी दुनिया से न आया । ऐसा मालूम होता था मानो समय और परिवर्तन की चाल रोक दी गई हो और सत्रहवीं सदी बीच में ही बन्दी बना दी गई हो । क्योंकि, हालांकि काल का पहिया घूम रहा था, लेकिन तसवीर वहीं ठहरी हुई मालूम देती थी । यह तसवीर थी सामन्ती जापान की, जिसमें ज़मींदार-वर्ग के हाथों में सत्ता थी । सम्राट् के हाथ में कोई अधिकार नहीं था, असली शासक शोगुन था, जो बड़े फ़िरक़े का मुखिया होता था । भारत के क्षत्रियों की तरह वहां

## जापान का उत्कर्ष

रूस
मंचूरिया
मंगोलिया
जापान
पीकिंग
पोर्टआर्थर
कोरिया
पीत नदी
चीन
नानकिंग
शंघाई
यांगटीसी नदी
फारमूसा
कैन्टन
चीन-युद्ध (१८९५) और
रूसी युद्ध (१९०५) के बाद
जापान के अधिकार में प्रदेश
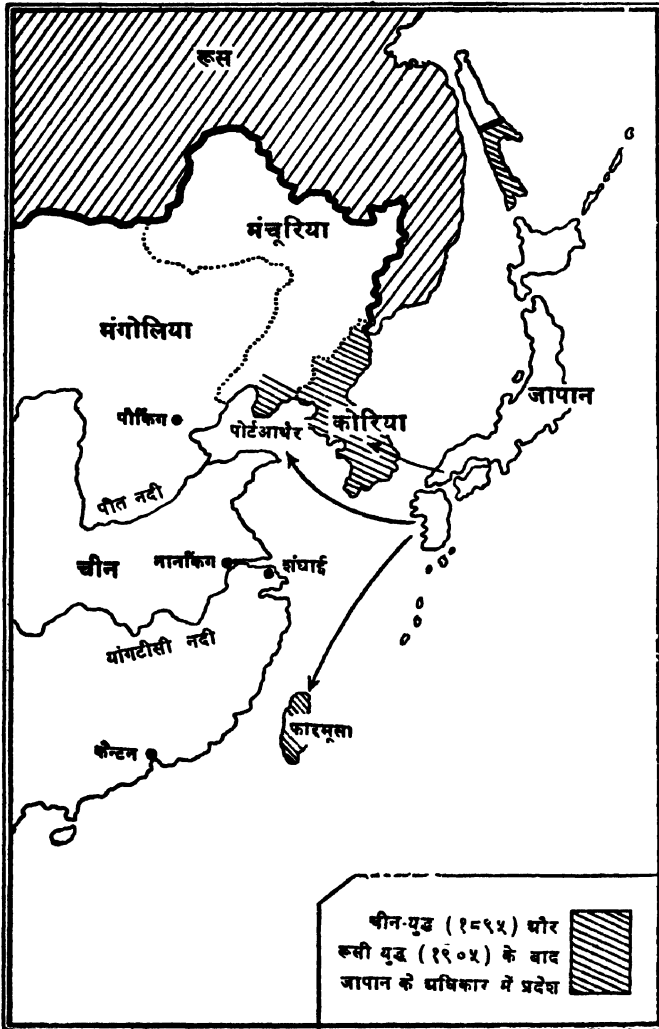
भी समूराई नाम की एक सैनिक जाति थी। सामन्ती सरदार और समूराई लोग ही शासक-वर्ग थे। सारे सरदार और फ़िरक़े अक्सर आपस में लड़ते रहते थे। लेकिन किसानों और दूसरे लोगों को सताने में और उनका शोषण करने में ये सब मिलकर एक हो जाते थे।

फिर भी जापान में शान्ति थी। लम्बे गृह-युद्धों के बाद, जिनसे देश पस्त हो गया था, वह शान्ति बड़ी सुखदाई थी। आपस में हमेशा लड़नेवाले बड़े-बड़े सरदारों में से कुछ को—दाइम्यो सरदारों को—पूरी तरह दबा दिया गया। गृह-युद्ध की तबाही को जापान धीरे-धीरे दुरुस्त करने लगा। लोगों का ध्यान अब उद्योग, कला, साहित्य और मज़हब की ओर ज्यादा खिंचने लगा। ईसाई-मज़हब दबाया जा चुका था; अब बौद्ध-धर्म का दुबारा जोर हुआ और बाद में शिण्टो-मत का, जो ख़ास जापानी ढंग की पितरों की पूजा है। सामाजिक व्यवहार और सदाचार के मामलों में चीनी ऋषि कन्फ्यूशस को आदर्श माना जाने लगा। दरबार के और अमीर-सरदारों के मंडलों में कला ख़ूब पनपी। कई बातों में मध्य-युगों के यूरोप की-सी तसवीर सामने आ गई।

लेकिन परिवर्तनों को रोके रखना आसान नहीं होता। हालांकि बाहरी लगाव बन्द कर दिये गए थे, लेकिन खुद जापान के अन्दर ही परिवर्तन काम कर रहा था; हां, इस परिवर्तन की चाल उससे बहुत धीमी थी, जो बाहरी सम्पर्क से होती। दूसरे देशों की तरह यहां भी सामन्ती व्यवस्था आर्थिक तबाही की तरफ़ जाने लगी। असन्तोष बढ़ गया, और शासन का प्रमुख होने के सबब से शोगुन इसका शिकार होने लगा। शिण्टो-पूजा की उन्नति की वजह से अब जनता सम्राट् का आदर करने लगी, क्योंकि उसे सूर्य का वंश-धर माना जाता था। इस तरह चारों ओर फैले हुए असन्तोषों से राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई और यही भावना, जिसकी नींव अर्थ-व्यवस्था के खंडहरों पर थी, लाज़िमी तौर पर परिवर्तन लाने-वाली और जापान के दरवाज़े बाहरी दुनिया के लिए खोलनेवाली बन जाती।

जापान के दरवाज़े खोलने के लिए विदेशी शक्तियों ने बहुतेरी कोशिशें की थीं, लेकिन वे सब विफल रहीं। उन्नीसवीं सदी के लगभग बीच में संयुक्त राज्य अमेरिका इसमें ख़ास तौर से दिलचस्पी लेने लगा। वह इन दिनों पश्चिम में कैलि-फ़ोर्निया तक फैल गया था, और सैनफ्रांसिस्को एक बड़ा बन्दरगाह बनता जा रहा था। चीन से जो नया व्यापार खुला था वह बड़ा आकर्षक था, मगर प्रशान्त महा-सागर को पार करना एक लम्बी यात्रा थी। इसलिए अमेरिकावाले चाहते थे कि इस लम्बी यात्रा में किसी जापानी बन्दरगाह पर ठहरकर रसद ले सकें। अमेरिका-वालों ने बार-बार जापान के दरवाज़े खुलवाने की जो कोशिशें कीं, उनकी यही वजह थी।

१८५३ ई० में अमेरिकी जहाज़ों का एक दस्ता, अमेरिका के राष्ट्रपति का पत्र लेकर जापान आया। जापान ने भाप से चलनेवाले इन्हीं जहाज़ों को सबसे पहले देखा। साल भर बाद शोगुन दो बन्दरगाह खोलने के लिए राज़ी हो गया। जब अंग्रेज़ों, रूसियों और डचों ने यह सुना तो उन्होंने भी आकर शोगुन से इसी तरह सन्धिया कीं। इस तरह २१३ वर्ष बाद जापान के दरवाज़े फिर बाहरी दुनिया के लिए खुल गये।

लेकिन झगड़ा खड़ा होनेवाला था। विदेशी शक्तियों के आगे शोगुन ने अपने-आपको सम्राट् जाहिर किया था। पर अब वह लोकप्रिय नहीं रहा था और उसके और उसकी विदेशी सन्धियों के ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त खलबली मच गई। कुछ विदेशी मारे भी गये और इसका नतीजा यह हुआ कि विदेशी शक्तियों ने जहाज़ी हमला कर दिया। हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती गई; अन्त में, १८६७ ई० में शोगुन को इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर किया गया। इस तरह तोकुगावा शोगुनशाही का अन्त हुआ, जो तुम्हें याद हो या न हो, १६०३ ई० में ईएयासू से शुरू हुई थी। यही नहीं, शोगुनशाही की सारी प्रथा ही, जो ७०० वर्षों से चली आ रही थी, ख़तम हो गई।

नये सम्राट् को अब अपनी असली सत्ता मिल गई। मुत्शीहितो के नाम से उसी समय राजगद्दी पर बैठनेवाला यह सम्राट् सिर्फ़ चौदह वर्ष का लड़का था। इसने १८६७ से १९१२ ई० तक, यानी पैंतालीस वर्ष, राज किया। यह ज़माना 'मेईजी', यानी प्रबुद्ध शासन का युग कहलाता है। इसी सम्राट के शासन-काल में जापान ने तेज़ी से प्रगति की और वह पश्चिमी देशों की नक़ल करके बहुत बातों में उनकी बराबरी करने लगा। एक पीढ़ी में पैदा किया हुआ यह परिवर्तन निराला है, और इतिहास में बे-मिसाल है। जापान एक बड़ा औद्योगिक देश हो गया और पश्चिमी राष्ट्रों के ढंग का साम्राज्यशाही व लुटेरा राष्ट्र बन गया। प्रगति के तमाम लक्षण उसमें मौजूद थे। उद्योग-धन्धों में तो वह अपने उस्तादों से भी आगे बढ़ गया। उसकी आबादी तेज़ी से बढ़ने लगी। उसके जहाज़ दुनिया का चक्कर लगाने लगे। वह एक बड़ी शक्ति बन गया, जिसकी आवाज़ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इज्ज़त के साथ सुनी जाने लगी। लेकिन फिर भी यह ज़बर्दस्त परिवर्तन राष्ट्र के दिल में ज्यादा गहरा न बैठ सका। परिवर्तनों को सिर्फ़ ऊपरी कहना भी गलत होगा, क्योंकि ये इससे ज्यादा गहरे थे। लेकिन शासकों का नज़रिया वही सामन्तशाही बना रहा; वे इस सामन्ती खोल के साथ बुनियादी सुधारों का मेल मिलाना चाहते थे। बहुत हद तक वे क़ामयाब से भी नज़र आते थे।

जापान में इन महान परिवर्तनों के लिए जो लोग ज़िम्मेदार थे, वे अमीर-सरदार वर्ग के कुछ दूरदर्शी लोग थे, जो 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञ' कहलाते थे। जब

जापान में विदेशी-विरोधी दंगों के बाद विदेशी जंगी-जहाज़ों ने बम बरसाये तो जापानियों को अपनी बेकसी का भान हुआ और वे अपमान का कड़ुवा घूंट पीकर रह गये। लेकिन अपनी क़िस्मत को कोसने और सिर पीटने के बजाय उन्होंने इस हार और बेइज्ज़ती से सबक सीखने का फ़ैसला किया। 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञों' ने सुधार का एक कार्यक्रम बनाया और उसपर अमल किया।

पुरानी सामन्ती दाइम्यो प्रथा उठा दी गई। सम्राट् की राजधानी क्योतो से बदलकर जेदो कर दी गई, जिसका नया नाम तोक्यो (टोकियो) रक्खा गया। एक नये संविधान की घोषणा की गई, जिसमें पार्लमेण्ट की दो सभाओं की योजना थी। नीचेवाली सभा का चुनाव होता था; ऊपरवाली के सदस्य नामज़द होते थे। शिक्षा, कानून, उद्योग, वग़ैरा, क़रीब-क़रीब हरेक चीज़ में परिवर्तन हुए। कारखाने बने और आधुनिक ढंग की थल और जल-सेनाएं तैयार की गईं। विदेशों से विशेषज्ञ लोग बुलवाये गए और जापानी विद्यार्थियों को यूरोप व अमेरिका भेजा गया—जैसा भारतीय लोग पहले किया करते थे, उस तरह बैरिस्टर वगैरा बनने के लिए नहीं, बल्कि वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ बनने के लिए।

यह सब 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों' ने सम्राट् के नाम पर किया, जो नई पार्लमेण्ट और दूसरी बातों के बावजूद कानून के लिहाज़ से जापानी साम्राज्य का एकतन्त्री राजा बना रहा। साथ-ही-साथ जैसे-जैसे इन सुधारों की प्रगति होती जाती थी, सम्राट्-पूजा का पंथ भी फैलता जाता था। यह भी एक अजीब गंठजोड़ा था—एक तरफ़ तो कारख़ाने, आधुनिक उद्योग और कुछ-कुछ पार्लमेण्ट ढंग का शासन और दूसरी तरफ़ दैवी सम्राट् की मध्यकालीन पूजा। यह समझना मुश्किल है कि ये दोनों बातें, थोड़े समय के लिए भी, क्योंकर साथ-साथ चल सकती थीं। फिर भी दोनों साथ-साथ चलीं और आज दिन भी अलग नहीं हुई हैं। सम्राट् के लिए श्रद्धा की इस भावना का 'बुजुर्ग राजनीतिज्ञों' ने दो तरह से फ़ायदा उठाया। उन्होंने सुधारों को उन कट्टरपंथी और सामन्ती वर्गों पर लादा, जो वैसे तो उनका विरोध करते लेकिन सम्राट् के नाम की धाक के आगे ढीले पड़ गये। दूसरी तरफ़ उन्होंने उन ज्यादा प्रगतिशील तत्वों को रोके रक्खा, जो तेज़ी से आगे बढ़कर सब तरह की सामन्तशाही से पिंड छुड़ाना चाहते थे।

उन्नीसवीं सदी के इस पिछले भाग में चीन और जापान का यह फ़र्क़ ग़ौर करने लायक़ है। जापान तेज़ी के साथ पश्चिमी सांचे में ढलता जा रहा था और चीन, जैसा कि हम देख चुके हैं और आगे भी देखेंगे, बहुत ही अजीब कठिनाइयों में उलझता गया। ऐसा क्यों हुआ ? चीन देश के विस्तार, भारी आबादी और क्षेत्रफल ने परिवर्तन होना कठिन बना दिया। भारत भी इसी भारी आबादी और क्षेत्रफल का शिकार है, जो स्पष्ट रूप में शक्ति के स्रोत मालूम होते हैं। चीन का शासन भी

काफ़ी केन्द्रित नहीं था, यानी देश के हरेक हिस्से को बहुत हद तक स्थानीय शासन का अधिकार था। इसलिए केन्द्रीय सरकार के लिए देश के इन हिस्सों में दस्तन्दाज़ी करके जापान की तरह बड़े परिवर्तन करना आसान न था। एक बात यह भी है कि चीन की महान सभ्यता हज़ारों वर्षों में बनी थी और उसके जीवन से ऐसी गुंथी हुई थी कि उसे सहज ही नहीं त्यागा जा सकता था। हम भारत और चीन की फिर इस बात से तुलना कर सकते हैं। दूसरी तरफ़ जापान ने चीन की सभ्यता की नक़ल की थी, इसलिए वह ज़्यादा आसानी से उसे छोड़कर दूसरी को अपना सकता था। चीन की कठिनाइयों का एक और कारण था यूरोपीय शक्तियों का लगातार दख़ल। चीन एक लम्बा-चौड़ा महादेश था। जापान के टापुओं की तरह वह अपने-आपको बन्द करके नहीं रख सकता था। उत्तर और उत्तर-पश्चिम में इसकी सीमा रूस से लगती थी, दक्षिण-पश्चिम में ब्रिटिश साम्राज्य था और दक्षिण में फ़्रान्स बढ़ा चला आ रहा था। ये यूरोपीय शक्तियां चीन से बड़ी-बड़ी रियायतें ऐंठने में कामयाब हो गई थीं और इन्होंने अपने बड़े व्यापारिक हित बढ़ा लिये थे। इन हितों की वजह से उन्हें दस्तन्दाज़ी करने के बहुतेरे बहाने मिल जाते थे।

इस तरह जिस समय चीन अन्धे की तरह लड़खड़ा रहा था और अपने-आपको नई हालतों के अनुकूल बनाने की बेकार कोशिश कर रहा था, तब जापान तीर की तरह आगे बढ़ा जा रहा था। फिर भी एक और अजीब बात ध्यान देने लायक़ है। जापान ने पश्चिम की मशीनों और उद्योगों को तो अपना लिया, और आधुनिक थल व जल सेना बनाकर उन्नत औद्योगिक राष्ट्र का जामा पहन लिया। लेकिन यूरोप के नये विचारों और विचार-धाराओं को, व्यक्तिगत व सामाजिक आज़ादी की भावना को, और जीवन और समाज के बारे में वैज्ञानिक नज़रिये को, उसने आसानी से नहीं अपनाया। भीतर से वह सामन्ती और एकसत्तावादी बना रहा; उस विचित्र सम्राट्-पूजा से बंधा रहा, जिसे संसार के दूसरे देश कभी की छोड़ चुके थे। जापानियों की जोशीली और जान-निछावर करनेवाली देशभक्ति का सम्राट् के लिए वफ़ादारी से गहरा नाता था। राष्ट्रीयता और सम्राट्-पूजा का पंथ, दोनों साथ-साथ चल रहे थे। दूसरी तरफ, चीन ने मशीनों को और उद्योगवाद को झटपट नहीं अपनाया। पर चीनियों ने, या कम-से-कम आधुनिक चीन ने, पश्चिमी विचारों व विचार-धाराओं का और वैज्ञानिक नज़रिये का स्वागत किया। ये विचार उन लोगों के अपने विचारों से ज़्यादा दूर न थे। इस तरह हम देखते हैं कि हालांकि आधुनिक चीन पश्चिमी सभ्यता की भावना में ज़्यादा घुल-मिल गया, पर जापान उससे आगे इसलिए बढ़ गया कि उसने भावना की परवाह न करके पश्चिमी सभ्यता का कवच पहन लिया। और चूंकि जापान यह कवच पहनकर मज़बूत बन गया था, इसलिए तमाम यूरोप ने उसकी सराहना की और उसे अपना हमजोली बना लिया। लेकिन चीन कमज़ोर था, उसके पास मशीन-गनें वग़ैरा नहीं थीं। इसलिए यूरोप-

वालों ने उसका अपमान किया, उसे उपदेश सुनाया और उसका शोषण किया; उसके विचारों की और विचारधाराओं की तनिक भी परवाह न की।

जापान न सिर्फ़ उद्योगों के तरीक़ों में ही, बल्कि साम्राज्यशाही हमलावरी में भी यूरोप के क़दमों पर चला। वह यूरोपीय शक्तियों की लीक पर चलनेवाला चेला था; बल्कि उससे भी कुछ ज्यादा। उसने तो अक्सर उनके भी कान काट लिये। उसकी असली मुश्किल यही थी कि नया उद्योगवाद पुरानी सामन्तशाही के साथ मेल नहीं खाता था। दो घोड़ों पर सवारी करने की कोशिश में वह आर्थिक संतुलन कायम न रख सका। टैक्सों के भारी बोझ के नीचे लोगों के असन्तोष की आवाज़ सुनाई देने लगी। अन्दरूनी झगड़ा रोकने के लिए उसने वही पुरानी चाल चली—युद्धों व विदेशों में साम्राज्यशाही कारनामों के ज़रिये लोगों का ध्यान बंटा दिया। उसके नये उद्योगों ने उसे कच्चे माल और बाज़ारों के लिए दूसरे देशों पर नज़र डालने के लिए मजबूर किया, जिस तरह कि औद्योगिक क्रान्ति ने इंग्लैण्ड को और बाद में पश्चिमी यूरोप की दूसरी शक्तियों को बाहर नज़र डालने व देश जीतने के लिए मज़बूर किया था। उसका उत्पादन बढ़ा और आबादी की भी तेज़ी के साथ बढ़ोतरी हुई। खाने की चीज़ों और कच्चे माल की दिन-पर-दिन ज्यादा ज़रूरत होने लगी। ये सब उसे मिलें कहां से? उसके सबसे नज़दीकी पड़ौसी थे चीन और कोरिया। चीन में व्यापार की तो गुंजाइश थी, पर वह बहुत घना आबाद देश था। अलबत्ता, मंचूरिया में, जो चीनी साम्राज्य के उत्तर-पूर्वी प्रान्तों का इलाका था, विकास के लिए, और उपनिवेश क़ायम करने के लिए, काफ़ी गुंजायश थी। इसलिए जापान की भूखी नज़र कोरिया और मंचूरिया पर पड़ी।

इधर पश्चिमी शक्तियां चीन से तरह-तरह के ख़ास अधिकार लेती जा रही थीं, बल्कि ज़मीन तक हड़प करने की कोशिश में थीं। इसे भी जापान ने चिन्ता की नज़र से देखा। उसे यह चीज़ बिल्कुल पसन्द न आई। अगर ये शक्तियां उसके ठीक सामने महाद्वीप में जम जायं तो उसकी सुरक्षा ख़तरे में पड़ सकती थी और कम-से-कम महाद्वीप पर उसकी उन्नति में तो बाधा पड़ ही सकती थी।

बाहरी दुनिया के लिए दरवाज़े खोले अभी बीस वर्ष भी न हुए थे कि जापान ने चीन की तरफ़ हमलावरी शुरू कर दी। कुछ मछुओं के बारे में एक छोटा-सा झगड़ा खड़ा हो गया। इन मछुओं का जहाज़ नष्ट हो गया था और वे मार डाले गये थे। बस, जापान को चीन से हर्जाना मांगने का मौक़ा मिल गया। पहले तो चीन ने इन्कार किया, इसपर उसे लड़ाई की धमकी दी गई। और चूंकि वह अनाम में फ़ान्स के साथ युद्ध में उलझा हुआ था, उसे जापान के आगे झुकना पड़ा। यह १८७४ ई० की बात है। जापान इस विजय से फूल उठा, और उसी दम इसी किस्म की और जीतें हासिल करने के लिए निगाह दौड़ाने लगा। कोरिया को देखकर उसके मुंह

में पानी आ रहा था। बस, एक तुच्छ बहाने को लेकर जापान ने झगड़ा खड़ा कर दिया और उस पर हमला बोल दिया, और उसे कुछ रकम देने के लिए व जापानी व्यापार के लिए कुछ बन्दरगाह खोलने के लिए मजबूर किया।

कोरिया बहुत अर्से से चीन का एक ताबेदार राज्य था। उसने चीन का सहारा मांगा, पर चीन मदद देने में असमर्थ था। जापान कहीं अपना प्रभाव बहुत ज्यादा न बढ़ा ले, इस डर से चीनी सरकार ने कोरिया को सलाह दी कि फिल-हाल तो जापान के आगे झुक जाय, लेकिन साथ ही जापान को मात देने के लिए यूरोपीय शक्तियों से भी सन्धियां कर ले। इस तरह कोरिया का फाटक दुनिया के लिए १८८२ ई० में खुल गया। लेकिन जापान को इतने से ही तसल्ली होनेवाली न थी। चीन की कठिनाइयों का फ़ायदा उठाकर, उसने फिर कोरिया का सवाल खड़ा किया और कोरिया को दोनों के शामिल इन्तज़ामवाली रियासत बनाने के लिए चीन को मज़बूर कर दिया। इसका मतलब यह हुआ कि बेचारा कोरिया चीन और जापान दोनों का ताबेदार राज्य बन गया। यह हालत तो तीनों के लिए बहुत ही असन्तोष का कारण थी। झगड़े की सूरत लाज़िमी थी। और जापान तो झगड़ा करना ही चाहता था। बस, उसने १८९४ ई० में चीन को युद्ध के लिए मजबूर कर दिया।

१८९४-९५ ई० का चीन-जापान-युद्ध जापान के लिए तो एक खिलवाड़-सा था। उसकी थल व जल सेनाएं बिल्कुल आधुनिक ढंग की थीं। चीनी लोग अभी तक पुराने ढंग के और ढीले-ढाले थे। जापान की हर तरफ़ विजय हुई और उसने चीन को ऐसी सन्धि करने के लिए मज़बूर किया, जिसके मुताबिक़ वह भी चीन से सन्धि करनेवाली पश्चिमी शक्तियों का बराबरीवाला बन गया। कोरिया को स्वाधीन घोषित कर दिया गया, पर यह तो जापानी कब्ज़े का सिर्फ़ एक पर्दा था। मंचूरिया में पोर्ट-आर्थर के साथ लाओतुंग प्रायद्वीप, और साथ ही फारमूसा और कई दूसरे टापू भी, चीन को जापान की नज़र करने पड़े।

छोटे-से जापान के हाथों चीन की इस कड़ी पराजय ने दुनिया को अचम्भे में डाल दिया। सुदूर-पूर्व में एक शक्तिशाली देश के इस उठान को देखकर पश्चिमी शक्तियों को तो नाखुश होना ही था। चीन-जापान युद्ध के दौरान में ही, जिस वक्त जापान जीतता हुआ मालूम होता था, इन शक्तियों ने उसे आगाह कर दिया था कि अगर उसने चीन के महादेश में किसी बन्दरगाह पर क़ब्ज़ा किया तो वे उसे न मानेंगे। इस सूचना के बावजूद जापान ने पोर्ट-आर्थर के बड़े बन्दरगाहवाले लाओ-तुंग प्रायद्वीप को ले लिया। लेकिन इसे उसके कब्जे में नहीं रहने दिया गया। रूस, जर्मनी और फ़ान्स, इन तीनों बड़ी शक्तियों ने जोर दिया कि वह इस प्राय-द्वीप को वापस दे दे और जापान को यह करना ही पड़ा; हालांकि यह उसे बहुत

बुरा लगा और उसे गुस्सा भी आया, क्योंकि अभी वह इन तीनों का सामना करने के लिए काफ़ी बलवान न था।

लेकिन जापान ने इस अपमान को याद रक्खा। यह बात उसके दिल में खटकती रही और इसने उसे और भी बड़ी लड़ाई की तैयारी के लिए मजबूर कर दिया। नौ वर्ष बाद यह लड़ाई रूस के साथ हुई।

इधर जापान ने, चीन को जीतकर अपनी हैसियत ऐसी बना ली कि वह सुदूर-पूर्व का सबसे ताकतवर राष्ट्र बन गया। चीन की सारी कमज़ोरी ज़ाहिर हो गई थी और पश्चिमी शक्तियों के दिल से उसका डर बिल्कुल जाता रहा था। मुर्दे पर या अधमरे शरीर पर टूटनेवाले गिद्धों की तरह वे उसपर टूट पड़ीं और अपने-अपने लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा छीनने की कोशिशें करने लगीं। फ़्रान्स, रूस, जर्मनी और इंग्लैण्ड, सभी चीनी समुद्र-तट पर बन्दरगाहों के लिए और खास अधिकारों के लिए छीना-झपटी करने लगे। रियायतों के लिए गंदा और बहुत ही भद्दा झगड़ा मच गया। छोटी-से-छोटी बात भी ज़्यादा-से-ज्यादा खास अधिकार व रियायतें झपटने के लिए बहाना बनाई जाने लगी। चूंकि दो ईसाई मिशनरियों को किसीने मार डाला, इसलिए पूर्व के शानतुंग प्रायद्वीप में कियाचू को जर्मनी ने ज़बरदस्ती छीन लिया। चूंकि जर्मनी ने इस मुकाम पर कब्जा कर लिया, इसलिए दूसरी शक्तियां भी लूट में अपने-अपने हिस्से के लिए ज़ोर देने लगीं। जिस पोर्ट-आर्थर से तीन वर्ष पहले उसने जापान को हटाया था, उसको अब रूस ने ले लिया। पोर्ट-आर्थर पर रूस के कब्जे के जवाबी दावे के तौर पर इंग्लैण्ड ने वी-हाई-वी ले लिया। फ़्रान्स ने अनाम में एक बन्दरगाह और कुछ इलाके हड़प कर लिये। रूस ने ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे को बढ़ाने के इरादे से उत्तरी-मंचूरिया में होकर रेल निकालने की इजाज़त भी ले ली।

यह बेशर्म छीना-झपटी एक अजीब चीज़ थी। इस तरह इलाके या रियायतें देने में चीन को कुछ मज़ा थोड़े ही आ रहा था। जंगी-बेड़े की ताक़त बताकर और बमबारी की धमकी दिखा-दिखाकर उसे हर बार राज़ी होने के लिए मजबूर किया जाता था। इस बेहया बर्ताव को हम क्या कहें? दिन-दहाड़े की लूट? डाकेज़नी? पर साम्राज्यशाही का यही तरीक़ा है। कभी तो वह गुप्त रूप से काम करता है; कभी अपनी बदकारियों को नेक इरादों के और दूसरों की भलाई के मक्कारी-भरे दिखावे के गिलाफ़ से ढकता है। लेकिन १८९८ ई० में, चीन में कोई गिलाफ़ या ढकना न था। उसका नंगापन अपनी सारी बदसूरती ज़ाहिर कर रहा था।

## : ११७ :
# जापान रूस को हराता है

२९ दिसम्बर, १९३२

पिछले पत्रों में मैं सुदूरपूर्व के बारे में लिखता आ रहा हूं, और आज भी यही क़िस्सा जारी रक्खूंगा। तुम्हें शायद ताज्जुब होगा कि मैं बीते ज़माने के इन लड़ाई-झगड़ों का बोझा तुम्हारे दिमाग पर क्यों लाद रहा हूं। ये कोई मज़ेदार विषय नहीं है और अब गये-गुज़रे हो चुके हैं। मैं उन्हें महत्व नहीं देना चाहता। लेकिन सुदूरपूर्व में इन दिनों जो-कुछ हो रहा है, उसकी बहुत सारी बातों की जड़ें इन्हीं झगड़ों में हैं। इसलिए आजकल की समस्याओं को समझने के लिए भी इनका कुछ जानना ज़रूरी है। भारत की तरह चीन भी आज दुनिया की बड़ी समस्याओं में से एक है। इस समय भी जब मैं यह पत्र लिख रहा हूं, मंचूरिया पर जापानी क़ब्ज़े के बारे में बड़ी कड़वी बहस चल रही है।

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि १८९८ ई० में चीन से रियायतें ऐंठने के लिए कैसी छीना-झपटी मची हुई थी, जिनके पीछे पश्चिमी शक्तियों के जंगी-जहाज़ों का बल था। इन शक्तियों ने सब अच्छे-अच्छे बन्दरगाहों पर क़ब्ज़ा कर लिया था और इन बन्दरगाहों के पीछे फैले हुए इलाक़ों में भी खानें खोदने, रेलें बनाने, वग़ैरा के सब प्रकार के हक़ हासिल कर लिये थे। और फिर भी ज्यादा रियायतों की मांग ज़ारी थी। विदेशी सरकारें चीन में अपने 'प्रभाव के क्षेत्रों' की चर्चा करने लगीं। आजकल की साम्राज्यशाही सरकारों के लिए किसी देश को बांट खाने का यह एक मुलायम तरीका है। क़ब्ज़े, और इख्तियार (नियंत्रण) के भी कई दर्जे हुआ करते थे। किसी देश को या उसकी जमीन को जीतकर अपने राज्य में शामिल कर लेना तो पूरा क़ब्ज़ा करने के बराबर है। किसी रियासत का इन्तज़ाम अपने हाथ में रखना उससे कुछ उतरा हुआ है; 'प्रभाव का क्षेत्र' उससे भी कम है। लेकिन इन सबका रास्ता एक ही तरफ़ है। एक कदम के बाद दूसरा क़दम अपने-आप उठ जाता है। वास्तव में, जैसाकि शायद हमें आगे चर्चा करने का मौक़ा आवे, क़ब्ज़ा करने का तरीक़ा पुराना और क़रीब-क़रीब त्यागा हुआ है क्योंकि इससे राष्ट्रीयता का झगड़ा खड़ा हो जाता है। किसी देश पर आर्थिक नियंत्रण कर लेना और बाक़ी झंझटों में न पड़ना इससे कहीं ज्यादा सहूलियत की चीज़ है।

मतलब यह है कि चीन का बंटवारा होने ही वाला नज़र आ रहा था और जापान इससे पूरी तरह चौकन्ना हो उठा था। चीन पर उसकी विजय का फल पश्चिमी शक्तियों के हाथ में गया हुआ दिखाई दे रहा था और जापान खिसियाना-

सा होकर चीन के इस बंटवारे को देख रहा था। सबसे ज्यादा ग़ुस्सा तो उसे रूस के ऊपर आ रहा था, जिसने उसे तो पोर्ट-आर्थर नहीं लेने दिया और खुद हड़प लिया।

हां, एक बड़ी शक्ति ऐसी थी, जिसने चीन में रियायतों की इस छीना-झपटी में या उसके बंटवारे की योजनाओं में भाग नहीं लिया था। यह था अमेरिका का संयुक्त राज्य। इसके अलग रहने का कारण यह नहीं था कि वह दूसरी शक्तियों की बनिस्बत ज्यादा नेकनीयत था, बल्कि बात यह थी कि वह अपने ही लम्बे-चौड़े देश के विकास में मशगूल था। जैसे-जैसे अमेरिका का राज्य पश्चिम में प्रशान्त महासागर की ओर बढ़ता जाता था, विकास के लिए नये-नये इलाके तैयार होते जाते थे और उसकी सारी शक्ति व दौलत इसीमें खप रही थी। यहांतक कि इस काम के लिए यूरोप की भी बहुत बड़ी पूंजी अमेरिका में लगाई जा रही थी। लेकिन उन्नीसवीं सदी के अन्त में अपनी पूजी लगाने के लिए अमेरिकावाले भी बाहर नज़र दौड़ाने लगे। उसकी निगाह चीन पर गई और यह देखकर उसे बुरा लगा कि शायद एक दिन उसपर क़ब्ज़ा कर लेने के इरादे से यूरोपीय शक्तियां उसे 'प्रभाव के क्षेत्रों' में बांटने पर उतारू थीं। इस बंटवारे में अमेरिका को हिस्सा नहीं मिल रहा था। सो अमेरिका ने चीन में 'खुला दरवाजा' कहलानेवाली नीति पर ज़ोर दिया। इसका मतलब यह था कि सभी देशों को चीन में व्यापार और धंधे के लिए एक-सी सहूलियतें दी जायं। दूसरी शक्तियां भी इसपर राज़ी हो गईं।

इस लगातार के आतंक से चीन की सरकार बहुत भयभीत हो उठी। उसे विश्वास हो गया कि सुधार व नये सिरे से संगठन किये बिना गति नहीं है। उसने इस दिशा में कोशिशें भी कीं, पर नई-नई रियायतों की लगातार मांगों के कारण सफलता मिलने का कोई ढंग नहीं था। कुछ वर्षों से राजमाता त्ज़ू-सी ने वैराग्य-सा ले लिया था। चीनी लोगों ने उसे मुसीबतों से बचानेवाली समझकर आशा-भरी नज़र से उसकी ओर देखा। सम्राट को इस वक़्त कुछ साजिश का वहम हो गया, इसलिए वह राजमाता को क़ैद करना चाहता था। लेकिन इस बूढ़ी महिला ने बदले में सारे अधिकार उससे छीनकर शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। जापान की तरह उसने कोई बुनियादी सुधारों का तो क़दम नहीं उठाया, पर सारा ध्यान एक आधुनिक सेना बनाने पर लगा दिया। उसने बचाव के लिए अन्दरूनी रक्षा-सेना के मुक़ामी दस्ते बनाने के लिए बढ़ावा दिया। ये मुक़ामी दस्ते अपनेको 'ई हो तुआन' यानी 'पवित्र एकता के दल' कहते थे। कभी-कभी वे 'ई हो चुआन' यानी 'पवित्र एकता की मुष्टिका' भी कहलाती थीं। बन्दरगाहों में रहनेवाले कुछ यूरोपीय लोगों ने इसी दूसरे नाम का अनुवाद कर डाला 'बाक्सर्स' यानी 'घूंसेबाज़'। एक कोमल पद का यह बड़ा भोंडा अनुवाद था।

ये 'घूंसेबाज़' विदेशी हमलों और चीन व चीनियों पर विदेशियों के ढाये

गये अनगिनत अपमानों के ख़िलाफ़ चीनी देशभक्ति की प्रतिक्रिया थे। उन्हें बदमाशी के पुतले दिखाई देनेवाले इन विदेशियों से अगर कोई प्रेम न था तो इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं थी। खासकर ईसाई मिशनरी तो उन्हें बहुत ही बुरे लगते थे, क्योंकि इन्होंने बड़ा बुरा बर्ताव किया था। और चीनी ईसाइयों को तो वे देश-द्रोही मानते थे। वे उस पुरातन चीन के प्रतिनिधि थे, जो नई व्यवस्था से अपना बचाव करने का आखिरी जतन कर रहा था। लेकिन इस तरह इस जतन के काम-याब होने की आशा नहीं थी।

इन देशभक्त, विदेशियों के दुश्मन, मिशनरियों के दुश्मन, व कट्टर-पन्थी लोगों का पश्चिमी लोगों के साथ रगड़ा-झगड़ा होना लाज़िमी था। लड़ाई-झगड़े हुए, एक अंग्रेज़ मिशनरी मारा गया, बहुत-से यूरोपीय लोग और कितने ही चीनी ईसाई भी मौत के घाट उतार दिये गए। विदेशी सरकारों ने इस देशभक्त 'घूंसेबाज़' आन्दोलन के दमन की मांग पेश की। जो लोग हत्याओं के अपराधी थे, उनको तो चीन की सरकार ने सजाएं दे दीं, लेकिन खुद अपनी ही औलाद को वह इस तरह कैसे दबा सकती थी ? इसी बीच 'घूसेबाज़' आन्दोलन तेज़ी से सब तरफ फैल गया। विदेशी राजदूतों ने घबराकर अपने जंगी जहाजों से फौजें बुला लीं। इससे चीनियों को और भी ख़याल हो गया कि विदेशी हमला शुरू हो गया है। बस, दोनों में ठन गई। जर्मन राजदूत मारा गया और पेकिंग के विदेशी दूतावास रधे लिये गए।

'घूंसेबाज' आन्दोलन की सहानुभूति में चीन का बहुत बड़ा भाग विदेशियों के ख़िलाफ़ हथियार लेकर उठ खड़ा हुआ। लेकिन कुछ प्रान्तों के नायबों ने किसी का पक्ष नहीं लिया और इस तरह विदेशी शक्तियों को मदद पहुंचाई। इसमें शक नहीं कि राजमाता की सहानुभूति इन 'घूंसेबाज़ों' के साथ थी, लेकिन उसने खुल्लम-खुल्ला उनका साथ नहीं दिया। विदेशियों ने यह साबित करना चाहा कि घूंसेबाज़ ठेठ लुटेरे हैं। पर सच तो यह है कि १९०० ई० की यह बगावत विदेशियों के चंगुल को छुड़ाने के लिए देशभक्तों की एक कोशिश थी। राबर्ट हार्ट चीन में एक बड़ा अंग्रेज़ अफ़सर था। वह उस समय तट-कर के महकमे का इन्सपेक्टर जनरल था और खुद भी दूतावासों के घेरे में घिर रहा था। उसने लिखा है कि चीनियों की भावनाओं का अपमान करने का दोष विदेशियों पर और खासकर ईसाई मिशनरियों पर है। और यह कि इस बगावत का "मूल देशभक्ति थी, इसका बहुत-कुछ लक्ष्य वाजिब था, इस बात पर कोई सवाल नहीं उठ सकता और इसपर जितना भी ज़ोर दिया जाय, थोड़ा है।"

दबे हुए चीन के यों अचानक उलट पड़ने से यूरोप की शक्तियां बहुत चिढ़ीं। उनके लिए यह वाजिब ही था कि उन्होंने पेकिंग में घिरे हुए अपने आदमियों के बचाने के लिए चटपट फौजें भेजीं। दूतावासों को छुड़ाने के लिए एक जर्मन

सेनापति की मातहती में एक अन्तर्राष्ट्रीय फौज चल पड़ी। जर्मनी के क़ैसर ने अपनी फौजों को हिदायत की कि चीन में जंगली हूणों की तरह व्यवहार करना। शायद इसी बात को याद करके महायुद्ध के वक़्त अंग्रेज़ लोग सब जर्मनों को हूण कहने लगे थे।

क़ैसर की हिदायत पर न सिर्फ़ उसीके सिपाहियों ने बल्कि सब विदेशी फ़ौजों ने अमल किया। पेकिंग को कूच करते समय रास्ते में जनता के साथ इन फ़ौजों का बर्ताव ऐसा था कि बहुतों ने तो इनके हाथों में पड़ने की बनिस्बत आत्महत्या कर लेना बेहतर समझा। उन दिनों चीनी औरतें अपने पैरों को छोटे-छोटे बना लिया करती थीं। इसलिए वे आसानी से भाग नहीं सकती थीं! इससे बहुतेरी स्त्रियों ने आत्मघात कर लिया। इस तरह मित्र-राष्ट्रों की फ़ौजें आगे कूच करती गईं अपने पीछे मौत, आत्महत्या और जलते हुए गांवों की लीक छोड़ती गईं।

इन फ़ौजों के साथ जानेवाला एक अंग्रेज़ युद्ध-सम्वाददाता लिखता है—

"ऐसी भी बातें हैं, जिन्हें मैं नहीं लिख सकता और जो इंग्लैण्ड में नहीं छप सकेंगी, जो यह जता देंगी कि हमारी यह पश्चिमी सभ्यता जंगलीपन के ऊपर चढ़ा हुआ सिर्फ़ एक पतला खोल है। किसी भी युद्ध के बारे में असली सच्ची बातें आज तक नहीं लिखी गईं। यह युद्ध भी इसका अपवाद नहीं होगा।"

इन सेनाओं ने पेकिंग पहुंचकर दूतावासों को घेरे से छुड़ाया। उसके बाद पेकिंग की लूट हुई, जो "पिज़ारो"[1] के समय के बाद लूट-पाट का सबसे ज़बर्दस्त धावा कहा जा सकता है। पेकिंग के कीमती कला-भंडार उन उजड्डों व असभ्यों के हाथों में पड़ गये, जिनको इनके मूल्य तक का ज्ञान न था। यह लिखते हुए खेद होता है कि मिशनरियों ने इस लूट-पाट में सबसे बड़ा हिस्सा लिया। विदेशियों के झुंड-के-झुंड घरों के बाहर नोटिस चिपकाते फिरते थे कि ये घर हमारे हैं। एक घर की कीमती चीजें बेचकर वे दूसरे बड़े मकान की तरफ़ बढ़ जाते थे।

इन शक्तियों की आपसी लाग-डांट और कुछ संयुक्त राज्य अमेरिका के रुख के कारण भी, चीन का बंटवारा होने से रह गया। लेकिन उसको ज़िल्लत का कड़ुवे से कड़ुवा घूंट पीना पड़ा। उसपर हर तरह की बेइज्जतियां लादी गईं; एक स्थायी विदेशी सेना पेकिंग में अड्डा जमाने और रेल-मार्ग का पहरा देने के लिए तैनात की गई; बहुत-से किले नष्ट कर दिये गए; किसी विदेशी-विरोधी समिति का सदस्य होनेवाले के लिए मौत की सज़ा तजवीज की गई; व्यापार के लिए और भी ज्यादा खास अधिकार लिये गए और हर्जाने के तौर पर एक

**[1]एक स्पेनी नाविक (१४७१-१५४१ ई०)। इसने दक्षिण अमेरिका के पेरू देश को जीता था। वहां उसका जीवन हद से ज्यादा बेरहमी के कामों में बीता। आखिर में अपने ही एक सिपाही के हाथों उसकी मौत हुई।**

बड़ी भारी रक़म ऐंठी गई; और सबसे भयानक चोट यह हुई कि चीनी सरकार को मजबूर किया गया कि 'घूंसेबाज'-आन्दोलन के तमाम देशभक्त नेताओं को 'बाग़ी' करार देकर मौत की सज़ा दे। इसको नाम दिया गया था—"पेकिंग का मसविदा", जिसपर १९०१ ई० में दस्तखत हुए।

सारे चीन में, और खासकर पेकिंग के आसपास, जब ये घटनाएं घट रही थीं, उसी समय रूसी सरकार ने इस आम गड़बड़ी से फ़ायदा उठाकर साइबेरिया होकर मंचूरिया में बहुत-सी फ़ौजें भेज दीं। चीन लाचार था; विरोध ज़ाहिर करने के सिवा और कर ही क्या सकता था? लेकिन हुआ यह कि दूसरी शक्तियों को रूसी सरकार का इस तरह देश के एक बड़े टुकड़े को हड़प जाना बहुत अखरा। इस नये गुल के खिलने से जापान को सबसे ज्यादा चिन्ता और घबराहट हुई। बस, इन सब राष्ट्रों ने रूस को पीछे लौट जाने के लिए दबाया। और रूस की सरकार ने इसपर पुण्य-प्रकोप और अचम्भा दर्शाने की कोशिश की कि उसके नेक इरादों पर भी कोई सन्देह करे! और उसने इन शक्तियों को भरोसा दिया कि चीन की प्रभुता के अधिकारों में हाथ डालने का उसका तनिक भी इरादा नहीं है; मंचूरिया में रूसी रेल-मार्ग पर शान्ति होते ही वह अपनी फ़ौजें वहां से हटा लेगा। बस, सबको तसल्ली हो गई, और इसमें सन्देह नहीं कि मित्र-राष्ट्रों ने एक दूसरे को इस निराले परोपकार और नेकी के लिए बधाइयां भी दी होंगी। लेकिन फिर भी, रूसी फ़ौजें मंचूरिया में ही जमी रहीं, और ठेठ कोरिया तक फैल गईं।

मंचूरिया में और कोरिया तक इस तरह रूस के बढ़ जाने पर जापानियों को बड़ा गुस्सा आया। चुपचाप लेकिन सरगर्मी के साथ वे युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्हें याद था कि किस तरह तीन शक्तियों ने मिलकर १८९५ ई० में चीन-युद्ध के बाद उन्हें पोर्ट-आर्थर वापस करने के लिए मजबूर किया था। ऐसा फिर न हो सके, इसकी वे अब कोशिश करने लगे। संयोग से उन्हें इंग्लैण्ड एक ऐसी शक्ति मिल गई, जिसे रूस के बढ़ने से अन्देशा था और जो उसे रोकना चाहती थी। इसलिए १९०२ ई० में आंग्ल-जापानी गठ-बंधन हुआ, जिसका उद्देश्य यह था कि शक्तियों का कोई मेल सुदूरपूर्व में जापान या इंग्लैण्ड को जबर्दस्ती न दबा सके। जापान अब अपने-आपको खतरे से मुक्त समझने लगा और उसने रूस की तरफ़ ज्यादा गरम रुख इख्तियार कर लिया। उसने मांग की कि रूसी फ़ौजें मंचूरिया से हटा ली जायं। लेकिन उस समय की मूर्ख ज़ारशाही सरकार जापान को हिकारत की नजर से देखती थी और उसे यह भरोसा ही न था कि जापान लड़ने की हिम्मत करेगा।

१९०४ ई० के शुरू में दोनों देशों में युद्ध ठन गया। जापान इसके लिए

बिलकुल तैयार था। अपनी सरकार के प्रचार और सम्राट्-पूजा के पंथ से हांके हुए जापानी लोग देशभक्ति के जोश से भर गये। दूसरी तरफ़ रूस बिलकुल तैयार न था और उसकी निरंकुश सरकार बराबर अपनी प्रजा को दबाकर ही शासन चला सकती थी। डेढ़ साल तक युद्ध चलता रहा और तमाम एशिया, यूरोप और अमेरिका ने जल और थल पर जापान की जीतों को देखा। क़ुर्बानी के अद्भुत कारनामों और ज़बर्दस्त मारकाट के बाद जापानियों के हाथ पोर्ट-आर्थर लगा। यूरोप से रूस ने जंगी-जहाजों का एक बड़ा बेड़ा लम्बे समुद्री रास्ते से सुदूरपूर्व को भेजा। आधी दुनिया को पार करके, हज़ारों मील के सफ़र से थका-थकाया यह ज़बर्दस्त बेड़ा जापान के समुद्र में पहुंचा और वहां जापान और कोरिया के बीच के संकड़े समुद्री रास्ते में इसे इसके जलसेनानायक समेत जापानियों ने डुबो दिया। इस दुर्घटना में क़रीब-क़रीब सारा-का-सारा बेड़ा नष्ट हो गया।

हार-पर-हार से रूस की—ज़ारशाही रूस की—बुरी गत हो रही थी। रूस के पास ताक़त का बहुत बड़ा भंडार था। क्या इसीने सौ वर्ष पहले नेपोलियन को नीचा नहीं दिखाया था? लेकिन उस वक़्त असली रूस, यानी रूस की जनता, बोल उठी थी।

इन पत्रों के सिलसिले में मैं हमेशा रूस, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, चीन, जापान, वग़ैरा का ज़िक्र किया करता हूं, मानो इनमें से हरेक देश कोई जीती-जागती हस्ती हो। यह मेरी एक बुरी आदत है, जो किताबों और अखबारों से मुझमें आ गई है। मेरा मतलब वास्तव में उस समय की रूसी सरकार, अंग्रेज़ी सरकार, वग़ैरा से है। ये सरकारें एक छोटे-से गिरोह के सिवा किसीकी भी प्रतिनिधि न हों, या किसी एक वर्ग की हों, लेकिन उनको सारी जनता का प्रतिनिधि कहना या समझना ठीक नहीं। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी सरकार, पार्लमेंट को चलाने-वाले ज़मींदारों और ऊंचे मध्यम-वर्ग के आसूदा लोगों की प्रतिनिधि कही जा सकती थी। जनता के बहुमत की शासन में कोई आवाज़ न थी। आज-कल कभी-कभी सुनते हैं कि भारत ने राष्ट्रसंघ में या गोलमेज़ परिषद् में या ऐसे ही दूसरे जलसे में अपना प्रतिनिधि भेजा है। यह बेहूदा बात है। ये नाम के प्रतिनिधि तबतक भारत के प्रतिनिधि नहीं हो सकते, जबतक कि भारत की जनता उनको न चुने। उनको तो भारत-सरकार नामजद करती है, जो हालांकि भारत-सरकार कहलाती है, पर है ब्रिटिश सरकार का ही एक विभाग। रूस में, रूस-जापान-युद्ध के समय निरंकुश शासन था। यह जार "सारे रूसों का निरंकुश शासक" था और यह निरंकुश भी ऐसा कि महामूर्ख! मज़दूरों और किसानों को सेना के ज़ोर पर दबाकर रक्खा जाता था। मध्य-वर्गों तक की शासन में कोई आवाज़ न थी। इस ज़ुल्म के ख़िलाफ़ बहुतेरे रूसी नौजवानों ने सिर उठाया और

हाथ उठाया और आजादी की लड़ाई में अपना जीवन कुर्बान कर दिया। बहुतेरी लड़कियों ने भी यही रास्ता अपनाया। इसलिए जब मैं कहता हूं कि 'रूस' यह कर रहा था, वह कर रहा था, जापान से लड़ रहा था, तो मेरा मतलब सिर्फ़ ज़ारशाही सरकार से होता है, इससे ज्यादा कुछ नहीं।

जापानी युद्ध और उससे होनेवाली तबाही ने रूस की आम जनता पर और भी मुसीबतें ढाईं। सरकार पर दबाव डालने के लिए अक्सर कारखानों के मज़-दूर हड़ताल कर बैठते। २२ जनवरी, १९०५ ई० को हज़ारों निहत्थे किसान और मज़दूर एक पादरी के पीछे-पीछे जुलूस बनाकर ज़ार के सर्दी के महल में उसके पास पहुंचे कि अपने कष्टों से कुछ छुटकारा मिलने की प्रार्थना करें। उनकी बात सुनने के बजाय जार ने उनपर गोलियां चलवा दीं। भयंकर हत्याकांड मच गया, दो सौ आदमी मारे गये, और पीटर्सबर्ग की बर्फ खून से लाल हो गई। उस दिन रविवार था और तभी से इस दिन को "खूनी रविवार" कहा जाने लगा। देश में गहरी हलचल मच गई। मज़दूरों ने हड़तालें बोल दीं, जो बढ़कर क्रान्ति का एक क़दम बन गईं। १९०५ ई० की इस क्रान्ति को ज़ार की सरकार ने बड़ी बेरहमी से दबा दिया। कई कारणों से हमारे लिए यह क्रान्ति बड़ी दिलचस्प है। बारह वर्ष बाद रूस की शकल को बदल डालनेवाली १९१७ ई० की महान् क्रान्ति के लिए इसने एक तरह से रास्ता तैयार किया। और १९०५ ई० को इसी विफल क्रान्ति में क्रान्तिकारियों ने एक नया संगठन क़ायम किया, जो बाद में इतना मशहूर हो गया। यह 'सोवियतों' का संगठन था।

जैसा कि मेरा ढंग है, मैं चीन और जापान और रूस-जापान-युद्ध का हाल तुम्हें बताते-बताते १९०५ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति की तरफ बहक गया। लेकिन मंचूरिया के इस युद्ध के समय रूस की अन्दरूनी हालत को समझाने के लिए ये चन्द बातें बताना ज़रूरी था। क्रान्ति के इसी क़दम की वजह से, और जनता में फैले हुए गुस्से की वजह से ज़ार को जापान से सन्धि करनी पड़ी।

सितम्बर, १९०५ ई० की पोर्ट्समाउथ की संधि से रूस-जापान के युद्ध का अन्त हुआ। पोर्ट्समाउथ संयुक्त राज्य अमेरिका में है। अमेरिका के राष्ट्रपति ने दोनों पक्षों को वहां बुलाकर सन्धि-पत्र पर दस्तखत कराये। इस सन्धि से अन्त में जापान को पोर्टआर्थर और लाओ-तुंग प्रायद्वीप फिर मिल गये, जो चीन के युद्ध के बाद उसे वापस करने पड़े थे। रूसियों ने जो रेल-मार्ग मंचूरिया में बनाया था, उसका भी एक बड़ा हिस्सा जापान को मिला। और जापान के उत्तर में जो सैखैलीन टापू है, उसका भी आधा हिस्सा मिल गया। इसके अलावा रूस ने कोरिया के ऊपर अपने तमाम दावों को छोड़ दिया।

बस, जापान जीत गया और बड़ी-बड़ी शक्तियों के सुरक्षित घेरे में जा घुसा।

एशियाई देश जापान की विजय का एशिया के तमाम देशों पर बड़ा गहरा असर पड़ा। मैं तुम्हें बता चुका हूं कि लड़कपन में मैं भी इस विजय पर खूब लहका करता था। ऐसा ही जोश एशिया के बहुतेरे लड़कों, लड़कियों और बड़ों को आया करता था। यूरोप की एक महान शक्ति हार गई, इसलिए एशिया यूरोप को अब फिर हरा सकता था, जैसा कि पहले वह कई बार कर चुका था। पूर्वी देशों में राष्ट्रीयता की लहर तेज़ी से फैलने लगी और 'एशिया एशियावालों के लिए', यह नारा सुनाई देने लगा। लेकिन यह राष्ट्रीयता सिर्फ पुराने जमाने को लौट चलना या पुराने रिवाजों और विश्वासों से चिपके रहना न थी। लोगों ने देख लिया कि जापान की विजय का कारण यह था कि उसने यूरोप के नये औद्योगिक तरीक़ों को अपना लिया था। और ये विचार व तरीक़े पूर्वी देशों में दिन-पर-दिन लोगों में ज़्यादा फैलने गये।

: ११८ :

## चीन गणराज्य बन जाता है

३० दिसम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि रूस पर जापान की विजय से एशिया के राष्ट्र खुशी से कैसे फूल गये। लेकिन इसका तुरन्त नतीजा तो यह हुआ कि हमलावर साम्राज्य-शाही शक्तियों के छोटे-से दल में एक शक्ति और शामिल हो गई। इसकी पहली चोट कोरिया पर पड़ी। जापान के उठने का अर्थ था कोरिया का गिरना। जबसे जापान ने अपने दरवाज़े दुनिया के लिए खोले, वह कोरिया को और मंचूरिया के कुछ भाग को अपना माल समझने लगा था। अलबत्ता वह बार-बार यह तो ऐलान करता रहता था कि चीन की अखण्डता को और कोरिया की स्वाधीनता को मानेगा। साम्राज्यशाही शक्तियों का यही तरीका होता है कि वे लूटती भी जाती हैं और मक्कारी के साथ अपनी नेकनीयती का भरोसा भी दिलाती जाती हैं; गले भी काटती जाती हैं और यह ढिंढोरा भी पीटती जाती हैं कि जान बहुत पवित्र होती है। बस, जापान ने भी बड़े आडम्बर के साथ यह ऐलान कर दिया कि वह कोरिया में दखल न देगा, लेकिन साथ ही वह उसपर कब्ज़ा जमाने की अपनी पुरानी नीति पर भी अमल करता रहा। चीन और रूस, दोनों से उसके जो युद्ध हुए थे वे भी कोरिया और मंचूरिया ही के लिए थे। वह एक-एक कदम आगे बढ़ता जा रहा था और अब चीन व रूस की पराजय से उसका रास्ता साफ हो गया था।

अपनी साम्राज्यशाही नीति पर चलने में जापान को कभी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। वह खुल्लम-खुल्ला हाथ मारता गया; अपनी मंशा को पर्दे में छिपाने

तक की उसने परवाह नहीं की। चीन का युद्ध शुरू होने से पहले ही, १८९४ ई० में कोरिया की राजधानी सिओल के राजमहल में जबर्दस्ती घुसकर जापानियों ने वहां की महारानी को गद्दी से उतारकर क़ैद कर लिया, क्योंकि वह उनके कहे मुताबिक़ चलने को तैयार न थी। १९०५ ई० में रूसी युद्ध के बाद जापान की सरकार ने कोरिया के बादशाह को अपने देश की स्वाधीनता बेच देने और जापानी सत्ता को मानने के लिए मजबूर कर दिया। लेकिन यही काफ़ी न था। पांच साल के अन्दर ही यह अभागा बादशाह गद्दी से उतार दिया गया और कोरिया जापानी साम्राज्य में मिला लिया गया। यह १९१० ई० की बात है। तीन हज़ार वर्ष के लम्बे इतिहास के बाद कोरिया राज्य की अलग हस्ती मिट गई। जिस बादशाह को इस तरह हटाया गया था वह उस राजवंश का था जो ५०० वर्ष पहले मंगोलों को अपने यहां से खदेड़ चुका था। लेकिन कोरिया अपने बड़े भाई चीन की तरह पथरा गया था और बंधे हुए पानी की तरह सड़ गया था, और इसकी उसे यह सज़ा भुगतनी पड़ी।

कोरिया को फिर उसका पुराना नाम दिया गया—'चोसेन' यानी सवेरे की शान्ति का देश। जापानियों ने वहां आधुनिक सुधार भी किये, पर कोरिया के लोगों की आत्मा को उन्होंने बड़ी बेदर्दी से कुचल दिया। बहुत वर्षों तक स्वाधीनता के लिए लड़ाई चलती रही, और बहुत-से उफ़ान भी आये। सबसे बड़ा उफ़ान १९१९ ई० में आया। कोरिया के लोग, खासकर युवक और युवतियां अपने से ज़बर्दस्त का मुक़ाबला होते हुए भी वीरता के साथ लड़ते रहे। एक बार की बात है कि स्वाधीनता के लिए लड़नेवाले एक कोरियाई संगठन ने जब स्वाधीनता की बाक़ायदा घोषणा कर दी और जापानियों को ललकार बताई, तो कहते हैं कि उन लोगों ने पुलिस को टेलीफोन करके अपनी कार्रवाई की सूचना भी दे दी! इस तरह अपने आदर्श के लिए उन्होंने जानबूझकर अपने-आपको बलिदान कर दिया। जापानियों ने कोरियाई लोगों का जिस तरह दमन किया, यह इतिहास का एक दुखभरा और काला अध्याय है। तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि कोरियाई नवयुवतियों ने, जिनमें से बहुत-सी कालेज से नई-नई निकली थीं, इस लड़ाई में बहुत बड़ा हिस्सा लिया।

अब चीन लौट चलना चाहिए। 'घूंसेबाज' आन्दोलन के दमन और १९०१ ई० की पेकिंग की सन्धि के बाद हमने उसे अचानक ही छोड़ दिया था। चीन पूरी तरह ज़लील हो चुका था। वहां सुधारों को फिर जन्म दिया गया। बूढ़ी राजमाता तक सोचने लगी कि कुछ-न-कुछ किया ही जाना चाहिए। रूस-जापान युद्ध के समय चीन चुपचाप खड़ा देखता रहा, हालांकि लड़ाई चीन के ही प्रदेश मंचूरिया में हो रही थी। जापान की विजय ने चीन के सुधारकों के हाथ मज़बूत

कर दिये। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए बहुत-से विद्यार्थी यूरोप, अमेरिका, और जापान भेजे गये। अफ़सरों की नियुक्ति के लिए साहित्य की परीक्षाओं का पुराना तरीक़ा उठा दिया गया। यह अजीब तरीका, जो चीन का एक ख़ास नमूना था, ठेठ हन् ख़ानदान के समय से, दो हज़ार वर्ष से, चला आ रहा था। इसकी फ़ायदेमन्दी तो बहुत पहले ही ख़तम हो चुकी थी। और यह चीन की प्रगति को रोके हुए था। इसलिए इसका उठ जाना अच्छा ही हुआ। फिर भी अपनी तौर पर यह तरीक़ा युगों तक एक अनोखी चीज़ बना रहा। यह ज़िन्दगी के बारे में चीनियों के उस रवैये को प्रकट करता था, जो एशिया व यूरोप के बहुत-से देशों की तरह न तो सामन्ती था और न महन्ती। बल्कि इसका आधार विवेक पर था। चीनी लोग दुनिया के सब देशों के लोगों से कम मज़हबी रहे हैं; लेकिन नीति व क़ायदे के साथ जिन्दगी बिताने के अपने ढंग पर वे जिस कड़ाई से अमल करते रहे हैं वैसा किसी धर्म-परायण क़ौम ने भी नहीं किया। उन्होंने बुद्धिवादी समाज क़ायम करने का जतन किया। लेकिन चूंकि उन्होंने इसे अपने प्राचीन साहित्य के परकोटे में ही बन्द कर दिया, इससे प्रगति व जरूरी परिवर्तन रुक गये, और सड़ांद व पथरावट पैदा हो गईं। हम भारत के लोग इस चीनी बुद्धिवाद से बहुत-कुछ सीख सकते हैं, क्योंकि अभी तक हम लोग जात-पांत, रूढ़िवादी मज़हबों, पोप-लीला और सामन्ती विचारों के पंजे में फंसे हुए हैं। चीन के महात्मा कन्फ्यूशस ने अपने देशवासियों को एक चेतावनी दी थी, जो याद रखने लायक़ है—"जो लोग अलौकिक या ग़ैबी बातों में दख़ल रखने का ढोंग रचते हों, उनके साथ कोई ताल्लुक़ मत रक्खो। अगर तुमने अपने देश में अलौकिकवाद को पग जमाने दिया, तो उसका नतीजा भयंकर आफ़त होगा।" दुर्भाग्य से हमारे देश में चोटीधारी या जटा-जूटधारी या लम्बी दाढ़ीवाले या टेढ़े-मेढ़े तिलकधारी या भगवा वस्त्रधारी बहुत-से लोग ग़ैबी दूत बने फिरते हैं और साधारण जनता को मूंड़ते हैं।

लेकिन अपने सारे पुरातन बुद्धिवाद और संस्कृति के होते हुए भी चीन का वर्तमान से नाता टूट गया, इसलिए मुसीबत की घड़ी में उसे उसकी ये पुरानी संस्थाएं कोई काम न आसकीं। घटनाचक्र ने चीन के बहुत-से नौजवानों में नव-जीवन भर दिया और उन्हें बाहर जाकर लगन से ज्ञान-ज्योति तलाश करने के लिए मजबूर किया। इन घटनाओं ने बूढ़ी राजमाता को भी हिला दिया, और अब वह संविधान और स्वराज्य देने की बातें करने लगी और उसने विदेशों को, वहां के संविधानों का अध्ययन करने के लिए, कमीशन भी भेजे।

यों बूढ़ी राजमाता की मातहती में चीनी सरकार ने भी आख़िरकार आगे क़दम बढ़ाया, लेकिन जनता इससे भी तेज़ी के साथ आगे बढ़ रही थी। १८९४

ई० में ही, डा० सुनयात सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार समिति' कायम कर दी थी। और चीन पर विदेशी शक्तियों ने जो अन्यायी और एक-तरफ़ा सन्धियां, जिन्हें चीनी लोग 'असमान सन्धियां' कहा करते हैं, ज़बर्दस्ती लादी थीं, उनपर विरोध ज़ाहिर करने के लिए बहुत-से लोग इस समिति में शामिल हो गये। यह समिति बढ़ने लगी और देश के नवयुवक इसकी तरफ खिचने लगे। १९११ ई० में इसका नाम बदलकर 'कुओ-मिन-तांग' यानी 'जनता का राष्ट्रीय दल' रक्खा गया और यह चीन की क्रान्ति का केन्द्र बन गया। इस आन्दोलन की जान डा० सुनयात सेन संयुक्त राज्य अमेरिका को आदर्श मानते थे। वह गणराज्य चाहते थे, न कि इंग्लैण्ड-जैसी संविधानी राजशाही; और जापान-जैसी सम्राट्-पूजा तो हर्गिज़ भी नहीं। चीनियों ने अपने सम्राटों को पूजा की चीज़ कभी नहीं माना, फिर उनका मौजूदा शासक राजवंश तो 'चीनी' भी नहीं था। यह राजवंश मंचू था और जनता में मंचू-विरोधी भावना खूब फैली हुई थी। जनता की इस खलबली ने ही बूढ़ी राजमाता को मजबूर किया था। लेकिन यह बूढ़ी महिला भावी संविधान की घोषणा करने के थोड़े ही दिन बाद मर गई। एक अजीब बात यह हुई कि राजमाता और इसका भतीजा सम्राट्, जिसे इसने गद्दी से उतारा था, दोनों नवम्बर, १९०८ ई० में चौबीस घंटों के अन्दर ही मर गये। अब एक दुध-मुंहां बच्चा नाम के लिए सम्राट् हुआ।

अब फिर पार्लमेण्ट को बुलाने की मांग बुलन्द होने लगी। जनता की मंचू-विरोधी और राजशाही-विरोधी भावना ज़ोर पकड़ने लगी। क्रान्तिकारी भी ज़ोर पकड़ने लगे। इस समय चीन के एक प्रान्त का हाकिम युआन-शी-काई ही ऐसा मज़बूत आदमी था, जो इनका मुक़ाबला कर सकता था। यह बूढ़ी लोमड़ी की तरह चालाक था, और संयोग से चीन की अकेली आधुनिक व होशियार जिसका नाम 'आदर्श सेना' था, उसके हाथ में थी। मंचू-शासकों ने बड़ी बेवक़ूफ़ी में आकर इसे चिढ़ा दिया और बर्ख़ास्त कर दिया, और इस तरह उन्होंने ऐसे अकेले व्यक्ति को खो दिया, जो उन्हें कुछ देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर, १९११ ई० में, यांगसी की घाटी में क्रान्ति भड़क उठी और बहुत जल्दी मध्य और दक्षिणी चीन के बड़े हिस्से में विद्रोह फैल गया। १९१२ ई० की पहली जनवरी को इन प्रान्तों ने गणराज्य का ऐलान कर दिया और नानकिंग को राजधानी बनाया। डा० सुनयात सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि ज्योंही अपना मौक़ा मिले, हाथ मारे। रीजेन्ट ने (जो अपने पुत्र, नन्हें सम्राट् के ऐवज़ राज कर रहा था) युआन को बर्ख़ास्त करके बाद में दुबारा बुलाया, इसका क़िस्सा भी दिलचस्प है। पुराने चीन में हरेक बात बड़े तकल्लुफ़ व अदब के साथ की जाती थी।

जिस वक़्त युआन को बर्ख़ास्त करना ज़रूरी था, तब यह घोषणा की गई थी कि उसकी टांग में तकलीफ़ है। वास्तव में सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टांग बिलकुल मज़े में थी। और उसे बर्ख़ास्त करने का यह सिर्फ़ माना हुआ ढंग था। लेकिन युआन ने भी अपना बदला ले लिया। दो साल बाद, १९११ ई० में, जब सरकार के ख़िलाफ़ ग़दर और विद्रोह उठ खड़े हुए, तब रीजेन्ट ने घबराकर युआन को बुलावाया। लेकिन युआन का इरादा तबतक जाने का नहीं था जब-तक उसकी शर्तें मंज़ूर न करली जायं। उसने रीजेन्ट को जो जवाब भेजा, उसमें खेद के साथ कहा कि उसके लिए घर छोड़ना मुमकिन नहीं, क्योंकि टांग में तक-लीफ़ होने की वजह से वह सफ़र नहीं कर सकता! लेकिन एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मंजूर कर ली गई तो उसकी टांग भी फौरन दुरुस्त हो गई।

लेकिन अब इतनी देर हो चुकी थी कि क्रान्ति नहीं रुक सकती थी। युआन भी इस क़दर चालाक था कि दोनों में से किसी पक्ष के साथ बंधकर अपनी हैसियत को ख़तरे में नहीं डालना चाहता था। आख़िरकार उसने मंचुओं को गद्दी छोड़ने की सलाह दी। इधर तो गणराज्य उनके मुक़ाबले में खड़ा था, और उधर उनके सेनापति ने उनका साथ छोड़ दिया था; इसलिए मंचू शासकों के लिए दूसरा कोई चारा ही न था। १२ फरवरी, १९१२ ई० को गद्दी छोड़ने का फ़रमान निकाल दिया गया। इस तरह ढाई सदी से ज्यादा के याद रखने लायक़ शासन के बाद, मंचू-राजवंश ने चीन का रंगमंच खाली कर दिया। एक चीनी कहावत के अनुसार "वे सिंह-जैसी गर्जना करते हुए आये, और सांप की पूंछ की तरह ग़ायब हो गये।"

इसी १२ फ़रवरी के दिन नये गणराज्य की राजधानी नानकिंग में, जहां प्रथम मिंग बादशाह का मकबरा बना हुआ था, एक अजीब रस्म पूरी की गई; ऐसी रस्म जिसने पुरानी व नई बातों का भेद दर्शाते हुए उन्हें एक साथ ला दिया। गणराज्य के राष्ट्रपति सुनयात सेन ने अपने मंत्रिमंडल के साथ मकबरे पर जाकर पुराने तरीक़े से भेंटें चढ़ाईं। इस मौक़े पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा—"हम पूर्वी एशिया के लिए गणराज्य के ढंग के शासन का नमूना सबसे पहले पेश कर रहे हैं। जो लोग कोशिश करते हैं, उन्हें देर-सवेर सफलता मिलती ही है। नेकी का अन्त में ज़रूर इनाम मिलता है। फिर हम आज यह पछतावा क्यों करें कि विजय इतनी देर से आई?"

बहुत वर्षों तक, अपने देश में और निर्वासित रहकर, सुनयात सेन चीन की आज़ादी के लिए जान लड़ाते रहे, और अन्त में सफलता आती दिखाई दी। लेकिन आज़ादी एक बेवफ़ा दोस्त है और सफलता हासिल करने से पहले उसकी पूरी क़ीमत चुकानी पड़ती है। अक्सर वह हमें झूठी उम्मीदें दिखा-दिखाकर बहलाती है; कठिनाइयां पैदा करके हमारी परीक्षा लेती है, और तब कहीं वह हासिल होती है।

चीन और डा० सेन की मंजिल पूरी होने में अभी बहुत देर थी। बहुत वर्षों तक इस नये गणराज्य को अपनी जिन्दगी के लिए लड़ाई करनी पड़ी और आज इक्कीस वर्ष बाद भी, जबकि उसे बालिग हो जाना चाहिए था, उसका भविष्य डावांडोल हो रहा है।

मंचुओं ने तो राजगद्दी छोड़ दी, लेकिन गणराज्य के रास्ते में युआन अभी तक अड़ा हुआ था। पता नहीं उसका क्या इरादा था। उत्तरी भाग उसके हाथ में था और दक्षिणी भाग गणराज्य के हाथ में। शान्ति की खातिर और गृह-युद्ध बचाने के लिए, डा० सेन ने अपनेको मिटाकर राष्ट्रपति का पद छोड़ दिया और युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया। लेकिन युआन कोई गणराज्यवादी नहीं था। वह तो अपनी बुलन्दी के लिए सत्ता हथियाने की फ़िराक़ में था। जिस गणराज्य ने उसे अपना राष्ट्रपति चुनकर इज्ज़त दी थी, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी शक्तियों से रुपया उधार लिया। उसने पार्लमेण्ट को बर्खास्त कर दिया और कुओ-मिन-तांग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि दो दल हो गये और डा० सेन की अध्यक्षता में दक्षिण में एक मुकाबले की सरकार कायम हुई। जिस फूट को बचाने के लिए डा० सेन ने भरसक जतन किया था, वही पैदा हो गई, और जिस समय महायुद्ध शुरू हुआ, चीन में दो सरकारें थीं। युआन ने सम्राट् बनने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नहीं हुआ और थोड़े ही दिनों बाद मर गया।

## : ११९ :

# भारत के पूर्ववर्ती देश

३१ दिसम्बर, १९३२

फ़िलहाल हम सुदूरपूर्व की चर्चा को उठा रखते हैं। उन्नीसवीं सदी में हम भारत का भी कुछ हाल देख चुके हैं, और अब पश्चिम की तरफ़ यूरोप, अमेरिका और अफ़्रीका को चलने का वक़्त आ गया है। पर मैं चाहता हूं कि इस लम्बे सफर से पहले तुम ज़रा एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की भी एक झांकी ले लो, ताकि हमें इसमें अबतक की जानकारी हो जाय। इन देशों पर ग़ौर किये काफ़ी समय हो चुका है। पिछले कुछ पत्रों में मैंने सरसरी तौर पर, और अलग-अलग तौर पर, इन देशों का—मलेशिया, इण्डोनेशिया, पूर्वी द्वीप-समूह और सुदूर भारत के नामों से ज़िक्र किया है, जो शायद सही भी नहीं है। मुझे सन्देह है कि इनमें से कोई भी नाम इस सारे इलाक़े को शामिल करता हो। लेकिन जब हम-तुम एक दूसरे की बातें समझ लें, तो नामों से क्या लेना-देना ?

अगर आसानी से मिल सके तो ज़रा नक्शे को देखो। तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्व में एक प्रायद्वीप दिखाई देगा, जिसमें बर्मा, स्याम और आजकल का फ़्रान्सीसी

भारत के पूर्ववर्ती देश
ब्रिटिश
फ्रांसीसी
डच
अमरीकी
पुर्तगाली
फ़िलिपाइन्स
मनीला
बोर्नियो
सेलिबीज
मलाक्का
अंबोयना
तिमोर
जावा
सुमात्रा
सिंगापुर
मलाया
स्याम
कंबोडिया
अनाम
बर्मा
नार्थ गिनी
आस्ट्रेलिया
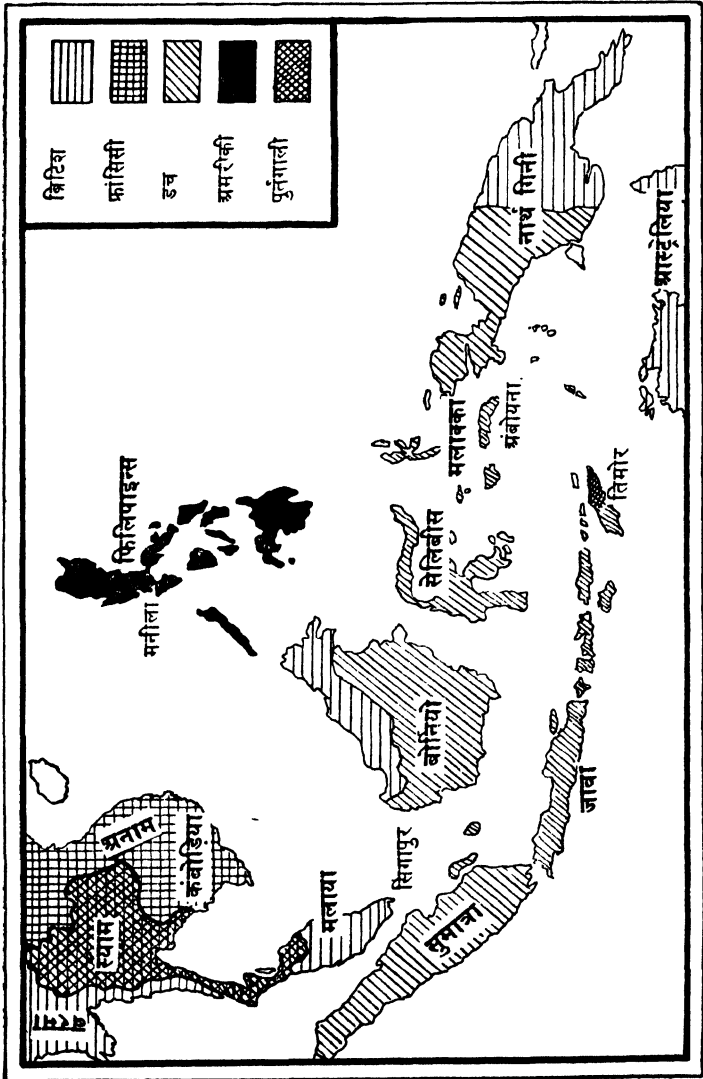
हिंद-चीन शामिल हैं। बर्मा और स्याम के बीच ज़मीन की एक लम्बी ज़बान-सी निकली हुई है, जो आख़िरी छोर की तरफ़ चौड़ी होती गई है और जिसकी नोक पर सिंगापुर का शहर बसा हुआ है। यह मलाया प्रायद्वीप है। मलेशिया से लेकर आस्ट्रेलिया तक बहुत-से छोटे-बड़े टापू बिखरे हुए हैं, जिनकी अजीब शकलें हैं और जिन्हें देखकर ऐसा मालूम होता है कि ये एशिया और आस्ट्रेलिया को मिलाने-वाले किसी बड़े भारी पुल के खंडहर है। इन्हीं टापुओं का नाम पूर्वी द्वीप-समूह है। इनके उत्तर में फिलीपाइन के टापू है। किसी आधुनिक नक़शे से तुम्हें मालूम हो जायगा कि बर्मा और मलाया अंग्रेज़ों के कब्जे में हैं, हिंद-चीन फ़ान्स का है और इनके बीच में स्याम एक स्वाधीन देश है। डचों के क़ब्ज़े में इण्डोनेशिया, यानी सुमात्रा व जावा, और बोर्नियो, सेलिबीज़ व मलक्का के ज्यादातर हिस्से हैं। ये टापू मसालों के लिए मशहूर हैं, और इन्होंने यूरोप के नाविकों को हज़ारों मील तूफ़ानी सागरों को लांघकर आने के लिए खींचा है। फ़िलीपाइन टापू अमेरिका के अधीन हैं।

पूर्वी सागरों के इन देशों की यह मौजूदा हालत है। लेकिन तुम्हें याद होगा कि लगभग दो हज़ार वर्ष पहले भारत-माता के सपूतों ने इन देशों में जाकर उप-निवेश बसाये थे; कई सदियों तक इनमें बड़े-बड़े साम्राज्य फूले-फले, ख़ूबसूरत शहर और अद्भुत इमारतें बनीं, बनिज-व्यापार की तरक़्क़ी हुई और भारतीय व चीनी सभ्यताओं व संस्कृतियों का मेल हुआ।

इन देशों का (इनकी संख्या ७९ है) बयान करते हुए मैंने अपने एक पिछले पत्र में पूर्व में पुर्तगाली साम्राज्य के पतन का और ब्रिटिश और डच ईस्ट इंडिया कम्पनियों के उदय का ज़िक्र किया था। फ़िलीपाइन में तबतक स्पेनियों का ही राज था।

अंग्रेज़ों और डचों ने मिलकर पुर्तगालियों को मार भगाया था। वे कामयाब तो हो गये, लेकिन इन विजेताओं के बीच किसी तरह का प्रेम नहीं था और वे अक्सर आपस में लड़ा करते थे। १६२३ ई० में एक बार मलक्का में अम्बोयना के डच गवर्नर ने, डच-सरकार के खिलाफ़ साज़िश का इलज़ाम लगाकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के तमाम अंग्रेज़ कर्मचारियों को गिरफ़्तार करके मरवा डाला। यह थोकबन्द जल्लादी अम्बोयना का हत्याकाण्ड कहलाती है।

मैं चाहता हूं कि तुम एक बात याद रक्खो। अपने शुरू के पत्रों में मैंने इसका ज़िक्र किया है। इस ज़माने में, यानी सत्रहवीं सदी के अन्दर और बाद में, यूरोप औद्योगिक देश न था। बाहर भेजने के लिए वहां बड़े पैमाने पर माल तैयार नहीं होता था। औद्योगिक क्रान्ति और बड़ी-बड़ी मशीनों के दिन अभी बहुत दूर थे। यूरोप की बनिस्बत एशिया ज्यादा माल तैयार और निर्यात करनेवाला देश था।

एशिया का जो माल यूरोप को जाता था, उसकी कीमत कुछ तो यूरोप के माल के रूप में और कुछ स्पेनी अमेरिका से आनेवाले धन से दी जाती थी। एशिया और यूरोप की यह तिजारत बड़े मुनाफ़े की थी। बहुत अर्से तक इसपर पुर्तगालियों का कब्ज़ा रहा, जिससे वे मालामाल हो गये। इसमें हिस्सा बंटाने के लिए ब्रिटिश और डच ईस्ट इंडिया कम्पनियां बनी। लेकिन पुर्तगाली इस तिजारत को अपना खास इजारा समझते थे, और उसमें किसी दूसरे को हिस्सा नहीं देना चाहते थे। फ़िलीपाइन में स्पेनियों के साथ तो उनका निभाव होता रहा, क्योंकि स्पेनियों की दिलचस्पी तिजारत की बनिस्बत ईसाइयत की तरफ़ ज़्यादा थी। लेकिन नई कम्पनियों की तरफ से आनेवाले अंग्रेज और डच हौसलेबाजों में रीति नीति कुछ न थी। इसलिए बहुत जल्दी ही झड़प हो गई।

पूर्व में राज करते हुए पुर्तगालियों को सवा-सौ से ज़्यादा वर्ष हो गये थे। जिनपर उनका शासन था, उनमें वे ज़रा भी लोकप्रिय न थे और चारों तरफ़ असन्तोष था। इंग्लैण्ड और हालैण्ड की दोनों तिजारती कम्पनियों ने इस असन्तोष से फ़ायदा उठा लिया और इन लोगों को पुर्तगालियों से पिंड छुड़ाने में मदद दी। लेकिन पुर्तगालियों ने जैसे ही जगह ख़ाली की, ये फ़ौरन ही उसमें जा बैठे। भारत और इण्डोनेशिया के राजा होने के नाते ये यहां के लोगों से भारी महसूलों और दूसरी सूरतों से खिराज वसूल करते थे। इससे यूरोप पर ज़्यादा बोझ पड़े बिना ही इन्हें अपना विदेशी व्यापार चलाने में मदद मिलती थी। पूर्वी देशों के माल की क़ीमत अदा करने में जो बड़ी दिक्क़त यूरोप को पहले महसूस होती थी, वह इस तरह कम हो गई। लेकिन फिर भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, इंग्लैण्ड ने रोक लगाकर और भारी चुंगियां लगाकर भारत के माल का अपने यहां आना बन्द करने की कोशिश की। औद्योगिक क्रान्ति के आने तक यही हालत थी।

अंग्रेज़ों के हट जाने की वजह से, इण्डोनेशिया में डच-ब्रिटिश झगड़ा ज़्यादा न चला। अंग्रेज़ लोग भारत में उलझते जा रहे थे और उन्हें इसीसे फ़ुरसत न थी। इसलिए फ़िलीपाइन के सिवा, जिसपर स्पेनियों का कब्जा बना रहा, इण्डोनेशिया के टापू अकेली डच ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में आ गये। चूंकि स्पेनियों को तिजारत की ज़्यादा परवाह न थी, और न वे आगे देश-विजय की ही कोशिश में थे, इसलिए इस इलाक़े में डचों का कोई मुक़ाबलेवाला न रहा।

भारत में अपनी हमनाम ब्रिटिश कम्पनी की तरह, डच ईस्ट इंडिया कम्पनी भी जितना हो सके धन बटोरने के लिए जम गई। डेढ़-सौ वर्षों तक इस कम्पनी ने इन टापुओं पर राज किया। जनता की बेहतरी की तरफ़ इन लोगों ने ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। उसकी छाती पर सवार होकर उन्होंने जितना भी हो सका रुपया ऐंठा। जब ख़िराज के तौर पर रुपया पैदा करना आसान था, तो व्यापार दूसरे

दर्जे की चीज़ बन गया और मरने लगा। यह कम्पनी बिल्कुल निकम्मी थी। जो डच लोग इसमें नौकरी करने के लिए आते, वे भी उसी नमूने के थे, जिनका कोई उसूल नहीं होता था और जो महज़ तक़दीर-आज़माने वाले होते थे, जैसे भारत की ब्रिटिश कम्पनी के गुमाश्ते या कारकुन। नेकी से या बदी से धन कमाना उनका खास मतलब था। भारत में देश के साधन बहुत ज्यादा थे और बहुत-सी बदइन्तज़ामी उनसे ढंक जाती थी। इसके अलावा भारत में कुछ क़ाबिल गवर्नरों ने ऊपर का प्रशासन मुस्तैद बना दिया था, हालांकि नीचे के लोगों को वह कुचलनेवाला था। ख़ैर, तुम्हें याद होगा कि १८५७ के महान् विद्रोह ने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त कर दिया।

डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की हालत दिन-पर-दिन ख़राब होती गई। आख़िरकार, १७९८ ई० में निदरलैण्ड्स की सरकार ने ईस्ट इण्डीज़ की हुकूमत ख़ुद सम्हाल ली। कुछ ही दिनों बाद यूरोप में नेपोलियनी युद्धों के कारण, अंग्रेज़ों ने इन टापुओं पर कब्जा कर लिया; क्योंकि हालैण्ड भी नेपोलियन के साम्राज्य का हिस्सा बन गया था। पांच साल तक वे ब्रिटिश भारत के ही प्रान्त समझे जाते रहे और इस अर्से में वहां बहुत-कुछ सुधार जारी किये गए। नेपोलियन का पतन होने पर पूर्वी द्वीप फिर हालैण्ड को वापस दे दिये गए। जिन पांच वर्षों में जावा का सम्बन्ध भारत की ब्रिटिश सरकार से रहा, उन दिनों टामस स्टैम्फ़र्ड रैफ़ल्स नामी एक काबिल अंग्रेज़ जावा का लेफ़्टिनेण्ट-गवर्नर था। रैफ़ल्स की रिपोर्ट थी कि डचों के उपनिवेशी राज के इतिहास के साथ "दग़ाबाज़ी, रिश्वत, हत्याकाड और कमीनेपन का एक बहुत ही असाधारण रिश्ता है।" दूसरी कुछ हरकतों के अलावा डच अफसरों का एक काम यह भी था कि वे जावा में ग़ुलामों के तौर पर काम करने के लिए सेलीबीज़ से आदमियों को ज़बर्दस्ती पकड़ लाते थे। इस धर-पकड़ के साथ-साथ लूट-पाट और हत्याएं भी होती थीं।

निदरलैण्ड्स की सरकार की यह सीधी हुकूमत भी कम्पनी की हुकूमत से कुछ अच्छी न थी। कई बातों में तो जनता पर और भी ज्यादा अत्याचार होने लगे। तुम्हें शायद याद होगा कि मैंने बंगाल में उस नील-बागानों की प्रथा के बारे में कुछ बताया था, जिसने काश्तकारों पर बड़ी मुसीबतें ढाई थीं। इसी तरह की प्रथा, बल्कि इससे भी ख़राब, जावा वग़ैरा में जारी की गई। कम्पनी के ज़माने में लोगों को माल देना पड़ता था। लेकिन अब 'काश्तकारी-प्रथा' के मुताबिक़ हर साल कुछ समय के लिए, जो किसानों के काम-काजी वक़्त का लगभग एक-तिहाई या चौथाई हिस्सा माना जाता था, उनसे ज़बर्दस्ती काम कराया जाता था। व्यवहार में तो बहुत करके किसान का लगभग पूरा ही वक़्त ले लिया जाता था। डच सरकार ठेकेदारों के मार्फ़त काम कराती थी, जिनको सरकार की तरफ़ से बिना सूद पर पेशगी रुपया दिया जाता था। ये ठेकेदार मज़दूरों को बेगार में पकड़कर ज़मीन से

खूब फ़ायदा उठाते थे। कहा तो जाता था कि जमीन की पैदावार कुछ बंधे हुए हिस्सों में सरकार, ठेकेदार और काश्तकार के बीच बांट दी जाती थी। बेचारे काश्तकारों का हिस्सा शायद सबसे कम था; मुझे ठीक मालूम नहीं कि कितना होता था। सरकार ने यह भी हुक्म निकाल रक्खा था कि यूरोप में खपनेवाली कुछ चीज़ें जमीन के कुछ भाग में ज़रूर बोई जायं। ये चीज़ें चाय, कहवा, शक्कर, नील, वग़ैरा थीं। जैसा कि बंगाल में नील-बागानों का हाल था, यहां भी इन चीजों को ज़रूर ही बोना पड़ता था, चाहे दूसरी चीजें बोने के मुक़ाबले में मुनाफ़ा कम ही क्यों न होता हो।

डच सरकार खूब मुनाफ़ा उठाती थी; ठेकेदार मौज करते थे; किसान भूखों मरते थे और मुसीबत की ज़िन्दगी बिताते थे। उन्नीसवीं सदी के बीच में एक भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें बड़ी संख्या में लोग मौत के शिकार हुए। तब कहीं जाकर बेचारे किसानों के लिए कुछ करना जरूरी समझा गया। धीरे-धीरे उनकी हालत सुधरती गई; लेकिन बेगार की प्रथा १९१६ ई० तक भी चलती रही।

उन्नीसवीं सदी के पिछले वर्षों में डचों ने कुछ शिक्षा के मामले में, और दूसरे भी कुछ सुधार जारी किये। एक नया मध्यम-वर्ग पैदा हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन आज़ादी की मांग करने लगा। भारत की तरह यहां भी बहुत रुक-रुककर कदम बढ़ाया गया और ऐसी लचर विधान-सभाएं कायम की गईं, जिनके हाथ में असली सत्ता कुछ भी न थी। करीब पांच वर्ष हुए, डच इण्डोनेशिया में क्रान्ति हुई, जिसे बेरहमी के साथ कुचल दिया गया। लेकिन जावा और दूसरे टापुओं में आज़ादी की जो भावना जाग चुकी है, वह किसी तरह के जुल्मों या अत्याचारों से नहीं मर सकती।

ईस्ट इण्डीज़ आजकल 'निदरलैण्ड्स का इंडिया' कहलाते हैं।[१] हर पंद्रहवें दिन, यूरोप और एशिया के ऊपर होता हुआ हवाई जहाज ठेठ हालैण्ड से जावा के बताविया शहर को जाया करता है।

ईस्ट इण्डीज़ की कहानी की रूपरेखा मैंने खतम कर दी है और अब मैं तुमको एशिया के भू-भाग पर ले चलना चाहता हूं। बर्मा के बारे में अब कुछ कहना बाक़ी नहीं है। अक्सर यह मुल्क उत्तरी और दक्षिणी दो हिस्सों में बंटा रहा और ये दोनों आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। किसी समय कोई शक्तिशाली बादशाह हो गया तो उसने दोनों को मिला दिया और पड़ोसी स्याम को जीतने की भी हिम्मत कर डाली। फिर उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ों के साथ मुठभेड़ें शुरू हो गईं। अपने बल के घमंड में बर्मा के बादशाह ने असम के ऊपर चढ़ाई करके उसे अपने राज्य में मिला

---

**[१]अब इनका नाम इण्डोनेशिया हो गया है और इन्हें स्वाधीनता प्राप्त हो गई है।**

लिया। भारत के अंग्रेज़ों के साथ बर्मा का पहला युद्ध १८२४ ई० में हुआ और असम अंग्रेज़ों को मिल गया। अंग्रेज़ों को अब मालूम हो गया कि बर्मा की सरकार और सेना दोनों कमजोर हैं और वे सारे देश को हड़पने की इच्छा करने लगे। दूसरे और तीसरे युद्धों के लिए बेहूदा बहाने ढूंढ़ निकाले गये और १८८५ ई० तक सारे देश को जीतकर ब्रिटिश भारत के साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया। तबसे बर्मा की किस्मत भारत के साथ जुड़ गई है।[1]

बर्मा के दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप में भी अंग्रेजों ने अपने पैर फैला दिये। सिंगापुर के टापू पर तो उन्होंने उन्नीसवीं सदी में ही क़ब्ज़ा कर लिया था। मौक़े की जगह पर होने की वजह से सिंगापुर जल्द एक बढ़ता हुआ व्यापारी शहर और सुदूर पूर्व को जानेवाले जहाज़ों के ठहरने का बन्दरगाह बन गया। इस प्रायद्वीप में कुछ ऊपर मलक्का के पुराने बन्दरगाह का महत्व कम हो गया। सिंगापुर से अंग्रेज़ उत्तर की तरफ़ बढ़ने लगे। मलाया प्रायद्वीप में छोटी-छोटी बहुत-सी रियासतें थीं, जिनमें से ज्यादातर स्याम की ताबेदार थीं। इस सदी के अन्त तक ये तमाम रियासतें अंग्रेज़ों की ताबेदारी में आ गईं और मलाया राज्यसंघ (फेडरेटेड मलाया स्टेट्स) में शामिल कर दी गईं। कुछ रियासतों पर स्याम का जो कुछ क़ब्ज़ा था, वह उसे मजबूर होकर इंग्लैण्ड को दे देना पड़ा।

इस तरह स्याम विरोधी शक्तियों से घिरता जा रहा था। पश्चिम और दक्षिण में, बर्मा और मलाया में, इंग्लैण्ड की प्रभुता थी। पूर्व की तरफ़ फ़ान्स चढ़ा आ रहा था और अनाम को हड़प रहा था। अनाम चीन की प्रभुता मानता था, लेकिन यह मानना बेकार था, जबकि चीन खुद ही कठिनाइयों में फंसा हुआ था। तुम्हें याद होगा कि मैंने चीन के बारे में हाल के किसी पत्र में तुम्हें बताया था कि जब फ़ान्सीसियों ने अनाम पर हमला किया, तो फ़ान्स और चीन के बीच लड़ाई छिड़ गई। फ़ान्स की ज़रा रोक-थाम तो हुई, लेकिन कुछ ही दिनों के लिए। उन्नी-सवीं सदी के पिछले वर्षों में अनाम और कम्बोडिया को शामिल करके फ़ान्स ने फ़ान्सीसी हिंद-चीन नामक एक बड़ा उपनिवेश बना डाला। कम्बोडिया, जहां पुराने ज़माने में शानदार अंगकोर का साम्राज्य था, स्याम की एक अधीन रियासत था। फ़ान्स ने स्याम को लड़ाई की धमकी देकर इसके ऊपर अपना राज जमा लिया। ध्यान देने की बात यह है कि इन देशों में, फ़ान्सीसियों की सारी शुरूआती साज़िशें फ़ान्सीसी मिशनरियों की मार्फ़त की गई थीं। किसी वजह से एक मिशनरी को मौत की सज़ा दी गई और इसीका हर्जाना वसूल करने के लिए पहला फ़ान्सीसी हमला १८५७ ई० में हुआ। फ़ान्सीसी सेना ने दक्षिण में सैगोन के बन्दरगाह पर

---

[1] बर्मा अब भारत से अलग एक स्वाधीन देश है।

क़ब्ज़ा कर लिया और यहींसे फ़ान्सीसीयों का क़ब्ज़ा उत्तर की तरफ़ बढ़ता गया।

मुझे दुःख है कि एशिया के इन देशों में साम्राज्यशाही की बढ़ती के वाहियात क़िस्से मैंने कई बार दोहराये हैं। हरेक जगह क़रीब-क़रीब एक-सी चालें चली गईं, और क़रीब-क़रीब हर जगह उन्हें सफलता मिली। एक के बाद दूसरे देश का बयान मैंने किया है, और किसी-न-किसी यूरोपीय शक्ति के अधीन उसे पटककर उसका क़िस्सा ख़तम किया है। इस कम्बख़्ती का शिकार होने से सिर्फ एक देश बच गया। यह था एशिया के दक्षिण-पूर्व का स्याम।

सौभाग्य से स्याम इसलिए बच गया कि वह बर्मा में अंग्रेज़ों और हिंद-चीन में फ़ान्सीसियों के बीच में फंसा हुआ था। शायद वह इसलिए बच गया कि ये दो यूरोपीय मुक़ाबलेदार उसके आजू-बाज़ू मौजूद थे। इसके सौभाग्य की एक वजह यह भी थी कि इसका प्रशासन कुछ समय से काफी अच्छा था, और दूसरे बहुत-से देशों की तरह यहां अन्दरूनी कलह नहीं थी। लेकिन अच्छा शासन विदेशियों के हमले रोकने की कोई गारण्टी न थी। बात यह थी कि इंग्लैण्ड तो बर्मा में और भारत में उलझा हुआ था और फ़ान्स हिंद-चीन में। उन्नीसवीं सदी के पिछले दिनों में जब ये दोनों शक्तियां स्याम की सीमा तक पहुंचीं, तब जीतकर कब्ज़ा करने का ज़माना ही गुज़र चुका था। पूर्व में मुकाबला करने की भावना पैदा हो रही थी और उपनिवेशों व अधीन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो रहे थे। कम्बोडिया के मामले पर स्याम और फ़ान्स में युद्ध का ख़तरा था, पर स्याम ने दबकर फ़ान्स से झगड़ा बचा लिया। पश्चिम की ओर पहाड़ों की एक मज़बूत बाड़ बर्मा के मालिक अंग्रेज़ों से स्याम की रक्षा कर रही थी।

मैं तुम्हें बता चुका हूं कि गये दिनों में कम-से-कम दो बार बर्मा के बादशाहों ने स्याम पर हमला किया और उसे अपना राज्य में भी मिला लिया। आख़िरी हमले में, जो १७६७ ई० में हुआ, स्याम की राजधानी अयुथ्या या अयोध्या (इस भारतीय नाम पर ग़ौर करो) नष्ट कर दी गई। पर थोड़े ही दिन बाद जनता ने विद्रोह करके बर्मी लोगों को निकाल बाहर किया और १७८२ ई० में राम प्रथम नामक राजा से एक नया राजवंश शुरू हुआ। आज ठीक डेढ़ सौ साल बाद भी, यह राजवंश स्याम में राज करता है और शायद सभी राजाओं का नाम 'राम' होता है। इस नये राजवंश के राज में स्याम को अच्छा लेकिन बहुत-कुछ मौरूसी शासन मिला। साथ ही बड़ी बुद्धिमानी से विदेशी शक्तियों से भी अच्छे ताल्लुक पैदा करने की कोशिश की गई। विदेशी व्यापार के लिए बन्दरगाह खोल दिये गए, कुछ विदेशी शक्तियों से व्यापारिक सन्धियां की गईं, और प्रशासन में कुछ सुधार भी जारी किये गए। बैंकाक नई राजधानी बनाया गया। लेकिन ये सब बातें साम्राज्यशाही

भेड़ियों को दूर रखने के लिए काफ़ी न थीं। इंग्लैण्ड ने मलाया में पैर पसार-कर स्याम की भूमि दबा ली। फ़ान्स ने कम्बोडिया और स्याम के दूसरे पूर्वी प्रदेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया। १८९६ ई० में स्याम को लेकर इंग्लैण्ड और फ़ान्स में झड़प होते-होते रह गई। लेकिन, जैसा कि साम्राज्यशाहियों ने क़ायदा बना रक्खा है, इन दोनों ने आपस में समझौता कर लिया कि स्याम के राज्य का जितना हिस्सा बचा हुआ है, उसे अखण्ड रहने दिया जाय। मगर साथ ही उन्होंने इसे तीन "प्रभाव-क्षेत्रों" में भी बांट लिया। पूर्वी हिस्सा फ़ान्स के दायरे में आया, पश्चिमी अंग्रेज़ों के दायरे में, और दोनों के बीच में न्यारा क्षेत्र था, जिसमें दोनों अपने दांत गड़ा सकते थे। इस तरह आडम्बर के साथ स्याम की अखण्डता गारण्टी कर चुकने पर, कुछ ही वर्षों के बाद फ़ान्स ने पूर्व की तरफ़ कुछ और भूमि दबा ली। और इसके ऐवज़ में इंग्लैण्ड को भी दक्षिण में कुछ मुआवज़ा लेना ही पड़ा।

इतना सबकुछ होते हुए भी, स्याम का कुछ हिस्सा यूरोपीय लोगों के चंगुल से बच गया और एशिया के इस हिस्से में इस तरह बचा रहनेवाला यही एक देश है। यूरोप की हमलावरी प्रवृत्ति का ज्वार अब रुक गया है और अब उसे एशिया में ज़्यादा प्रदेश हासिल होने का मौक़ा नहीं रहा। वह समय जल्दी ही आनेवाला है जब यूरोप की शक्तियों को बिस्तर-बोरिया बांधकर एशिया से कूच कर जाना होगा।

कुछ दिन पहले तक स्याम में निरंकुश राजाशाही थी और कुछ सुधारों के बावजूद भी काफ़ी सामन्तशाही थी। कुछ महीने हुए, वहां ख़ून-ख़राबी के बिना राज्यक्रान्ति हुई और मालूम होता है कि ऊपरी मध्यम-वर्ग आगे आ गये। एक क़िस्म की पार्लमेण्ट भी क़ायम हो गई है। राम प्रथम के राजवंश के राजा ने बुद्धिमानी से इस परिवर्तन को मंजूर कर लिया है, जिससे यह राजवंश बना रह गया है। इस समय स्याम में संविधान के मातहत राजशाही शासन है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के एक और देश—फिलीपाइन टापुओं पर विचार करना रह गया है। उनका हाल भी मैं इसी पत्र में लिखना चाहता था, लेकिन अब समय ज्यादा हो गया है और मैं थक गया हूं, और यह पत्र भी काफी लम्बा हो गया है। १९३२ ई० के इस साल का यह आख़िरी पत्र है, जो मैं तुम्हें लिख रहा हूं। क्योंकि पुराने साल की जिन्दगी पूरी हो चुकी है और वह आख़िरी सांसें ले रहा है। अबसे तीन घंटे बाद यह साल न रहेगा और गुज़रे हुए ज़माने की एक याद बन जायगा।

और दूसरा निष्क्रिय। जीवन के ढंग दो तरह के हो जाते हैं और डा० जेकिल व मि० हाइड[1] की तरह व्यक्तित्व भी दो बन जाते हैं। राबर्ट लुई स्टीवेन्सन का यह किस्सा तुमने पढ़ा है?

समय पाकर आदमी को हर चीज सुहाने लगती है—यहांतक कि जेल का ढर्रा और एकसा-पन भी। आराम शरीर के लिए अच्छा है और शान्ति दिमाग के लिए; इससे आदमी विचार करने लगता है। अब शायद तुम समझ जाओगी कि तुम्हें इन पत्रों को लिखने से मुझे क्या फ़ायदा हुआ है। इनकी बातें तुम्हें शायद नीरस, उकतानेवाली और तूल-तबील लगती होंगी। लेकिन इन्होंने मेरे जेल-जीवन को भर दिया है और मुझे ऐसा शग़ल दे दिया है कि जिससे मुझे बहुत आनन्द मिला है। आज से ठीक दो वर्ष पहले नये साल के ही दिन मैंने इनको नैनी-जेल में लिखना शुरू किया था और दुबारा जेल आने पर इन्हें फिर जारी कर दिया। कभी-कभी मैंने हफ़्तों कुछ नहीं लिखा है, कभी-कभी हर रोज़ लिखा है। जब लिखने की धुन सवार होती है तो मैं कागज कलम लेकर बैठ जाता हूं, और दूसरी ही दुनिया में फिरने लगता हूं। तब तुम मेरी प्रिय साथी होतीं हो, और जेल व उसके सारे कामों को मैं भूल जाता हूं। इसलिए ये पत्र मेरे लिए ऐसे बन गये हैं मानो मैं जेल से निकलकर बाहर आ गया हूं।

आज जो पत्र मैं तुम्हें लिख रहा हूं, उसकी संख्या १२० है, और संख्या डालने का यह सिलसिला मैंने सिर्फ नौ महीने पहले बरेली-जेल में शुरू किया था। मुझे हैरत है कि इतना सारा तो मैं लिख चुका हूं और मैं सोचता हूं कि जब पत्रों का यह पहाड़ बड़े ढेर की तरह तुम्हारे ऊपर गिरेगा तब तुम क्या कहोगी और क्या महसूस करोगी। लेकिन इस तरह मेरा जेल से बाहर निकलना और आना-जाना तुम्हें बुरा नहीं लग सकता। प्यारी बेटी! तुमको देखे मुझे सात महीने से ज्यादा हो गये हैं। यह समय कितना लम्बा बीता है?

इन पत्रों में कही गई कहानी कुछ ज्यादा तबीयत खुश करनेवाली नहीं है। इतिहास सुहावना नहीं होता। अपनी ज़बर्दस्त और शेख़ीभरी प्रगति के बावजूद

---

[1] अंग्रेज उपन्यासकार स्टीवेन्सन का एक मशहूर उपन्यास—'Dr. Jekyll and Mr. Hyde'। डा० जेकिल एक बहुत ही नेक विद्वान प्रोफेसर था। विज्ञान के प्रयोग करते समय किसी दवा से उसके शरीर में एक बदमाश मि० हाइड की रूह घुस आई। डाक्टर को अच्छी दवा हाथ लगी। वह चाहे जब अपना रूप और प्रकृति बदल लेता। होते-होते मि० हाइड की आदत ही पड़ गई और वह बिना दवा के ही डा० जेकिल के शरीर में घुस आता। आखिरकार मि० हाइड से छुटकारा पाना असम्भव समझकर डा० जेकिल ने आत्महत्या कर ली।

मनुष्य अभी तक एक बहुत बुरा और स्वार्थी जीव है। फिर भी उसके स्वार्थीपन, झगड़ालूपन और हैवानियत के लम्बे और दुखदायी इतिहास में शुरू से अबतक प्रगति की प्रकाश-रेखा शायद बराबर दिखाई दे सकती है। मै ज़रा आशावादी हूं और सब बातों को आशाभरी नजर से देखने का आदी हूं। लेकिन आशावाद का यह अर्थ नहीं है कि हम अपने चारों ओर की बुराइयों से आंखें मूंद लें और इस खतरे को भी न देखें कि बिना विचार का आशावाद कहीं खुद ही बहुत-कुछ कुठौर में न चला जाय। क्योंकि दुनिया जैसी अवतक रही है, और जैसी आज भी है, उसमें आशावाद के लिए ज़रा भी गुंजायश नहीं दिखाई देती। आदर्शवादी के लिए और ऐसे व्यक्ति के लिए जो श्रद्धा पर अपने विश्वास नही बनाता, इस दुनिया में रहना कठिन है। हर तरह के सवाल यहां उठा करते हैं, जिनका कोई सीधा जवाब नहीं मिलता। मन में हर तरह के सन्देह पैदा होते रहते हैं, जो आसानी से नहीं मिटते। दुनिया में इतनी मुसीबत और बेवकूफ़ी क्यों है? इसी पुराने प्रश्न ने हमारे देश के राजकुमार सिद्धार्थ को ढाई हज़ार वर्ष पहले परेशान किया था। कथा है कि 'बोध' प्राप्त करके 'बुद्ध' बनने से पहले यह प्रश्न बार-बार उनके दिल में उठता रहता था। कहते हैं, वह अपने-आपसे पूछा करते थे :

> "कैसे हो सकता है कि ब्रह्म यह जगत बनाये
> किन्तु उसे दुःख और मुसीबत में रखवाये,
> क्योंकि अगर वह सर्वशक्तिमय हो यह करता,
> तो वह अच्छा कभी नहीं माना जा सकता
> और अगर वह ब्रह्म नहीं है सर्वशक्तिमय,
> तो वह ईश्वर कभी नहीं, यह जानो निश्चय ?"

हमारे ही देश में आजादी की लड़ाई चल रही है; पर हमारे बहुत-से भाई उधर ज़रा भी ध्यान न देकर आपसी बहस और झगड़ों में लगे हुए हैं; वे जनता की भलाई को भूलकर अपने ही पंथ या मज़हबी सम्प्रदाय के लिहाज़ से सोचते हैं। और कुछ लोग, जिन्हें आज़ादी का सपना नहीं दिखाई देता—

> "ज़ुल्मियों से मिल गये और हो गये बस शान्त
> कर इकट्ठे दूसरों के ताज और सिद्धान्त
> और चिथड़े और कुछ टुकड़े मुलम्मेदार
> पहनकर फिरने लगे सब लाज शर्म बिसार।"

कानून और व्यवस्था के नाम पर अत्याचारी शासन चल रहा है और उसके आगे सिर झुकाने से इन्कार करनेवालों को कुचल डालने की कोशिश कर रहा है। ग़ज़ब तो यह है कि जो चीज कमजोरों और सताये हुओं का आसरा होनी चाहिए, वही अत्याचारियों के हाथों का हथियार हो रही है! इस पत्र में कई

उद्धरण आ चुके हैं, लेकिन एक और मैं देना चाहता हूं, क्योंकि वह मेरे दिल को छूता है और हमारी मौजूदा हालत से मेल खाता हुआ मालूम देता है। यह अठारहवीं सदी के फ़ान्सीसी विचारक मान्तेस्क्यू की एक किताब से लिया गया है। इस नाम का जिक्र मैं शुरू के किसी पत्र में कर भी चुका हूं।

> "जिस तख्ते ने सहारा देकर डूबते हुए मुसीबत के मारे लोगों को बचाया हो, उसीके ज़रिये अगर उन्हें डुबा दिया जाय, तो क़ानून और न्याय का चाहे जितना रंग चढ़ाने पर भी इससे बढ़कर निर्दयी अत्याचार नहीं हो सकता।"

यह पत्र इतना दुखभरा हो गया है कि नये दिन का पत्र कहलाने लायक़ नहीं रहा। यह चीज बहुत अनुचित है। पर वास्तव में मैं तो उदास नहीं, और हम उदास हों भी क्यों? हमें तो खुशी होनी चाहिए कि हम एक महान उद्देश्य के लिए जतन कर रहे और लड़ रहे हैं; हमें एक महान नेता मिला हुआ है, जो एक प्यारा मित्र और भरोसे का रास्ता दिखानेवाला है, और जिसके दर्शन से हमें बल मिलता है और जिसका स्पर्श हमें प्रेरणा देता है। हमें पूरा यकीन है कि सफलता हमारा इंतजार कर रही है और कभी-न-कभी हम उसे जरूर हासिल कर लेंगे। अगर पार करने के लिए ये रुकावटें न होतीं, और जीतने के लिए ये लड़ाइयां न होतीं, तो जीवन नीरस और बेरंग हो जाता।

प्यारी बेटी, तुम जीवन की देहली पर खड़ी हो; तुम्हें तो उदासी व मलाल पैदा करनेवाली बातों से कोई सरोकार ही नहीं होना चाहिए। तुम्हें जीवन का और जो कुछ उसमें आ पड़े, उसका सामना प्रसन्न व शांत मुद्रा से करना होगा; रास्ते में आनेवाली कठिनाइयों का स्वागत करना होगा ताकि उनपर विजय पाने का आनन्द हासिल करो। विदा, प्यारी बेटी। हमें आशा रखनी चाहिए कि हमें कामयाबी मिलने में बहुत देर नहीं लगेगी।

## : १२१ :
## फिलीपाइन और संयुक्त राज्य अमेरिका

३ जनवरी, १९३३

वर्ष के नये दिनपर कुछ इधर-उधर की बातों का जिक्र करके अब हम अपनी कहानी चालू करते हैं। अब हमें फिलीपाइन टापुओं को लेना चाहिए ताकि एशिया के पूर्वी हिस्से की तसवीर पूरी हो जाय। इन टापुओं की तरफ़ खास ध्यान देने की क्या ज़रूरत है? एशिया में व दूसरी जगह और भी बहुत-से टापू हैं, जिनका ज़िक्र भी मैं इन पत्रों के सिलसिले में नहीं कर रहा हूं। बात यह है

कि हम एशिया में नई साम्राज्यशाही के विकास को, और पुरानी सभ्यताओं पर उसकी प्रतिक्रियाओं को समझने की कोशिश कर रहे हैं। इस अध्ययन के लिए भारत का साम्राज्य एक नमूना है। चीन हमको इस औद्योगिक साम्राज्यशाही के फैलाव का एक जुदा, लेकिन बहुत ही महत्व का पहलू दिखलाता है। इण्डोनेशिया हिंदचीन, वगैरा से भी हमें बहुत-कुछ सीखने को मिल सकता है। इसी तरह फिलीपाइन भी हमारे लिए दिलचस्पी की चीज़ है। यह दिलचस्पी और भी ज्यादा इसलिए बढ़ जाती है कि हम यहां एक नई शक्ति की यानी संयुक्त राज्य अमेरिका की कारगुज़ारियां देखते हैं।

हम देख चुके हैं कि चीन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने दूसरी शक्तियों की तरह हमलावर नीति अख्तियार नहीं की थी। कई मौकों पर तो उसने दूसरी साम्राज्यशाही शक्तियों को रोककर चीन की मदद भी की थी। इसकी वज़ह यह नहीं थी कि उसे साम्राज्यशाही से नफ़रत थी, या चीन से कोई प्रेम था। असल में कुछ ऐसे अन्दरूनी तथ्य थे, जिनके कारण अमेरिका का यूरोप के देशों से मतभेद था। यूरोप के ये देश छोटे-से महाद्वीप में बहुत ही पास-पास सटे हुए थे और इनकी आबादी इतनी घनी थी कि पांव रखने को भी जगह न थी। इसलिए यहां हमेशा लड़ाई-झगड़े और गड़बड़ें होती रहती थीं। उद्योगवाद के आने से इनकी आबादी तेजी से बढ़ी और वे दिन-पर-दिन इतना ज्यादा माल तैयार करने लगे कि उसकी खपत उनके घर में नहीं हो सकती थी। बढ़ती हुई आबादी के लिए खूराक की ज़रूरत हुई, कारखानों के लिए कच्चे माल की, और तैयार माल के लिए बाज़ारों की। इन ज़रूरतों को फ़ौरन पूरा करने की आर्थिक ज़रूरत ने इन देशों को दूर-दूर देशों में जाकर साम्राज्य के लिए आपस में युद्ध करने को मज़बूर किया।

ये बातें संयुक्त राज्य अमेरिका पर लागू नहीं होती थीं। इनका देश यूरोप के बराबर ही लम्बा-चौड़ा था, पर आबादी कम थी। यहांहर आदमी के लिए काफ़ी गुंजाइश थी। अपने ही देश के लम्बे-चौड़े बंजर इलाकों के विकास में सारा ज़ोर लगाने के इन लोगों को खूब मौके थे। जैसे-जैसे रेलें बनती गईं, ये लोग पश्चिम की तरफ़ बढ़ते चले गये, यहांतक कि प्रशान्त महासागर के किनारे तक जा पहुंचे। अपने ही देश के इन कामों में अमेरिकावासी इतने मशग़ूल थे कि उपनिवेश बसाने का न तो उन्हें हौसला था और न फ़ुरसत। वास्तव में एक बार तो, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूं, उन्हें कैलीफोर्निया के समुद्री किनारे पर काम करने के लिए चीन की सरकार से चीनी मज़दूरों की मांग करनी पड़ी थी। यह मांग पूरी कर दी गई, लेकिन बाद में इसीकी वजह से दोनों देशों के बीच दुश्मनी पैदा हो गई। इस तरह अपने ही देश की चिन्ताओं में फंसे रहने के कारण अमेरिकावाले साम्राज्य की उस दौड़ से अलग रहे, जिसमें यूरोप की सर-

कारें लगी हुई थीं। चीन में भी उन्होंने तभी दखल दिया जब मजबूरी ही आ पड़ी और उन्हें अन्देशा होने लगा कि दूसरी शक्तियां इस देश को आपस में बांट खायंगी।

हां, फिलीपाइन टापू सीधे अमेरिका के कब्ज़े में आ गये। ये हमें अमेरिका की साम्राज्यशाही की कहानी सुनाते हैं और इस वास्ते हमारे लिए दिलचस्पी रखते हैं। यह खयाल न करना कि संयुक्त राज्य अमेरिका का साम्राज्य फिलीपाइन टापुओं तक ही है। ऊपरी तौर पर तो उसके पास सिर्फ़ यही एक साम्राज्य है। पर दूसरी साम्राज्यशाही शक्तियों के अनुभवों और परेशानियों से फायदा उठाकर उसने पुराने तरीक़ों पर क़लई चढ़ा दी है। अमेरिकावाले किसी देश पर कब्ज़ा करने की इल्लत में नहीं पड़ते, जैसा कि अंग्रेज़ों ने भारत पर कर रक्खा है। उनको तो सिर्फ़ मुनाफ़ों से मतलब है, इसलिए वे दूसरे देश की दौलत को हाथ में रखने की तरक़ीबें करते रहते हैं। दौलत पर कब्जा हो जाने से देश की जनता को और असल में फिर खुद उस देश को ही हाथ में रखना आसान हो जाता है। बस ज्यादा झगड़े के बिना या सरगर्म राष्ट्रीयता से टकराये बिना, ये लोग देश पर अपना काबू रखते हैं और उसकी दौलत में हिस्सेदार बन जाते हैं। इस चतुर उपाय को आर्थिक साम्राज्यवाद कहते हैं। नकशे में इसका पता नहीं चलता। अगर भूगोल की पुस्तक में या ऐटलस में देखो तो देश आज़ाद और स्वाधीन दिखाई देगा। पर अगर पर्दे को हटाकर देखो तो पता लगेगा कि यह किसी दूसरे ही देश के चंगुल में है, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वहां के साहूकारों और बड़े-बड़े व्यवसायियों के चंगुल में है। संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथ में इसी तरह का साम्राज्य है, जो नज़र में नहीं आता है। इंग्लैण्ड जब किसी देश के लोगों को राज की मशीन सौंप देने का दिखावा करता है तो इसकी तह में उसकी यही कोशिश होती है कि भारत में व दूसरी जगह उसका इसी तरह का नज़र में न आनेवाला लेकिन फिर भी कारगर साम्राज्य बना रहे। यह खतरनाक चीज़ है, और हमें इससे सावधान रहना चाहिए।

खैर, नजर में न आनेवाले इस आर्थिक साम्राज्य पर ग़ौर करने की अभी ज़रूरत नहीं है; क्योंकि फिलीपाइन टापू तो नजर में आनेवाले साम्राज्य के ही भाग हैं।

फिलीपाइन में हमारी दिलचस्पी का एक छोटा और कुछ भावुक सबब और भी है। आजकल फिलीपाइन का रूप स्पेनी-अमेरिकी है पर उनकी पुरानी संस्कृति की सारी पीठ भारतीय है। भारतीय संस्कृति सुमात्रा और जावा होती हुई वहां पहुंची थी तथा इसने जीवन के सामाजिक, राजनैतिक, मज़हबी, वग़ैरा हर पहलू पर असर डाला था। प्राचीन भारतीय पुराणों की गाथाएं, कथाएं और

साहित्य का कुछ हिस्सा वहां पहुंचे थे। इनकी भाषा में संस्कृत के बहुतेरे शब्द हैं। इनकी कला पर और इनके क़ानूनों और दस्तकारियों पर भारत का असर पड़ा है। यहांतक कि पोशाक व अलंकारों पर भी भारत की छाप है। स्पेनियों ने अपने तीन सौ साल से ज्यादा के लम्बे राज में प्राचीन भारतीय संस्कृति के सारे सबूतों को मिटाने की कोशिशें कीं, इससे अब बहुत कम बाक़ी बचा है।

स्पेनियों ने इन टापुओं पर १५६५ ई० में ही क़ब्ज़ा करना शुरू कर दिया था। इस तरह ये टापू एशिया में यूरोपवालों के पांव जमने की सबसे पहली जगह हैं। इनका शासन पुर्तगाली, डच या ब्रिटिश उपनिवेशों से बिलकुल ही जुदा तरह का था। व्यापार को कोई बढ़ावा नहीं दिया जाता था। सरकारों का आधार मज़हबी था और अधिकारी ज्यादातर ईसाई मिशनरी व पादरी हुआ करते थे। इसको 'मिशनरियों का साम्राज्य' कहा गया है। जनता की हालत को सुधारने की कोई कोशिश नहीं की जाती थी। बद-इन्तज़ामी, अत्याचार और टैक्सों के बोझ के साथ-साथ लोगों को ज़बर्दस्ती ईसाई बनाने की कोशिशें भी की जाती थीं। ऐसी हालत में विद्रोहों का होना लाजिमी था। व्यापार के लिए बहुत-से चीनी लोग भी इन टापुओं में आ बसे थे। ईसाई बनने से इन्कार करने पर उनकी हत्याएं कर दी गईं। अंग्रेज़ और डच सौदागरों को यहां आने की इजाज़त नहीं थी—कुछ तो इसलिए कि वे स्पेनियों के दुश्मन थे, और कुछ इसलिए कि वे प्रोटे-स्टेण्ट ईसाई थे और इसलिए रोमन-कैथलिक स्पेनियों की नज़रों में काफ़िर थे।

हालतें बिगड़ती गईं, लेकिन एक अच्छा नतीजा भी निकला। इन टापुओं के बिखरे हुए हिस्सों और समूहों में एका हो गया, और उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीय भावना जागने लगी। इसी सदी के बीच में विदेशी व्यापारियों के लिए इन टापुओं के दरवाज़े खुल जाने के सबब से शिक्षा और दूसरे विभागों में कुछ सुधार भी हुए और व्यापार व व्यवसाय की उन्नति हुई। फिलीपाइनियों में भी एक मध्यम वर्ग बन गया। स्पेनियों और फिलीपाइनियों के बीच आपसी विवाह होने की वजह से बहुत-से फिलीपाइनियों में स्पेनी खून था। स्पेन को मातृभूमि के समान माना जाने लगा और स्पेनी विचार फैलने लगे। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई और जैसे-जैसे दमन हुआ, वह क्रान्तिकारी बनती गई। शुरू में तो स्पेन से अलग होने का कोई विचार न था। स्वराज्य की, और स्पेन की कमज़ोर व बेकार पार्लमेण्ट 'कार्नेस' में कुछ प्रतिनिधियों की मांग की गई। यह अनोखी बात है कि किस तरह हर जगह राष्ट्रीय आन्दोलन नरमी के साथ शुरू होते हैं और लाज़िमी तौर पर गरम बन जाते हैं और अन्त में अलग होने की व स्वाधीनता की मांग करने लगते हैं। आज़ादी की दबाई हुई मांग, बाद में सूद-दर-सूद के साथ, पूरी करनी पड़ती है। बस, फिलीपाइन में भी यह मांग बढ़ी; इसे पूरी करने के लिए

राष्ट्रीय संगठन बनाये गए और गुप्त समितियां भी फैलीं। "नौजवान फिलिपाइनी दल" ने, जिसका नेता डा० जोस रिज़ल था, इस आन्दोलन में बहुत बड़ा भाग लिया। स्पेनी अधिकारियों ने आतंक से आन्दोलन को कुचलने की कोशिश की, क्योंकि मालूम होता है सरकारें सिर्फ यही एक तरीक़ा जानती हैं। रिज़ल और बहुत-से दूसरे नेताओं को १८९६ ई० में मौत की सज़ा देकर फांसी पर चढ़ा दिया गया।

इससे मानों फूंस में चिनगारी पड़ गई। स्पेनी सरकार के ख़िलाफ़ खुली बग़ावत भड़क उठी और फिलीपाइनियों ने अपना "स्वाधीनता का घोषणा-पत्र" निकाल दिया। पूरे साल भर लड़ाई चलती रही और स्पेनी लोग बग़ावत को कुचल नहीं सके। तब कुछ ठोस सुधारों के वादे पर लड़ाई रोक दी गई। लेकिन स्पेन ने कुछ नहीं किया, और १८९८ ई० में बग़ावत फिर से भड़क उठी।

इसी बीच किसी दूसरे मामले पर अमेरिका की सरकार का स्पेन से झगड़ा हो गया और दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ गया। अप्रैल, १८९८ ई० में, अमेरिका के जंगी बेड़े ने फिलीपाइन पर हमला कर दिया। बाग़ी फिलीपाइन नेताओं को पूरी आशा थी कि महान अमेरिकी गणराज्य उनकी आज़ादी की हिमायत करेगा। इसलिए युद्ध में उन्होंने अमेरिकावालों की मदद की। उन्होंने अपनी स्वाधीनता की फिर घोषणा कर दी और एक गणराज्यी सरकार संगठित करली। सितम्बर, १८९८ ई० में, फिलीपाइनी कांग्रेस बुलाई गई और नवम्बर के अन्त तक नया संविधान बना लिया गया। लेकिन इधर जब कांग्रेस में नये संविधान पर बहस हो रही थी, तब उधर अमेरिका स्पेन को हरा रहा था। स्पेन कमज़ोर था, इसलिए साल का अन्त होते-होते उसने हार मान ली और युद्ध समाप्त हो गया। सन्धि की शर्तों के मुताबिक स्पेन ने फिलीपाइन टापू अमेरिका के हवाले कर दिये। यह उदार भेंट देने में उसे लगता ही क्या था; क्योंकि फिलीपाइनी बाग़ियों ने स्पेनी सत्ता का तो पहले ही अन्त कर दिया था।

अब संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने इन टापुओं पर क़ब्ज़ा करने की कार्रवाई की। फिलीपाइनियों ने इसका विरोध किया और बतलाया कि टापुओं को दूसरे को सौंपने का स्पेन को न तो कोई मतलब था और न कोई अधिकार ही, क्योंकि उस वक्त स्पेन के पास सौंपने के लिए था ही क्या। लेकिन यह विरोध बेकार गया, और जब वे अपनी नई जीती हुई आज़ादी के लिए अपनेको बधाई दे ही रहे थे कि उन्हें स्पेन से कहीं ज्यादा ज़बर्दस्त सरकार से दुबारा लड़ाई छेड़नी पड़ी। साढ़े तीन वर्ष तक ये वीरता के लड़ते रहे, कुछ महीनों तक तो संगठित सरकार के रूप में और इसके बाद युद्ध के छापा-मार तरीक़े से।

अन्त में विद्रोह दबा दिया गया और अमेरिकी राज कायम हुआ। बहुत-से चौमुखी सुधार किये गए, ख़ासकर शिक्षा में, लेकिन स्वाधीनता की मांग जारी

रही। १९१६ ई० में संयुक्त राज्य की कांग्रेस ने 'जोन्स-बिल' नामक एक बिल पास करके एक चुनी हुई विधान-सभा को कुछ अधिकार सौंप दिये। लेकिन अमेरिकी गवर्नर-जनरल को दखल देने का हक़ रहा, और अक्सर वह इस हक़ को काम में भी लाता रहा।

संयुक्त राज्य के खिलाफ़ तो फिलीपाइन में बलवे नहीं हुए; पर फिलीपाइनियों को अपनी मौजूदा नसीब पर तसल्ली नहीं है और स्वाधीनता के लिए उनकी बेचैनी व मांग बराबर चल रही हैं। अमेरिकी लोग सच्चे साम्राज्यशाही ढंग से उन्हें अक्सर भरोसा दिलाते रहते हैं कि वे तो फिलीपाइनियों के ही फ़ायदे के लिए वहां बने हुए हैं, और जैसे ही वे अपना काम-काज सम्भालने के क़ाबिल हो जायंगे वैसे ही वे इन टापुओं को छोड़कर चले जायंगे। १९१६ ई० के जोन्स बिल में भी कहा गया था कि "अमेरिका के लोगों का हमेशा से यही उद्देश्य रहा है, और अब भी है, कि फिलीपाइन में मज़बूत सरकार क़ायम होने की सूरत पैदा होते ही फिलीपाइन टापुओं पर से अपना राज हटालें और उनकी स्वाधीनता क़बूल करलें।" फिर भी, अमेरिका में बहुत-से लोग मौजूद हैं, जो फिलीपाइन की स्वाधीनता का खुल्लम-खुल्ला विरोध करते हैं।

मैं यह लिख ही रहा हूं कि अखबारों में खबर आ रही है कि अमेरिका की कांग्रेस ने एक प्रस्ताव या ऐसी ही कोई घोषणा पास की है कि फिलीपाइन को दस साल में स्वाधीनता देदी जायगी।[1]

फिलीपाइन में संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ आर्थिक स्वार्थ हैं, जिनकी रक्षा की उसे फ़िक्र है। रबड़-बागानों खेती में उसका ख़ास स्वार्थ है, क्योंकि यह एक ऐसी निहायत जरूरी चीज़ है, जो उसके यहां पैदा नहीं होती। लेकिन मेरे ख़याल से इन टापुओं पर क़ब्ज़ा रखने का असली सबब है जापान का डर। जापान फिलीपाइन के बिलकुल नज़दीक है, और जापान में बढ़ती हुई आबादी की बाढ़ आ रही है। यह बिलकुल सम्भव है कि जापानी सरकार की लालचभरी नज़र इन टापुओं पर पड़ रही हो। अमेरिका और जापान की सरकारों के बीच काफ़ी लाग-डाट है। इसलिए फिलीपाइन के भविष्य का सवाल प्रशान्त महासागर की शक्तियों और उनके आपसी सम्बन्धों के बड़े सवाल का एक टुकड़ा है।

---

[1] अमेरिका ने १९४६ ई० में फिलीपाइन को स्वाधीन कर दिया और अब वह एक गणराज्य है।

## : १२२ :
# तीन महाद्वीपों का संगम

१६ जनवरी, १९३३

नये साल के दिन की मेरी कामनाओं में से एक तो इतनी जल्द पूरी भी हो गई कि एक पखवाड़े पहले पत्र लिखते वक़्त मुझे उसका गुमान भी न था। इतनी लम्बी बाट जोहने के बाद आखिर हमारी मुलाक़ात हुई और मैंने तुम्हें फिर देखा। तुम्हें और दूसरे लोगों को देखने की ख़ुशी और लहर कई दिनों तक मेरे दिल में भरी रही और उसने मेरे ढर्रे में गड़बड़ डाल दी और रोज़ की बातों में मुझे ला-परवाह बना दिया। मुझे छुट्टियों जैसी मौज आ गई है। हमारी मुलाक़ात को चार ही दिन बीते हैं, पर कितना समय गुज़र गया मालूम होता है! मैं तो भविष्य की भी सोचने लग गया हूं और इस सोच में हूं कि हमारी अगली मुलाक़ात कब और कहां होगी।

ख़ैर, जेल का कोई क़ानून मुझे अपने मन-बहलाव के खेल से नहीं रोक सकता और मैं इन पत्रों का सिलसिला जारी रक्खूंगा।

कुछ समय से मैं तुम्हें उन्नीसवीं सदी का हाल लिखता आ रहा हूं। पहले तो मैंने तुम्हें इस सदी का सरसरा सिंहावलोकन कराया, जो मोटे तौर पर नेपोलियन के पतन के बाद के सौ वर्ष हैं। उसके बाद हमने कई देशों पर बारीकी से ग़ौर करना शुरू किया। भारत, फिर चीन, और जापान, और सबके बाद भारत के पूर्ववर्ती देशों की हमने अच्छी तरह सैर की। बारीकी के साथ इस सिंहावलोकन में हम अभी तक एशिया के एक हिस्से को ही देख सके हैं। बाक़ी दुनिया अभी बाक़ी है। यह एक लम्बा इतिहास है और इसे सीधा व साफ़ रखना कठिन है। मुझे एक-एक करके देशों और महाद्वीपों को लेना है और उनका अलग-अलग बयान करना है। अलग-अलग इलाकों के लिए मुझे बार-बार पीछे का हाल कहने में बार-बार उसी काल में लौटना पड़ता है और एक ही ज़माने का हाल लिखना पड़ता है। इसलिए कुछ उलझन हो जाना लाज़िमी है। लेकिन तुम्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जुदा-जुदा देशों में उन्नीसवीं सदी की ये सारी घटनाएं समकालीन थीं, यानी बहुत करके एक ही समय में हुईं। उन्होंने एक दूसरी पर असर डाला और एक की दूसरी पर प्रतिक्रिया भी होती रही। इसीलिए, किसी देश के इतिहास को अलग लेकर अध्ययन करने में धोखा हो सकता है। कुल दुनिया के इतिहास से ही हमें उन घटनाओं और ताकतों के महत्व का ठीक अंदाज़ लग सकता है, जिन्होंने अतीत को रूप दिया और उसे वर्तमान बनाया। ये पत्र इस तरह का इतिहास पेश करने का दावा नहीं करते। यह काम मेरी ताक़त से बाहर है और इस विषय पर किताबों की भी कमी नहीं है। इन पत्रों में मैंने सिर्फ़ यह कोशिश

उस्मानी साम्राज्य—१६वीं और १७वीं सदी में
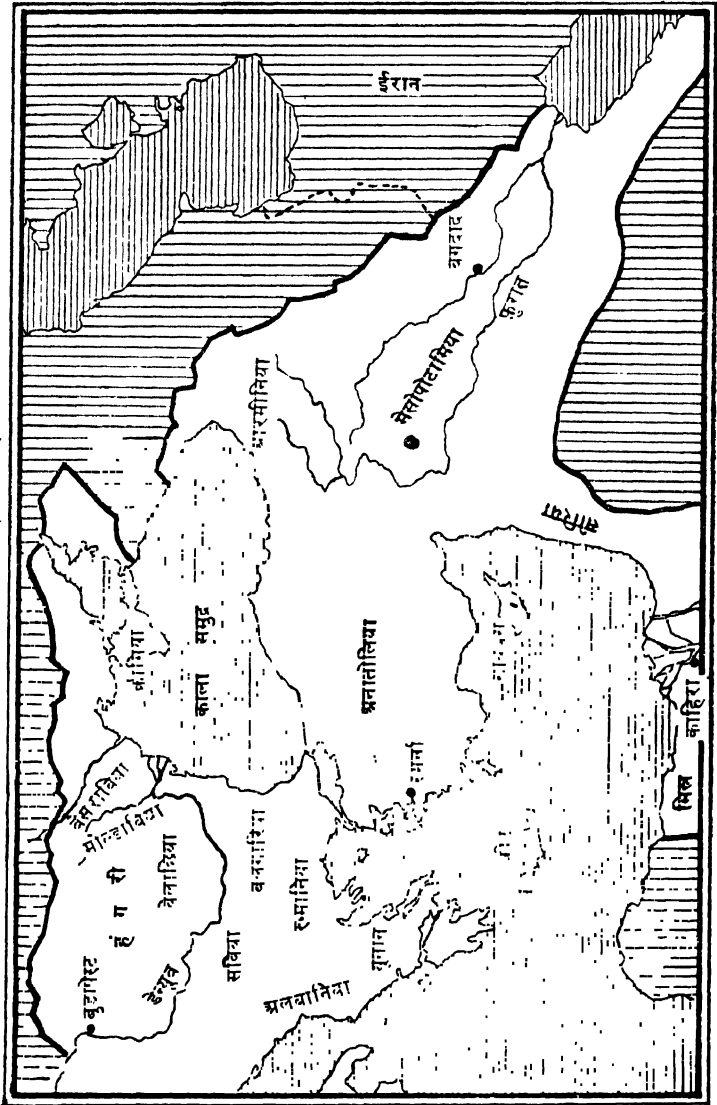
की है कि संसार के इतिहास में तुम्हारी रुचि को जगादूं, तुम्हें उसके कुछ पहलुओं की झांकी करादूं और शुरू से लगाकर आजतक मनुष्य-जाति की जो हलचलें रही हैं, उनका धागा तुम्हारे हाथ में दे दूं। पता नहीं कि मैं कहांतक सफल हो सकूंगा। कहीं ऐसा न हो कि मेरी मेहनत का नतीजा तुम्हारे सामने एक गड़बड़-झाला रख दे, जो तुम्हें सही फैसले पर पहुंचने में मदद देने के बजाय उलटा उलझन में डाल दे।

यूरोप उन्नीसवीं सदी को आगे धकेलनेवाली ताकत था। वहां राष्ट्रीयता का बोलबाला था, और उद्योगवाद वहां से दुनिया के दूर-दूर कोनों में फैलकर अक्सर साम्राज्यशाही का रूप ले रहा था। इस सदी पर हमने शुरू में जो सरसरी निगाह डाली थी, उसमें हम यह देख चुके हैं और हमने भारत और पूर्वी एशिया में साम्राज्यशाही के नतीजों का ज़रा बारीकी से सिलसिलेवार समझा है। अब फिर नज़दीक से देखने के लिए यूरोप की तरफ चलने से पहले मैं तुमको ज़रा पश्चिमी एशिया की भी सैर करा देना चाहता हूं। इस भू-भाग को मैंने बहुत अर्से से छोड़ रक्खा है, जिसका खास सबब यह है कि इसके बाद के इतिहास की मुझे कुछ ज्यादा जानकारी नहीं है।

पूर्वी एशिया व भारत से पश्चिमी एशिया बहुत अलग तरह का है। बहुत ज़माना हुआ तब तो मध्य-एशिया और पूर्व की बहुत-सी क़ौमों और क़बीलों ने यहां आकर हमले किये थे। खुद तुर्क लोग इसी तरह आये थे। ईसवी सन् से पहले बौद्ध-धर्म भी ठेठ एशिया कोचक तक जा पहुंचा था, लेकिन वह वहां जड़ जमा सका हो ऐसा नहीं लगता। गुज़रे ज़माने में पश्चिमी एशिया की आंखें एशिया या पूर्व की बनिस्बत यूरोप की तरफ़ ही ज्यादा लगी रहीं। एक तरह से यह यूरोप की तरफ़ एशिया का झरोखा रहा है। एशिया के जुदा-जुदा भागों में इस्लाम के फैलने से भी पश्चिमी एशिया के नज़रिये में कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ा।

भारत, चीन और दूसरे पड़ौसी देशों ने यूरोप की तरफ़ इस तरह कभी नहीं देखा। वे एशियापन में ही लिपटे रहे। भारत और चीन के बीच नस्ल, नज़-रिये व संस्कृति का बड़ा भारी फ़र्क़ है। चीन कभी मज़हब का गुलाम नहीं रहा, और वहां पुजारियों-पुरोहितों की प्रथा नहीं रही। भारत ने सदा से अपने धर्म पर अभिमान किया है। उसके समाज पर पण्डे-पुजारी लदे रहे हैं, हालांकि बुद्ध ने उसकी छाती पर बैठे इस बोझ से छुड़ाने के जतन भी किये। भारत और चीन में और भी बहुत-से फ़र्क़ हैं; फिर भी भारत और पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीच अजीब एकता है। इस एकता का कारण बुद्ध-गाथाओं की कड़ी है, जिसने इन देशों के निवासियों को जोड़ रक्खा है और जिसने कला व साहित्य, संगीत व गीतों में एक-सी बन्दिश गूंथ दी है।

इस्लाम के साथ भारत में कुछ पश्चिमी-एशियापन आगया। यह एक जुदा संस्कृति थी; जीवन का अलग ही नज़रिया था। लेकिन भारत में पश्चिमी-एशियापन सीधा या अपने क़ुदरती रूप में नहीं आया, जैसाकि अरबवाले भारत को विजय करते तो होता। वह आया, लेकिन बहुत दिन बाद, और वह भी मध्य-एशियाई नस्लों की मा़र्फ़त, जो उसकी सही प्रतिनिधि नहीं थीं। तो भी इस्लाम ने भारत को पश्चिमी एशिया से जोड़ दिया, और इस तरह भारत दो महान संस्कृतियों के मिलने की जगह बन गया। इस्लाम चीन में भी पहुंचा और वहां बहुत सारे लोगों ने इसे अपना लिया, पर इसने चीन की पुरानी संस्कृति को कभी चुनौती नहीं दी। भारत में यह चुनौती इसलिए दी गई थी कि इस्लाम बहुत अर्से तक राज करनेवाले वर्ग का मज़हब था। इस तरह भारत वह देश हो गया जहां दो संस्कृतियां एक-दूसरे के मुक़ाबले में खड़ी हुईं। मैं तुमको उन तमाम कोशिशों का हाल लिख ही चुका हूं, जो इस कठिन समस्या को हल करने के लिए समन्वय की तलाश में की गईं। इन कोशिशों में बहुत कुछ कामयाबी हासिल हो रही थी कि ब्रिटिश हुक़ूमत के रूप में एक नया ख़तरा और एक नई रुकावट आ मौजूद हुई। आज इन दोनों पुरानी संस्कृतियों ने अपना पुराना रूप खो दिया है। राष्ट्रीयता और उद्योगीकरण ने दुनिया को बदल दिया है, और जिस हद तक नई आर्थिक हालतों में ठीक बैठ सकें, उसी हद तक पुरानी संस्कृतियां जीवित रह सकती हैं। उनके खोखले खोल बच रहे हैं, असली रूप जाते रहे हैं। खुद इस्लाम की जन्मभूमि पश्चिमी एशिया में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। चीन और सुदूरपूर्व बराबर उथल-पुथल की हालत में हैं। भारत में हम ख़ुद देख सकते हैं कि क्या हो रहा है।

पश्चिमी एशिया के बारे में लिखे इतने दिन हो गये कि अब सिलसिले को पकड़ना मुश्किल-सा हो रहा है। तुम्हें याद होगा कि मैंने बग़दाद के महान् अरब साम्राज्य का हाल बताया था कि किस तरह तुर्कों के (ये तुर्क सेलजूक तुर्क थे, उस्मानी नहीं) हाथों इसकी मिट्टी पलीद हुई और अन्त में चंगेज़खां के मंगोलों ने किस तरह इसे बिलकुल नष्ट कर दिया। मंगोलों ने ख्वार्जम के साम्राज्य का भी अन्त कर दिया, जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ था और जिसमें ईरान भी शामिल था। इसके बाद तैमूरलंग आया और कुछ दिन की सैनिक सफलताओं और हत्याकांडों के बाद ग़ायब हो गया। लेकिन पश्चिम की तरफ़ एक नया साम्राज्य उठ खड़ा हुआ, जो तैमूर से हारने के बावजूद फ़ैलता जा रहा था। यह साम्राज्य उस्मानी तुर्कों का था, जिन्होंने ईरान के पश्चिम में एशिया पर और मिस्र व दक्षिण-पूर्वी यूरोप के ख़ास बड़े हिस्से पर कब्ज़ा कर लिया था। कई पीढ़ियों तक यूरोप पर इनका ख़तरा बना रहा और यूरोप के मज़हबी व अन्धविश्वासी लोगों को, जो मध्य-युगों से बाहर निकल ही रहे थे ये तुर्क पापियों को सज़ा देने के लिए "ख़ुदा का क़हर" मालूम दिये।

उस्मानी राज के अधीन पश्चिमी एशिया इतिहास से ग़ायब हो जाता है और दुनिया की बड़ी जीवनधारा से कटकर रुके हुए पानी की खाड़ी बन जाता है। कई सदियों तक, बल्कि हज़ारों वर्षों तक, यह यूरोप और एशिया के बीच राजमार्ग था और एक महाद्वीप से दूसरे को माल ले जानेवाले अनगिनत काफिले इस हिस्से के शहरों और रेगिस्तानों को लांघा करते थे। पर तुर्कों ने व्यापार को बढ़ावा न दिया और अगर वे देना भी चाहते तो एक नये कारण के सामने लाचार थे। यह कारण था यूरोप और एशिया के बीच समुद्री-रास्तों का विकास। समुद्र अब नया राजमार्ग बन गया और जहाज़ों ने रेगिस्तान के ऊंटों की जगह ले ली। इस परिवर्तन के सबब से दुनिया में पश्चिमी एशिया का महत्व बहुत घट गया। वह अब विलग जीवन बिताने लगा। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में स्वेज़ नहर खुल जाने से समुद्री रास्ते का महत्व और भी ज्यादा हो गया। यह नहर पूर्व और पश्चिम के बीच, इन दोनों संसारों को एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक लाने-वाला सबसे बड़ा राजमार्ग बन गई।

अब बीसवीं सदी में हमारे देखते-ही-देखते एक ओर महान् परिवर्तन हो रहा है। जल और थल की पुरानी होड़ में अब थल फिर जीत रहा है और समुद्र को दुनिया के बड़े राजमार्ग की जगह से हटा रहा है। मोटरों के आविष्कार से बड़ा फ़र्क़ पड़ गया है और हवाई-जहाजों ने इसे और भी बढ़ा दिया है। व्यापार के प्राचीन मार्ग, जो इतने दिनों से सूने पड़े थे, अब फिर आवा-जाई से भर रहे हैं। हां, आराम की चाल चलनेवाले ऊंटों की जगह अब रेगिस्तान में मोटरें दौड़ती हैं और सिर पर हवाई जहाज़ उड़ते हैं।

उस्मानी साम्राज्य ने तीन महाद्वीपों—एशिया, अफ़्रीका और यूरोप को जोड़ दिया था। पर उन्नीसवीं सदी के बहुत पहले से ही यह साम्राज्य कमज़ोर पड़ गया था, और इस सदी ने इसे तीन-तेरह होते भी देख लिया। "खुदा का क़हर" अब "यूरोप का मरीज़" हो गया। १९१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इसका अन्त ही कर दिया। और इसकी राख में से नवीन तुर्की का उदय हुआ है, जो अपने ऊपर भरोसा रखनेवाला, मज़बूत और प्रगतिशील है। इसके अलावा और भी कई राज्य पैदा हो गये हैं।

मैं लिख चुका हूं कि पश्चिमी एशिया 'यूरोप की तरफ़ एशिया का झरोखा' है। यह भूमध्य सागर से घिरा हुआ है, जिसने एशिया, यूरोप और अफ़्रीक़ा को एक-दूसरे से अलग भी किया है और जोड़ा भी है। पुराने ज़माने में तो यह जोड़ने-वाली कड़ी बहुत मजबूत रही है और भूमध्य सागर के किनारे के देशों में बहुत-सी बातें एक-सी चली आई हैं। यूरोप की सभ्यता भूमध्य-सागर के प्रदेश में ही शुरू हुई थी। पुराने यूनान के उपनिवेश इन्हीं तीनों महाद्वीपों के समुद्री-किनारों

पर बिखरे हुए थे। रोमन साम्राज्य इसीके चारों ओर फैला था। भूमध्य-सागर के आस-पास ही ईसाइयत का बचपन गुज़रा है। अरब लोग अपनी संस्कृति इसी-के पूर्वी तट से सिसिली को, और फिर अफ़्रीक़ा के तट के ठेठ पार पश्चिम में स्पेन तक, ले गये और वहां सात सौ वर्ष तक जमे रहे।

अब हमें मालूम हो गया कि भूमध्य-सागर के तटवाले एशिया के देशों का दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ़्रीक़ा से कैसा गहरा रिश्ता है। इसलिए पश्चिमी एशिया पुराने ज़माने में एशिया और दूसरे दोनों महाद्वीपों को जोड़नेवाली साफ़ कड़ी बन जाता है। लेकिन इस तरह की कड़ियों की अगर तलाश की जाय तो दुनिया भर में आसानी से मिल जायंगी। तंग राष्ट्रीयता के सबब से हम संसार की एकता और जुदा-जुदा देशों के समान हितों की बनिस्बत अलग-अलग देशों का ज्यादा विचार करने लगे हैं।

## : १२३ :
# पीछे की तरफ़ एक निगाह

१९ जनवरी, १९३३

हाल ही में मैंने दो पुस्तकें पढ़ी हैं, जो मुझे बहुत पसन्द आई हैं। मेरी इच्छा थी मेरे साथ तुम भी इन पुस्तकों को पढ़ती। ये दोनों पुस्तकें पेरिस के 'म्यूज़ी गिमे' के संचालक रेनी ग्राउज़े नामक फ़्रांसीसी की लिखी हुई हैं। क्या तुमने पूर्वी कला का और ख़ासकर बौद्ध-कला का यह दिलकश अजायबघर देखा है? मुझे याद नहीं पड़ता कि तुम मेरे साथ वहां गई थीं। ग्राउजे ने चार जिल्दों में पूर्वी यानी एशियाई सभ्यता पर निगाह डाली है और भारत, मध्य-पूर्व (यानी पश्चिमी एशिया और ईरान), चीन व जापान की सभ्यताओं का वर्णन एक-एक जिल्द में अलग-अलग किया है। कला-रसिक होने की वजह से उसने यह पुस्तक इस बात को ध्यान में रखकर लिखी है कि कला की तरह-तरह की हलचलों का का विकास कैसे हुआ और इसमें बहुत-सी सुन्दर तसवीरें भी दी हैं। इस तरह इतिहास सीखना, बादशाहों के युद्धों, लड़ाइयों व साज़िशों का हाल जानने से बहुत बेहतर और दिलचस्प होता है।

अभी तक मैंने ग्राउज़े की पुस्तक की वे दो जिल्दें पढ़ी हैं, जिनमें भारत का और मध्य-पूर्व का हाल है और इन्हें पढ़कर मेरा मन बहुत प्रसन्न हुआ है। शान-दार इमारतें और सुन्दर मूर्त्तियां और अद्भुत दीवार-चित्रों व दूसरे चित्रों की तसवीरों ने मुझे देहरादून-जेल से बहुत दूर, दूर-दूर के देशों की ओर बीते हुए जमाने की याद दिला दी है।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें उत्तर-पश्चिम भारत[1] में सिन्ध घाटी के मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा का हाल लिखा था, जो पांच हजार वर्ष पहले की प्राचीन सभ्यता के खण्डहर हैं। बीते युग के उन दिनों में जब मोहन-जो-दड़ो में लोग रहते थे और काम करते थे और दिल बहलाते थे, तब सभ्यता के और भी कई केन्द्र थे। हमारी जानकारी बहुत थोड़ी है; वह एशिया और मिस्र के जुदा-जुदा इलाकों में खोज निकाले गए कुछ खण्डहरों तक ही है। अगर काफ़ी मेहनत के साथ और काफ़ी विस्तार में खुदाई की जाय तो ऐसे और भी बहुत खण्डहर मिल सकते हैं। लेकिन अब भी हम जानते हैं कि मिस्र के नील कांठे में, खाल्दिया (शाम) में जहां इलाम राज्य की राजधानी सूसा थी, पूर्वी ईरान के पर्सीपोलिस में, मध्य एशिया के तुर्किस्तान में, और चीन की ह्वांग-हो या पीली नदी के किनारों पर उन दिनों एक ऊंचे दर्जे की सभ्यता थी।

यह वह ज़माना था जब तांबे का इस्तेमाल शुरू हुआ था और चिकने पत्थर का युग बीत रहा था। ऐसा मालूम होता है कि चीन से लगाकर मिस्र तक के सारे लम्बे-चौड़े इलाके विकास के एक ही दर्जे तक पहुंच चुके थे। वास्तव में यह देखकर अचम्भा होता है कि एशिया के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई एक-सी सभ्यता के कुछ सबूत मिले हैं, जो बतलाते हैं कि सभ्यता के ये जुदा-जुदा केन्द्र एक दूसरे से विलग नहीं थे, बल्कि एक का दूसरे से सम्पर्क था। खेती खूब होती थी। मवेशी पाले जाते थे और कुछ व्यापार भी होता था। लेखन-कला भी प्रकट हो चुकी थी, लेकिन ये पुरानी चित्र-लिपियां अभीतक पढ़ी नहीं जा सकी हैं। एक दूसरे से बहुत दूर-दूर के इलाकों में एक की तरह के औज़ार पाये गए हैं और कला की चीज़ों में भी विचित्र समानता है। नक़्क़ाशी किये हुए मिट्टी के बर्तन और तरह-तरह के गुल-बूटोंवाले सुन्दर फूलदान खास तौर पर ध्यान खींचते हैं। मिट्टी के ये बर्तन इतने ज्यादा पाये गए हैं कि इस तमाम काल का ही नाम 'नक़्क़ाशीदार मिट्टी के बर्तनों की सभ्यता' पड़ गया है। उस ज़माने में सोने-चांदी के जेवर, सेलखड़ी और संगमरमर के बर्तन और रुई के कपड़े तक बनते थे। मिस्र से लगाकर सिन्ध नदी की घाटी और चीन तक की इस प्राचीन सभ्यता के हरेक केन्द्र में अपनी खासियत थी और हरेक का अपना ही अलग ढंग था, लेकिन फिर भी इन सबके अन्दर एक-सी व जुड़ी हुई सभ्यता का सिलसिला दिखाई देता है।

यह मोटे तौर पर पांच हजार वर्ष पहले की बात है। लेकिन ज़ाहिर है कि ऐसी सभ्यता ने किसी पहली सभ्यता से ही उन्नति की होगी, और इसके विकास

---

[1] अब यह भाग पाकिस्तान में है।

में हज़ारों वर्ष लगे होंगे। नील-कांठे में और खाल्दिया में इसकी शुरूआत और भी दो हजार वर्ष पहले खोजी जासकती है। दूसरे केन्द्र भी शायद इतने ही पुराने हैं।

ईसा से तीन हजार वर्ष पहले के बीते ताम्र-युग की, यानी मोहन-जो-दड़ो काल की, इस एक-सी व चारों ओर फैली हुई सभ्यता से चार बड़ी-बड़ी पूर्वी सभ्यताएं अलग-अलग दिशाओं में निकलीं, अलग-अलग तरह की बनीं और अलग-अलग रूपों में उनका विकास हुआ। ये चारों मिस्री, इराकी, भारतीय और चीनी सभ्यताएं थीं। इसी पिछले काल में मिस्र में महान् पिरामिड[1] और गीजा का महान् स्फिंक्स[2] बने। इसके बाद मिस्र में थीबन-काल आया, जब ईसा से लगभग दो हजार वर्ष पहले थीबन-साम्राज्य फूला-फला और अद्भुत मूर्त्तियां व दीवार-चित्र बनाये गए। कला के दुबारा पनपने का यह एक महान काल था। इसी समय के आस-पास लुक्सर का विशाल मन्दिर बना। तूतांख़ामन एक थीबी फ़रऊन[3] था, जिसका नाम तो, मालूम होता है, लोगों ने सुन रक्खा है पर उसके बारे में और कुछ जानकारी उन्हें नहीं है।

ख़ाल्दिया में सुमेर व अक्कद के दो प्रदेशों में शक्तिशाली संगठित राज्य बने। ख़ाल्दिया का उर शहर मोहन-जो-दड़ो के समय में ही कला की नफ़ीस चीज़ें बनाने लगा था। क़रीब सात सौ वर्षों की सरदारी के बाद उर पामाल कर दिया गया। बाबुल (बाबीलन) के लोगों ने, जो सामी (यानी अरबों या यहूदियों के समान) क़ौम के थे, सीरिया से आकर नई हुकूमत क़ायम की। इस नये साम्राज्य

---

[1]**पिरामिड—चौकोर शंकु के आकार के विशाल स्तूप जिनमें फ़रऊनों को दफ़नाया गया है। मिस्र में लगभग ४० पिरामिड हैं जो अहराम कहलाते हैं। सबसे बड़ा पिरामिड क़ूफ़ू नामक फरऊन का बनवाया हुआ है। इसीमें बाद में उसका शव रक्खा गया था। इसका आधार ७५६ फुट लम्बा तथा इतना ही चौड़ा है तथा इसकी ऊंचाई ४८१ फुट है। पिरामिडों में पत्थर के बहुत बड़े-बड़े टुकड़े जमे हुए हैं। कूफ़ू का पिरामिड संसार का एक आश्चर्य माना जाता है। इसके भीतर कई बड़े-बड़े कमरे हैं।**

[2]**स्फिक्स—पत्थर की विशालकाय मूर्त्ति जिसका सिर तो स्त्री का-सा है, धड़ सिंह का है, जिसपर पक्षियोंके-से पर हैं तथा पूंछ सांप की-सी है। यह मिस्र में पिरामिडों के ही पास है।**

[3]**ईसा से पूर्व छठी-सातवीं सदी में मिस्र के बादशाह फरऊन कहलाते थे। तूतांख़ामन अन्तिम फ़रऊनों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी कब्र में इसकी मोमियाई निकली है जो सोने के संदूक में बन्द थी। कब्र में सोने-चांदी, हाथीदांत, जवाहरात की अनेक बहुमूल्य चीजें भी मिली हैं।**

का केन्द्र अब बाबुल का शहर हो गया, जिसका हवाला बाइबिल में बार-बार आता है। इस ज़माने में भी साहित्य दुबारा पनपा और महाकाव्य बनाये व गाये जाते थे। ऐसा माना जाता है कि सृष्टि की उत्पत्ति व जल-प्रलय का वर्णन करनेवाले इन महाकाव्यों की कथाओं के सहारे पर ही बाइबिल के शुरू के अध्याय रचे गये हैं।

बाबुल का भी पतन हुआ और उसके कई सौ वर्षों बाद (लगभग १,००० वर्ष ईसा से पूर्व और उसके बाद) असीरिया के लोग मैदान में आये और उन्होंने निनेवा को राजधानी बनाकर एक नया साम्राज्य क़ायम किया। ये बड़े अजीब लोग थ। ये परले सिरे के हैवान व ज़ालिम थे। इनकी सारी शासन-प्रणाली आतंकवाद पर खड़ी थी और इन्होंने हत्याकांडों व तबाहियों के सहारे सारे मध्य-पूर्व पर एक महान साम्राज्य तैयार किया। ये लोग उस ज़माने के साम्राज्यशाही लोग थे। लेकिन ये लोग कई बातों में बहुत ही सुसंस्कृत भी थे। निनेवा में एक बहुत बड़ा पुस्तकालय जमा किया गया था, जिसमें उस ज़माने के ज्ञान के हर विभाग की पुस्तकें थीं। पर यह बताने की ज़रूरत नहीं कि यह पुस्तकालय काग़ज़ी नहीं था और न इसमें आजकल की पुस्तकों जैसी कोई चीज़ थी। उस ज़माने की पुस्तकें मिट्टी के सांचों पर लिखी जाती थीं। निनेवा के पुराने पुस्तकालय के हजारों सांचे आजकल लन्दन के ब्रिटिश अजायबघर में रक्खे हुए हैं। कई तो बहुत ही दिल दहलानेवाले हैं; बादशाह ने बड़ी बोलती भाषा में लिखा है कि उसने दुश्मनों पर कैसे-कैसे ज़ुल्म किये और उनमें कैसा मज़ा लिया।

भारत में आर्य लोग मोहन-जो-दड़ो काल के बाद आये। अबतक उनके शुरू के दिनों के कोई खण्डहर या मूर्तियां नहीं मिली हैं। हां, उनकी सबसे बड़ी यादगारें उनके पुराने ग्रन्थ—वेद वग़ैरा—हैं, जिनसे हमें भारत के मैदान में उतरनेवाले इन आनन्दी सूरमाओं के मन का भीतरी हाल मालूम होता है। इन ग्रन्थों में प्रकृति की बहुत ही ज़ोरदार कविता भरी है; देवता भी प्रकृति के देवता हैं। यह लाज़िमी था कि जब कला का विकास हुआ तो प्रकृति का प्रेम उसमें बहुत ज़्यादा हिस्सा लेता। भोपाल के पास सांची के फाटक अबतक पाई गई कला की बची-खुची निशानियों में सबसे पुराने गिने जाते हैं। उनका समय शुरू का बौद्धकाल है। इन फाटकों के ऊपर फूल-पत्तों व जानवरों की शकलों की सुन्दर नक्काशी से हमें इनके बनानेवाले कलाकारों के प्रकृति-प्रेम का और प्रकृति की परख का पता लगता है।

इसके बाद उत्तर-पश्चिम की ओर से यूनानी असर आया, क्योंकि यह तो तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद यूनानी साम्राज्य ठेठ भारत की सरहद तक आ गया था। फिर कुषाण-वंश का सरहदी साम्राज्य आया और इसपर भी यूनानी

असर था। बुद्ध मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। वह अपने-आपको देवता नहीं कहते थे, न अपनी पूजा ही कराना चाहते थे। उनका उद्देश्य उन बुराइयों से समाज का पिण्ड छुड़ाना था, जो पोपलीला के जरिये उसमें घुस आई थीं। वह गिरे हुओं और दीन-दुखियों को उठाने की कोशिश करनेवाले सुधारक थे। बनारस के पास सारनाथ या इसिपत्तन में उनका जो प्रथम प्रवचन हुआ, उसमें उन्होंने कहा था : "मैं अज्ञानियों को ज्ञान से तृप्त करने आया हूं . . . जबतक कोई मनुष्य प्राणियों के हित के लिए अपनेको खपा न दे, त्यागे हुओं को तसल्ली न दे, तबतक वह पूर्ण नहीं हो सकता। . . . मेरा मत करुणा का मत है; इसी कारण संसार के सुखी मनुष्य उसे कठिन समझते हैं। निर्वाण का मार्ग सबके लिए खुला हुआ है। ब्राह्मण भी उसी तरह स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ जैसे कि चाण्डाल, जिसके लिए कि उसने मोक्ष का द्वारा बन्द कर रक्खा है। जिस प्रकार हाथी नरकुलों की झोंपड़ी को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार तुम भी अपने विकारों का नाश कर दो। . . . पापों से रक्षा का एकमात्र उपाय आर्यसत्य है।" इस तरह बुद्ध ने सदाचार का और जीवन के अष्टांगिक मार्ग[1] का उपदेश किया। लेकिन गुरु के उपदेशों का छिपा हुआ अर्थ न समझनेवाले मूर्ख शिष्यों का जैसा क़ायदा होता है, उसी तरह बुद्ध के अनुयायियों ने उनके बताये हुए आचार-व्यवहार के ऊपरी नियमों का तो पालन किया, मगर उनका भीतरी मर्म नहीं समझा। उनके उपदेशों पर चलने के बजाय वे उनकी पूजा करने लगे। फिर भी बुद्ध की कोई मूर्तियां नहीं बनीं, न पूजा की कोई प्रतिमाएं बनाई गईं।

इसके बाद यूनान व दूसरे यूनानी देशों के विचार यहां भी आने लगे। इन देशों में देवताओं की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियां बनाई जाती थीं और पूजी जाती थीं। भारत के उत्तर-पश्चिम में गान्धार देश में यह असर सबसे ज्यादा था। वहां 'शिशु-बुद्ध' की मूर्तियां बनने लगीं। यह उनके अपने छोटे और प्यारे देवता कामदेव या आगे होनेवाले शिशु ईसा की तरह का था। इस तरह बौद्ध-धर्म में मूर्तिपूजा की शुरुआत हुई और यहांतक बढ़ी कि हरेक बौद्ध-मन्दिर में बुद्ध की मूर्ति दिखाई देने लगी।

ईरान का असर भी भारतीय कला पर पड़ा। बौद्ध जातकों और हिन्दुओं की अनगिनती पौराणिक कथाओं से भारत के कलाकारों को बेशुमार मसाला मिल गया। पत्थरों पर खुदी हुई या रंगों से खींची गईं इन जातक-कथाओं व पुरानी गाथाओं को तुम आन्ध्र में अमरावती में, बम्बई के पास एलिफेण्टा की गुफाओं

---

[1] 'आर्यसत्य' और 'अष्टांगिक मार्ग' बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं। 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित 'बुद्धवाणी' में इनका अच्छा परिचय दिया हुआ है।

में, और एलोरा व अजन्ता में देख सकती हो। सैर के लिए ये अनोखी जगहें हैं और मैं चाहता हूं कि भारत का हरेक लड़का और लड़की इन जगहों में से कम-से-कम कुछको तो ज़रूर देखें।

भारत की पौराणिक कथाएं समुद्र को लांघकर भारत के पूर्ववर्ती देशों में भी जा पहुंची। जावा के बोरोबुदुर में सारी-की-सारी जातक-कथा पत्थरकी दीवारों पर सिलसिलेवार खुदी हुई है। अंगकोरवात के खण्डहरों में बहुत-सी ऐसी मूर्तियां मौजूद हैं, जिनको देखकर हमें आठ सौ वर्ष पहले के ज़माने की याद हो आती है, जबकि पूर्वी एशिया में यह नगर 'शानदार अंगकोर' के नाम से मशहूर था। इन मूर्तियों की मुख-मुद्राएं कोमल और सजीव हैं और उनपर एक विचित्र व पकड़ में न आनेवाली मुस्कराहट छाई हुई है, जो 'अंगकोर की मुस्कराहट' कहलाने लगी है। वहां की नस्लों का पुराना खून बदल गया है, लेकिन यह मुस्कराहट वैसी ही बनी हुई है और हमेशा नई लगती है।

कला अपने ज़माने की ज़िन्दगी व सभ्यता का सच्चा दर्पण होती है। जब भारतीय सभ्यता ज़िन्दगी से भर-पूर थी, तब यहां सुन्दर वस्तुओं की रचना हुई, कलाएं लहलहाईं और उनकी गूंज दूर-दूर के देशों तक जा पहुंची। लेकिन, जैसा कि तुम्हें मालूम है, बाद में सड़न व गलन पैदा हुईं और जैसे-जैसे देश टूक-टूक होता गया, कलाएं भी गिरती गईं। उनकी जीवट व जान जाती रही और उनपर ज़रूरत से ज्यादा बारीकियां लाद दी गईं—यहांतक कि वे भोंडेपन की हद पर पहुंच गईं। मुसलमानों के आने से एक झटका लगा, और इस नये असर ने फालतू सजावट के गिरे हुए रूप को भारतीय कला से निकाल दिया। ज़मीन तो पुराने आदर्श की ही रही, पर उसे बड़ी सादगी और खूबी के साथ अरब और ईरान का नया जामा पहना दिया गया। पुराने जमाने में भारत के हज़ारों राज-मिस्त्री मध्य-एशिया गये थे। अब पश्चिम-एशिया के वास्तुकार और चित्रकार भारत आये। ईरान और मध्य-एशिया में कला ज़बर्दस्त तरीके से दुबारा पनपने लगी थी; कुस्तुन्तुनिया में बड़े-बड़े वास्तुकारों के हाथों बड़ी-बड़ी आलीशान इमारतें बन रही थीं। इटली में भी यही रिनैसां के शुरू का काल था, जबकि वहां भी महान कलाकारों के एक तारा-मंडल ने सुन्दर चित्रों और मूर्तियों की रचना की थी।

सीनन उस ज़माने का मशहूर तुर्की मेमार था और बाबर ने उसीके चहेते शागिर्द यूसुफ़ को यहां बुलवाया। ईरान का महान् चित्रकार बिहज़ाद था। उसके कई शागिर्दों को बुलाकर अकबर ने अपना दरबारी चित्रकार बनाया। वास्तुकला और चित्रकला दोनों पर ही ईरानी असर छाया हुआ नज़र आने लगा। मुग़ल-भारत की इस भारतीय मुस्लिम कला की कुछ आलीशान इमारतों का ज़िक्र मैंने

किसी पिछले पत्र में किया है। इनमें से कितनी ही तो तुमने देखी भी हैं। इस भारतीय ईरानी कला की सबसे ऊंची सिद्धि ताजमहल है। बहुत-से बड़े-बड़े कलाकारों की मदद से यह वना। कहते हैं कि सबसे बड़ा मेमार उस्ताद ईसा नामक कोई तुर्क या ईरानी था और उसकी मदद के लिए कई भारतीय मेमार थे। ख़याल किया जाता है कि कुछ यूरोपीय कलाकारों ने, खासकर एक इटालवी ने, भीतर की सजावट का काम किया। इतने सारे अलग-अलग व बड़े-बड़े कलाकारों के काम करने पर भी, इस इमारत में कोई खटकनेवाली या आपस में मेल न खानेवाली कोई चीज़ें नहीं है। तमाम जुदा-जुदा असर आपस में घुल-मिलकर अद्भुत संगति पैदा कर रहे हैं। ताजमहल में हज़ारों ही आदमियों ने काम किया है। लेकिन इस पर ईरानी व भारतीय, दो असरों की सबसे ज्यादा छाप है। इसीलिए ग्राउजे ने कहा है कि "ईरान की आत्मा ने भारत के शरीर में अवतार लिया है।"

: १२४ :

## ईरान की अटूट पुरानी परम्पराएं

२० जनवरी, १९३३

आओ, अब ईरान की तरफ़ चलें, जिसके बारे में कहा जाता है कि इसकी आत्मा भारत में आई और ताजमहल को अपने लिए उचित शरीर पाकर उसम बैठ गई। ईरानी कला की परम्परा भी निराली है। यह पम्परा ठेठ असीरियाइयों के ज़माने से, दो हजार वर्षों से भी ज्यादा समय से बराबर चली आ रही है। राज्यों और राजवंशों और मजहबों में तब्दीलियां हुई हैं, देश पर विदेशी हुक़ूमत रही भी है और अपने शाहों की भी, इस्लाम ने भी आकर बहुत-कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये हैं, लेकिन यह परम्परा बराबर बनी रही है। हां, युगों के दौरान में यह बदली है और इसका विकास भी हुआ है। परम्परा के इस तरह क़ायम रहने का सबब ईरानी कला का ईरान की धरती व नज़ारों के साथ ताल्लुक़ होना बताया जाता है।

पिछले पत्र में मैंने निनेवा के असीरियाई साम्राज्य का ज़िक्र किया है। इस साम्राज्य में ईरान भी शामिल था। ईसा से पांच-छः सौ साल पहले ईरानियों ने, जो आर्य थे, निनेवा पर कब्ज़ा करके असीरियाई साम्राज्य का अन्त कर दिया। फिर इन ईरानी-आर्यों ने सिन्ध नदी के किनारे से लेकर ठेठ मिस्र तक अपने लिए बड़ा साम्राज्य बना लिया। प्राचीन संसार पर उनका दबदबा था और यूनानी इतिहास में उनके शासक के लिए 'शहंशाह' शब्द इस्तेमाल किया गया है। इन 'शहंशाहों' में से कुछके नाम कुरु, दारा और ज़रक्स (क्षयार्शा) हैं। तुम्हें याद

होगा कि दारा और जरक्स ने यूनान को जीतने की कोशिश की और शिकस्त खाई। यह राजवंश हकामनी राजवंश कहलाता था और इसने २२० वर्षों तक एक बड़े साम्राज्य पर राज किया। अन्त में मकदूनिया के सिकन्दर महान् ने इसका अन्त कर दिया।

असीरियाइयों और बाबुलियों के बाद ईरानियों के आने से जनता को बड़ी राहत मिली होगी। ये बड़े सभ्य और उदार शासक थे। इन्होंने सब मज़हबों और संस्कृतियों को पनपने दिया। इनके लम्बे-चौड़े साम्राज्य की शासन-व्यवस्था बहुत बढ़िया थी। आवा-जाई की सहूलियत के लिए अच्छी सड़कों का तमाम देश में जाल-सा बिछा हुआ था। इन ईरानी-आर्यों का भारत में आनेवाले भारतीय आर्यों से नजदीकी रिश्ता था। इनका मजहब, यानी जरथुस्त का मजहब, शुरू के वैदिक धर्म से मिलता-जुलता था। साफ नज़र आता है कि दोनों का मूल आर्यों के आदिम वासस्थान में एक ही होगा, चाहे वह स्थान कहीं भी हो।

हकामनी बादशाह इमारतें बनवाने के बड़े शौक़ीन थे। अपनी राजधानी पर्सीपोलिस में उन्होंने मंदिर नहीं बनवाये, बल्कि ख़ूब बड़े-बड़े महल बनवाये थे, जिनमें बहुत खम्भोंवाले बड़े-बड़े सभा-भवन थे। इन ज़बर्दस्त इमारतों का कुछ अन्दाज़ा इनके खंडहरों से लगाया जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि हकामनी कला का सम्पर्क मौर्यकाल की भारतीय कला के साथ रहा। उसने इसपर अपना असर भी डाला।

सिकन्दर ने शाहंशाह दारा को हराकर हकामनी राजवंश का अन्त कर दिया। उसके बाद सिकन्दर के सेनापति सेलेउक और उसके वारिसों के अधीन कुछ दिनों तक यूनानियों का राज रहा और फिर आधे-विदेशी शासकों के अधीन यूनानी असर का काफ़ी लम्बा ज़माना रहा। इसी ज़माने में भारत की सीमा पर बैठे हुए और दक्षिण में बनारस तक व उत्तर में मध्य-एशिया तक अपने पैर फैलाये हुए कुषाणों पर भी यूनानी असर था। भारत के पश्चिम का तमाम एशिया, सिकन्दर से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक, यानी पांच सौ वर्षों से भी ज्यादा तक, यूनानी असर में रहा। यह असर ज्यादातर कला से ताल्लुक रखता था। इसने ईरान के मज़हब के साथ कोई छेड़-छाड़ नहीं की और वहां ज़ुरथुस्त मज़हब ही चलता रहा।

तीसरी सदी में ईरान में राष्ट्रीय जीवन फिर से उठा और एक नया राज-वंश सत्ताधारी हुआ। यह सासानी राजवंश था, जो सरगर्म राष्ट्रवादी था और पुराने हकामनी बादशाहों का गद्दीधारी होने का दावा करता था। जैसा कि अक्सर सरगर्म राष्ट्रवाद का क़ायदा होता है, यह बहुत तंग और कट्टर था। उसे सरगर्म इसलिए बनना पड़ा कि वह पश्चिम में रोम साम्राज्य व कुस्तुन्तुनिया के बिजैन्तीन

साम्राज्य, और पूर्व में चढ़े चले आनेवाले तुर्कों क़बीलों, के बीच फंसा हुआ था। फिर भी यह राजवंश चार सौ वर्षों से ज्यादा, यानी इस्लाम के ठेठ आने तक, किसी तरह चलता ही रहा। सासानियों के राज में जरथुस्तों का पुजारी-वर्ग बहुत ताकतवर था। राज्य की बाग़डोर इन्हींके हाथों में थी और वे कोई विरोध बर्दाश्त नहीं करते थे। कहा जाता है कि इसी ज़माने में उनकी धर्म-पुस्तक अवेस्ता का आख़िरी पाठ तैयार हुआ।

इस काल में भारत में गुप्त साम्राज्य फूल-फल रहा था। यह भी कुषाण व बौद्ध कालों के बाद होनेवाली राष्ट्रीय चेतना थी। साहित्य और कला में नया उभार आया और कालिदास सरीखे कई महान संस्कृत लेखक इसी समय हुए। इस बात के बहुत संकेत मिलते हैं कि ईरान की सासानी-कला का भारत की गुप्त-कला के साथ सम्पर्क था। आज सासानी ज़माने की चित्रकारियां या मूर्तियां बाकी नहीं हैं। पर जो भी मिली हैं, उनमें जान व हरकत भरी हुई हैं। उनमें बने हुए जानवर अजन्ता के भित्ति-चित्रों के जानवरों से बहुत मिलते-जुलते हैं। मालूम होता है कि सासानी-कला का असर ठेठ चीन और गोबी रेगिस्तान तक फैला हुआ था।

अपने लम्बे राज के आख़िरी दिनों में सासानी कमज़ोर पड़ गये और ईरान का रंग-ढंग बिगड़ गया। बिजैन्तीन साम्राज्य के साथ लम्बे युद्धों में फंसे रहने से दोनों ही बिल्कुल पस्त हो गये। अपने नये मज़हब के जोश से भरी हुई अरबी फौजों के लिए अब ईरान को जीत लेना मुश्किल न हुआ। सातवीं सदी के बीच में, पैग़म्बर की मृत्यु के दस वर्षों के अन्दर, ईरान ख़लीफ़ा की हुकूमत में आ गया। जैसे-जैसे अरब फौजें मध्य-एशिया और उत्तर-अफ्रीका की तरफ़ फैलती गईं, वे अपने साथ सिर्फ़ एक नया मज़हब ही नहीं बल्कि एक नई और बढ़ती हुई सभ्यता भी लेती गईं। सीरिया, शाम, मिस्र, सब अरबी संस्कृति में रम गये। अरबी भाषा उनकी भाषा हो गई। यहांतक कि उनकी नस्ल भी अरबी नस्ल में मिल गई। बग़दाद, क़ाहिरा और दमिश्क अरबी सभ्यता के बड़े-बड़े केन्द्र बन गये और इस नई सभ्यता के असर से वहां बहुत-सी आलीशान इमारतें बनीं। आज भी ये देश अरबी देश कहलाते हैं और हालाकि एक-दूसरे से अलग हैं, फ़िर भी एकता के सपने देखा करते हैं।[1]

इसी तरह अरबों ने ईरान को भी जीता, पर वे इस देश के निवासियों को मिस्र या सीरिया की तरह न तो मिला सके और न हज़म कर सके। पुरानी आर्य नस्ल की ईरानी नस्ल सामी अरबों से बहुत दूर की थी। उसकी भाषा भी आर्य भाषा थी। इसलिए यह नस्ल जुदा रही और उनकी भाषा भी फूलती-फलती रही। तेज़ी से फैलनेवाले इस्लाम ने ज़रथुस्त मज़हब की जगह ले ली और इसे अन्त में

---

[1] **अरब देशों के समान हितों की रक्षा के लिए अरब लीग की स्थापना हो चुकी है।**

भारत में आकर आसरा लेना पड़ा। लेकिन ईरानियों ने इस्लाम में भी अपना ही ढंग बनाये रक्खा। इस भेद की वजह से इस्लाम में दो फ़िरके पैदा हो गये—शिया और सुन्नी। ईरान बहुत करके शिया देश हो गया और आज भी है। बाकी इस्लामी दुनिया ज़्यादा सुन्नी है।

हालांकि अरबी सभ्यता ईरान को हज़म न कर सकी, तो भी उसका उस पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। वहां भी, भारत की तरह, इस्लाम ने कला की हलचलों को नया जीवन दिया। ईरानी स्वभावों का भी अरबी कला और संस्कृति पर इतना ही असर पड़ा। रेगिस्तान की सीधा-सादी औलाद के घरों में ईरानी ऐश-आराम घुस गया और अरब के ख़लीफ़ा का दरबार दूसरे शाही दरबारों की तरह तड़क-भड़कदार और शानदार बन गया। शहंशाही बग़दाद उस समय की दुनिया का सबसे बड़ा शहर बन गया। इसके उत्तर में दजला नदी के किनारे समारा में खलीफ़ाओं ने अपने वास्ते बड़े-बड़े मस्जिद और महल बनवाये, जिनके खंडहर अभी तक मौजूद हैं। मस्जिद में बड़े-बड़े कमरे और फ़व्वारोंदार आंगन थे। महल आयताकार था, जिसकी लम्बाई एक किलोमीटर से भी ज़्यादा थी।

नवीं सदी में बग़दाद का साम्राज्य टूक-टूक होकर कई छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। ईरान स्वाधीन हो गया। पूर्व की तरफ़ तुर्की क़बीलों ने कई राज्य कायम कर लिये और अन्त में खुद ईरान पर कब्ज़ा करके वे बग़दाद के नाम-मात्र ख़लीफ़ा पर भी हावी हो गये। ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गज़नवी का उदय हुआ, जिसने भारत पर छापा मारा, ख़लीफ़ा को दहला दिया और अपने लिए एक थोड़ी ज़िन्दगीवाला साम्राज्य भी बना लिया, जिसको सेलजूक नामी एक दूसरे तुर्की कबीले ने खतम कर दिया। सेलजूकों ने बहुत वर्षों तक और सफलता के साथ ईसाई जिहादियों से टक्कर ली और युद्ध किया, और इनका साम्राज्य डेढ़ सौ वर्ष रहा। बारहवीं सदी के अन्त में एक और ही तुर्की कबीले ने सेलजूकों को ईरान से निकाल बाहर किया और ख़ारजम या ख़ीवा की सल्तनत कायम की। लेकिन इसकी ज़िन्दगी भी थोड़े ही दिन की रही, क्योंकि ख़ारजम के शाह के हाथों अपने राजदूत के अपमान पर चंगेज़खां को इतना गुस्सा आया कि वह अपने मंगोलों को लेकर चढ़ आया, और उसने इस देश को व इसके निवासियों को कुचल डाला।

इस छोटे-से पैरा में मैंने तुम्हें कितने ही परिवर्तनों और कितने ही साम्राज्यों का हाल लिख दिया है और तुम काफ़ी चकरा गई हो गई। मैंने इन राजवंशों और नस्लों के चढ़ाव-उतार का ज़िक्र तुम्हारे दिमाग़ पर बोझ डालने के लिए नहीं किया है, बल्कि यह ज़ोर देने के लिए किया है कि किस तरह इन सबके बावजूद ईरान का जीवन और उसकी कला की परम्परा अटूट बनी रही। पूर्व के एक के बाद एक तुर्की क़बीले आये और बुख़ारा से इराक़ तक फैली हुई मिली-जुली ईरानी-अरबी

सभ्यता के आगे सिर झुकाते गये। जो तुर्क ईरान से दूर एशिया-कोचक पहुंच पाये, उन्होंने अपना ढंग क़ायम रक्खा और अरबी संस्कृति को नहीं अपनाया। एशिया-कोचक को तो उन्होंने अपने वतन तुर्किस्तान का ही एक हिस्सा-सा बना लिया। मगर ईरान व उसके आस-पास के देशों में पुरानी ईरानी संस्कृति का ही ऐसा ज़ोर था कि इन तुर्कों को उसे अपनाना पड़ा और अपने-आपको उसके अनुसार ढालना पड़ा। ईरान पर हुकूमत करनेवाले इन सभी तुर्की राजवंशों के समय में ईरानी कला व साहित्य फूलते-फलते रहे। मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें फ़ारसी के कवि फिरदौसी का हाल लिख चुका हूं, जो सुल्तान महमूद गज़नवी के समय में हुआ था। महमूद के कहने पर उसने ईरान का राष्ट्रीय महाकाव्य 'शाहनामा' लिखा था। इस पुस्तक में बयान की गई घटनाएं इस्लामी ज़माने से पहले की हैं और इसका महान नायक रुस्तम है। इससे ज़ाहिर होता है कि पुराने राष्ट्रीय और परम्परावाले अतीत के साथ ईरान के साहित्य और कला का कैसा गहरा और अटूट नाता था। ईरानी चित्रों व सुन्दर लघु-चित्रों के ज्यादातर विषय शाहनामा की कहानियों से लिये गए हैं।

फिरदौसी का जन्म ९३२ ई० में हुआ और मृत्यु १०३२ ई० में हुई, यानी वह उस समय हुआ जब सदी बदली और ईसा के बाद 'हज़ार वर्ष का युग' भी पूरा हो गया। उसके कुछ ही दिन बाद ईरान में नैशापुर का रहनेवाला ज्योतिषी-शायर उमर ख़य्याम हुआ, जिसका नाम अंग्रेज़ी में उतना ही मशहूर है जितना फ़ारसी में। और उमर ख़य्याम के बाद शीराज़ का शेख़ सादी हुआ, जो फ़ारसी कवीश्वरों में गिना जाता है और जिसकी गुलिस्तां व बोस्तां पीढ़ियों से भारत के मकतबों में पढ़नेवाले लड़कों को रटनी पड़ती थीं।

मैंने महापुरुषों के कुछेक नामों का ही जिक्र किया है। नामों की लम्बी सूचियां मै नहीं देना चाहता। लेकिन मैं चाहता हूं कि तुम यह ज़रूर महसूस करो कि इन सदियों भर में ईरान से लगाकर मध्य-एशिया में अक्षु-पार-प्रदेश[1] तक ईरानी कला व संस्कृति का दीपक लगातार बड़ी तेज़ रोशनी से जलता रहा। अक्षु-पार-प्रदेश के बलख़ और बुख़ारा जैसे बड़े नगर कला व साहित्य की हलचलों के केन्द्र हो गये और ईरान के शहरों की होड़ करने लगे। बुख़ारा में ही दसवीं सदी के अन्त में मशहूर अरबी दार्शनिक इनसिना का जन्म हुआ था। दो सौ वर्ष बाद बलख़ में जलालुद्दीन रूमी नामक एक और फ़ारसी शायर पैदा हुआ। यह बड़ा रहस्यवादी माना जाता है और इसीने रक़्क़ास (नाचनेवाले) दरवेशों का पंथ चलाया था।

इस तरह युद्धों, लड़ाई-झगड़ों और राजनैतिक परिवर्तनों के बावजूद ईरानी-

---

[1] Transoxiana.

अरबी कला और संस्कृति की परम्परा जानदार बनी रही और साहित्य, चित्र-कला व इमारती कारीगरी के कमाल पैदा करती रही। उसके बाद तबाही आई। तेरहवीं सदी में (१२२० ई० के क़रीब) चंगेज़खां झपाटे के साथ आ पहुंचा और ख़ारज़म और ईरान को नष्ट कर गया। कुछ साल बाद हलाकू ने बग़दाद को नष्ट कर दिया, और ऊंची संस्कृति के जमा किये हुए फलों का सफाया हो गया। किसी पिछले पत्र में मैं लिख चुका हूं कि किस तरह मंगोलों ने मध्य-एशिया को वीरान बना डाला, किस तरह वहां के बड़े-बड़े शहर खाली हो गये और उनमें मनुष्य-जीवन का नाम तक न रहा।

मध्य-एशिया इस आफ़त के बाद कभी पूरी तरह नहीं पनप सका। ताज्जुब तो यही है कि जिस हद तक वह पनपा उतना भी कैसे पनपा! तुम्हें याद होगा कि चंगेज़खां के मरने के बाद उसका बड़ा साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया था। ईरान और इसके आसपास का उसका भाग हलाकू के हिस्से में आया। जी भरकर सत्या-नाश करने के बाद हलाकू एक अमन-पसन्द और उदार शासक बनकर बैठ गया और उसने इलख़ां राजवंश चलाया। ये इलख़ां कुछ अर्से तक तो मंगोलों का पुराना आसमानी मज़हब ही मानते रहे; बाद में मुसलमान बन गये। इस्लाम कबूल करने के पहले और बाद में भी, वे दूसरे मज़हबों की तरफ़ पूरी तरह उदार थे। चीन में उनके भाईबन्द, यानी चीन का ख़ान महान और उसका परिवार, बौद्ध थे। इनके साथ इलख़ानों के बड़े गहरे ताल्लुक थे। यहांतक कि दुलहिनें भी वे ठेठ चीन से मंगवाया करते थे।

ईरान और चीन के मंगोलों की दोनों शाखाओं के बीच इन रिश्तों का कला पर काफ़ी असर पड़ा। धीरे-धीरे चीनी असर ईरान में आ पहुंचा और वहां की चित्रकला में अरबी, ईरानी व चीनी असरों का एक विचित्र मेल दिखाई देता है। लेकिन फिर भी, तमाम आफ़तों के बावजूद, ईरानी तत्व ज़ोरदार बना रहा। चौदहवीं सदी के बीच ईरान ने एक और शायर पैदा किया। यह था हाफ़िज़ जो आज तक भारत में भी लोकप्रिय है।

मंगोल इलख़ानों का राज ज़्यादा दिन न टिका। उनके रहे-सहे निशानों को अक्षु-पार-प्रदेश के समरक़न्द के एक बड़े सूरमा तैमूर ने नष्ट कर दिया। यह ख़ूंख़ार और महा ज़ालिम वहशी भी, जिसका हाल मैं तुम्हें लिख चुका हूं, कलाओं का अच्छा रसिक था और एक विद्वान आदमी माना जाता है। मालूम होता है कि इसका सारा कला-प्रेम दिल्ली, शीराज़, बग़दाद और दमिश्क के बड़े शहरों को उजाड़ने में और लूट के माल से अपनी राजधानी समरकन्द को सजाने में ही था। लेकिन समरकन्द की सबसे अद्भुत और आलीशान इमारत तैमूर का मकबरा 'ग़ोरे-अमीर' है। यह मक़बरा है भी इसके अनुकूल ही, क्योंकि इसकी शानदार

रूप-रेखा में तैमूर की रौबदार सूरत की, मज़बूती की और खूंख़ार स्वभाव की कुछ झलक है।

तैमूर ने जो विशाल प्रदेश जीते थे, वे उसके मरने के बाद एकाएक करके जाते रहे, लेकिन उसकी तुलना में एक छोटी-सी रियासत, जिसमें अक्षु-पार-प्रदेश और ईरान भी शामिल थे, उसके गद्दीनशीनों के पल्ले पड़ी। पूरे एक सौ वर्षों तक, यानी पन्द्रहवीं सदीभर, इन लोगों का, जिन्हें 'तैमूरिया' कहते थे, ईरान, बुख़ारा और हिरात पर क़ब्ज़ा रहा। और अजीब बात यह है कि एक ज़ालिम विजेता के ये वंशधर अपनी उदारता मानवता और कला-प्रेम के लिए मशहूर हुए। तैमूर का ही पुत्र शाहरुख़ इनमें सबसे महान हुआ है। उसने अपनी राजधानी हिरात में एक आलीशान पुस्तकालय स्थापित किया, जिसके कारण वहां साहित्य-प्रेमियों की भीड़ खिचकर आती रहती थी।

सौ वर्षों का यह तैमूरी-काल कला व साहित्य की हलचलों के लिए इतना मशहूर है कि इसको 'तैमूरी पुनर्जागरण' कहते हैं। ईरानी साहित्य का खूब विकास हुआ और बहुत-सी सुन्दर तसवीरें बनाई गईं। महान चित्रकार बिहज़ाद चित्रकला की एक नई क़लम का अगुआ था। एक दिलचस्प बात यह हुई कि फ़ारसी के साथ-साथ तुर्की साहित्य का भी तैमूरी-साहित्य-गोष्ठियों में विकास हुआ। तुम्हें याद दिला दूं कि इटली के 'रिनैसां' का भी यही ज़माना था।

तैमूरिये तुर्क थे और उन्होंने ईरानी संस्कृति को बहुत-कुछ अपना लिया था। तुर्कों और मंगोलों की प्रभुता होते हुए भी ईरान ने अपने विजेताओं पर अपनी ही संस्कृति की छाप बैठा दी थी। साथ ही ईरान राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए भी लड़ता रहा। धीरे-धीरे तैमूरिये दिन-पर-दिन पूर्व की ओर खदेड़ दिये गए, यहां-तक कि उनकी रियासत अक्षु-पार-प्रदेश के चारों ओर सिकुड़ती गई। सोलहवीं सदी के शुरू में ईरानी राष्ट्रीयता की विजय हुई और तैमूरिये हमेशा के लिए ईरान से निकाल बाहर किये गए। सफ़ावी नामक एक राष्ट्रीय राजवंश ईरान के तख़्त पर बैठा। इसी राजवंश के दूसरे बादशाह तहमास्प प्रथम ने, शेरशाह के डर से भारत छोड़कर भागे हुए हुमायूं को शरण दी थी।

सफ़ावी-काल १५०२ से १७२२ ई० तक, यानी दो सौ वर्ष रहा। इसे ईरानी कला का सुनहला युग कहा जाता है। राजधानी इस्पहान आलीशान इमारतों से भर गया और कला का नामी केन्द्र बन गया, जो चित्रकारी के लिए ख़ास तौर पर मशहूर था। शाह अब्बास, जिसने १५८७ से १६२९ ई० तक राज किया, इस वंश का नामी बादशाह हुआ है और ईरान के सबसे महान् शासकों ने गिना जाता है। उसको एक तरफ़ से उज़बकों ने और दूसरी तरफ से उस्मानी तुर्कों ने आ दबाया। उसने दोनों को मार भगाया, एक मज़बूत राज्य क़ायम

किया, पश्चिम के और दूसरे दूर-दूर के राज्यों से सम्बन्ध जोड़े, और अपनी राजधानी को सुन्दर बनाने के काम में जुट गया। इस्पहान में शाह अब्बास की नगर-योजना 'ऊंचे दर्जे की सफ़ाई और रुचि का कमाल' मानी जाती है। जो इमारतें बनाई गई, उनमें सिर्फ रूप-सौंदर्य और नफ़ीस सजावट ही नहीं थे, बल्कि वे ऐसी मनोहर जगहों में खड़ी की गई थीं कि उनका प्रभाव दुगना हो जाता था। जिन यूरोपीय यात्रियों ने उस समय ईरान को देखा था, उन्होंने इनकी तारीफों के पुल बांध दिये हैं।

ईरानी कला के इस सुनहले युग में इमारती-कला साहित्य, चित्रकारी (भीत्ति-चित्रों तथा छोटे चित्रों, दोनों की), सुन्दर क़ालीनें, चमकदार मिट्टी के बर्तनों का और पच्चीकारी का नफ़ीस काम, सब फूले-फले। कुछ भित्ति-चित्रों और छोटे-छोटे चित्रों में अद्भुत लावण्य है। कला राष्ट्रीय सीमाओं को नहीं मानती और न उसे मानना ही चाहिए, और सोलहवीं व सत्रहवीं सदियों की इस ईरानी कला को समृद्ध बनाने में बहुत-से प्रभावों का हाथ रहा होगा। कहते हैं, इटली का प्रभाव तो ज़ाहिर है। पर इन सबके पीछे ईरान की पुरानी कला-परम्परा है, जो दो हजार वर्षों से अटूट चली आ रही थी। ईरानी संस्कृति का दायरा सिर्फ़ ईरान की हद के भीतर ही न था। वह पश्चिम में तुर्की से लगाकर पूर्व में भारत तक के लम्बे-चौड़े इलाक़े में फैली। भारत के मुग़ल दरबारों में फारसी भाषा संस्कृति की भाषा मानी जाती थी। और आमतौर पर पश्चिमी एशिया में भी इसकी वही हैसियत थी जो यूरोप में फ्रान्सीसी भाषा की थी। ईरानी कला की पुरानी भावना आगरे के ताज-महल में अपनी अमर निशानी छोड़ गई है। बहुत-कुछ इसी तरह इस कला ने पश्चिम में कुस्तुन्तुनिया तक उस्मानी इमारती-कला पर भी अपनी छाप डाली है। वहां इस ईरानी प्रभाव की छापवाली बहुतेरी नामी इमारतें बनीं।

ईरान के सफ़ावी बहुत-कुछ भारत के महान् मुग़लों के ज़माने में ही हुए थे। भारत का पहला मुग़ल बादशाह बाबर समरकन्द का एक तैमूरिया शहज़ादा था। जैसे-जैसे ईरानियों की ताक़त बढ़ती गई, वे तैमूरियों को पीछे हटाते गये। होते-होते अक्षु-पार-प्रदेश और अफ़गानिस्तान के सिर्फ़ कुछ ही हिस्से तैमूरिये शहज़ादों के हाथ में रह गये। इन छुट-पुट शहज़ादों से बाबर को बारह साल की उम्र से ही लड़ना पड़ा था। वह सफल हुआ और पहले काबुल का शासक बनकर फिर भारत में आया। उस ज़माने की ऊंची तैमूरिया संस्कृति का अन्दाज़ा बाबर से लगाया जा सकता है, जिसके याद-नामे के कुछ टुकड़े मैं एक पिछले पत्र में दे चुका हूं। सफ़ावी शासकों में सबसे महान शाह अब्बास था, जो अकबर व जहांगीर के ज़माने में हुआ। इन दोनों देशों में बराबर बड़ा गहरा ताल्लुक़ रहा होगा। अफ़ग़ानिस्तान भारतीय मुग़ल साम्राज्य का एक हिस्सा था, इसलिए बहुत अर्से तक दोनों की सरहद एक ही थी।